

जैन संस्कृत महाकाव्यों

में

भारतीय समाज



डॉ. मोहन चन्द

ग्रन्थ परिचय

इतिहास के लक्ष्य आज बदल चुके हैं। अब इतिहास जन-जन की आकांक्षाओं तथा भावनाओं का प्रतिलेखन करता है, केवल राजवंशों के उत्थान-पतन का नहीं। इन बदले हुए इतिहास मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में पिछले चार-पाँच दशकों से लोकमूल्यों से अनुप्राणित साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से सामाजिक इतिहास लेखन की जो एक नवीन विधा अस्तित्व में आई है उसमें जैन साहित्य का भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष योगदान रहा है। अधिकांश जैन साहित्य किसी राज्याश्रय में नहीं अपितु लोकचेतना एवं जनसामान्य की अनुभूतियों से प्रेरित होकर निर्मित हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक रचित जैन संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर मध्यकालीन भारतीय समाज के विविध पक्षों का विवेचन हुआ है। ग्रन्थ को नौ अध्यायों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं :—

१. साहित्य, समाज और जैन संस्कृत महाकाव्य
२. राजनैतिक शासन तंत्र और राज्य व्यवस्था,
३. युद्ध एवं सैन्य व्यवस्था, ४. अर्थव्यवस्था एवं उद्योग व्यवसाय, ५. आवास व्यवस्था, खानपान तथा वेशभूषा, ६. धार्मिक जनजीवन एवं दार्शनिक मान्यताएं, ७. शिक्षा, कला एवं ज्ञान विज्ञान, ८. स्त्रियों की स्थिति तथा विवाह संस्था तथा ९. भौगोलिक स्थिति।

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया तथा आधुनिक समाजशास्त्रीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया यह शोध प्रबन्ध इस तथ्य को रेखाङ्कित करता है कि भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए जैन संस्कृत महाकाव्यों की सामग्री कितनी महत्वपूर्ण है। ये महाकाव्य सामाजिक इतिहास के विविध पक्षों पर नवीन प्रकाश डालने के साथ-साथ इतिहासकारों द्वारा प्रचारित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण भी करते हैं। लेखक ने 'निगम' सम्बन्धी भारणा की पुनर्समीक्षा की है तथा उसके स्वरूप निर्धारण के क्षेत्र में नवीन ऐतिहासिक तथ्य जुटाए हैं। आशा है, मध्यकालीन इतिहास के विशेष अध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए यह अनुसन्धान कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन संस्कृत महाकाव्यों

में

भारतीय समाज

(षष्ठी शती ई० से १४वीं शती ई० तक)

डॉ० मोहन चन्द

संस्कृत विभाग, रामजस कालेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली

::

(भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिक्स

५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १९८६

© लेखक

मूल्य : रु० ३००.००

मुद्रक—शमर प्रिंटिंग प्रेस, (शाम प्रिंटिंग एजेंसी),

८/२५, डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११०००६

JAINA SĀMSKRṬA
MAHĀKĀVAYON
MEIN
BHĀRATĪYA SAMĀJA
(8TH CENT. A. D. TO 14TH CENT. A. D.)

DR. MOHAN CHAND
Department of Sanskrit,
Ramjas College,
University of Delhi, Delhi

Eastern Book Linkers

DELHI

::

(INDIA)

Published by

EASTERN BOOK LINKERS

**5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007**

First Edition : 1989

© Author

Price : Rs. 300.00

Printed by :

**Amar Printing Press (Sham Printing Agency),
8/25, Double Storey, Vijay Nagar, Delhi-110009**

समर्पण



(१७ जनवरी १८५६—१२ जून १९४२)

स्वर्गीय राय केदारनाथ

(सेवानिवृत्त डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन जज, पंजाब)

{ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ }

त्याग और आदर्श के उज्ज्वल प्रतिमान,
व्यष्टि को समष्टि में लीन करने वाले,
ज्ञान की गंगा को धरती पर उतारने वाले,

महान् समाज पुरुष

जिन्होंने असमर्थों तथा साधनहीनों की शिक्षा हेतु अपना सर्वस्व
न्यौछावर कर दिया तथा रामजस शिक्षा संस्थाएं आज भी
जिनकी कीर्तिपताका को फहरा रही हैं, उन्हीं त्यागमूर्ति की
पुण्यस्मृति में श्रद्धा सहित समर्पित ।

—मोहन चन्द

आमुख

जैन साहित्य में सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास के निर्माण के लिए बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है, पर अभी तक इसका उपयोग अधिक नहीं हुआ है। भारत के इतिहास की मुख्य धारा में इस सामग्री को तब तक स्थान नहीं मिलेगा जब तक ऐतिहासिक दृष्टि से इसके विभिन्न अङ्गों का अनुशीलन न हो और उन पर शोधप्रबन्ध न लिखे जाएं। इस परिप्रेक्ष्य में डा० मोहन चन्द की यह पुस्तक सराहनीय प्रयास है। उन्होंने बड़े परिश्रम पूर्वक जैन संस्कृत महाकाव्यों में पाए गये तथ्यों के आधार पर पूर्वमध्यकालीन भारतवर्ष की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अवस्थाओं का विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। उदाहरणस्वरूप दिखलाया गया है कि 'निगम' जिसका अर्थ नगर होता है मध्यकालीन भारत में गाँव के रूप में देखा जाने लगा। यह प्राचीन नगरों की अवनति के कारण हुआ जिसका सम्बन्ध सामन्तवाद के उदय से है। इसमें सन्देह नहीं कि डा० मोहन चन्द ने जैन संस्कृत महाकाव्यों का गहरा अध्ययन किया है और सोच समझकर निष्कर्ष निकाले हैं। मैं आशा करता हूँ कि संस्कृत और इतिहास के अभ्येता इस पुस्तक से लाभ उठाएंगे।

पटना,

२४ अक्टूबर, १९८८

राम शरण शर्मा

भूतपूर्व अध्यक्ष,
भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्,
नई दिल्ली

शुभाशंसा

साहित्य का शब्दार्थ है सहितता । सहितता ही समाज का भी व्यावर्तक धर्म है । इस नाते सहितता के माध्यम से साहित्य समाज से अविच्छिन्न रूप में जुड़ा है । भारतीय संस्कृति के इतिहास में आदिकालिक वैदिक ऋषि की दृष्टि मूलतः सामाजिक थी । संस्कृत का आदिकाव्य रामायण भी मूलतः सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करता है । समयानुसार इस धारा में परिवर्तन हुआ और भारतीय दृष्टि समष्टि से हटकर व्यष्टि पर अधिक केन्द्रित हो गई । इस व्यष्टि-परक दृष्टि में से साहित्य की रसपरक व्याख्या पद्धति उद्भूत हुई । वर्तमान युग में हमारी दृष्टि पुनः व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख हुई है और सहज ही साहित्य की रसपरक व्याख्या के साथ समाजपरक विश्लेषण भी किया जाने लगा है । भारतीय विद्वानों का अध्ययन करने वालों के लिये यह और भी अधिक आवश्यक इसलिये हो गया कि भारतीय स्वभाव से इतिहास लेखन में रुचि न रखने पर भी साहित्य सृजन में किसी से पीछे नहीं रहे और इसलिये प्राचीन भारतीय समाज को समझने के लिये साहित्य एक मुख्य स्रोत है ।

जैन परम्परा प्रारम्भ से ही व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रही है । जिस युग में जैन लेखकों ने काव्य लिखने के लिए संस्कृत भाषा को माध्यम के रूप में चुना उस युग में सम्भवतः समग्र भारतीय चिन्तन व्यष्टिपरक मोड़ ले चुका था और इसलिये वाल्मीकि रामायण के समकक्ष सामाजिक मूल्यों को उभारने वाले साहित्य के सृजन की संभावना नहीं रह गई थी । डॉ० मोहन चन्द ने जिस युग के महाकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया है उस युग में लिखे गये महाकाव्यों का रस परक अथवा काव्यशास्त्रीय अध्ययन पहले हो चुका है । इस विषय में डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का ग्रन्थ “संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान” एक मानक शोध प्रबन्ध है, किन्तु इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य काव्यशास्त्रीय अध्ययन होने के कारण इसमें समाजशास्त्रीय अध्ययन आनुषंगिक हो गया है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में समाजशास्त्रीय अध्ययन ही मुख्य है । इसलिये मैं इसे डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के शोध प्रबन्ध का एक सुखद पूरक समझता हूँ ।

जैन विद्या के क्षेत्र में समाजशास्त्रीय अध्ययन करने वाले शोध प्रबन्धों में अग्रणी डॉ० जगदीश चन्द्र जैन का “जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज” नामक ग्रन्थ है किन्तु उसका विवेच्यकाल जहाँ समाप्त होता है प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विवेच्यकाल लगभग वहीं से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार एक दूसरी दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के ग्रन्थ का भी परिपूरक है। स्पष्ट है कि इस शोध प्रबन्ध ने उस विषय को छुआ है जो अब तक प्रायः अछूता ही था। उस अछूते क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण दृष्टि से अनुशीलन करके विद्वज्जगत् के सम्मुख रखने के लिये निश्चय ही डॉ० मोहन चन्द धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० मोहन चन्द ने जिस विषय का विवेचन किया है उस पर कोई भी निष्कर्ष ऐसे नहीं हो सकते जिन्हें निर्विवाद कहा जा सके किन्तु अनुसन्धान में जिन दो बातों का सर्वाधिक महत्त्व है—वैज्ञानिक पद्धति तथा वस्तुनिष्ठता अथवा तटस्थता—उनकी दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध खरा ही उतरेगा। भविष्य में भी जो किसी ग्रन्थ परम्परा या युग के साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना चाहेंगे उनके लिये डॉ० मोहन चन्द के इस ग्रन्थ से मार्ग प्रशस्त होगा, ऐसा मैं समझता हूँ। उनके ग्रन्थ का प्रस्तावनात्मक प्रथम अध्याय किसी भी भारतीय साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इसमें उन्होंने भारतीय परम्परा के साथ पाश्चात्य परम्परा को भी समान महत्त्व दिया है जो कि विषय की प्रकृति के अनुसार आवश्यक था। दूसरे अध्याय के बाद के सभी अध्यायों के प्रारम्भ में लेखक ने जैन महाकाव्यों का अध्ययन करने से पूर्व पूरे भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी तद्-तद्विषयक चर्चा पृष्ठभूमि के रूप में दी है। परिणामस्वरूप जैन संस्कृत महाकाव्य विषयक चर्चा को पाठक समग्र परिप्रेक्ष्य में रखकर देख सकता है। प्रत्येक अध्याय में दिये गये निष्कर्ष भी इस बात के सूचक हैं कि लेखक ने केवल स्रोत ग्रन्थों से तथ्यों को निकाल कर उनका वर्गीकरण मात्र ही नहीं किया है बल्कि उन तथ्यों को अपने मौलिक चिन्तन के संस्पर्श से सत्य में भी बदलने का विनम्र प्रयास किया है। साहित्य का इस प्रकार का समाजघर्मी अनुशीलन एक ऐसी सरणि प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा प्राचीन साहित्य को वर्तमान युग में भी प्रासंगिक बनाया जा सकता है।

आलोच्य काल भारतीय इतिहास का और विशेषकर जैन परम्परा के इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ है। जैनों ने एक और संस्कृत को अपना कर भारत की मुख्य धारा से जुड़ना चाहा तो वहाँ दूसरी ओर इसी युग में अनेकान्त की विशेष प्रतिष्ठा करके उस भावधारा को पुष्ट किया जिसे हम आज की भाषा में समन्वय-दृष्टि कहते हैं। शायद इसी समन्वय-दृष्टि की पृष्ठभूमि में रहने का परिणाम है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय जैन विद्या है किन्तु न इसका लेखक जैन है,

न इसका प्रकाशक । जैन वाङ्मय का जब तक जैन सम्प्रदाय के सङ्कीर्ण कठघरे से निकलकर पूरी भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में अध्ययन न होगा तब तक उस वाङ्मय के अनेक मूल्यवान् पक्ष अनुदघाटित ही रह जायेंगे । इस दिशा में किये जाने वाले कुछ विरल प्रयत्नों में से एक प्रयत्न प्रस्तुत शोध ग्रन्थ है । इसलिये मैं इसका और इसके लेखक का अभिनन्दन करता हूँ और यह कामना करता हूँ कि यह परम्परा निरन्तर प्रचीयमान हो ताकि भारतीय परम्परा की भावधारा में इन्द्रधनुष की बहुरंगी छटा बनी रहे, एकरूपता की नीरसता उत्पन्न न हो और साथ ही राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल मिले जो कि आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है और जिसकी पूर्ति के लिए भारतीय विद्या के अध्येताओं को सबसे आगे आना चाहिए क्योंकि भारत के सांस्कृतिक मानचित्र की आन्तरिक एकता का जो सूत्र स्थूल राजनैतिक दृष्टि की पकड़ में नहीं आता उसे केवल संस्कृति का अध्येता ही पकड़ पाता है ।

दयानन्द भार्गव

आचार्य एवम् अध्यक्ष,

संस्कृत विभाग,

जोधपुर विश्वविद्यालय

जोधपुर,

वसन्त पञ्चमी, सम्वत् २०४५

प्राक्कथन

भारतीय विद्या के क्षेत्र में वैदिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य की तुलनात्मक गवेषणाओं से यह ऐतिहासिक सत्य विशेष रूप से उभर कर आया है कि प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना तथा इसके उद्भव एवं विकास की गतिविधियां केवल वैदिक चिन्तन से ही नहीं बल्कि जैन एवं बौद्ध विचारों से भी विशेष प्रभावित रहीं थीं। वैदिक काल से लेकर उत्तरोत्तर युगों में सामाजिक परिवर्तन के मूल्य इन तीनों परम्पराओं के पारस्परिक आदान-प्रदान से अनुप्रेरित थे। कभी वैदिक धारा के नेतृत्व में समाज की मुख्य धारा का निर्माण हुआ तो कभी श्रमण परम्परा ने सामाजिक परिवर्तन के मूल्यों की दिशा निर्धारित की। इसी उतार चढ़ाव के इतिहास में कभी वैदिक मूल के चिन्तकों को श्रमण भावधारा के अनुरूप भी ब्राह्मण संस्कृति का पुनरुद्धार करना पड़ा तो कभी ऐसी भी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं जब श्रमण संस्कृति जिन वैदिक मूल्यों का विरोध करती आई थी उन्हें ही अपनाते के लिए विवश हुई। आज भी भारतीय संस्कृति की विभिन्न परम्पराएं यदि जीवित हैं तो उनकी जीवन्तता का समाजशास्त्रीय रहस्य भी यही है कि भारत के सामाजिक चिन्तक सदैव धर्म के शाश्वत एवं कूटस्थ मूल्यों की रक्षा करते हुए ही सामाजिक चिन्तन को बदली हुई परिस्थितियों में भी युगीन गतिशीलता प्रदान करते आए हैं।

धार्मिक उत्थान-पतन का हजारों वर्ष पुराना भारतीय इतिहास साक्षी है कि जब भी सामाजिक परिवर्तनों के लिए परिस्थितियां तैयार हुईं धार्मिक नेतृत्व की प्रभुता से ही उनमें बदलाव आया और इस कारण भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन का दूसरा नाम है धार्मिक परिवर्तन। आधुनिक 'समाजशास्त्र' जैसा शास्त्र प्राचीन भारत में 'धर्मशास्त्र' के नाम से जाना जाता था जिसके अन्तर्गत इतिहास, पुराण, स्मृति ग्रन्थों की सामाजिक व्यवस्थाएं समाविष्ट थीं। इसी प्रकार जैनों तथा बौद्धों के सामाजिक आदर्श आगम, पुराण, निकाय, जातक आदि धार्मिक साहित्य से ही अनुप्रेरित थे। आज 'समाज' की जैसी अवधारणा समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में बनी है प्राचीन भारत में वैसी ही अवधारणा का पर्यायवाची शब्द कोई है तो वह 'धर्म' है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक 'समाजशास्त्र' समाज क्या है?—इस समस्या का ही समाधान कर पाता है तो प्राचीन भारतीय 'धर्मशास्त्र' समाज कैसा होना चाहिए?—इस समस्या

पर केन्द्रित था। प्राचीन काल में धर्म की धारणा अत्यन्त व्यापक थी जिसमें साम्प्रदायिकता का उतना आग्रह नहीं था जितना कि व्यक्ति और समाज के व्यवहारों को व्यवस्थापित करने की सद्भावना किन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि जब भी धर्म साम्प्रदायिक सङ्कीर्णताओं से जुड़ा है उसने उन तमाम मानवीय मूल्यों को ताक पर रख दिया जो धर्म की शाश्वतता से अनुप्रेरित हैं तथा सामाजिक सौहार्द एवं बन्धुत्व-भावना का प्रसार करते हैं।

अतीत के मानव व्यवहारों का इतिहास चाहे किसी भी देश का रहा हो, वर्तमान को इस ओर सावधान करता आया है कि सिद्धान्ततः धर्म, राजनीति और आर्थिक मूल्य सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली उपादान हैं परन्तु द्वेष तथा प्रभुता की भावना से धर्म को जब भी साम्प्रदायिक मोड़ दिया गया है तो राजनैतिक मूल्य-हीनता और आर्थिक विषमता के कारण सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हुई है ऐसे में देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार कभी साम्प्रदायिकता के नेतृत्व में राजचेतना और आर्थिक विकास कुंठित हो जाता है तो कभी भौतिक उन्नति की गजनिमीलन प्रवृत्ति से धर्म और राजनीति के क्षेत्र में एक गहरी शून्यता छा जाती है। इसी प्रकार जनतांत्रिक मूल्यों की विरोधी राजचेतना जब समाज पर हावी होती है तो साम्प्रदायिक तनावों और आर्थिक असन्तोषों का समाजशास्त्र फूटने लगता है।

सच तो यह है कि 'सत्त्व', 'रजस्' तथा 'तमस्', की साम्यावस्था जैसे सांख्य दर्शन की 'प्रकृति' के लिए अत्यावश्यक होती है जिससे कि 'पुरुष' का कल्याण हो सके ठीक उसी प्रकार धर्म, राजनीति तथा अर्थव्यवस्था का समुचित नियोजन सामाजिक व्यवस्था के लिए भी एक अनिवार्य आवश्यकता है ताकि मनुष्य मात्र का हित-सम्पादन हो सके। 'प्रकृति' की प्रधानता और 'पुरुष' की उदासीनता इस समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति की भी द्योतक है कि समष्टि साधना का पुण्यलाभ सदा व्यक्ति को ही मिलता है। प्राचीन साहित्य में समग्र जनसमूह तथा व्यक्ति के वास्तविक स्वभाव दोनों के लिए 'प्रकृति' शब्द का व्यवहार हुआ है जिसकी अर्थवत्ता का औचित्य भी तभी सिद्ध हो सकता है जब व्यक्ति और समष्टि के मध्य एक अद्वैत सम्बन्ध बना रहे तथा व्यक्ति और समूह एक दूसरे के प्रति समर्पित भाव होकर ही व्यवहृत हों। किन्तु व्यक्तिवादी भावना जब भी समाज पर हावी हुई है सामाजिक विघटनों का मार्ग प्रशस्त हुआ है। धर्म को बलपूर्वक सम्प्रदायों में विभाजित होना पड़ा तथा 'नैको ऋषियंस्य वचः प्रमाणम्' की वेदना को भी सहना पड़ा। राजनीति 'वसुधा-उपभोग' की अराजकता का निशाना बनी और अर्थव्यवस्था का नियोजन करने वाले ही उसके सबसे बड़े भक्षक बन बैठे। सामाजिक आदर्शों तथा व्यावहारिक परिस्थितियों में सदा संघर्ष होता आया है। सामाजिक चिन्तन और समाज व्यवस्था में भी कटु संवाद की युग चेतना उभरती आई है। इतिहासकारों के लिए अब भी यह खोज का ही विषय बना हुआ है कि

क्या कभी सर्वाङ्गीण रूप से समुन्नत आदर्श समाज का अस्तित्व वास्तव में रहा भी था ? परन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह भी विदित होता है कि अनेक अवसरों पर भारतीय समाज स्वर्णयुग की अवस्थाओं से गुजरा है और अनेक ऐसे साम्राज्य भी स्थापित हुए हैं जिनकी उपलब्धियाँ स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं ।

अपने अतीत से तथा अपने पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों से गौरवान्वित होने की प्रवृत्ति मानव मात्र की एक स्वाभाविक और सामाजिक मनोवृत्ति रही है परन्तु भारतीयों के प्राच्य मनोविज्ञान की यह एक विशेष उपलब्धि है कि उन्होंने अपने पूर्वकालिक इतिहास को संरक्षित करने तथा उसे आगे बढ़ाने की चिन्ता के कारण जहाँ एक ओर वैदिक काल में ही इतिहास तथा पुराण विद्याओं की वेदों के समान ही दिव्य उत्पत्ति स्वीकार कर ली थी तो वहाँ दूसरी ओर इतिहास-पुराण के आलोक में वेदों की पुनर्व्याख्या पद्धति को भी वैज्ञानिक आयास मिले तथा इतिहास चेतना से अनभिज्ञ व्याख्याओं द्वारा वेदों की अवज्ञा होने की अवधारणा भी परलवित हुई—

इतिहासपुराणाम्नां वेदं समुपबृहयेत् ।

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वैदिक तथा श्रमण दोनों परम्पराओं में धार्मिक साहित्य के माध्यम से प्राचीन इतिहास और पौराणिक आख्यानो को संग्रहीत करने की एक अदम्य आकांक्षा रही है । इतिहास-पुराण लेखन की साहित्यानुप्राणित विधाओं का इन दोनों परम्पराओं में सूत्रपात हुआ । रामायण, महाभारत और पंचलक्षणात्मक विशाल पुराण साहित्य की रचना एक वैदिक अभिगम है तो निकाय, जातक आदि बौद्धों के साहित्य में भी भगवान् बुद्ध की प्राचीन परम्पराओं के आख्यान तथा कथाएं संकलित हुई हैं । जैनो की श्रुतज्ञान-परम्परा एक ओर विशाल आगम साहित्य के माध्यम से प्रवाहित हुई है तो दूसरी ओर प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग नामक अनुयोग-चतुष्टय के विषयोपकथन जैन धर्म तथा दर्शन के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास-पुराण सम्बन्धी प्रवृत्तियों से भी अनुप्रेरित हैं ।

जैन पुराणों तथा पौराणिक शैली के चरित महाकाव्यों का कथानक तंत्र त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के जीवन वृत्त तथा उनके द्वारा स्थापित आदर्शों के प्रति समर्पित होता है । जैन लेखकों की सराहना करनी होगी कि उन्होंने पुरातनता की परिधि में रहते हुए भी अपने युग के समाज मूल्यों की अपेक्षा से समाज को स्वस्थ एवं गतिशील दिशा प्रदान करने के एक महान् दायित्व का भी निर्वाह किया है ।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन जैन संस्कृत महाकाव्यों को अध्ययनार्थ चुना गया है उनके अधिकांश लेखक मात्र कवि ही नहीं थे बल्कि अपने युग के महान्

दार्शनिक और प्रभावशाली धर्माचार्य भी थे। जैन धर्म और दर्शन की इन युगाचार्यों ने समसामयिक सन्दर्भों में नवीन व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। ये महाकाव्यकार किसी राज्याश्रय से प्रेरित होकर अपना काव्यकर्म सम्पादित नहीं कर रहे थे बल्कि जन सामान्य की अनुभूतियों से संस्पर्श पाकर विभिन्न प्रान्तों, नगरों, गांवों की स्थानीय लोकचेतना का ही साहित्यीकरण कर रहे थे। आदर्शों और समाज मूल्यों की पुरातन ऐतिहासिकता तथा युग परिस्थितियों की सम-सामयिक नूतन इतिहास-दृष्टि का मणिकांचनसंयोग इन महाकाव्यों में पिरोया गया है। इन महाकाव्यों के इतिहास सत्य मध्यकालीन मानव तथा उसके संस्थागत पर्यावरण का वास्तविक अंकन करते हैं। अभिलेखीय तथा पुरातत्त्वीय साक्ष्यों के आधार पर मध्यकालीन इतिहास की जो अनेक गूटियां नहीं सुलझाई जा सकी हैं, जैन महाकाव्यों के साहित्यिक साक्ष्य उनका आंखों-देखा विवरण उपस्थित करते हैं। भारतीय इतिहास में 'निगम' के स्वरूप निर्धारण की समस्या एक ऐसी ही उलझी हुई समस्या है परन्तु जैन महाकाव्यों के साक्ष्यों से 'निगम' समस्या का पूर्ण समाधान हो जाता है। मध्यकालीन समाज के इतिहास लेखन हेतु स्रोत-सामग्री के अभाव का जो संकट इतिहास जगत् में छाया हुआ है जैन महाकाव्यों की वैविध्यपूर्ण सामग्री उस अभाव की पूर्ति करती है तथा इतिहास लेखन की दिशा में नए आयामों के लिए भी मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए सन् १९७७ में स्वीकृत शोध प्रबन्ध "जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियां" का किञ्चित् परिवर्द्धित और संशोधित रूप है। इस ग्रन्थ में आठवीं से चौदहवीं शती ई० तक रचित जैन संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर मध्यकालीन भारत के सामाजिक इतिहास के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में साहित्य और समाज के सैद्धान्तिक विवेचन सहित समाजशास्त्र और साहित्यशास्त्र की समाज-धर्मी प्रवृत्तियों, भारतीय साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि तथा महाकाव्य साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक चेतना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में जैन संस्कृत महाकाव्यों के शिल्पवैधानिक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए आलोच्य महाकाव्यों का परिचय भी दिया गया है। द्वितीय अध्याय राजनैतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध है जिसमें शासन तन्त्र के विविध पक्ष, उत्तराधिकार, मंत्रिमंडल कोषसंग्रहण, न्यायव्यवस्था, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन, ग्राम संगठन आदि से सम्बन्धित तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं। तृतीय अध्याय में युद्ध नीति, सेना का स्वरूप, युद्ध भेद, विविध प्रकार के आयुधों का वर्णन आदि सैन्य व्यवस्था से सम्बन्धित चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध मध्यकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों, भूमिदान, भूस्वामित्व के हस्तान्तरण और विकेन्द्रीकरण, व्यावसायिक वर्ग विभाजन कृषि-उद्योग, पशुपालन, वाणिज्य, शिल्प तथा जीविकोपार्जन सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के व्यवसायों की विवेचना की गई है। पञ्चम अध्याय में ग्राम तथा नगर चेतना से अनुप्राणित बारह प्रकार की आवासीय संस्थितियों पर गवेषणात्मक प्रकाश डाला गया है तथा 'निगम' की ऐतिहासिक समस्या की पुनर्समीक्षा की गई है। इसी अध्याय में विविध प्रकार के खाद्य एवं पेय पदार्थों तथा वस्त्राभूषण सम्बन्धी विवरणों को प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में जैन धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है जिसमें जैन गृहस्थ धर्म एवं मुनि धर्म, देवोपासना, मन्दिर एवं तीर्थ-स्थान, देवशास्त्र, तपश्चर्या आदि की चर्चा प्रमुख है। इसी अध्याय में आलोच्य युग के जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त विवेचित हुए हैं और विभिन्न दार्शनिक वादों का निरूपण किया गया है। सप्तम अध्याय में शिक्षा का स्वरूप, शैक्षिक गतिविधियाँ, उच्चस्तरीय अध्ययन विषय विभिन्न प्रकार की कलाएँ और ज्ञान-विज्ञान आदि की चर्चा हुई है। अष्टम अध्याय में स्त्रियों की स्थिति तथा विवाह संस्था के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है तथा नवम अध्याय में भूगोलशास्त्रीय मान्यताओं के निरूपण सहित विभिन्न पर्वतों नदियों तथा देशप्रदेश की भौगोलिक सीमाओं आदि का निर्धारण किया गया है। तदुपरान्त 'सिंहावलोकन' में सभी अध्यायों में प्रतिपादित तथ्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकनपरक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। 'सन्दर्भ ग्रन्थ सूची' के अन्तर्गत वे सभी ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएँ आदि अपने अपेक्षित विवरणों सहित निर्दिष्ट हैं जिन्हें शोध प्रबन्ध में उद्धृत किया गया है।

भारतीय विद्या एवं जैन विद्या की तुलनात्मक गवेषणा पद्धति को एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक दिशा प्रदान करने के प्रयोजन से तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधार्थियों की सुविधा हेतु तीन विस्तृत अनुक्रमणिकाएँ—नामानुक्रमणिका, स्थानुक्रमणिका तथा विषयानुक्रमणिका ग्रन्थ के अन्त में जोड़ी गई हैं।

मैं सर्वप्रथम 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिसने इस शोधकार्य हेतु मुझे अखिल भारतीय स्तर की छात्रवृत्ति प्रदान करने का अनुग्रह किया। 'भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्', फिरोज शाह रोड, नई दिल्ली की ओर से शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण हेतु जो आर्थिक अनुदान प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं परिषद् का विशेष आभारी हूँ।

शोध कार्य के पञ्जीकरण से लेकर इसके प्रस्तुतीकरण, इसके प्रकाशन की अनुमति लेने तथा वर्तमान रूप में इसके मुद्रण की समयावधि लगभग दो

दशकों से कम नहीं रही है। इस अवधि में मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, प्रो० रसिक विहारी जोशी, डा० एस० एस० राणा तथा प्रो० बी० एम० चतुर्वेदी की सत्प्रेरणाएं तथा उपयोगी सुझाव समय-समय पर मिलते रहे हैं, उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय के परीक्षा विभाग ने इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने के साथ परीक्षकों के जो बहुमूल्य सुझाव भी मुझे प्रदान किए उसके लिए मैं परीक्षा विभाग का धन्यवाद प्रकट करता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ की अनेक शोध समस्याओं की संस्कृत विभाग की 'संस्कृत शोध परिपद' की संगोष्ठियों में चर्चा-परिचर्चा हुई है। इन अवसरों पर प्रो० कृष्णलाल, प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार, प्रो० बाबुस्पति उपाध्याय, प्रो० सत्यपाल नारंग, डा० अरुणोद्भवा कुमार, डा० आर० एस० नागर, डा० बी० आर० शर्मा, डा० रामाश्रय शर्मा आदि अनेक विद्वानों की बहुमूल्य सम्मतियों से मुझे लाभ हुआ है उनके प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

भारतीय सामन्तवाद के प्रथम प्रस्तोता तथा भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास को एक नई दिशा प्रदान करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त इतिहासकार प्रो० रामशरण शर्मा के बहुमूल्य सुझावों का ही प्रतिफल है कि मैं प्रस्तुत ग्रन्थ की अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझ सका। प्रो० शर्मा ने इस ग्रन्थ का आमुख लिखकर मेरे इस तुच्छ प्रयास को जो गौरवान्वित किया है उसके लिए मैं उनका विशेष आभारी रहूंगा।

प्रो० दयानन्द भार्गव, वर्तमान अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्व-विद्यालय के सान्निध्य में मैने रामजस कालेज में भारतीय विद्या के प्रथम पाठ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से लेकर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तक के समाजशास्त्र की शिक्षा पाई है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की समस्या के सर्जक भी वे ही हैं तथा उन्हीं के कुशल मार्ग दर्शन से मैं इस जटिल सारस्वत अनुष्ठान का नियोजन कर सका हूँ। इन सबके लिए मैं उनका सदैव ऋणी ही रहूंगा।

संस्कृत विभाग, रामजस कालेज के सहयोगी डॉ० सूर्यकान्त बाली, डा० रघुवीर वेदालङ्कार, तथा डा० शरदलता शर्मा की सत्प्रेरणा मुझे मिलती रही है। इतिहास विभाग के डा० जी० बी० उप्रेती तथा श्री सुधाकर सिंह से शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित अनेक समस्याओं पर विचार विमर्श हुआ है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, प्राचार्य, रामजस कालेज, दिल्ली, हिन्दी अकादमी के सचिव डॉ० नारायण दत्त पालीवाल तथा संस्कृत अकादमी के सचिव श्री श्रीकृष्ण सेमवाल के साथ प्राचीन भारत की अनेक सामाजिक समस्याओं के विषय में चर्चा हुई है। इसके लिए मैं उनका हृदय से धन्यवाद प्रकट करता हूँ। आचार्यरत्न श्री देशमूषण

महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ 'आस्था और चिन्तन' के प्रबन्ध सम्पादक सम्पत्त्व रत्नाकर श्री सुमत प्रसाद जैन तथा 'ऋषभदेव फाउण्डेशन' के महामंत्री श्री हृदयरज जैन के बहुमूल्य परामर्शों एवं सत्प्रेरणाओं के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के लिए अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की प्राप्ति मुझे आर्कियाँ-लॉजिकल पुस्तकालय, जनपथ, नई दिल्ली; वीर सेवा मन्दिर पुस्तकालय, दरियागंज, नई दिल्ली, श्री महावीर जैन पुस्तकालय तथा मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक, दिल्ली, केन्द्रीय सचिवालय पुस्तकालय, मन्डी हाउस, नई दिल्ली; रामजस कालेज पुस्तकालय तथा केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से हुई है। तदर्थ मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का विशेष आभारी हूँ। श्री जंग बहादुर खन्ना, असिस्टेंट लाइब्रेरियन, दिल्ली विश्वविद्यालय का मैं विशेष आभार प्रकट करता हूँ कि उनके निरन्तर सहयोग से ही मुझे समय समय पर दुर्लभ पुस्तकों की प्राप्ति हो सकी तथा इस ग्रन्थ की वर्गीकृत विषयानुक्रमिका तैयार करने के प्रेरणा स्रोत भी वे ही हैं।

मेरे अभिन्न मित्र श्री बिशन स्वरूप हस्तगी, डा० जशोसिंह बिष्ट, डा० जी० डी० भट्ट, श्री देवकी नन्दन भट्ट, श्री प्रबोध राज चन्दोल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री सत्यनारायण शर्मा, कविराज डा० एम० एम० एस० यादव, श्री नरेन्द्र मल्होत्रा, पं० बचौराम उपाध्याय, पं० दयाराम सेम्वाल श्री जगत् सिंह मंडारी तथा श्री सुन्दरलाल शाह का सतत उत्साह वर्धन तथा सहयोग भावना इस ग्रन्थ के प्रणयन में अनेक दृष्टियों से सहायक रही है। इसके लिये वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। मेरे सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के सहयोगी श्री के० पी० सिंह, श्री खोमानन्द पाण्डे, श्री रामप्रसाद पन्त, श्री मेहताब सिंह कठैत, श्री नारायण सिंह कनवाल, श्री मथुरादत्त काण्डपाल, श्री प्रकाश चन्द्र शर्मा, श्री बी० डी० जोशी, श्री धनसिंह रावत आदि अनेक महानुभावों का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने मेरे द्वारा सम्पादित किए जाने वाले अनेक संस्थागत दायित्वों से मुझे मुक्त रखा तथा इस प्रकाशन कार्य में सहयोग प्रदान किया।

दिवंगत पिता जी की अदृश्य प्रेरणा और आशीर्वाद मेरे इस अनुष्ठान में सदा साथ रहे हैं, उनके प्रति मैं अपना सादर प्रणाम निवेदन करता हूँ। पूजनीय माता तथा चाचा-चाची का वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद जो मुझे सदा मिलता आया है उनके प्रति मैं नजमस्तक हूँ। धर्मपत्नी आनन्दी तथा अनुज जयकिसन और गोपाल ने परिवार के सभी दायित्वों से मुझे जो चिन्ता मुक्त रखा है, उसके लिए वे सभी साधुवाद के अधिकारी हैं।

अन्त में मैं ग्रन्थ के प्रकाशक श्री श्यामलाल मल्होत्रा का विशेष धन्यवाद प्रकट करता हूँ जिनके सौजन्य से इस बृहदाकार ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका। अमर प्रिंटिंग प्रैस के मुद्रण-प्रभारी श्री विधी चन्द तथा श्री छविलाल विशेष रूप से बघाई के पात्र हैं जिनकी निष्ठा और लगन से पुस्तकीय दायित्व का सफल निर्वाह हो पाया है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी पुस्तक में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रह गई हैं। तत्त्वग्राही उदार पाठक उन्हें स्वविवेक से सुधारकर ही ग्रहण करेंगे। भारतीय विद्या तथा जैन विद्या के विद्वानों तथा मध्यकालीन इतिहास के शोधार्थियों को इस पुस्तक से किञ्चित् भी यदि लाभ हुआ तो मैं अपने इस कृत्य को सफल ही समझूँगा क्योंकि कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र के अनुसार ज्ञान-सागर को लांघना और ज्ञान-पिपासा को बुझाना दोनों ही अत्यन्त दुष्कर कार्य हैं—

वाग्वभवं ते निखिलं विवेक्षुमाशास्महे चेन्महनीयमुत्थम् ।

लङ्घ्येमजङ्घालतया समुद्रं बहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥

दिल्ली,

ऋषभदेव जयन्ती,

३१ मार्च, १९८६

मोहन चन्द

विषय-सूची

प्राक्कथन

xij

संकेत सूची

xxx

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

साहित्य, समाज और जैन संस्कृत महाकाव्य

१-६४

१. भारतीय साहित्य और समाज : एक सैद्धान्तिक विवेचन

१-३५

समाज शास्त्र—समाज का एक व्यवस्थित विवेचन ३, समाज की ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति ५, समाजशास्त्र के विविध तत्त्व ६, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा ६, समाज में क्रान्ति की अवधारणा १०, प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक ११, प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र तथा आधुनिक समाज-शास्त्र १३, साहित्य एवं समाज में प्रवृत्ति-साम्य २५, साहित्य एवं समाज : उद्भव एवं विकास १७, साहित्यशास्त्र की समाजधर्मी मान्यताएं १६, भारतीय साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि और सामाजिक चेतना २४, धार्मिक साहित्य एवं वर्ग चेतना २५, रसपरक साहित्य एवं वर्ग चेतना २७, साहित्य सृजन एवं समसामयिक मूल्य २८, महाकाव्य एवं सामाजिक चेतना २९, सामाजिक विकास की चार अवस्थाएं तथा महाकाव्य ३०, भारतीय महाकाव्य-लक्षणों के सन्दर्भ में सामाजिक चेतना का स्वरूप ३२, निष्कर्ष ३४।

२. जैन संस्कृत महाकाव्यों के निर्माण की दिशाएं

३५-६४

जैन संस्कृत साहित्य के लेखन का प्रारम्भ ३५, महाकाव्य परम्परा का विश्वजनीन महत्त्व ३६, महाकाव्य विकास की दो धाराएं ३७, विकसनशील महाकाव्य ३७, अलंकृत महाकाव्य ३८, द्विविध पाश्चात्य महाकाव्यधारा के सन्दर्भ में जैन पुराण तथा महाकाव्य ३८, जैन पुराण : विकसनशील महाकाव्यों के रूप में ३९, जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्य ४०, जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों का शिल्प वैधानिक स्वरूप ४१, जैन संस्कृत महाकाव्यों का वर्गीकरण ४३, जैन संस्कृत चरित महाकाव्य ४४, जैन संस्कृत चरितेतर महाकाव्य ४५, जैन संस्कृत सन्धान महाकाव्य ४६, जैन संस्कृत आनन्द महा-

काव्य ४७, जैन संस्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य ४७, आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्य ४८, महाकाव्येतर अन्य स्रोत सामग्री ४९, आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय ५०, जटासिंह नन्दिकृत वराङ्गचरित ५०, घनञ्जयकृत द्विसन्धान ५२, महासेनकृत प्रद्युम्नचरित ५३, धीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित ५४, असगकृत वर्धमानचरित ५४, हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय ५५, बादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित ५६, बागभट्टकृत नेमिनिर्वाण ५६, हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रय ५७, अभयदेव सूरिकृत जयन्तविजय ५८, वस्तुपालकृत नरनारायणानन्द महाकाव्य ५९, धमरचन्द्रकृत पद्मानन्द महाकाव्य ५९, सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी ६०, बालचन्द्र सूरिकृत वसन्तविलास महाकाव्य ६१, नयचन्द्र सूरिकृत हम्मीर महाकाव्य ६३, निष्कर्ष ६४।

द्वितीय अध्याय

राजनैतिक शासनतन्त्र एवं राज्यव्यवस्था

६५-१४७

१. राजनैतिक शासनतन्त्र

६५-८३

भारतीय शासनतन्त्र ६५, राज्य विषयक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण ६५, भारतीय विचारकों के राज्य विषयक सिद्धान्त ६८, सामन्तयुगीन मध्य कालीन 'राज्य' संस्था का स्वरूप ६९, जैन संस्कृत महाकाव्यों में शासनतन्त्र विषयक विचार ७०, सप्ताङ्गराज्य ७०, षड्विधबल ७०, त्रिविध शक्ति ७३, षाड्गुण्य ७४, चतुर्विध उपाय ७५, चतुर्विध उपाय तथा पक्ष-विपक्ष ७७, साम ७८, दान ७९, भेद ८०, भेद नीति तथा प्रलोभन ८०, दण्ड ८२

२. राज्य व्यवस्था

राजाओं के भेद एवं उपाधियाँ ८३, सामन्त पद्धति ८५, आदर्श राजा के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व ८८, उत्तराधिकार का अधिकारी ८९, उत्तराधिकार के लिए संघर्ष ९०, उत्तराधिकार सम्बन्धी मन्त्रणा ९१, राज्याभिषेक ९२, राज्याभिषेक का समय ९२, उत्तराधिकारी राजकुमार की योग्यताएं ९३, राजा तथा उसका मन्त्रिमण्डल ९४, मन्त्रिमण्डल की उपादेयता ९५, कोष-संग्रहण के साधन ९७, बलपूर्वक कोष-संग्रहण ९८, उपहार-दहेजादि से कोष-संग्रहण ९९, युद्धप्राण से कोष-संग्रहण ९९, न्यायव्यवस्था १०१, जैन संस्कृत महाकाव्य तथा न्यायव्यवस्था १०१, अपराधवृत्ति धार्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में १०१, हाकार-माकार तथा धिक्कार नीति १०२, विभिन्न प्रकार के अपराध एवं दण्ड १०३, चोरी तथा डाका १०३, चोरों पर नियंत्रण १०४, हत्या १०५, स्त्री-व्यभिचार १०५, राजषड्यन्त्र १०७, जूआ खेलना १०७, पशुदण्डव्यवस्था १०७, अपराध पुष्टि की न्यायालयीय प्रक्रिया १०८, शासन व्यवस्था के उच्चाधिकारी १०८, केन्द्रीय शासनव्यवस्था १०८, केन्द्रीय

शासनव्यवस्था के उच्चाधिकारी—पद तथा कार्य १११, स्त्री कर्मचारी १२४, ग्रामप्रशासन और ग्रामसंगठन १२४, ग्रामप्रशासन के सन्दर्भ में महत्तर/महत्तम एवं कुटुम्बी १२५, महत्तर/महत्तम १२६, कुटुम्बी १३४, राजाओं तथा मंत्रियों की ऐतिहासिक वंशावलि १४२, चाहमान वंशक्रम १४२, चालुक्य वंशक्रम १४४, मंत्री वस्तुपाल तथा तेजपाल का वंशक्रम १४५, निष्कर्ष १४६।

तृतीय अध्याय

युद्ध एवं सैन्य व्यवस्था

१४८-१८८

युद्धों की राजनैतिक पृष्ठभूमि १४८, युद्धों के कारण १४८, युद्ध सम्बन्धी दूत-प्रेषण एवं पत्रव्यवहार १४९, दण्डनीति के अनुसार युद्ध की पृष्ठभूमि १५०, युद्धनीति तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा विचार विमर्श १५०, सैन्य प्रशासकीय व्यवस्था १५३, सेना की परिभाषा तथा स्वरूप १५४, सेना के प्रकार १५५, युद्ध धर्म १५६, युद्धप्रयाण के अवसर पर शकुन-अपशकुन विचार १५७, युद्ध-प्रयाण तथा सेना सञ्चालन १५८, सेना के साथ जाने वाली स्त्रियाँ आदि १५९, युद्धप्रयाण सम्बन्धी अनुशासनहीनता १६०, सैनिक शिविर व्यवस्था १६०, सैनिक मनोरञ्जन एवं भोगविलास १६१, सैन्य पशुनिवास व्यवस्था १६२, युद्धों के भेद १६२, दृष्टि युद्ध १६३, वायुयुद्ध १६३, भुज युद्ध १६३, पदाति युद्ध १६३, रथ युद्ध १६४, अश्व युद्ध १६४, गज युद्ध १६४, दुर्ग युद्ध १६४, पुलिन्द युद्ध १६५, गुरिल्ला युद्ध १६६, योद्धाओं का दाह संस्कार १६७, ग्राह्य योद्धाओं की प्राथमिक चिकित्सा १६७, आयुध वर्णन १६८, आयुध विभाग १६८, आक्रमणात्मक आयुध १६९, मुक्तवर्ग के आयुध १६९, उपकरणात्मक आयुध १७०, सुरक्षात्मक आयुध १७०, दिव्यास्त्र १७०, युद्ध में बारूद एवं 'एटमबम' का प्रयोग १८९, आग्नेयास्त्र निर्माण की रासायनिक विधियाँ १८२, युद्धोपयोगी वाद्य यंत्र १८४, भारतीय सैन्य शक्ति के क्षीण होने के कारण १८५, निष्कर्ष १८७।

चतुर्थ अध्याय

अर्थव्यवस्था एवं उद्योग-व्यवसाय

१८९-२४१

१. अर्थव्यवस्था

१८९-२०९

आर्थिक संस्था तथा अर्थव्यवस्था १८९, आर्थिक संस्था तथा भारतीय आर्थिक विचारक १९०, सम्पत्ति उपभोग और जैन परम्परागत नवनिधियाँ १९२, चतुर्दश रत्न २९४, मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप १९४, आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ १९४, भूमिदान १९५, जैन संस्कृत महाकाव्यों में मध्यकालीन

अर्थ-चेतना १६५, भूस्वामित्व का हस्तान्तरण तथा विकेन्द्रीकरण १६७, सामन्ती ढाँचे के सन्दर्भ में श्रेणिगणप्रधान १६६, अग्रहार ग्रामों में शिल्पी आदि जातियों के पुनर्वास पर प्रतिबन्ध २०१, उद्योग-व्यवसायों का आर्थिक ढाँचा २०२, वर्णव्यवस्था के आधार पर आर्थिक विभाजन २०२, कुल परम्परागत व्यवसाय चयन पर बल २०३, ब्राह्मण तथा पौरोहित्य व्यवसाय २०४, क्षत्रिय तथा सैन्य व्यवसाय २०६, वैश्य-शूद्र तथा वाणिज्य-कृषि आदि व्यवसाय २०७ ।

२. प्रमुख उद्योग व्यवसाय

२०६-२४१

कृषि २०६, सिंचाई के साधन २११, कृषि उपज, २११, ईख-उत्पादन : एक प्रमुख व्यवसाय २१२, बगीचों में उत्पन्न होने वाली शाक-मन्जियां २१२, वृक्ष उद्योग २१३, उद्यान व्यवसाय तथा बागवानी २१३, उद्यानों आदि में वृक्षारोपण २१४, वृक्ष-उद्योग का आर्थिक दृष्टि से महत्त्व २१५, फलों, सेवों, मसालों तथा सुगन्धित द्रव्यों के वृक्ष २१७, पुष्पवृक्ष एवं छायादार वृक्ष २१८, पशुपालन व्यवसाय २२१, पालतू पशु २२१, युद्धोपयोगी पशु २२१, मुर्गा-पालन २२२, वन्य पशुओं की व्यावसायिक उपयोगिता २२२, पशुपक्षियों से दुर्व्यवहार २२३, वाणिज्य व्यवसाय २२४, व्यापार का स्वरूप २२४, व्यापारिक काफिले २२५, नगर सेठों का आर्थिक वैभव २२६, विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध २२६, नगरों के बाजार २२७, विक्रयार्थ फुटकर वस्तुएं २२८, मुद्रा तथा क्रय शक्ति २२९, वस्तुओं में मिलावट तथा झूठे मापतौल का प्रयोग २३१, शिल्प व्यवसाय २३२, श्रेणि-व्यवसाय तथा अष्टादश श्रेणियां २३२, जीविकोपार्जन सम्बन्धी तकनीकी व्यवसाय २३३, पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय २३८, निष्कर्ष २३९ ।

पञ्चम अध्याय

आवास-व्यवस्था, खानपान तथा वेशभूषा

२४२-३१२

१. आवास व्यवस्था

२४२-२६४

विविध आवासीय संस्थितियां २४२, तीन प्रमुख आवासीय संकेतनाएं—ग्राम, नगर, निगम २४३, ग्राम २४४, ग्राम : आर्थिक उत्पादन के मुख्य केन्द्र २४४, नगर २४५, नगर जीवन : आर्थिक समृद्धि का परिणाम २४६, नगरों में भवन विन्यास २४८, नगरों के वास्तुशास्त्रीय चिह्न २४९, परिखा २४९, गोपुर २४९, वप्र २५०, प्राकार २५०, अट्टालक २५०, एक आदर्श नगर—आनर्त-पुर का वास्तुशिल्प २५१, नगर चिह्न २५१, राजप्रासाद का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप २५२, नगर के समीपस्थ क्षेत्रों में ग्रामादि निर्माण २५२, निगम २५३, जैन संस्कृत महाकाव्यों में निगम वर्णन २५२, राजधानी २५६, आकर २५७

खेट २५८, द्रोणमुख २६०, मडम्ब २६१, पत्तन २६१, कर्बेट २६२, सम्बाध २६३, घोष २६४।

आवासोद्य संस्थिति के रूप में निगम—एक पुनर्विवेचन २६४-२६१

रामायण २६६, अष्टाध्यायी, महाभारत तथा अर्थशास्त्र २७१, अभिलेख, मुद्राभिलेख तथा सिक्के २७२, बौद्ध साहित्य २७७, जैन साहित्य २७९, कोष ग्रन्थ २८२, वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ २८५, स्मृतिग्रन्थ एवं निबन्ध ग्रन्थ २८७, दक्षिण भारत के व्यापारिक निगम २८८।

२. खानपान २८२-२८६

विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ २८२, ओदन २८२, करम्भक २८२, मण्डक २८२, मण्डिका २८३, खाद्य २८३, अपूपिका २८३, मर्मराल २८३, वटक २८३, तीमन २८३, इड्डुरिका २८४, मोदक २८४, अन्य भोज्य पदार्थ २८४, मांस भक्षण २८४, पेय पदार्थ २८५, मदिरा सेवन २८५।

३. वेशभूषा २८६-३१२

वस्त्रों के विविध प्रकार २८६, सिले हुए वस्त्र २८७, सामान्य वस्त्र २८८, स्त्रियों के वस्त्र २८८, स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन ३००, स्त्रियों के आभूषण ३०१, सिर के आभूषण ३०३, कर्णाभूषण ३०४, कण्ठाभूषण ३०५, कराभूषण ३०७, कटिप्रदेश के आभूषण ३०९, पादाभूषण, ३१० निष्कर्ष ३१०।

षष्ठ अध्याय

धार्मिक जन-जीवन एवं दार्शनिक मान्यताएं ३१३-४०६

१. धार्मिक जन-जीवन ३१३-३७५

धर्म की सामाजिक अनुप्रेरणा ३१३, जैन धर्म : समाजोन्मुखी मूल्य एवं परम्पराएं ३१५, ब्राह्मण व्यवस्था के सैद्धान्तिक विरोध का समाजशास्त्र ३१५, वर्णव्यवस्था का विरोध ३१६, जाति व्यवस्था का विरोध ३१७, वेद-प्रामाण्य का विरोध ३१७, पुरोहितवाद का विरोध ३१८, देवोपासना का विरोध ३१८, जैन धर्म को समन्वयमूलक समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियां ३१९, आलोच्य युग में जैन धर्म की राजनैतिक लोकप्रियता ३२२, जैन गृहस्थ धर्म एवं व्रताचरण ३२३, जैनानुमोदित 'धर्म' का स्वरूप ३-३, द्विविध धर्म सागार एवं अनागार ३१४, सागार एवं अनागार धर्म में अन्तर ३२५, द्वादश व्रताचरण ३२६, राजा कुमारपाल द्वारा जैन व्रतों का पालन ३३०, धार्मिक कर्म-काण्ड एवं पूजा पद्धति ३३२, पंचोपचार एवं अष्टविध पूजन ३३२, जिनेन्द्र-पूजा ३३३, प्रतिमा अभिषेक ३३३, कर्मकाण्डपरक विधियां ३३५, पूजा सामग्री ३३५, विविध पूजा द्रव्यों का अनुष्ठानफल ३३६, पूजा-द्रव्य के रूप में

बहुमुख्य वस्तुएं ३३७, देवी पूजा ३३८, विजय के उपलक्ष्य में देवीपूजा महोत्सव ३३९, जैन मन्दिर एवं तीर्थ स्थान ३३९, जैन मन्दिरों की धार्मिक लोक-प्रियता ३४०, जैन मन्दिरों का स्थापत्य ३४१, वस्तुपाल तथा कुमारपाल की तीर्थयात्राएं ३४२, वस्तुपाल द्वारा धार्मिक स्थानों का जीर्णोद्धार तथा मन्दिर निर्माण ३४४, राजा कुमारपाल द्वारा मन्दिर निर्माण ३४७, जैन धार्मिक पर्व एवं महोत्सव ३४८, जैन देवशास्त्र तथा पौराणिक विश्वास ३५०, जैन देवों का वर्गीकरण ३५०, जैन देवों का स्वरूप ३५२, जैन देवियों का स्वरूप ३५४, काल विभाजन एवं युगचक्र ३५६, अवसर्पणीकाल ३५६, उत्सर्पणीकाल ३५७, चौदह कुलकर अथवा सोलह मनु ३५७, त्रिषष्टिशलाकापुरुष ३५८, जैन मुनि धर्म ३५९, भोग से विरक्ति की ओर ३५, मुनिधर्म : सामाजिक प्रासङ्गिकता ३६०, समाज में मुनिभाव के प्रति आस्था ३६०, मुनिचर्या का स्वरूप ३६२, सांसारिक विरक्ति के कारण ३६२, मुनि आचार ३६२, तपश्चर्या ३६३, तपों के भेद ३६३, विविध प्रकार के कठोर तप ३६४, मुनि विहार ३६५, साध्वियों की तपश्चर्या ३६६, ब्राह्मण धर्म की युगीन प्रवृत्तियां ३६७, यज्ञानुष्ठान ३६७, बलिप्रथा ३६८, देवोपासना ३७०, शैव सम्प्रदाय ३७१, वैष्णव सम्प्रदाय ३७२, सूर्योपासना ३७२, प्रसिद्ध तीर्थस्थान ३७३ ।

२. बार्शनिक मान्यताएं

३७५-४०६

महाकाव्य युग का जैन दर्शन : प्रवृत्तियां और प्रयोग ३७५, जटासिंह नन्दि की अनेकान्त अवधारणा ३७६, अनेकान्तवाद पर विरोधी प्रहार ३७८, आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का नवीन धुक्कीकरण ३७९, जैन दर्शन ३८१, प्रमाण व्यवस्था ३८१, नयव्यवस्था ३८२, द्रव्य व्यवस्था ३८२, तत्त्व व्यवस्था ३८३, जैन दर्शन के सात तत्त्व ३८३, जीव ३८४, अजीव ३८६, पुद्गल पद्विध ३८७, आश्रव ३८९, बन्ध ३९०, संवर ३९०, निर्जरा ३९१, मोक्ष ३९१, जैनेतर दार्शनिकवाद ३९२, सृष्टि विषयक प्राचीनवाद ३९३, कालवाद ३९३, नियतिवाद ३९३, स्वभाववाद ३९४, यदच्छावाद ३९४, सांख्याभिमत सत्कार्य-वाद ३९५, मीमांसाभिमत सर्वज्ञवाद ३९६, बौद्धाभिमत विविधवाद ३९७, शून्यवाद ३९७, क्षणिकवाद ३९७, नैरात्म्यवाद ३९८, पौराणिक देववाद ३९८, चार्वाकाभिमत भूतवाद ३९९, अन्य लोकायतिकवाद ४०१, मायावाद ४०१, तत्त्वोपप्लववाद ४०२, निष्कर्ष ४०३ ।

सप्तम अध्याय

शिक्षा, कला एवं ज्ञान-विज्ञान

४०७-४५७

१. शिक्षा

४०७-४३७

मध्यकालीन भारत में शैक्षिक वातावरण ४०७, शिक्षा की तीन धाराएं ४०८,

विद्यारम्भ की आयु सीमा ४०६, शिक्षा सम्बन्धी संस्कार ४१०, उपनयन संस्कार की स्थिति ४११, गुरु-शिष्य सम्बन्ध ४१२, शिक्षक का स्वरूप ४१२, आदर्श शिक्षक की योग्यताएं ४१२, सग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थ शिक्षक ४१३, शिक्षक प्रशिक्षण तथा अग्रशिष्य प्रणाली ४१३, शिष्य की योग्यताएं तथा अयोग्यताएं ४१४, कुशिष्य ४१५, ज्ञानार्जन की दृष्टि से शिष्यों के विभिन्न स्तर ४१५, शिक्षण विधियाँ ४१६, पाठविधि ५१६, पुनरावृत्ति विधि ४१७, प्रश्नोत्तर विधि ४१७, कण्ठस्थ विधि ४१८, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विधि ४१८, शिक्षा केन्द्र ४१९, पाठ्यक्रम ४२०, वैदिक विद्या परम्परा ४२०, बौद्ध विद्या परम्परा ४२१, जैन विद्या परम्परा ४२२, परम्परागत जैन विद्याएं ४२३, उपविद्याओं के रूप में बहत्तर कलाएं ४२४, वर्णव्यवस्थानुसार पाठ्यक्रम ४२५, शिक्षा का व्यवसायीकरण ४२६, स्वतंत्र शाखाओं के रूप में विद्याओं का विकास ४२६, सच्चस्तरीय अध्ययन विषय ४२८, वेद ४२८, वेदाङ्ग ४२९, व्याकरण ४२९, भाषा तथा लिपि ४३०, शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा ४३१, दर्शन ४३२, राजनीतिशास्त्र ४३३, साहित्य शास्त्र ४३५, युद्ध विद्या ४३५, धनुर्विद्या ४३६, खड्गविद्या ४३७, शस्त्रविद्या ४३७।

२. कला

४३७-४४५

सङ्गीत कला ४३७, वाद्य यंत्र ४३८, वीणा-भेद ४४०, स्वर राग एवं मूच्छंताएं ४४०, सप्त स्वर ४४०, चतुर्विध ध्वनि ४४१, नृत्यकला ४४१, चित्रकला ४४३, वास्तुशास्त्रीय चित्रकला ४४३, श्रृङ्गारिक चित्रकला ४४४।

३. ज्ञान-विज्ञान

४४५-४५७

आयुर्वेद ४४४, चिकित्सा एवं प्राथमिक उपचार ४४६, ग्राह्योपचार ४४७, कुष्ठरोग की शल्यचिकित्सा ४४७, शल्यचिकित्सा विधि ४४८, अन्य रोमोपचार ४४९, घातक निःशुल्क चिकित्सा ४५०, ज्योतिष एवं नक्षत्र विज्ञान ४५०, ग्रह-नक्षत्रों के प्रति प्रविशवास भावना ४५२, शकुन शास्त्र ४५३, शकुन ४५३, अपशकुन ४५३, स्वप्नशास्त्र ४५४, निष्कर्ष ४५५।

अष्टम अध्याय

स्त्रियों की स्थिति तथा विवाह संस्था

४५८-५०६

१. स्त्रियों की स्थिति

४५८-४८४

वैदिक कालीन नारी ४५८, बौद्धकालीन नारी ४६०, जैन आगम कालीन नारी ४६२, स्मृति कालीन नारी ४६४, आलोच्य युगीन मध्यकालीन नारी ४६७, समाज की सर्वव्यापक शक्ति के रूप में स्त्री ४६९, राजनैतिक क्षेत्र में स्त्री ४६९, धार्मिक क्षेत्र में स्त्री ४७०, दार्शनिक क्षेत्र में स्त्री ४७१, आर्थिक क्षेत्र

में स्त्री ४७२, परिवार में स्त्री का स्थान ४७३, माता के रूप में स्त्री ४७३, कन्या के रूप में स्त्री ४७४, पुत्रवधू के रूप में स्त्री ४७५, पत्नी के रूप में स्त्री ४७६, स्त्री-भोगविलास तथा मदिरापान ४७८, दाम्पत्य जीवन तथा यौन सम्बन्ध ४८०, गर्भवती स्त्री तथा दोहद ४८१, वेश्या ४८१, नर्तकी तथा वाराङ्गना ४८३, सती प्रथा का विरोध ४८३ ।

२. विवाह संस्था

४८५-५०६

विवाह भेद ४८६, मंत्रणा पूर्वक विवाह ४८६, स्वयंवर विवाह ४८६, पूर्वाग्रह-पूर्ण स्वयंवर विवाह ४८७, प्रेम विवाह ४८१, अनुदन्धनात्मक प्रेम विवाह ४८२, प्रतिज्ञा विवाह ४८३, अपहरण विवाह ४८३, वर एवं वधू के चयन का आधार ४८५, विवाह विधियाँ ४८६, विविध प्रकार की क्षेत्रीय विवाहा-नुष्ठान विधियाँ ४८६, वरांगचरित ४८६, पद्मानन्द ३६७, सनत्कुमारचरि-चरित ४८६, द्रयाश्रय ५००, शान्तिनाथचरित ५००, विवाह सम्बन्धी अन्य रीति-रिवाज ५०१, स्वयंवर विवाह विधि ५०२, स्वयंवर में आए राजकुमारों की चयन योग्यताएं ५०३, विवाह संस्था सम्बन्धी अन्य प्रथाएं ५०४, दहेज प्रथा ५०४, दहेज प्रथा का विरोध ५०६, बहुविवाह प्रथा ५०६, निष्कर्ष ५०८ ।

नवम अध्याय

भौगोलिक स्थिति

५१०-५४०

भूगोलशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएं ५१०, वैदिक पुराणों में भौगोलिक मान्यताएं ५१०, जैन भौगोलिक मान्यताएं ५११, प्राचीन ऐतिहासिक देश-विभाजन ५१२, आलोच्य युग में भौगोलिक परिस्थितियाँ ५१३ ।

१. पर्वत

५१४-५१८

उज्जयन्त ५१४ अर्बुदाचल ५१४, शत्रुंजय ५१४, विन्ध्याचल ५१४, हिमालय ५१५, कैलाश ५१५, पारिजात ५१५, ऋक्ष पर्वत ५१५, माहेन्द्र ५१५, सह्या ५१५, शक्तिमत, ५१६, मलय ५१६, अन्ध ५१६, उशीनर ५१६, नीलाद्रि ५१६, शैलप्रस्थ ५१६, शाल्व ५१६, मल्लिकूट ५१७, मेरु ५१७, पूर्वमन्दर ५१७, इषुकार गिरि ५१७, विजयार्ध पर्वत ५१७, वेलाद्रि ५१७, सम्मेदाचल ५१७, श्री पर्वत ५१८,

२. नदियाँ

५१८-५२२

गंगा ५१८, यमुना ५१८, तापी ५१८, सरयू ५१८, मही ५१८, सरस्वती ५१८, चर्मण्वती ५१८, जम्बूमाली ५१८, द्रुमती ५२०, ऋजुकूला ५२०, सीता ५२०, नर्मदा ५२०, रेवा ५२०, पारा ५२१, भोगवती ५२१,

शारावती ५२१, शोण ५२१, सिन्धु ५२१, सिन्धु ५२१, स्वभ्रवती ५२२,
शीतोदा ५२२, जलवाहिनी ५२२, वरदा ५२२,

३. देश-विदेश

५२२-५४०

कोशल ५२२, अवन्ती ५२३, पुण्ड्र ५२३, कुरु देश ५२४, काशी ५२४, अङ्ग
५२४, वज्र ५२५, शूरसेन ५२५, काश्मीर ५२५, वत्स ५२६, पाञ्चाल
५२६, कच्छ ५२६, मगध ५२६, विदर्भ ५२६, कोंकण ५२७, आन्ध्र ५२७,
कर्णाटक ५२७, विदेह ५२८, सिन्धु ५२८, गान्धार ५२८, आभीर ५२८,
चेदि ५२९, टक्क ५२९, काम्बोज ५२९, बाल्हीक ५२९, तुरुष्क ५२९, शक
५२९, कलिङ्ग ५३०, द्रविड़ ५३०, लाट ५३०, अलका ५३०, उड ५३१,
अरिजय ५३१, कीर ५३१, खश ५३१, पारस ५३२, पूर्वदेश ५३२, मङ्गलावती
५३२, सुगन्धि ५३२, हूण ५३२, कामरूप ५३३, सिंहल ५३३, सौराष्ट्र ५३३,
सुरमा ५३३, डाहल ५३३, मुगुकच्छ ५३३, कुन्तल ५३४, मालवा ५३४, गौड
५३४, केरल ५३४, मलय ५३४, पाण्ड्य ५३५, कांची ५३५, मरु ५३५,
गोद्रह ५३५, शाकम्भरी ५३५, गुर्जरदेश ५३६, तिलंग ५३६, चाहमानदेश
५३६, महाराष्ट्र ५३६, मध्य देश ५३६, नेपाल ५३६, मूलस्थान ५३७,
अश्मक ५३७, सौवीर ५३७, दिल्ली ५३७, नगर-पुर तालिका ५३८,
निष्कर्ष ५४० ।

सिंहावलोकन

५४१

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

५५०

नामानुक्रमणिका

५६४

स्थानानुक्रमणिका

५७६

विषयानुक्रमणिका

५६०

शुद्धि-पत्र

६८२

संकेत सूची

अनु०	अनुशासन पर्व (महाभारत)
अभि०	अभिज्ञानशाकुन्तल
अभिधान०	अभिधानचिन्तामणि
अयो०	अयोध्याकाण्ड (रामायण)
अर्थ०	अर्थशास्त्र
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आचारांग०	आचारांगसूत्र
आदि०	आदिपुराण
उत्तर०	उत्तरपुराण
उत्तरा०	उत्तराख्ययनसूत्र
ओप०	ओपपात्तिकसूत्र
कल्प०	कल्पसूत्र
कामन्दक०	कामन्दकनीतिसार
कीर्ति०	कीर्तिकौमुदीमहाकाव्य
कुमार०	कुमारपालचरित
क्षत्र चूडा०	क्षत्रचूडामणि
चन्द्र०	चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्य
जयन्त०	जयन्तविजयमहाकाव्य
त्रिकाण्ड०	त्रिकाण्डशेष
त्रिषष्टि०	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्य
दश०	दशकुमारचरित
दीघ०	दीघनिकाय
देशी०	देशीनाममाला
द्वया०	द्वयाश्रयकाव्य
द्विस०	द्विसन्धानमहाकाव्य
धम्म०	धम्मचेतियमुत्त

धर्म०	धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्य
नर०	नरनारायणानन्दमहाकाव्य
नाट्य०	नाट्यशास्त्र
नामलिङ्गा०	नामलिङ्गानुशासन
नारद०	नारदस्मृति
नीति०	नीतिप्रकाशिका
नेमि०	नेमिनिर्वाणमहाकाव्य
पद०	पदकौमुदी टीका (द्विसन्धान महाकाव्य)
पद्म०	पद्मचरित
पद्मा०	पद्मानन्दमहाकाव्य
परि०	परिशिष्टपर्व
पार्श्व०	पार्श्वनाथचरित
प्रद्यु०	प्रद्युम्नचरितमहाकाव्य
प्रबन्ध०	प्रबन्धचिन्तामणि
प्रभावक०	प्रभावकचरित
बृहत्कथा०	बृहत्कथाकोश
बृहस्पति०	बृहस्पतिस्मृति
मज्झि०	मज्झिमनिकाय
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
महावस्तु०	महावस्तु अवदान
यशस्तिलक०	यशस्तिलकचम्पू
यशो०	यशोधरचरित
युद्ध०	युद्धकाण्ड (रामायण)
रघु०	रघुवंश
राजधर्म०	राजधर्मकौस्तुभ
वरांग०	वरांगचरित महाकाव्य
वरांग० (वर्ध०)	वरांगचरितमहाकाव्य (वर्धमानकविकृत)
वर्ध०	वर्धमानचरित
वसन्त०	वसन्तविलासमहाकाव्य
वस्तु०	वस्तुपालचरित
वाङ्मयार्णव०	वाङ्मयार्णवकोश
विद्वन्मनो०	विद्वन्मनोवल्गुभाटीका (चन्द्रप्रभचरित)

विश्वकर्म०	विश्वकर्मवास्तुशास्त्र
व्यवहार०	व्यवहारप्रकाश (धर्मतत्त्वकलानिधि)
शतपथ०	शतपथब्राह्मण
शान्ति०	शान्तिनाथचरितमहाकाव्य
शुक्र०	शुक्रनीतिसार
षड्दर्शन०	षड्दर्शनसमुच्चय
सनत्कुमार०/सन०	सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्य
समरांगण०	समरांगणसूत्रधार
साहित्य०	साहित्यदर्पण
सुकृत०	सुकृतसंकीर्तन
संयुत०	संयुतनिकाय*
हम्मीर०	हम्मीरमहाकाव्य
Arch. Sur./A.S.I.	Archaeological Survey of India
Bajpai, Geog. Ency.	Bajpai, K.D., The Geographical Encyclopaedia of Ancient and Medieval India.
C.I.I.	Corpus, Inscriptionum Indicarum
Dey, Geog. Dic.	Dey, N.L., The Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India.
Epi. Ind./E.I.	Epigraphia Indica
Gupta, Geog. in Ind. Ins.	Gupta, P. Geography in Ancient Indian Inscriptions
Ind. Ant./I.A.	Indian Antiquary
J.A.O.S.	Journal of American Oriental Society.
Narang, Dvayāśrayakāvya.	Narang, S. P., Hemacandra's Dvayāśrayakāvya—A Literary and Cultural Study.
Z.D.M.G.	Zeitschrift der Deutschen Morgen-landischen Gesellschaft.

प्रथम अध्याय
प्रस्तावना

साहित्य समाज और जैन संस्कृत महाकाव्य

१. भारतीय साहित्य और समाज : एक सैद्धान्तिक विवेचन—

इतिहास के लक्ष्य आज बदल चुके हैं। अब इतिहास जन जन की आकांक्षाओं तथा भावनाओं का प्रतिलेखन करता है, केवल राजवंशों के उत्थान-पतन का नहीं। इन बदले हुए इतिहास मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में प्राच्य विद्या अनुसन्धान की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक एवं सामाजिक इतिहास लेखन की ओर विशेष गतिशील है। साहित्यानुप्रेरित सांस्कृतिक अध्ययन की इस अत्याधुनिक एवं लोकप्रिय अध्ययन शाखा के अन्तर्गत इतिहास के घटना-केन्द्रित एकाङ्की चित्रण की अपेक्षा प्रवृत्ति-मूलक समाज के व्यापक चित्रण पर बल दिया जाता है। परिणामतः आज केवल मात्र प्राचीन भारतीय साहित्य के आधार पर ही वेदकालीन समाज से लेकर उत्तरवर्ती समाज की विविध राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, भौगोलिक आदि परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों को जानना सुगम हो गया है। इस अध्ययन शाखा को प्रोत्साहित करने वाले प्रसिद्ध विद्वान् श्री वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय के 'प्राणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक अनुसन्धान कार्य से प्राच्यविद्या-अनुसन्धान के क्षेत्र में एक ऐसा मानदण्ड उपस्थित हुआ जिसकी प्रेरणा से भारतीय इतिहास लेखन को कतिपय नवीन मूल्य भी प्राप्त हुए और नई दिशा भी। साहित्यिक साक्ष्यों के स्रोतों से प्राचीन राजवंशों के इतिहास पर पूरक प्रकाश पड़ा तथा विभिन्न युगों की सामाजिक प्रवृत्तियों तथा लोक चेतना के विविध पक्षों से हम परिचित हो सके।

जैन संस्कृत महाकाव्य मूलतः साहित्य ग्रन्थ हैं तो सामाजिक परिस्थितियाँ या उनसे अनुरजित सांस्कृतिक इतिहास का सम्बन्ध 'समाज' से है। इस प्रकार साहित्य में 'समाज' खोजने का औचित्य भी एक वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर अवलम्बित है। आधुनिक युग की प्रचलित मान्यताओं के सन्दर्भ में 'कला कला के लिए' (आर्ट फार द सेक आफ आर्ट) एक बहुचर्चित मान्यता है। इस मान्यता के

अनुसार तो साहित्य में समाज आदि का औचित्य अप्रासङ्गिक ही ठहरता है किन्तु 'साहित्य समाज का दर्पण है' जैसी मान्यताएं साहित्य और समाज के सम्बन्ध की घनिष्ठ बनाती जान पड़ती हैं। आवश्यकता है साहित्य और समाज की मूल प्रवृत्तियों पर वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित ढंग से प्रकाश डालने की। आधुनिक आलोचकों के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य समीक्षकों की मान्यताओं का भी पर्यालोचन किया जाए तो हम देखते हैं कि काव्य प्रयोजनों के सन्दर्भ में आचार्य दण्डी जैसे साहित्यशास्त्री ने एक ऐसे काव्य प्रयोजन की ओर हमें आकृष्ट किया है जिसका उद्देश्य 'इतिहास संरक्षण' रहा था। पूर्वकालीन राजाओं का यश रूपी बिम्ब वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके प्रतिबिम्बित हो जाता है। उन राजाओं का अस्तित्व यद्यपि आज नहीं है तथापि यशोबिम्ब रूपी उनका इतिहास काव्य के माध्यम से ही प्रतिबिम्बित हो रहा है—

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।

तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥^१

साहित्य एवं समाज जैसे परस्पर सम्बद्ध दोनों पक्षों पर एक दूसरे के पड़ने वाले प्रभाव की जब हम चर्चा प्रारम्भ करते हैं तो देखा जाता है कि कभी समाज से अनुप्रेरित होकर साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार होती है तो कभी साहित्य एक प्रभावशाली माध्यम बनकर सामाजिक अनुप्रेरणा की भूमिका बनाता है। इस प्रकार साहित्य एवं समाज परस्पर अनुप्रेरणाभाव से एक दूसरे को प्रभावित करता है और प्रभावित होता है तो समाज की मूल इकाई 'मनुष्य' और उसका 'व्यवहार' है। साहित्य और समाज की दोनों कड़ियों को जोड़ने वाला है— 'मनुष्य', जिसकी अभिव्यक्ति 'साहित्य' है, और 'व्यवहार' 'समाज' कहलाता है। इस प्रकार 'साहित्य' और 'समाज' कभी कभी एक दूसरे के पूरक भी बन जाते हैं और साहित्य 'समाज' का दर्पण सिद्ध होता है। साहित्य और समाज की सम प्रवृत्तियों में स्वरूप की दृष्टि से एक महान् विषमता भी देखने को मिलती है, वह है साहित्य का मूर्त रूप और समाज का अमूर्त रूप। मूर्त साहित्य में अमूर्त समाज की गवेषणा निःसन्देह एक अत्यन्त दुर्लभ कार्य है। प्रत्येक ग्रन्थेता कुछ समस्याओं एवं मूल्यों के के सन्दर्भ में साहित्य से अभिव्यंजित समाज को एक रूप तथा आकार देने की चेष्टा करता है परन्तु आवश्यक नहीं कि वह वास्तविकता का समय उद्घाटन ही। प्रयोजन की अपेक्षा, तथा साध्यों की चरितार्थता से भी उद्घाटित समाज का स्वरूप सङ्कीर्ण या व्यापक हो सकता है। यदि काल का दीर्घ फलक साहित्य-सीमा का निर्धारण करे तो इतिहास चेतना की अपेक्षा युग चेतना का दिग्दर्शन अधिक होता है। पौराणिक एवं अ-ऐतिहासिक कथानकों पर आधृत साहित्य के माध्यम से प्रति-

बिम्बित समाज के तथ्य घटना परक दृष्टि से ऐतिहासिक न हो सकें परन्तु सामाजिक इतिहास की मूल प्रवृत्तियों का प्रामाणिक विश्लेषण उनके द्वारा होता ही है।

‘साहित्य’ एवं ‘समाज’ के वास्तविक विशदीकरण के लिए हमें इनसे सम्बद्ध शास्त्रों की ओर देखना पड़ता है। ‘साहित्य’ का शास्त्रीय पक्ष ‘साहित्यशास्त्र’ के रूप में बहुचर्चित एवं अत्यन्त लोकप्रिय रहा है परन्तु सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले विद्वान् ‘समाज’ की शास्त्रीय प्रवृत्तियों को अनदेखा करते हुए सामाजिक इतिहास लेखन की ओर प्रवृत्त होते हैं। वास्तव में सामाजिक अध्ययन की रूपरेखा ‘समाजशास्त्रीय’ अनभिज्ञता के बिना अधूरी ही समझी जानी चाहिए। मानवीय व्यवहार को उचित सन्दर्भ देने में ‘समाजशास्त्र’ अत्यन्त उपयोगी एवं अत्याधुनिक पद्धति सिद्ध हो सकती है। ‘समाजशास्त्र’ न केवल प्राच्य भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में अपितु सम्पूर्ण विश्व की विविध अध्ययन विद्याओं के क्षेत्र में भी सर्वथा एक नवीन शास्त्र के रूप में आविर्भूत हुआ। समाजशास्त्र का आविष्कार आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जो निरन्तर एक प्रगतिशील विज्ञान के रूप में सामाजिक अनुसन्धान को नवीन दिशा प्रदान कर रहा है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय ‘साहित्य’ और ‘समाज’ के सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बद्ध है। इस अध्याय में यह पुष्ट करने का प्रयास किया गया है कि सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों तथा वर्ग-संघर्षों की पृष्ठभूमि में साहित्य निर्माण की दिशा क्या थी तथा भारतीय साहित्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं में युगीन सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों को किस रूप में संग्रहीत किया गया? समाज धर्मी साहित्य की प्रवृत्तियों को उजागर करने वाले इस विवेचन में अपेक्षित समाजशास्त्रीय तत्त्वों एवं सिद्धान्तों की संक्षिप्त रूप से चर्चा की गई है जो शोध प्रबन्ध में विवेचित सामाजिक संस्थाओं के वैज्ञानिक स्वरूप को समझने की दृष्टि से भी उपयोगी है। सर्वप्रथम प्रस्तुत है ‘समाज शास्त्र’ का संक्षिप्त परिचय —

‘समाजशास्त्र’—समाज का एक व्यवस्थित विवेचन—

‘समाजशास्त्र’ अर्थात् (Sociology) शब्द का आविष्कार सर्वप्रथम फ्रेंच दार्शनिक ‘आगस्ट काम्टे’ (August Comte) ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया तथा इसी के साथ समाजशास्त्र की नींव भी डाली। वर्तमान दो शताब्दियों में इस विज्ञान पर पर्याप्त कार्य हुआ है, किन्तु अभी भी यह एक प्रगतिशील विज्ञान होने के कारण पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पाया है। ‘काम्टे’ महोदय संसार भर के सभी विज्ञानों को एकीकृत कर उनका सम्बन्ध मानव व्यवहारों से जोड़ना चाहते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने ‘समाजशास्त्र’ पर प्रकाश डाला है।

‘समाजशास्त्र’ एक विज्ञान है, अथवा कला है, अथवा दर्शन—इस सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ‘चार्ल्स हर्टन कूले’ (Charles Horton Cooley) का इस विषय में कथन है कि मानव व्यवहारों का यह वैशिष्ट्य है कि कभी वे व्यवस्थित होते हैं किन्तु कभी-कभी आवेशात्मक परिस्थितियों में अव्यवस्थित भी हो जाते हैं। दार्शनिक एवं कलात्मक व्यवहार भी मानव समाज में ही उपलब्ध होते हैं इसलिए ‘कूले’ के अनुसार ‘समाजशास्त्र’ एक विज्ञान भी है, दर्शन भी है और कला भी है।^१

‘काम्टे’ के अनुसार ‘समाजशास्त्र’ किसी मनुष्य की घटना विशेष का अध्ययन नहीं करता अपितु समाज में कार्य करने वाले विविध व्यवहारों, संगठनों तथा सांस्कृतिक मूल्यों में विद्यमान मूल सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। काम्टे ने दो प्रकार की सामाजिक घटनाओं को स्वीकार किया है—‘सामाजिक स्थिति विज्ञान’ (Social Statics) तथा ‘सामाजिक गतिविज्ञान’ (Social Dynamics) प्रथम विभाग के अन्तर्गत व्यक्ति, परिवार, तथा समाज के नगर, ग्राम, राज्य, राष्ट्र आदि संस्थाएं आती हैं तो दूसरे विभाग के अन्तर्गत इन संस्थाओं में कार्य करने वाली निश्चित एवं निरन्तर परिवर्तनशील पद्धतियाँ ‘समाजशास्त्र’ के अध्ययन का विषय रहती हैं।^२ ‘सोरोकिन’ (Sorokin) के मतानुसार ‘समाजशास्त्र’ मानव समुदाय के समस्त वर्ग में पाई जाने वाली सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करता है और इस अध्ययन का मुख्य प्रयोजन है सामाजिक व्यवहारों का विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, न्यायिक वर्गों की दृष्टि से मूल्याङ्कन करना।^३ वास्तव में ‘सोरोकिन’ द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र का यह स्वरूप व्यावहारिक एवं तर्कानुकूल जान पड़ता है। इस मान्यता के अनुसार समाजशास्त्र के अन्तर्गत सभी वर्गों, संस्थाओं तथा समितियों को समाविष्ट किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज को प्रभावित करते हैं तथा समय-समय पर युगीन परिस्थितियों के द्वारा सामाजिक मूल्यों तथा व्यवहारों को परिवर्तन के लिए बाध्य करते हैं।

‘ग्राहस्ट काम्टे’ की मान्यता है कि विविध प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक मानव व्यवहारों का मूल आधार ‘समाजशास्त्र’ ही होना चाहिए

-
१. Colley, C.H., Life & the Students, New York, 1927, p. 160
 २. Das, A.C., An Introduction to the Study of Society, Delhi, 1972, pp. 10-11
 ३. Sorokin, P.A., Contemporary Sociological Theories, New York, 1928, pp. 760-61

तथापि राजनीति, धर्म आदि के विशेष अध्ययन के लिए राजनीतिशास्त्र एवं धर्म-शास्त्र आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व भी है।^१ 'हरबर्ट स्पेन्सर' 'काम्टे' से असहमत रहते हुए अन्य सामाजिक विज्ञानों की उपेक्षा कर देते हैं तथा केवल राजनीतिशास्त्र को ही 'समाजशास्त्र' से सम्बन्धित मानते हैं।^२ 'सोरोकिन' को 'समाजशास्त्र' एक सामान्य विज्ञान के रूप में मान्य है तथा इसका सम्बन्ध संस्कृति सभ्यता आदि से भी है।^३ संक्षेप में 'सोरोकिन' 'समाजशास्त्र' के अन्तर्गत मानव व्यवहारों के राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, वैधानिक तथा नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते हैं। इसके लिए उन्होंने एक व्यवस्थित सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है।^४ निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के अनुसार गवेषणा की इकाई (Unit of Investigation) सामाजिक होती है। इसमें मनुष्य का एक व्यक्ति के रूप में नहीं बरन् एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में अध्ययन होता है। समाजशास्त्र के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, संवैधानिक तथा अन्य शक्ति-साध्य सम्बन्ध भी समाविष्ट होते हैं।^५

समाज की ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति—

'समाजशास्त्र' समाज में प्रचलित मानव व्यवहारों का एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन होने के कारण समाज के विविध तत्त्वों की व्याख्या भी व्यवस्थित रूप से करता है। 'समाजशास्त्र' की यह मान्यता है कि प्रत्येक समाज के 'मूल्य' एवं 'परिस्थितियाँ' एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ लेती हैं और इस परिवर्तन के कुछ कारण भी होते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन की अनेक पद्धतियों में 'ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति', (The Historical Method in Society) एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय पद्धति है।^६ प्राचीन काल के सामाजिक अध्ययन के लिये यह पद्धति अत्यधिक उपादेय मानी जाती है। इस पद्धति के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि वर्तमान समाज प्राचीन-सामाजिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का ही परिणाम है और इसी प्रकार भावी समाज के स्वरूप-निर्धारण पर भी इसका

१. तेजमलदक, सामाजिक विचार एवं विचारक, अजमेर, १९६१ पृ० ५५-५६

२. वही, पृ० ५६

३. Sorokin, P. A., Society, Culture and Personality, New York, 1948, p. 16

४. Sorokin, Contemporary Sociological Theories, pp. 760-61

५. शम्भूरत्न त्रिपाठी, समाज शास्त्रीय विश्वकोष, कानपुर, १९६०, पृ० १८

६. Das, A.C, An Introduction to the Study of Society, pp. 50-51

स्वाधी रूप से प्रभाव पड़ता है।^१

समाजशास्त्र के विविध तत्त्व—

‘समाजशास्त्र’ के सन्दर्भ में समाज के विविध तत्त्वों जैसे—‘समाज’ (Society), ‘समुदाय’ (Community), ‘समिति’ (Association), ‘संस्था’ (Institution) आदि की परिभाषा जन-साधारण में प्रचलित परिभाषा न होकर एक शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक परिभाषा है। विविध समाजशास्त्रियों ने एक-एक तत्त्व की परिभाषा को विविध प्रकारों से प्रस्तुत किया है। समाज के इन विविध तत्त्वों की संक्षिप्त समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

१. ‘समाज’ (Society)—समाजशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ‘समाज’—उन दो या दो से अधिक मनुष्यों के समूह का नाम है जिसमें जनकल्याण की भावना से मानव व्यवहारों का आदान प्रदान होता है।^२ समाज के अन्तर्गत पशु व्यवहारों तथा परस्पर उदासीन भुण्डों (समूहों) का अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि ये व्यवहार लोककल्याण की भावना से अछूते रहते हैं^३। ‘सामाजिक संगठन’ की मान्यता भी समाज की परिभाषा से सम्बद्ध है। रूटर (Reuter) तथा हार्ट (Hart) के अनुसार सामाजिक संगठन से अभिप्राय सांस्कृतिक समितियों की पूर्णता और समूह की विशेषता तथा असंगठित क्रियाओं के समूह सहित उनके परस्पर संबंधों

१. तु० —“सामाजिक अनुसन्धान में ऐतिहासिक पद्धति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक घटनाएँ सामाजिक शून्य में नहीं होती, अतः उनके भूत और वर्तमान का कहीं क्रमबद्ध लेखा अवश्य होना चाहिए। इस पद्धति के प्रयोग के लिए प्रलेखों, मूल सामग्री को एकत्र करना तथा अति सरलता, सामान्यीकरण कल्पना तथा बुद्धिमता पूर्वक महत्वपूर्ण और सामान्य में भेद न कर पाने के दोषों से बचना आवश्यक है।”

—विश्व ज्ञान संहिता-१, (सामाजिक विज्ञान), प्रधान सम्पा० मोटूरि सत्यनारायण; प्रकाशक—हिन्दी विकास समिति, मद्रास-नई दिल्ली, पृ० २५

२. “A Society is made up of two or more persons associating directly or indirectly, voluntarily or involuntarily. Society is thus a pattern of interpersonal behavior.”

—Sanyal, B.S., Culture An Introduction, Bombay, 1962, p. 226.

३. Gavin, R.W. etc., Our Changing Social Order, Boston, 1953, p. 9

से है।^१ इस प्रकार सामाजिक सङ्गठनों के अन्तर्गत सांस्कृतिक 'समितियाँ' तथा 'समूह' के व्यवहार भी समाविष्ट हैं।

२. 'समुदाय' (Community)—समाजशास्त्र के अनुसार 'समुदाय' सामाजिक जीवन से सम्बद्ध एक प्रकार का जाल (Complex) है जिसमें बहुत से प्राणी सम्मिलित रहते हैं तथा निरन्तर परिवर्तनशील रुढ़ियों तथा परम्पराओं से परस्पर जकड़े हुए होते हैं। सामान्य सामाजिक लक्ष्यों तथा हितों के प्रति इन प्राणियों में सजगता रहती है।^२ 'समुदाय' के स्वरूप के विषय में बहुत मतभेद हैं। 'मैकाइवर' तथा 'पेजे' के अनुसार ग्राम, नगर, जाति, राष्ट्र आदि 'समुदाय' हैं,^३ किन्तु दूसरे समाजशास्त्री उक्त इकाइयों को 'समुदाय' संज्ञा देने के पक्ष में नहीं तथा 'नगर' आदि को भी 'समुदाय' का अङ्ग ही मानते हैं।^४ संक्षेप में 'समुदाय' एक सी परम्परा वाले लोगों का वह छोटा सा अङ्ग है जो 'समाज' के भीतर ही रहता है और 'समाज' सश्व ही होता है।

३. 'समिति' (Association)—मानव समाज की कतिपय सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'समितियों' का जन्म होता है। 'मैकाइवर' के अनुसार 'समिति' वह ऐच्छिक संगठन है जिसके माध्यम से उसके सदस्यों को कुछ हित सामूहिक रूप से प्राप्त हो पाते हैं।^५ 'गिन्सबर्ग' ने 'समुदाय' तथा समिति में अन्तर दिखाते हुए कहा है कि 'समुदाय' 'समिति' से कहीं बड़ा संगठन होता है तथा समुदाय में सदस्यों के सभी हितों के सुरक्षित रहने की भावना विद्यमान रहती है किन्तु 'समिति' किसी हित विशेष के सम्पादन के लिए ही प्रयत्नशील रहती है।^६ व्यापारियों के संगठन, राजनैतिक दल, विद्वानों के मंच आदि समितियाँ कहलाती हैं।^७ संक्षेप में 'समिति' समान हितों अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों द्वारा स्वेच्छा से बनाया गया समूह है जिसके कुछ नियम होते हैं तथा उसमें सहयोग की भावना सर्वोपरि रहती है।

-
१. Reuter and Hart, Introduction to Sociology, New York, 1935, p. 143
 २. Cole., G.D.H., Social Theory, London, 1920, p. 25
 ३. Das, A.C., An Introduction to the Society, p. 26
 ४. वही, पृ० २५-३०
 ५. रामनाथ शर्मा, समाज शास्त्र के सिद्धान्त, भा० २, मेरठ, १९६८, पृ० २६४
 ६. Ginsberg, Psychology of Society, London, 1933, p. 121
 ७. Das, An Introduction to the Study of Society, p. 31

४. 'संस्था' (Institution)—'संस्था' के स्वरूप के विषय में समाजशास्त्रियों में बहुत मतभेद है। 'मैकाइवर' के अनुसार 'संस्था' एक ऐसा निश्चित संगठन है, जो किसी विशेष स्वार्थ का अथवा एक विशेष ढंग से साधारण स्वार्थों का अनुसरण करता है।^१ 'बोगार्डस' के अनुसार 'संस्था' वह सामाजिक ढाँचा है जिसमें सुव्यवस्थित विधियों के द्वारा मनुष्यों की आवश्यकता-पूर्ति का सम्पादन होता है।^२ 'ग्रीन' के अनुसार 'संस्था' कुछ जनरीतियों तथा रुढ़ियों का ऐसा संगठन है, जो अनेक सामाजिक कार्य करता है।^३ 'कोले' के मतानुसार 'संस्था' मनुष्यों का संगठन न होकर मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का अमूर्त रूप है।^४ 'समिति' साकार मनुष्यों का समूह है जबकि संस्था जनरीतियों एवं रुढ़ियों पर आधारित पारस्परिक सम्बन्धों का अमूर्त रूप है। उदाहरण के लिए 'धर्म' 'विवाह' 'राज्य' आदि 'संस्थाएँ' कहलाती हैं।^५ इन संस्थाओं के सहयोग से मानव समाज सामूहिक रूप से गतिशील रहता है। प्राचीन भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का स्वरूप भी आधुनिक समाजशास्त्रीय 'संस्था' के अनुरूप ही है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से 'संस्था' कई प्रकार की हो सकती है—जैसे, राजनैतिक संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था, विवाह संस्था आदि।^६

५. 'संस्कृति'—'सोरोकिन' के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का मूलधार ही 'संस्कृति' है। 'संस्कृति' की परिभाषा करते हुए उनका कथन है कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों की चेतन अथवा अचेतन प्रतिक्रियाओं का समग्रीकरण अथवा प्रस्फुटीकरण 'संस्कृति' कहलाता है।^७ दूसरे शब्दों में समाज के चेतन व्यवहारों से प्रतिक्रिया के रूप में आविर्भूत धर्म, दर्शन, साहित्य, कला परस्पर सम्बद्ध होकर किसी भी देश की संस्कृति बन जाती हैं। 'संस्कृति' में मुख्यतः विचारात्मकता (Ideational) तथा ऐन्द्रिक (Sensate) के तत्त्व पाए जाते हैं। विचारात्मक संस्कृति के अन्तर्गत ज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदि अमूर्त तथा अतीन्द्रिय तत्त्व आते हैं। इसके

१. रामनाथ शर्मा, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, भाग २, पृ० २६८

२. Bogardus, E.S. Sociology, p. 478

३. Green, A. W., Sociology, p. 79

४. Cole, Social Theory, p. 45

५. Das, An Introduction, p. 33

६. रामनाथ शर्मा, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, भाग-२, पृ० ३०५-५३

७. Sorokin, Social and Cultural Dynamics, New York, 1937, p. 2

विपरीत ऐन्द्रिक संस्कृति बुद्धि मस्तिष्क को प्रभावित किए बिना ही हमारी इन्द्रियों आदि को प्रभावित करती है। इस संस्कृति का सम्बन्ध व्यावहारिक एवं सामान्य जीवन से अधिक रहता है। ऐन्द्रिक संस्कृति के अन्तर्गत समाज में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले विविध धार्मिक व्यवहार, क्रियाकलाप, वेश-भूषा आदि तत्त्वों का अध्ययन होता है।^१ इस प्रकार समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि में 'संस्कृति' का स्वरूप समाज से अनुप्राणित तो है किन्तु 'समाज' और 'संस्कृति' परस्पर दो भिन्न-भिन्न पहलू हैं। समाज मानव व्यवहारों का वह अमूर्त रूप है जिसमें 'संस्कृति' के तत्त्व गतिशीलता लाते हैं और 'समाज' को परिवर्तन के लिए भी बाध्य करते हैं। दूसरे शब्दों में राज्य, धर्म, शिक्षा आदि मूलतः 'समाज' के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। इन तत्त्वों की सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता व्यापक होती है तथा प्रत्येक देश का सामाजिक अध्ययन इन्हीं तत्त्वों के आधार पर किया जा सकता है, किन्तु संस्कृति के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। संस्कृति प्रत्येक देश की भिन्न-भिन्न हो सकती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक अध्ययन का क्षेत्र सांस्कृतिक अध्ययन की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित एवं व्यापक होता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा—

'समाज शास्त्र' के विद्वानों के अनुसार सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य एक दिशा विशेष की ओर गतिमान रहते हैं, स्थिर नहीं। सर्वदा सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण सांस्कृतिक चेतना होती है। विचारात्मक एवं ऐन्द्रिक संस्कृतियों में अन्तःक्रिया से विविध युगों में समाज परिवर्तनशील रहता है।^२ इन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के व्यवस्थित अध्ययन के लिए इतिहास की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। इतिहास के द्वारा इन सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को समय एवं घटनाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

गत ३००० वर्षों के पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐन्द्रिक एवं विचारात्मक संस्कृतियों में सदैव संघर्ष होता रहा है। ऐन्द्रिक संस्कृति समसामयिक समाज का जीवन्त रूप होती है तथा विचारात्मक संस्कृति केवल मात्र आदर्श के रूप में समाज को किसी दिशा विशेष के लिए केवल मात्र बाध्य करती है। किन्तु यह बाध्यता ऐन्द्रिक संस्कृति से टकराने पर समाप्त हो जाती है तथा तत्कालीन समाज के समर्थन से मानव सभ्यता स्थिर न रहकर परिवर्तनशील हो जाती है। 'समाजशास्त्र' के अनुसार 'संस्कृति' में सदैव उतार चढ़ाव की प्रक्रिया समरेखीय होती है। समरेखीय का अभिप्राय है—एक समरेखा के रूप में विकसित होने के उपरान्त चरम सीमा तक पहुँचते-पहुँचते संस्कृति

१. तेजमलदक, सामाजिक विचार एवं विचारक, पृ० ३१७

२. वही, पृ० ३१६

दूसरी दिशा में मोड़ ले लेती है, किन्तु यह मोड़ भी समरेखीय होता है और चरमसीमा तक पहुंचते-पहुंचते पुनः प्रतिकूल दिशा ग्रहण कर लेता है।^१ इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा न तो उन्नत ही हो पाती है और न ही चक्राकार रेखा के समान मिल ही पाती है। सामाजिक सम्बन्धों का उतार-चढ़ाव, वर्गीकरण, शक्ति तथा आर्थिक दशा का संघर्ष, एक धर्म की दूसरे धर्म पर प्रभुता, आदि मानव व्यवहारों की परिवर्तनशीलता ही सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा है।^२

सांस्कृतिक परिवर्तन को समझाने के लिए प्रो० 'आगबर्न' का सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनके अनुसार प्रत्येक संस्कृति के दो भाग होते हैं 'भौतिक संस्कृति' तथा 'अभौतिक संस्कृति'। 'भौतिक संस्कृति' में मानव निर्मित मूल्य वस्तुएं और उत्पादन आदि सम्मिलित होते हैं, जबकि 'अभौतिक संस्कृति' में आदर्श, विचार, परम्पराएँ, रीति रिवाज, सावधानियाँ तथा निर्देश आदि सम्मिलित होते हैं।^३ प्रायः ऐसा देखा जाता है कि 'भौतिक संस्कृति' में शीघ्रता से परिवर्तन आ जाते हैं किन्तु 'अभौतिक संस्कृति' के तत्त्वों में मन्द गति से परिवर्तन आते हैं।^४

समाज में क्रान्ति की अवधारणा—

प्रसिद्ध विद्वान् 'कार्ल मार्क्स' (Karl Marx) सामाजिक उद्विकास (Social Evolution) के लिए क्रान्ति (Revolution) को अत्यावश्यक मानते हैं। मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार इतिहास में सदैव दो वर्ग होते रहे हैं। एक वर्ग शोषण करता है तो दूसरा वर्ग शोषित होता है। इसलिए शोषित वर्ग शोषण को कम करने के लिए सदा ही प्रयत्नशील रहा है तथा यह सदैव क्रान्ति (Revolution) से ही संभव है। इसलिए शोषण करने वाले वर्ग की प्रभुसत्ता को कम करने के लिए संघर्षात्मक क्रान्ति अत्यावश्यक है।^५ दूसरी ओर प्रसिद्ध समाज-शास्त्री 'सोरोकिन' का कहना है कि क्रान्ति के द्वारा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में इतना परिवर्तन आ जाता है जिसके कारण समाज के भीतरी एवं बाहरी वर्गों के महत्त्वपूर्ण सामाजिक हितों को क्षति पहुंचती है।^६ दूसरे शब्दों में 'क्रान्ति' समाज के लिए एक भयङ्कर अभिशाप है जिसके द्वारा समाज का कोई हित तो नहीं

१. तेजमलदक, सामाजिक विचार एवं विचारक, पृ० ३२०

२. Barnes, H.E. An Introduction to the Sociology, pp. 891-92

३. विश्व ज्ञान संहिता, भाग-१ (सामाजिक विज्ञान), पृ० ३३

४. वही, पृ० ३३

५. गुरुदत्त, धर्म तथा समाजवाद, दिल्ली, १९७२, पृ० २०७-१०

६. Sorokin, The Sociology of Revolution, New York, p. 347

होता किन्तु समाज में विघटनकारी एवं हानिकारक तत्त्व और अधिक बढ़ जाते हैं। 'सोरोकिन' ने इस सम्बन्ध में 'युद्ध' (War) तथा 'क्रान्ति' (Revolution) के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार किया है जो प्राचीनकाल से चली आ रही मानवीय सम्यता के विशेष अङ्ग रहे हैं। इनके मतानुसार 'युद्ध' एवं 'क्रान्ति' अन्योन्याश्रित हैं तथा कभी 'युद्ध' 'क्रान्ति' को जन्म देता है तो कभी 'क्रान्ति' से 'युद्ध' लड़े जाते हैं। किन्तु यह स्थिति समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिए घातक है। भारतीय इतिहास में राजाओं महाराजों द्वारा किये गए युद्धों का ही यह परिणाम मानना चाहिए कि एक समय ऐसा आया जब भारतवर्ष पूर्णतः दासता की भृङ्खलाओं में जकड़ गया तथा इसकी प्राचीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना भी शून्यः शून्यः क्षीण होती गई। युद्धों के बाद समाज के पुनर्निर्माण के कार्यों पर विशेष बल देना पड़ता है। इससे मानव समाज के आवश्यक सम्बन्धों पर विधनात्मक शक्तियों द्वारा शिथिलता भी थोप दी जाती है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक—

जैसा कि कहा जा चुका है कि समाज से सम्बन्धित व्यवस्थित विज्ञान सर्वथा एक नवीन विज्ञान है तथा पाश्चात्य विचारकों ने ही इस विज्ञान का आविष्कार किया है। अतएव प्राचीन भारतीय विद्वानों में 'समाजशास्त्र' जैसे किसी शास्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। भारतीय चिन्तकों ने काव्य, धर्म, दर्शन के समान 'समाज' की कोई शास्त्रीय परिभाषा न दी हो, किन्तु समाज के विविध संस्थाओं, संगठनों तथा समूहों को लक्ष्य कर इन्होंने समाज का सदैव पथ प्रदर्शन किया है। गम्भीरता से विचार किया जाए तो भारतीय चिन्तक 'समाज कैसा होना चाहिए' इस प्रयोजन को अधिक महत्त्व देते थे जबकि 'समाजशास्त्र' 'समाज क्या है' इस समस्या का ही समाधान कर पाता है।^१ प्राचीन भारतीय समाज के प्रमुख स्रोत अपने-

१. उ०—

- (i) "The Hindu Social thinkers have given us theories of Social institutions and organization, what they should be and ought to be. That is to say, they have thought out and portrayed social and individual ideals."

—Prabhu, P. H., Hindu Social Organization, Bombay, 1961, p. 5

- (ii) "Sociology as such is an empirical science and does not concern itself with social or moral values, which are the primary concern of Social philosophy as the speculative study of society".

—Das, An Introduction to the Study of Society, p. 12.

अपने संस्कृतियों के धार्मिक ग्रन्थ हैं जिनमें वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थों का भारतीय संस्कृति एवं समाज के निर्माण एवं विकास में बहुत योगदान रहा है। जैन एवं बौद्ध संस्कृति के मूलाधार धार्मिक ग्रन्थों में क्रमशः आगम एवं जातक ग्रन्थों को स्वसंस्कृतियों के सामाजिक स्वरूप के निर्धारण का श्रेय प्राप्त होता है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि—यद्यपि भारत में विविध संस्कृतियाँ रही थीं किन्तु ब्राह्मण अथवा हिन्दू संस्कृति इनमें सर्वोपरि थी अतः सम्पूर्ण भारतीय समाज की सामाजिक संस्थाओं पर हिन्दू संस्कृति के धार्मिक ग्रन्थों का विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दू संस्कृति के धर्मशास्त्रों की रचना का तत्कालीन देश-काल-सीमा के अन्तर्गत नियमानुसार समाज को सुव्यवस्थित करना ही प्रमुख उद्देश्य था।^१ तदर्थ मनु याज्ञवल्क्यादि मनीषियों ने वर्ण-व्यवस्था, वर्ण-धर्म, विवाह, परिवार, राज-धर्म, शिक्षा तथा स्त्रियों आदि के कर्तव्यों एवं अधिकारों के सम्बन्ध में अपनी अपनी मान्यताएँ दी हैं।^२ इस प्रकार सम्पूर्ण भारत का प्राचीन सामाजिक जीवन 'वर्ण-व्यवस्था' की परिधि में पूरी तरह से जकड़ा हुआ था। यह अलग बात है कि श्रमण परम्परा के चिन्तकों ने इस व्यवस्था का विरोध भी किया, किन्तु उनका वह विरोध व्यावहारिक दृष्टि से अधिक सफल न हो पाया। अन्त में जाकर एक समय ऐसा भी आया जब जैन संस्कृति के सामाजिक जीवन में 'वर्णव्यवस्था' को भी स्वीकार करना पड़ा, उदाहरणार्थ ब्राह्मण संस्कृति के घोर विरोधी जटासिंह नन्दि ने सिद्धान्त रूप से वर्ण-व्यवस्था का विरोध तो किया,^३ किन्तु राज्य में वरुणश्रम व्यवस्था का पालन किया जाना उनके अनुसार भी एक आदर्श राजा का प्रशंसनीय गुण ही था।^४ वरुणश्रम-व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक आधार 'धर्म' बन चुका था इसलिए प्राचीन भारतीय समाज की व्यवस्था सर्वथा धर्मानुप्राणित थी तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रतिपादक 'धर्मसूत्र' तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट किए जाते हैं। इसी प्रकार श्रमण परम्परा के आगम, जातकादि ग्रन्थ धर्मानुप्राणित होने पर भी संस्कृति की सामाजिक आवश्यकताओं के पूरक हैं। इस प्रकार प्राचीन

१. तु०—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुस्मृति, २.२०

२. तु०—देशधर्माज्जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शास्वतान्।

पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः॥

—मनुस्मृति, १.११८

३. वराहचरित, २५. २-११

४. वही, १.५१

भारतीय सामाजिक विचारकों ने धार्मिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में ही सामाजिक चिन्तन धारा को पल्लवित किया।

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र तथा आधुनिक समाजशास्त्र—

‘धर्म’ की परिभाषाओं से यह सिद्ध होता है कि धर्म इहलोक तथा परलोक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा था।^१ ‘धर्म’ की पारलौकिक सन्दर्भ में व्याख्या करना सम्भवतः धर्म का दार्शनिक अथवा अध्यात्मिक पक्ष रहा हो। वास्तव में प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था में ‘धर्म’ की लौकिक एवं व्यावहारिक उपादेयता ही सर्वोपरि रही थी।^२ दूसरे शब्दों में धर्म एक ऐसा तत्त्व विशेष रहा है जिसकी तुलना ‘समाज’ (Society) जैसे समाजशास्त्रीय तत्त्व से की जा सकती है। इस तथ्य को धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विषयावली और भी स्पष्ट कर देती है—उदाहरणार्थ गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ आदि महत्त्वपूर्ण धर्म-सूत्रों तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहस्पतिस्मृति आदि महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्र के ग्रन्थों की सामान्य विषयवस्तु इस प्रकार होती है—(१) वर्णाश्रम व्यवस्था—अधिकार कर्तव्य एवं दायित्व, (२) गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार-वर्णन तथा उनकी विधियाँ, (३) ब्रह्मचारी के कर्तव्य, आचरण तथा अध्ययन-पद्धति (४) विवाह एवं उसकी विविध पद्धतियाँ (५) गृहस्थ के कर्तव्य तथा अन्य यज्ञ, दान एवं अतिथि सत्कार (६) स्त्री धर्म एवं स्त्री विषयक विविध मान्यताएं (७) क्षत्रियों तथा राजाओं के आदर्श कर्तव्य (८) व्यवहार-विधान, संविधान, अपराध, दण्ड, साभेदारी, बंटवारा, दायभाग, गोद लेना आदि (९) चार प्रमुख वर्ण, वर्णसंङ्कर तथा उनके व्यवसाय, आपद्धर्म, आदि (१०) व्रताचरण, मन्दिर-धर्मशाला-निर्माण आदि जनकल्याण सम्बन्धी कार्य।^३

उपर्युक्त विषय वस्तुओं पर यदि समीक्षात्मक दृष्टि डाली जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि धर्मसूत्र अथवा धर्मशास्त्र ‘आधुनिक ‘समाजशास्त्र’ के अनुसार समाज के आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा पारिवारिक पक्षों पर प्रकाश डालते रहे थे तथा तत्कालीन समाज के प्रत्येक पक्ष के निश्चित सामाजिक मूल्य की ओर भी इंगित करते हैं। इस प्रकार आधुनिक ‘समाज’ शब्द

१. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्निह मानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

—मनु, २.६

२. Bhargava, D.N., Jain Ethics, Delhi, 1968 p. 1

३. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, अनु०—अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, पृ० १०१

के समकक्ष प्राचीन भारतीय 'धर्म' शब्द का विशेष महत्त्व था ।^१ इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्र के मनीषी डा० पी. वी. काणे कहते हैं कि 'प्राचीन काल में धर्म' सम्बन्धी धारणा बड़ी व्यापक थी और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी । धर्मशास्त्रों के मतानुसार धर्म किसी सम्प्रदाय का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है जो समाज के किसी अङ्ग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने योग्य बनाता है ।^२ वर्ण-धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म, नैमित्तिक धर्म, साधारण धर्म^३ आदि धर्म के छः प्रकारों में भी विविध मानव व्यवहारों को एक सामाजिक ढाँचे में विभाजित कर 'धर्म' का वैशिष्ट्य उभारना ही मुख्य प्रयोजन था । 'धर्म' निःसन्देह मानव व्यवहारों का द्योतक है तथा पशुओं एवं मनुष्यों में विभाजन रेखा भी धर्म के द्वारा ही खींची जा सकती है ।^४ सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने 'धर्म' के महत्त्व को उभारते हुए इसके अनुसरण करने के लिए विशेष बल दिया है ।^५ जैन परम्परा के अनुसार भी 'धर्म' का स्वरूप सर्वथा समाज के सन्दर्भ में ही हुआ है । सागार-धर्म अनागार-धर्म, आश्रम-धर्म, मुनि-धर्म, आदि विभाजन न केवल सामाजिक विभाजन ही हैं अपितु विविध प्रकार के मानव-व्यवहारों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । जैन संस्कृति के 'सागार धर्म' का तो सीधे समाज से ही सम्बन्ध है ।

१. जयसङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, १९७४, पृ० ६
२. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १०१
३. तु०—अत्र च धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः तद्यथा—वर्णधर्म आश्रम-धर्मो वर्णाश्रमधर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति ।
—मिताक्षरा टीका याज्ञवल्क्यस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३०, १.१, पृ० ४
४. तु०—
आहारनिद्राभयमथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मोऽहोनाः पशुभिः समानाः ॥
—(मनु के नाम से उद्धृत), मयूरभट्ट विरचित सूर्यशतक, रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी, १९६४, भूमिका, पृ० २८
५. विशेष द्रष्टव्य, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १-५ तथा पृ० १०१-१०८

साहित्य एवं समाज में प्रवृत्ति-साम्य—

पूर्वोक्त समाज सम्बन्धी पारिभाषिक व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि 'समाजशास्त्र' का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को सामाजिक व्यवहार से परिचित कराना है तो दूसरी ओर साहित्य भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। दोनों में अनेक दृष्टियों से प्रवृत्ति-साम्य है। 'साहित्य' शब्द के मूल में 'सहित' अथवा हित की भावना रहती है। 'सहित' का अभिप्राय सामूहिकता तथा संगठन शक्ति से होता है तो 'हित' से जन-कल्याण की भावना ग्रहण की जाती है।^१ ये दोनों विशेषताएं साहित्य की वे उल्लेखनीय विशेषताएं हैं जो मानव-व्यवहारों को पशु व्यवहारों से पृथक् करती हैं। इसी प्रकार समाजशास्त्र के अनुसार 'समाज' की परिभाषा केवल मात्र मानव व्यवहारों तक सीमित मानी जाती है और पशु व्यवहारों को इसके अन्तर्गत नहीं लिया जाता है।^२ भारतीय विचारकों ने भी यह स्वीकार किया है कि साहित्य एवं सङ्गीत मनुष्य जीवन की वे विशेषताएं हैं जिनसे पशुओं तथा मनुष्यों में भेद किया जा सकता है।^३ वैसे भी संस्कृत 'समाज' शब्द का व्यवहार केवल 'मनुष्य-समूह' तक ही सीमित है तथा पशु-समूह के लिए 'समाज' का प्रयोग न होकर 'समज' का प्रयोग होता है।^४ स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने यत्र-तत्र 'समाज' की अत्यन्त सूक्ष्म विशेषताओं की ओर भी इङ्गित किया है जो प्राधुनिक युग में समाजशास्त्रीय परिभाषाओं के सन्दर्भ में भी तर्कसङ्गत बैठती हैं। समाज-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'समाज' मनुष्यों का वह समूह है जिसमें मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहारों का आदान-प्रदान जन कल्याण की भावना से होता है।^५ समाज की इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज पशु-भिन्न

१. मानविकी पारिभाषिक कोष (साहित्य खण्ड), सम्पा० डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९६५, पृ० १५८

२. Das, A. C., An Introduction to the Society, p. 3

३. तु०—साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

—भट्टहरिकृत नीतिशतक, सम्पादक—एस० एन० शास्त्रीयर, मद्रास, १९५७, पृ० ७५

४. Apte, V. S., The Student's Sanskrit English Dictionary, Delhi, 1970, p. 507.

५. "A Society is a group of Individuals united in the pursuits of a common interest".

--Gavin, R.W., Our Changing Social Order, p. 9

मानव व्यवहारों का वह प्रतिफलन है जिसमें पारस्परिक आदान-प्रदान लोक कल्याणार्थ ही होता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार समाज मनुष्यों के उस विशाल भुण्ड (Crowd) का नाम नहीं जो मानव-व्यवहारों के बहुत निकट होने पर भी आदान-प्रदान की दृष्टि से उदासीन रहता है। यही कारण है कि लोककल्याण की भावना भुण्ड (Crowd) में नहीं रहती इसलिए समाजशास्त्र उसे 'समाज' (Society) की संज्ञा से बहिष्कृत कर देता है।^१ समाजगत इन परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में यहाँ साहित्य का अभिप्राय केवल काव्य ग्रन्थों से ही नहीं अपितु धर्म-दर्शन से सम्बद्ध सभी संस्कृत आदि ग्रन्थों से है।^२ आधुनिक युग में 'साहित्य' का प्रयोग सामान्य तथा व्यापक अर्थ में भी किया जाने लगा है तथा किसी भी प्रकार की लिखित सामग्री को 'साहित्य' (Literature) कह दिया जाता है।^३ साहित्य को चाहे जिस किसी रूप में भी स्वीकार किया जाए उसका सामाजिक-आवश्यकताओं की संपूर्ति करना ही परम उद्देश्य है।^४ कभी-कभी धर्म-दर्शन से सम्बद्ध साहित्य रचनाएं रसालङ्कारों आदि से विमृष्ट होते हुए भी सौन्दर्यात्मक एवं उदात्त-भावनाओं से अछूती नहीं रह पाती हैं और प्रधानरूप से आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रहस्यों का प्रतिपादन होने पर भी इन पर युगीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक साहित्य समाज की किसी न किसी अपेक्षा से निर्मित होता है, यह गौण है कि उसमें आलङ्कारिता का पुट है अथवा दार्शनिकता का।

लोककल्याण की भावना भी साहित्य एवं समाज की विशेषता है। मनुष्य परिवार वर्ग, राष्ट्र आदि विविध संगठनों के माध्यम से मानव कल्याण के लिए जितने भी कार्य करता है उन्हें सामाजिक कार्य माना जायेगा ये लोकहित की भावना से प्रेरित होने वाले वर्ग 'समाज' कहलायेंगे।^५ वास्तव में समाजशास्त्र 'समाज' के अन्तर्गत केवल मात्र 'सामाजिक व्यवहारों'^६ की ही अनुमति देता है। अन्य

१. Macdougall, W., The Group Mind, Cambridge, 1920, p. 30

२. मानविकी, पारिभाषिक कोष (साहित्य खण्ड), पृ० १५८

३. वही, पृ० १५८

४. तु० — काव्यं यस्यैतत्संस्कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—काव्यप्रकाश, १.२

५. Gavin. R.W., Our Changing Social Order, p. 9

६. "A well-socialized person is one who habitually acts in ways that are valuable to society".

—Gavin, Our Changing Social Order, p. 107

‘असामाजिक व्यवहार’^१ तथा ‘समाज विरोधी व्यवहार’^२ समाज की सुरक्षा के हित में न होने के कारण इसके अन्तर्गत नहीं आते। ठीक उसी प्रकार साहित्य भी ‘रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्’^३ इस न्याय से सामाजिकता की ओर जाता है तथा असामाजिकता का विरोध करता है। मनुष्य भाषा प्रयोग एवं उदात्त भावनाओं के कारण पशुओं से कहीं अधिक ऊँचा है अतः लोक कल्याण की कामना मनुष्य से ही की जा सकती है।^४ साहित्य में भी सदैव सामूहिक कल्याण के तत्त्व निहित रहते हैं। मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए साहित्य का निर्माण होने से इसमें भी आदान-प्रदान का स्तर पर्याप्त ऊँचा होता है।

साहित्य एवं समाज : उद्भव एवं विकास—

धार्मिक क्रियाकलापों से साहित्य की उत्पत्ति मानी जाती है। तदनन्तर लोक-गीत एवं लोक नृत्य साहित्य के अङ्कुर के रूप में विशाल साहित्य निर्माण करने में समर्थ होते हैं।^५ धार्मिक अवसरों पर मनोरञ्जनार्थ भी लोक-गीत एवं लोकनृत्य

१. “Good intentioned but thoughtless people may be quite un-social in their behaviours”.

—Gavin, Our Changing Social Order, p. 108

२. “The anti-social individual is one who is deeply frustrated and is expressing his anger by attacking society”.

—वही, पृ० १०६

३. “चतुर्वर्णफलप्राप्तिर्हि काव्यतः “रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्” इत्यादि कृत्याकृत्य-प्रवृत्ति-निवृत्त्युपदेश-द्वारेण सुप्रतीतैव

—साहित्यदर्पण, १.२

४. “Aristotle in his ‘Politics’, chapter 2, thought: for in this particular, man differs from other animals, that he alone has a perception of good and evil, of just and unjust and it is a participation of these common sentiments which forms a family and a city.”

—Haas, F. J., Man & Society, New York, 1952, p. 13

५. “Early poetry was undoubtedly choral and mainly in the service of communal religious ceremonies.”

—Gummere, F.B., Introduction to Old English Balladas, London, p. 84.

“The earliest poetry of all races—it is not altogether a conjecture—appears to have been the ballad-dance.”

—Dixon, M., English Epic and Heroic Poetry, London, 1912, p. 28

आदि के प्रति मानव स्वभाव की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। शनैः शनैः कवियों का आश्रय पाकर ये प्रवृत्तियाँ ही साहित्य के रूप में आविर्भूत हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इन सभी कार्यों को मनुष्य सामूहिक रूप से करता है। सामूहिक आग्रह ही किसी कवि विशेष को काव्य निर्माण के लिये आकृष्ट एवं प्रेरित करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि मनुष्य में सर्वप्रथम 'समूह' की भावना आई होगी। मनुष्य की आद्य अवस्था जिसे पाषाण युग (Old Stone Age) के नाम से जाना जाता है, अधिक विकसित नहीं थी। खुद्धार पशुओं का शिकार करना उसका प्रमुख व्यवसाय था। यह व्यवसाय ही उसके जीवन का प्रयोजन भी बन चुका था। उदर-पूति के लिए वह इस भयङ्कर कार्य के लिए एक प्रकार से विवश भी था।^१ यह भी सम्भावना स्वाभाविक ही जान पड़ती है कि उसके सह-व्यवसायी अन्य लोग भी यदा-कदा उसके सम्पर्क में आते होंगे। एक ही उद्देश्य वाले विविध लोगों में एकता एवं सामूहिकता के तत्त्व तो आ ही जाते हैं। पाषाण युग में भी मनुष्य समूहों में रहकर ही भयङ्कर पशुओं आदि का सामना कर सकता था। ऐसी दशा में हर्ष एवं दुःख के विविध अवसरों पर उसके साथियों का सान्निध्य भी उसे प्राप्त था। ये लोग हर्षावसरों पर नृत्य गीतादि द्वारा अपना मनोरञ्जन भी करते थे और दुःख के समय एक दूसरे की सहायता भी करते थे। समाज की आद्य अवस्था की यही कहानी रही होगी जिसमें साहित्य एवं समाज दोनों के अङ्कुर विद्यमान थे। जैसे-जैसे मानव सभ्यता विकसित होती गई, समाज के मूल्यों के अनुसार उनके मनोरञ्जन का स्तर भी उसी अनुपात से विकसित होता रहा। परिणामतः प्राग्वैदिक सभ्यता अर्थात् सिन्धु घाटी की सभ्यता में मानव पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। रहन-सहन, धर्म-दर्शन, मनोरञ्जन आदि का सिन्धु घाटी की सभ्यता में स्तर पर्याप्त ऊँचा था।^२ हम ऐसा भी अनुमान लगा सकते हैं कि इस सभ्यता में उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण भी हुआ होगा किन्तु अनुपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस विषय में और अधिक कुछ कहना प्रासङ्गिक न होगा। साहित्य का उत्कृष्ट एवं संशोधित स्वरूप वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है। ऋग्वेद जैसी विश्व की प्राचीनतम उत्कृष्ट साहित्य रचना यह सोचने के लिए बाध्य करती है की ऋग्वेद से पूर्व की साहित्य रचना भी निःसन्देह सुन्दर रही होगी। नृत्य गीतादि से अकस्मात् ही ऋग्वेदकालीन काव्यसुषमा का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतः ऋग्वैदिक काव्य साधना मानव सभ्यता के निरन्तर अभ्यास का परिणाम थी।

१. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, दिल्ली,

१९७३, पृ० २१६

२. वही, पृ० ६२

साहित्य शास्त्र की समाजधर्मी मान्यताएं—

भारतीय साहित्य शास्त्र के संक्षिप्त सर्वेक्षण से भी यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि भारतीय काव्याचार्य साहित्य के तत्त्वों के प्रतिपादन के अवसर पर सामाजिक प्रयोजनों तथा युगीन आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। चाहे काव्य के प्रयोजनों का सम्बन्ध हो या फिर काव्य लक्षणों का, साहित्यशास्त्रीय मान्यताएं समाजधर्मी वैशिष्ट्य से प्रभावित होती आई हैं।

साहित्य एवं समाज : काव्य प्रयोजनों के सम्बन्ध में—नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने नाट्य कला का प्रचार सामाजिकों के ज्ञान वर्धन, आनन्द एवं विश्राम आदि के लिये किया था।^१ तदनन्तर काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी काव्य के—यशलाभ, धनलाभ, व्यवहार ज्ञान, पापनाश, परमानन्द प्राप्ति एवं स्त्रीजनोचित सरस उपदेश प्रदान आदि काव्य प्रयोजन स्वीकार किए हैं।^२ अन्य काव्य शास्त्रियों के काव्य प्रयोजन भी उपर्युक्त प्रयोजनों पर ही आधारित हैं। भाभहू के मतानुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, कला-नैपुण्य, कीर्ति एवं प्रीति प्राप्ति काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं।^३ वामन यश प्राप्ति को काव्य का अदृष्ट प्रयोजन एवं प्रीति को दृष्ट प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं।^४ इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भी आनन्द, यश तथा मधुर उपदेश को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।^५ कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों का समसामयिक सन्दर्भ में भी विशेष महत्व है। कुन्तक ने

१. दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

—नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२६, १.११४

तथा, धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ नाट्यशास्त्र, १.११४

२. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ —काव्यप्रकाश, १.२

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥ —काव्यालङ्कार, १.२

४. काव्यं सदृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।

—काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, १.१५

५. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च ।

—काव्यानुशासन, १, पृ० ३

राजकुमारों की शिक्षा से काव्य प्रयोजनों को जोड़ते हुए तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भ में काव्य की उपादेयता स्वीकार की है।^१ आधुनिक कालीन साहित्य समीक्षकों की धारणा यही है कि साहित्य के माध्यम से मनुष्य को सुसंस्कार, विवेक, अत्याचार एवं शोषण के दमन का साहस एवं पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य का उद्देश्य इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है—‘साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है—जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक, दूर नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता है, जिससे वह छोटी भ्रष्टी स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है और किसी जमाने में बाग़ विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा, किन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास हो।’^२

साहित्य के उपर्युक्त प्रयोजनों के विषय में इतना निश्चित है कि साहित्य का प्रमुख प्रयोजन समाज का पथ प्रदर्शन करना एवं सद-असद विवेक देना है।^३ इसी सामाजिक प्रयोजन के अन्तर्गत प्रायः सभी काव्य प्रयोजन समाविष्ट हो जाते हैं। काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित इन काव्य प्रयोजनों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। समाजशास्त्र के अनुसार समाज के प्रयोजन भी इन प्रयोजनों से साम्यता रखते हैं। समाज भी मनुष्य को कल्याणमय शिक्षाओं का उपदेश देता है तथा मनुष्य की सुरक्षा की व्यवस्था करता है।^४ ‘कामटे’ के अनुसार प्रारम्भ में ‘परिवार’ नामक संगठन से उसके पालन पोषण की विशेष व्यवस्था होती है।^५ तदनन्तर ‘राज्य’ अथवा ‘राष्ट्र’ नामक संगठन समय-समय पर प्रतिकूल शक्तियों से उसकी रक्षा की ओर प्रयत्नशील रहता है। ‘राज्य’ नामक संगठन का अस्तित्व

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १.३-५

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार वितर्क, पृ० ५४

३. तु०—यत्काव्यं लोकोत्तर-वर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेना-
भिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं
कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।

—काव्यप्रकाश, १.२

४. Malinowski, Crime and Custom in Savage Society, New York 1926, p. 139

५. तेजमलदक, सामाजिक विचार एवं विचारक, पृ० ६६

ही इसी लिए हुआ है कि वह प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को अभयदान दे।^१ इसके लिये शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, सैन्य व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था आदि संस्थाएं राज्य को सामाजिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाती हैं। समाज की अन्य धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी मनुष्य की नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का संवर्धन करती हैं। समाज में जब कभी भी इन सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई व्यक्ति अथवा वर्ग अथवा अन्य कोई समुदाय उल्लङ्घन करने का प्रयास करता है तो समाज में उसे दण्ड देने की व्यवस्था भी है।^२ इस प्रकार हम यह देखते हैं कि साहित्य एवं समाज के प्रयोजन हैं—मनुष्य की सामूहिक चेतना को प्रोत्साहित करना तथा विषम परिस्थितियों में उसका पथ प्रदर्शन करना। साहित्य मनुष्य की उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उसे आर्थिक, शैक्षिक, धार्मिक दृष्टि से प्रशिक्षित करता है और साथ ही उत्कृष्ट आनन्द भी प्रदान करता है।

साहित्य एवं समाज : काव्य लक्षणों के सम्बन्ध में—भारतीय साहित्य-शास्त्र अथवा काव्य शास्त्र के ग्रन्थों में काव्य के मौलिक तत्त्वों का शास्त्रीय विवेचन उपलब्ध है। काव्य शास्त्र में प्रतिपादित काव्य लक्षणों का प्रत्यक्ष रूप से काव्य से ही सम्बन्ध है किन्तु काव्य का समाज के साथ सम्बन्ध होने के कारण अप्रत्यक्ष रूप से इन काव्य लक्षणों का समाज से भी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र को ही लें, इसमें नाटक का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है उसमें सामाजिक मूल्यों के प्रति पूर्ण आस्था है। मूल रूप से नाटक में नृत्य, अभिनय, सङ्गीत, गायन आदि तत्त्वों का प्राधान्य रहता है।^३ ये तत्त्व नाटक के अतिरिक्त भी मानव समाज के लिये इस रूप में वरदान हैं कि इनके द्वारा मानव व्यवहारों में पारस्परिक आदान-प्रदान की क्षमता में एवं संगठन शक्ति में वृद्धि होती है तथा मानव समाज को इनसे मनोरञ्जन के अतिरिक्त उदात्त एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टि भी प्रदान होती है।^४ इनमें से एक-एक तत्त्व सामूहिकता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को सुदृढ़ करता है। निःसन्देह ये सभी तत्त्व रस मिश्रित होकर मानव समुदाय को आनन्द देने के साथ सामाजिक मूल्यों की भी शिक्षा देते हैं। नाट्य साहित्य वास्तव में प्राचीन सामाजिक मूल्यों को नवीनीकरण की ओर ले जाता है इसलिये नाटक की पाँच

१. भोलानाथ शर्मा, अरिस्तू की राजनीति, लखनऊ, १९६६, पृ० ६५

२. Roucek, J.S., Social Control, New York, 1962, p. 83-84

३. राजवंश सहाय हीरा, भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पटना, १९७३, पृ० ६२१

४. तु०—न गीतवाद्यनृतज्ञा लोकस्थितिविदो न ये।

अभिनेतुं च कतुं च प्रबन्धास्ते बहिर्मुखाः ॥

—नाट्यदर्पण, प्रधान सम्पा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९६१, १.४

सन्धियाँ,^१ पांच कार्यावस्थाएँ^२, पांच अर्थप्रकृतियाँ^३ आदि नाटक की घटनाओं को रोचक एवं साभिप्राय ही नहीं बनाती हैं, अपितु इन तत्त्वों से भारतीय समाज के मूल तत्त्व पुरुषार्थ एवं भाग्य, कर्म सिद्धान्त, आशावाद की पृष्ठभूमि भी सुदृढ़ होती है तथा मनुष्य को अनेक विषम परिस्थितियों से जूझने का सन्देश भी प्राप्त होता है।^४

आधुनिक मनोवैज्ञानिक मकडूगल के विचारानुसार मानव की १८ प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं। डा० आर० जे० एस० मकडोवल ने इन्हें १४ मनोवृत्तियों^५ तक ही सीमित कर दिया है। नाटक में भी मानव स्वभाव की इन मनोवृत्तियों का सफल प्रदर्शन होता है। नाट्यशास्त्र ने इन्हें स्थायी भावों की संज्ञा दी है तथा ये संख्या में आठ या नौ होते हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम।^६ इसी प्रकार, अन्य, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव भी मानव स्वभाव की विचित्र एवं विविध अनुभूतियों के ही परिणाम हैं। प्रेक्षक को इनसे विविध परिस्थितियों में तदनुकूल मानवीय आचरण का मनोवैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है। नाट्य शास्त्र के अनुसार प्रतिपादित रूपक के दस भेदों का भी सामाजिक वर्ग भेदों एवं सामाजिक रुचियों की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। उदाहरणार्थ 'नाटक' प्रसिद्ध वृत्त को लेकर प्रवृत्त होते हैं तथा उच्च-स्तरीय सामाजिक आदर्शों का इनमें प्रतिपादन होता है।^७ 'प्रकरणा' का स्तर कुछ निम्न होता है। इसमें विप्र, अमात्य तथा वैश्य भी नायक हो सकते हैं तथा वेश्याओं को भी नायिका के रूप में इसमें स्थान दिया जाता है।^८ समाज के अन्य निम्न वर्ग

१. साहित्यदर्पण, ६.७५

२. वही, ६.७०

३. वही, ६.६४

४. तु० राजवंश सहाय हीरा, भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ० ३८०

५. ये चौदह प्रकार की मनोवृत्तियों के नाम हैं—भय, क्रोध, घृणा, वात्सल्य, औत्सुक्य, गर्व, दासत्व, दैन्य, रति, एकाकीपन, क्षुधा, अधिकार-भावना, सृजनोत्साह तथा हास।

—पी० बी० काणे, संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४४२

६. तु०—रतिर्हासश्च शोक्श्च क्रोधोत्साहो भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥

—साहित्यदर्पण, ३.१७५

७. तु० 'नाटकं ख्यात-वृत्तं स्यात्'—साहित्यदर्पण, ६.७-१० तथा 'ख्याताचराज-चरितं धर्मकामार्थसत्फलम्'—नाट्यदर्पण, १.५

८. साहित्यदर्पण, ६.२२४-२६ नाट्यदर्पण, २.१

के घूर्त, जुआरी, विट-चेटादि भी 'प्रकरण' में चित्रित किये जा सकते हैं।^१ घूर्तों के चरित को प्रधानता से प्रतिपादित करने वाले रूपक भेद की 'भाण' संज्ञा है।^२ 'व्यायोग', 'समवकार', 'डिम', 'ईहामृग' आदि रूपक भेदों में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक चरितों के माध्यम से समाज के परम्परागत सामाजिक मूल्यों की विशेष सुरक्षा हो पाती है। इसी प्रकार जन-साधारण को नायक के रूप में चित्रित करने वाले रूपक भेदों में 'अङ्क' तथा 'वीथी' का तथा हास्य प्रधान—'प्रहसन' भी निःसन्देह लोकधर्मी साहित्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं।^३ नाटकों में संस्कृत प्राकृत का प्रयोग तथा उत्तम, मध्यम एवं निम्न पात्रों की अभियोजना समाज के विविध वर्गों तथा भाषाओं में सामंजस्य स्थापित करने का ही सद्प्रयत्न मानना चाहिये। 'नाटक' 'महाकाव्य' की भाँति संस्कृति के समग्र फलक पर केन्द्रित होते हैं अतएव उनकी संप्रेषणीयता 'भाण' 'प्रकरण' के अपेक्षा अधिक व्यापक रहती है इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य की विश्वजनीन विधा 'रूपक साहित्य' समाजधर्मी समग्रता को अङ्गीकार किये हुये है। इस साहित्य विधा का यदि समाजशास्त्रीय दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि नाट्य साहित्य मानवीय समाज को समाजधर्मी प्रवृत्तियों से जोड़ने का एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली माध्यम सिद्ध होता है।

अव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य आदि अनेक विधायें आती हैं। काव्य शास्त्र के आचार्यों ने इन सभी विधाओं में 'काव्यत्व' की अनिवार्यता स्वीकार की है। महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि काव्य के विविध स्वरूपों में मानव जीवन की विविधता के दर्शन होते हैं। महाकाव्य में प्रायः सम्यता संस्कृति के उदात्त आशयों का व मानव जीवन की विविध परिस्थितियों का राष्ट्रीय स्तर पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है तो गीतिकाव्य अथवा खण्डकाव्य आदि लघुकाव्यों में मानव के किसी पक्ष विशेष का ही उदात्तीकरण एवं समाजीकरण किया जाता है।^४ काव्य शास्त्र के आचार्यों ने रस, अलङ्कार, ध्वनि, रीति, गुण आदि विविध काव्य तत्त्वों के सन्दर्भ में काव्य लक्षणों का प्रतिपादन

१. तु०—कितवचूतकारादिविटचेटकसङ्कुलः। —साहित्यदर्पण, ६-२२७ तथा दासश्रेष्ठिविद्वैर्युक्तम्। नाट्यदर्पण, २-२

२. भाणः स्याद् घूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।

—साहित्यदर्पण, ६-२२७

३. द्रष्टव्य, साहित्यदर्पण, ६-२२८-५४

४. तु०—'खण्ड-काव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च' यथा मेघदूतादि।

—साहित्यदर्पण, ६-३२६

किया है।^१ विश्वनाथ ने इन सभी तत्त्वों का समन्वय करते हुये मानवीकरण अथवा काव्य पुरुष के दृष्टान्त द्वारा काव्य के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है।^२ यह दृष्टान्त यह स्पष्ट कर देता है कि वास्तव में काव्य का कोई एक लक्षण काव्य के स्वरूप के प्रतिपादन में असमर्थ है अपितु सभी सम्प्रदायों के काव्य लक्षण एक दूसरे के पूरक होकर काव्य के स्वरूप को बताने में समर्थ हैं। काव्यपुरुष के दृष्टान्त द्वारा शरीर, आत्मा, शौर्यादि गुण, श्रुतिकटुत्वादि दोष, अङ्गरचना तथा आभूषणादि सांकेतिक रूप से मानव समाज के महत्त्वपूर्ण अङ्गों पर प्रकाश डालते हैं। अभिप्राय यह है कि 'समाजशास्त्र' जिन जिन तत्त्वों को लेकर समाज का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है उसी प्रकार काव्यशास्त्र भी विविध रस अलङ्कारादि तत्त्वों के द्वारा काव्य के स्वरूप को उद्घाटित करता है। इन दोनों शास्त्रों का अन्तिम प्रयोजन एक ही है—मानव समाज को शिष्ट बनाना तथा जनकल्याण की चेतना से उसका पथ प्रदर्शन करना। काव्य शास्त्र तथा समाज शास्त्र इसकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि है तो साहित्य एवं समाज उसका व्यावहारिक रूप है। समाज को प्रत्यक्ष रूप से कोई देखना चाहे तो वह वर्तमान समाज को ही देख सकता है परन्तु साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसमें वर्तमान के अतिरिक्त अतीत के समाज को भी हम दर्पण के समान देख पाते हैं।

भारतीय साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि और सामाजिक चेतना—

समाज शास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय साहित्य की यदि समीक्षा की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि युगीन वर्ग संघर्ष तथा राजनैतिक-धार्मिक परिस्थितियाँ साहित्य की दिशा को गति देती आई हैं। साथ ही उस वर्ग संघर्ष एवं सामाजिक अन्याय के प्रति साहित्य ने भी प्रतिक्रिया के स्वर को मुखरित किया है। विभिन्न संस्कृतियों की चेतना से प्रादुर्भूत साहित्य की प्रवृत्तियाँ इसका प्रमाण हैं।

१. तु०—(क) 'शरीरं तावदिष्टार्यं व्यवच्छिन्ना पदावली'। काव्यादर्श, १.१०

(ख) 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।' ध्वन्यालोक, १.१

(ग) 'रीतिरात्माकाव्यस्य।' काव्यालङ्कारसूत्र, १.२.६

(घ) 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' काव्यालङ्कार १.१६

(ङ) 'तददोषी शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

—काव्यप्रकाश, १.४

(च) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' साहित्यदर्पण, १.३, पृ० १६

२. तु०—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काण्डत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति। —साहित्यदर्पण, १.२, पृ० १६

धार्मिक साहित्य एवं वर्ग चेतना—

वैदिक साहित्य से प्रारम्भ हुए भारतीय साहित्य के इतिहास में ब्राह्मण आरण्यकादि ग्रन्थों के बाद उपनिषद् आदि ग्रन्थों का सृजन हुआ । ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल तक भारतीय जन-जीवन में वैदिक कर्म-काण्ड का एक महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । इसी युग में वर्ण व्यवस्था पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय समाज के दो शक्तिशाली वर्ग अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए थे । जब तक वैदिक संस्कृति आर्य संस्कृति के रूप में विकसित होती रही तब तक वर्ण व्यवस्था सदा धार्मिक विभाजन गतिशील नहीं था केवल मात्र वेद-विरोधी कुछ शक्तियाँ अनाय संस्कृति के रूप में संघर्ष शील थीं किन्तु जब ब्राह्मणादि ग्रन्थों का काल आया तो ब्राह्मण वर्ग एक शक्तिशाली वर्ग के रूप में उभरकर आया और सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में वैदिक कर्मकाण्डों तथा यज्ञानुष्ठानों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । समाज में धार्मिक चेतना के इस उत्कर्ष का तत्कालीन राजनैतिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह पाया और एक समय ऐसा भी आया जब क्षत्रिय वर्ग को ब्राह्मणों का यह उत्कर्ष सह्य न रहा । क्षत्रिय वर्ग ने 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'उपनिषद् विद्या' के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड से प्रभावित समाज को अपनी ओर आकर्षित करना चाहा । हिरियन्ना महोदय इस मान्यता के विशेष पोषक विद्वान् हैं ।^१ भगवत शरण उपाध्याय की यह मान्यता रही है कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों की रचना का मुख्य प्रयोजन क्रमशः ब्राह्मण वर्ग तथा क्षत्रिय वर्ग को प्रभावशाली बनाए रखना था । ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय राजकुमारों का आन्तरिक संघर्ष ही इस साहित्य प्रवृत्ति को विशेष प्रभावित कर रहा था ।

उपनिषदिक समाज की यही वह पृष्ठभूमि है जिस पर ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष जन्मा और फैला, जहाँ क्षत्रियों ने ब्राह्मण विधि-क्रियाओं और यज्ञानुष्ठानों के विरुद्ध विद्रोह किया । ब्राह्मणों के विरोध में उपनिषद् जन्मे और उनके प्रति विद्रोह में सांख्य वैशेषिक उठे । युग का क्रम बढ़ता चला—पार्श्व-महावीर-बुद्ध आए—तीनों अभिजातकुलीय, तीनों क्षत्रिय, तीनों ब्राह्मण-वेद विरोधी । वरुणों की ब्राह्मण व्यवस्था पर चोटें पड़ीं । इस युग की यह प्रबल देन है जिसे साहित्यकार

१. "The divergence between the two views as embodied in the Brāhmaṇas and the Upaniṣads respectively is now explained by some scholars as due to the divergence in ideals between the Brahmins and the Kṣatriyas—the priests and princes of ancient India,"

—Hiriyanna, M., *Outlines of Indian Philosophy*, London, 1951, p. 49

मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेगा ।^१

सांस्कृतिक एकता के छिन्न-भिन्न होने में इस प्रकार की प्रतिक्रियात्मक-क्रान्तिकारी शक्तियों का विशेष हाथ रहता है। यही कुछ बुद्ध से पूर्ववर्ती भारतीय संस्कृति के साथ भी हुआ। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ग की परस्पर संघर्षात्मक स्थिति को देखते हुए भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्ध के नेतृत्व में ब्राह्मण संस्कृति की वर्ग चेतना और निर्बल होती गई। यह स्मरण रहे कि ब्राह्मण संस्कृति के समानान्तर उठी हुई जैन एवं बौद्ध संस्कृतियों के प्रादुर्भाव में क्षत्रिय वर्ग का विशेष हाथ था। इस प्रकार वर्ग चेतना के संघर्ष के कारण ही ईस्वी पूर्व की पांच छः शताब्दियों तक भारतीय समाज मुख्य रूप से तीन धाराओं में विभक्त हो चुका था—१. ब्राह्मण संस्कृति २. बौद्ध संस्कृति एवं ३. जैन संस्कृति। इनमें भी ब्राह्मण संस्कृति सर्वाधिक प्रभावशाली थी और धर्मसूत्रादि विभिन्न साहित्य ग्रन्थों का ब्राह्मण संस्कृति से ही सम्बन्ध है।

ब्राह्मण संस्कृति के समान जैन एवं बौद्ध विचारकों ने भी धार्मिक साहित्य-निर्माण द्वारा अपने वर्गों को विशेष सुदृढ़ बनाया। इसलिये हम देखते हैं कि इन दोनों संस्कृतियों ने ईस्वी पूर्व की छठी शताब्दी से लेकर ईस्वी तक की उत्तरवर्ती तीन चार शताब्दियों तक आगम, जातक, निकाय, अवदान, आदि धार्मिक ग्रन्थों की रचनाएँ भी कर ली थीं। 'धर्म' किसी भी समाज की वर्ग चेतना को एकता के सूत्र में बाँधने में विशेष सहायक रहता है। जैन एवं बौद्ध साहित्यकार इस तथ्य को जानते थे इसलिए उनकी साहित्य-साधना भी सर्वप्रथम धार्मिक चेतना से ही अनुप्राणित एवं प्रेरित थी। ब्राह्मण धर्म का दूसरा परिवर्तित रूप धर्मसूत्रों, पुराणों तथा स्मृति-ग्रन्थों में दर्शनीय है। प्राचीन काल से चले आ रहे धार्मिक मूल्यों का यद्यपि इन ग्रन्थों में निराकरण नहीं किया गया तथापि धर्मसूत्रों एवं पुराण ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्राह्मण संस्कृति पहले की अपेक्षा भिन्न थी।^२ पुराण ग्रन्थों में शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा आदि का माहात्म्य बढ़ चुका था तथा भारत में शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त आदि नवीन सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गए थे। इसी प्रकार जैन एवं बौद्धधर्म भी बाद में विविध सम्प्रदायों में विभक्त होता गया तदनुसार उनके साहित्य में भी विभाजन हुआ अभिप्राय यह है कि मानव समाज वर्ग चेतना एवं वर्ग-संघर्ष से सदैव प्रभावित होता आया है और जब कभी समाज में किसी वर्ग विशेष की उपेक्षा आदि के चिह्न दृष्टिगत होने लगते हैं तो उसमें विभाजन हो जाता है। भारतीय धार्मिक साहित्य

१. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ०

८६-८७

२. वही, पृ० १०७-१०८

में यह सामाजिक चेतना स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। साम्प्रदायिक विभाजन के परिणाम स्वरूप साहित्य सृजन की प्रवृत्तियाँ भी विभाजित होती जाती हैं।

रस परक साहित्य एवं वर्ग चेतना—

ईस्वी पूर्व की साहित्य रचनाओं में काव्य-नाटकों का विशेष अभाव था। रामायण एवं महाभारत तथा भास के तेरह नाटकों के अतिरिक्त इस युग में और अधिक साहित्यिक ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके थे। ईस्वी की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी-सातवीं शताब्दी पर्यन्त का काल भारतीय काव्य सृजन का महत्वपूर्ण काल था। इसी काल में कालिदास, अश्वघोष, भवभूति, भारवि, बाण, वण्डी, सुबन्धु, विशाखदत्त एवं माघ जैसे प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार हुये। वास्तव में इस युग में जितनी काव्य साधना हुई वह स्तर एवं परिमाण दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट थी। काव्य का काव्यशास्त्रीय स्वरूप भी इसी युग में रूढ़ हुआ। काव्य कला की दृष्टि से सातवीं शताब्दी तक का काव्य नैसर्गिक एवं सहजगुणों तथा अलङ्कारों से सुशोभित था। काव्य के विविध भेदों की कल्पना तथा कृत्रिम काव्य प्रयोग भी इसी युग की देन मानी जाती है। दृश्यकाव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, स्तुतिकाव्य, गद्यकाव्य अर्थात् कथा एवं आख्यायिका आदि विविध काव्य भेदों के माध्यम से इस युग का साहित्य ऐश्वर्य सम्पन्न था। समसामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में इस युग में राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिरता विद्यमान थी। ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध संस्कृतियों के वर्ग स्थिर हो चुके थे क्योंकि इन तीन संस्कृतियों में धार्मिक चेतना नितान्त रूप से अपने अपने धर्मों के प्रति आस्थावान् बन चुकी थी। दूसरी ओर ईस्वी की प्रथम शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ भी रसपरक साहित्य निर्माण के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार कर चुकी थीं। गुप्तकाल का स्वर्णयुग तो भारतीय काव्य का भी स्वर्णिम युग था। बौद्ध संस्कृति के अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द, बुद्धचरित तथा जैन-संस्कृति के समन्तभद्रकृत स्वयम्भू-स्तोत्र एवं रविषेणाचार्यकृत पद्मचरित आदि उत्कृष्ट काव्य रचनायें भी इसी युग की देन हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारतीय साहित्य का प्रेरणा स्रोत धर्म ही रहा है। ईस्वी की शताब्दियों के उपरान्त साहित्य विधा भी मूलतः धर्म से ही अनुप्राणित थी किन्तु उसका भुकाव काव्य शास्त्रीय सौन्दर्य की ओर अधिक था। अश्वघोष के काव्य बौद्ध धर्म का प्रचार व प्रसार करने के लिये ही लिखे गये। उधर कालिदास-भारवि आदि की काव्य साधना वैदिक संस्कृति से अनुप्रेरित थी तथा शैव मत की ओर आकर्षित थी। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण संस्कृति से सम्बद्ध काव्यों, महाकाव्यों अथवा गीतिकाव्यों में कवि के आराध्य देव की स्तुति तथा अभीष्ट धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रति विशेष आग्रह देखा जा सकता है। जैन संस्कृत महाकाव्य

भी प्रायः जैन धर्म एवं संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हैं। वस्तुतः इन काव्य विधाओं में 'धर्म' ही एक ऐसा तत्त्व है जो साहित्य एवं समाज के सम्बन्धों को मधुर एवं सुदृढ़ बनाता है।

काव्य विधाओं में स्तोत्र काव्य की एक ऐसी विधा है जो गीतिकाव्यों से सम्बद्ध होने पर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुये है। विभिन्न संस्कृतियों के अपने-अपने स्तोत्र अथवा स्तुति काव्य हैं। इन स्तुति काव्यों का प्रधान उद्देश्य अपने आराध्य देवों की भक्तिभावना से युक्त होकर स्तुति करना है। स्तुतिकाव्य की परम्परा का धार्मिक जन जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इन स्तुति काव्यों के लेखक प्रायः उच्च कवि होते थे तथा रसपरक चरित-काव्यों की भाँति इनकी काव्य रचनाओं में रस, अलङ्कार, ध्वनि, गुण आदि विविध शैलिक तत्त्वों का निपुणता से विन्यास किया जाता था।^१ किन्तु प्रत्येक पद्य आराध्य देव की स्तुति में ही लिखे जाने के कारण भक्तिरस अथवा शान्तरस का इनमें प्राधान्य होता था। वास्तव में युगीन धार्मिक चेतना इन स्तोत्रों के माध्यम से उभर कर आई है। लगभग सहस्राधिक उत्कृष्ट स्तोत्रों अथवा स्तुति काव्यों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि विविध संस्कृतियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी धार्मिक चेतना को मुखरित करने के लिये इन स्तोत्रों को साहित्य के माध्यम के रूप में चुना।

साहित्य सृजन एवं समसामयिक मूल्य—

साहित्य सृजन की दृष्टि से ७वीं-८वीं शताब्दी के उपरान्त भारतीय साहित्य चेतना ने कृत्रिम सामाजिक मूल्यों की ओर मोड़ लेना प्रारम्भ कर दिया था। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि भारतीय राजनैतिक परिस्थितियाँ अशान्त थीं। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त सातवीं शताब्दी के बाद सामन्तवाद उत्तरोत्तर वृद्धि में था। भारतवर्ष में अनेक राजाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित हो चुका था परिणामतः कवियों की शोभा भी राज दरबारों में होने लगी। अधिकांश रूप से युद्धों का वातावरण होने के कारण वीर रस की कविताओं का अधिक प्रचलन होने लगा था। दूसरी ओर सामन्त राजाओं के विलासपूर्ण एवं ऐश्वर्य सम्पन्न जीवन से प्रेरणा पाकर राज्याश्रित कवि की काव्य-साधना में पाण्डित्य, वैदग्ध्य, शब्दाडम्बर आदि कृत्रिम काव्य गुणों का प्राधान्य था तथा नैसर्गिकता एवं गाम्भीर्य आदि काव्य के स्वाभाविक गुण उपेक्षित होते गये। सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होने वाली इस साहित्य चेतना के सूत्रधार भारवि हैं। भारवि ने ही सर्वप्रथम चित्रकाव्य एवं शब्द पाण्डित्य जैसे नवीन काव्य मूल्यों को स्थान देकर कृत्रिम काव्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। अजन्ता एवं एलोरा की शृङ्गारपरक

१. मोहन चन्द, जैन संस्कृति के स्तोत्रों का साहित्यिक परीशीलन, श्री महावीर परिनिर्वाण स्मृतिग्रन्थ, प्रधान सम्पा० डा० मण्डन मिश्र, नई दिल्ली, १९७५, पृ० ६८-१०८

कला कृतियों ने भी इस युग की काव्यसाधना को विशेष रूप से प्रभावित किया। रामायण-महाभारत कालीन सामाजिक मूल्य इस युग में यद्यपि हेय नहीं थे तथापि समसामयिक मूल्यों ने इन्हें गौण बना दिया था। सातवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक की काव्य चेतना में मधुशाला वर्णन, सलिल क्रीड़ा, रति क्रीड़ा आदि सामाजिक रूप से लोकप्रियता प्राप्त श्रृङ्गारिक वर्णनों के बिना काव्य झ्रष्ट्रे माने जाने लगे थे। इस प्रकार भारतीय साहित्य साधना कभी भी सामाजिक सांस्कृतिक चेतना से अछूती नहीं रही। धार्मिक चेतना इस साहित्य में प्रधान रूप से मुखरित हुई है तो राजनैतिक एवं युगीन सामन्तवादी मूल्यों का भी साहित्य सृजन पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

महाकाव्य एवं सामाजिक चेतना —

‘महाकाव्य’ साहित्य की वह महत्त्वपूर्ण विधा है जिसमें मानव जीवन की सर्वाङ्गीण गतिविधियों का लेखाजोखा विद्यमान रहता है। महाकाव्य चाहे पूर्व के हों या पश्चिम के, उत्तर के हों या दक्षिण के, इनकी प्रकृति तथा उद्देश्य भी समान रहते हैं।^१ महाकाव्यों में महापुरुषों की महान् घटनाओं के चित्रण द्वारा कवि समाज का पथ प्रदर्शन करता है। महाकाव्यों की उदात्त एवं नैतिक राष्ट्रिय चेतना इन्हें समाज शास्त्रीय मूल्यों से जोड़ देती है। महाकाव्य का वीर नायक उन सभी नैतिक कार्यों के सम्पादन में सदैव तत्पर रहता है जिन्हें एक साधारण मनुष्य भी सम्पादित कर सकता है। महाकाव्य का लेखक एवं नायक अपने पूर्वपुरुषों के आदर्शों का पालन करता हुआ एक सन्देशवाहक के रूप में जन साधारण को सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रखता है। संक्षेप में महाकाव्य के नायकीय आदर्श समाज के ऐसे अनुकरणीय आदर्श कहे जा सकते हैं जो सामाजिक अपेक्षा से निरूपित होते हैं।

विकसन शील एवं अलंकृत महाकाव्यों की दोनों धाराएं प्रत्येक देश में सामाजिक विकासात्मक प्रवाह के अनुसार ही निर्मित होती हैं। विकसनशील महाकाव्यों के कलेवर में शताब्दियों के सामाजिक मूल्य एवं आदर्श सुरक्षित रहते हैं।^२ अलंकृत महाकाव्यों की अपेक्षा विकसनशील महाकाव्यों का सम्बन्ध अधिकांश वर्गों तथा समाज के व्यापक सन्दर्भों से जुड़ा होता है। इस कारण विकसनशील महाकाव्यों में राष्ट्रीय स्तर के मानवीय आदर्शों का प्रतिपादन रहता है, जबकि

१. Dixon, M., English Epic & Heroic Poetry, p. 24

२. सम्भूताथ सिंह, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, प्रधान सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६२७

अलङ्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक आदर्शों का सम्बन्ध किसी संस्कृति विशेष से प्रभावित होता है। सम्भव है कि अलङ्कृत महाकाव्यों में दूसरी संस्कृतियों के सामाजिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा दिखाई गई हो अथवा उनका खण्डन किया गया हो। भारतीय विकसनशील महाकाव्यों—रामायण एवं महाभारत में तत्कालीन भारतीय संस्कृति के आदर्श मूल्य आज भी भारत के भू-भाग में सम्माननीय एवं अनुकरणीय माने जाते हैं जबकि रघुवंश एवं किरात आदि महाकाव्यों को उतनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त नहीं है।^१ इन दोनों महाकाव्यों में ब्राह्मण संस्कृति के सिद्धान्तों के प्रति विशेष आग्रह है इसी प्रकार अश्वघोष के सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित महाकाव्यों को लें तो उनमें बौद्ध संस्कृति के प्रति विशेष पक्षपात प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार जैन आलङ्कारिक महाकाव्यों में ब्राह्मणवाद, वर्ण व्यवस्था एवं यज्ञानुष्ठानों का घोर विरोध किया गया है।^२ न केवल ब्राह्मण संस्कृति के सिद्धान्तों के प्रति ही इनमें उपेक्षा दिखाई गई है अपितु बौद्ध संस्कृति के दार्शनिक सिद्धान्तों का भी इनमें खण्डन किया गया है।^३ इस प्रकार महाकाव्य की दोनों धाराओं का सामाजिक मूल्यों एवं परिस्थितियों से न्यूनाधिक सम्बन्ध होता है।

सामाजिक विकास की चार अवस्थाएं तथा महाकाव्य—

भारतीय महाकाव्य ही नहीं, अपितु विश्व के सभी महाकाव्य समाजशास्त्रीय वैशिष्ट्य से प्रभावित होकर ही निर्मित होते हैं। विद्वानों के अनुसार मानव समाज का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसके विकास की चार निम्नलिखित अवस्थाएं स्वीकार की गई हैं—^४

१. कबीला युग—कबीलों अर्थात् टोलियों में भोजन के निमित्त विचरण करना।

२. जन समूह युग—कबीलों से कुछ ऊँचा उठकर एक बड़े जन समूह की भावना द्वारा भोजन प्राप्ति के नवीन साधनों का आविष्कार करना तथा एक व्यवस्थित पद्धति से जीवन यापन करना।

३. सामन्त युग—राज्य एवं विविध संघों की सहायता से कृषि का आविष्कार कर लेना। यह पूर्व सामन्त युग की विशेषता होती है किन्तु उत्तर सामन्त युग में कृषि तथा पशु पालन के द्वारा समाज पहले की अपेक्षा अधिक विकसित रहता है।

१. Lunia, B.N., Evolution of Indian Culture, Agra, 1960, p. 94

२. तु०—बराह्मचरित, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, १९३८, बम्बई, सर्ग-२५

३. वही, भूमिका, पृ० ७०

४. विशेष द्रष्टव्य—केशवराव मुसलगांवकर, संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, वाराणसी, १९६६, पृ० ६२

४. राष्ट्रयुग—इस युग में मनुष्य अपने विकास के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है। विकसित एवं सुव्यवस्थित अर्थव्यवस्था तथा औद्योगिक विकास इस युग की उल्लेखनीय विशेषता मानी जाती है।^१

उपयुक्त दो युगों—कबीला युग तथा जनसमूह युग में मानव सम्यता केवल मात्र भोजन एकत्र करने के लिए ही अपनी शक्ति का प्रयोग कर पाती थी। साहित्य निर्माण के लिये न तो उसके पास समय ही बचता था और न ही इसके लिये उपयुक्त वातावरण ही था। केवल नृत्य गीतादि द्वारा वह साहित्य की आवश्यकता की पूर्ति कर लेता था। सामन्त-युग में आकर मानव समाज भोजन की समस्या को सुलझा चुका था। अब उसके पास मनोरञ्जन के लिए भी पर्याप्त समय था। इस युग में मुख्यतः धार्मिक साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय समाज के सामन्तवादी युग का प्रारम्भ वैदिक काल से माना जाता है। उत्तर वैदिक काल पर्यन्त पहुँचते हुये भारतीय समाज कृषि एवं पशुपालन के माध्यम से आर्थिक कठिनाइयों पर भी विजय प्राप्त कर चुका था।^२ इसी युग में महाकाव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण भी होने लगा था। ऋग्वेद की इन्द्र विषयक शौर्यपूर्ण गायत्रियों तथा दान स्तुतियाँ, अथर्ववेद के कुन्ताप मन्त्र एवं शतपथ ब्राह्मण के 'पारिप्लव' आख्यान महाकाव्यों के अंकुर बन चुके थे।^३ सामन्त युग की भी विकास की दृष्टि से तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—प्रारम्भिक काल, मध्यकाल तथा उत्तर काल। इतनी ही कालों की अवधि वैदिक काल से लेकर १६वीं शती तक मानी जाती है।^४ जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि वैदिक काल पूर्व सामन्त युग है। इसमें महाकाव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ तदनन्तर लगभग ईस्वी पूर्व की पाँचवीं छठी शताब्दी से प्रारम्भ होने वाले मध्य सामन्त युग में रामायण एवं महाभारत नामक विकसितशील महाकाव्य निर्मित हुए। उत्तर सामन्त युग नामक तीसरे काल में उत्कृष्ट अलंकृत महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ होने लगी। इस काल को भी समय की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वकालीन भाग में निर्मित महाकाव्य काव्य की दृष्टि से सर्वोत्तम थे। इनमें से रघुवंश, कुमारसम्भव, किरात आदि महाकाव्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार मानव समाज के विकास की चार

१. विशेष द्रष्टव्य-केशवराव मुसलगांवकर, संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, पृ० ६२

२. वही, पृ० ६३

३. Keith, A.B., A History of Sanskrit Literature, London, 1941, p. 41; Winternitz, M., History of Indian Literature, Vol. I, part I, Calcutta, 1959, p. 130

४. मुसलगांवकर, संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, पृ० ६३

अवस्थाओं के साथ भारतीय महाकाव्यों के विकास क्रम की पृष्ठभूमि का भी निर्माण होता गया ।

भारतीय महाकाव्य लक्षणों के सन्दर्भ में सामाजिक चेतना का स्वरूप—

रामायण एवं महाभारत में महाकाव्य विषयक मान्यता यद्यपि स्थिर हो चुकी थी, तथापि महाकाव्य के शास्त्रीय स्वरूप का वर्णन करने का सर्वप्रथम श्रेय भामह को जाता है ।^१ भामह के उपरान्त दण्डी,^२ रुद्रट,^३ भोजदेव,^४ तथा हेमचन्द्र^५ ने महाकाव्य लक्षणों का प्रतिपादन किया है । इन महाकाव्य लक्षणों में उत्तरोत्तर विकास होता रहा और यह विकास की दिशा समसामयिक काव्य के माप-दण्डों एवं सामाजिक परिवर्तनों से भी विशेष रूप से प्रभावित रही है । भामह द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के प्रतिपाद्य विषयों में राज दरबार, दूत-सम्प्रेषण, युद्ध प्रयाण आदि वर्णन तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के चित्रण को विशेष महत्त्व देते हैं ।^६ प्राचीन भारत का सामाजिक ढांचा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पर ही पूर्णतया आधारित था । इनमें से भी भामह के महाकाव्य लक्षण 'अर्थ' को ही महत्त्व देने के पक्ष में हैं ।^७ दण्डी ने प्रतिपाद्य विषयों में नगर, समुद्र, पर्वत, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल क्रीडा, मधुपान, विवाहोत्सव आदि वर्णनों को जोड़ते हुए महाकाव्य में मानव जीवन की विविध गतिविधियों के चित्रण के लिए मार्ग प्रशस्त किया है ।^८ दण्डी तथा भामह के महाकाव्य लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में यह देखा जा सकता है कि इन आचार्यों के समय भारत की राजनैतिक स्थिति युद्धों के कारण अशान्त थी इसलिए उनके लक्षणों में प्रायः राजनैतिक वर्णनों के प्रति अधिक झुकाव है । दण्डी के समय

१. काव्यालङ्कार, १. १६-२३

२. काव्यादर्श, १. १४-१६

३. काव्यालङ्कार, १६. २-१६

४. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५. १२६-३७

५. काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ४२८

६. तु०—'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाम्युदयैश्च यत् ।' —काव्यालङ्कार, १. २०

७. तु०—'चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।' —काव्यालङ्कार, १. २१

८. तु०—'नगरार्णवशैलतंचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।

उद्यानसलिलक्रीडा-मधुपानरतोत्सवैः ॥

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाम्युदयैरपि ॥'

—काव्यादर्श, १. १६-१७

में संभवतः युद्धों का वातावरण कुछ शान्त हो गया था राजा महाराजाओं में भोग विलासिता शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त हो चुकी थी। यही कारण है कि दण्डी महाकाव्य के प्रतिपाद्य विषयों में प्राकृतिक वर्णनों तथा सलिलक्रीडा, मधुपान, रतोत्सव आदि विलासपूर्ण मानव-जीवन की गतिविधियों को भी महाकाव्य में विशेष स्थान देने के पक्षधर है। रुद्रट ने इन दोनों आचार्यों के महाकाव्य लक्षणों को स्वीकार करते हुये ऋतुवर्णन, शत्रुवर्णन, नागरिक क्षोभ, वन, द्वीप, भुवन, स्कन्धावार, सेना निवेश आदि विषयों का समावेश किया।^१ भोज-देव के महाकाव्य लक्षणों में सामन्त वादी भोग-विलासिता के लिए पर्याप्त स्थान है। इन्होंने दण्डी की भांति पान गोष्ठी, सलिल क्रीडा, उद्यान वर्णन, रतोत्सव आदि के वर्णन का विधान करते हुए इन्हें शृङ्गार रस की पुष्टि में सहायक माना है।^२ भोज यह भी स्वीकार करते हैं कि राजकुमार, राजकन्या, स्त्री, सेना आदि वर्णनों द्वारा महाकाव्य में रसस्रोत बहता है।^३ सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर इन वर्णनों द्वारा तत्कालीन मनोरञ्जन की विविध विधाओं की ओर प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकालीन भारत में सैनिक वर्ग में अत्यधिक भोग-विलासिता का प्राधान्य हो गया था। परवर्ती महाकाव्य लक्षण इसके प्रमाण हैं। हेमचन्द्र तथा वाग्भट के महाकाव्य लक्षण भी अपने पूर्व-वर्ती आचार्यों के लक्षणों से प्रभावित हैं। हेमचन्द्र ने गज, अश्व आदि विविध वाहनों के चित्रण पर विशेष बल दिया है^४। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य लक्षणों में पुर, देश, नगर आदि के वर्णनों से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के विशेष समसामयिक आग्रहों का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य ऐश्वर्य एवं शृङ्गारपरक चित्रणों द्वारा भी तत्कालीन मानव समाज के विविध व्यवहारों आदि का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता

१. अथ नायक-प्रयाणे नागरिक-क्षोभजनपदाद्रिनदीः।

अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ॥

स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूनां यथायथं तेषु।

रव्यस्तमयं सन्ध्यां सतमसमथोदयं शशिनः ॥

रजनीं च यत्र यूनां समाजसङ्गीतपान-शृङ्गारान्। काव्यालङ्कार, १६.१३-१५

२. तु०—ऋतुरात्रिन्दिर्वाकैन्दूदयास्तमयकीर्तनैः।

कालः काव्येषु सम्पन्नो रसपुष्टिं नियच्छति ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, ५.१३१

३. तु०—राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनाङ्गमङ्गिभिः।

पात्राणां वर्णनं काव्ये रसस्रोतोऽधितिष्ठति ॥ वही, ५.१३२

४. तु०—कुमारवाहनादिवर्णनम्।—काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ४५८

है। अधिकांश जैन संस्कृत महाकाव्य रुद्रट, वाग्भट तथा हेमचन्द्र के लक्षणों से विशेष रूप से प्रभावित हैं। इन महाकाव्यों में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों का इतिहास सम्मत समसामयिक रोचक वर्णन प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार साहित्य एवं समाज के सैद्धान्तिक विवेचन द्वारा यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत जान पड़ता है कि साहित्य सदैव सामाजिक चेतना के प्रति जागरूक रहते हुए तथा युगीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए ही समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाता है। सामाजिक चेतना से अछूता साहित्य न तो लोकप्रिय ही हो पाता है और न ही उसे समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है। भारतीय साहित्य के सर्वेक्षण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य की जो विभिन्न धाराएं प्रतिस्फुटित हुईं तथा विभिन्न राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक मूल्यों में से किसी एक मूल्य को बल देते हुए विभिन्न युगों में जो साहित्य सृजन हुआ वह युगीन परिस्थितियों की आवश्यकता थी। प्राचीन भारतीय साहित्य की जो विभिन्न अवस्थाएं रही हैं उन अवस्थाओं का विकास भी एक विशेष प्रकार की समाजशास्त्रीय व्यवस्था के सन्दर्भ में ही हुआ। उदाहरणार्थ धार्मिक साहित्य, साहित्य सृजन का प्रथम चरण था। तदनन्तर विबुद्ध रसपरक साहित्य के लिए प्रयास किये गए। ब्राह्मण संस्कृति में वेदों, उपनिषदों, धर्मशास्त्र एवं पुराण ग्रन्थों के बाद काव्य, महाकाव्य आदि का निर्माण होना, जैन संस्कृति में आगम ग्रन्थों तथा धार्मिक, दार्शनिक ग्रन्थों के बाद विभिन्न पौराणिक काव्यों, महाकाव्यों आदि की रचना होना; इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में निकाय, जातक, अवदान आदि धार्मिक साहित्य के बाद ही काव्य-महाकाव्यों का निर्माण होना इस तथ्य के प्रमाण हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन में 'समाज' का प्रतीक ही धर्म रहा है अतः धार्मिक साहित्य का प्रमुख उद्देश्य अपने-अपने वर्गों को सामूहिक रूप से संगठित करना था। प्रायः ऐसा सभी धर्मों ने किया है। एक निश्चित वर्ग अथवा समुदाय के निर्मित हो जाने के बाद ही साहित्य का रस-परक रूप सफल हो सकता था। फलतः हम देखते हैं कि मोटे तौर पर ईस्वी पूर्व की भारतीय साहित्यिक चेतना सामाजिक वर्गों के निर्माण में उत्तरोत्तर प्रयत्नशील थी। इस काल में धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त कुछ भी न लिखा जा सका। इसके बाद ईस्वी की पश्चाद्वर्ती शताब्दियों में काव्यात्मक साहित्य निर्माण की ओर ही अधिक झुकाव रहा था परिणामतः साहित्य की विभिन्न काव्यात्मक विधाएं ईस्वी की पश्चाद्वर्ती शताब्दियों में ही अस्तित्व में आईं, तथा इनका उत्तरोत्तर विकास भी हुआ। भारतीय परिवेश में निर्माण की यह प्रवृत्ति प्रत्येक युग में रही थी और ऐसा भी दृष्टिपथ में आता है कि प्रत्येक

साहित्य ने नवीन रूप में अथवा किसी नवीन संस्कृति को प्रश्रय देने के उद्देश्य से जब भी अपने इतिहास का प्रारम्भ करना चाहा तो धार्मिक चेतना के स्वर से ही उसका श्रीगणेश हो पाया था। हिन्दी साहित्य की धार्मिक चेतना का रीतिकालीन कृत्रिम काव्य-प्रधान साहित्य-चेतना में पदार्पण करना भी प्राचीन भारतीय साहित्यिक प्रवृत्तियों की ऐसी ही पुनरावृत्ति थी।^१

२. जैन संस्कृत महाकाव्यों के निर्माण की दिशाएं—

जैन संस्कृत साहित्य के लेखन का प्रारम्भ—जैन लेखकों द्वारा संस्कृत भाषा के माध्यम से साहित्य-सृजन की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। जैन आगम ग्रन्थों के प्रणेताओं ने संस्कृत भाषा को भी प्राकृत के समान प्रशस्त माना है।^२ जैन जन-श्रुतियों की मान्यताओं के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि जैन संस्कृति का पूर्व साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया होगा किन्तु आज यह साहित्य उपलब्ध नहीं है इसलिए जैन-संस्कृति से सम्बद्ध पूर्व साहित्य में संस्कृति का क्या स्वरूप रहा होगा प्रमाणाभाव के कारण स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।^३ उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्राचीनतम जैन आगमादि ग्रन्थ प्राकृत में ही लिखे गए हैं और इसका प्रमुख कारण था साधारण बुद्धि वाले पुरुषों तथा स्त्रियों को भी जैन-धर्म तथा विचारों से अवगत कराना।^४ उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर आचार्य उमास्वाति का 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक दार्शनिक ग्रन्थ जैन साहित्य का सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है तथा विद्वानों ने इस ग्रन्थ का समय-निर्धारण प्रथम शताब्दी ईस्वी से लेकर तृतीय शताब्दी ईस्वी तक किया है।^५ आचार्य उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र'

१. सावित्री सिन्हा, हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-६, सम्पा० डा० नगेन्द्र, काशी, सं० २०२५, पृ० १७
२. सक्कया पायया चेव भाणीईओ ह्रीति दोण्णि वा ।
सरमंउलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिया ॥

—अनुयोग द्वार सूत्र, शाय, १२७

३. मुनि देवेन्द्र, साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, १९७०, पृ० ५५
४. वही, पृ० ५५, पर तु०—
बाल-स्त्री-मन्द-मूर्खाणां नृणां चारित्रकाक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

—दशवैकालिक टीका का उद्धरण

५. द्रष्टव्य—'प्राचीन जैनआचार्यों का संस्कृत साहित्य को योगदान'—विश्व संस्कृत सम्मेलन के अवसर पर मुनि सुशील कुमार द्वारा दिया गया भाषण दिल्ली, २८ मार्च, १९७२, पृ० ११; तथा पं० सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र, पृ० ६

के बाद जैन लेखकों ने शनैः शनैः 'संस्कृत' को भी साहित्य सृजन के लिए प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। सम्भवतः 'संस्कृत' को ब्राह्मण संस्कृति तथा अभिजात वर्ग की भाषा मानने जैसी सङ्कीर्ण भावनाओं के प्रचलन होने के कारण सातवीं शताब्दी ईस्वी तक जैन लेखकों का संस्कृत के प्रयोग करने में मन्द उत्साह रहा था,^१ किन्तु सातवीं-आठवीं शताब्दी से उत्तरोत्तर जैन लेखक पूर्ण मनोयोग से संस्कृत के माध्यम से विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक सृजन के लिए जुट गए। परिणामतः सातवीं शताब्दी के बाद जैन लेखकों का संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।^२

'महाकाव्य' विषयक पाश्चात्य एवं आधुनिक धारणाओं की दृष्टि से भी यदि विचार करें तो 'विकसनशील महाकाव्य' तथा 'अलङ्कृत महाकाव्य' सम्बन्धी महाकाव्यात्मक विकास की धाराएं भी संस्कृत जैन महाकाव्य परम्परा में सुतरां चरितार्थ हो पाती हैं।^३ इस दृष्टि से संस्कृत जैन काव्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ रविशेषण का 'पद्मचरित' है तथा इसे जैन विकसनशील महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है। जटासिंहनन्दि का वराङ्गचरित संस्कृत जैन अलङ्कृत महाकाव्य है जो ड० ए. एन. उपाध्ये महोदय के अनुसार 'पद्मचरित' के बाद लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी में लिखा गया प्रतीत होता है।^४

महाकाव्य परम्परा का विश्व जनीन महत्त्व

महाकाव्य साहित्य विश्व का एक लोकप्रिय साहित्य रहा है। अधिकांश देशों में सामाजिक क्रान्ति को जागृत करने तथा अतीत के विश्वासों एवं घटनाओं को सुरक्षित रखने के माध्यम भी प्रायः महाकाव्य ही रहे हैं।^५ यूरोप, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, आयरलैण्ड सहित भारत आदि देशों में निमित्त महाकाव्यों के निर्माण एवं विकास की दिशा समान ही है। पाश्चात्य एवं भारतीय महाकाव्यों के अङ्कुर हैं—'शौर्यपूर्ण गाथाएं'^६। वीर युग की शौर्यपूर्ण गाथाएं जिनमें युद्ध सम्बन्धी घटनाएं मुख्य हैं, शताब्दियों तक मौखिक रूप से कही जाने के कारण अन्त में

१. द्रष्टव्य—भोलाशङ्कर व्यास, संस्कृत कवि दर्शन, वाराणसी, वि० स० २०१२, भूमिका, पृ० १६

२. द्रष्टव्य—मुनि मुशील कुमार, प्राचीन जैनानाचार्यों का संस्कृत साहित्य को योगदान, पृ० १६-२५

३. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३५-४०

४. उपाध्ये, वराङ्गचरित भूमिका, पृ० ७४

५. Sidhant, N.K., The Heroic Age of India, p. 72

६. Steinberg, S.H., Cassell's Encyclopaedia of Literature, Vol. I, London, 1953, p. 195

वर्णनात्मक रूप को प्राप्त कर महाकाव्य संज्ञा प्राप्त कर लेती हैं।^१ यहाँ तक कि ग्रायरलैण्ड जैसे देश में जहाँ अधिकांश साहित्य गद्यात्मक है किन्तु वहाँ भी उस देश की वीर गाथाएं पद्यात्मक रूप में मौखिक रूप से चलती थीं तथा बाद में उन्हें भी वर्णनात्मक महाकाव्य का स्वरूप प्राप्त हो गया।^२ भारतीय महाकाव्यों के अङ्कुर भी इन्द्र की शौर्यपूर्ण गाथाओं के रूप में ऋग्वेद में सुरक्षित हैं।^३ तदनन्तर ऋग्वेद की दान स्तुतियों, अथर्ववेद के कुन्ताप मन्त्रों तथा शतपथ ब्राह्मण के गाथानाराजसियों के माध्यम से महाकाव्यों के मौखिक तत्त्वों का महाकाव्य के रूप में सतत विकास हुआ है।^४

महाकाव्य विकास की दो धाराएं—

विकसनशील महाकाव्य तथा अलङ्कृत महाकाव्य—

पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार मुख्यतः महाकाव्यविकास की दो धाराएं हैं^५—१. 'विकसनशील महाकाव्य' 'जिसे 'Epic of Growth',^६ 'Authentic Epic',^७ 'Folk Epic',^८ 'Heroic Epic',^९ आदि नामों से भी जाना जाता है। तथा २. 'अलङ्कृत महाकाव्य' जिसके 'Epic of Art',^{१०} 'Imitative Epic',^{११} 'Literary Epic',^{१२} आदि पर्यायवाची नाम भी प्रसिद्ध हैं।

(क) विकसनशील महाकाव्य वीर गाथाओं के धरातल से उठते हुए प्रायः कई शताब्दियों तक केवल मात्र मौखिक गाथाओं के रूप में विकसित होते रहते हैं।

१. Dixon, M., English Epic & Heroic Poetry, p. 27;
Ghosh, J., Epic Sources of Sanskrit Literature, Calcutta 1963, p. XXV.
२. Sidhant, The Heroic Age of India, p. 70
३. Upadhyaya, Ramji, Sanskrit and Prakrit Mahakavyas, Saugar, 1962, p. 15
४. Kieth, A History of Sanskrit Literature, p. 41
५. Sidhant, The Heroic Age of India, p. 70-76
६. शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, प्रधान सम्पा०-डा० श्रीरेन्द्रवर्मा, पृ० ६२७
७. Sidhant, The Heroic Age of India, p. 70
८. Watt, H.A. and Watt, W.W., A Dictionary of English Literature, New York, 1952, p. 355
९. Sidhant, The Heroic Age of India, p. 70
१०. वही, पृ० ७०
११. वही, पृ० ७०
१२. वही, पृ० ७०

तदनन्तर उन्हें वर्णनात्मक शैली द्वारा महाकाव्य का अन्तिम रूप प्राप्त हो जाता है। कभी कभी इन महाकाव्यों के निर्माण में एक से अधिक कवियों का योगदान भी रहता है। विकसनशील महाकाव्य किसी समय विशेष में लिखी रचना नहीं अपितु काल के विविध युगों से इसका सम्बन्ध रहता है।^१

यूरोप के 'इलियड' (Iliad) तथा 'ओडिसी' (Odyssey) तथा भारतीय 'रामायण' एवं 'महाभारत' इसी धारा के उदाहरण हैं।^२ इनके अतिरिक्त इंग्लैंड का 'बियोवुल्फ' (Beowulf), जर्मनी का 'निबेलुगेनलीड' (Nibelungenlied) फ्रांस का 'सांग आफ द रोल' (Song of the Ronald) आदि अन्य देशों के विकसनशील महाकाव्य हैं।^३

(ख) अलंकृत महाकाव्य प्रायः विकसनशील महाकाव्यों पर आधारित होते हुए प्रथम धारा के महाकाव्यों से स्रोत ग्रहण करते हैं। किसी कवि विशेष द्वारा किसी समय विशेष में इनका निर्माण होता है। अलंकृत महाकाव्यों की विशेषता है कि इन महाकाव्यों में प्रथम धारा के महाकाव्यों की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक होती है तथा कवि का उद्देश्य सामाजिक आदर्शों की संस्थापना की अपेक्षा काव्य तन्तुओं को प्रश्रय देना मुख्य होता है। दूसरे शब्दों में विकसनशील महाकाव्य काव्य सौष्ठव के प्रति उदासीन रहते हुए सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रहते हैं तो अलंकृत महाकाव्यों का शिल्पवैधानिक दृष्टि से काव्य मृजन मुख्य उद्देश्य रहता है तथा सामाजिक मूल्यों के संरक्षण के प्रति गौरव दृष्टि रहती है।^४

वर्जिल का 'इनीड' (Aeneid) तथा मिल्टन का 'पैराडाइज लास्ट' (Paradise Lost) आदि पाश्चात्य महाकाव्य^५ तथा 'रघुवंश' 'किरात'^६ आदि भारतीय महाकाव्य अलंकृत महाकाव्यों की शैली के अन्तर्गत हैं।

द्विविध पाश्चात्य महाकाव्य धारा के सन्दर्भ में

जैन पुराण तथा महाकाव्य—

भारतीय साहित्य की वैदिक, जैन एवं बौद्ध—तीनों धाराओं में 'महाकाव्य'

१. Sidhant, The Heroic Age of India, pp. 70-76;

शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ० ६२७

२. Sidhant, The Heroic Age of India; pp. 70-76

३. वही, पृ० ७०-७६, तथा हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ० ६२७

४. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० २७

५. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ० ६२७, तथा तु०—

Shiplay, J.T., Dictionary of World Literature, London, 1945, pp. 213-14

६. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१ पृ० ६२७

विधा एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में प्रादुर्भूत हुई है तथा तीनों धाराओं के आदि-काव्यों के प्रथम संस्कृत ग्रन्थ भी महाकाव्य ही रहे हैं, उदाहरणार्थ वैदिक ग्रन्थवा आह्वण संस्कृति की 'रामायण', जैन संस्कृति का 'पद्मचरित' तथा बौद्ध संस्कृति का 'बुद्ध चरित' ग्रन्थवा 'सौन्दरनन्द' अपनी-अपनी संस्कृति के आदि महाकाव्य हैं। जैन संस्कृति के ग्रन्थदूत के रूप में भी जैन संस्कृत महाकाव्यों की भूमिका भी उसी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी आह्वण संस्कृति के सन्दर्भ में 'रामायण' 'महाभारत' तथा 'रघुवंश' 'किरात' आदि की। ऐसा मानना चाहिए कि जैन संस्कृत महाकाव्य दीर्घ-काल से अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के अनुरूप सामाजिक मूल्यों को मुखरित करने के लिए भूमिका का निर्माण करने में प्रयत्नशील थे। पुराण पुरुषों की मौखिक गाथाएं जैन समाज में प्रचलित थीं।^१ इन महापुरुषों के आदर्श चरित्रों में पाई जाने वाली शौर्यपूर्ण गाथाओं, जैन धर्म एवं दर्शन आदि तत्त्वों ने जैन संस्कृत महाकाव्यों को वर्णनात्मक स्वरूप प्रदान किया।^२ इनके अतिरिक्त राम एवं कृष्ण की त्रिषष्टि-शलाका पुरुषों में क्रमशः आठवें तथा नौवें बलभद्र के रूप में भी स्थान प्राप्त है। इस प्रकार से रामकथा एवं पाण्डवकथा का प्रभाव भी जैन महाकाव्यों पर पड़ा। यह सर्वविदित ही है कि रामकथा एवं पाण्डव कथा की भारतीय जनजीवन में गहरी छाप थी। जैन कवि भी जन-मानस की इस रुचि की कदापि उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। परिणामस्वरूप जैन संस्कृत महाकाव्यों में जैतानुमोदित रामकथा एवं पाण्डवकथा को भी विशेष स्थान दिया गया।^३ इस प्रकार सामाजिक आवश्यकता को देखते हुए तथा श्रमण परम्परा का भी पालन करते हुए जैन संस्कृत महाकाव्यों का तीन धाराओं में विकास हुआ—१. त्रिषष्टि शलाका पुरुषों की परम्परा, २. रामकथा की जैतानुमोदित धारा, तथा ३. पाण्डवकथा की धारा।^४

जैन पुराण : विकसनशील महाकाव्यों के रूप में—

जैन संस्कृति में प्राचीन आख्यानो को 'पुराण' संज्ञा दी गई है।^५ दिग्गजर परम्परा के अनुसार जिसमें एक शलाका पुरुष का वर्णन आता है उसे 'पुराण' संज्ञा

१. चन्द्रप्रभचरित, भूमिका, ए. एन. उपाध्ये तथा हीरालाल शास्त्री, पृ० ११
२. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, वाराणसी, १९६८, पृ० १९
३. Winternitz, M., Jains in Indian Literature (article), Indian Culture, Vol. I, Oct. 1934, p. 148
४. वही, पृ० १४८-४९
५. 'पुरातनं पुराणं स्यात्।'—आदिपुराण, १.२१

दी जाती है।^१ श्वेताम्बर परम्परा में पुराणों के अन्तर्गत त्रिषष्टि शलाका पुरुषों का चरित भी वर्णित होता है। हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' इसका उदाहरण है। विन्टरनिट्ज के अनुसार भी महाकाव्यों को दिगम्बर सम्प्रदाय 'पुराण' तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय 'चरित' के नाम से निबद्ध करते थे।^२ पुराणोक्त कथाओं का अधिकांश रूप से धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पुराणों की कथाएं साधारण काव्यों ग्रन्थवा महाकाव्यों की कथाओं की अपेक्षा अधिक सत्य एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं।

जैन संस्कृत 'पुराण' भी उपर्युक्त पुराण सम्बन्धी विशेषताओं से युक्त होने भर भी 'महाकाव्य' शैली से बहुत प्रभावित हैं। हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' पुराण को 'महाकाव्य' भी कहा जाता है इसके अतिरिक्त अनेक दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के पुराण महाकाव्योचित वर्ण्य विषयों से भी विशेष प्रभावित हैं। जैन संस्कृति के अधिकांश शलाका पुरुषों के जिन चरितों को परवर्ती अलङ्कृत जैन चरित काव्यों में निबद्ध किया गया है, उनमें से अधिकांश जैन पुराणों से ही स्रोत ग्रहण करते हैं। इस कारण जैन संस्कृति के पुराणों को महाकाव्य विकास की प्रथम धारा के महाकाव्यों के समकक्ष रखा जा सका है। परिणामतः पौराणिक वैशिष्ट्य से युक्त इन ग्रन्थों को जैन संस्कृति के 'विकसनशील महाकाव्यों' की संज्ञा दी जा सकती है तथा इनसे कथानक ग्रहण करने वाले द्विसन्धान आदि परवर्ती जैन संस्कृत 'चरित' तथा 'चरितेतर' महाकाव्यों को जैन संस्कृति के 'अलङ्कृत शैली' के महाकाव्यों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्य—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि महाकाव्य विकास की द्वितीय धारा अलङ्कृत महाकाव्यों के नाम से प्रसिद्ध है। जैन साहित्य में भी द्वितीय धारा के महाकाव्यों की रचनाएँ हुईं। ब्राह्मण संस्कृति के पञ्चमहाकाव्यों में ही महाकाव्य के शिल्पविधान का काव्यशास्त्रीय रूप उत्तरोत्तर विकसित होता रहा था। कालिदास के 'रघुवंश' एवं 'कुमारसम्भव' महाकाव्यों में यद्यपि महाकाव्य के स्वभाविक लक्षण चरितार्थ होते हैं किन्तु आग्रह पूर्वक महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का अनुकरण करना इन महाकाव्यों की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए प्रायः इन्हें 'रीतिमुक्त' की संज्ञा भी दी जाती है। जबकि इसी धारा के 'बृहत्त्रयी' के अन्तर्गत आने वाले

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १८

२. Winternitz, M., Jains in Indian Literature, Indian Culture, Vol. 1., p. 149

‘किरातार्जुनीय’, ‘शिशुपालवध’ तथा नैषध महाकाव्यों में महाकाव्य लक्षणों का साग्रह निबन्धन हुआ है। अतः इन महाकाव्यों को ‘रीतिबद्ध’ महाकाव्य कहा जाता है।^१ आगे चलकर रीतिबद्ध महाकाव्यों के मध्य भी काव्य स्तरीय मापदण्ड परिवर्तित होते रहे थे।

इसी सन्दर्भ में जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों के निर्माण की दिशाओं पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन अलङ्कृत महाकाव्य बाह्य शैली की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों के विकास की धारा में एक कड़ी का कार्य कर रहे थे। द्वीं शती ई० के वराहचरित से प्रारम्भ होकर लगभग १४वीं शताब्दी ई० तक जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों की धारा निरन्तर रूप से प्रवाहित होती रही। अधिकांश संस्कृत के जैन चरित तथा चरितेतर-महाकाव्य अपने पूर्ववर्ती विकसनशील महाकाव्यों (जैन संस्कृत पुराणों) पर ही प्रणतया अवलम्बित हैं। दूसरे, इन महाकाव्यों में काव्य-सौष्ठव का विशेष आग्रह है। इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में महाकाव्य विकास की द्वितीय धारा जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी उपयुक्त बैठती है।

जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों का शिल्प वैधानिक स्वरूप

जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों के समय तक भामह,^२ दण्डी^३ आदि काव्याचार्यों के महाकाव्य लक्षण लोकप्रिय हो चुके थे। इन महाकाव्यों की रचना से पूर्व ही कालिदास तथा भारवि ने महाकाव्यों की रचना कर महाकाव्य लक्षणों को व्यावहारिक रूप भी प्रदान कर दिया था। इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों के समय संस्कृत महाकाव्य परम्परा पूर्णतः विकसनशील अवस्था से विचरण कर रही थी। संस्कृत काव्याचार्यों में भामह तथा दण्डी के अतिरिक्त रुद्रट^४ तथा हेमचन्द्राचार्य आदि^५ के महाकाव्य लक्षणों के अनुरूप ही जैन संस्कृत महाकाव्यों का उत्तरोत्तर शिल्प वैधानिक विकास हुआ है। महाकाव्य लक्षणों के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रुद्रट ने जिन दो प्रकार की उत्पाद्य कथावस्तुओं का उल्लेख किया है,^६ तथा हेमचन्द्र ने महाकाव्य के कथानक विकास

१. श्यामशङ्कर दीक्षित, तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, जयपुर, १९६६, पृ० १५
२. काव्यालङ्कार, १.१६-२३
३. काव्यादर्श, १.१४-१६
४. काव्यालङ्कार, १६.७-१६
५. काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ४४६
६. काव्यालङ्कार, १६.२-७

में अवान्तर कथा-संयोजन पर जो विशेष बल दिया है,^१ उससे जैन संस्कृत महाकाव्यों का आन्तरिक शिल्प विधान काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विशेष पुष्ट हुआ है। इस दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि सभी अलङ्कृत शैली के महाकाव्यों का अध्याय-विभाजन सर्गों में ही हुआ है तथा सर्गों की संख्या भी महाकाव्योचित परिणाम के अनुरूप ही है। जैन संस्कृत महाकाव्यों की शिल्प वैधानिक विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(अ) कथास्रोत—अधिकांश रूप से जैन संस्कृत अलङ्कृत महाकाव्यों के कथा-स्रोत इतिहास पुराण एवं महत्चरित्र ही हैं। इन ग्रन्थों में जिनसेन एवं गुणभद्रकृत 'आदिपुराण' एवं 'उत्तरपुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंश पुराण' एवं 'तिलोपपणत्ति' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। रुद्रट प्रतिपादित द्विविध कथानक की दृष्टि से विचार करने पर सभी चरितनामान्त, महाकाव्य अनुत्पाद्य कथा वाले महाकाव्य हैं तथा पुराणों पर आधारित हैं। रामकथा से सम्बद्ध परवर्ती आलङ्कारिक महाकाव्य 'द्विसन्धान' एवं 'सप्तसन्धान' आदि 'पद्मपुराण' के कथानक से प्रभावित हैं। इसी प्रकार जैनानुमोदित पाण्डव कथा से सम्बन्ध रखने वाले महाकाव्यों में 'द्विसन्धान', 'सप्तसन्धान', 'प्रद्युम्नचरित', आदि महाकाव्य 'हरिवंशपुराण' से प्रभावित हैं। 'महाभारत' से ही सीधे स्रोत ग्रहण करने वाले महाकाव्यों में वस्तुपाल का 'नरनारायणानन्द' महाकाव्य है। उत्पाद्य कथा वाले महाकाव्य 'जयन्तविजय' का कथानक कवि कल्पित एवं किंवदन्तियों पर आधारित है। जैन संस्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास पुराणों पर आधारित न होकर समसामयिक राजाओं तथा मन्त्रियों के जीवन वृत्तों पर आधारित हैं।

(आ) कथानक संयोजना—जैन संस्कृत महाकाव्यों के कथानक विकास के प्रयोजन से कवियों द्वारा कतिपय प्रविधियों का प्रयोग भी किया गया है। इन प्रविधियों में (१) महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण, (२) पुराणोक्त महापुरुषों के जीवन चरित, (३) जैन धर्म सम्बन्धी मुनि वर्णन, तत्त्व उपदेश एवं दीक्षा ग्रहण, (४) अलौकिक तत्त्वों का निरूपण, (५) अवान्तर कथाओं की संयोजना आदि कतिपय प्रमुख प्रविधियाँ हैं जिनकी सहायता से कवियों ने महाकाव्य के आन्तरिक कलेवर को विशेष रूप से विकसित किया है। 'अलौकिक तत्त्व' एवं 'अवान्तर कथा' के द्वारा जैन महाकाव्यों की कथानक संयोजना विशेष रूप से प्रभावित हुई है।

(क) अलौकिक तत्त्व—कथानक विकास की दृष्टि से जैन संस्कृत महाकाव्यों में अलौकिक तत्त्वों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। ब्राह्मण संस्कृति के साहित्य में भी

१. तु०—'देशकालपात्रचेष्टाकथान्तरानुबंजनम्'।

अलौकिक तत्त्वों की विद्यमानता रही है। जैन संस्कृत महाकाव्यों में नायक की सहायता करने अथवा नायक के समक्ष कठिनाइयाँ उत्पन्न करने की दृष्टि से ऋषि-मुनि, देव तथा अन्य अमानुषिक शक्तियों का चित्रण किया जाता है।^१ इस प्रकार की घटनाओं से कथानक को मोड़ देने अथवा संबृंहण करने में विशेष सहायता मिलती है। जैन धर्म का प्रचार करना, कथावस्तु को आकर्षक बनाना, नायक के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास प्रदर्शित करना, आदि प्रयोजनों की दृष्टि से भी इन अलौकिक तत्त्वों के संयोजन से कथानक विस्तार में सहायता ली गई है।

(ख) अवान्तर कथा—महाकाव्य लक्षणों में हेमचन्द्र द्वारा अवान्तर कथा की संयोजना पर विशेष बल दिया गया है।^२ स्थान स्थान पर जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्राप्त अवान्तर कथा के प्रसङ्ग पहले तो कुछ विचित्र एवं अप्रासङ्गिक से लगते हैं किन्तु बाद में उनका मुख्य कथा से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर कथानक में निरन्तरता आ जाती है। इन अवान्तर कथाओं का मुख्य कथा से ताल-मेल बैठाने का कार्य पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त पर अवलम्बित है।^३ नायक आदि का अकस्मात् अपहरण हो जाना अथवा किसी दिव्य पुरुष द्वारा परीक्षा लेना, तदनन्तर महाकाव्य से सम्बन्धित पात्र को उसके पूर्व जन्म की सूचना देना आदि घटनाएं अवान्तर रूप से महाकाव्यों में कौतूहल तत्त्व की अभिवृद्धि के लिए भी पर्याप्त उपादेय सिद्ध हुई हैं।^४ सम्भवतः प्राकृत कथा साहित्य एवं बाण की कादम्बरी आदि ग्रन्थों से अवान्तर कथाओं के संयोजन की प्रवृत्ति जैन महाकाव्यों में भी प्रादुर्भूत हुई होगी। इस प्रकार अलौकिक तत्त्व एवं अवान्तर कथाएं भारतीय साहित्य के लोकप्रिय तत्त्व रहे हैं तथा जैन संस्कृत महाकाव्यों तथा जैन कथा साहित्य में इनका चरम विकास हुआ है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों का वर्गीकरण—

जैन संस्कृत महाकाव्यों के वर्गीकरण की समस्या एक बहुत बड़ी समस्या है। इसके कई कारण हैं—जैसे जैन कवियों द्वारा महाकाव्य की 'पुराण' के रूप में

१. विशेष द्रष्टव्य-चन्द्रप्रभचरित, सर्ग ५ तथा ६, पादर्वनाथचरित, सर्ग ४

२. पूर्वोक्त, पृ० ४२

३. पादर्वनाथचरित, सर्ग-३

४. चन्द्रप्रभचरित सर्ग, ५, वर्धमानचरित सर्ग, ३-६, तथा तु०—

पुराकृतैः सम्पदवाप्यते धुमैः कृतानि नो तानि मया भवान्तरे ।

ततो बभूव च दरिद्रतासुखं यदस्ति वा हेतुकमत्र हेतुमत् ॥

—शान्तिनाथचरित, ६.१५०

व्याख्या करना,^१ 'धर्मकथा' कहना^२, पुराणों को भी 'महाकाव्य' संज्ञा देना^३ आदि। जैन संस्कृत महाकाव्यों का अधिकांश रूप से चरितनामान्त होना एक उल्लेखनीय विशेषता है। किन्तु सभी चरितनामान्त काव्य महाकाव्य नहीं हैं। अतः इन महाकाव्यों के विशुद्ध महाकाव्यत्व का मुख्य आधार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षण तथा महाकाव्योचित गरिमा को ही मानना चाहिए। कुछ महाकाव्य यद्यपि महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार शायद महाकाव्यत्व संज्ञा प्राप्त भी करलें किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन तथा अन्य कृत्रिम काव्य-शैली का प्रतिपादन करना ही मुख्य उद्देश्य होने के कारण सामाजिक दृष्टि से इनका महत्त्व कम हो जाता है। सप्त-सन्धान आदि महाकाव्य इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। स्मरण रहे कि ब्राह्मण संस्कृति की धारा में भी महाकाव्यों के अस्तित्व की एक दीर्घ परम्परा रही है किन्तु केवल मात्र पंच-महाकाव्यों को ही 'महाकाव्यत्व' के रूप में लोकप्रियता मिली। जैन महाकाव्यों को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) चरितनामान्त महाकाव्य, (२) चरितेतर महाकाव्य, (३) सन्धान महाकाव्य (४) आनन्द महाकाव्य तथा (५) ऐतिहासिक महाकाव्य।^४

(१) जैन संस्कृत चरित महाकाव्य—

संस्कृत चरित महाकाव्यों की परम्परा अश्वघोष के बुद्धचरित से प्रारम्भ हो चुकी थी। जैन कवियों ने भी चरित काव्य की परम्परा को विशेष रूप से समृद्ध किया। प्राकृत 'पञ्चमचरित' काव्य से प्रेरणा प्राप्त कर रविषेण ने सर्वप्रथम 'पद्मचरित' नामक जैन संस्कृत पुराण की रचना की।^५ तदनन्तर अलंकृत शैली के महाकाव्यों में सर्वप्रथम जैन संस्कृत महाकाव्य जटासिंहनन्दि का 'वराङ्गचरित' है। वास्तव में शैली की दृष्टि से जैन संस्कृत चरित ग्रन्थ 'पुराण' चरित ग्रन्थों के समान

१. तु०—महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम्।

त्रिवर्गफलसन्दर्भ महाकाव्यं तदिष्यते ॥

—जिनसेनकृत आदिपुराण, १.६६, महापुराण, प्रथम भाग, सम्पा० पं० पन्ना लाल जैन, १९५१

२. तु०—इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसन्दर्भे वराङ्गचरिता-
श्रिते०। —वराङ्गचरित सर्ग १ की पुष्पिका

३. तु०—इत्याचार्यश्रोहेमचन्द्रविरचिते त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिते महाकाव्ये
द्वितीयपर्वणि श्रीअजितस्वामिपूर्वभववर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

—त्रिषष्टि० २.१ की पुष्पिका

४. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० २१, ३२ तथा ४०

५. फादर कामिल बुल्के, रामकथा-उत्पत्ति तथा विकास, प्रयाग, १९७१, पृ० ६५-६६

ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जैन चरित पुराणों में एक से अधिक महापुरुषों का चित्रण मिलता है^१ तथा इन चरित-पुराणों में 'धर्मकथा' के तत्त्व अधिक तथा काव्य के तत्त्व अल्प पाये जाते हैं। इसके विपरीत अलंकृत शैली के चरित ग्रन्थों में प्रायः एक ही महापुरुष का अथवा उसके अनेक भवों का चित्रण प्राप्त होता है। कथानक सीमित होने के कारण अलंकृत शैली के चरित ग्रन्थों में काव्य के तत्त्वों के विकास के लिए अधिक अवसर प्राप्त हो जाते हैं। चरित पुराणों की विषय-सामग्री भी अलंकृत शैली के चरितों की अपेक्षा परिमाण में अधिक होती है। अतः चरित-पुराण बृहदाकार तथा अलंकृत शैली के चरित लघ्वाकार होते हैं।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने भी पुराणों में ६३ महापुरुषों का चरित्र-चित्रण तथा अलंकृत शैली के चरितों में केवल एक ही पुरुष के चरित्र-चित्रण की विशेषता को स्वीकार किया है। पुराणों में बहुनायकत्व तथा चरितों में एक नायकत्व का होना भी इनकी उल्लेखनीय विशेषता है।^२

अलंकृत शैली के चरित ग्रन्थों के कथानक प्रायः पूर्वापर जन्मों से सम्बद्ध रहते हैं। अतः एक ही काव्य में शृङ्गार आदि विविध रसों-भावों का समावेश कर जहाँ एक ओर वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक काव्य पक्ष पुष्ट हुआ तो दूसरी ओर वासना की तुच्छता की चुनौती देते हुए नायक को श्रेयस की ओर अग्रसर करते हुए जैन संस्कृत कवियों ने सहृदयता एवं आध्यात्मिकता दोनों पक्षों को समान महत्त्व दिया है। यह समझना चाहिए कि जैन महाकाव्यों का लेखक सहृदय कवि से अस्मात् एक कठोर दार्शनिक का रूप ग्रहण कर लेता है।

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर चरितार्थ होने वाले जैन संस्कृत अलंकृत महाकाव्यों के अन्तर्गत आने वाले चरित नामान्त महाकाव्यों में (१) जटासिंह नन्दिकृत—वराहचरित (८वीं शती ई०), (२) महासेनकृत—प्रद्युम्नचरित (६७४ ई०), (३) वीरनन्दिकृत—चन्द्रप्रभचरित (६७५ ई०), (४) असगकुन्-बर्धमानचरित (१०वीं शती), (५) वादिराजसूरिकृत—पार्श्वनाथचरित (१०२५ ई०), ६. मुनिभद्रकृत—शान्तिनाथचरित (१४वीं शती ई०) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(२) जैन संस्कृत चरितेतर महाकाव्य—

जैन कवियों ने ऐसे महाकाव्यों की भी रचनाएँ की जिनके नाम के अन्त में 'चरित' का प्रयोग नहीं होता। वास्तव में चारित्रिक शैली का चरितेतरनामान्त महाकाव्यों पर भी पूरा पूरा प्रभाव है। अन्तर केवल इतना है कि चरितनामान्त महाकाव्यों में चारित्रिक अभ्युत्थान के प्रति कवि का अधिक झुकाव रहता है किन्तु

१. राजनारायण पाण्डेय, महाकवि पुष्पदन्त, जयपुर, १९६८, पृ० ६८

२. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० १६

चरितेतर महाकाव्यों में कवि स्वच्छन्दता पूर्वक काव्य पक्ष की सौन्दर्य वृद्धि पर अधिक बल देता है। परिणामतः महाकाव्यों में भोग-विलास आदि के विस्तृत वर्णनों से चरितेतर महाकाव्यों में आख्यात्मिक दृष्टि गौण रह गई है। वात्स्यायन के कामसूत्र से सम्बद्ध भोग-विलास, क्रीडा-विहार तथा मद्यपान आदि वर्णनों से चरितेतर महाकाव्य विशेष रूप से प्रभावित हैं। हम्भीर महाकाव्य जिसमें आद्योपान्त वीररस का ही परिपाक हुआ है, उसमें भी कवि नयचन्द्र ने शृङ्गार रस के लिए अस्वाभाविक दृश्यों की संयोजना की है। वास्तव में १०वीं शती के उपरान्त सामन्तवादी साहित्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में काव्य सम्बन्धी एक नवीन मान्यता उदित हो चुकी थी। इस मान्यता के अनुसार शृङ्गार रस से वंचित काव्य लवणरहित भोजन के समान माना जाने लगा।^१ जैन संस्कृत चरितेतर महाकाव्यों का प्रारम्भ दसवीं शती के हरिचन्द्रकृत 'धर्मशर्माभ्युदय' से होता है।^२ महत्त्वपूर्ण जैन संस्कृत चरितेतर महाकाव्य निम्नलिखित हैं—(१) हरिचन्द्रकृत—धर्मशर्माभ्युदय (१०वीं शती ई०), (२) वामदेवकृत—नेमिनिर्वाण (१०७५ ई०), (३) अभयदेवकृत—जयन्तविजय (१३वीं शती ई०) आदि। इनके अतिरिक्त 'सन्धान' तथा 'आनन्द' नामान्त महाकाव्य भी इसी विभाग में समाविष्ट किए जा सकते हैं।

(३) जैन संस्कृत सन्धान महाकाव्य—

सन्धान महाकाव्यों की रचना जैन कवियों की संस्कृत साहित्य को अभूतपूर्व देन है। सन्धान महाकाव्यों का सृजन करते हुए कवियों ने 'श्लेष' श्रलङ्कार का अधिकाधिक लाभ उठाया है। संस्कृत शब्दों के अनेकार्थक होने के कारण भी जैन कवियों ने एक ही पद्य में दो या अधिक कथाओं की समानान्तर संयोजना की है। जैन मान्यता के अनुसार अनेकार्थक काव्य की परम्परा का श्रीगणेश वसुदेव-हिण्डी कृत—'चत्वारि अट्ठ गायथा' (पांचवीं-छठी शती ई०) से माना जाता है। जैन संस्कृत सन्धान-महाकाव्यों की परम्परा में घनञ्जय कृत 'द्विसन्धान' महाकाव्य (६वीं शती ई०) ही सर्वप्रथम जैन संस्कृत सन्धान महाकाव्य है। इसके अतिरिक्त जैन कवियों ने 'त्रिसन्धान', 'चतुस्सन्धान', 'पंचसन्धान', 'सप्तसन्धान' तथा 'चतुर्विंशतिसन्धान' काव्यों का निर्माण कर 'सन्धान' काव्य परम्परा को समृद्ध बनाया।

१. रसोस्तु यः कोऽपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृङ्गाररसो रसाय ।

सत्यव्यहोपाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम् ॥ हम्भीर० १४.३६

२. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० २३४

सन्धान महाकाव्यों में दो या दो से अधिक कथाएं एक साथ चलती हैं, 'द्विसन्धान' महाकाव्य में राम एवं पाण्डव कथा 'सप्तसन्धान' महाकाव्य में ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, प्रहावीर, राम एवं कृष्ण इन सात महापुरुषों की कथाएं समानान्तर रूप से निबद्ध हैं। अलंकृत शैली के सन्धान महाकाव्यों में प्रमुख महाकाव्य दो हैं—(१) धनञ्जय कृत 'द्विसन्धान' (८वीं शती ई०), एवं (२) मेघविजयकृत 'सप्तसन्धान' (१७०३ ई०)।

(४) जैन संस्कृत आनन्द महाकाव्य—

संस्कृत साहित्य में 'आनन्द' नामान्त से काव्य, नाटक आदि की रचना करने की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। 'आनन्द' नामान्त काव्यों में सर्वप्रथम पतञ्जलि-कृत—'महानन्द' काव्य था। तदनन्तर रामचन्द्र कृत—'कौमुदीमित्रानन्द' नाटक (१२ वीं शती ई०), नेपाली कविकृत—'भारतानन्द नाटक' (१४वीं शती ई०), आशाधरभट्टकृत—'कोविदानन्द' (१७वीं शती ई०), वेष्कटाव्वरि कृत—'प्रद्युम्नानन्द' अप्पयदीक्षित कृत—'कुवलयानन्द' (१७वीं शती ई०) तथा श्रीपति कृत—'टोढरानन्द' आदि ग्रन्थों का निर्माण समय समय पर होता रहा है।^१ प्रमुख 'आनन्द' नामान्त जैन संस्कृत महाकाव्य हैं—(१) वस्तुपालकृत 'नरनारायणानन्द' (१३वीं शती ई०) तथा (२) अमरचन्द्रसूरिकृत 'पद्मानन्द' (१३वीं शती ई०)।

(५) जैन संस्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य—

बाराणभट्ट के 'हर्षचरित' (७वीं शती ई०) से संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा प्रारम्भ होती है। तदनन्तर पद्ममुक्त के 'नवसाहसङ्कचरित' काव्य (१००५ ई०), विल्हणकृत—'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्य (१०८५ ई०), कल्हणकृत—'राजतरङ्गिणी' काव्य (१२वीं शती ई०) का ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में विशेष स्थान है। जैन कवियों ने भी संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों तथा महाकाव्यों की रचना की। महाकाव्यों में सर्वप्रथम हेमचन्द्रकृत—'द्वयाश्रय' (१२वीं शती ई०) है। 'द्वयाश्रय' में वर्णित चौलुक्य कुमारपाल (१२वीं शती ई०) एक ऐतिहासिक व्यक्ति है तथा इस महाकाव्य में वर्णित घटनाएं भी बहुत कुछ समसामयिक हैं। तत्कालीन गुजरात की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के इतिहास दिग्दर्शन के लिए 'द्वयाश्रय' महाकाव्य का विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार महामात्य वस्तुपाल के जीवन चरित को लेकर लिखे गए सोमेश्वरकृत—'कीर्ति कौमुदी' (१३वीं शती ई०) तथा बालचन्द्रकृत—'वसन्त विलास' महाकाव्य (१४वीं

१. द्विसन्धान, १-८

२. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६०, पृ० ६४५

शती ई०) के द्वारा भी गुजरात की तत्कालीन परिस्थितियों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। नयचन्द्र सूरि के हम्मीर महाकाव्य का नायक 'हम्मीर' यद्यपि कवि का समकालिक नहीं है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य है। इस महाकाव्य में राजपूतों की चाहमान सेना तथा यवन नरेश अलाउद्दीन खिलजी के मध्य हुए युद्ध एवं राज-नैतिक वर्णनों का आधार भी ऐतिहासिक वृत्त ही है। प्रमुख जैन संस्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य निम्नलिखित हैं—(१) हेमचन्द्रसूरिकृत—'द्वयाश्रय' महाकाव्य (१२वीं शती ई०), (२) सोमेश्वरदेवकृत—'कीर्तिकौमुदी' (१३वीं शती ई०), (३) बालचन्द्रसूरिकृत—'वसन्तविलास' महाकाव्य (१४वीं शती ई०)।

आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्य—

प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग आठवीं शताब्दी ई० से लेकर चौदहवीं शताब्दी ई० तक की कालावधि में निमित्त महत्त्वपूर्ण जैन संस्कृत महाकाव्यों को अध्ययनार्थ सम्मिलित किया गया है। इन महाकाव्यों के लेखक, नाम आदि का ऐतिहासिक क्रम से विवरण इस प्रकार है—

१. जटासिंहनन्दिकृत 'वराङ्गचरित' (८वीं शती ई०)
२. धनञ्जयकृत 'द्विसन्धान' (८वीं शती ई०)
३. वीरनन्दिकृत 'चन्द्रप्रभचरित' (१०वीं शती ई०)
४. महासेनकृत 'प्रद्युम्नचरित' (१०वीं शती ई०)
५. असगकृत 'वर्धमानचरित' (१०वीं शती ई०)
६. हरिचन्द्रकृत 'धर्मशर्माभ्युदय' (१० वीं शती ई०)
७. वादिराजसूरिकृत 'पार्श्वनाथचरित' (११वीं शती ई०)
८. वाग्भटकृत 'नेमिनिर्वाण' (११वीं शती ई०)
९. हेमचन्द्रकृत 'द्वयाश्रय' (१२वीं शती ई०)
१०. अभयदेवसूरिकृत 'जयन्तविजय' (१३वीं शती ई०)
११. वस्तुपालकृत 'नरनारायणानन्द' (१३वीं शती ई०)
१२. अमरचन्द्रसूरिकृत 'पद्मानन्द' (१३वीं शती ई०)
१३. सोमेश्वरकृत 'कीर्तिकौमुदी' (१३वीं शती ई०)
१४. बालचन्द्रसूरिकृत 'वसन्तविलास' (१३वीं शती ई०)
१५. मुनिभद्रकृत 'शान्तिनाथचरित' (१४वीं शती ई०)
१६. नयचन्द्रसूरिकृत 'हम्मीर महाकाव्य' (१४वीं शती ई०)

महाकाव्येतर अन्य स्रोत सामग्री—

लगभग इसी कालावधि में निमित्त जैन दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के महत्त्वपूर्ण पुराणों की उपर्युक्त महाकाव्यों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के समर्थनार्थ

तथा पूरक परिस्थितियों के उद्घाटनार्थ शोध ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन जैन पुराणों में जिनसेनकृत 'आदिपुराण' (९वीं शती ई०), गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' (९वीं शती ई०), हेमचन्द्रकृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्य' तथा 'परिशिष्टपर्व' (१२वीं शती ई०) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जैन महाकाव्यों के समकालिक जैन साहित्य की विविध विधाओं के ग्रन्थों को भी संस्कृत जैन महाकाव्यों के स्रोतों की पुष्टि करने अथवा प्रासङ्गिक प्रकाश डालने के लिए यथोचित रूप से प्रयोग में लाया गया है।

अधिकांश रूप से शास्त्रीय महाकाव्य लक्षणों को चरितार्थ करने वाले उपर्युक्त सोलह जैन संस्कृत महाकाव्यों का सम्बन्ध गुजरात, राजस्थान तथा कर्नाटकादि प्रदेशों से है किन्तु इन महाकाव्यों के लेखक प्रायः जैन धर्म के आचार्य भी होते थे तथा जैन धर्म की किसी शाखा विशेष से इनका सम्बन्ध रहता था। इस कारण शाखागत परम्पराओं का पालन करते हुए ही संस्कृत जैन कवियों ने महाकाव्यों की रचना की है। ये आचार्य देश-देशान्तरों में जाकर धार्मिक उपदेश भी देते थे, इस कारण विभिन्न प्रदेशों के वृत्तान्तों एवं अनुभवों का महाकाव्यों की वर्ण्य विषय-वस्तु पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक प्रतीत होता है। परिणामतः भौगोलिक विभाजन की रेखाओं में बाँधकर किसी एक महाकाव्य की सामाजिक परिस्थिति को किसी प्रान्त विशेष से सम्बद्ध कर देना व्यावहारिक रूप से समीचीन जान नहीं पड़ता। किन्तु ऐतिहासिक तथा अभिलेखादि साक्ष्यों द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किसी व्यवस्था विशेष, की सामाजिक पृष्ठभूमि कितनी समसामयिक है तथा उसका महाकाव्यों में वर्णित गतिविधियों से कितना सम्बन्ध हो सकता है। शोधग्रन्थ में विवेचित किसी परिस्थिति विशेष विशेषकर राजनैतिक एवं प्रशासनिक महत्त्व के वर्णनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करने के प्रयोजन से तत्कालीन अभिलेखीय एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी सहायता ली गई है। अधिकांश महाकाव्य सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित होकर वस्तु वर्णन में प्रवृत्त हुए हैं जिनकी ऐतिहासिकता किसी स्तर पर सन्देहास्पद भी हो जाती है, परन्तु समाज-शास्त्रीय दृष्टि से मानवीय इतिहास के इन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। भारतीय जनचेतना के सन्दर्भ में परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य भी समसामयिक इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते आए हैं। इस प्रकार इतिहास-निष्ठ और संस्कृति-निष्ठ जैन महाकाव्यों के सामाजिक इतिहास का इसी सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

जैन संस्कृत महाकाव्यों की सामाजिक परिस्थितियों का सम्बन्ध जैन संस्कृति के किसी समुदाय विशेष से न होकर ८वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी ई० तक के सम्पूर्ण भारतीय जन जीवन के इतिहास से है। धार्मिक परिस्थितियों एवं

दार्शनिक मान्यताओं के विषय में कहा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध जैन धर्म के प्रभाव वाले प्रदेशों से अधिक रहा होगा। किन्तु अन्य राजनैतिक तथा सामाजिक चित्रण पर तत्कालीन विविध राजवंशों, राजनैतिक परिस्थितियों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। १२-१३वीं शताब्दी से सम्बद्ध ऐतिहासिक महाकाव्यों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मुद्दु रही है तथा राजस्थान एवं गुजरात के राजनैतिक वातावरण का इन पर विशेष प्रभाव भी पड़ा है। कुल मिलाकर जैन संस्कृति से अनुप्राणित जैन संस्कृत महाकाव्य मध्यकालीन भारतीय इतिहास की सामाजिक पृष्ठभूमि को विशद करने वाले महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत सिद्ध होते हैं।

आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय

(१) जटासिंहनन्दिकृत वराङ्गचरित (८वीं शती ई०)---

अलंकृत शैली से सम्पुष्ट वराङ्गचरित महाकाव्य के रचयिता जटासिंह नन्दि थे, जिनके जटिल मुनि एवं जटाचार्य उपनाम भी प्रचलित हैं।^१ वराङ्गचरित के अन्तःसाक्ष्यों से सिद्ध होता है कि जटिल मुनि कर्नाटक देश के निवासी थे। उपाध्ये महोदय के अनुसार वराङ्गचरित की रचना सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० में हुई थी।^२

वराङ्गचरित महाकाव्य में ३१ सर्ग हैं। इस प्रकार महाकाव्य लक्ष्यों के अनुसार इस महाकाव्य में एक सर्ग अधिक है।^३ स्वयं कवि ने भी अन्य महाकाव्यों की भाँति इसे 'महाकाव्य' संज्ञा से सम्बोधित न कर 'धर्मकथा' के रूप में सम्बोधित किया है।^४ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय ने इस महाकाव्य को जैन संस्कृत महाकाव्यों के सन्दर्भ में विशिष्ट स्थान नहीं दिया है। सम्भव है कि उन्होंने वराङ्गचरित को पुराण मानकर इसका विशेष अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया हो। डा० ए० एन० उपाध्ये महोदय वराङ्गचरित को एक महाकाव्य के रूप में भी स्वीकार करते हैं।^५ अन्य जैन संस्कृत महाकाव्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए वराङ्गचरित भी इन

१. उपाध्ये ए० एन०, वराङ्गचरित, बम्बई, १९३८, भूमिका, पृ० १९

२. वही, पृ० ७१

३. खुशालचन्द्र गोरावाला, वराङ्गचरित (हिन्दी अनुवाद), मथुरा, १९५३, भूमिका, पृ० १९

४. तु०—'इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसन्दर्भे वराङ्गचरिताधिते' वराङ्ग०, पुष्पिका

५. उपाध्ये, वराङ्गचरित, भूमिका, पृ० ६८-६९

महाकाव्यों के समकक्ष ही है। केवलमात्र एक सर्ग के अधिक होने के कारण वराङ्गचरित के महाकाव्यत्व की अवहेलना करना उचित जान नहीं पड़ता है। महाकाव्य लक्षणों की दृष्टि से वराङ्गचरित एक उत्कृष्ट महाकाव्य सिद्ध होता है। वराङ्गचरित में महाकाव्योचित प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है। वराङ्गचरित के नायक बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समकालिक 'वराङ्ग' हैं। वराङ्ग धीरोदात्त नायक के गुणों से युक्त हैं।

वराङ्गचरित की कथावस्तु का सम्बन्ध नायक वराङ्ग के पितृवंश से लेकर नायक के पुत्र के विवाह एवं राज्याभिषेक पर्यन्त की घटनाओं से है। वराङ्गचरित की तुलना अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' एवं बुद्धचरित से की जा सकती है। अश्वघोष ने इन दोनों महाकाव्यों के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रचार किया तो जटिल मुनि ने भी वराङ्गचरित में जैन धर्म एवं दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों को निबद्ध किया है। चौथे सर्ग से दसवें सर्ग तक तथा छवीसवें एवं सत्ताइसवें सर्गों में विशुद्ध रूप से जैन धर्म एवं दर्शन का उपदेश दिया गया है तथा इन नौ सर्गों का महाकाव्य के मूल कथानक से कोई विशेष सम्बन्ध भी नहीं है। यही कारण है कि वराङ्गचरित को 'धर्मकथा' एवं 'महाकाव्य' की दोनों संज्ञाएँ दी जाती हैं। इसे पौराणिक महाकाव्य की संज्ञा भी दी गई है।^१ हरिवंशपुराणकार जिनसेन वराङ्गचरित से बहुत प्रभावित थे—

वराङ्गनेव सर्वाङ्गवराङ्गचरितार्थवाक् ।

कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥^२

वराङ्गचरित में ७वीं ८वीं शताब्दी की दक्षिण भारत की विशेषकर कर्नाटक की युगीन परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित हैं। इस काल में दक्षिण भारत में जैन धर्म उन्नत दशा में था। कवि ने सुन्दर ढंग से जैनेतर मतों का खण्डन किया है। ब्राह्मण धर्म के यज्ञों, दानों, तथा अन्य धार्मिक एवं सामाजिक विश्वासों की वराङ्गचरित में खूलकर निन्दा की गई है। वर्णाश्रम व्यवस्था, एवं पुरोहितवाद पर जटिल मुनि ने व्यंग्यात्मक प्रहार किया है।^३ दूसरी ओर वराङ्गचरित में तत्कालीन जैन धर्म के अग्रमुदय के प्रमाण प्राप्त होते हैं। वराङ्गचरित में अनेक विशाल जैन मन्दिरों का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वराङ्ग द्वारा एक विशाल जैन मन्दिर का निर्माण भी करवाया गया।^४ इस प्रकार शोध प्रबन्ध के विवेच्य

१. उपाध्ये, वराङ्गचरित, भूमिका, पृ० ६८

२. जिनसेनकृत हरिवंश पुराण १ ३५: माणिक चन्द्र-द्विवेदी-जैन-ग्रन्थमाला, पृष्ठ ३१-३२, बम्बई

३. वराङ्ग०, सर्ग—२५

४. वही, सर्ग—२२

महाकाव्यों में वराङ्गचरित सर्वप्रथम महाकाव्य होने के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य सिद्ध होता है।

(२) धनञ्जयकृत द्विसन्धान (८वीं शती ई०)—

सन्धान नामान्त महाकाव्यों की परम्परा में द्विसन्धान महाकाव्य सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसका अपर नाम 'राघव-पाण्डवीय' भी है क्योंकि इसमें राम-कथा एवं पाण्डव-कथा समानान्तर रूप से चलती हैं। द्विसन्धान महाकाव्य का रचनाकाल सुनिश्चित नहीं है। प्रो० भण्डारकर द्विसन्धान के लेखक धनञ्जय को सन् ११६ई० से ११४७ ई० के मध्य रखते हैं।^१ उपाध्ये महोदय का अनुमान है कि धनञ्जय का अस्तित्वकाल ८०० ई० होना चाहिए किन्तु यह किसी भी रूप से भोज के समय (११वीं शती का मध्य भाग) से परवर्ती नहीं हो सकता।^२ नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय ने भी द्विसन्धान महाकाव्य का स्थितिकाल ८वीं शती के लगभग ही स्वीकार किया है।^३ डा० हीरालाल द्वारा इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी गई है। उन्होंने धनञ्जय के अनेकार्थनाममाला को धवलाटीका (७४८-८१६ ई०) द्वारा उद्धृत करने की ओर ध्यान आकषित किया है।^४ इस तथ्य द्वारा धनञ्जय का स्थितिकाल निर्धारित करना सहज हो जाता है। धनञ्जय ८१६ ई० से पूर्व विद्यमान थे तथा द्विसन्धान महाकाव्य का रचना काल किसी भी रूप से नवीं शताब्दी ई० से परवर्ती नहीं हो सकता।

द्विसन्धान महाकाव्य में १८ सर्ग तथा ११०५ पद्य हैं। महाकाव्य के सभी लक्षणों का इस महाकाव्य में सुन्दरता से समावेश किया गया है।^५ वैसे तो द्विसन्धान की कथा गौतम द्वारा राजा श्रेणिक के लिए कही गई है,^६ किन्तु

१. द्विसन्धान महाकाव्य, सम्पा० खुशालचन्द गोरावाला, दिल्ली, १९७०,

भूमिका, पृ० १७

२. हीरा लाल जैन, आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, द्विसन्धान, भूमिका, पृ० २३

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ३६४-६५

४. तु०—हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये।

प्रादुर्भावे समाप्ती च इति शब्दं विदुर्बुधाः ॥

—धवला टीका, अमरावती संस्करण, प्रथम भाग, पृ० ३८७

५. विशेष द्रष्टव्य—नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ३७१

६. तु०—'अनुजया वीरजिनस्य गौतमो गणाग्रणीः श्रेणिकमित्यवोचत।'

—द्विसन्धान, १-६

द्विसन्धान की प्रेरणा के मूल स्रोत रामायण की रामकथा एवं महाभारत की पाण्डव-कथा है। कवि ने श्लेष द्वारा समानान्तर रूप से राम कथा एवं पाण्डव कथा का जिस प्रकार वर्णन किया है वास्तव में वह आश्चर्यजनक एवं रमणीय बन पड़ा है। निम्नलिखित पद्य में कवि ने श्लेष द्वारा व्याकरण एवं चाप-विद्या का सुन्दरता से वर्णन किया है—

पद्यप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम् ।

सर्वेषु शास्त्रेषु जितश्रमं तच्चापेऽपि न व्याकरणं मुमोच ॥^१

द्विसन्धान महाकाव्य के कई पद्य कालिदास के रघुवंश तथा मेघदूत, भारवि के किरात एवं माध के शिशुपालवध से भी प्रभावित हैं।

द्विसन्धान महाकाव्य में युद्धकला एवं अन्य सैन्य गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन ऐश्वर्य-भोग, स्त्री-विलास, मदिरापान आदि सामन्तवादी युगीन चेतना का भी महाकाव्य में चित्रण प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में द्विसन्धान महाकाव्य तत्कालीन सामन्ती-प्रवृत्तियों का एक सुन्दर दर्पण है। समाज शास्त्रीय दृष्टि से द्विसन्धान में प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, राज-तान्त्रिक सिद्धान्त, युद्ध प्रक्रिया एवं लोक-जनजीवन के महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं।

(३) महासेनकृत प्रद्युम्नचरित (६७४ ई०) —

प्रद्युम्नचरित के रचयिता महाकवि असंग हैं। महाकाव्य के अन्त में 'श्रीसिन्धुराजसत्कविमहत्तश्री पर्पटगुरोः पण्डितश्रीमहासेनाचार्यस्य कृते' के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि कवि ने सिन्धुल के महामात्य पर्पट की प्रेरणा से प्रेरित होकर इस महाकाव्य की रचना की होगी। नेमिचन्द्र शास्त्री का विचार है कि महासेन किसी न किसी रूप में मुंज तथा सिन्धुल से सम्बद्ध थे। यह सूचना प्रद्युम्नचरित की प्रशस्ति से प्राप्त होती है। इस कारण मुंज (६७४ ई०) के समकालिक होने के कारण महासेन का समय ६७४ ई० मानना उचित जान पड़ता है।

प्रद्युम्नचरित महाकाव्य में चौदह सर्ग हैं। महाकाव्य के प्रतिपाद्य विषयों के अनुरूप वर्ण्य विषय निबद्ध किए गए हैं। प्रद्युम्नचरित के नायक प्रद्युम्न हैं। जैन मान्यता के अनुसार प्रद्युम्न २४ कामदेवों में से एक है। प्रद्युम्नचरित की कथा पौराणिक है तथा यह महाकाव्य भी पौराणिक शैली में निबद्ध महाकाव्य है। अश्वघोष के सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित, कालिदास के मेघदूत एवं कुमारसम्भव, भारवि के किरात एवं माध के शिशुपालवध से प्रद्युम्नचरित प्रभावित है।

(४) वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित (६७०—६७५ ई०)--

चन्द्रप्रभचरित के रचयिता वीरनन्दि हैं। चन्द्रप्रभ की प्रशस्ति के अन्त में वीरनन्दि को आचार्य अभय नन्दि का शिष्य बताया गया है।^१ वादिराज (१०२५ ई०) ने पार्वनाथचरित में चन्द्रप्रभचरित के नामोल्लेख सहित वीरनन्दि की प्रशंसा की है।^२ अतः वीर नन्दि का समय १०२५ ई० पू० निश्चित है। गोम्मतसार की रचना वाङ्मयवंशीय राजारामवल के प्रधानमन्त्री चामुण्डराय से प्रेरित होने के कारण, तथा चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोला की गोम्मत स्वामी की प्रतिमा की १३ मार्च ६८१ में स्थापना होने के कारण, प्रस्तुत महाकाव्य का रचनाकाल ६७०-६७५ के मध्य माना गया है।^३

चन्द्रप्रभचरित में १८ सर्ग हैं। प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अनन्तर सज्जन-प्रशंसा एवं दुर्जनाभिनन्दन किया गया है।^४ चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य में महाकाव्य विषयक सभी लक्षण पूर्णतः चरितार्थ होते हैं।

(५) असगकृत वर्धमानचरित (६८८ ई०)—

महाकवि असगकृत वर्धमानचरित महाकाव्य की प्रशस्ति के अनुसार इस महाकाव्य का रचना काल शक संवत् ६१० अर्थात् ६८२ ई० उल्लिखित है।^५ कहा जाता है कि महाकवि असग ने चोलराज श्रीनाथ के राज्यकाल में लगभग आठ ग्रन्थों की रचना की थी उनमें वर्धमान चरित भी एक था। दूसरे, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय के मतानुसार असग ने हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय (१०वीं शती) का अनुसरण किया था।^६ इन सभी प्रमाणों के आधार पर वर्धमानचरित महाकाव्य का रचनाकाल ६८८ ईस्वी अर्थात् दसवीं शताब्दी होना समुचित जान पड़ता है।^७

वर्धमान चरित महाकाव्य में कुल १८ सर्ग हैं तथा इसमें वर्धमान महावीर का जीवनचरित्र चित्रित किया गया है। महाकाव्य के नायक महावीर हैं तथा

१. चन्द्रप्रभचरित, प्रशस्ति, पद्य-१

२. चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्।

कुमुदतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥—पार्व०, १.३०

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ७७

४. चन्द्र० १.१-८

५. तु०—संवत्सरे दशनवोत्तरयुक्ते—वर्ध०, १८.१०४

६. धर्म० १०.११ तथा वर्ध०, ५.५

७. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० १३६

प्रतिनायक विशाखनन्दि । नायक के सभी उदात्त गुण भगवान् महावीर में पाए जाते हैं । महावीर एवं विशाखनन्दि का कई जन्मों तक विरोध दिखाया गया है जिसके परिणाम स्वरूप कवि ने सफलता से विशाखनन्दि का प्रतिनायक के रूप में चित्रण किया है । महाकाव्य में देश, वन, वसन्त, सन्ध्या, प्रभात, पर्वत, समुद्र, द्वीप तथा विवाह, सम्भोग, राजमन्त्रणा, दूतप्रेषण, युद्धप्रयाण एवं युद्धवर्णन आदि वर्ण्य विषयों का सफलता से अङ्कन किया गया है ।

(६) हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय (१०वीं शती ई०)—

हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय का स्थितिकाल सुनिश्चित नहीं है । श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा दी गई सूचना के अनुसार पाटन की धर्मशर्माभ्युदय की प्रतिलिपि (सन् १२३० ई०) के अन्त में यह उल्लेख मिलता है कि वि० सं० १२८७ में हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य की प्रतिलिपि रत्नाकरसूरि के आदेशानुसार कीर्तिचन्द्रगणि द्वारा लिखी गई ।^१ इससे स्पष्ट हो जाता है कि १२३० ई० से पूर्व धर्मशर्माभ्युदय की रचना हो चुकी थी । पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री महोदय ने धर्मशर्मा० पर चन्द्रप्रभ० तथा हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रभाव को दिखाते हुए हरिचन्द्र का समय वि० सं० १२०० (११४३ ई०) निर्धारित किया है ।^२ श्री अमृतलाल शास्त्री ने भी पं० कैलाशचन्द्र जी का समर्थन किया है ।^३ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का मत है कि वर्धमान चरित (६८८ ई०) के लेखक असग ने हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय का अनुसरण किया है, न कि हरिचन्द्र ने असग का । उनके अनुसार धर्मशर्मा० से नैषधचरित भी प्रभावित हुआ है । अतः धर्मशर्माभ्युदय का समय १०वीं शताब्दी ई० रहा होगा ।

धर्मशर्माभ्युदय में २१ सर्ग हैं । 'धर्म' तथा 'शर्म' अर्थात् शान्ति का 'अभ्युदय' महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य है अतः इसका नामकरण भी 'धर्मशर्माभ्युदय' किया गया है । धर्मशर्माभ्युदय को नेमिचन्द्र शास्त्री ने शास्त्रीय महाकाव्य की संज्ञा दी है । महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार इसका प्रारम्भ मञ्जुलाचरण से होता है । पूर्व कवि प्रशंसा, सज्जनश्लाघा एवं दुर्जन निन्दा की चर्चा महाकाव्य के प्रारम्भ में की गई है । महाकाव्य के वर्ण्य-विषय हैं—नगरवर्णन, पर्वत वर्णन, प्रभात वर्णन, सन्ध्यावर्णन, ऋतु वर्णन, कुमारोदय, विवाह, पानगोष्ठी, सुरत वर्णन, सलिल क्रीड़ा, आदि । निःसन्देह धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य एक उत्कृष्ट सरस काव्य है जिसमें कवि ने अनेक स्थानों पर कौतुकवह तत्त्वों का सुन्दरता से विन्यास किया है । सज्जन प्रशंसा

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० २३५, पाद टि० ६

२. अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ३७६-३८२

३. जैन सन्देश, शोधक, ७, मथुरा १९६०, पृ० २५०-५४

सज्जन प्रशंसा दुर्जन निन्दा, तथा कथानक में कौतुकावह स्थलों का विन्यास करना वास्तव में कथा एवं आख्यायिका के प्रमुख तत्त्व थे जो बाद में संस्कृत जैन महाकाव्यों में भी समाविष्ट हो गए थे। धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य इस दृष्टि से एक आदर्श एवं उत्कृष्ट महाकाव्य कहा जा सकता है।

(७) वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथनाथचरित (१०२५ ई०)—

महान् दार्शनिक वादिराज ने तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के चरित्र को आषाढ मानकर शक संवत् ६४७ (१०२५ ई०) में पार्श्वनाथ चरित की रचना की।^१ प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता प्रभाचन्द्र के वे समकालिक थे। वादिराज के ग्रन्थ काव्य यशोधरचरित में दक्षिण भारत के सोलङ्की वंश के राजा जयसिंह प्रथम (१०१६-१०४२ ई०) का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख भी हुआ है।^२ जयसिंह के राज्यकाल में ही वादिराज ने यशोधर चरित की रचना भी की थी।

पार्श्वनाथ चरित १२ सर्गों का पौराणिक शैली में रचा हुआ महाकाव्य है। शास्त्रानुसार मङ्गलाचरण से प्रारम्भ हुए इस महाकाव्य में नगर, वन, पर्वत, नदी, समुद्र, प्रातःकाल, सायंकाल, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि के वर्णनों के अतिरिक्त जन्म, विवाह, सैनिक प्रयाण तथा युद्ध के वर्णन भी प्राप्त होते हैं। महाकाव्य का नायक पार्श्वनाथ अपने अनेक जन्मों से विचरण करता हुआ सतत रूप से अपने व्यक्तित्व को उन्नत करने में प्रयत्नशील रहता है। कुल मिलाकर 'पार्श्वनाथ' का चरित्र धीरोदात्त नायक के तुल्य है।

(८) वाग्भटकृत नेमिनिर्वाण^३ (१०७५—११२५ ई०)—

वाग्भट रचित नेमिनिर्वाण महाकाव्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में वाग्भटालङ्कार के लेखक वाग्भट द्वितीय के माध्यम से विशेष सहायता मिलती है। वाग्भट प्रथम के नेमिनिर्वाण महाकाव्य के लगभग आधे दर्जन पद्यों को वाग्भट द्वितीय ने अपने वाग्भटालङ्कार में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। इस प्रकार नेमिनिर्वाण वाग्भटालङ्कार से पूर्व विरचित हो चुका था। वाग्भट द्वितीय चालुक्य राजा

१. तु० 'शाकाब्दे नगवर्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धि-महिते शुद्धे तृतीयादिने'— पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति-५

२. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० १७४

३. नेमिनिर्वाण, सम्पा० शिवदत्तशर्मा तथा काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, मुद्रक-पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९३६

जयसिंह देव के राज्यकाल में हुए थे।^१ प्रो० बूह्लर ने जयसिंह देव का राज्यकाल वि० सं० ११५०-११६६ तक निर्धारित किया है।^२ हेमचन्द्र के द्वयाश्रय महाकाव्य से भी ज्ञात होता है कि वाग्भट चालुक्य वंशीय कर्णदेव के पुत्र थे तथा राजा जयसिंह देव के अमात्य थे।^३ अतः इन साक्ष्यों के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय ने नेमिनिर्वाण महाकाव्य का रचनाकाल ११२७ ई० से पूर्व होने की सम्भावना पर बल दिया है। धर्मशर्माभ्युदय के कतिपय पद्यों का वाग्भट के नेमिनिर्वाण में प्रभाव देखे जाने के कारण नेमिचन्द्र महोदय ने नेमिनिर्वाण महाकाव्य की निश्चित समयावधि १०७५-११२५ ई० निर्धारित की है।^४

नेमिनिर्वाण महाकाव्य में कुल १५ सर्ग हैं जिनमें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का चरित्र चित्रित किया गया है। प्रारम्भ में चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है। सन्ध्या, प्रभात, पर्वत, वन, नदी, नगर, समुद्र आदि वर्णनों से युक्त इस महाकाव्य में युद्ध, सेना-प्रयाण आदि वीरतापूर्ण वर्णनों का अभाव है। इनके अतिरिक्त महाकाव्य में विवाह, कुमारोदय, मधुपानगोष्ठी, सलिलक्रीडा, मुनिवर्णन आदि वर्ण्यविषय विशेष रोचक हैं।

(६) हेमचन्द्रकृत द्वयाश्रय (१२वीं शती ई०)—

हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित द्वयाश्रय महाकाव्य के 'चालुक्य वंशोत्कीर्तन' तथा 'कुमारपालचरित' अपर नाम भी प्रसिद्ध हैं।^५ द्वयाश्रय महाकाव्य के प्रणयन के दो प्रमुख लक्ष्य थे। प्रथम संस्कृत व्याकरण का परिचय देना एवं द्वितीय चालुक्य वंश का कथा वर्णन करना। द्वयाश्रय महाकाव्य के प्रथम बीस सर्गों की भाषा संस्कृत है तथा अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत में लिखे गए हैं। संस्कृत भाग 'द्वयाश्रय' तथा प्राकृत भाग 'कुमारपालचरित' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखे जाने के कारण अथवा व्याकरण तथा काव्य दोनों शाखाओं पर आश्रित होने के कारण इसका 'द्वयाश्रय' नाम सार्थक ही है। हेमचन्द्र का चालुक्य

१. Buhlar, The Life of Hemacandrācārya, Santiniketan, 1936, p. 12
२. द्वयाश्रय, २०.६१, ६२
३. वही, २०.६१, ६२
४. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य पृ० २८३
५. Kāvyaṇuśāsana of Ācārya Hemacandra, ed. by Parikh, R.C., and Kulkarni, V.M., Bombay, 1964, p. 62

कुमारपाल के समकालिक होने के कारण द्वयाश्रय महाकाव्य का रचना काल १२वीं शती ईस्वी निश्चित है।^१

द्वयाश्रय महाकाव्य में महाकाव्य के सभी लक्षण चरिताथ होते हैं।^२ प्रायः विद्वान् इसे पूर्णतः ऐतिहासिक महाकाव्य न मानकर अर्द्ध-ऐतिहासिक महाकाव्य स्वीकार करते हैं। मुनि श्री जिन विजय के अनुसार कुमारपाल के जीवन-सम्बन्धी वृत्तान्तों की जानकारी के लिए यद्यपि द्वयाश्रय महाकाव्य की प्रामाणिकता सन्देहातीत है तथापि कुमारपाल के जीवन व राज्य की सभी ऐतिहासिक घटनाओं का इसमें उल्लेख नहीं आया है।^३

(१०) अभयदेवदेवसूरिकृत जयन्तविजय (१२२१ ई०)—

अभयदेवसूरिकृत जयन्तविजय महाकाव्य का समय सुनिश्चित है। कवि ने काव्य के अन्त में दी जाने वाली प्रशस्ति में रचना काल का भी निर्देश किया है। इस प्रशस्ति के अनुसार अभयदेव का समय तेरहवीं शताब्दी ई० तथा जयन्त विजय महाकाव्य का समय १२२१ ई० ठहरता है।^४

तीर्थङ्करों एवं सरस्वती देवी की स्तुति से महाकाव्य प्रारम्भ होता है।^५ नगर वर्णन,^६ सरोवर वर्णन,^७ ऋतु वर्णन,^८ युद्ध,^९ मन्त्रणा,^{१०} एवं युद्ध प्रयाण^{११} आदि वर्णनों से महाकाव्योचित वर्ण्य विषयों का सुन्दर विन्यास किया गया है। स्थान-स्थान पर कवि ने अपनी काव्य विषयक मान्यताओं का भी उल्लेख किया

१. Kāvyaṇuśāsana of Ācārya Hemacandra, ed. by Parikh, R.C., and Kulkarni, V.M., p. 61

२. Narang, S.P. Hema Candra's Dvyāśrayakāvya, Delhi, 1972, pp. 46-52

३. मुनि जिनविजय, राजर्षि कुमारपाल, पृ० २

४. तु०—दिवकरिकुलगिरिदिनकर (१२७८) परिमित विक्रमनरेश्वर-सभायाम्। द्वाविंशतिशतमानं शास्त्रमिदं निमित्तं जयतु ॥

—जयन्तविजय, प्रशस्ति-१०

५. जयन्त०, १-१-७

६. वही, सर्ग-१

७. वही, सर्ग-१, तथा ८

८. वही, सर्ग ७

९. वही, सर्ग-१०

१०. वही, सर्ग-७

११. वही, सर्ग-११

है।^१ कुल मिलाकर जयन्त विजय महाकाव्य रस-अलङ्कार के सफलता पूर्वक नियोजन में तथा नाटकीय पंचसन्धियों के विन्यास में भी सफल रहा है। महाकाव्य का कथानक अधिकांश रूप से कवि की कल्पना का परिणाम है फिर भी इसका शिल्पविधान पौराणिक महाकाव्यों की परम्परा के अनुरूप ही विकसित हुआ है।

(११) वस्तुपालकृत नरनारायणानन्द महाकाव्य (१३वीं शती ई०)—

महामात्य वस्तुपाल कृत नरनारायणानन्द महाकाव्य की रचना संभवतः सन् १२३०-३१ ई० में हुई होगी। वस्तुपाल ने सन् १२२१, १२३४, १२३५, १२३६ और १२३७ ई० में गिरनार के लिए यात्रा संघ निकाले थे।^२

१६ सर्गों वाले नरनारायणानन्द महाकाव्य का प्रारम्भ द्वारावती नगर के वर्णन से हुआ है। महाकाव्य के वर्ण्य विषयों में नगर, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन, सुरापान, रतिश्रीड़ा, जलश्रीड़ा, पुष्पावचय, विवाह, विप्रलम्भ, सैन्य निवेश, युद्ध वर्णन आदि प्रमुख हैं। भारवि के किरातार्जुनीय के समान महाकाव्य के चतुर्दश सर्ग में एकाक्षर, द्वयक्षर तथा गोमूत्रिका, मुरज, सर्वतोभद्र, खड्गबन्ध आदि विविध चित्रकाव्यों की योजना की गई है।^३ महाकाव्य में अर्जुन, श्रीकृष्ण, सुभद्रा, बलराम आदि प्रमुख पात्र हैं। अर्जुन महाकाव्य का नायक है और बलराम प्रतिनायक।

(१२) अमरचन्द्रकृत पद्मानन्द महाकाव्य (१३वीं शती ई०)—

महाकवि अमरचन्द्रसूरि गूर्जरेश्वर वीसलदेव के सभापण्डित थे। वीसलदेव का राज्यकाल १२४३-१२६१ ई० था।^४ महामात्य वस्तुपाल तथा अमरचन्द्रसूरि समकालिक थे। इसके अतिरिक्त पाटण के टांगदियावाड़ा के जैन मन्दिर में अमरचन्द्रसूरि की प्रतिमा विद्यमान है जो संभवतः इनकी मृत्यु के उपरान्त लगाई गई थी। उस प्रतिमा में उत्कीर्ण लेख के अनुसार भी अमरचन्द्रसूरि की मृत्यु १२६२

१. तृ०—महाकवीनामपि नव्यकाव्ये दोषाः कदाचित् किल संभविष्णुः ।
प्रमादनिद्रोदयमुद्रया हि क्रोडीक्रियन्ते मुधियां धियोऽपि ॥
जयन्ति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविताप्रवीणाः ।
श्रीखण्डवासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः ॥

—जयन्त०, १.६; १.१७

२. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ३३०
३. नरनारायणानन्द, सर्ग-१४
४. पद्मानन्द महाकाव्य, भूमिका, पृ० ३४

ई० के पूर्व ही हो चुकी थी ।^१ इन तथ्यों के आधार पर अमरचन्द्रसूरि का समय तेरहवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित होता है ।

इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें महच्चरित के रूप में ऋषभदेव का जीवन चरित्र १२ भवों में अंकित किया गया है । महाकाव्य का प्रारम्भ मंगल-स्तुति से हुआ है । नगर-वन-पर्वत, षड्-ऋतु, प्रभात, सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी-समुद्र, युद्ध, एवं मन्त्रणा आदि वर्णनों से पद्मानन्द महाकाव्य में महाकाव्य के लक्षण चरितार्थ होते हैं । पद्मानन्द महाकाव्य में अपने युग की सांस्कृतिक चेतना के तत्त्व भी सुरक्षित हैं ।

(१३) सोमेश्वरदेवकृत कीर्तिकौमुदी (१३वीं शती ई०) —

ऐतिहासिक महाकाव्य कीर्तिकौमुदी के लेखक महाकवि सोमेश्वर हैं ।^२ सर्गान्त में निर्दिष्ट पुष्पिका के अनुसार यह द्योतित होता है कि सोमेश्वर गूर्जर राजाओं के राज-पुरोहित भी थे । १२५५ ई० के माउण्ट आबु स्थित भगनाक्षर शिलालेख से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है ।^३ सोमेश्वर ने भी स्वयं को धवलकक के लवणप्रसाद का पुरोहित बताया है ।^४ काठवाटे महोदय के निष्कर्षानुसार सोमेश्वर अराहिलवाडपट्टण के राजा भीमदेव तथा ढोल्का के लवणप्रसाद के राज-पुरोहित थे ।^५ जैन अमात्य वस्तुपाल ने सोमेश्वर को राज्य संरक्षण दिया हुआ था ।^६ सोमेश्वर ने भी वस्तुपाल के पराक्रमों एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं से प्रभावित होकर प्रस्तुत महाकाव्य का प्रणयन किया ।^७

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य • पृ० ३५२, पाद० टि० ३
२. तु० 'इति श्रीगूर्जेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये—।' कीर्ति०, सर्ग १, पृ० ६
३. 'Kathavate's Introduction to the first edition of Kirti-kaumudi.
—कीर्तिकौमुदी तथा मुकुतसंकीर्तन महाकाव्य, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, सम्पा० मुनि पुण्यविजय सूरि, परिशिष्ट, पृ० ५६
४. वही, पृ० ४६, पाद टि० १
५. वही, पृ० ४६
६. वही, पृ० ४६
७. तु० —विलोचय वस्तुपालस्य, भक्ति चात्मनि निर्भराम् ।
श्री सोमेश्वरदेवेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

—कीर्ति०, १.४६ तथा १.४७

कीतिकीमुदी महाकाव्य का नायक महामात्य वस्तुपाल है। काव्य के लेखक वस्तुपाल के समसामयिक सिद्ध होने के कारण कीतिकीमुदी महाकाव्य का समय १३वीं शताब्दी ईस्वी का पूर्वार्ध निश्चित किया गया है।^१

कीतिकीमुदी महाकाव्य नौ सर्गों में लिखा गया महाकाव्य है। महाकाव्य के सक्षरों की दृष्टि से भी इसका महाकाव्यत्व पुष्ट है। स्वयं कवि को भी इसे महाकाव्य कहना अभीष्ट है।^२ मञ्जलाचरण के प्रारम्भिक पद्यों में ब्रह्मा, शिव, विष्णु, देवी तथा सरस्वती देवी की आराधना की गई है।^३ प्रतिपाद्य विषयों में नगर वर्णन,^४ नरेन्द्रवंश वर्णन,^५ मन्त्रिप्रतिष्ठा वर्णन,^६ दूतसमागम वर्णन,^७ युद्ध वर्णन,^८ पुरप्रमोद वर्णन,^९ चन्द्रोदय वर्णन,^{१०} यात्रासमागम वर्णन^{११} आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। महाकाव्य का नायक सद्गुणाश्रित वस्तुपाल है।^{१२} इस प्रकार कीतिकीमुदी महाकाव्य का ऐतिहासिक कलेवर भी महाकाव्य लक्षणों के अनुरूप ही निबद्ध किया गया है।

(१४) बालचन्द्रसूरिकृत वसन्तविलास महाकाव्य^{१३} (सन् १३वीं शती ई०)

बालचन्द्रसूरि कृत वसन्तविलास महाकाव्य एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इस महाकाव्य में डोल्का के राजा वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल की जीवन घटनाओं का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत रचना वस्तुपाल की मृत्यु के उपरान्त

१. कीतिकीमुदी, परिशिष्ट, पृ० ४५-४६

२. तु० 'सोमेश्वरदेवविरचिते कीतिकीमुदीनाम्नि महाकाव्ये।'

—पुष्पिका, कीर्ति०, सर्ग १

३. कीर्ति०, १.१-६

४. वही, सर्ग-१

५. वही, सर्ग-२

६. वही, सर्ग-३

७. वही, सर्ग-४

८. वही, सर्ग ५

९. वही, सर्ग-६

१०. वही, सर्ग-७

११. वही, सर्ग-८

१२. वही, १.४६-४७

१३. वसन्तविलास, सम्पादक-सी० डी० दलाल, गायकवाड़ ओरियण्टल सोरीज़, बड़ौदा, १९१७

निमित्त हुई^१ अतः वसन्तविलास महाकाव्य संवत् १२६६ (१२३६ ई०) के बाद की रचना है।^२ इस प्रकार वसन्तविलास महाकाव्य का समय ईसा की १३वीं शती होना समुचित प्रतीत होता है।^३

महाकाव्य सरस्वती की वन्दना से प्रारम्भ होता है।^४ इसमें कुल १४ सर्ग हैं। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से महाकाव्य में राजधानी-नगर-वर्णन,^५ ऋतु वर्णन,^६ सूर्योदय,^७ चन्द्रोदय^८ वर्णन, यात्रा वर्णन,^९ केलि वर्णन,^{१०} मन्त्रणा^{११} एवं युद्ध^{१२} वर्णन आदि चित्रित हैं। महाकाव्य का नायक वस्तुपाल श्रीरोदात एवं पराक्रमशाली गुणों से युक्त है।^{१३} वस्तुपाल की विजय यात्राओं तथा सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों की कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन, वस्तुपालचरित आदि अनेक ग्रन्थों में वर्णन प्राप्त होता है। वसन्तविलास महाकाव्य भी वस्तुपाल सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनाओं तथा तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से अवगत कराता है। सोमेश्वर कृत कीर्तिकौमुदी एवं अरिसिंह कृत सुकृतसङ्कीर्तन ग्रन्थों का वस्तुपाल की मृत्यु से पूर्व संभवतः १२८६ ई० से पहले ही निर्माण हो चुका था।^{१४} तदनन्तर बालचन्द्रसूरि ने वस्तुपाल के व्यवितत्व से प्रभावित होकर एवं उपर्युक्त दो ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर प्रस्तुत महाकाव्य का प्रणयन किया। तीनों ग्रन्थों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि वसन्तविलास महाकाव्य ने अधिकांश रूप से कीर्ति० तथा सुकृत० से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है किन्तु इन दोनों ग्रन्थों से प्रस्तुत महाकाव्य अधिक विस्तृत है।^{१५}

१. वसन्तविलास, भूमिका, पृ० १ तथा वसन्त० १-७६

२. तु०—'सम्बत् १२६६ महं वस्तुपालो दिवंगतः', वसन्तविलास, भूमिका, पृ० ८, पाद टिप्पण-१

३. वही, पृ० ११

४. वसन्त०; १-१

५. वसन्त०, सर्ग-१

६. वही, सर्ग-६

७. वही, सर्ग-६

८. वही, सर्ग ८

९. वही, सर्ग-१०, १३

१०. वही, सर्ग-७

११. वही, सर्ग-३

१२. वही, सर्ग-५

१३. वही, १-७४-७५

१४. वही, भूमिका, पृ० १

१५. वही, पृ० ६-१०

(१५) मुनिभद्रकृत शान्तिनाथचरित महाकाव्य (१४वीं शती ई०)—

शान्तिनाथचरित महाकाव्य के रचयिता मुनिभद्र हैं। मुनिभद्र ने शान्तिनाथ चरित में ही रचनाकाल का उल्लेख किया है। इस प्रशस्ति के उल्लेखानुसार शान्तिनाथचरित का रचनाकाल वि० सं० १४१० अर्थात् सन् १३५२ ई० निश्चित है।^१ मुनिभद्र के विषय में भी यह प्रसिद्ध है कि तत्कालीन बादशाह फिरोजशाह तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) इनका बहुत सम्मान करता था।^२

शान्तिनाथचरित महाकाव्य १६ सर्गों में लिखा गया है। १४वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक की कथावस्तु का सम्बन्ध तीर्थङ्कर शान्तिनाथ से है। शान्तिनाथचरित में महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। प्रतिपाद्य विषयों में सन्ध्या-वर्णन, प्रातः काल वर्णन, सूर्योदय वर्णन, ऋतु वर्णन, पर्वत-वन-समुद्र आदि वर्णन, युद्ध वर्णन, संयोग वियोग वर्णन आदि मुख्य कहे जा सकते हैं। शान्तिनाथचरित भी अन्य जैन महाकाव्यों की भाँति कालिदास, भारवि, माघ, अश्वघोष आदि के महाकाव्यों से प्रभावित है।^३

(१६) नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीर महाकाव्य (१४०० ई०)—

नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीर महाकाव्य के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कवि नयचन्द्र तथा हम्मीर समसामयिक नहीं थे। हम्मीर महाकाव्य में यह उल्लेख मिलता है कि हम्मीर ने नयचन्द्र को स्वप्न में दर्शन दिए। इस घटना से नयचन्द्रसूरि को हम्मीर की शौर्यपूर्ण गाथाओं को महाकाव्य का रूप देने की प्रेरणा प्राप्त हुई।^४ श्रीअगरचन्द नाहटा के पास एक हम्मीर महाकाव्य की प्रतिलिपि सुरक्षित होने की सूचना प्राप्त होती है जिसका समय वि० सं० १४८६ (सन् १४३० ई०) है।^५ इस प्रकार हम्मीर महाकाव्य का समय १३६१ ई० से १४०० ई० के मध्य माना जाता है।

हम्मीर महाकाव्य में चौदह सर्ग हैं। हिन्दू देवताओं एवं जैन तीर्थङ्करों से सम्बद्ध स्तुति से महाकाव्य का प्रारम्भ हुआ है। यह एक उल्लेखनीय विशेषता है

१. अन्तरिक्षरजनीहृदीश्वरब्रह्मवक्त्रशशिसंख्यवत्सरे ।

वैकमे शुचितयोजयातिथी शान्तिनाथचरितं व्यरच्यत ॥

—शान्तिनाथचरित, प्रशस्ति-१७

२. वही, प्रशस्ति-६

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य० पृ० २२६

४. हम्मीर०, १४.२६

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ६४, पृ० ६७

कि नयचन्द्र यद्यपि जैन धर्मानुयायी था किन्तु हिन्दू धर्म के लोकप्रिय देव 'शिव' की प्रारम्भ में स्तुति करना तथा अपने महाकाव्य के नायक के रूप में चाहमान वंशीय हम्मीर के उदात्त एवं शौर्यपूर्ण गाथा का चित्रण करना कवि की सहिष्णुता एवं उदारता का प्रतीक है। महाकाव्य में नगर, समुद्र, वन, प्रातःकाल, सन्ध्या, चन्द्रोदय ऋतुवर्णन, पुत्रोत्पत्ति, सुरतोत्सव, मन्त्रणा, सैन्य सञ्चालन, एवं घमासान युद्ध के वर्णन हुए हैं। हम्मीर महाकाव्य को 'वीराङ्क' की संज्ञा दी गई है।^१ संभवतः यह 'वीर' संज्ञा द्वयर्थक हो, प्रथम, हम्मीर के वीरतापूर्ण कृत्यों का प्रतीक रहा होगा, दूसरे, कवि ने अपने आश्रयदाता 'वीरम्' को प्रसन्न करने के लिए 'वीर' शब्द का प्रयोग किया हो। इस प्रकार 'लक्ष्म्यङ्क' 'श्र्यङ्क' आदि महाकाव्यों से प्रेरित होकर कवि ने हम्मीर महाकाव्य को 'वीराङ्क' की संज्ञा दी है।

निष्कर्ष —

इस प्रकार प्रस्तुत प्रस्तावना अध्याय में दो मुख्य समस्याओं पर विचार किया गया है। प्रथम समस्या साहित्य में सामाजिक परिस्थितियों के अन्वेषण के औचित्य से सम्बद्ध है तो द्वितीय समस्या शोध प्रबन्ध के मूल स्रोत-ग्रन्थों जैन संस्कृत महाकाव्यों की परिचयात्मक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध है। इन दोनों समस्याओं को मध्य रखते हुए जैन संस्कृत महाकाव्यों के सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्यों का प्रतिपादन किया जा सकता है—

१. साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा महाकाव्य समाज-शास्त्रीय मूल्यों तथा युगीन सामाजिक परिस्थितियों के प्रति सदैव चेतनशील रहती है।

२. सामाजिक परिस्थितियाँ समाज की राजनैतिक, भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक आदि वातावरणों से एकीभूत होकर प्रभावित होती हैं।

३. जैन संस्कृत महाकाव्य भी जैन संस्कृति की सामुदायिक वर्ग चेतना से प्रभावित होकर निमित्त हुए हैं।

४. महाकाव्य विकास की विश्वजनीन प्रवृत्ति के अनुरूप ही प्राचीन भारतीय महाकाव्य परम्परा समाजोन्मुखी दिशा में निमित्त हुई तथा जैन संस्कृत महाकाव्यों का भी इसी सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है।

५. ८वीं शताब्दी ई० से १४वीं शताब्दी ई० तक के सामन्तयुगीन मध्यकालीन भारत से सम्बद्ध लगभग १६ जैन संस्कृत महाकाव्य महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से सफल महाकाव्य होने के साथ-साथ युगीन चेतना के अनुरूप सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। ये जैन महाकाव्य मध्यकालीन भारतीय समाज के राजनैतिक, आर्थिक, भौगोलिक, धार्मिक, शैक्षिक, दार्शनिक आदि विविध पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

द्वितीय अध्याय

राजनैतिक शासन तन्त्र एवं राज्य व्यवस्था

१. राजनैतिक शासनतन्त्र

भारतीय शासन तन्त्र—

प्राचीन धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में 'राज्य' के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक विशुद्ध रूप से राजशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें राजनीति के विविध तत्त्वों को 'अर्थ' से सम्बद्ध करते हुए राजा एवं राज्य विषयक मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। भारतीय राजशास्त्र की यह विशेषता रही है कि उसमें सम्पूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त 'धर्म' पर ही आधारित हैं। राजनीति पर 'धर्म' के इस गहरे प्रभाव से व्यावहारिक एवं राजतन्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का स्वतन्त्र विकास नहीं हो पाया। इस सम्बन्ध में पी० बी० काणे महोदय की यह धारणा रही है कि भारतीय राजशास्त्रियों ने धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों में राजा के समक्ष जितने भी नैतिक आदर्श रखे हैं वे लगभग २००० वर्षों तक भारतीय इतिहास में एक ढाँचे के रूप में गतिशील न होकर स्थिर ही रहे हैं।^१ यहाँ तक कि भारतवर्ष में विदेशी शक्तियों ने भी अपने पांव जमा लिए किन्तु फिर भी युगीन चिन्तक 'राजा' के विषय में परम्परागत मूल्यों की ही पुनरावृत्ति करते रहे। भारतीय राजनैतिक चिन्तन का मूलाधार 'राजा' अथवा 'राज्य' है इसलिए आवश्यक होगा कि राज्य के सम्बन्ध में पहले आधुनिक समाजशास्त्रीय परिभाषाओं तथा विवेच्य युग से पूर्ववर्ती शासन-तन्त्र संबंधी मान्यताओं पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली जाए।

'राज्य' विषयक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण —

समाज शास्त्र के अनुसार समाज की विविध 'संस्थाएं' व 'समितियाँ' होती हैं।^२ उनमें से राज्य भी एक प्रमुख 'संस्था' है जो व्यवस्थित सङ्गठन के रूप में

१. पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, लखनऊ, १९६५, पृ० ६९६

२. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६-८

समाज के मुख्य उद्देश्यों के सिद्धान्तों का नियमन करता है। 'अरस्तू' 'राज्य' को 'समुदाय' के रूप में स्वीकार कर इसका 'समाज' से अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। 'समाज' गांव, नगर आदि विविध समुदायों से समग्र रूप से सम्बद्ध रहता है जबकि 'राज्य' का इनसे केवल मात्र राजनैतिक सम्बन्ध ही अधिक होता है। अतः 'समाज' 'राज्य' से कहीं अधिक व्यापक है।^१ प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'मैकाइवर' मानते हैं कि 'राज्य' 'समाज' की अन्य 'संस्थाओं' तथा 'समितियों' के समान ही एक 'संस्था' विशेष है जिसका मुख्य उद्देश्य समाज में नियमन करना है।^२ बोसांक्वेट ने 'राज्य' को दो अर्थों में प्रयोग किया है। ये एक अर्थ के अनुसार 'राज्य' को 'राजनैतिक सङ्गठन' समझते हैं तथा दूसरे अर्थ में 'राज्य' को सामाजिक नियंत्रण सम्बन्धी एक ऐसी 'संस्था' विशेष भी मानते हैं, जो परिवार, धर्म, शिक्षा, नागरिक अधिकार आदि के सम्बन्ध में नियंत्रणात्मक निर्देश देता है।^३ 'राज्य' की यह दूसरी परिभाषा 'समाज' तथा 'राज्य' के समान प्रयोजनों की ओर इङ्गित करता है तथा समाज में इसकी व्यापकता को भी चरितार्थ करता है।

'राज्य' की परिभाषा करते हुए कुछ दूसरे समाजशास्त्री तथा 'बहुतववादी' (प्लुरलिस्ट) विचारकों की मान्यता है कि 'राज्य का सम्बन्ध सदा कुछ राजनैतिक सङ्गठनों से रहता है अतः इसको एक पृथक् 'राजनीति शास्त्र' की क्षेत्र-सीमा के अन्तर्गत ही स्वीकार करना चाहिए। इन विचारकों के अनुसार व्यक्ति 'राज्य' के अधिकार के लिए बहुत निर्बल तथा असमर्थ है क्योंकि सदैव 'राज्य' को प्राप्त करने के लिए एक बहुत बड़े सङ्गठन, नेतृत्व, युद्ध-सामर्थ्य आदि की आवश्यकता होती है जिसके लिए कुछ 'राजनैतिक सङ्गठन' ही समर्थ होते हैं।^४ इस प्रकार समाज-शास्त्रियों का यह दूसरा वर्ग 'राज्य' को समाज से पृथक् मानकर इसकी प्रवृत्तियों की ओर अध्ययनरत है। वास्तव में देखा जाए तो 'समाज' से 'राज्य' को भिन्न मानने वाले सामाजिक विचारक मध्यकालीन यूरोपीय राज्य व्यवस्था से बहुत प्रभावित थे।^५ यूरोप के इतिहास में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने सम्बन्धी दैवी सिद्धान्तों का राजाओं ने दुरुपयोग भी किया था तथा शक्ति प्रयोग द्वारा सम्पूर्ण समाज पर नियंत्रण पाना चाहा। आधुनिक युग के विचारकों की यह धारणा है कि इन राजनैतिक परिस्थितियों से समाजशास्त्री भी दबाव में आकर यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि राजाओं द्वारा किए जाने वाले अनुचित दण्ड

१. विश्वनाथ वर्मा, राजनीति और दर्शन, पटना, १९५६, पृ० १३६

२. रामनाथ शर्मा, समाज शास्त्र के सिद्धान्त, भाग-२, पृ० ३१८

३. Bosanquet, Philosophical Theory of the State, p. 149

४. Roucek, J.S., Social Control, New York, 1965, p. 80

५. वही, पृ० ८०

प्रयोग आदि 'शक्ति-अधिकार' के उदाहरण सर्वथा राजतन्त्रीय हैं तथा 'समाज' के प्रयोजनों से प्रेरित 'समाजशास्त्र' को इसमें अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।^१ एक बार समाज जिसे भी शासक का अधिकार सौंप देता है तो उसके बाद यदि समाज उसे हटाना भी चाहे तो नहीं हटा सकता। यदि कोई दूसरा शक्तिशाली 'राजनैतिक सङ्गठन' इस शासक को पदच्युत कर देता है तो पुनः वही शासन का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार 'राज्य' में शासकत्व सामर्थ्य शक्ति से अनुप्रेरित एक यथार्थ-तत्त्व है न्याय-तत्त्व नहीं।^२ इन्हीं कुछ विचारों की पृष्ठभूमि में 'राज्य' को कुछ समाजशास्त्री राजनीतिशास्त्र का विषय मानकर इसकी सामाजिक उपादेयता को शिथिल बनाना चाहते हैं। किन्तु दूसरे सामाजिक विचारक 'राज्य' को 'समाज' के सन्दर्भ में एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं। इस सन्दर्भ में हर्बर्ट स्पेन्सर तथा महात्मा गांधी जी के 'राज्य' संबंधी विचारों का उल्लेख कर देना प्रासङ्गिक होगा। स्पेन्सर सदैव 'राज्य' तथा 'शासन तन्त्र' के घोर विरोधी रहे हैं। स्पेन्सर की मान्यता है कि समाज में अनैतिकता को दूर करने का कार्य 'राज्य' का है और यदि समाज में अनैतिकता न रहे तो 'राज्य' की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।^३ गांधी जी के राम-राज्य की कल्पना का अभिप्राय भी एक 'राज्य' विहीन शासन से था। एक ऐसा शासन जिसमें लाखों करोड़ों लोगों का कोई भी शासक नहीं होगा बल्कि देश के समस्त नागरिक ही अपने शासक स्वयं होंगे। गांधी जी के अनुसार राज्य 'शक्ति का सङ्गठन' है जो सदैव निर्धनों एवं शक्तिहीनों का शोषण करता है इसलिए एक अहिंसक समाज के लिए 'राज्य' सबसे बड़ा बाधक है।^४

पश्चात्त्य विद्वानों ने 'राज्य' के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनमें से सामाजिक अनुबन्ध,^५ विकासवाद,^६ सावयववाद,^७ दैवी अधिकार-

१. महादेव प्रसाद, समाज दर्शन, काशी, १९६८, पृ० २२१
२. किंग्सले डेविस, मानव समाज, अनुवादक, गोपाल कृष्ण अग्रवाल, इलाहाबाद, १९७४, पृ० ४२५
३. तेजमल दक, सामाजिक विचार एवं विचारक, अजमेर, १९६१, पृ० १०४
४. वही, पृ० ३५१
५. तुल०—काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ० ५६३-६४, तथा सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, १९६८, पृ० ३०२
६. सत्यकेतु, प्राचीन भारतीय शासन०, पृ० २६८
७. वही, पृ० ३१०

वाद^१ आदि सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं—

भारतीय विचारकों के 'राज्य' विषयक सिद्धान्त—

सत्यकेतु विद्यालङ्कार महोदय ने उपर्युक्त 'राज्य' सम्बन्धी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की भारतीय धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में अन्विति बिठाई है जिससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने तात्त्विक दृष्टि से भी राज्य के स्वरूप पर विचार किया था।^२ प्राचीन भारतीय राजनीति से सम्बद्ध 'मात्स्य न्याय',^३ 'सायव्य सिद्धान्त'^४ तथा 'दैवी सिद्धान्त'^५ पाश्चात्य सिद्धान्तों से बहुत कुछ साम्यता रखते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का राज-शास्त्रीय चिन्तन निःसन्देह भारतीय राजनैतिक विचारों के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज-विद्याओं के प्रश्न को लेकर मतवैभिन्न्य रहा था जिसका कौटिल्य ने संकेत भी दिया है। ये विचारधाराएं तीन प्रकार की थीं—१. मनु आदि द्वारा त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति—तीन विद्याओं को ही राजविद्या मानना, २. बृहस्पति आदि के अनुसार वार्त्ता एवं दण्डनीति को ही राजविद्या के रूप में स्वीकार करना, तथा ३. उशना आदि आचार्यों द्वारा केवल मात्र दण्डनीति को ही राज-विद्या के रूप में ग्रहण करना। इन तीन विचारधाराओं के आधार पर प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने 'धर्मप्रधान', 'अर्थप्रधान' तथा 'दण्डप्रधान' राजनीति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।^६

इस प्रकार भारतीय राजशास्त्र के ग्रन्थों में महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण एवं स्मृति-ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन ग्रन्थों में राजनीति विषयक जितने सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है वे युगानुसारी राज्य-संस्थाओं के लिए सदैव अनुकरणीय माने जाते रहे हैं। आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्यों का युग ऐतिहासिक दृष्टि से मध्य-युग कहलाता है। इस काल में भी इन ग्रन्थों की मान्यताओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मध्य-युग जोकि राजनैतिक चेतना की दृष्टि से 'सामन्त-युग' भी कहलाता है, क्रमशः वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल तथा साम्राज्य काल (५०० ई० पू० से ६०० ई० तक) से उत्तरवर्ती है।

१. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ० ५६४

२. सत्यकेतु, प्राचीन भारतीय शासन०, पृ० २६८-३१०

३. महाभारत, शान्ति०, ६६.१६

४. शुक्रनीतिसार, ५.१२.१३

५. मनु० ७.४ तथा मात्स्यपुराण, २२६.१

६. श्यामलाल पाण्डेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, लखनऊ, १९६४, पृ० १०

सामन्त युगीन मध्यकालीन 'राज्य' संस्था का स्वरूप—

लगभग सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी ई० तक के भारतीय इतिहास को मध्य-युग की संज्ञा दी जाती है।^१ राजनैतिक अराजकता इस युग की विशेषता है। छठी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के अन्त के साथ भारत के उत्तरी भाग में तुर्क-प्रक्रमानों आदि आक्रान्ताओं के शासन स्थापित होने प्रारम्भ हो गए थे। राजनैतिक एकता के अभाव के कारण सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। साम्राज्य काल में विद्यमान राजनैतिक एकता तथा राष्ट्रीय भावना का स्थान अब वैयक्तिक शक्ति-संवर्धन तथा सामन्तवादी प्रवृत्तियों ने ले लिया था। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में पाल, गुर्जर-प्रतीहार, कर्कोटक आदि तथा दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव, गङ्गा, चोल आदि राजवंशों के अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तथा इन्हीं राज्यों में ही उत्थान-पतन होता रहा। कभी कोई एक राजवंश शक्ति में आ जाता था तो अन्य निर्बल राज्यों को उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। प्रायः राजा दिग्विजय के लिए प्रयाण करते थे और अन्य राजाओं को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करते हुए विभिन्न भेंटों, उपहारों आदि से कोष संचय करने एवं सैन्यशक्ति जुटाने में ही विशेष प्रयत्नशील थे। गुप्त वंश के काल से ही सामन्त पद्धति (पघडल सिस्टम) का बीजारोपण हो चुका था, परिणामतः विवेच्य युग में सामन्त-पद्धति पूरे वेग से विकसित हो रही थी।^२ यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में पाई जाने वाली सामन्ती प्रवृत्तियाँ भारत में भी प्रतिष्ठित होने लगी थीं और राजनैतिक जगत् में 'मात्स्यन्याय' ही सर्वोपरि बन चुका था। नैतिकता एवं राजशास्त्रोक्त आदर्शों के अभाव के कारण इस युग की अराजकता अथवा अन्धकार-युग की संज्ञा भी दी जाती है। सामन्त-पद्धति के कारण यह सम्भव ही नहीं हो पाया कि राजा प्रजा के हितों की ओर ध्यान दे क्योंकि उसकी सम्पूर्ण शक्ति तथा कोष का उपयोग आत्मरक्षण अथवा साम्राज्य-विस्तार पर ही होने लगा था। इस युग के राजनैतिक विचारकों में स्मृतिकारों तथा निबन्ध-ग्रन्थ-लेखकों का आधिपत्य पाया जाता है। इन विचारकों ने भी 'राजनीति' को कोई नया मोड़ नहीं दिया अपितु प्राचीन धर्मशास्त्रों के वचनों की पुनरावृत्ति मात्र ही की है। इन स्मृतियों ने जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था आदि सामाजिक सङ्कीर्णताओं का विशेष प्रचार किया है। फलतः राजनैतिक वातावरण की राष्ट्रीय पृष्ठभूमि का स्थान अब किसी संस्कृति विशेष अथवा समुदाय विशेष ने ले लिया था। ब्राह्मण संस्कृति तथा जैन संस्कृति को प्रश्रय देने के बहाने से ही कई महत्त्वपूर्ण राजवंशों ने साम्प्रदायिक आधार पर ही राज्य किया। आलोच्य युग की

१. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० २७०

२. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ६६६

इन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में जैन संस्कृत महाकाव्यों से प्राप्त राजनैतिक वर्णनों का आकलन किया गया है—

जैन संस्कृत महाकाव्यों में शासन तंत्र विषयक विचार—

१. सप्ताङ्ग राज्य—

शासन तंत्र के सात अङ्ग स्वीकार किए गए हैं—१. स्वामी, २. अमात्य, ३. राष्ट्र अथवा जनपद, ४. दुर्ग, ५. कोष, ६. दण्ड तथा ७. मित्र ।^१ जैन संस्कृत महाकाव्यों में सिद्धांत रूप से राज्य के सात अङ्गों को स्वीकार किया गया है ।^२ द्विसन्धान महाकाव्य के टीकाकार ने 'प्रकृतिषु सप्तसु स्थितिः' की व्याख्या करते हुए सप्ताङ्ग राज्य के अन्तर्गत इन्हीं अङ्गों को स्वीकार किया है जो प्राचीन राजनीति-शास्त्रज्ञों को भी मान्य थे ।

२. षड्विध बल—

'षड्विध बल' की व्याख्या प्रायः छः प्रकार की सेनाओं के रूप में की जाती है । ये छः प्रकार की सेनाएं हैं—(१) 'मौल' (वंशपरम्परानुगत) (२) 'भूत', 'भूतक' या 'भूत्य' (वेतन भोगी सेना), (३) 'श्रेणी' (व्यापारियों या अन्य

१. तु०—(क) स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः ।

—अर्थशास्त्र, ६.१

(ख) स्वाम्यमात्यो पुरं राष्ट्रं कोशदण्डी सुहृत्तथा ।

सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥

—मनु०, ६.२६४

(ग) स्वाम्यमात्यः सुहृत्कोशो राष्ट्रं दुर्गं तथा बलम् ।

प्राकृतं सप्तकं प्रोक्तं नीतिशास्त्रविशारदः ॥

—कामन्दकनीति, ४.१

२. तु०—(क) भूत्यांश्च मित्राण्यथ कोशदण्डानमात्यवर्गाञ्जनतां च दुर्गान् ।

—वराह्म०, २६.४०

(ख) अङ्गानि राज्यस्य महात्मना स्वयं, सप्तापि गोप्यानि सदाऽपि मन्त्रिणा ।

—पद्मा०, ३.१००

(ग) सप्तकं स्थिराऽभवत् प्रकृतिषु सप्तसु स्थितिः ।

—द्विस०, २.११

(घ) राज्यं न सप्ताङ्गमिदं विधत्ते धर्माणि पुंसां गुरालालसान्तम् ।

—शान्ति०, २.१३४

समुदायों की सेना), (४) 'मित्र' (मित्रों या सामन्तों की सेना), (५) 'अमित्र' (ऐसी सेना जो कभी शत्रु पक्ष की थी) तथा (६) 'अटवी' या 'आटविक' (जंगली जातियों की सेना)।^१ 'षड्विधबल' की संख्या या स्वरूप में अन्तर भी देखने को मिलता है। राजा शम्भुकृत 'बुधभूषण' नामक राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थ में मौल, भूत, श्रेणी, सुहृद्, द्विषद्, आटविक नामक जो छः भेद माने गए हैं उनमें 'भूत' बेतन भोगी सेना है तो 'श्रेणी' गमन मार्ग के स्थान पर नियोजित सेना कही गई है।^२ सभापर्व में चतुर्विध सेना का उल्लेख है। जिनमें 'श्रेणी' एवं 'अमित्र' का उल्लेख नहीं है।^३ युद्धकाण्ड में पाँच प्रकार (श्रेणि रहित) की सेनाएं वर्णित हैं।^४ वैदम्पायनकृत 'नीतिप्रकाशिका' मौल, वैत्र, भृत्य, आटविक नामक चतुर्विध बल का ही उल्लेख करती है।^५ इस प्रकार हम देखते हैं कि 'षड्विधबल' की धारणा समय और परिस्थितियों की दृष्टि से पृथक् रही थी। विविध राज्य-व्यवस्थाओं में इसकी स्थिति किंचित् प्रकारान्तरों से प्रचलित रही थी।

द्विसन्धान के अनुसार राज्य के 'षड्विधबल' का विशेष महत्त्व है।^६ टीकाकार नेमिचन्द्र ने 'षड्विधबल' की व्याख्या करते हुए इसके अन्तर्गत (१) मौल (२) भूतक (३) श्रेणी (४) आरण्य (५) दुर्ग तथा (६) मित्र नामक छः प्रकार की सेनाओं को स्वीकार किया है।^७ चन्द्रप्रभचरित में उपर्युक्त पारिभाषिक षड्विध बलों में से 'मौल' 'आटविक' (आरण्य) 'सामन्तबल' (मित्र) के उल्लेख द्विसन्धान के 'षड्विधबल' को शासनतन्त्रीय पारिभाषिक तत्त्व के रूप में स्पष्ट कर देते हैं।^८ चन्द्रप्रभ० के टीकाकार ने भी 'मौल' के अन्तर्गत मन्त्री,

१. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ० ६७७
२. तु०—'मौलं भूतं श्रेणिं सुहृद् द्विषदाटविकं बलम्'—बुधभूषण, २.१८६ पर उद्धृत टीका—'भूतं यावद्विभवस्थायि । 'श्रेणि' गमनमार्गे स्थाने निवेशितम्'
३. सभापर्व, ५.६३
४. युद्धकाण्ड, १७.२४
५. तु०—'चतुर्विधबला चमूः' नीतिप्रकाशिका, १.५५ पर उद्धृत टीका—'चतुर्विधबला मौल-वैत्र-भृत्याटविकैर्बलैर्विधुता'
६. द्विस०, २.११
७. तु०—'तच्च मौलभूतकश्रेण्यदुर्गामित्रभेदम् ।'
—द्विस० २.११ पर नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका, पृ० २७
८. तु०—विधाय मौलं बलमात्मभूले स नीतिमानाटविकं बहिः स्थितम् ।
मध्ये च सामन्तबलं बलीयश्चाला चूडामणिभासिताशः ॥

पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कर्माधिकारी, कोशागारिक, देवज्ञ, 'आटविक' के अन्तर्गत शबर सेना तथा 'सामन्तबल' के अन्तर्गत मित्र राजाओं की सेना की स्थिति मानी है।^१ इस प्रकार 'षड्विधबल' का उल्लेख सैनिक सङ्गठन के सन्दर्भ में किया गया है।^२ 'श्रेणी' बल के अन्तर्गत उन अठारह तत्त्वों को स्वीकार किया गया है जिनका सैन्यबल की अपेक्षा राज्य व्यवस्था एवं सङ्गठन की दृष्टि से अधिक महत्त्व रहा था।^३ नेमिचन्द्रकृत पदकौमुदी टीका के अनुसार 'षड्विधबल' का स्वरूप इस प्रकार है—

१. मौल^४—वंशपरम्परागत क्षत्रियादि सेना ।

२. भूतक^५—पदाति सेना अथवा वेतन के लिए भरती हुई सेना ।

३. श्रेणी^६—सेनापति, गणक, राजश्रेष्ठौ, दण्डाधिपति, मन्त्री, महत्तर, तलवर, चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र), चतुरङ्गिणी सेना (पदाति, शस्त्र, गज तथा रथ सेना), पुरोहित, अमात्य तथा महामात्य।^७ काणे महोदय ने श्रेणी बल के अन्तर्गत व्यापारियों तथा अन्य जन समुदायों की सेना को स्वीकार किया है।^८

४. आरण्य^९—भील आदि जङ्गली जातियों की सेना।^{१०} प्रायः इसे 'शबर'^{११}

१. 'मन्त्रिपुरोहितसेनापतिदुर्गाधिकारिकर्माधिकारीकोशागारिकदेवज्ञा इति सप्त-विधं मौलं बलम् । आटविकं शबरबलम् । सामन्तबलं राजां बलम् ।'

—चन्द्र० ४.४७ पर मुनिचन्द्र कृत विद्वन्मनोवत्सभा टीका, पृ० १०६

२. द्रष्टव्य—नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ५३

३. तु०—'श्रेणयोऽष्टादश—सेनापतिः, गणकः, राजश्रेष्ठौ, दण्डाधिपतिः, मन्त्री महत्तरः, तलवरः, चत्वारो वर्णाः, चतुरङ्ग-बलं, पुरोहितः, अमात्यो, महामात्यः ।'—द्विसन्धान २.११ पर नेमिचन्द्रकृत पदकौमुदी टीका, द्विसन्धान, पृ० २७

४. तु०—'मौलं पट्टसाधनम्'

—द्विस. २.११, पदकौमुदी टीका, पृ० २७

५. तु०—'भूतकं पदाति-बलम् ।' —द्विस०, २.११, पद०, पृ० २७

६. द्विस०, २.११ पर पदकौमुदी टीका, पृ० २७

७. बराङ्ग०, ११.६३

८. पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ६७७

९. 'आरण्यमाटविकम्' —द्विस० २.११, पदकौमुदी, पृ० २७

१०. नेमिचन्द्र, संस्कृत काव्य; पृ० ५३१

११. तु० 'आटविकं शबरबलम्' —चन्द्र० ४.४७ पर विद्वन्मनो०, पृ० १०६

‘पुलिन्द’^१, ‘घाटविक’^२; ‘पार्वतीय’^३ आदि भी कहा जाता था ।

५. दुर्ग^४—दुर्ग में लड़ने वाली सेना, जो प्रायः जङ्गली जातियों से निर्मित सेना होती थी ।^५

६. मित्र^६—सामन्त अर्थात् मित्र राजाओं की सेना ।^७

शासन तन्त्र के अन्तर्गत उपर्युक्त षड्विध सैन्य बल का विशेष महत्त्व था ।

३. त्रिविध-शक्ति—

महाभारत में त्रिविध शक्तियों का उल्लेख हुआ है ।^८ ये त्रिविध शक्तियाँ हैं—‘उत्साह’, ‘प्रभु’ एवं ‘मन्त्र’-शक्ति । ‘उत्साह’ शक्ति को विक्रम बल, ‘प्रभु’ शक्ति को कोश बल, एवं ‘मन्त्र’ शक्ति को ज्ञान बल कहा जाता है ।^९ कामन्दक ने और अधिक स्पष्ट करते हुए तीन शक्तियों को परिभाषा की है । षड्गुण्य आदि का नीति निर्धारण ‘मन्त्र’ शक्ति है, कोष एवं सैन्य शक्ति ‘प्रभु’ शक्ति कहलाती है तथा विजयीषु राजा की साम्राज्य विस्तार के प्रति प्रकट की गई पराक्रमणपूर्ण क्रियाशीलता ‘उत्साह’ शक्ति का स्रोतक है । तीन शक्तियों से युक्त राजा सदैव विजयी होता है ।^{१०} जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी राजा के लिए उपर्युक्त तीन शक्तियों की आवश्यकता पर बल दिया गया है । चन्द्रप्रभ० के अनुसार चक्रवर्ती अजितसेन

१. तु० पुलिन्दकानां वणिजां च धोरं मुहूर्तमेव समयुद्धमासीत् ।

—बराह्म०, १४.२३

२. चन्द्र०, ४.४७

३. जयन्त०, ११.४२

४. तु० दुर्गधूलिकोटपर्वतादि, द्विस० २.११, पर पद-कौमुदी, पृ० २७

५. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ५३२

६. तु०—‘मित्रं सौहृदम्’ —द्विस०, २.११ पर पद-कौमुदी, पृ० १७

७. तु०—‘सामन्तबलं राज्ञां बलम्’—चन्द्र० ४.४७ पर विद्वन्मनो०, पृ० १०६

८. महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, ७.६

९. तु०—‘शक्तिस्त्रिविधा—ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः, कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः ।

—अर्थ०, ६.२

१०. तु०—मन्त्रस्य शक्तिं सुनयोपचारं सुकोशदण्डौ प्रभुशक्तिमाहुः ।

उत्साह-शक्तिं बलवद्विचेष्टां विशक्तियुक्ता भवतीह जेता ।

—कामन्दक०, १५.३२

त्रिविधशक्तिसम्पन्न राजा था ।^१ द्विसन्धान^२ वराङ्गचरित^३ आदि महाकाव्यों में भी तीन शक्तियों का उल्लेख हुआ है ।^४ द्विसन्धान के टीकाकार ने तीन शक्तियों की 'स्वपरविधायी' तथा 'विभूति-हेतु'—इन दो विशेषताओं को स्वीकार किया है ।^५ द्विसं० टीका के अनुसार शक्ति-क्रम इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—प्रभुशक्ति मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्ति ।^६

(४) षाड्गुण्य—

महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार^७ आदि राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार जैन संस्कृत महाकाव्यों^८ में भी शासन तन्त्र के 'सन्धि', 'विग्रह',

१. शक्तिभिस्तिष्ठतिभिरन्विताऽभवद्यः । —चन्द्र०, ७.६६

तु०—शक्तिभिः प्रभूत्साहमन्त्रशक्तिभिः ।

—चन्द्र० ७.६६ पर विद्वन्मनो० टीका, पृ० १८८

२. तु०—अनारतं तिसृषु सतीषु शक्तिषु त्रिवर्ग्यपि व्यभिचरति स्म न स्वयम् ।

—द्विसं०, २.१४

३. तु०—'उत्साहमन्त्रप्रभुशक्तियोषाञ्जयानयोध्याधिपतिः क्षितीशाम्' वराङ्ग,
१६.६०, 'त्वंचापि शक्तित्रयमभ्युपेतः', १६.६२, स्वान्मन्त्रिणो
मन्त्रगुणप्रवीणान्', १६.७६

४. आदिपुराण, ८.२५३

५. तु०—'तिसृषु शक्तिषु प्रभुमन्त्रोत्साहलक्षणानु स्वपरज्ञानविधायिन्यः प्रभु-
मन्त्रोत्साहशक्तिरूपास्तिस्रः शक्तयो भूभूतं विभूति-हेतवः । उक्तञ्च—
तिस्त्रो हि शक्तयः स्वामिमन्त्रोत्सहोपलक्षणाः ।

स्वपरज्ञा विधायिन्यो राज्ञां राज्यस्य हेतवः ॥'

—द्विसं०, २.१४ पर पद० टीका, पृ० १६

६. तु०—द्विसं०, २.११ पर—'तथाचोक्तम्—प्रभुशक्तिर्भवदाद्या मन्त्रशक्ति-
द्वितीयका । तृतीयोत्साहशक्तिश्चेत्याहुः शक्तित्रयं बुधाः । पद-कौमुदी
टीका, पृ० २०३

७. शुक्र०, ४.१०६५-६६

८. तु० (क) विदितारिबला प्रयुञ्जते ननु षाड्गुण्यमूदारबुद्धयः ।

—चन्द्र०, १२.१०४

(ख) सन्ध्याश्रयस्थानगुणैः प्रसिद्धिः । —वराङ्ग०, १६.६४

(ग) सुखाय सन्धिप्रमुखा गुणाः षट् । पदमा०, ६.१६

(घ) योगक्षेमस्यतयोः षड्गुणास्ते योनिस्तेभ्यः ।

—द्विसं०, ११.१५ पर

'ते षड्गुणा सन्धिविश्रह्यानाशासनसंश्रयद्वैधीभावलक्षणाः योनिः ।'

—पदकौमुदी टीका, पृ० २०४

‘यान’, ‘आसन’, ‘संश्रय’ तथा ‘द्वैधीभाव’ इन छः गुणों का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में ‘संधि’ अर्थात् दो राज्यों के मध्य सौहार्दपूर्ण एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्ध, ‘विग्रह’ अर्थात् युद्ध, ‘यान’ (अथवा यात्रा) अर्थात् युद्ध प्रयाण तथा शत्रु राजा के नगर को घेर लेना, ‘आसन’ अर्थात् युद्ध का कृत्रिम भय प्रदर्शित करना किन्तु स्वयं को असमर्थ देखकर युद्ध के प्रति निरुत्साही हो जाना, ‘संश्रय’ अर्थात् किसी अन्य शक्तिशाली राजा की शरण लेना तथा ‘द्वैधीभाव’ अर्थात् शत्रु से मित्रता एवं शत्रुता पूर्ण द्विविध सम्बन्धों का परराष्ट्र नीति की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।^१ वराहमिहिर में राजा इन्द्रसेन के मन्त्रिमण्डल में इन छः नीतियों का व्यावहारिक स्वरूप विशेष रूप से उभर कर आया है।^२ जैन संस्कृत महाकाव्यों में ‘षाड्गुण्य’ के देशकालानुसारी प्रयोग की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।^३ संभवतः ‘षाड्गुण्य’ राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। दूसरे शब्दों में ‘साम’, ‘दान’, ‘भेद’, ‘दण्ड’, इन चतुर्विध उपायों का ‘षाड्गुण्य’ के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति शास्त्र के ग्रन्थों में तथा जैन संस्कृत महाकाव्यों में चतुर्विध-उपायों को ‘षाड्गुण्य’ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त ‘साम’, ‘दान’, ‘भेद’, ‘दण्ड’ के व्यावहारिक प्रयोग के क्रमों तथा योग्यता आदि के विषय में भी निर्देश प्राप्त होते हैं, किन्तु ‘षाड्गुण्य’ के विषय में इस प्रकार के प्रायोगिक स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है।

(५) चतुर्विध उपाय—

राजनीति शास्त्र के ग्रन्थों के निर्देशानुसार ‘साम’, ‘दान’, ‘भेद’ तथा ‘दण्ड’ इन चतुर्विध उपायों का परराष्ट्र-नीति-निर्धारण में विशेष महत्त्व है।^४ ‘साम’ के

१. तु०—‘तत्र पणबन्धः सन्धिः। अपकारो विग्रहः। उपेक्षणमासनम्। अश्रुचचयो यानम्। परार्पणं संश्रयः। सन्धिविग्रहोपदानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः।’

—अर्थ०, द.१.१-११ तथा विशेष द्रष्टव्य—

Jauhari, Manorama, Politics and Ethics In Ancient India Varanasi, 1968, pp. 192-99.

२. वराह०, १६.५०-७५

३. दिस०, ११.१५, चन्द्र०, १२.१०४

४. महा०, आदि० २०२.२०; मनु०, द.१.६८; अर्थ, २.१०

अन्तर्गत दो राज्यों में मित्रतापूर्ण एवं परोपकारिता की भावना रहती है।^१ निर्बल राजा शक्तिशाली राजा को उपहारादि से सन्तुष्ट कर 'दान' नीति का आश्रय ले सकता है।^२ शत्रु राज्य को निर्बल करने के लिए विविध प्रकार के किए गए उपाय 'भेद' के अन्तर्गत आते हैं।^३ 'दण्ड' का अभिप्राय है युद्ध करना।^४ जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'साम', 'दान', 'दण्ड' तथा 'भेद' का विशेष उल्लेख आया है।^५ इनके व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से प्राचीन राजनीतिज्ञों की मान्यताएं रही हैं कि 'साम' 'दान' 'भेद' इन तीन उपायों के असफल हो जाने पर ही राजा को 'दण्ड' अर्थात् 'युद्ध' नीति का प्रयोग करना चाहिए। हम्मीर० के मतानुसार भी 'साम', 'दान' और 'भेद' 'धर्म' 'अर्थ' और 'काम' की भाँति सेवनीय हैं। इनके असफल हो जाने पर 'मोक्ष' के समान 'दण्ड' नीति का आश्रय लेना चाहिए।^६

वराह्म चरित के अनुसार राजा को सर्वप्रथम 'साम', 'दान' के प्रयोग द्वारा व्यवहार करना चाहिए तदनन्तर 'भेद' तथा 'दण्ड' का प्रयोग उपयुक्त है।^७ चन्द्रप्रभ० के अनुसार भी 'साम', 'दान' के प्रयोग से सिद्धि न मिलने पर 'भेद' तथा 'दण्ड' का प्रयोग करना उचित है।^८ इस सम्बन्ध में तर्क देते हुए चन्द्रप्रभ० का मत है कि 'साम' ही चारों उपायों में सर्वोत्कृष्ट उपाय है, क्योंकि 'दान' से धन हानि, 'दण्ड' से सेना-विनाश, तथा 'भेद' से मायावी होने का अपयश प्राप्त होता है इसलिए 'साम' नीति ही सर्वाधिक लाभप्रद है।^९ द्विसन्धान महाकाव्य की यह

१. शुक्र०, ४.२५, २८

२. शुक्र०, ४.२५, २६

३. शुक्र०, ४.३०

४. वराह्म०, १६.५४

५. द्विस०, ११.१७, १६; चन्द्र०, १०.८१; जयन्त०, ११.७; पद्मा०, १०.७५; हम्मीर ८.७८

६. धर्मार्थकामा इव सामदानभेदाः क्रमेणैव पुरा प्रयोज्याः ।
सर्वात्मनैवामसति प्रचारे धार्म्यं सतिर्मोक्ष इवाथ दण्डे ॥

—हम्मीर०, ८.७८

७. वराह्म०, १५.७०

८. चन्द्र०, १२.७६

९. तु०—धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिनियमेन दण्डतः ।

अयसः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम् ।

—चन्द्र०, १२.८१

मान्यता है कि राजा सद्-असद् विवेक द्वारा 'साम-दान' आदि का प्रयोग करे।^१ चारों उपायों का स्वतन्त्र अस्तित्व है; यथा 'साम' से मित्र प्राप्ति होती है तथा 'दण्ड' से शत्रु प्राप्ति होती है; इसलिये 'साम' के स्थान पर 'दण्ड' का और 'दण्ड' के स्थान पर 'साम' का प्रयोग करना युक्तिसङ्गत नहीं।^२ 'साम' के द्वारा शत्रु का प्रतीकार, सम्भव नहीं इसलिए गुप्तचरों द्वारा शत्रुराज्य में 'भेद' डाल देने से राज्य को जीतना सुगम हो जाता है।^३

द्विसन्धान० के विचारों से ऐसा भ्रमगत होता है कि 'साम-दान', आदि का क्रम से प्रयोग कर पुरातन राजनैतिक मान्यताओं का अनुसरण करना उचित नहीं है अपितु देशकालानुसारी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही चतुर्विध उपायों का प्रयोग करना चाहिए। चन्द्रप्रभ० में भी युवराज सुवर्णनाभ द्वारा सैद्धान्तिक नीति प्रयोग की कटु आलोचना की गई है और यथापरिस्थिति उपायों के व्यावहारिक प्रयोग की सलाहना की गई है।^४

चतुर्विध उपाय तथा पक्ष-विपक्ष—

आलोच्य युग में सामन्तवाद की उत्तरीत्तर वृद्धि होने के कारण राजनैतिक जगत् में पर्याप्त अस्थिरता के दर्शन होते हैं। 'षाड्गुण्य' तथा चतुर्विध उपायों के प्रयोग का आदर्श मापदण्ड यद्यपि सिद्धान्ततः स्वीकार्य था तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इन राजनैतिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग भी किया जाने लगा था। प्रायः उद्दण्ड राजा सामन्त राजाओं की सतत वृद्धि एवं कोश संचय करने के लिए 'दण्ड' का भय दिखाकर निर्बल राजाओं को बलपूर्वक अपने अधीन कर लेते थे।^५ वराङ्गचरित^६ तथा चन्द्रप्रभ महाकाव्य^७ में इस प्रकार चतुर्विध उपायों का दुरुपयोग करने वाले राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है जो स्वयं 'दण्ड' प्रयोग के लिए असमर्थ थे तथा बाद में पराजित भी हो गए तथापि उनकी ओर से ही सर्वप्रथम युद्ध का प्रस्ताव आया था। दोनों महाकाव्यों में वर्णित मंत्रिमण्डल ने इन उद्दण्ड राजाओं की कटु आलोचना की है। दूसरी ओर अल्प शक्ति वाले राजाओं

१. द्विस०, ११-१६

२. तु०—साम्ना मित्रारातिपातो भवेतां दण्डेनारं केवलं नैव मंत्री।

सान्त्वे दण्डः साम दण्डे न बहनेर्दाहोऽस्त्येकः शैत्यदाहो हिमस्य ॥

—द्विस०, ११-१७

३. द्विस०, ११-१६

४. द्रष्टव्य—चन्द्र०, १२-८५-८८

५. चन्द्र० १२-६५-८५; वराङ्ग०, १६-६१; द्विस० ११-१७

६. वराङ्ग०, सर्ग १६

७. चन्द्र०, सर्ग १२

के लिए परराष्ट्रनीति निर्धारण करना भी दुष्कर होता जा रहा था क्योंकि समीपवर्ती राज्यों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी और यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता था कि इन राज्यों में कौन वास्तविक रूप से शक्तिशाली हैं तथा कौन केवल मात्र धमकियों द्वारा कोश एवं राज्य सीमा की वृद्धि में लगे हुए हैं।^१ हर्षवर्धन के बाद भारत में एकच्छत्र राज्य के स्थान पर अनेकच्छत्र राज्यों में वृद्धि होने लगी थी। इन राज्यों में कुछ ऐसे राज्य भी थे जो परम्परा से किसी सामन्त अथवा महासामन्त राजा के अधीन थे किन्तु शनैः शनैः स्वतन्त्र होते जा रहे थे।^२ इन राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में राजा तथा मंत्रिमण्डल नीति-प्रयोग के सम्बन्ध में एक मत नहीं था। विविध प्रकार की राजनैतिक व्याख्याओं द्वारा राजनीति के मौलिक सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जाने लगा था। मुख्य रूप से परराष्ट्रनीति निर्धारण के अवसर पर तीन प्रकार की राजनैतिक चेतनाएं उभर कर आई हैं—(१) युद्ध का समर्थन करना (२) युद्ध का विरोध करना (३) छल कपट पूर्ण भेद नीति के प्रयोग के अनन्तर युद्ध करने अथवा न करने का निर्णय करना। उपर्युक्त तीन मौलिक विचारधाराओं के पूर्वाग्रह के कारण 'साम', 'दान', 'दण्ड' की व्याख्या भी प्रभावित हुई है। इस राजनैतिक पृष्ठभूमि को मध्य रखते हुए चतुर्विध उपायों की स्थिति इस प्रकार थी—

१. साम—परराष्ट्रनीति निर्धारण की दृष्टि से विशेषकर युद्ध करने अथवा सन्धि करने के विकल्पों में 'साम' के समर्थक विचारकों का मत था कि राजा को सदैव 'साम' के प्रयोग द्वारा शत्रु राजा से सन्धि कर लेनी चाहिए।^३ चारों उपायों में 'साम' ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है^४ तथा धर्म तुल्य है।^५ प्रायः 'दान' से धन-

१. तु०—(क) शौर्योद्धतावप्रतिकोशदण्डो गृहीतसामन्तसमस्तसारो।

—वराह्म०, १६.६७

(ख) निजैः समस्तानभिभूय धामभिः समुद्रतान् मण्डलिनोऽतिदुःसहैः।

—चन्द्र०, १.४७

२. तु०—(क) गृहीतसामन्तसमस्तसारो। —वराह्म०, १६.७

(ख) न नाम प्रति सामन्तं त्रेसुः के संघवृत्तयः। —द्विस०, १८.६४

(ग) प्रणमन्ति मदन्वयोद्भवं तव वंश्या इति पूर्वजस्थितिः।

—चन्द्र०, १२.११

(घ) ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनैः।

—चन्द्र० १२.३१

३. चन्द्र०, १२.७७ तथा वराह्म०, १६.५३-५७

४. तु०—बहुभद्रं न हि सामतः परम्। —चन्द्र०, १२.८१

५. हम्मीर०, ८.७८

हानि, 'भेद' से अपयश प्राप्त तथा 'दण्ड' से सैन्य बल की क्षति होती है किन्तु 'साम' के प्रयोग से किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती।^१ राजा को स्वाभिमान की चिन्ता किए बिना उद्वण्ड तथा अत्याचारी राजा के साथ 'दण्ड' तथा 'भेद' की नीति से व्यवहार नहीं करना चाहिए अपितु 'दाम' के प्रयोग के साथ 'साम' नीति का आश्रय लेते हुए शत्रु राजा को विशाल धनराशि, ग्राम-नगर-हाथी आदि दान देकर प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।^२

'साम' की उपर्युक्त नीति से असहमत होने वाले पक्ष का विचार था कि कुटिल व्यक्ति के साथ कुटिलता का व्यवहार ही समीचीन है।^३ विजिगीषु राजा यदि उद्वण्ड प्रकृति वाले राजा के साथ भी दास्य भाव से व्यवहार करेगा तो निःसन्देह वह निन्दागर्हित प्राणी है तथा उसका जीवन व्यर्थ है।^४

२. दान—'साम' नीति को सुदृढ़ आधार देने के लिए 'दान' का प्रयोग किया जाता है। इसलिए सिद्धान्ततः 'साम' तथा 'दान' युद्ध विरोधी नीति के अंग हैं।^५ अतएव 'दान' की पक्ष-विपक्षगत तार्किक शृंखला 'साम' के समान ही माननी चाहिए। 'साम' तथा 'दान' में कुछ अन्तर भी है वह यह कि समान शक्तिशाली राजा केवल 'साम' के व्यवहार से युद्धाभिमुख हो सकते हैं किन्तु शक्तिशाली तथा निर्बल राजाओं के मध्य 'साम' के साथ 'दान' का प्रयोग आवश्यक है।^६ प्रायः दिग्विजय के लिए प्रयाण करने वाले राजाओं के मार्गवर्ती राज्य युद्ध से बचने के

१. तु०—घनहानिरुपप्रदानतो बलहानिनियमेन दण्डतः ।

अयशः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम् ॥

—चन्द्र०, १२.८१

२. तु०—धनेन देशेन पुरेण साम्ना रत्नेन वा स्वनेन गजेन वापि ।

स येन येनेच्छति तेन तेन संधेय एवेति जगौ सुनीतिः ।

—वराह०, १६.५७, तथा चन्द्र०, १२.७६-७६

३. तु०—परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफलद्वेषिणि सामकीदृशम् ।

सुतरां स भवेत्स्वरः प्रियैरविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः ॥

—चन्द्र०, १२.८५

४. चन्द्र०, १२.६१-६३

५. तु०—साम प्रेमपरं वाक्यं दानं वित्तस्य चार्पणम् ।

भेदो रिपुजनाकृष्टिर्दण्डः श्रीप्राणसंहृतिः ॥

—द्विस० ४.१६ पर पदकीमुदी टीका, पृ० ५०

वराह०, १६.५३-५७ तथा चन्द्र०, १२.८१

६. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ६६०-६१

लिए विजिगीषु राजा को उपहार आदि देकर, 'दान' से ही सन्धि कर लेते थे।^१ 'दान' के समर्थकों का मत था कि राज्य-कोष की कुछ राशि देकर अथवा ग्राम आदि दान कर यदि राज्य की प्रभुता बनी रहे तो इसमें कोई हानि नहीं।^२ दूसरी ओर विपक्ष की यह मान्यता थी कि 'दान' आदि से राज्य के कोष में क्षति होती है तथा शत्रु राजा का धन-लोभ सदैव बढ़ता ही जाता है इसलिए 'दान' नीति द्वारा शत्रु का प्रतिकार संभव नहीं।^३

३. भेद—'भेद' नीति आलोच्य युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नीति है। भेद नीति को राज्य के महामन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण अधिकारियों का विशेष समर्थन प्राप्त था।^४ मन्त्रिमण्डल द्वारा मंत्रणा करने के उपरान्त जो भी निर्णय होता था वह पूर्णतया भेदनीति पर ही अवलम्बित था।^५ अभिप्राय यह है कि युद्ध न करने तथा करने वाली दो राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए 'भेद नीति' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यही कारण है कि 'भेद' नीति के द्वारा शत्रु को निर्बल करने के उपरान्त युद्ध करने के प्रश्न पर दोनों पक्षों का समझौता हो जाता था तथा युद्ध की घोषणा कर दी जाती थी। चन्द्रप्रभ० में वर्णित मन्त्रिमण्डल की चर्चा-परिचर्चा के निष्कर्षानुसार अन्त में मुख्यमन्त्री का यह निर्णय कि शत्रु को एक मास के अन्त में अभीष्ट हाथी देने अन्यथा युद्ध के लिए तैयार रहने का निर्णय भेद नीति पर ही आधारित था।^६ चन्द्रप्रभ० में यहाँ तक स्वीकार किया गया है कि भेद नीति द्वारा निर्बल राजा भी क्षमिशाली राजा पर विजय प्राप्त कर सकता है।^७

भेदनीति तथा प्रलोभन—

हम्मीर महाकाव्य में वर्णित अलाउद्दीन की राज्यसभा में मन्त्रिमण्डल के विचार विमर्श की स्थिति विद्यमान होते हुए भी अलाउद्दीन ने सभी राज दरबारियों

१. चन्द्र०, १६.२५

२. वराह०, १६.५७

३. परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफलद्वेषिणि सामकीदृशम्। चन्द्र०, १२.८५

४. वराह० १६.७०-७२, चन्द्र०, १२.१०६

५. वही

६. तु०—करिणं प्रदिशामि निदिचतं समरं वाहनि मासपूरणे।

—चन्द्र०, १२.११०

७. अमियातुमतः प्रयुज्यते भवतो वृद्धिमतः क्षये स्थितः।

प्रभवेत्खलु माग्यसंपदा सहितः स्थानगतोऽप्यरातिषु॥

—वही०, १२.६७

को हटाकर एकान्त में हम्मीर के सेनापति के साथ गुप्त वार्ता की।^१ यह गुप्त वार्ता भेद की नीति पर आधारित थी। अलाउद्दीन ने रतिपाल का विशेष स्वागत किया तथा अपने स्तर के आसन पर स्थान दिया।^२ राजा ने रतिपाल को अपना आशय प्रकट करते हुए कहा कि तुम रणथम्भौर के दुर्ग को विजित करने में मेरी सहायता करो तो मैं तुम्हें ही उसका राजा बना दूंगा।^३ इस प्रकार के प्रलोभन से आश्चस्त रतिपाल राजा अलाउद्दीन की कूटनीति का शिकार भी हो गया।^४ तदनन्तर रतिपाल को और अधिक विश्वस्त करने के लिए अलाउद्दीन ने उसे प्रीति भोज दिया तथा अन्तःपुर में ले जाकर अपनी बहिन के हाथों मदिरा-पान भी करवाया।^५ इस प्रकार अलाउद्दीन ने भेदनीति द्वारा रतिपाल को अपने वश में कर लिया।

इसी प्रकार सेनापति को भेदनीति द्वारा अपने वश में करने का उल्लेख धर्म-शर्मभ्युदय में भी प्राप्त होता है। राजा धर्मसेन से स्वयम्बर में विजय प्राप्त कर लेने की ईर्ष्या से वहाँ आए हुए राजाओं द्वारा धर्मसेन के सेनापति सुषेण को प्रलोभन देने के प्रयास किए गए।^६ दूत द्वारा सुषेण से कहा गया है कि राजा धर्मसेन कायर है, तभी वह स्वयं राज-तुमारी को लेकर चला गया है और तुम्हें सेना का दायित्व सौंप गया है।^७ तुम्हें चाहिए कि तुम इन राजाओं से मिल जाओ बदले में तुम्हें अपार धनराशि मिलेगी। इसके विपरीत यदि तुम धर्मनाथ के प्रति कृतज्ञ बनकर इन राजाओं के साथ युद्ध करते हो तो तुम्हारी विजय संशयास्पद ही है।^८ जीतने पर तुम्हें धर्मनाथ पुरस्कार के रूप में एक कम्बल से अधिक और

१. तु०—अपवार्य सभास्तारान् भ्रातृमात्रद्वितीयकः । —हम्मीर०, १३.७३

२. तु०—आयाते रतिपालेऽथ स मायावी शकेश्वरः ।

उपावीविशदेन स्वासनेऽभ्युत्थानपूर्वकम् ।।

अरञ्जयच्च कूटेन मानैर्दानैरनेकधा । —हम्मीर०, १३.७१-७२

३. तु०—एतद् राज्यं तवैवास्तु जयेच्छः केवलं त्वहम् । —हम्मीर०, १३.७७

४. हम्मीर०, १३.७८-७९

५. तु०—अनन्तरन्तःपुरं नीत्वा शकेशस्तमभोजयत् ।

अपीप्यत तद्भगिन्या च प्रतीत्यै मदिरामपि ॥

—हम्मीर० १३.८१

६. धर्म० १९.१-२०

७. वही, १९.७-८

८. वही, १९.१२-२२

क्या देगा ?^१ इस प्रकार राजाओं ने सेनापति सुषेण को उच्चपद-धन आदि के प्रलोभनों से भेदनीति का प्रयोग करना चाहा किन्तु वे असफल रहे । सुषेण ने युद्ध में उन सभी राजाओं को परास्त भी कर दिया ।^२ उनसे प्राप्त अपार धनराशि राजा धर्मनाथ के चरणों में समर्पित कर दी ।^३ किन्तु राजा धर्मनाथ ने इस धनराशि को दान में दे दिया ।^४

४. दण्ड—दण्डनीति अर्थात् युद्ध के सम्बन्ध में जैन संस्कृत महाकाव्यों में स्पष्ट रूप से दो विरोधी विचार-धाराएँ उभर कर आई हैं । युद्ध के समर्थक पक्ष की यह मान्यता थी कि 'दण्ड' प्रयोग ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है; 'साम-दानादि' शत्रु का पूर्ण प्रतीकार करने में असमर्थ है ।^५ 'दण्ड' का 'भेद' के साथ प्रयोग करने से 'दण्ड नीति' के प्रयोग में असमर्थ राजा भी शत्रु के शत्रु राजाओं से मित्रता कर एवं शत्रु के मित्र राजाओं में शत्रुता उत्पन्न कर 'दण्ड' का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकता है ।^६ राजनैतिक जगत् में प्रायः उद्दण्ड एवं साम्राज्यवादी राजा 'साम-दान-भेद' की उपेक्षा कर सीधे दण्ड प्रयोग द्वारा समीपवर्ती राजाओं में भय एवं मिथ्या पराक्रम से आतङ्क फैलाना चाहते थे ।^७ इसलिए चतुर्विध उपायों के 'साम-दान-भेद' तथा 'दण्ड' के क्रमानुसारी प्रयोग की उपेक्षा करने वाले इन राजाओं के आगे नतमस्तक होना समीचीन नहीं रहा था ।^८ समय की इन परिस्थितियों के कारण 'दण्ड' प्रयोग शास्त्रानुमोदित न रहकर समयानुसारी बन गया था ।^९ युद्ध पक्षपाती वर्ग इन परिस्थितियों में 'साम-दान' का बहिष्कार करते थे और 'भेद' तथा 'दण्ड' के प्रयोग को प्रशस्त मानते थे ।^{१०} युद्ध करने की आशङ्काओं से भयभीत पक्ष की यह

१. धर्म०, १६.२४

२. वही, १६.६४

३. वही, १६.१०३

४. वही, १६.१०४

५. वराह०, १६.७०, चन्द्र० १२.८५

६. वराह०, १६.७३, चन्द्र०, १२.६७-६८

७. वराह०, १६.१५, चन्द्र० १२.३४

८. तु०—चन्द्र०, १२.६१-६४

९. चन्द्र०, १२.८३

१०. तु०—कालो व्यतीतो नरदेव शान्तो दानाश्रयस्थानविबिस्तथैव ।

उपस्थितौ संप्रति भेददण्डौ तस्माद्द्वये धत्स्व मति न चान्यत् ॥

—वराह०, १६.७० तथा

नहि वज्ररायुधोचिते क्रमते ग्रावणि लौहमायुधम् ॥

—चन्द्र०, १२.८६

विचारधारा थी कि यदि उद्धण्ड राजा सीधे दण्ड का भय दिखाकर बदले में कोशादि की याचना करता है तब भी राजा को चाहिए कि वह युद्ध विभीषिका से बचे और शत्रु राजा को प्रसन्न करने के लिए प्रत्येक संभव प्रयास करे। वराङ्गचरित का प्रथम मंत्री, चन्द्रप्रभ का पुरुभूति आदि ऐसे मंत्री हैं जिन्हें युद्ध के प्रति उदासीन रहने वाले पक्ष का प्रतिनिधि माना जा सकता है।^१ हम्मीर महाकाव्य में हम्मीर के कौशागारिक 'जाहड़' ने इसी युद्ध विरोधी बुद्धि के कारण कृत्रिम-श्रान्ताभाव का भय दिखाकर हम्मीर को युद्ध से विमुख करने तथा अलाउद्दीन से सन्धि कर लेने के लिए विवश करने का असफल प्रयास भी किया।^२ संक्षेप में जैन संस्कृत महाकाव्यों में यद्यपि युद्ध विरोधी वातावरण के दर्शन भी होते हैं तथापि युद्ध के समर्थकों का बहुमत था तथा युद्ध होते थे।

२. राज्य-व्यवस्था

राजाओं के भेद एवं उपाधियाँ

जैन पौराणिक मान्यताओं के अनुसार प्रायः राजाओं के चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, मण्डलेश्वर, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलिक, अधिराज, राजा, नृपति भूपाल, आदि भेद होते थे।^३ महाकाव्यों में राजा के लिए चक्रवर्ती,^४ माण्डलिक,^५ नृपति,^६ नृप,^७ उर्वपति,^८ भूप,^९ भूपाल,^{१०} क्षितीन्द्र,^{११}

१. वराङ्ग०, १६.५४, तथा चन्द्र० १२.८१

२. तु०—कोशेऽन्नं कियदस्तीति नृपः पप्रच्छ जाहडम् ॥

वदामि यदि नास्तीति तदा संधिर्भवेद् ध्रुवम् ।

—हम्मीर० १३.१३६-३७

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में०, पृ० ३६४

४. पद्मा०, १६.१६

५. चन्द्र०, १.४५, ५.५२, कीर्ति २.६५

६. वराङ्ग० १६.१६, चन्द्र०, १३.१५, नेमि०, ३.४७

७. वराङ्ग० १६.३, चन्द्र०, १३.३२

८. वराङ्ग०, १६.१

९. वराङ्ग०, १६.१२, चन्द्र०, १६.५४, नेमि०, ११.४६

१०. चन्द्र०, १६.३६

११. वराङ्ग०, १६.४

वसुधेश्वर,^१ नरेश्वर,^२ क्षितिपति,^३ महीपति,^४ नरपति,^५ क्षितिभुज,^६ भूभुज,^७ राजा,^८ सामन्त,^९ आदि शब्दों का व्यवहार होता है। राजा के लिए प्रयुक्त होने वाली इन संज्ञाओं में से चक्रवर्ती तथा अर्धचक्रवर्ती उपाधियाँ पौराणिक राजाओं के सम्बन्ध में कही गई हैं। पुराणों के अनुसार चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छः खण्डों का तथा अर्धचक्रवर्ती तीन खण्डों का स्वामी माना गया है।^{१०} राजा के के महाराज, माण्डलिक, सामन्त आदि भेद साधारणतः राजा के अर्थ में ही प्रयुक्त होते थे किन्तु गुप्तकाल से प्रारम्भ होने वाली शासन-व्यवस्था में इन संज्ञाओं में राज्य शक्ति एवं वन समृद्धि के आधार पर पार्थक्य रहता था।^{११} उदाहरणार्थ— 'महाराज' सामान्य राजा से कुछ अधिक राज्य का स्वामी होता था। 'माण्डलिक' के अन्तर्गत भी अनेक राजा एवं सामन्त होते थे। 'सामन्त' जिन्हें प्रायः 'राजा' 'भूपति' आदि से भी सम्बोधित किया जाता था, राजाओं की भेदपरक संज्ञा की न्यूनतम इकाई होते थे।^{१२} सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के राजस्थान के प्रतिहार शासनप्रणाली^{१३} तथा चालुक्य शासन व्यवस्था^{१४} पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजाधिराजपरमेश्वर' 'महाराज', 'महाराजाधिराज परमेश्वर', 'परम भट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'चक्रवर्ती' आदि उपाधियाँ प्रचलित थीं। राजा कुमारपाल को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर',

-
१. वराह्म०, १६.२१
 २. वराह्म०, १६.७, नेमि०, ७.२८
 ३. नेमि०, २.१
 ४. नेमि०, २.१, पद्मा०, १५ १८७
 ५. वसन्त०, २.१५
 ६. कीर्ति०, २.११३
 ७. कीर्ति०, ३.१
 ८. वराह्म०, २५.७१
 ९. वराह्म०, १६.६, द्विस० १८.११४, चन्द्र०, १५.१५, वसन्त०, ११.१
 १०. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य०, पृ० ५२४
 ११. वही, पृ०, ५२४
 १२. त्रिवर्णित २.१.२४०, चन्द्र०, ३.७, ५.५२, वराह्म०, १६.६
 १३. Sharma, Dashratha, (Gen. ed.), Rajasthan Through The Ages, Bikaner, 1966, p. 309
 १४. Majumdar, R.C., (Gen. ed.), The History and Culture of the Indian People—The Classical Age, Bombay, 1954, p. 353

‘समस्तराजावल’, ‘गुर्जरधराधीश्वर’, ‘परमार्हत’, ‘उमापतिवरलब्ध’ आदि उपाधियों से सम्बोधित किया गया है।^१

सामन्त पद्धति

मध्यकालीन राज्य व्यवस्था के सन्दर्भ में ‘सामन्त’ एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द माना गया है। अश्वघोष कृत सौन्दरनन्द (२.४५) तथा कालिदास कृत रघुवंश (५.२८, ६.३३) में ‘सामन्त’ शब्द का इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। बाण के हर्षचरित के समय तक सामन्त व्यवस्था एक राजनैतिक पृष्ठभूमि में विशेष रुढ़ हो चुकी थी।^२ आलोच्य युग में ‘सामन्त पद्धति’ उत्तरोत्तर वृद्धि पर थी। वराहचरित में मथुराधिप इन्द्रसेन तथा उसके पुत्र उपेन्द्रसेन द्वारा समीपवर्ती सभी ‘सामन्त’ राजाओं को अपने अधीन कर लेने का उल्लेख आया है। इन ‘सामन्त’ राजाओं ने भी मथुराधिप की प्रभुता शिरोधार्य कर ली थी।^३ इसी महाकाव्य के एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख से तत्कालीन सामन्त व्यवस्था का शोषणपरक रूप भी सामने आता है। प्रायः उद्दण्ड राजा सामन्त राजाओं से चापलूसी करवाते थे तथा इनकी सेना तथा कोष पर बलपूर्वक अधिकार जतलाते थे। सामन्त राजा भी ऐसे उद्दण्ड राजा के सामने अपना मस्तक नहीं उठा पाते थे तथा राजा को प्रसन्न करने के लिए अपनी प्रभुता का पट्टा इन राजाओं के हाथों से पहनते थे।^४ चन्द्रप्रभचरित के उल्लेखानुसार राजा पद्मनाभ के राज्यारोहण करते ही सभी ‘सामन्त’ अथवा माण्डलिक राजाओं ने अपनी कुटिलता त्याग कर पद्मनाभ के आधिपत्य को नत-मस्तक होकर स्वीकार किया।^५ चन्द्रप्रभचरित में ही यह भी उल्लेख मिलता है कि यदि राजा राज्यव्यवस्था को ढीला छोड़ देता है तो उसके सभी माण्डलिक

१. लक्ष्मी शंकर व्यास, महान् चोलुच्य कुमारपाल, काशी, १९६२, पृ० ६४

२. विशेष द्रष्टव्य—वासुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९६४, परिशिष्ट-२, पृ० २२१-२४ तथा रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, अनुवादक—आदित्य नारायण सिंह, दिल्ली, १९७३, पृ० १-२

३. वराहचरित, १६.४-७

४. तु०—समस्तसामन्तनिबद्धपट्टी समस्तसामन्तमदावरोधी।

समस्तसामन्तगणातिधैर्यी बभूवतुश्चन्द्रदिवाकराभी ॥

शौर्योद्धतावप्रतिकोशदण्डी गृहीतसामन्तसमस्तसारो।

—वराहचरित, १६.६-७

५. चन्द्र०, १.८२

‘सामन्त’ राजा स्वतन्त्र होने की चेष्टाएं प्रारम्भ कर देते हैं।^१ ये राजा के लिए समय-समय पर उपहार आदि ले जाते थे।^२ ‘सामन्त’ राजा राज्य के महत्वपूर्ण अवसरों पर राज-सभा में उपस्थित रहते थे।^३ सम्भवतः ‘माण्डलिक’ तथा ‘सामन्त’ राजा एक ही रहे होंगे। महाकाव्यों के टीकाकार ‘माण्डलिक’ तथा ‘सामन्त’ दोनों का ही ‘राजा’ अर्थ करते हैं।^४ राज्य सीमा के विविध मण्डलों के स्वामी होने के कारण इन्हें ‘माण्डलिक’ कहा जाता होगा।^५ इन ‘माण्डलिक’ राजाओं के स्वामी के लिए प्रायः ‘मण्डलेश्वर’ तथा ‘महामण्डलेश्वर’ का प्रयोग होता है।^६ इसी प्रकार ‘महासामन्त’ आदि भी पद थे।^७ ‘सामन्त’ तथा ‘माण्डलिक’ राजाओं का यह कर्तव्य था कि वे राजा के साथ युद्ध में भी जाएं।^८ चन्द्रप्रभ० के उल्लेखानुसार युद्ध के लिए दीक्षित सामन्तों को राजा उपहार आदि से सन्तुष्ट करता था।^९ युद्ध के अवसर पर एक राजा के ‘सामन्त’ प्रायः दूसरे राजा के सामन्तों के साथ ही युद्ध करते थे।^{१०} इस प्रकार महाकाव्यों के पौराणिक राजाओं के सम्बन्ध में तत्कालीन इतिहास सम्मत राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल ही राजाओं तथा सामन्तादि के वर्णन उपलब्ध होते हैं। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से सम्बन्धित

१. तु० —स्वातन्त्र्यं यदुरखिलानि मण्डलानि मन्दत्वं भवति न कस्य वाभिभूत्यै ।

—चन्द्र०, १६.२३

२. चन्द्र०, ५.५२

३. तु० —[क] अमात्य-सेनापतिमन्त्रिपुत्राः सुताश्च सामन्तनरेश्वराणाम् ।

—वराह०, २८.१२

(ख) ये मन्त्रिणो येऽत्र मण्डलीकास्तेषु क्रमो नास्ति पराक्रमोऽस्ति ।

—कीर्ति०, २.६५

(ग) श्रीमद्भिन्नपसामन्तैः पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ।

आपतद्भिः शोभमानो, ग्रहराजो ग्रहैरिव ॥

—त्रिषष्टि०, २.१.१४०

४. तु० चन्द्र० १५.१२ पर तथा ५.५२ पर विद्वन्मनोवल्गभाटीका—

सामन्तान्-भूपतीन् । मण्डलानां—भूभूताम् ।

५. तु०—मण्डलपतीन् । चन्द्र०, ३.७

६. Sharma, Dashratha, Rajasthan Through The Ages, p. 359

७. वही, पृ० ३०६

८. चन्द्र०, १५.१२

९. वही

१०. चन्द्र०, १५.७५-६५

चालुक्यकालीन राज्य व्यवस्था के सन्दर्भ में विद्वानों की मान्यता है कि 'सामन्त'^१ तथा 'माण्डलिक' पूर्ण राजा न होकर विभिन्न प्रान्तों के उच्चाधिकारी होते थे।^२ चालुक्यराज मूलराज की सभा में 'महामण्डलेश्वर' तथा 'सामन्तों' का अस्तित्व था।^३ इसी प्रकार कुमारपाल का भागनेय कृष्णदेव भी एक इसी प्रकार का 'सामन्त' था जिसके अधिकार में एक विशाल सेना भी थी। द्वयाश्रय० भी राजा कुमारपाल के विजय एवं कृष्णक नामक दो सामन्तों के अस्तित्व की सूचना देता है।^४

द्विसन्धान महाकाव्य में सामन्त राजाओं के संघ भी वर्णित हैं।^५ चन्द्र-प्रभचरित^६ तथा हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित^७ में 'सामन्त' का प्रयोग-बाहुल्य है। राजा यदि अपने राज्य के प्रति उदासीन हो जाए तो अवसर पाकर अनेक अधीन सामन्त स्वतन्त्र होने की चेष्टा भी करने लगते थे।^८ चन्द्र० का महासेन राजा अत्यधिक विषयसुखों की ओर आकृष्ट होने के कारण राज्य व्यवस्था के प्रति असावधान हो चुका था। ऐसी स्थिति में उसके अधीनस्थ कई राज्यस्वतन्त्र हो गए। बाद में मन्त्रियों के द्वारा सामन्त राजाओं के सिर उठाने के समाचार को जानकर वह पुनः व्यवस्था के प्रति सावधान हो गया।^९ महासेन अपने अन्य सामन्तों को साथ लेकर राज्य विस्तार की इच्छा से विजय यात्रा के लिए निकल पड़ा था।^{१०} अनेक देशों के 'सामन्त' राजा महासेन के पराक्रम से भयभीत होकर इसके अधीन हो गए। कवि ने इस अवसर पर इन 'सामन्त' राजाओं की अधीनता स्वीकार करने का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से किया है।^{११}

१. Narang, S.P., Hemacandra's Dvyāśrayakāvya, Delhi, 1982 p, 174

२. लक्ष्मी शंकर व्यास, महान् चालुक्य कुमारपाल, पृ० १२६

३. तु०—'तत्रास्ति कृष्णदेवाख्यः सामन्तोऽश्वायुतस्थितिः।'

—प्रभावकचरित, अध्याय २२, पृ० १६७

४. द्वयाश्रय ६.२६

५. तु०—'न नाम प्रतिसामन्तं त्रेषुः के संघवृत्तयः'—द्विस० १८.११४

६. चन्द्र० २.३०, ४.४५, १५.११३, १६.३७, १६.४७

७. त्रिषष्टि० २.३.१७५, २३६, २४०

८. तु०—'स्वातन्त्र्यं ययुरखिलानि मण्डलानि'—चन्द्र० १६.२३

९. चन्द्र०, १६.२४

१०. चन्द्र०, १६.२४

११. वही, १६.२५-५०

आदर्श राजा के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

जैन संस्कृत महाकाव्यों में राजा के उच्च आदर्श प्रतिपादित किए गए हैं, यथा राजा को धर्म अर्थ काम मोक्ष के साथ न्यायपूर्वक राज्य का पालन करना चाहिए।^१ राजा सदैव प्रजा को अभयदान देने वाला होता है तथा दयालु एवं हितकारी होता है।^२ राजा को सदैव सहिष्णु होना चाहिए, इसलिए जैन भगवान्‌जी राजा के राज्य में भी वर्णाश्रम व्यवस्था का समुचित आदर होने का उल्लेख मिलता है।^३ राजा स्वयं विद्वान् हो तथा विद्वानों का आश्रयदाता हो।^४ प्रजा का पोषण, शिक्षा एवं सङ्कट निवारण राजा का कर्तव्य है।^५ देवभक्ति, गुरु श्रद्धा, पराक्रम, सज्जन-मैत्री आदि राजा के गुण होते हैं।^६ राजा सज्जनों का भाग्य विधाता एवं दुर्जनों का नाशक है, अतः प्रजा को जो भी प्राप्त होता है वह भाग्य से नहीं अपितु राजा के पुण्यार्थ से प्राप्त होता है।^७ राजा की केवल तीन ही गतियाँ हैं—धर्म-सेवा, रण में मृत्यु तथा वन में निवास।^८ शौर्य, बुद्धि तथा आत्म-विश्वास राजा के लिए प्रत्यावश्यक हैं।^९ राजा को अपने परिवार को वश में रखना चाहिए तभी वह विपदाओं से मुक्त रह सकता है।^{१०} राजा को सदा वृद्ध मंत्री-पुरोहितों के आज्ञानुसार कार्य करना चाहिए।^{११} राजा प्रजाविरोधी कर्मचारियों को दण्ड दे और प्रजाहितैषी कर्मचारियों को प्रोत्साहित करे।^{१२} राजा को चाहिए कि वह अपनी मन्त्रणाओं को तब तक गुप्त रखे जब तक कि उनसे कार्य सिद्धि नहीं हो जाती।^{१३} राजा को सदा विजयेच्छु होना चाहिए और शत्रुओं की गतिविधियों पर उसके द्वारा अंकुश लगना चाहिए।^{१४} राजा स्वयं तो प्रजा के

१. वराह०, १.४६

२. वही, ३.३८

३. वही, १.५१

४. वही, २.४

५. चन्द्र०, ३.४

६. वराह०, २.५

७. द्विस०, ४.१७

८. नैमि०, १.६२

९. हम्मीर०, ४.७४

१०. चन्द्र०, ४.३७

११. चन्द्र०, ४.४०

१२. वही, ४.४१

१३. वही, ४.४२

१४. वही, ४.३४

कष्टों को नहीं जान पाता, किन्तु गुप्तचरों द्वारा वह उनके कष्टों को जान सकता है, तथा उनकी सहायता कर सकता है।^१

उत्तराधिकार का अधिकारी

प्राचीन भारत की परम्परागत मान्यताओं के अनुसार राज्य का उत्तराधिकार आनुवंशिक होता था तथा प्रायः ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकारी चुना जाता था।^२ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मतानुसार राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र हो इसमें कोई हानि तो नहीं है किन्तु अविनीत राजपुत्र राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता।^३ गुप्तकाल के ऐतिहासिक उदाहरणों से भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं कि समुद्रगुप्त ने अपने छोटे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही राज्य का उत्तराधिकारी चुना। स्वयं समुद्रगुप्त भी चन्द्रगुप्त का छोटा पुत्र था और राज्य का उत्तराधिकारी बना था।^४

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार भी राज्य का उत्तराधिकारी राजा का वंशज होता था तथा ज्येष्ठ पुत्र को ही पहले उत्तराधिकार देने की मान्यता प्रसिद्ध थी।^५ यदि ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य हो तो छोटे पुत्र को राज्य का उत्तराधिकार दिया जा सकता था। वराहचरित में राजा धर्मसेन तथा मन्त्रीवर्ग छोटे पुत्र वराह को राज्य देने के पक्ष में था, किन्तु राजा की दूसरी रानी अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दिलाना चाहती थी।^६ हम्मीर महाकाव्य के अनुसार राजा के दोनों पुत्र समान योग्य थे, फलतः दोनों को क्रमशः राजा एवं प्रधानमन्त्री बना दिया गया।^७ प्रद्युम्नचरित में कनिष्ठ पुत्र को ही राज्य देने का उल्लेख मिलता है।^८ इसी प्रकार चन्द्रप्रभचरित में भी राजकुमार श्रीवर्मा यद्यपि छोटा पुत्र था किन्तु ज्येष्ठ पुत्रों की अपेक्षा अधिक योग्य होने के कारण उसी को राज्य का उत्तराधिकारी

१. वही, ४.३५

२. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ५६६, तथा, तु०

—हम्मीर० ८.५३

३. तु०—अर्थशास्त्र, १.१७

४. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ५६६

५. तु०—ज्येष्ठमुते राज्यधुरः समर्थे पराभिषेकं तु कथं सहिष्ये।

—वराह०, १२.६, तथा तु०—द्विस०, ४.२१

६. वराह०, सर्ग ११, १२

७. हम्मीर०, ४.४१

८. प्रद्युम्न०, ४.६१

चुना गया।^१ इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों के काल में ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देने की मान्यता तो थी किन्तु यदि छोटा पुत्र ज्येष्ठ की अपेक्षा अधिक योग्य हो तो उसे राज्य देना अनुचित नहीं माना जाता था।^२ वराह्मण० में धर्मसेन के द्वारा राजकुमार वराह्मण को राज्य देने के निश्चय के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उसके सौतेले भाई ईर्ष्या एवं क्रोधावेश में आकर यह सोचने लगे 'क्या हम राजा के पुत्र नहीं क्या हमारी माता का कुल शुद्ध नहीं, हम पराक्रम, बाहुबल, तेज, कान्ति, धैर्य आदि किस गुण में राजकुमार वराह्मण से कम हैं? ऐसी कौन सी लौकिक व्यवस्था है जिसे हम नहीं जानते? क्या राजकुमार वराह्मण हम लोगों के साथ युद्ध कर युवराज पद को धारण कर सकता है?'^३ इस प्रकार जैन महाकाव्यों की राजनैतिक पृष्ठभूमि में उत्तराधिकार के लिए भाई-भाई में भी युद्ध की सम्भावना बनी हुई थी।

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों के काल में उत्तराधिकार सम्बन्धी एक अन्तरिक संघर्ष चल रहा था। यद्यपि संघर्ष का यह स्वरूप स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाया तथापि जैन कवियों ने अप्रत्यक्ष रूप से इस संघर्ष की राजनैतिक पृष्ठभूमि को व्यक्त अवश्य किया है। राजा के अपने परिवार में ही संघर्ष की यह स्थिति विद्यमान थी। वराह्मणचरित में राजा धर्मसेन की दूसरी रानी ने अपने पुत्र को राज्याधिकार दिलाने के लिए राजा के अन्य मन्त्रियों के साथ षड्यन्त्र रचकर भावी राजकुमार वराह्मण को एक दुष्ट अश्व पर बिठाकर जंगल में छोड़ देने की योजना बनाई, तथा अपने पुत्र सुषेण को राज्य दिलाया।^४ जैन महाकाव्यों के राजा उत्तराधिकार के विषय में वैसे तो उदार दिखाई देते हैं किन्तु उनके हृदय में एक संशय की भावना भी विद्यमान थी।^५ परिशिष्टपर्व के एक उदाहरण के अनुसार राजा ने अपने दूधमूँहे पुत्र को ही उत्तराधिकार देने में पर्याप्त तत्परता दिखाई। इस प्रकार के छोटे पुत्र के उत्तराधिकार की रक्षा मन्त्रियों पर

१. चन्द्र०, ४.४

२. तु० — ज्येष्ठे तनूजे सति राज्यलक्ष्मीर्देया कदाचिन्न किलेतरस्मै ।

जानन्नपीत्थं नयवत्संसंस्थां मह्यं कथं दित्सति तामधीशः ॥

—हम्मिरी०, ८.५३

३. वराह्मण०, ११.८१-७३

४. वही, २२.७-२५

५. जयन्त०, ५.४३

छोड़ दी जाती थी ।^१ हम्मीर० में दोनों पुत्रों को राजा प्रसन्न करना चाहता है ।^२ रानी का भी उत्तराधिकार पर विशेष हस्तक्षेप रहता था । प्रद्युम्न० में राजा कालसंवर ने अपनी रानी को दिए वचनों के अनुसार प्रद्युम्न को ही राजा बनाया ।^३ अन्य महाकाव्यों में भी उत्तराधिकार सम्बन्धी राजपरिवार का संघर्ष प्रतिपादित किया गया है । जयन्तविजय में राज्य प्राप्त करने के लिए भाई भाई में भी संघर्ष की स्थिति आ गई थी ।^४

उत्तराधिकार सम्बन्धी मन्त्रणा

उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार विमर्श करने के लिए राजा मन्त्रियों से भी परामर्श लेता था । मन्त्रियों, पुरोहितों के परामर्श सहित राज्य के उत्तराधिकारी का चुनाव करना वास्तव में तत्कालीन राजनैतिक आवश्यकता भी थी । प्रभावक चरित के अनुसार राजा जयसिंह के उत्तराधिकारी के चुनाव के लिए एक सभा बुलाई गई ।^५ उसमें एक युवक की परीक्षा ली गई, किन्तु वह युवक राजा जयसिंह एवं उसके सभासदों की दृष्टि में राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में उपयुक्त नहीं था । तदनन्तर कुमारपाल सभा के सम्मुख उपस्थित हुआ । कुमारपाल अपने राज्योचित गुणों के कारण तथा पराक्रम के कारण सभी सभासदों को स्वीकृत था ।^६

वराङ्गचरित में राजा धर्मसेन को अमात्य वर्ग द्वारा राजकुमार वराङ्ग को ही उत्तराधिकारी बनाने का परामर्श दिया गया ।^७ चन्द्रप्रभचरित में चक्रवर्ती अजितसेन ने अनेक राजाओं की उपस्थिति में अपने पुत्र का राज्याभिषेक किया ।^८

जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रत्यक्षतः राजा के प्रति किसी प्रकार की अनास्था एवं अविश्वास की भावना के दर्शन नहीं होते । मन्त्रिमण्डल तथा राजा के मध्य

१. परिशिष्ट०, १.५३

२. हम्मीर०, ४.४१

३. प्रद्युम्न०, ४.६१

४. जयन्त०, ५.४३

५. मेहतुङ्ग, प्रबन्धचिन्तामणि, सम्पादक जिनविजय मुनि, कलकत्ता, प्रकाश ४, पृ० ७८

६. तु०—लक्ष्मीशंकर व्यास, महान् चौलुक्य कुमारपाल, पृ० ८४-८५

७. वराङ्ग०, ११.५६ तथा २६.४३

८. चन्द्र०, ७.३०

प्रायः सौहार्दपूर्ण वातावरण उपलब्ध होता है। इन कारणों से उत्तराधिकार जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर राजा प्राप्त-प्रमाण माना जाता था और मन्त्रिमण्डल भी राजा की इच्छा के अनुकूल ही परामर्श देता था।^१

राज्याभिषेक

राज्याभिषेक को जैन संस्कृत महाकाव्यों में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। राज्याभिषेक का एक महोत्सव के रूप में वर्णन करना प्रायः सभी जैन संस्कृत महाकाव्यों की प्रवृत्ति रही है। सभी महाकाव्यों में राज्याभिषेक वर्णन मिलता है।^२ किन्हीं किन्हीं महाकाव्यों में तो अनेक बार राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है।^३ राज्याभिषेक महोत्सव राजा एवं प्रजा दोनों के लिए हर्षोन्मादक-अवसर था।^४

राज्याभिषेक का समय

राज्याभिषेक के समय राजकुमार की निश्चित आयु क्या हो, इस विषय में जैन संस्कृत महाकाव्यों से कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलते। प्रायः राजकुमार के युवा होने, शिक्षा पूर्ण करने तथा विवाहोपरान्त ही राज्याभिषेक किया जाता था।^५ अथवा राजा जब समझे कि वह अब वृद्ध हो चुका है और स्वयं राजकाज सम्भालने में असमर्थ है तब वह राजकुमार का राज्याभिषेक करने की इच्छा करता था।^६ तृतीय वयस में जब राजा को सांसारिक जीवन से विरक्ति हो जाय और

१. तु०—अथैवं मन्त्रिणोऽप्युचुः स्वामिन्नेवंविद्या धियः।

—त्रिषष्टि० १.१.६३

२. वराङ्ग०, सर्ग-२३, द्विस०, सर्ग-४, चन्द्र०, सर्ग-४, परि०, सर्ग-६, धर्म०, सर्ग-१८, जयन्त, सर्ग-६, प्रद्युम्न०, सर्ग-८, पद्मा०, सर्ग-१२, परि०, सर्ग-६

३. वराङ्ग०, सर्ग-११ तथा २३, चन्द्र०, सर्ग-४, ५ तथा ७, धर्म०, सर्ग-२० तथा २७

४. चन्द्र०, ७.३१

५. चन्द्र०, ४.१-५, ५.१-५०, यशो०, २.१५

६. तु०—तृतीयवयसः शस्त्रमिव यौवनघातकम्।

तन्मूर्च्छितं पलितं दृष्ट्वा राजा दुरमनायत् ॥

राजा प्रोवाच जिह्मे मि नाहं पलितदर्शनात्।

दीर्घमनस्ये पुनरिदं कारणं जीवितेश्वरि ॥

—परि०, १.६८-६९

वह दीक्षा लेने के लिए कटिबद्ध हो जाता तो यह समय भी पुत्र के राज्याभिषेक के लिए उपयुक्त अवसर था ।^१

उत्तराधिकारी राजकुमार की योग्यताएं

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि राजा के उत्तराधिकारी के लिए राजकुमार का ज्येष्ठ होना ही अनिवार्य नहीं था अपितु उसमें राज्य-संचालन की योग्यता भी अपेक्षित थी । पुत्र को राज्य देने से पहले राजकुमार की योग्यताओं पर भी भली-भांति विचार कर लिया जाता था । शारीरिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं शैक्षिक दृष्टि से उत्तराधिकारी राजकुमार की निम्नलिखित योग्यताएं आवश्यक थीं—

१. शारीरिक योग्यताएं—प्रभावशाली रूप सौन्दर्य एवं आकर्षक व्यक्तित्व ।^२
२. धार्मिक योग्यताएं—धार्मिक क्रियाकलापों में आस्था,^३ धर्म, धर्म तथा काम में निपुण्य ।^४
३. सामाजिक योग्यताएं—शिष्टाचार आदि में निपुणता,^५ विनम्र स्वभाव,^६ सेवा परायणता,^७ गुरुओं के प्रति आस्था^८ एवं अहंकार आदि पर विजय ।^९
४. राजनैतिक योग्यताएं—मन्त्री आदि प्रमुखों पर विश्वास प्राप्त करना,^{१०} युद्ध के लिए सदैव सन्नद्ध रहना,^{११} न्याय प्रियता^{१२} एवं प्रजानुरंजन में तत्पर रहना ।^{१३}

१. दिस०, ४.५८, वराङ्ग०, २८.६१-६२, धर्म०, २०.१-२६
२. वराङ्ग०, २.४
३. वही, ११.४८
४. वही, ११.५५
५. वराङ्ग०, ११.५०
६. वही, ११.४६
७. वही, ११.४६
८. वही, २.५
९. वही, २.६
१०. वही, ११.५४
११. वही, २.५
१२. वही, २.४
१३. वही, ११.५२

१. शैक्षिक योग्यताएं—विद्याओं तथा उपविद्याओं में दक्षता,^१ चौसठ कलाओं में नैपुण्य,^२ नीतिशास्त्र का ज्ञान,^३ अनेक प्रकार की युद्ध कला से अभिज्ञता,^४ तथा धनुर्विद्या, खड्गविद्या, अस्त्रविद्या तथा भजविद्या में वैशिष्ट्य।^५

राजा तथा उसका मन्त्रिमण्डल

प्रभिलेखों में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार गुप्तोत्तर राज्य 'संस्था' में राजा, मूपति, भूपति, आदि की पारिभाषिक उपाधियां 'महाराज'^६ 'महाराजाधिराज-परमेश्वर'^७ आदि थीं। इन उपाधियों का सम्बन्ध प्रायः सामन्त पद्धति से रहा था।

आलोच्य युग की प्रारम्भिक शासन व्यवस्था से इतना तो स्पष्ट ही है कि 'महाराजाधिराज' ही सम्पूर्ण राज्यतन्त्र का एकमात्र स्वामी होता था तथा अधिकारों की दृष्टि से उसे पूर्ण निरंकुशता भी प्राप्त थी।^८ आवश्यक मापदण्डों के परि-

१. बराह्म०, ११.५१

२. वही, २.६

३. वही, ११.५५

४. वही, २.६

५. वही, २.७

६. "Mahārāja, Lit. 'great king', appears to have been, in some what earlier times, one of the titles of paramount sovereignty But in the early Gupta and subsequent periods Mahārāja was habitually used simply as a technical official title, indicative no doubt of considerable rank and power, but applied only to feudatories, not to paramount sovereigns."

—Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III, Varanasi, 1970, p. 15, fn. 4.

७. "Mahārājādhirāja, Lit. 'supreme king of Mahārājas in somewhat later times, is almost always coupled with two others, Paramēśvara, 'supreme Lord', and Paramabhaṭṭāraka, 'most worshipful one'."

—Fleet, C.I.I., Vol. III, p. 10, fn. 3.

८. "There can be no doubt that though Harsh's Government was personal in one sense the royal authority was no means despotic."

—Panikkar, K. M., Shri Harsha of Kannauj, p. 32.

ब्रेक्ष्य में स्मृतिकारों आदि ने राजा को यह निर्देश दिए हैं कि वे अपना शासन मंत्रियों आदि के परामर्शों के अनुसार चलाए।^१ राजधर्मों के नियमों के अनुसार राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह मन्त्रिमण्डल को भी विश्वास में ले। राजा हर्षवर्धन इसी प्रकार का राजा था तथा सदैव अपने मन्त्रियों की मन्त्रणाओं को शासन कार्य में उचित आदर देता था।

मन्त्रिमण्डल की उपादेयता

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि राजा के लिए मंत्रियों अर्थात् मन्त्रिमण्डल का परामर्श कितना उपयोगी है। जैन संस्कृत महाकाव्यों में यह मान्यता स्वीकार की गई है कि राजा को अपने मन्त्रियों तथा पुरोहितादि से भी राजकार्य में सहायता लेनी चाहिए।^२ किसी भी प्रकार की कुनीति के लिए न केवल राजा ही दोषी माना जाता है अपितु उसके मन्त्रिवर्ग आदि पर भी यह दोष आता है।^३ राजा की पराजय का एक मुख्य कारण मन्त्रियों की सम्मति को न मानना भी है।^४ बराह्मचरित में मन्त्रियों से मन्त्रणा करते हुए राजा देवमेन को मुख्य मन्त्री के मुख से यह सुनना पड़ा कि उन्होंने दूत को अपमानपूर्वक निकालकर उस समय को खो दिया है जब 'साम' उपाय का प्रयोग किया जा सकता था। अप्रत्यक्ष रूप से मन्त्रिमुख्य के इस कथन में राजा को दोषी ठहराना अभीष्ट है। राजा दूत के साथ अभद्र व्यवहार करने से पूर्व यदि मन्त्रिमण्डल से परामर्श कर लेता तो संभव है राज्य में युद्ध संकट उपस्थित नहीं हो जाता।^५ बराह्मचरित में उत्तराधिकार के प्रश्न^६ को लेकर तथा युद्ध प्रसंग^७ को लेकर राजा द्वारा मन्त्रिमण्डल से परामर्श करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। चन्द्रप्रभ-

१. मनु०, ७.५५-५६, याज्ञ०, १.३१२, १७

२. बृहानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विब्रेहि प्रहृतप्रमादः। —चन्द्र०, ४.४० पर तु०—'बृहानुमत्या-बृहानां मन्त्रिपुरोहितानाम्।' —विद्वन्मनोवल्गुभा-टीका, पृ० १०४

३. तु०—किममन्त्रि गूहं तदीयमित्यपवादेन जनस्य वारितम्।

—चन्द्र०, १२६४

४. अकौशलं तस्य हि मन्त्रिणां च निरीक्ष्यतामित्यपरे निराहुः।

—बराह्म०, १६.४१ तथा तु० १६.४२

५. बराह्म०, १६.६६

६. वही, सर्ग-१०

७. वही, १६.५०-७०

चरित के अनुसार राजा प्रायः अपने मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेता था। युद्ध विषयक समस्या को लेकर चन्द्रप्रभचरित में भी मन्त्रिमण्डल से राजा की मंत्रणा करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^१ राजा पद्मानाभ ने अपने मन्त्रिमण्डल को बुलाकर मन्त्रिमण्डल की उपादेयता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।^२ राजा की राजनैतिक दांव पेचों की शिक्षा मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से ही मिल सकती है।^३ राजनीति-शास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी मन्त्रिवर्ग के अनुभवों के आधार पर प्रयोग करना ही श्रेष्ठ माना जाता था।^४ चन्द्रप्रभ० में मन्त्रिमण्डल की तुलना मां से करते हुए कहा गया है कि जैसे मां अपने बच्चे का पालन-पोषण करती है, उसे कौशल की शिक्षा देती है और प्रमादपूर्ण कार्यों से सावधान रखती है उसी प्रकार मन्त्रिमण्डल भी राजा को कौशलपूर्ण नीतियों की शिक्षा देते हुए अनर्थों से सचेत रखता है।^५ पद-पद पर भूल करने वाले मदान्ध राजाओं पर गुरु बर्ग अंकुश के रूप में रहता है तथा पथभ्रष्ट होने से बचाता है।^६ यही कारण है कि पराक्रमी राजाओं तथा बुद्धिमान मन्त्रियों के अनेक वंशों तक सम्बन्ध रहते हैं; तथा इससे राज्य भी सुस्थिर रहता है।^७ मन्त्रिवर्ग भी समस्या के प्रत्येक पक्ष पर सूक्ष्मता से विचार कर राजा को अन्तिम निर्णय देता था।^८

कभी-कभी राजा का पुत्रहीन होना मन्त्रियों के लिए भी चिन्ता का विषय बन जाता था। ऐसे समय में मन्त्रिमण्डल मंत्रणा द्वारा राज्य की स्थिति का पर्यालोचन करते हुए युद्ध से बचने का निर्णय भी ले लेते थे।^९ किन्तु कभी-कभी मन्त्रियों की चर्चा के पश्चात् राजा के न चाहते हुए भी युद्ध करने का निर्णय हो जाता था। इस प्रकार मन्त्रिवर्ग राजा को ऐसी सम्मति देता था जिससे युद्ध करना भी कभी-कभी लाभप्रद हो सकता था।^{१०} द्विसन्धान महाकाव्य में भी 'मन्त्रशाला' में

१. चन्द्र०, १२.५७-६६

२. वही, १२.५८-६१

३. तु०—वयमप्यगमाम कौशलं नयमार्गं यदयं भवद्गुणः। चन्द्र०, १२.५८

४. तु०—नयशास्त्रनिर्दिशितेन यः सततं संचरते न वर्धना। चन्द्र०, १२.७६ तथा नहि कार्यविपरिचितः पुरो गिगदन्राजति शास्त्रपण्डितः। चन्द्र०, १२.७०

५. तु०—परिवर्धयति स्वकौशलैः कुशलं शास्त्रयवति प्रमादतः।

जननी जनिकेव तत्फलं कुरुते नः सकलं भवन्मतिः॥ चन्द्र०, १२.५६

६. तु०—अपथाद्विनिवर्तयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः। चन्द्र०, १२.६१

७. तु०—मन्दस्य वंशे कालेन नन्दा सप्ताभवन्तृपाः।

तेषां च मन्त्रिणोऽभूवन्भूयांसः कल्पकान्वयाः॥ परि०, ८.२

८. वराह०, सर्ग-१६, ५०-७०, तथा चन्द्र०, सर्ग-१२, ५७-१०१

९. हम्मीर०, ४.२१-२३

१०. वराह०, १६.५० तथा ७५

राजाओं मन्त्रियों आदि की मन्त्रणा होने का उल्लेख हुआ है जिसका मुख्य विषय था—युद्ध की स्थिति पर विचार करना ।^१ द्विसन्धान में मन्त्रणा के पांच तत्त्व स्वीकार किए गये हैं ।^२ मन्त्रणा का स्वरूप चार दृष्टियों से होता था—(१) प्रथम साधक प्रथम (२) अनर्थकारी अर्थ (३) अर्थबाधक अनर्थ तथा (४) अनर्थकारी अनर्थ ।^३

कोष-संग्रहण के साधन

चन्द्रप्रभचरित में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजा को प्रजा से आय का षष्ठांश वेतन के रूप में प्राप्त होता है ।^४ द्विसन्धान महाकाव्य के एक उद्धरण से विदित होता है कि वणिक्पथ, खान, वन, सेतु, व्रज, दुर्ग तथा राष्ट्र राज्यकोष-संग्रहण के महत्त्वपूर्ण साधन थे ।^५ वणिक्पथ अर्थात् व्यापारियों के मार्गों से, खानों अर्थात् रत्नोत्पत्ति स्थानों से, वनों से, सेतु अर्थात् समुद्र तट पर आने जाने वाले व्यापारियों की नौकाओं से, व्रजों अर्थात् पशु-पालन व्यवसाय करने वाले ग्रामों (गोकुलों) से, राजा अपने कोष की वृद्धि करते थे ।^६ दुर्ग से आय-वृद्धि होने का अभिप्राय दुर्गों में व्यापार आदि करने वाले लोगों से लिया गया 'शुल्क' संभव हो सकता है । नीतिवाक्यामृत को उद्धृत करते हुए टीकाकार नेमिचन्द्र ने 'राष्ट्र' को

१. द्विस०, सर्ग ११

२. 'मन्त्रं पञ्चकं शास्त्र-शुद्धैः' द्विस०, ११.२ तथा तु०—

'कथम्भूतं मन्त्रम् ? पञ्चकं पञ्चावया यस्य तम्, कस्मिन् मन्त्र्यम्, किम्मन्त्र्यम्, कैः सह मन्त्र्यमिति त्रिविधो विकल्पः । आद्यो देशकालापेक्षया द्विष्ठः द्वितीयः कर्मणामारम्भोपाय इत्यादिभिः पञ्चकः ।—कथम् ? इति कृत्वा मन्त्रिभिर्मन्त्रं समारेभे । भो मन्त्रिणः सर्वकार्याधुरीणाः ध्यायतां पर्यालोच्यताम्, का ? कार्यमिद्धिः, कथं यथा भवति ? दीर्घं दीर्घकालं दूरं दूर-देशविषये, कैः ? भवद्भिरिति सम्बन्धनीयमिति ।

—द्विस०, ११.२ पर पद० टीका, पृ० १६६-२००

३. 'तेनालोच्यं योऽनुबन्धैश्चतुर्भिः ।' द्विस०, ११.३ तथा

अनुबन्धैश्चतुर्भिः—अर्थोऽर्थः, अर्थमनर्थः, अर्थमर्थः, अनर्थमनर्थः,

—द्विस०, ११.३, पदकोमुदी-टीका०, पृ० २००

४. रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् । चन्द्र०—१५.१३७

५. वणिक्पथे खनिषु वनेषु सेतुषु व्रजेषु योऽह्नि निशि दुर्गराष्ट्रयोः ।

—द्विस०, २.१३

६. द्विस, २.१३ पर पदकोमुदी-टीका, पृ० २८

पशु-धान्य-हिरण्य (स्वर्ण) आदि सम्पत्तियों से सम्पन्न माना है।^१ राजा की आय-वृद्धि के प्रमुख साधन ये राष्ट्र भी थे। सामन्त राजाओं द्वारा उपहार आदिके रूप में स्वामी राजाओं की अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति इन्हीं राष्ट्रों से प्राप्त होती थी। इस प्रकार द्विसन्धान महाकाव्यकार के अनुसार उपर्युक्त सात स्रोतों से मुख्यतया राज्यकोष में वृद्धि सम्भव थी।

बलपूर्वक कोष-संग्रहण

वराङ्गचरित से यह विदित होता है कि कुछ उद्दण्ड सामन्त राजा स्वकोष वृद्धि के उद्देश्य से निर्बल राजाओं के कोष पर बलपूर्वक अधिकार करने की चेष्टा किया करते थे।^२ कुछ सामन्त राजाओं को युद्ध से बचने के एवज में धन सम्पत्ति देने के लिए भी बाध्य किया जाता था।^३ वराङ्गचरित महाकाव्य में ललितेश्वर की मथुराधिप द्वारा हाथी देने अन्याया युद्ध करने के लिए इसी प्रकार विवश किया गया था।^४ किन्तु ललितेश्वर सेना, मित्र, कोश आदि की दृष्टि से सक्षम नहीं था।^५ और न ही वह मथुराधिप के द्वारा याचित हाथी को ही देना चाहता था।^६ ऐसी विषम स्थिति में मंत्रिमण्डल के एक मन्त्री द्वारा राजा को धन, भूमि, पुर, रत्न तथा अपने हाथी तक को उपहार में देकर मथुराधिप को सन्तुष्ट करते हुए युद्ध विभीषिका से बचने की सम्मति दी गई थी।^७ वराङ्गचरित का प्रस्तुत दृष्टान्त बलपूर्वक कोष-संग्रहण की राजनैतिक परिस्थितियों को स्पष्ट कर देता है। हम्मीर महाकाव्य के अनुसार भी हम्मीर को निर्भय होकर राज्य करने की शर्त के रूप में अलाउद्दीन ने हम्मीर की कन्या के साथ एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं, चार गजों, तथा

१. पशु-धान्य-हिरण्य-सम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम्।

—(नीति-वाक्यामृत, २०.१), पद-कौमुदी-टीका, पृ० २८ पर उद्धृत

२. तु०—शीर्योद्धतावप्रतिकोशदण्डौ गृहीतसामन्तसमस्तसारौ।

—वराङ्ग०, १६७

३. वही, १६.२६

४. एकस्य हेतोः करिणो यदासौ नेच्छेत्मुखम्। वही, १६.२८

५. वयं च हीना बलमित्रकोशैर्दुर्गै च सद्गुणैर्गणैरपेतम्।

—वही, १६.५०

६. अस्मै न मे दन्तिवरस्य दित्सा परेण साकं न च योद्धकामः॥

—वही, १६.५१

७. धनेन देशेन पुरेण साम्ना रत्नेन वा स्वेन गजेन वापि।

—वही, १६.५३

तीन सौ अश्वों की मांग भी रखी थी।^१ इस प्रकार आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक की राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में किसी भी शक्तिशाली राजा द्वारा छोटे तथा निर्बल राजा को कोष-संग्रहण के प्रयोजन से दबाया भी जा सकता था।

उपहार-दहेजादि से कोष-संग्रहण

विवाह आदि अवसरों पर राजाओं के दरबार में अनेक सामन्त राजा बहुमूल्य उपहारों को देकर राजानुकम्पा के पात्र बने रहना चाहते थे।^२ परिणामतः राजा को उपहार के रूप में ही स्वर्ण-रत्न आदि प्रभूत धन सम्पत्ति प्राप्त हो जाती थी। इसी प्रकार दहेज के अवसर पर भी राजाओं में परस्पर धनसम्पत्ति का आदान-प्रदान होता था। वरांगचरित में दहेज में एक हजार हाथी, बारह हजार घोड़े, एक लाख ग्राम, चौदह कोटि प्रमाण स्वर्ण मुद्राएं आदि मिलने का उल्लेख आया है।^३ इस प्रकार दहेज भी कोष-वृद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन रहा था।

युद्धप्रयाण से कोष-संग्रहण

चन्द्रप्रभचरित^४ तथा द्वयाश्रय^५ महाकाव्यों में युद्ध प्रयाण के अवसर पर पराजित राजाओं से धन-सम्पत्ति ग्रहण करने का उल्लेख आया है। इसी प्रकार जयन्त विजय महाकाव्य में भी राजा को धन सम्पत्ति उपहार के रूप में मिलने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^६

१. हम्मीर ! राज्यं यदि भोक्तुमीहा तत् स्वर्णलक्षं चतुरो गजेन्द्रान् ।
अश्वो रणानां त्रिशतीं सुतां च दत्त्वा किरीटं कुरु तो निदेशम् ॥

—हम्मीर०, ११.६०

२. वराङ्ग०, ११.६७

३. तु०—मत्तद्विपानां तु सहस्रसंख्या द्विषट्सहस्राणि तुरङ्गमानाम् ।
ग्रामाः शतेन प्रहताः सहस्रा हिरण्यकोटयश्च चतुर्दशैव ॥

—वराङ्ग०, १६.२१

४. तु०—तैर्दत्तां बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेनादितं गुरुदक्षिणामिवासी ।

—चन्द्र०, १६.४२

५. द्वया०, १५.३५

६. जयन्त०, ११.७

न्याय व्यवस्था

न्याय व्यवस्था तथा राज्य संस्था—सामाजिक नियंत्रण के लिए राज्य संस्था का विशेष महत्व होता है।^१ जनसामान्य में कानून तथा दण्डविधान द्वारा व्यवस्था स्थापित करना भी राज्य का ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व स्वीकार किया जाता है। प्रायः यह भी स्वीकार किया जाता है कि राज्य संस्था से भिन्न सामाजिक आदर्शों अथवा नैतिक आचरणों के द्वारा भी समाज में व्यवस्था बनी रह सकती है किन्तु विषम राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित जटिल समाजों में कोरे सामाजिक आदर्श अथवा नैतिक उपदेश अपराधों के नियन्त्रण नहीं हो सकते।^२ समाजशास्त्रियों तथा राजनैतिक चिन्तकों ने दण्डविधान द्वारा अपराधों की रोकथाम करने की प्रवृत्ति को 'राज्य-संस्था' की एक प्रमुख विशेषता मानी है तथा एक ऐसी विशेषता भी जो 'समाज' के स्वरूप से मेल नहीं खाती है।^३ 'समाज' में प्रचलित आदर्शों तथा नैतिक नियमों में प्रायः शारीरिक अथवा अन्य किसी प्रकार की हिंसक पद्धति से दण्ड देने का विधान नहीं होता। समाज तो केवल धर्म आदि का भय दिखाकर ही सामाजिक अपराधों की संख्या को मनोवैज्ञानिक ढंग से कुछ कम कर सकता है। इसके विपरीत शक्ति सम्पन्न होने के कारण, 'राज्य संस्था' क्रूरतिक्रूर पद्धति से भी न्याय-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए समर्थ होती है।^४

ग्रीन द्वाता प्रतिपादित दण्ड विषयक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि 'राज्य संस्था' द्वारा दण्ड की व्यवस्था करने का प्रयोजन मनुष्यों में बदला लेने की भावना को कार्यान्वित न होने देना है। जब तक 'राज्य संस्था' का विकास नहीं हुआ था, मनुष्य अपने प्रति किए गए अन्याय अथवा अत्याचार का स्वयं प्रतिकार कर लेता था। ऐसी अवस्था में निर्बलों के लिए न्याय प्राप्ति सुगम नहीं हो सकता था।^५ 'मात्स्यन्याय' की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही 'राज्यसंस्था' का विकास हुआ तथा न्याय की व्यवस्था स्थापित करने का कार्य व्यक्तियों के बदले स्वयं राजा करने लगा। इस प्रकार राज्य के सन्दर्भ में न्याय व्यवस्था की समस्या एक सामाजिक समस्या है जिसका समाधान पूर्णतः राजनैतिक पद्धतियों से किया जाता है। दण्ड देना राज्य का अधिकार ही नहीं कर्त्तव्य भी है। राज्य उन व्यक्तियों को

१. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, राजनीति शास्त्र, मसूरी, १९६८, पृ० ४३७
२. किंग्सले डेविस, मानव समाज, पृ० ५४
३. विश्वनाथशुक्ल, राजनीति और दर्शन, पृ० १३६
४. किंग्सले डेविस, मानव समाज, पृ० ५५
५. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, राजनीति शास्त्र, पृ० ४६०

दण्ड दे सकता है जो सामाजिक प्रवृत्तियाँ रखतें हों तथा ऐसा करना समाज के हित व कल्याण के लिए भी आवश्यक हो।

समाज में भिन्न-भिन्न समयों तथा कालों में विभिन्न प्रकार की दण्ड व्यवस्थाएँ हो सकती हैं। इन दण्ड व्यवस्थाओं में दण्ड विषयक निम्नलिखित सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

१. प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)
२. निरोद्धात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory)
३. सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)
४. दैवी सिद्धान्त (Divine Theory)^१

जन संस्कृत महाकाव्य तथा न्याय व्यवस्था

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार न्याय का मुख्याधार राजा ही माना जाता था।^२ प्रायः राजा की प्रशंसा करते हुए यत्र-तत्र राज्य में किसी प्रकार की भी अराजकता अथवा कुटिलता न होने के उद्गार व्यक्त किए गए हैं।^३ जैन कवियों ने चूँकि राजा को आदर्श राजा के रूप में चित्रित किया है फलतः न्याय व्यवस्था से सम्बद्ध विभिन्न अपराधों तथा दण्डों का इनमें अधिक उल्लेख नहीं हो पाया है। प्रासङ्गिक रूप से प्राप्त न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार हैं—

अपराधवृत्ति धार्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में

जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित मुनियों आदि के धार्मिक उपदेशों के अवसर पर सामाजिक अपराधों के नियन्त्रण पर विशेष बल दिया गया है। वराङ्ग चरित महाकाव्य के अनुसार चरित्रहीन, तथा निरन्तर पापकर्मों में रत रहने वाले लोगों के लिए नरक-यातना का विधान है।^४ अत्यन्त मायावी, झूठे मापतौल का प्रयोग करने वाले तथा वस्तुओं में मिलावट करने वाले व्यक्ति भी तिर्यञ्च गति प्राप्त करते हैं।^५ इनके अतिरिक्त झूठ बोलने वाले, दूसरों की सम्पत्ति चुराने वाले,

१. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, राजनीति शास्त्र, पृ० ४५६-६३

२. तु०—न्यायेन लोक-परिपालनसक्तबुद्धिः।

—वराङ्ग०, १.४६ तथा

पुरस्कृत्य न्यायं खलजनमनाहत्य —कीर्ति०, ३.७७

निजाः प्रजाः पालयता मयेन । जयन्त०, १.५६

३. वर्ध०, ५.१४, चन्द्र०, २.१४२; द्रया०, १६.१३७, कीर्ति०, ४.३, वसन्त०, ३.२५

४. अचारित्रः पुनर्धरे नरके पच्यते चिरम् । —वराङ्ग०, ४.८२

५. तु०—मायातिवञ्चनप्रायाः कूटमानतुलारताः ।

बभनत्यायुस्तिरश्चां ते रसभेदश्चकारिणः ॥ वराङ्ग०, ४.६४

दूसरों की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने वाले लोगों के लिए नरक लोक में जाने की मान्यता प्रसिद्ध थी।^१ अन्य स्त्रियों के साथ रतिक्रीड़ा करने के अपराध करने वालों को नरक तो मिलता ही है साथ ही नरक के नारकी इन्हें गरम लोहे या तांबे से बनाए गए आभूषणों, मालाओं तथा वस्त्रों को पहनाते हैं।^२ तदनन्तर नारकी स्त्रियां शृङ्गार सज्जा के साथ इन पुरुषों का आलिङ्गन करती हैं।^३ इस प्रकार गाढ़ आलिङ्गन मात्र से ही उनका शरीर पिघल जाता है।^४

धार्मिक विश्वासों के सन्दर्भ में परिगणित अन्य अपराधों में पशु-पक्षियों को पालने वाले घनतृष्णा रखने वाले आदि भी अनैतिक व्यक्ति कहे गए हैं।^५ इनके विषय में धड़े में बन्द कर पकाने, अत्यन्त उष्ण बालू तथा राख में भुनने, तथा मारपीट कर भूसे के समान चूर्ण कर देने जैसी भयङ्कर यातनाओं के प्राप्त होने की धार्मिक मान्ताएं प्रचलित रही थीं।^६ इस प्रकार जैन धर्म में नरक प्राप्ति तथा अन्य भयङ्कर यातनाएं सहने वाले लोग वे ही लोग हो सकते थे जो संसार में अनेक प्रकार के कुकृत्य अपराध करते थे।^७ धार्मिक उपदेशों के द्वारा इन मान्यताओं का प्रचार व प्रसार समाज में मनोवैज्ञानिक रूप से अपराध निवृत्ति में भी विशेष सहायक दत्ता हुआ था।

हाकार-माकार तथा धिक्कार नीति

पद्मानन्द महाकाव्य में दण्ड व्यवस्था सम्बन्धी जैन पौराणिक मान्यता का भी प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार हाकार,^८ माकार^९ तथा धिक्कार नीति

१. तु०—हिंसायां निरता नित्यं मृषावचनतत्पराः ।

परद्रव्यस्य हर्तारः परदाराभिलङ्घिनः ॥

—वराङ्ग०, ५.२६ तथा ५.२६

२. तु०—माल्याभरणवस्त्राणि तप्तताम्रमयानि च ।

धारयन्ति परस्त्रीणां रतिसङ्गमकर्कशाः ॥ वही, ५.६०

३. तु०—भावयन्ति स्त्रियः पुंस आश्लिष्यन्ति प्रिया इव ॥

—वही, ५.६२

४. तु०—ताभिराश्लिष्यमाणाश्च दग्धसर्वाङ्गयण्डयः । —वही, ५.६३

५. वही, ५.६६-६७

६. वही, ५.६६

७. विशेष द्रष्टव्य—वराङ्गचरित, सर्ग-५

८. तु०—हा त्वया रे कृतं दुष्टमिति । —पद्मा० ७.१६६

९. तु०—ततो यशस्वी माकारदण्डं युगलिषु व्यधात् । —पद्मा० ७.२१३

द्वारा अपराधियों पर अंकुश लगाया जा सकता है।^१ अल्प अपराध के लिए 'हाकार' मध्यम स्तर के अपराध के लिए 'माकार'^२ तथा इससे बड़े अपराध के लिए 'धक्कार' नीति का प्रयोग किया जा सकता है।^३

जैन परम्परा में प्रचलित उपर्युक्त दण्डव्यवस्था की धारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी एक सफल व्यवस्था कही जा सकती है। आधुनिक काल में प्रचलित दण्ड व्यवस्था के सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory of Punishment) से भी इसकी किंचित् तुलना की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को अपराधी होने के कारण दण्ड भोगी नहीं, अपितु सामाजिक परिस्थितियों से विवश रोगी के समान देखा जाता है। परिणामतः अपराध करने के प्रत्युत्तर में घो शारीरिक यातनाएं देना अथवा अर्थ-दण्ड देना अपराध की मूल समस्या का निवारण नहीं है। हाकार, माकार तथा धक्कार सम्बन्धी दण्ड व्यवस्था में शारीरिक यातनाएं आदि देने के बदले अपराध करने के मनोबल को हतोत्साहित करने पर विशेष बल दिया गया है।

उपर्युक्त तीन नीतियों के असफल होने पर (१) बन्धन (२) ताड़न (३) निर्वासन तथा (४) प्राण दण्ड के क्रमानुसार प्रयोग द्वारा भी अपराधों पर नियंत्रण पाया जा सकता था।

विभिन्न प्रकार के अपराध एवं दण्ड

चोरी तथा डाका—आलोच्य काल में पर द्रव्य-हरण की प्रवृत्ति सम्भवतः व्यावसायिक अपराध वृत्ति का रूप ले चुकी थी। चोरों के पास विशेष विद्याएं होती थीं। हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में चार प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है^४—

१. अवस्वपनिका विद्या—लोगों को निद्रामग्न कर देना।^५

२. तालोदघटाटिनी विद्या—प्रवेश करते हुए मार्ग में द्वार आदि की बाधाओं को समाप्त करना।

३. स्तम्भनी विद्या—व्यक्ति को स्तब्ध अर्थात् क्रियाविहीन कर देना।^६

४. मोक्षणी विद्या—मुक्त करने की विद्या।

१. तु०—आविश्चकार धक्कारनीतिमन्यां प्रसेनजित् । —पद्मा०, ७.२२५

२. तु०—अल्पेऽपराधे हाकारं माकारं मध्यमे तु सः । —वही, ७.२१४

३. तु०—सोऽहन् हाकार-माकार-धक्कारैर्युग्मिदुर्नयम् । —वही, ७.२२६

४. तु०—अवस्वपनिकातालोद्धाटिनीभ्यां समन्वितः । —परि०, २.१७१ तथा
वयस्य देहि मे विद्यां स्तम्भनीं मोक्षणीमपि । वही, १.१८२

५. तु०—जाग्रतं सकलं लोकं जम्बुवर्जमसृषुषत् । —वही, २.१७४

६. तु०—ते चोराः स्तब्धवपुषोऽभूवन् लेप्यमया इव । —वही, २.१७६

प्रायः चोर दस्यु नगर के धनिक सार्थवाहों के घर की ताक में रहते थे।^१ विवाह आदि अवसरों पर ये डाका डालने की विशेष योजनाएं बनाते थे।^२ चोर डाकू पर्वत गुफाओं आदि में छिपे रहते थे।^३ वराहचरित में ऐसी पुलिन्द जाति का उल्लेख आया है जो सार्थवाहों के काफिलों पर अचानक आक्रमण कर धन लूट लेती थी।^४ इस प्रकार बड़े चोरों तथा डाकूओं की अपनी सेना भी होती थी।^५ चोरों के अपने गुप्तचर भी होते थे जो धन सम्पत्ति के भण्डारों की सूचना देते रहते थे।^६ कुछ पक्षी भी इस कार्य के लिए प्रशिक्षित किए जाते थे। पथिकों को देखकर ये पक्षी उनके धन की सूचना चोर दस्युओं को दे देते थे।^७

हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व में आये उल्लेख के अनुसार कभी कभी राज्य के असन्तुष्ट व्यक्ति भी चोरी डाका डालने का व्यवसाय अपना लेते थे। राजकुमार 'प्रभव' को राज्य न मिलने पर उसने इसी व्यवसाय द्वारा अपनी जीविका को चलाया।^८

चोरों पर नियन्त्रण—यशोधरचरित में आए उल्लेख के अनुसार राजाओं के अपने गुप्तचर थे जौ चोर दस्युओं के स्थानों की सूचनाएं रखते थे।^९ नगर में चोरी की वस्तुओं को बेचना पूर्णतः निषिद्ध था।^{१०} जो भी इस प्रकार के चोरी के सामान को बेचता था उसे राजा के कर्मचारी उसी समय बन्दी बना लेते थे।^{११} कीर्तिकौमुदी महाकाव्य के अनुसार ग्रन्थ के लेखक कवि सोमेश्वर के समकालिक राजा लावण्य प्रसाद के राज्य में चोरी के अपराधों पर विशेष नियन्त्रण पा लिया गया था। फलतः उसके राज्य में चोरों का आतङ्क पूर्णतः शान्त हो चुका था।^{१२}

१. तु०—तं सार्थं लुण्टितुं तत्र चौरव्याघ्रा दधविरे। —परि०, २.१६२

२. वही, २.१७६

३. वही, २.१६६

४. वराह०, सर्ग-१८

५. वही,

६. परि०, २.१७१

७. वही, ८.१५६

८. वही, २.१७०

९. यशो०, २.२०

१०. परि०, १.२१८, २१६

११. वही, १.२१६

१२. तु०—न चौरास्तस्य सौराज्ये दोरात्थं कुर्वन्ते ववचित्। —कीर्ति०, २.७०

यशोधरचरित में चोरी पर नियन्त्रण पाने के लिए कठोर दण्डों का उल्लेख आया है। इन कठोर दण्डों में चोरों को पकड़ कर उनके शरीर को बीँघते हुए यातना देना,^१ उन्हें 'कुसूलक' (धान्य आदि रखने का पात्र जिसे कर्नाटक भाषा में 'कणज' कहा जाता है) में डालकर ऊपर से लाक्षा का लेप कर देना आदि दण्ड दिए जा सकते थे।^२ अभयकुमारचरित (६.६६०-६६८) के आधार पर चोरी करने वाले व्यक्ति को धातुमय चूर्ण से काला कर, गले में सरावमालिका पहनाकर, सिर पर जीर्णसूर्प का छत्र लगाकर बिना पूँछ तथा कान से युक्त गधे पर बिठाकर, सारे नगर का भ्रमण कराते हुए वध-स्थान की ओर ले जाया जाता था।^३

हत्या

तत्कालीन समाज में पारस्परिक द्वेष के कारण हत्या करने की घटनाओं की सूचना मिलती है।^४ हत्या कर देने के उपरान्त अपराध सिद्ध होने के भय से शव को वहीं खड़के में गाड़ दिया जाता था।^५ राजकर्मचारियों में से यदि किसी एक की हत्या कर दी जाए तो सर्वप्रथम हत्यारे व्यक्ति को राजा के पास ले जाया जाता था।^६ किन्तु सरल स्वभाव वाले व्यक्तियों से यदि अनजाने में हत्यादि अपराध हो जाते थे तो वे राजपुरुषों द्वारा बन्दी बनाए जाने से पूर्व ही राजा के पास जाकर स्वयं ही अपना अपराध स्वीकार कर लेते थे।^७

स्त्री-व्यभिचार

पर-स्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना आलोच्य काल की बहु-प्रचलित अपराधवृत्ति सी बन गई थी।^८ कभी कभी रानियों तथा राजकुमारियाँ द्वारा परपुरुष से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने का भी उल्लेख मिलता है। इनमें

१. तु०—निगृह्य चौरं तु निहत्य चोच्यकैः कदाचिदेकं परमाणुमात्रकम् ।

—यशो०, ४.१५

२. तु०—प्रवेश्य चौरं हि महत्कुसूलकं, विलिप्य लाक्षां बहिरपरन्धकम् ।

—वही, ४.१७

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में०, पृ० ५२६

४. तु०—इत्यहं खण्डशोऽकार्षं कूष्माण्डमिव तद्गुपः । —परि०, ३.२०८

५. तु०—गतं खनित्वा तत्रैव न्यधामथ निधानवत् । —वही, ३.२०८

६. परि०, ७.७१

७. तु०—तदद्य रजकवधापराधान्तृपपुरुषैः ।

नीये न यावत्तावद्धि स्वयं यामि नृपान्तिकम् ॥ —वही ७.७१

८. तु०—परदाराभिलङ्घिनः । —वराह्म०, ५.२६

परस्त्रीसुरतप्रियान् । —वही, ५.५६

से यशोधरचरित में यशोधर की रानी का महावत से अनैतिक सम्बन्ध होना^१ तथा वराङ्गचरित महाकाव्य में राजकुमार वराङ्ग के रूप लावण्य पर आसक्त होकर राजकुमारी मनोरमा द्वारा विवाह करने की उत्कट इच्छा प्रकट करना आदि कुछ इसी प्रकार के उदाहरण हैं। वराङ्गचरित के इस दूसरे दृष्टान्त के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राजकुमार वराङ्ग (कश्चिद्भट) ने मनोरमा के उक्त विवाह प्रस्ताव को 'स्वदारसंतोषव्रत' के उल्लङ्घन होने के भय से अस्वीकार कर दिया था।^२ मनोरमा की सखी ने वराङ्ग के इस आशय को तर्कहीन बताते हुए कहा कि व्रतों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है तथा स्वर्ग में सार वस्तु कोई है तो वह वहाँ की अप्सराएं होती हैं।^३ इसीलिए इसी जन्म में प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त अप्सराओं के तुल्य रूपसौन्दर्य वाली मनोरमा को त्याग कर व्रताचरण द्वारा स्वर्गस्थ देव कन्याओं की कामना करना सर्वथा अनुचित है।^४ वराङ्गचरित के इस दृष्टान्त से सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्री-भोग विलास सम्बन्धी मूल्य समाज में प्रभावशाली मूल्य बन चुके थे तथा कभी-कभी विषय-वासनाओं के वशीभूत होकर नैतिक-धर्माचरण को भी हेय माना जाने लगा था। समाज में ऐसी स्त्रियाँ थीं जो अभीष्ट-प्रेमी को माया प्रयोगों तथा वशीकरण मंत्रों द्वारा वश में करना भी जानती थीं।^५ इसीलिए जैन धार्मिक उपदेशों में स्त्री-पुरुषों के इन अवैध सम्बन्धों की निन्दा की गई है।^६ पार्श्वनाथचरित में कमठ द्वारा अपने छोटे भाई की पत्नी वनुन्धरा के

१. वराङ्ग०, १०.४०-४५

२. तु०—स्वदारसंतोषमणुव्रताख्यं साध्वीश्वरो महामुपादिदेश।

—वही, १६.६१

३. तु०—व्रते दिवं यान्ति मनुष्यवर्गा दिवश्च सारोऽप्सरसो वराङ्गचः।
व्रताभिगम्या यदि देवकन्या इयं हि ताभ्यो वद केन हीनाः।

—वही, १६.२४

४. तु०—प्रत्यक्षभूतं फलमुद्विहाय परोक्षपातं मृगये ह्यापार्थम्।
न पण्डितस्त्वं व्रत बालिशोऽसि संदिग्धवस्तुन्यथ मुख्यमास्ते।

—वही, १६.६३

५. तु०—जानामि विद्यां विविधप्रकारां मायामदस्यां मदनप्रयोगम्।
आवेशनं भूतवशीकृतिं च यदीच्छसि त्वं प्रवदेत्यवोचत् ॥ —वही, ५३

६. वही, ५.२६ तथा ५.५६

रूप-लावण्य पर आकृष्ट होकर व्यभिचार करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। राजा ने कमठ को इस कुकृत्य के लिए नगर-निर्वासन का दण्ड दिया।^१

राज षड्यन्त्र

राजाओं के राज्य में प्रायः षड्यन्त्रों की योजनाएं भी बनाई जाती थीं। वराङ्गचरित में स्वयं रानी तथा मंत्री भावी उत्तराधिकारी राजकुमार को छल-कपट द्वारा नष्ट करने की योजनाओं के सूत्रधार थे। किन्तु इस षड्यन्त्र की सूचना राजा तक नहीं पहुंच पाई थी।^२ हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व में राजा नन्द को कल्पक के राजषड्यन्त्र की गुप्तचरों द्वारा पहले ही सूचना मिल गई थी। राजषड्यन्त्र के बदले में षड्यन्त्रकर्त्ता कल्पक को सपरिवार गहरे कुएं में डाल दिया गया।^३

जूआ खेलना

समाज में जूआ खेलना भी बहुत प्रचलित था।^४ राज दरबार में भी जूआ खेलने की प्रथा थी।^५ प्रायः जुए में कपटपूर्वक व्यवहार भी होते थे।^६ जुआरियों में पारस्परिक वैमनस्य होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। जुआरियों के झगड़ों में अस्त्रों द्वारा मार पिटाई भी की जाती थी।^७

पशु दण्ड-व्यवस्था

यशोधरचरित में तत्कालीन समाज में प्रचलित पशु-दण्ड विधान की ओर भी संकेत किया गया है। किसी एक भैंसे द्वारा राजा के घोड़े को मार दिया गया था। इस अपराध के लिए राजा की ओर से भैंसे को दण्ड दिया गया। दण्ड देने के प्रयोजन से भैंसे के चारों पैरों को भूमि में गाढ़कर नमक मिले उष्ण जल से नहलाया गया। तदनन्तर उसे उल्टा कर अग्नि में जला दिया गया।^८ पशु-दण्डविधान का

१. पादर्व०, २.१-६०

२. वराङ्ग०, १२.१-४०

३. परि०, ७ ६८-१००

४. कीर्ति०, ६.६, परि०, १.२४७ तथा ८.३५२-५४

५. परि०, ८.३५२-५५

६. तु०—चन्द्रगुप्तगुरुः कृतपाशकैस्तु जिगाय तान् । —परि०, ८.३५५

७. तु०—संजातद्यूतकलहे सद्योऽस्त्रेण न्यहन्यत् ॥ —परि०, १.२७४

८. तु०—कीलितेषु चरणेषु चतुर्षु क्षारवारिपरिशोषितकुक्षिम् ।

ऊर्ध्वजानुमदहनृपभृत्यास्ते कृपाविरहिणो महिषं तम् ॥

—यशो०, ३.७०

प्रस्तुत दृष्टान्त एक विरल दृष्टान्त के रूप में प्राचीन पशु-दण्डविधान सम्बन्धी क्रूर प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

अपराध पुष्टि की न्यायालयीय प्रक्रिया

राज दरबार में पारस्परिक-कलहों का निर्णय होता था।^१ दरबार में दोनों पक्षों के लोग उपस्थित होते थे। इन दोनों पक्षों के अपने अपने साक्षी भी पैरवी के लिए जाते थे।^२ पुत्र आदि अर्पण करने के अवसरों पर भी साक्षियों को सामने रखने की प्रथा थी।^३ राजा के निर्णय करने से पूर्व सम्बद्ध व्यक्ति भी अपने विचार प्रकट कर सकता था तथा राजा को परामर्श आदि भी दे सकता था। पार्श्वनाथ-चरित में कमठ द्वारा अपने छोटे भाई की पत्नी के साथ किए गए दुराचार की राजकर्मचारियों ने सूचना दी थी किन्तु भरभूति का इस सम्बन्ध में विचार था कि यद्यपि राजकर्मचारी झूठ नहीं बोल सकते तथापि प्रायः प्रत्यक्ष घटित होने वाली घटनाएं भी असत्य हो जाती हैं तो स्त्री के साथ एकान्त में किए गए व्यभिचार के लिए अभियुक्त कमठ को ही कैसे दोषी पाया जा सकता है। अतः सत्य के उद्घाटनार्थ और अधिक प्रयत्न किए जाने चाहिए तदनन्तर ही दोषी को दण्ड दिया जाना चाहिए। भरभूति की उक्त सम्मति का राजा ने स्वागत किया तथा और अधिक छान-बीन करने के उपरान्त दोषी सिद्ध हुए कमठ को गधे पर बिठाकर तिरस्कार पूर्वक नगर-निर्वासन का दण्ड दिया।^४ अपराधी व्यक्ति ने यदि पहले कभी राजा के प्रति उपकार किया हो तो उसे क्षमा दान भी दिया जा सकता था।^५

शासन व्यवस्था के उच्चाधिकारी

(क) केन्द्रीय शासन व्यवस्था

जैन संस्कृत महाकाव्यों में शासन व्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न पदों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) केन्द्रीय शासन, (ख) प्रान्तीय शासन से सम्बद्ध उच्चाधिकारी तथा (ग) ग्राम प्रशासन के अधिकारी। गुप्तकालीन शासन व्यवस्था में प्रचलित अनेक 'पद' आलोच्य युग में तथैव

१. तु०—पक्षयोर्हभयोरेवमुच्चैविवदभानयोः।

लोकोऽवादीदमुं वादं राजा निर्धारयिष्यति ॥ —परि०, १२.१०५

२. वही, १२.१०६

३. ततश्च साक्षिणः कृत्वा सनिर्वेदं सुनन्दया। —वही, १२.४४

४. पार्व०, २.५०-६०

५. परि०, १.२२१

प्राप्त होते हैं। 'राजा', 'युवराज' के अतिरिक्त 'अमात्य', 'सचिव', 'मन्त्री', 'पुरोहित', 'सेनापति', 'सान्धिविग्रहिक', 'दण्डनायक' पदों की गुप्तकालीन शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थिति थी।^१ आलोच्य महाकाव्यों की कालसीमा के अन्तर्गत दक्षिणभारत तथा उसके समीपवर्ती भूभाग में गुर्जरदेश से सम्बन्धित चालुक्य शासन व्यवस्था,^२ राजस्थान आदि प्रान्तों से सम्बन्धित प्रतिहार चाहमान आदि शासन व्यवस्था,^३ कर्नाटक आदि प्रदेशों से सम्बद्ध अलूपीय एवं पश्चिमी चालुक्य शासन व्यवस्था^४ महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त कदम्ब, राष्ट्रकूट, काकतीय, चाहमान तथा मुस्लिम शासन व्यवस्था की गतिविधियों से भी हम्मीर आदि कतिपय जैन संस्कृत महाकाव्य प्रभावित हुए हैं।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में केन्द्रीय शासन व्यवस्था से सम्बद्ध निम्नलिखित पदों का उल्लेख प्राप्त होता है :—^५

१. विशेष द्रष्टव्य—Puri, B.N., History of Indian Administration, Vol. I. 1968, Bombay, pp. 119-130
२. गुजरात के अन्तर्गत निम्नलिखित मण्डलों की शासन व्यवस्था सम्मिलित थी—अष्टादशकृतमण्डल (आबु प्रान्त), अश्वन्ति मण्डल (मालव) भिल्लस्वामीमहाद्वादशकमण्डल (पर्वतीय प्रान्त), दक्षिपद्रमण्डल (पंचमहल जिला, भकुआ, रतलाम, आदि प्रदेश), गूर्जरमण्डललाटमण्डल (भड़ौच, सूरत तथा थाना के प्रदेश) कच्छमण्डल, मेदातटमण्डल, नर्मदातटमण्डल (भड़ौच का भाग, राजपिपला के प्रदेश तथा रवेड जिला) सत्यपुरमण्डल (जोधपुर), सारस्वतमण्डल (मेहसन, रघनपुर, पालनपुर), सौराष्ट्रमण्डल, तिम्वनक-मण्डल, (भावनगर के समीप सौराष्ट्रस्थ प्रान्त) द्यूतविमण्डल (कच्छ का प्रान्त विशेष)—विशेष द्रष्टव्य Munshi, K.M., Glory that was Gurjara Desa (A.D. 550-1300), Bombay, pp. 348-49.
३. भौगोलिक विभाजन के लिए द्रष्टव्य—Sharma, Dashratha, Rajasthan Through the Ages, pp. 18-19
४. Saletore, B.A., Ancient Karnataka, Poona, 1936, Map I & p. 82
५. तु०—भाण्डागारी चमूभर्ता दुर्गाव्यक्तः पुरोहितः।

कर्माध्यक्षोऽथ दैवज्ञो मन्त्री मूलं हि भूभूताम् ॥

—द्विस० २.२२ पर उद्धृत नेमिचन्द्र पदकौमुदीटीका तथा चन्द्र०, ४.४७ पर उद्धृत

मुनिचन्द्रकृत विद्वन्मतोक्तलभाटीका—'मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति-दुर्गाधिकारी-कर्माधिकारी-कोशागारिक-दैवज्ञा इति सप्तविधं मौलं बलम्।

(१) सामन्त राजा^१ (२) युवराज अथवा राजपुत्र^२ (३) महामात्य^३ (४) अमात्य^४ (५) प्रधान मंत्री^५ (६) मंत्री^६ (७) सचिव^७ (८) पुरोहित^८ (९) सेनापति^९ वमूपति^{१०} (१०) सान्निधविग्रहिक^{११} (११) आयुधागारिक^{१२} (१२) देवज्ञ^{१३} तथा दण्डनायक^{१४}। आदिपुराण^{१५} तथा हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्ता-मणिकोश^{१६} में भी उपर्युक्त मन्त्रिमण्डल के अधिकांश पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

-
१. पूर्वोक्त, पृ० ८५-८६
 २. वराङ्ग०, १५.२, १७.१४, २२.२
 ३. परि०, ८.४१, द्वया०, ६.२६, हम्मीर०, ८.६७
 ४. वराङ्ग०, २८.२, कीर्ति०, ३.४५, पद्मा०, ४.२०
 ५. वराङ्ग०, २३.५, चन्द्र०, १२.६७
 ६. वराङ्ग०, १६.४६, १११, १५.२, चन्द्र०, १२.५७, धर्म०, ४.६२, परि०, ८.२, १४ कीर्ति०, २.६५, ६.४२, १.११३, हम्मीर०, ८.६६, ४.२१
 ७. वराङ्ग०, १६.११०, नेमि०, ६.१०, कीर्ति०, ३.७६, परि०, ८.२६, हम्मीर०, ८.६७
 ८. वराङ्ग०, १६.११०, पद्मा०, ४.२०, द्वया०, ३.८०, त्रिषष्टि०, २.४.३३, हम्मीर०, २.२२, ८.५७
 ९. वराङ्ग०, २८.२, चन्द्र०, २.३४, १५.६१, षिष्टि०, २.४.३४, ३५६
 १०. वराङ्ग०, १७.१४, चन्द्र०, १५.६७, द्वया०, ८.६०, त्रिषष्टि०; २.४.१६४
 ११. आगे देखें, पृ० ११४-१५
 १२. द्वया०, १७.४४
 १३. हम्मीर०, ६.१
 १४. वराङ्ग०, १५.२, १७.१०
नेमि०, ६.१०
 १५. द्रष्टव्य—नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में०, पृ० ३५२-५५
 १६. तु०—अमात्य सचिवो मन्त्री—महाभात्रप्रधानानि, पुरोधास्तु पुरोहितः।
चतुरङ्गबलाध्यक्षः सेनानीर्दण्डनायकः ॥ अभिधान०, ७१६-२५
—अनुवादक तथा सम्पा०, विजयकस्तूरसूरि, अहमदाबाद, वि० सं०
२०१३, पृ० १६३-६४

केन्द्रीय शासन व्यवस्था के उच्चाधिकारी—पद तथा कार्य

१. राजा (सामन्त^१ अथवा माण्डलिक राजा^२)—केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में विभिन्न मण्डलों एवं प्रदेशों के स्वामी (Governor) 'सामन्त' तथा 'माण्डलिक' राजा होते थे। मध्यकालीन भारतीय शासन व्यवस्था में इन 'सामन्त' राजाओं का शासन व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा इन अधीनस्थ सामन्त राजाओं को अपने शासन के अन्तर्गत रखते थे और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को इनसे जो भी लाभ हो सकता हो उसके लिए इन राजाओं को प्रयत्नशील रहना पड़ता था। प्रान्तीय शासन व्यवस्था का केन्द्रीय शासन व्यवस्था से सूत्र बंधा रहे इसलिए इन 'सामन्त' तथा 'माण्डलिक' राजाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था।^४ बड़े राजा के अधिकार में अनेक 'सामन्त' राजा रहते थे। अतः इन 'सामन्त' राजाओं के ऊपर भी 'महासामन्त' का पद था जो अन्य सामन्तों से बल एवं पराक्रम की दृष्टि से श्रेष्ठ होता था।^५ शुक्रनीति सार में 'सामन्त', 'माण्डलिक' आदि का वार्षिक आय की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। 'सामन्त', 'माण्डलिक', 'राजा', 'महाराज', 'स्वराट्', 'सम्राट्', 'विराट्' एवं 'सार्वभौम' आदि की पारिभाषिक संज्ञाएं रूढ़ हो चुकी थीं। वार्षिक आय के अनुसार इनको उपाधियों का तारतम्य भी स्वीकार किया जाने लगा था। उदाहरणार्थ 'सामन्त' की एक लाख से तीन लाख, 'माण्डलिक' की ४ लाख से १० लाख, 'राजा' की ११ लाख से २० लाख, 'महाराज' की २१ लाख से ५० लाख, 'स्वराट्' की ५१ लाख से १ करोड़, 'सम्राट्' की २ करोड़ से १० करोड़ तथा 'विराट्' की ११ करोड़ (चान्दी के कार्षापण) से अधिक आय होती थी। 'सार्वभौम' इन सभी से अधिक आय वाला होता था तथा सप्तद्वीपा-पृथ्वी पर शासन करता था।^६

२. मंत्री—'अमात्य', 'सचिव' तथा 'मन्त्री' पदों में भेद अत्यधिक स्पष्ट नहीं

१. Sāmanta, Lit. 'bordering, neighbouring, a neighbour, a feudatory prince, the chief of a tributary district, is a technical official title, denoting a rank next below that of the Mahāsāmanta.

—Fleet, John, Fithfull, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III, Varanasi, 1970, p. 148, fn. I.

२. शुक्रनीतिसार, १.१८२-८६

३. चन्द्र०, १६.२३-२४

४. चन्द्र०, ४.४७

५. पूर्वोक्त, पृ० १०१

६. विशेष द्रष्टव्य, शुक्रनीतिसार, १.१८२-८६

नहीं है।^१ बैसे तो ये तीनों संज्ञाएं पर्यायवाची प्रतीत होती हैं,^२ किन्तु फिर भी उत्कीर्ण लेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इतना निश्चित है कि ये संज्ञाएं शासन व्यवस्था में पारिभाषिक रूप से भी प्रचलित रही थीं।^३ पद्मानन्द महाकाव्य में स्पष्ट उल्लेख हुए हैं कि राज्य में अनेक मंत्री होते थे।^४ उन सभी मंत्रियों से ऊपर 'महामात्य' का पद होता था।^५ 'महामात्य' का पद एक प्रकार से दुर्लभ था।^६ राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों की गोपनीयता बनाए रखना 'महामात्य' का विशेष कर्तव्य था।^७ इसी प्रकार मंत्रियों के प्रधान पद को द्योतित करने वाले 'मन्त्रीश्वर'^८ आदि पद 'महामात्य' के ही पर्यायवाची प्रतीत होते हैं।

३. सेनापति (चमूपति)—वैसे तो राजा ही सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था^९ किन्तु सैन्य विभाग की सम्पूर्ण व्यवस्था एवं देखरेख का उत्तरदायित्व

१. Puri History of Indian Adm., p. 149, fn. 42, 49

२. मध्यकालीन शासन व्यवस्था में भी चाहे मंत्री, अमात्य, सचिव पारिभाषिक हों किन्तु जैन संस्कृत महाकाव्यों में मंत्री के सामान्य अर्थ में इनका प्रयोग हुआ है, तुलनीय—'अमात्य सेनापति मन्त्रिपुत्राः' (वराङ्ग० २८.१२), ये मन्त्रिणो येऽत्र मण्डलीकाः (कीर्ति० २.६५), 'वस्तुपालसचिवस्य' (वसन्त० ५.६५), 'श्रीवस्तुपालतेजपाले मन्त्रीश्वरौ'—(राजशेखरकृत वस्तुपालप्रबन्ध), वसन्तविलास (परिशिष्ट), पृ० ८१

३. C. I. I., Vol. III, p. 70

४. परे च सन्निभमतिः शतान्मतिर्महामतिर्मन्त्रिवरास्त्रयः स्थिताः।—पद्मा० ३.६७ तथा वराङ्ग०, ११.८५

५. पद्मा०, ३.६८

६. श्रितोमहामात्यपदं महीपतेः, प्राग्जन्मपुण्यप्रतिहस्तकोपमः।—पद्मा०, ३.१०१

७. अङ्गानि राज्यस्य महात्मना स्वयं, सप्तापि गोप्यानि सदाऽपि मन्त्रिणाः।

—पद्मा०, ३.१००

८. तु०—ग्राह्य मन्त्रीश्वरदण्डनाथान्। वराङ्ग०, १७.१०

चमूपमन्त्रीश्वरराजपुत्राः गृहीतशस्त्रा युधि दुःप्रवृत्ताः।

—वराङ्ग०, १७.१४

९. तु०—यदातयोद्भवाः करिणः शताङ्गाः सैन्यस्य भर्ता भरतोऽपि सर्वे।

—पद्मा०, १७.६६

‘सेनापति’ पर ही था। राजा जब कभी सेना के सम्बन्ध में जो कुछ आज्ञा देना चाहता था तो वह ‘सेनापति’ के माध्यम से ही संभव हो पाता था।^१ सेना सञ्चालन का प्रमुख अधिकारी भी ‘सेनापति’ ही था। ‘सेनापति’ के अधीन चारों प्रकार की सेनाएं (चतुरङ्गबल) होती थीं।^२ युद्ध के अवसर ‘सेनापति’ के विशेष दायित्व थे। ‘सेनापति’ शत्रु-सेना तथा स्व-सेना की गतिविधियों एवं उपलब्धियों पर विशेष ध्यान रखता था और जब वह देखे कि उसकी सेना हतोत्साहित हो रही है तो ऐसे अवसर पर ‘सेनापति’ स्वयं युद्ध में कूदकर अपने रणकौशल का परिचय देते हुए अपनी सेना को विशेष उत्साहित करता था।^३ युद्ध के समाप्त हो जाने पर योद्धाओं की मृत्यु आदि की सूचनाओं को एकत्र करने के लिए ‘सेनापति’ रणक्षेत्र का निरीक्षण भी करता था।^४

४. पुरोहित (पुरोघस) — प्राचीनकाल से चला आ रहा एक महत्त्वपूर्ण पद है। ‘पुरोहित’ राजा को धार्मिक, ज्योतिषीय तथा अन्य करणीय अथवा अकरणीय कार्यों के प्रति मार्गदर्शन कराता था। जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी ‘पुरोहित’ अथवा ‘पुरोघस’ का राज्य में विशेष महत्त्व था।^५ विविध अवसरों पर ‘पुरोहित’ ग्रह नक्षत्र आदि से राजा को अवगत कराता था।^६ युद्ध प्रयाण के अवसर पर भी ‘पुरोहित’

१. तु०—सेनापति समादिश्य सेनामावासेयेति सः।—चन्द्र०, २.३४

२. पति चमूनां सुषेणम्।—धर्म०, १७.१०७, तथा

चतुरङ्गबले तत्र परिसर्पति शात्रवे।

सैन्यमाश्वासयामास व्याकुलं एवं चमूपतिः॥—धर्म०, १६.७६.७७

३. धर्म०, १६.७७-७८

४. सुषेणः शोधयामास रणानूभि महाबलः।—धर्म०, १६.६५

५. ‘Hammitra is advised by purohita Viśvarūpa, Khandadeva by Soma chandra vyāsa who has as much influence as many other minister or perhaps a little more, thus for various reasons sacredotal influence appears to have been on the increase during this period.

—Sharma, Rajasthan Through the Ages, p. 705.

६. Puri, History of Indian Adm., Vol. I, p. 77, fn. 22

तथा, तु०—पुरोहितामात्यताहितारम्भाः।—पद्मा०, ४.२० तथा

पुरा पुरोवास्तदनु क्षितीन्दुर्मूपास्ततोऽन्ये सचिवास्ततश्च।

ततो महेश्वास्तदनु प्रजाश्च तस्याभिषेकं रचयांबभूवुः॥—हम्मीर०, ८.५७

राजा मुहूर्ते भङ्गल्ये पुरोघः कृतमङ्गलः।

दिग्वात्रायै गजरत्नमारोह॥—त्रिषष्टि०, २.४.३३

युद्ध में साथ जाता था ।^१ युद्ध के लिए शस्त्र स्थापना के अवसर पर भी 'पुरोहित' अपने हाथ से शस्त्र स्थापना करता था ।^२ 'पुरोहित' प्रायः विद्वान् तथा कवि प्रतिभा सेभी सम्पन्न होते थे । कीर्तिकौमुदी महाकाव्य के लेखक सोमेश्वर इसी प्रकार के 'पुरोहित' थे जो चालुक्य राजा के सभा-पण्डित भी थे ।^३

५. कोषाध्यक्ष—जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रायः 'कोष' की चर्चा आई है ।^४ किन्तु 'कोषाध्यक्ष' सरस किसी पद विशेष का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है । हम्मीर महाकाव्य में 'जाहड' के 'कोषाध्यक्ष' होने की सम्भावना की जा सकती है ।^५

६. दैवज्ञ—राज्याधिकारियों में 'पुरोहित' की भाँति 'दैवज्ञ' का पद भी महत्त्वपूर्ण होता था । जैन संस्कृत महाकाव्यों में दैवज्ञ तथा पुरोहित दो भिन्न-भिन्न पद थे । 'दैवज्ञ' का मुख्य कार्य नक्षत्र लग्न आदि की सूचना देना होता था जबकि 'पुरोहित' अन्य महत्त्वपूर्ण धार्मिक क्रिया कलाओं को करता था ।^६ 'पुरोहित' का राजकीय गतिविधियों से जितना सम्बन्ध था उतना 'दैवज्ञ' का नहीं ।^७ 'दैवज्ञ' के समान ही 'नैमित्तिक' का भी त्रिषष्टि० में उल्लेख हुआ है ।^८ 'नैमित्तिक' का मुख्य कार्य था शकुन-अपशकुन, स्वप्न आदि के फलों की राजा को जानकारी देना ।^९ वराहचरित में 'दैवज्ञ' के लिए ही संभवतः 'सांख्यिक' का प्रयोग भी आया है ।^{१०}

७. सान्धिविग्रहिक—अभिलेखों की सूचनाओं^{११} द्वारा 'सान्धिविग्रहिक'^{१२}

१. वराह०, १७.११०, चन्द्र०, ४.४०, त्रिषष्टि०, २.४.६३, ३५६
२. तु०—सज्जीकृतं महामात्रं रोपितास्त्रं पुरोधसा ।—चन्द्र०, १५.२१
३. इति श्री गूर्जरेश्वरपुरोहितश्री-सोमेश्वर-देवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये—कीर्ति० की पुष्पिका, पृ० ६
४. तु०—वयं च हीना बलमित्र-कोशैः । वराह०, १६.५० तथा हम्मीर०, १३.१३६
५. कोशेज्जनं कियदरतीति नृपः पप्रच्छः जाहडम् ।—हम्मीर०, १३.१३६
६. दैवज्ञनिदिष्ट-बलेऽल लम्ने ।—हम्मीर०, ८.५६, तथा रोपितास्त्रं पुरोधसा । चन्द्र० १५.२१ तथा हम्मीर०, ८.५७
७. चन्द्र०, १५.२१ तथा हम्मीर०, ८.५७
८. त्रिषष्टि०, २.२.६१
९. वही
१०. तु०—अमात्यसांवत्सरमन्त्रिणश्च ।—वराह०, ११.६४
११. Fleet, C.I.I., List Nos. 35, 120, 139, 171; Bhandarkar's List Nos. 559 (dated in V. S. 1317), 1205 (dated in Kalachuri Year 346), 2038 (dated in Kalchuri year 831), 2043 dated in Harsha Samvat 293), —Puri, B.N., History of Indian Administration, p. 150, fn. 73-74.
१२. 'Sāmdhivigrahika', Lit. 'an officer for peace and war, is a technical official or Military title, other synonymous titles were 'Sāmdhivigrahādhikārānādhikrita and Sāmdhivigrahin'. —Fleet, C.I.I., Vol. III, p. 167, fn. 6.

तथा 'महासान्धिविग्रहिक'¹ पदों का शासनतन्त्र की परराष्ट्रनीति के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व होता था । 'सान्धिविग्रहिक' एक प्रकार के राजनैतिक दूत का कार्य करते थे तथा केन्द्रीय सरकार को पर-राष्ट्र की राजनैतिक गतिविधियों से सावधान रखते थे ।² राजा कुमारपाल के शासन काल के किराडू शिलालेख में खेलादित्य नामक 'सान्धिविग्रहिक' का स्पष्ट उल्लेख आया है ।³ संभवतः राज्य में विविध मण्डलों अथवा प्रान्तों से सम्बद्ध अनेक 'सान्धिविग्रहिक' रहे होंगे । इन्हीं पदों का उच्चाधिकारी 'महासान्धिविग्रहिक' था । द्वा० महाकाव्य में आए 'सान्धिविग्रहिक' की अभय-तिलक गणि द्वारा 'प्रधान पुरुष' के रूप में व्याख्या की गई है । नारङ्ग महोदय ने भी 'सान्धिविग्रहिक' को शान्ति तथा युद्ध का उच्चाधिकारी माना है ।⁴ जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'सान्धिविग्रहिक' के अधिक उल्लेख नहीं हुए हैं तथापि महाकाव्यों में 'दूत' के रूप में निर्दिष्ट व्यक्ति से ही 'सान्धिविग्रहिक' का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है ।⁵ 'दूत' अपने राज्य तथा शत्रु-राज्य के मध्य सन्देशों का आदान-प्रदान करता था । जैन महाकाव्यों में उल्लिखित 'दूत' का व्यक्तित्व प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ से कम नहीं ।⁶ संभवतः 'सान्धिविग्रहिक' ही स्वयं दूत का कार्य करता हो अथवा उसके अधीन 'दूत' का पद रहा होगा ।

८. **आयुधागारिक**—इस पद का उल्लेख द्वायाश्रय महाकाव्य तथा द्विसन्धान की टीका में हुआ है ।⁷ प्रायः इसे शास्त्रास्त्र भण्डार का उच्चाधिकारी कहकर स्पष्ट किया जाता है ।⁸ हम्मीर महाकाव्य में 'जाहड' नामक व्यक्ति भी इसी प्रकार

१. Mahāsāmdhivigrahika, Lit. 'a great officer entrusted with the arrangement of peace and war' is a technical official title denoting an official superior to the Sāmdhivigrahikas.

Fleet, C.I.I., Vol. III, p. 105, fn. 5

२. व्यास, चोलुक्य कुमारपाल, पृ० १४८

३. Epigraphia Indica, Vol. XI, p. 44, List No. 287

४. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 174

५. तु०—दूतमुख्यो ददर्श भूपम् । वरांग०, १६.१२ तथा तु०—चन्द्र०, १२.१-५६, हम्मीर०, १२.५६-६४ तथा द्रष्टव्य—Fleet, C.I.I., Vol. III, p. 105. fn. 5

६. चन्द्र०, १२.१-५६

७. द्वा०, १७.४४ तथा तु० 'भाण्डागारी', द्विस०, २.२२ पर पदकीमुदीटीका

८. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 174.

का अधिकारी रहा होगा।^१ हमीर महाकाव्य में इसे पारिभाषिक पद द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है तथापि इसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि 'जाहूड' दुर्ग के अन्न भण्डार का उच्चाधिकारी था,^२ सम्भवतः आयुधादि का भण्डार भी इसी के अधीन रहा हो। 'भाण्डागारिक'^३ भी इसी के समान पद विशेष था।^४

६. दण्डनायक—'दण्डनायक' में आए 'दण्ड' शब्द के विषय में इतिहास-कारों में मतभेद है।^५ इसे प्रायः 'सेनानायक' (The Leader of the forces) 'सेनाप्रधान' (Commander of the forces) के रूप में स्पष्ट किया जाता है। न्यायव्यवस्था के सन्दर्भ में 'दण्डनायक' को 'न्यायाधीश' तथा 'दण्डाधिकारी' (Administrator of Punishment) आदि माना जाता है।^६ कभी-कभी इसे 'पुलिस सुपरिन्टेण्डेंट' अथवा 'पुलिस कमिश्नर' के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है।^७ अभिलेखों में 'दण्डनायक' सदृश 'महादण्डनायक', 'दण्डनाथ', 'दण्डाधिनाथ', 'दण्डाधिप', 'दण्डाधिपति', 'दण्डेश', 'दण्डेश्वर', आदि पदों का उल्लेख आया है।^८ करगुदर शिलालेखों में आए 'दण्डाधिनाथ' तथा 'दण्डाधिप' पदों से सम्बोधित 'ईश्वरय्य' को 'चमूप' अर्थात् 'सेनापति' भी कहा गया है।^९ इस प्रकार

१. हमीर०, १३.१३६-३८

२. तु०—कोशेज्जं कियदस्तीति नृपः पप्रच्छ जाहूडम् । —हमीर०, १३.१३६

३. Luder's List No. 1141.

४. The 'Bhāṇḍāgārika' was incharge of stores or granary. The term is noticed in earliar references.

—Puri, B.N., History of Indian Adm., Vol. I, p. 158

५. 'Daṇḍika, Lit. 'a chastiser', 'a punisher', may denote either a judicial functionary, from 'daṇḍa' in the sense of a 'fine', or 'a police officer', from the same word in the sense of 'a rod (of punishment).' —Fleet, C.I.I., Vol. III, p. 218, fn. 4

६. 'Mahādaṇḍanāyaka, Lit. 'great leader of the forces' is a technical military title. The Officer who held this rank was the superior of the 'daṇḍanāyaka', or 'leader of the forces' Prinsep translated 'Mahādaṇḍanāyaka' by 'administrator of Punishments' (Magistrate) and 'Criminal Magistrate'.

—Puri, History of Indian Adm., p. 16, fn. 5

७. वही, पृ० १५१, पाद० ८६

८. Fleet, C.I.I., Vol, III p. 16, fn. 5.

९. वही, पृ० १६, पाद० ५

इतिहासकार 'दण्डनायक' के विषय में एक मत नहीं। नेमिचन्द्र शास्त्री के मतानुसार जैन संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध 'दण्डनायक' 'न्यायाधीश' होता था जो सम्पूर्ण विवादों की पर्यालोचना कर निर्णय देता था।^१ नारङ्ग महोदय ने द्वयाश्रय के 'दण्डनेत्र' को 'दण्डनायक' के समकक्ष स्वीकार करते हुए अभय तिलक गणि द्वारा 'दण्डनेत्र' के 'सेनानी' अर्थ को स्वीकार किया है।^२ प्रो० दशरथ शर्मा ने हम्मीर महाकाव्य के 'दण्डनायक' को 'Commander of the forces' के रूप में स्पष्ट किया है।^३ वराङ्गचरित महाकाव्य में सेना के उच्चाधिकारी के लिए ही 'दण्डनायक'^४ तथा 'दण्डनाथ'^५ का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार हम्मीर० के 'दण्डनायक' रतिपाल का भी सेना के उच्चाधिकारी के रूप में ही वर्णन किया गया है न कि 'न्यायाधीश' के रूप में।^६ वराङ्गचरित में उपर्युक्त 'दण्डनाथ' का युद्ध के प्रसंग में उल्लेख होने तथा सेनापति के लिए 'चमूप' का प्रयोग होने के कारण स्पष्ट हो जाता है कि 'दण्डनायक' अथवा 'दण्डनाथ' सेना के उच्चाधिकारी होते थे किन्तु इनका पद 'सेनापति' से कुछ न्यून होता था। 'दण्डनायकाः' तथा 'दण्डनाथान्' आदि बहुवचनान्त प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि राज्य की सेना में इस प्रकार के पदाधिकारी अनेक होते थे जो संभवतः सेना के पृथक्-पृथक् अङ्गों का दायित्व संभालते थे। किन्तु 'सेनापति' (चमूप, चमूपति) पद केवल मात्र एक ही होता था।^७ इसी प्रकार द्वयाश्रय के 'दण्डनेत्र' की अभयतिलक द्वारा 'सेनानी' के रूप में व्याख्या करना भी 'दण्डनायक' को सैन्य व्यवस्था से सम्बद्ध करता है न कि न्यायव्यवस्था से। नेमिनिर्वाण में 'दण्डधर' का प्रयोग हुआ है।^८ इस प्रकार

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य० पृ० ५२६

२. Narang, Dvayāśryakāvya, p. 174

३. 'After that Hammir appointed Ratipāla as his 'daṇḍanāyaka' (Commander of the forces). —Sharma, Rajasthan Through the Ages, p. 628.

४. तु०—राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो दण्डनायकाः ।

भोजका मृत्युवर्गाश्च ये राजा सह निर्गताः ॥—वराङ्ग०, १५.२

५. तु०—आहूय मन्त्रीश्वरदण्डनाथान् संनह्यतेत्याशु शशास योद्धुम् ।

—वराङ्ग०, १७.१०

६. तु०—तस्मिन् गते क्षितिपतिः प्रसरत्प्रमोदहृद् दण्डनायकपदे रतिपालवीरम् ।

—हम्मीर०, ६.१८८

७. तु०—चमूपमन्त्रीश्वरराजपुत्राः ।

—वराङ्ग०, १७.१४

८. नेमि०, ६.१०

मध्यकालीन शासन व्यवस्था में 'दण्डनायक' पद 'सैनिक अधिकारी' के रूप में रूढ़ हो गया था। राजस्थान के चाहमान शासन व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाले हमीरमहाकाव्य में 'दण्डनायक' 'रतिपाल' का वर्णन 'सेनापति' के तुल्य किया गया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कभी कभी 'सेनापति' पद की अनुपस्थिति में 'दण्डनायक' पद इसी के समकक्ष माना जाता रहा हो।

१०. युवराज—राजकुमार अथवा 'युवराज' केन्द्रीय शासन व्यवस्था से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण उच्चाधिकारी होता था। गुप्तकाल में 'कुमारामात्य' नामक पदविशेष प्रचलित था जिसका मुख्यतः राजकुमारों के लिए ही प्रयोग होता था। राजकुमार भावी राजा होता था इसलिए राजा होने से पूर्व राजकार्यों से अवगत कराने के लिए उस पर कई दायित्व सौंपे जाते थे।^१ मन्त्रिमण्डल की महत्वपूर्ण मन्त्रणाओं के अवसर पर भी राजकुमार उपस्थित रहता था।^२ चन्द्रप्रभ० के वर्णनानुसार राजकुमार रुवर्णनाभ ने भी मंत्रियों के विचार विमर्श के अवसर पर भाग लिया तथा एक अच्छे राजनीतिज्ञ होने का परिचय भी दिया।^३ धर्म० के स्वयंवर वर्णन के अवसर पर विभिन्न राजकुमारों के परिचय से ज्ञात होता है कि राजकुमार प्रान्तों अथवा राज्यों के शासक भी होते थे।^४ युद्ध के अवसर पर 'मंत्री', 'पुरोहित' आदि अन्य उच्चाधिकारियों के साथ 'युवराज' अथवा राजकुमार भी जाते थे।^५

१. 'The Provincial headquarters known as 'adhikarāṇas' had a number of officials whose seals have been found at Basarh. These included the Kumārāmātya—in this case probably the chief-minister attached to the prince-head. The officer Kumārāmātya carries the curious title of 'yuvarāja', repeated on another seal and coupled with another title 'bhattāraka': The two titles 'yuvarāja' and 'bhattāraka' are also associated with the head of the forces.'—Puri, History of Indian Adm., 135.

२. चन्द्र०, १२.१०४

३. वही, १२.१०४

४. धर्म०, १७.३१, ४७

५. तु०—(क) चमूपमन्त्रीश्वरराजपुत्राः गृहीतशस्त्रा युधि दुःप्रघर्षाः।

—वरांग०, १७.१४

(ख) राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो दण्डनायकाः।

भोजका भृत्यवर्गश्च ये राजा सह निर्गताः ॥ —वरांग०, १५.२

(ग) महेन्द्रसेनप्रवरा महीन्द्रा उपेन्द्रसेनप्रमुखाश्च पुत्राः।

—वरांग०, १६.३१

हम्मिर महाकाव्य के अनुसार यह भी ज्ञात होता है कि राजकुमारों को मंत्री का पद भी दिया जाता था ।^१

(ख) प्रान्तीय शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण उच्चाधिकारी

प्रान्तीय प्रशासन की महत्त्वपूर्ण इकाइयों में मण्डल, विषय (देश) आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं । मण्डल, विषय से बड़े होते थे ।^२ 'मण्डलेश्वर' तथा विषयपति' नामक प्रान्तीय शासन के पदाधिकारी गुप्तकाल में विशेष प्रसिद्ध रहे थे । तदनन्तर मध्यकालीन शासन व्यवस्था में भी इनकी स्थिति थी ।^३ जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रान्तीय शासन व्यवस्था के उच्चाधिकारियों में से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. **माण्डलिक**^४—'सामन्त' अथवा 'माण्डलिक' राजा मन्त्रिमण्डल के महत्त्वपूर्ण सदस्य होने के साथ प्रान्तीय शासक भी होते थे । जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'मण्डलेश',^५ 'मण्डलपति'^६ आदि संज्ञाओं का प्रयोग प्रान्तीय शासक के अभिप्राय को स्पष्ट कर देता है ।

२. **नगराध्यक्ष**^७—मण्डलों तथा विषयों का उपविभाजन नगरों एवं ग्रामों के आधार पर होता था ।^८ त्रिषष्टि० में 'नगराध्यक्ष' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है ।^९ 'नगराध्यक्ष' पुरों अथवा नगरों की शासन व्यवस्था की देखरेख करता था ।

१. तु०—न्यघात् प्रल्हादनं राज्ये प्रधानत्वे च वाग्भटम् । —हम्मिर०, ४.४१

२. व्यास, चालुक्य कुमारपाल, पृ० १५०-५१

३. वही, पृ० १५०-५१

४. पीछे द्रष्टव्य, पृ० १११

५. त्रिषष्टि०, २.४.२४३

६. चन्द्र०, ३.७

७. 'And the person in charge of the city (nagarādhyakṣa) seems to be in charge of the Law and Order and Civil defence of the city and the borders'.

—Puri, History of Indian Adm., p. 21

८. तु०—महम्ब-नगर-ग्रामादीनामधीश्वरम् । त्रिषष्टि०, २.४.१७०

९. तु०—इत्याज्ञां नगराध्यक्षो, हस्त्यारूढैर्निर्जनैः ।

पुर्यामाघोषयामास, सद्यो डिण्डिमिकैरिव ॥

—त्रिषष्टि०, २.४.३६६

३. ग्रामेश^१—चालुक्य कालीन शासन व्यवस्था से सम्बन्धित ग्राम-शासन के उच्चधिकारी के लिए 'ग्रामेश' का प्रयोग किया गया है। मार्ग में राजा की दिग्विजय की यात्रा के अवसर पर 'मण्डलेशों' 'दुर्गपालों' के साथ 'ग्रामेशों' द्वारा राजा का अभिनन्दन करने का उल्लेख हुआ है।^२ 'महत्तर'/'महत्तम' तथा 'कुटुम्बी' की भी ग्राम प्रशासन में उल्लेखनीय भूमिका रही थी।^३

४. श्रेष्ठी—'श्रेष्ठी' भी किसी समय में शासन व्यवस्था से सम्बन्धित महत्वपूर्ण अधिकारी होता था।^४ आलोच्य युग में 'श्रेष्ठी' (सार्थाधिपति) नगरों के स्वामी होते थे तथा इनकी निजी सेना भी होती थी।^५ इस कारण संभवतः इस युग में भी 'श्रेष्ठी' व्यापार के अतिरिक्त नगरों अथवा ग्रामों के प्रशासन में भी हाथ बंटाते थे।

५. सार्थवाह^६—'श्रेष्ठी' के साथ 'सार्थवाह' भी राजकार्य से सम्बद्ध थे। प्रशासन की दृष्टि से इनका भी महत्वपूर्ण स्थान था।^७

६. राजपुत्र-सामन्तपुत्र-मन्त्रिपुत्र—जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि राजकुमारों को शासन-प्रबन्ध में विशेष दक्ष कराया जाता था। उसी प्रकार राजाग्र्यों तथा मन्त्रियों के पुत्रों को भी शासन-प्रबन्ध के अनुभवार्थ शासन व्यवस्था से सम्बद्ध किया जाता था।^८ राजकुमार भी प्रान्तीय शासनव्यवस्था से सम्बद्ध एक

१. 'The 'grāmapati' corresponds to the 'grāmika' of earlier records signifying the headman in the village, while 'mahattaras' were men of position or the leading men in the village'.

—Puri, History of Indian Adm., pp. 237-38.

२. तु०—ग्रामेशदुर्गपालेशच, मण्डलेशेशच वर्त्मनि । —त्रिषष्टि०, २.४.२४३
 ३. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १२५
 ४. वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड, इलाहाबाद, १९५२, पृ० ३४
 ५. तु०—अपरे बहवः श्रेष्ठिसार्थवाहादयोऽपि हि ।
 —त्रिषष्टि०, २.४.३५६ तथा द्रष्टव्य, वरांग०, सर्ग—१३-१४
 ६. उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० ३४
 ७. तु०—समीक्ष्य सार्थाधिपतिनं तत्करो । —वरांग०, १३.८१
 प्रदाप्य पाद्यं बलिजं पतिस्ततो । —वरांग०, १३.८७ तथा
 दुर्गपाल-श्रेष्ठि-सार्थवाहादीन् व्यस्रजत् स्वयम् । —त्रिषष्टि०, २.४.३४५
 ८. तु०—अमात्यसेनापतिमन्त्रिपुत्राः सुताश्च सामन्तनरेश्वराणाम् ।
 पुनः प्रधानद्विजमात्मजाश्च तरेन्द्रपुत्रैः सहसंप्रदानाः ॥

—वरांग०, २८.१२

महत्त्वपूर्ण उच्चाधिकारी था ।^१

(ग) राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण कर्मचारी

जैन संस्कृत महाकाव्यों में अन्तःपुर तथा अन्य सैन्य प्रशासन सम्बन्धी कर्मचारियों का उल्लेख हुआ है । कार्याधिकारों सहित इन कर्मचारियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. वनपाल^२—इसे 'उद्यानपाल' भी कहा जाता है ।^३ वन की सुरक्षा का दायित्व इस कर्मचारी पर होता था । प्रायः जैन मुनि आदि के आगमन की सूचना भी राजा को वनपाल के माध्यम से ही प्राप्त होती थी ।^४

२. द्वारपाल^५—द्वार पर स्थित महत्त्वपूर्ण कर्मचारी होता था जो समय-समय पर आने वाले व्यक्तियों को राजभवन में प्रवेश देने से पहले राजा की अनुमति प्राप्त करता था ।^६ 'दण्डधर',^७ 'प्रतिहार',^८ 'वेत्रिन्',^९ आदि इसके अपर नाम हैं ।

३. कंचुकी^{१०}—अन्तःपुर का एक विश्वासपात्र सेवक ।

४. विदूषक^{११}—नाटकों में राजा के विश्वासपात्र मित्र के रूप में इसका वर्णन प्राप्त होता है जो अपने हास्यास्पद कथनों से राजा का मनोरञ्जन करता था ।

५. गुप्तचर^{१२}—राजा के राजनैतिक पक्ष की दृष्टि से गुप्तचर का विशेष महत्त्व है ।^{१३} गुप्तचर छद्मवेश से दूसरे राज्यों के गुप्त वृत्तान्त एकत्र करने में

१. पीछे द्रष्टव्य, पृ० ११६
२. धर्म०, ३.२, चन्द्र०, २.२
३. धर्म०, २.७५
४. चन्द्र०, २.१-२
५. चन्द्र०, २.१
६. धर्म०, २.७६
७. वही, २.७६
८. Narang, Dvayāśraya, p. 175
९. द्वया०, ७.१६, त्रिषष्टि०, २.२.६१
१०. धर्म०, ४.३७
११. वराह०, २३.४५
१२. द्विस०, २.१६, कीर्ति०, ५.१
१३. यशो०, २.२६

नियुक्त होते थे ।^१ भेद की नीति को व्यावहारिक रूप देने के लिए भी गुप्तचरों का विशेष महत्त्व था ।^२ गुप्तचरों के रूप में वेश्याओं को भी नियुक्त किया जाता था ।^३

६. दूत^४—दूसरे राजा तक किसी भी प्रकार के सन्देशवाहक का कार्य दूत ही करते थे ।^५ दूत राजनीति-शास्त्र में विशेष दक्ष होते थे,^६ तथा वाक्चातुरी इनकी उल्लेखनीय विशेषता थी ।^७

७. अङ्गरक्षक^८—राजा के समीप रहने वाला कर्मचारी—यह विश्वासपात्र कर्मचारी होता था जिस पर राजा की सुरक्षा का पूरा दायित्व रहता था ।^९

८. सूत^{१०}—राजा की काव्यात्मक शैली से स्तुति करने वाला कर्मचारी ।^{११} इसे 'बन्दिजन' भी कहा जाता था ।^{१२}

९. कुब्ज^{१३} (कुबड़ा)—अन्तःपुर में राजकुमारों की सेवा-शुश्रूषा के निमित्त नियुक्त किया गया कर्मचारी ।^{१४} संभवतः राजकुमारों का मनोरञ्जन करने आदि

१. तु०—कृपीबलं कृपिभुवि वल्लवं बहिर्वनेचरं चरमट्वीष्वभुङ्क्ष्वतयः ।

वणिग्जनं पुरसीम्नि योगिनं नियोगिनं तृपसुतबन्धुमंत्रिषु ॥

—द्विस०, २.१६

२. तु०—अथितारि-विचारेण, चारेण प्रेरितस्ततः । —कीर्ति०, ५.१

३. तु०—एवमाज्ञापयामास वेश्याश्चातुर्यशालिनीः ।

मुनिवेषेण गत्वाङ्गस्पर्शनं वनबोक्तिभिः । —परि०, १.४२-४३

४. वराङ्ग०, १६.११, चन्द्र०, १२.५

५. तु०—लेखेन साम्ना रहितेन तेन सम्प्रेषयामास स दूतवर्यम् ।

—वराङ्ग०, १६.१०, १६.६६

६. तु०—वदतीति भवन्तमक्षतप्रणयं दूतमुखा हि पाथिवाः । —चन्द्र०, १२.५

७. तु०—इति भाषिषा एव भारती रिपुदूतस्य । —चन्द्र०, १२.२५

८. तु०—श्रीयकस्तवगरक्षोऽमूदभूरिविश्रम्भभाजनम् । —परि०, ८.१०

९. वही, ८.१०

१०. द्विस०, ४.२२, ५.५६

११. तु०—सूता नृपाणां युधि नामधेयं वृत्तं निषेधुः कृतवृत्तबन्धम् ।

—द्विस०, ५.५६

१२. तु०—अपाठिष्वन्दिजनाः —हम्पीर०, ८.८०

१३. द्विस० ३.१५, ३.२१, तथा तु०—ततो वामनिकाः कुब्जा धाव्यः सपरि-
चारिकाः । —वराङ्ग०, १५.३६

१४. तु०—दिनानि लब्ध्वा ववृधे दशीव कुब्जानवष्टभ्य विचक्रमे च ।

—द्विस०, ३.२१

की दृष्टि से कुबड़ों को नियुक्त किया जाता था। कुबड़ी स्त्रियां भी भी होती थीं।

१०. सूपकार^१—भोजन बनाने वाला कर्मचारी।

११. भोजक^२—भोजन परोसने वाला कर्मचारी।

१२. ऋट^३ (राजकर्मचारी)—आधुनिक 'सिपाही' की भांति राजकर्मचारी होता था। राज-यात्रा के अवसर पर व्यवस्था आदि रखने का कार्य करता था। शस्त्रादि से सुसज्जित अश्वारोही 'सुभटों' का उल्लेख हुआ है।^४

१३. रजक^५—राजा तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के वस्त्र धोने वाला कर्मचारी। परि० के उल्लेखानुसार रजक को राजा द्वारा एक राजद्रोही व्यक्ति के वस्त्र वापस न देने का निर्देश भी दिया गया था।^६

१४. चित्रकार^७—राजाज्ञा के अनुसार चित्रकारों को चित्र बनाने की आज्ञा देने के उल्लेख से ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से भी चित्रकारों की नियुक्ति होती थी।^८

१५. नट^९—राज्य की ओर से 'नट' अभिनयादि के प्रदर्शन के लिए भी नियुक्त किये जाने की संभावना प्रतीत होती है। राज्य महोत्सव के अवसर पर नट-गायक-सूत आदि के कला प्रदर्शन का उल्लेख हुआ है।^{१०}

१. पदमा०, २.४८

२. वराङ्ग०, १५.२

३. कीर्ति०, ६.१८

४. तु०—पुरश्च पृष्ठेऽपि च पार्श्वयोश्च, परिस्फुटन्तः खरहेति हस्ताः।

यात्राजनं वर्त्मनि तस्य शश्वदश्वधिर्बुद्धा सुभटा ररक्षुः॥

—कीर्ति०, ६१ द

५. परि०, ७.५२

६. वासांसि नार्पयन्तस्य रजको राजशासनात्।—वही, ७.५२

७. वही, १.१३१

८. तु०—अथादिशच्चित्रकरास्तत्र यात तपोवने—

वने निवसतो रूपमालिख्यानयत् द्रुतम्। —वही, १.१३१-३२

९. द्विस०, ४.२२

१०. तु०—नटगायकसूतसूनवः पटवः पेटुरुपेस्य मङ्गलम्।

—वही, ४.२२

१६. स्त्री-कर्मचारी—स्त्री कर्मचारियों में घात्री,^१ चेटिका^२ आदि का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। प्रायः राजा के अन्तःपुर में रानियों-राजकुमारियों आदि की सेवाशुश्रूषा के निमित्त इन्हें नियुक्त किया जाता था। बौनी तथा कुबड़ी परिचारिकाओं का भी उल्लेख आया है।^३ अन्तःपुर में अस्सी-अस्सी वर्ष की वृद्ध परिचारिकाएँ भी होती थीं।^४

(ग) ग्राम प्रशासन

मध्यकालीन राजनैतिक शासन व्यवस्था के सन्दर्भ में ग्राम-प्रशासन से सम्बद्ध ग्राम संस्थाओं की विशेष भूमिका रही थी। इस युग में ग्राम संस्थाओं ने एक स्वायत्त संगठनों के रूप में छोटे छोटे राज्यों का रूप ले लिया था। आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टियों से वे इतने आत्मनिर्भर एवं सशक्त थे जिसके कारण उन्हें बाह्य तन्त्र से अप्रभावित माना जा सकता है। राजवंशों का उत्थान पतन होता रहा परन्तु ग्राम संगठन प्रभावित हुए बिना अपने संगठनात्मक चरित्र की रक्षा करने में समर्थ रहे। मध्यकालीन सामन्त पद्धति के सैद्धान्तिक पक्ष को विशद करने की ओर नीति शास्त्रियों ने यद्यपि विशेष रुचि नहीं दिखाई है तथापि मध्यकाल में रचित युक्तिकल्पतरु ने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि 'चक्रवर्ती सम्राट्' और ग्राम के 'स्वामी' दोनों को ही 'राजा' क्यों कहा जाता है? उत्तर दिया गया है क्योंकि 'चक्रवर्ती सम्राट्' और ग्राम के 'स्वामी' दोनों ही अपने क्षेत्र में शासन को स्वीकार कराते हैं अतएव 'राजा' के नाम से चरितार्थ होते हैं। वस्तुतः अनेक राजधर्म प्रणेताओं ने 'ग्राम' की चर्चा सामान्य 'ग्राम' के रूप में नहीं अपितु, 'राष्ट्र' (Estate) के रूप में की है। सामन्तों की इन ग्रामों में विशेष स्थिति रही थी 'सामन्त' का एक अर्थ यह भी किया गया है जिसके अनुसार वह 'समान' ग्रामों का स्वामी माना जाता था।^५

ग्राम प्रशासन और ग्राम संगठन

ग्रामों की अनवस्थित दशा को स्थिर करने तथा इन ग्रामों के अन्तर्गत आने वाले 'कुटुम्बों' अथवा 'कुलों' को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि में 'राजतन्त्र' की उपादेयता स्वीकार की गई है तथा वास्तुशास्त्रीय व्यवस्थित पद्धति के अनुरूप ग्राम, दुर्ग, जनपद आदि के निवेश को महत्त्व दिया

१. वराह्म०, १५.३६

२. परि०, ८.४६

३. वराह्म०, १५.३६

४. तु०—आशीतिका वर्षवराः पुरःध्वः। —द्विस०, ३.१५

५. तु०—'सामन्ता वा समग्रामाः', याज्ञवल्क्यस्मृति, २.५५ पर व्याख्यान टीका

गया है।^१ इस प्रकार 'ग्राम संगठन' की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि मूलतः सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग रही थी जिसमें गोत्र, कुल, वंश, परिवार आदि का विशेष औचित्य था।^२ किन्तु परवर्ती काल में कृषि विकास के कारण ग्रामों द्वारा ही आर्थिक उत्पादन किया जाता था फलतः ग्राम संगठन को राजनैतिक शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। गुप्तकाल तथा इससे उत्तरोत्तर शताब्दियों में ग्राम संगठन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी ही बन गए, जो आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से केन्द्रित थे तथा राजनैतिक शक्ति के प्रभुत्व की मुख्य शक्ति के रूप में उभर कर आए थे।^३

सातवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० तक के मध्यकालीन ग्राम संगठनों का भारतीय अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर एवं ग्रामोन्मुखी बनाने में विशेष योगदान रहा है। परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किसी भी 'सामन्त' राजा की उपादेयता उसके अधीन हुए ग्रामोत्पादन के लाभ से आंकी जाती थी। इस व्यवस्था में किसान भूमि से बन्धे होते थे तथा भूमि के स्वामी वे जमींदार 'सामन्त' थे जो असली कास्तकारों और राजाओं के बीच की कड़ी बने हुए थे। इन्हीं राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में मध्यकालीन ग्राम संगठनों का शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से विशेष महत्त्व हो गया था। 'सामन्त' राजाओं ने 'ग्राम संगठन' पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से ग्रामों में रहने वाले जमींदारों, शिल्पी-प्रमुखों, जाति-प्रमुखों आदि को भी शासन-प्रबन्ध में अपना भागीदार बना लिया था।

ग्राम प्रशासन के सन्दर्भ में महत्तर/महत्तम एवं कुटुम्बी

ग्राम संगठन के सन्दर्भ में 'महत्तर'/'महत्तम' तथा 'कुटुम्बी' शब्दों का इतिहास छिपा हुआ है। इन पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को समझने के लिए प्राचीन

१. महाभारत (शान्तिपर्व), १२.८७.२-८

२. Sharma, R.S., Social Changes in Early Medieval India, The First Devraj Channana Memorial Lecture, University of Delhi, Delhi, 1969, p. 13 तथा तु०—

'शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पंचशतकुलपरं ग्रामं निवेशयेत्' ।, अर्थशास्त्र, २.१ ग्रामाः गृहशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः । परस्तपञ्चशत्यास्यात् सुसमृद्ध-कृषिवलः ॥—आदिपुराण, १६.१६५

३. Altekar, State & Government in Ancient India, Delhi, 1972, pp. 226-227; Pran Nath, A Study in the Economic Condition of India, London, 1929, pp. 30-33

४. एतद् सम्बन्धी शोधनिबन्ध 'अल इण्डिया ओरियेन्टल कॉन्फ्रेंस', सेसन ३०, पूना, १९८० में पढ़ा गया तथा संशोधित रूप से "आस्था और चिन्तन" —आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ के 'जैन इतिहास कला और संस्कृति' खण्ड, दिल्ली, १९८७, पृ० ८०-९३ में प्रकाशित हुआ।

तथा मध्यकालीन ग्राम संगठन के उन दोनों स्वरूपों को समझना आवश्यक है जिसमें सर्वप्रथम ग्राम संगठन सामाजिक संगठन की मूल इकाई रहे किन्तु परवर्ती काल में इन पर राजतन्त्र का विशेष अंकुश लगा जिसके कारण 'ग्राम संगठन' का औचित्य आर्थिक एवं राजनैतिक मूल्यों की दृष्टि से किया जाने लगा। परिणामतः 'महत्तर'- 'महत्तम' एवं 'कुटुम्बी' के पदों का प्रारम्भिक स्वरूप सामाजिक संगठन परक होने के बाद भी मध्यकाल में राजनैतिक व्यवस्था के अनुरूप राजकीय प्रशासनिक पद के रूप में परिवर्तित हो गया।

महत्तर/महत्तम

'महत्' शब्द से तरप् प्रत्यय लगाकर 'महत्तर' शब्द का निर्माण हुआ है। इस तरप् प्रत्यय के आग्रह से ऐसी पूर्ण सम्भावना व्यक्त होती है कि 'महत्तर' किसी अन्य व्यक्ति अथवा पद की तुलना में बड़ा रहा होगा।^१ इस सन्दर्भ में अग्निपुराण में उल्लेख आया है कि पाँच कुटुम्बों वाले ग्राम तथा छठे 'महत्तर' की संगठित शक्ति को बड़े से बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति पराजित नहीं कर सकता।^२ इस प्रकार ग्राम सङ्गठन के सन्दर्भ में विभिन्न कुलों अथवा कुटुम्बों के मुखिया 'कुटुम्बी' कहलाते थे तथा उन पाँच-छः कुटुम्बियों के ऊपर 'महत्तर' का पद था।

जैन साहित्य में उपलब्ध होने वाले अनेक 'महत्तर' सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह पद ग्राम संगठन से सम्बन्धित पद था। बृहत्कल्पभाष्य^३ के एक उल्लेखानुसार किसी उत्सव-गोष्ठी के अवसर पर 'महत्तर', 'अनुमहत्तर', 'ललितासनिक', 'कुटुक', 'दण्डपति' आदि राजकीय अधिकारियों के उपस्थित रहने एवं राजा की अनुमति से सुरापान आदि करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^४ इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन का सदस्य होता था तथा उसकी सहायता के लिए 'अनुमहत्तर' पद भी अस्तित्व में आ गया था। निशीथ-भाष्य के प्रमाणों के आधार पर डा० जगदीशचन्द्र जैन ने 'ग्राम-महत्तर' एवं 'राष्ट्र-महत्तर' दो पदों के अस्तित्व की सूचना दी है।^५ डा० जैन ने 'राष्ट्र-महत्तर' को 'राठीड़' (रट्ठउड) के समकक्ष माना है।^६ इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचारणीय प्रश्न है कि यदि राष्ट्र महत्तर को 'राठीड़' का संस्कृत मूल माना जाता

१. तु०—'अयमनधोरतिशयेन महान्'। —शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृ० ६५२

२. तु०—कुटुम्बैः पञ्चभिर्ग्रामः षष्ठस्तत्र महत्तरः।

देवामुरमनुष्यैर्वा स जेतुं नैव शक्यते ॥ —अग्निपुराण, १६५.११

३. बृहत्कल्पभाष्य, २.३५७४

४. वही, २.३५७४-७६

५. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० ६२ तथा तुल० निशीथभाष्य, ४.१७३५

६. वही, पृ० ६२

है तो 'ग्राम महत्तर' को भी 'गौड' का संस्कृत मूल मानना चाहिए। डा० आर० एस० शर्मा महोदय के अनुसार मध्यकालीन दक्षिण भारत में 'ग्राम प्रवर' तथा 'ग्राम-मुखिया' के रूप में 'गौन्ड' अथवा 'गौड' का अस्तित्व रहा था। वर्तमान में मैसूर में ये 'गौड' शूद्र वर्ण के हैं।^१ किन्तु दूसरी ओर 'गौड' ब्राह्मणों के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मध्यकालीन 'गौन्ड' जिन्हें कि भूमिदान दिया जाता था तथा जो राजकीय प्रशासनिक अधिकारों का भोग करते थे ग्राम संगठन के सन्दर्भ में 'ग्राम महत्तर' से अभिन्न रहे थे। वर्तमान में 'महत्तर' के अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं जिनमें 'महतो', 'मेहता', 'महत्था', 'मल्होत्रा', 'मेहरोत्र', 'मेहतर' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^२ 'महत्तर' मूल की इन जातियों में ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ, शूद्र आदि सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे तथापि मध्यकालीन सामन्तवादी चरित्र के कारण अर्थ व्यवस्था के ग्रामोन्मुखी हो जाने से जिस दास प्रथा की विभीषिका को जन्म मिला उसके कारण अधिकांश कृषि ग्राम शूद्रों द्वारा बसाए गए परिणामतः 'ग्राम-मुखिया' भी अधिकांश रूप से शूद्र ही होने लगे थे। इन बदली हुई परिस्थितियों में 'महत्तर' शूद्र के रूप में रूढ़ होने लगे साथ ही इनके पद का अवमूल्यन भी होता गया। त्रिकाण्डशेष (१४वीं शती ई०) में 'महत्तर' को शूद्र तथा 'ग्रामकूट' के पर्यायवाची शब्द के रूप में परिगणित करने का मुख्य कारण भी यही है कि ये अधिकांशतः शूद्र होते थे। पारिभाषिक दृष्टि से ये 'ग्रामकूट' अर्थात् ग्राम के मुखिया भी थे।^३ कौटिल्य के अर्थशास्त्र^४ में ग्राम के मुखिया के लिए 'ग्रामकूट' का प्रयोग आया है जो परवर्ती काल में 'महत्तर' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (१२वीं शती ई०) में 'महत्तर' के प्रशासकीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। हेमचन्द्र ने 'महत्तर' के तत्कालीन प्राकृत एवं जनपदीय भाषाओं में प्रचलित अनेक देशी रूपों का उल्लेख किया है। इनमें से एक रूप था 'मइहर' तथा कुछ लोग इसे 'मेहरो' 'महर' अथवा 'मेहर' भी कहते थे। इस 'मइहर' अथवा 'मेहरो' को 'ग्राम प्रवर' अर्थात्

१. 'Similarly 'gaumdas' village elders and headmen who were assigned lands and given fiscal and administrative rights in the medieval Deccan, did not belong to one single cast, and their modern representatives called 'gaudas' in Mysore are regarded as Sūdras'.

—Sharma, R. S., Social Changes in Early Medieval India, pp. 10-11.

२. वही, पृ० १०

३. 'शूद्रस्यात् पादजो दासो ग्रामकूटो महत्तरः।' —त्रिकाण्डशेष, २.१०.१

४. अर्थशास्त्र, ४.४.६

‘ग्राम मुखिया’ के रूप में स्पष्ट किया गया है।^१ ‘महत्तर’ के एक दूसरे शब्द रूप का भी हेमचन्द्र उल्लेख करते हैं, वह है—‘मह्यरो’ जिसे जङ्गलात के अधिपति (गह्वरपति) के रूप में स्पष्ट किया गया है।^२ इस प्रकार १२वीं शताब्दी ईस्वी में ‘महत्तर’ के देशी रूप ‘मइहर’ अथवा ‘मह्यर’ प्रचलित होने लगे थे तथा इनका प्रयोग ग्राम संगठन आदि के अर्थ में ही किया जाता था।

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकारों की धारणा है कि नवीं शताब्दी ई० के मध्य तक ‘महत्तर’ शब्द का स्थान ‘महत्तम’ ने ले लिया था।^३ पी० वी० कांगे महोदय के द्वारा दी गई सूचना के अनुसार गुप्त कालीन अभिलेखों तथा दानपत्रों में ‘महत्तर’ का उल्लेख आया है।^४ इनमें से जयभट्ट के एक दान पत्र (५वीं शती ई०) में ‘राष्ट्रग्राम-महत्तर’ का प्रयोग भी मिलता है।^५ परिणामतः यह कहा जा सकता है कि ग्राम संगठन के अतिरिक्त ‘राष्ट्र’ के सन्दर्भ में भी ‘महत्तर’ नामक प्रशासनिक पद का प्रयोग होने लगा था। पालवंश के दानपत्रों में ‘महत्तर’ का अन्तिम प्रयोग देवपाल का मोग्यार दान पत्र है।^६ तदनन्तर नवीं शती ई० के मध्य भाग में ‘महत्तम’ का प्रयोग होने लगा था। देवपाल के नालन्दा पत्र में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।^७ तदनन्तर त्रिलोचन पाल के ताम्र पत्र,^८ गोविन्द चन्द्र के बसई-दान पत्र,^९ मदन पाल तथा गोविन्द चन्द्र के ताम्रपत्र,^{१०} गोविन्दचन्द्र के बनारस दान पत्र^{११} में निरन्तर रूप से ‘महत्तर’ के स्थान पर ‘महत्तम’ का उल्लेख आया है।

१. ‘मइहरो ग्रामप्रवरः । मेहरो इत्यन्ये ।’ —देशीनाममाला, ६.१२१; तथा तु० पाठभेद—(१) महर (२) मेहर
२. ‘मह्यरो गह्वरपतिः ।’ —देशी०, ६.१२३
३. Choudhry, Early Medieval Village, p. 218
४. तु० Kavi Plate of Jayabhata (5th cent. A.D.), Indian Antiquary, Vol. V, p. 114; Maliya Plate of Dharasena II, Gupta Inscription No. 38, plate 164, p. 169; Abbona Plates of Śankaragana (595 A.D.), Epigraphia Indica, Vol. IX, p. 297; Palitana Plate of Simhaditya (Gupta year 255), E.I. Vol. XI, pp. 16, 18. Valabhi Grant of Dharasena II, (Gupta year 252), I.A., Vol. 15, p. 187
५. I.A., Vol. V, p. 114.
६. Monghyar Grant of Devapāla
७. Nalanda Grant of Devapāla
८. I.A., Vol XVIII, p. 33. ff. 1.4
९. I.A., XIV, p. 101, ff. 1.11
१०. I.A., XVIII, p. 14, ff. 1.12
११. I.A., II, plate No. 29, ff. 1.9

वस्तुतः अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह द्योतित होता है कि गुप्तकाल के उपरान्त ग्राम संगठन का विशेष महत्त्व बढ़ गया था फलतः सामन्त पद्धति की विशेष परिस्थितियों में अधिकाधिक व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी, तथा भूमिदान एवं ग्रामदान के राजकीय व्यवहारों में भी वृद्धि हो गई थी। इस कारण 'महत्तर' से बड़े पद 'महामहत्तर', 'राष्ट्रमहत्तर' 'वीथिमहत्तर' आदि भी अस्तित्व में आने लगे थे। 'महामहत्तर' का उल्लेख धर्मपाल के खलीमपुर दान पत्र^१ में आया है जो अभय कान्त चौधुरी के अनुसार महत्तरों के सङ्गठन की ओर सङ्केत करता है।^२ 'महामहत्तर' सभी महत्तरों के ऊपर का पद था। 'वीथिमहत्तर' जिला स्तर पर नियुक्त किया गया राजकीय अधिकारी था। गुप्तवंश वर्ष १२० दान पत्र में इसका उल्लेख आया है।^३ 'राष्ट्रमहत्तर' का उल्लेख 'राष्ट्रग्राममहत्तर' के रूप में ५वीं शताब्दी ई० के गुप्त लेख में हुआ है।^४ उत्तरवर्ती मध्यकाल में 'राष्ट्र महत्तर' के आधार पर मंत्री आदि के लिए 'महत्तर' का प्रयोग होने लगा। वास्तव में गुप्तकाल से लेकर १२वीं शताब्दी ई० तक के काल में 'महत्तर' एक सामन्तवादी अलङ्कारात्मक पद के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था। समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'महत्तर' के प्रयोग में विभिन्न दृष्टिकोण रहे थे। जैन साहित्य तथा अन्य मध्यकालीन भारतीय साहित्य में 'महत्तर' से सम्बन्धित विभिन्न तथ्य इस प्रकार हैं —

१. कल्पसूत्र की टीका में आए 'कौटुम्बिका' (कौटुम्बिया) को 'ग्राममहत्तर' के तुल्य स्वीकार करते हुए उसे 'ग्रामप्रभु', 'अवलगक', 'कुटुम्बी' आदि शब्दों से स्पष्ट किया गया है।^५

२. जिनसेन के आदि पुराण में विभिन्न राजदरबारी अधिकारियों के प्रसंग में 'महत्तर' का उल्लेख आया है।^६ इसके दूसरे पाठ में 'महत्तम' का प्रयोग भी

१. Khalimpur Plate of Dharmapāla, E.I., Vol. IV, plate No. 34, 1.47

२. वही, Vol. IV, plate No. 34, 1.47

३. Indian Historical Quarterly, Vol. 19, plate 12, pp. 16, 21

४. तु०— 'राष्ट्रग्राममहत्तरः'

५. 'कौटुम्बिकाः कतिपय कुटुम्बप्रभवोवलगकाः ग्राममहत्तराः',—कल्पसूत्र, २.६१ पर उद्धृत टीका; Stein Otto, The Jinist Studies, Ahmedabad, 1948, p. 79.

६. सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वाःस्थैरानीयमानकान् ।

संभावयन् यथोक्तेन संमानेन पुनः पुनः ॥

परचक्रनरेन्द्राणामानीतानि महत्तरैः/महत्तमैः ।

उपायनानि संपश्यन् यथास्वं तांश्च पूजयन् ॥

उपलब्ध होता है ।

३. सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की टीका में राज्य के अठारह प्रकार के अधिकारी पदों में से 'महत्तर' नामक पद का उल्लेख भी मिलता है ।^१ मंत्री के एकदम बाद 'महत्तर' का परिगणन करना इसके महत्त्व का द्योतक भी है ।

४. वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य^२ (६७०-६७५ ई०) में युद्ध प्रयाण के अवसर पर राजा पद्मनाभ तथा उसकी सेना के अहीरों के घोष ग्रामों के निकट से जाने पर कम्बल ओढ़े हुए गोशालाओं के अहीरों—'गोष्ठमहत्तरों' द्वारा दही तथा घी के उपहार से राजा का स्वागत करने का उल्लेख आया है ।^३ ऐसा ही सन्दर्भ कालिदास के रघुवंश में भी आया है किन्तु उन्होंने वहाँ पर 'गोष्ठमहत्तर' के स्थान पर 'घोषवृद्ध' का प्रयोग किया है^४ जो इस तथ्य का सूचक है कि कालिदास-युगीन घोष ग्रामों के मुखिया (घोषवृद्ध) नवीं दशवीं शताब्दी ई० में 'गोष्ठमहत्तर' के नाम से व्यवहृत हो गए थे । चन्द्रप्रभमहाकाव्य की टीका काव्यपञ्जिका में 'गोष्ठमहत्तर' को 'गोपाल-प्रभु' अर्थात् 'अहीरों के स्वामी' के रूप में स्पष्ट किया गया है ।^५ चन्द्रप्रभचरित के प्रस्तुत उल्लेख से ज्ञात होता है कि अहीरों के ग्रामों में भी 'महत्तर' पद का अस्तित्व आ चुका था । ये 'महत्तर' युद्ध प्रयाण आदि अवसरों पर राजा को उपहार देकर प्रसन्न करते थे । राजा द्वारा दान में दी गई भूमि के अनुग्रह के मुगतान का भी यह उचित अवसर था ।

५. दशवीं शताब्दी ई० में निर्मित पुष्पदन्तकृत जसहरचरित^६ (यशोधरचरित)

१. 'सेनापतिगणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मन्त्री महत्तरो बलवत्तरश्चत्वारो वर्णाश्चतुरङ्गबलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्यश्चेत्यष्टादशराजां तीर्थानि भवन्ति' । यशस्तिलक १.१६ पर उद्धृत टीका

Kane, P.V., History of Dharmaśāstra, Vol. III, p. 113, fn. 148

२. चन्द्र०, १३.१-४१

३. तु०—रुचिरलकराजितविग्रहैविहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।

पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनाभ्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥

—वही, १३.४१

४. हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।

नामधेयानि पृच्छन्ती वन्यानां मार्गशास्त्रिणाम् ॥—रघुवंश, १.४५

५. तु०—'गोष्ठमहत्तरैः—गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि ।'

—चन्द्र०, १३.४१ पर पञ्जिका टीका

६. तु०—कोंडिलगोत्तराह दिशयरासु वल्लहरारिदधरमहयरासु ।

राणराहो मंदिरि शिवसंतु संतु अहिमाराणेरु कइ पुष्पयंतु ॥

पुष्पदन्तकृत जसहरचरित, १.१.३-४, सम्पा० हीरालाल, दिल्ली, १९७२

में पुष्पदन्त का राजा नरेन्द्र के निजी 'महत्तर' नन्न के निवास स्थान पर रहने का उल्लेख मिलता है। 'महत्तर' नन्न मंत्री भरत का पुत्र था तथा अपने पिता के उपरान्त वह ही मंत्री पद पर आसीन हुआ।^१ इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी ई० में दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट शासन में 'महत्तर' पद एक गौरवपूर्ण पद हो गया था जो मंत्री पद से थोड़ा ही कम महत्त्वपूर्ण रहा होगा।

६. हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश (१०वीं शताब्दी ई०) में अशोक नामक धनाढ्य 'महत्तर' द्वारा गोकुल की भूमि अधिग्रहण करने के एवज में प्रतिवर्ष एक हजार घी के घड़े राजा को देने की शर्त का उल्लेख आया है। अशोक नामक इस 'महत्तर' ने अपनी दोनों पत्नियों को संतुष्ट करने के लिये गोकुल को दो भागों में विभक्त कर प्रत्येक पत्नी को पांच सौ घी के घड़े देने का दायित्व सौंप दिया।^२ बृहत्कथा के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' पद राजा द्वारा किन्हीं शर्तों पर दिया जाने वाला पद विशेष रहा होगा। ग्राम सङ्गठन के सन्दर्भ में 'महत्तर' अपने काम को आसान बनाने के लिए अपनी पत्नियों अथवा अन्य लोगों को भागीदार बना लेते थे। अशोक नामक 'महत्तर' की दो पत्नियों को आधे-आधे ग्राम का स्वामी बना देने का वृत्तान्त भी ग्राम सङ्गठन के सामन्तवादी ढाँचे को विशद करता है। बृहत्कथाकोश में 'महत्तरिका'^३ का भी उल्लेख आया है जो संभवतः 'महत्तरक' की पत्नी हो सकती है जिस पर सम्भवतः प्रशासनिक जिम्मेवारी भी रहती थी। बृहत्कथाकोश में एक अन्य स्थान पर राजदरबार में भी 'महत्तरों' की उपस्थिति कही गई है जो

१. पुष्पदन्तकृत जसहरचरित, मूमिका, पृ० ६

२. तु०—वाराणसमीपे च गङ्गारोधसि सुन्दरः।

पलाशोपपदः कूटो ग्रामो बहुधनोऽभवत्॥

आसीदशोकनामाऽत्र ग्रामे बहुधनो धनी।

महत्तरोऽस्य भार्या च नन्दा तन्मानसप्रिया॥

वृषभध्वजमूपाय धृतकुम्भसहस्रकम्।

वर्षे वर्षे प्रदायास्ते भुञ्जानो गोकुलानि स॥

दृष्ट्वा अशोको महारारिं तथा नन्दासुनन्दयोः।

अर्धाधगोकुलं कृत्वा ददौ कार्यविचक्षणः॥

—बृहत्कथाकोश, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई,

१६.४३, २१.३-४; २१.७-८

३. तु०—मीनोपी पपाताशु तन्महत्तरिका वरा।

—वही, ७३.५३

राजकीय उत्सवों के अवसर पर याचकों को दान आदि देने का कार्य करते थे। बृहत्कथाकोश के 'कडारपिङ्गकथानक' में 'महत्तर' को मन्त्री के रूप में भी वर्णित किया गया है।^१

इस प्रकार महत्तर एवं महत्तम सम्बन्धी उपर्युक्त साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन से सम्बन्धित एक अधिकारी विशेष था। 'महत्तर' राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता था अथवा नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में 'महत्तर' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। वह ग्राम सङ्गठन के एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में राजा तथा उसकी शासन व्यवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध था। पाँचवीं शताब्दी ई० के उत्तरवर्ती अभिलेखीय साक्ष्यों में 'महत्तर' तथा 'महत्तम' के उल्लेख मिलते हैं जिनका सम्बन्ध प्रधानतः राजाओं द्वारा भूमिदान आदि के व्यवहारों से रहा था। इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित यह मान्यता कि ११वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध के उपरान्त 'महत्तर' के स्थान पर 'महत्तम' का प्रयोग होने लगा था, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है तथा युगीन सामन्तवादी राज्य व्यवस्था के व्यावहारिक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। 'महत्तर' का 'महत्तम' के रूप में स्थानांतरण होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि नवीं शताब्दी ई० में पालवंशीय शासन व्यवस्था में 'उत्तम' नामक एक दूसरे ग्राम सङ्गठन के अधिकारी का अस्तित्व आ चुका था।^२ 'उत्तम' की तुलना में 'महत्तर' की अपेक्षा 'महत्तम' अधिक युक्ति-सङ्गत पड़ता था। इस कारण 'उत्तम' नामक ग्राम मुखिया से कुछ बड़े पद वाला अधिकारी 'महत्तम' कहा जाने लगा था।^३ पालवंशीय दान पत्रों में 'महत्तर'/'महत्तम'/'कुटुम्बी' आदि के उल्लेखों से यह भी द्योतित होता है कि सामान्य किसानों के लिए 'क्षेत्रकर' का प्रयोग किया गया है।^४ 'कुटुम्बी' इन सामान्य किसानों की तुलना में

१. तु०—पट्टबन्धं विधायास्य कर्कण्डस्य नराधिपाः ।

मंत्रिणस्तलवगश्च विनेयुः पदपङ्कजम् ॥

कनकं रजतं रत्नं तुरङ्गं करिवाहमम् ।

स ददुर्महत्तरा हृष्टा याचकेभ्यो मृदुर्मुहुः ॥

—बृहत्कथा०, १.५६.२६४-६५

तथा- सन्धं कडारपिङ्गोऽयं मन्महत्तरनन्दनः — वही, ८२.३५

२. I.A. Vol. XXIX, No. 7, 1.31

३. तु०—महत्तमोत्तमकुटुम्बी, Land grants of Mahipāla 1,

—I.A. Vol. XIV, No 23, 11.41-42

४. Choudhari, Early Medieval Indiau Village, p. 220

कुछ विशेष वर्ग के किसान थे जो विभिन्न कुलों तथा परिवारों के मुखिया के रूप में ग्राम सङ्गठन से सम्बद्ध थे। उसके उपरान्त 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियों का स्थान आता था जो संभवतः 'कुटुम्बी' से बड़े होने के कारण 'उत्तम' कहलाते थे। इन 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियों के ऊपर 'महत्तम' का पद रहा था। पालवंशीय शासन व्यवस्था में इन विभिन्न पदाधिकारियों के क्रम को इस प्रकार रखा जा सकता है—

क्षेत्रकर > कुटुम्बी > उत्तम > महत्तम

'उत्तम' नामक एक नवीन पदाधिकारी के अस्तित्व से 'महत्तर' के पूर्व प्रचलित पद को धक्का ही नहीं लगा अपितु इसके अर्थ का अवमूल्यन भी होता चला गया। भारतवर्ष के कुछ भागों, विशेषकर उत्तरपूर्वी प्रान्तों तथा कश्मीर आदि प्रदेशों में 'महत्तर' तथा 'महत्तम' दोनों का प्रयोग मिलता है किन्तु 'महत्तर' अन्तःपुर के रक्षक (chamberlain) के लिए प्रयुक्त हुआ है जबकि 'महत्तम' शासन व्यवस्था के महत्वपूर्ण व्यक्ति के लिए आया है।^१ कथासरित्सार में भी 'महत्तर' अन्तःपुर के रक्षक के रूप में ही निर्दिष्ट है। किन्तु गुजरात दक्षिण भारत आदि प्रान्तों में 'महत्तर' के अवमूल्यन का कम प्रभाव पड़ा तथा वहाँ १२वीं शताब्दी ई० तक भी 'महत्तर' को ग्राम सङ्गठन के अधिकारी के रूप में ही मान्यता प्राप्त थी। १२वीं शताब्दी ई० के उपरान्त 'महत्तर' एवं 'महत्तम' पदों के प्रशासकीय पदों की लोकप्रियता कम होती गई तथा इसकी देशी संज्ञाएँ 'मेहरा', 'मेहेर', 'मेहरू', 'महतो' आदि वंश अथवा जाति के रूप में रूढ़ होती चली गई। इन जातियों में किसी वर्ण विशेष का आग्रह यद्यपि नहीं था तथापि शूद्र एवं निम्न वर्ण की जातियों का इनमें प्राधान्य रहा था। इसका कारण यह है कि मध्यकाल में इन जातियों से सम्बद्ध लोग ग्राम सङ्गठन के मुखिया रहे थे एवं राजकीय महत्त्व के कारण भी उनकी विशेष भूमिका रही थी। फलतः इन महत्तरों की आने वाली पीढ़ियों के लिए 'महत्तर' तथा उससे सम्बद्ध 'मेहरा', 'महतो' आदि सम्बोधन गरिमा का विषय था। यही कारण है कि वर्तमानकाल में भी महत्तर/महत्तम के अवशेष विभिन्न जातियों के रूप में सुरक्षित हैं। आर्थिक दृष्टि से इनमें कई जातियाँ आज निर्धन कृषक जातियाँ हैं किन्तु किसी समय में इन जातियों के पूर्वज भारतीय आमीण शासन व्यवस्था के महत्वपूर्ण पदों को धारण करते थे। ठीक यही सिद्धान्त ११वीं-१२वीं शती ई० के 'पट्टकिल'^२ तथा आधुनिक 'पटेल' अथवा 'पाटिल', मध्यकालीन 'गौड'^३ तथा आधुनिक 'गौड़'; मध्यकालीन 'कुटुम्बी', आधुनिक 'कुन्वी', 'कुमि'

१. राजतरङ्गिणी, न. ६५६ तथा ७.४३८

२. Sharma, R.S., Social Changes in Early Medieval India, p. 10

३. वही, पृ० १०

‘कोडी’; मध्यकालीन, ‘राष्ट्र महत्तर’,^१ आधुनिक ‘राठोड़’; मध्यकालीन ‘रणक’, ‘ठाकुर’, ‘रोत’, ‘नायक’ तथा आधुनिक ‘राणा’, ‘ठाकुर’, ‘रावत’, ‘नाइक’ आदि पर भी लागू होता है।^२ इनमें से ‘रणक’, ‘ठाकुर’, ‘रोत’, ‘नायक’ आदि कतिपय वे उपाधियाँ थीं जो प्रायः शिल्पियों, व्यापारियों आदि के प्रधानों को सामन्ती अलङ्कारण के रूप में प्रदान की जाती थीं तथा परवर्ती काल में इन अलङ्कारणात्मक पदों के नाम पर जातियाँ भी रुढ़ होती चली गईं।

कुटुम्बी

संस्कृत ‘कुटुम्बी’ भाषा शास्त्र एवं व्याकरण की दृष्टि से अवैदिक एवं अप्राणिनीय प्रयोग है। चारों वेदों^३ तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी^४ में इसके प्रयोग नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत ‘कुड’ धातु से निष्पन्न ‘कोडियो’, ‘कोडिय’, ‘कौडुम्बियो’, ‘कुडुम्बी’ आदि जनपदीय देशी शब्दों का संस्कृतनिष्ठ रूप ‘कुटुम्ब’ अथवा ‘कुटुम्बी’ है।

वैदिक परम्परा के साहित्य की दृष्टि से ‘कुटुम्बी’ का छान्दोग्योपनिषद्^५ में सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है जिसका प्रायः ‘परिवार’ अथवा ‘गृहस्थाश्रम’ अर्थ किया गया है।^६ मत्स्यपुराण में उपलब्ध होने वाले ‘कुटुम्बी’ विषयक लगभग सभी प्रयोग चतुर्थ्यन्त हैं तथा ब्राह्मण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।^७ दीक्षितार महोदय ने ब्राह्मण के ‘कुटुम्बी’ विशेषण को एक ऐसा विशेषण माना है जिससे उसमें दान-ग्रहण के अधिकारी विशेष की योग्यता परिलक्षित होती है।^८ इसी सन्दर्भ में वायु-पुराण के वे उल्लेख भी विद्वानों के लिए विचारणीय हैं जहाँ सप्तर्षियों के स्वरूप को ब्राह्मण-वैशिष्ट्य के रूप में उभारा गया है तथा इन्हें गोत्र प्रवर्तक मानने के

१. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ६२
२. Majumdar, N.G., Inscriptions of Bengal, III, No. 5.36
३. द्रष्टव्य—चतुर्वेद वैयाकरण पदसूची, होशियारपुर, १९६०
४. Katre, S.M., Dictionary of Pāṇini, Poona, 1968, Part I, pp. 180-181
५. कुटुम्बे शुची देशे स्वाध्यायमधीयानः—छान्दोग्योपनिषद्, ८.१५.१
६. कुटुम्बे गार्हस्थ्योचित कर्मणि—छान्दो०, ८.१५.१ पर उपनिषद्ब्रह्मयोगी, पृ० २२५
७. मत्स्यपुराण, ५३.१६, ५६.४०, ७३.३५, ६६.१५, ७५.३, सम्पा० जीवानन्द, कलकत्ता, १८७६
८. Dixitar, Purāṇa Index, Vol. I, p. 387.

साथ-साथ 'कुटुम्बी' भी कहा गया है।^१ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्ग-निवेश के अवसर पर राजा द्वारा कुटुम्बियों के सीमानिर्धारण की चर्चा आई है।^२ किन्तु इस सन्दर्भ में भी 'कुटुम्बी' के अर्थ-निर्धारण में मत-वैभिन्न्य देखा जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में आए इस 'कुटुम्बी' को प्रायः 'गृहस्थ',^३ 'श्रमिक',^४ 'नागरिक'^५ निम्न वर्ग के 'दुर्गान्तिवासी'^६ आदि विविध अर्थों में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार ईस्वी पूर्व के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध 'कुटुम्ब' के परिवार अर्थ में तो कोई अनुपपत्ति नहीं किन्तु इससे सम्बद्ध 'कुटुम्बी' का स्वरूप संदिग्ध एवं अस्पष्ट जान पड़ता है।

ईस्वी पूर्व के जैन आगम ग्रन्थ तथा जैन शिलालेख 'कुटुम्बी' के अर्थ निर्धारण की दिशा में हमारी बहुत सहायता करते हैं। जैनआगम कल्पसूत्र^७ में भगवान् महावीर के आठवें उत्तराधिकारी 'सुत्थिय' द्वारा 'कोटिक' अथवा 'कोडिय' गण की स्थापना का उल्लेख आया है जो कि बाद में चार शाखाओं में विभक्त हो गया था।^८ वायुपुराण में निर्दिष्ट शोत्र प्रवर्तक 'कुटुम्बी' कल्पसूत्रोक्त

१. तु०—वायुपुराण - ६१.६२-६६ तथा—

अग्रार्थ्यवन्तयन्ति स्म रसैश्चैव स्वयं कृतैः।

कुटुम्बिन ऋद्धिमन्तो बाह्यातरं निवासिनः॥—वायुपुराण, ६१.६६

गुरुमंडल सीरीज, कलकत्ता, १९५६

२. तु०—'कर्मान्तक्षेत्रवशेन वा कुटुम्बिनां सीमानां स्थापयेत्'।

—अर्थशास्त्र, २.४.२२ सम्पादक टी० गणपति शास्त्री;
त्रिवेन्द्रम्, १९२४

३. तु०—'कुटुम्बियों' अर्थात् साधारण गृहस्थ के कारखाने',—अर्थशास्त्र, अनु०
रामतेज शास्त्री, पृ० ६२

४. Families of workmen may in any other way be provided with sites befitting their occupation and field work.
Kautilya's Arthasāstra, Sham Snastri, Mysore 1951, p. 54

५. 'नगर में बसने वाले परिवारों के लिए निवास भूमि का निर्णय'—अर्थशास्त्र,
अनु० उदयवीर शास्त्री, पृ० ११४

६. 'कुटुम्बिनां दुर्गान्तिवासयितव्यानां वर्णाविराणां, कर्मान्तक्षेत्रवशेन...सीमानं स्थापयेत्'।

—अर्थशास्त्र, २.४.२२, टी० गणपति शास्त्रीकृत श्रीमूल टीका

७. Sacred Books of the East, Vol. XXII, p. 292

८. Buhler, J.G., The Indian Sect of the Jainas, Calcutta, 1963, p. 40

‘कोटिक’ अथवा ‘कोडिय’ से बहुत साम्यता रखता है। ‘कोडिय’ गए में फूट पड़ने के कारण जो चार शाखाएं अथवा कुल बन गए थे उनमें ‘वरिण्य’ अथवा ‘वरिण्ज’ नामक कुल भी रहा था।^१ कल्पसूत्रोक्त इस सामाजिक सङ्गठन में फूट पड़ने की घटना की वसिष्ठिपुत्र-अभिलेख (ल्युडर्स संस्था—११४७) से भी तुलना की जा सकती है।^२ इस लेख में कहा गया है कि मध्यमवर्ग के कृषक तथा वरिण् लोण परस्पर टूटकर स्वतन्त्र ‘गृहों’ तथा ‘कुटुम्बों’ (कुलों) में विभक्त हो गए थे।^३ *Siri Pulumayi* के अनुसार इन ‘गृहों’ तथा ‘कुटुम्बों’ के मुखिया क्रमशः ‘गृहपति’ तथा ‘कुटुम्बी’ कहलाते थे।^४

कल्पसूत्र^५ तथा औपपात्तिक सूत्र^६ में ‘कौडुम्बिय’ (कौटुम्बिक) का उल्लेख ‘माडम्बिय’ (माडम्बिक) ‘तलवर’ आदि प्रशासनिक अधिकारियों के साथ आया है, जो यह सिद्ध करता है कि जैन आगम ग्रन्थों के काल में ‘कौडुम्बिय’ अथवा ‘कौटुम्बिक’ प्रशासनिक पदाधिकारियों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। इस सम्बन्ध में कल्पसूत्र की एक टीका के अनुसार ‘कौडुम्बिय’ अथवा ‘कौटुम्बिक’ उन अनेक ‘कुटुम्बों’ (कुलों) अथवा परिवारों के स्वामी थे जिन्हें प्रशासकीय दृष्टि से ‘अवलगक’ अथवा ‘ग्राममहत्तर’ के समकक्ष समझा जा सकता है—‘कौटुम्बिकाः—कतिपयकुटुम्बप्रभवोवलगकाः ग्राममहत्तरा वा’।^७ प्रस्तुत टीका में आए ‘अवलगक’ को ‘लगान एकत्र करने वाले ग्रामाधिकारियों’ के रूप में समझना चाहिए।^८ बंगाल के हजारीबाग जिले के ‘दुषपनि’ स्थान से प्राप्त शिलालेख में वर्णित एक घटना के अनुसार राजा आदिसिंह द्वारा भ्रमरशाल्मलि नामक पल्ली ग्राम में ग्रामवासियों की इच्छा से धन धान्य सम्पन्न वरिण् को ‘अवलगक’ में रूप में नियुक्त करने का उल्लेख आया है।^९ वह ‘अवलगक’ राजा का विशेष पक्षपाती व्यक्ति था तथा

१. Buhler, *The Indian Sect of the Jinas*, p. 40

२. I.A., Vol. XLVIII, p. 80

३. वही, पृ० ८०

४. वही, पृ० ८०

५. कल्पसूत्र, २.६१

६. औपपात्तिकसूत्र, १५

७. Stein, *The Jinist Studies*, p. 79

८. तु०—‘आलवन’—फसल काटना (लू) तथा ‘आर्वन’—पहली फसल जो गृह देवताओं को समर्पित की जाती है।

—Turner, R.L., *A Comparative Dictionary of the Indo Aryan*, London, 1912, p. 62

९. Stein, *The Jinist Studies*, p. 80

पहली ग्राम का राजा कहलाता था ।^१ इस शिलालेख से 'अवलगक' को राज्य प्रशासन की ओर से नियुक्त अधिकारी के रूप में सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक आधार मिलता है तथा इसी रूप में 'कुटुम्बी' को भी समझा जा सकता है । मध्यकालीन ग्राम सङ्गठन के आर्थिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाले इस शिलालेख के उल्लेखानुसार 'अवलगन' (प्रेम उपहार) को राजा तक पहुँचाने वाले व्यक्ति की 'अवलगक' संज्ञा थी । संभवतः प्रारम्भ में कटी हुई फसल के राजकीय भाग से इसका अभिप्राय रहा होगा ।^२ किन्तु बाद में किसी भी व्यक्ति से सम्बन्ध अच्छे बनाने के लिए भी किसी प्रकार का प्रेमोपहार देना 'अवलगन' कहलाने लगा ।^३ मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में सामन्तवादी चरित्र की यह विशेषता ही बन गई थी ।

'कुटुम्बी' के कोशशास्त्रीय अर्थ का भी रोचक इतिहास है । अमरकोशकार (१वीं शती ई०), 'कुटुम्बिनी' तथा 'कुटुम्बव्यापृत'^४ शब्दों के उल्लेख तो करते हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से 'कुटुम्बी' के किसान-अर्थपरक पर्यायवाची शब्दों का कहीं भी उल्लेख नहीं करते । ऐसा प्रतीत होता है कि अमरकोश के काल में 'कुटुम्बी' को किसान के पर्यायवाची शब्दों में स्थान नहीं मिल पाया था । उन्होंने किसान के 'क्षेत्राजीवः', 'कर्षकः', 'कृषिकः', 'कृषिवलः' केवल चार पर्यायवाची शब्द गिनाए हैं^५ जबकि दशवीं शताब्दी ई० में निर्मित हलायुध कोश में इन चार पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त 'कुटुम्बी' भी जोड़ दिया गया ।^६ इस प्रकार हलायुध कोश ने सर्वप्रथम दसवीं शताब्दी ई० में 'कुटुम्बी' के किसानपरक अर्थ को मान्यता दी । तदनन्तर हेमचन्द्र^७ ने भी इसे परम्परागत रूप से किसान के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार कर लिया ।^८ १२वीं शताब्दी ई० में हेमचन्द्र की देशीनाम-माला में 'कुटुम्बी' से सादृश्य रखने वाले अनेक प्राकृत शब्द मिलते हैं उनमें

१. Stein, The Jinist Studies, p. 80

२. तु०—Turner, Comparative Dic. p. 62; Stein, The Jinist Studies, p. 80, fn. 172

३. Stein, The Jinist Studies, p. 81-82

४. तु०—'भार्या जायाथपुंभूमिदाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी'—अमर० २.६.६ तथा 'कुटुम्बव्यापृतस्तु यः स्यादभ्यागारिकः'—बही ३.१.११

५. 'क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषिकश्च कृषिवलः ।' — बही २.१.६

६. तु०—'क्षेत्राजीवः कृषिकः कृषिवलः कर्षकः कुटुम्बी च ।'

—अभिधानरत्नमाला, २.४१६

७. अभिधानचिन्तामणि, ३.५५४

८. त्रिषष्टि०, २.४.१७३ तथा २.४.२४०

‘कुडुच्चिग्रम्’^१ तथा ‘कौडिग्रो’^२ महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र ने ‘कुडुच्चिग्रम्’ का अर्थ ‘सुरत’ अथवा ‘मैथुन’ किया है^३, किन्तु ‘कौडिग्रो’ को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्पष्ट करने की चेष्टा की है जो ‘ग्रामभोक्ता’ होता था तथा छल-कपट से ग्रामवासियों को परस्पर लड़ा-भिड़ाकर गांव में अपना आधिपत्य जमा लेता था—‘भेएण ग्रामभोक्ता य कौडिग्रो —कौडियग्रो भेदेन ग्रामभोक्ता । ऐकमन्यं ग्रामीणानामपास्य यो भायथा ग्रामं भुनक्ति ।’^४ इस प्रकार देशीनाममाला से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत परम्परा से चले आ रहे ‘कौडुम्बिय’ ‘कौडिय’ आदि प्रयोग हेमचन्द्र के काल तक ‘कौडिग्रो’ के रूप में ग्रामशासन के अधिकारी के लिए व्यवहृत होने लगे थे।

सातवीं शताब्दी ई० के बाणरचित हर्षचरित में ‘कुटुम्बियों’ के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं^५, उनके सम्बन्ध में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो ‘कुटुम्बी’ का प्रयोग ‘अग्रहार’ ‘ग्रामेयक’ ‘महत्तर’ ‘चाट’ आदि के साथ हुआ है जो स्पष्ट प्रमाण है कि ‘कुटुम्बी’ भी ‘ग्रामेयक’ आदि के समान प्रशासनिक अधिकारी रहा होगा। दूसरे राजा हर्ष दिग्विजय के अवसर पर किसी वन ग्राम में ‘कुटुम्बियों’ के घरों को देखकर वहाँ रहने लगते हैं। फलतः ये कुटुम्बी सामान्य किसान न होकर राजा के विश्वासपात्र व्यक्ति रहे होंगे जिन पर युद्ध प्रमाण आदि के अवसर पर राजा तथा उसकी सेना के रहन-सहन तथा भोजन आदि की व्यवस्था का दायित्व भी रहता था। इस प्रकार हर्षकालीन भारत में ‘कुटुम्बी’ ग्राम सङ्गठन के प्रशासनिक ढाँचे से पूर्णतः जुड़ चुके थे।

कात्यायन के वचनानुसार श्रोत्रिय, विधवा, दुर्बल, कुटुम्बी आदि को ‘राजबल’ माना गया है तथा इनकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करने का निर्देश दिया गया है।^६

१. देशीनाममाला, २.४१

२. वही, २.४८

३. ‘कुडुच्चिग्रं सुरए’—वही, २.४१

४. वही, २.४८

५. हर्षचरित, सप्तम उच्छवास,—सम्पादक—पी० बी० काणे, दिल्ली, १९६५ पृ० ३५, ६८, ६९, तथा २२६

६. श्रोत्रिया विधवा बाला दुर्बलाश्च कुटुम्बिनः ।

एते राजबला राज्ञा रक्षितव्या प्रयत्नतः ॥

—(कात्यायन), कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, भाग ११, पृ० ८४

मध्यकालीन भारत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (१०वीं शती ई०) में 'कुटुम्बियों' को 'बीजभोजी' कहा गया है तथा उनके प्रति अनादर की भावना अभिव्यक्त की गयी है।^१ इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत में राजाओं को निर्देश दिए गये हैं कि वे द्यूत आदि व्यसनों के अतिरिक्त कारखानों से आए हुए 'कुटुम्बियों' के घाटे को पूरा करें तथा उन्हें मूल धन देकर सम्मानित करें।^२ नीतिवाक्यामृत के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि 'कुटुम्बी' राजा के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे किन्तु सामन्तवादी भोग-विलास तथा सामान्य कृषकों के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त होती जा रही थी। नीतिवाक्यामृत में सामान्यतया किसान के लिए 'शूद्रकर्षक'^३ प्रयोग मिलता है अतएव 'कुटुम्बी' को उन धनधान्य सम्पन्न किसानों के विशेष वर्ग के रूप में समझना चाहिए जो परवर्ती काल में जमींदार के रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति बना सके थे।

बारहवीं शताब्दी ई० मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की चरम परिणति मानी जाती है। इस समय तक ग्राम सङ्गठन पूर्णतः सामन्तवादी प्रवृत्तियों से जकड़ लिए गए थे।^४ इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम सङ्गठनों के 'कुटुम्बी' आदि ठीक उसी प्रकार समझे जाने लगे थे जैसे 'सामन्त' राजा। हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित महाकाव्य में युद्ध प्रयाण के अवसर पर 'ग्रामाधीश' आदि स्वयं को 'कुटुम्बियों' के समान कर देने वाले तथा अधीन रहने वाले' बताते हैं।^५ त्रिषष्टि० में एक दूसरे स्थान पर 'कुटुम्बियों' को सेना तथा 'सामन्त' राजाओं के

१. बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम्।

—नीतिवाक्यामृत, १.४५

२. अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुम्बिनः प्रतिसम्भावयेत्।

—वही, १७.५३

३. वही, १६.८

४. 'Out of the revenue retained by the vassal he was expected to maintain the feudal levies which underlying his oath of loyalty to his king, he was in duty bound to furnish for the king's services. To break his oath was regarded as a heinous offence.'

Thapar, Romila, A History of India, Part I, p. 242

तथा तु०—त्रिषष्टि०, २,४.१७०-७२

५. कुटुम्बिका इव वयं करदा वशगाश्च वः। —त्रिषष्टि०, २.४.१७३

समान अधीनस्थ माना गया है।^१ हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में आये ये उल्लेख यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'कुटुम्बी' स्वरूप से कृषक अवश्य रहे होंगे क्योंकि समग्र कृषकवर्ग पर ये आधिपत्य करते थे; किन्तु ये वास्तविक व्यवसाय करने वाले किसान नहीं थे। हेमचन्द्र द्वारा अभिधानचिन्तामणि में कोशशास्त्रीय अर्थ के रूप में 'कुटुम्बी' को कृषक^२ मानना अर्थ की दृष्टि से परम्परानुमोदित तथा युक्तिसङ्गत है किन्तु लौकिक व्यवहार की प्रासङ्गिकता की दृष्टि से 'कुटुम्बी' देशीनाममाला में कहे गए 'कौंडिग्रो' के तुल्य था जो 'ग्रामभोक्ता' होने के साथ-साथ छलकपटपूर्ण व्यवहार से ग्रामवासियों पर शासन करता था। अपनी हैसियत को बनाए रखने के लिए यह 'कुटुम्बी' विश्वासपात्र तथा विनम्र सेवक के रूप में राजा की हर प्रकार से सहायता करता था।

मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था एवं सामुदायिक ढाँचों के सन्दर्भ में इतिहासकारों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'कुटुम्बी' सम्बन्धी जिन मान्यताओं का प्रतिपादन किया है, उनमें प्रो० आर० एस० शर्मा का मन्तव्य है कि मध्यकालीन 'कुटुम्बी' वर्तमान कालिक विहार एवं उत्तर प्रदेश की शूद्र जाति 'कुमियों' तथा महाराष्ट्र की 'कुन्वियों' के मूल वंशज रहे थे।^३ उनके अनुसार मध्यकालीन भारत में हुए सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप वैश्यों तथा शूद्रों के व्यवसायों में काफी परिवर्तन आ चुके थे। गुप्तकाल की उत्तरोत्तर शताब्दियों में शूद्रों ने वैश्यों द्वारा किए जाने वाले कृषि व्यवसाय को अपना लिया था।^४ सातवीं शताब्दी ई० के द्वेनसाङ्ग तथा ग्यारहवीं शताब्दी ई० के अलबेरूनी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि शूद्र कृषि कार्य में लग चुके थे तथा वैश्यों एवं शूद्रों में रहन-सहन की दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं रह गया था। इसी ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रो० शर्मा 'कुटुम्बियों' को सम्भवतः एक ऐसी कृषक जाति से जोड़ना चाहते हैं जो वर्ण से शूद्र थी। डी० सी० सरकार^५ तथा वामुदेवशरण अग्रवाल^६ की भी यही धारणा है कि 'कुटुम्बी' उत्तर

१. कुटुम्बिनः पत्नयो वा सामन्ता वा त्वदाज्ञया ।

अतः परं भविष्यामस्त्वदधीना हि नः स्थितिः ॥

—त्रिषष्टि०, २.४.२४०

२. अभिधानचिन्तामणि, ३.५५४

३. Sharma, Social Changes in Early Medieval India, p. 11

४. वही, पृ० ११

५. Sircar, D.C., Select Inscriptions, Vol. I, Calcutta, 1942, p. 498

६. वामुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९५३, पृ० १८१, पाद० ४

भारत की 'कुलम्बी' अथवा 'कुम्बी' जाति के लोग रहे होंगे। इस प्रसङ्ग में टर्नर महोदय की 'इण्डो आर्यन डिक्शनरी' के वे तथ्य भी उपयोगी समझे जा सकते हैं जिनमें उन्होंने संस्कृत 'कुटुम्बी' तथा प्राकृत 'कुडुम्बी' को आधुनिक पूर्वी हिन्दी तथा सिन्धी के 'कुर्मी', पश्चिमी हिन्दी के 'कुम्बी', गुजराती के 'कम्बी' तथा 'कल्मी' पुरानी गुजराती के 'कलम्बी' मराठी के 'कलाबी' तथा 'कुम्बी' का मूल माना है।^१ भाषाशास्त्रीय इस सर्वेक्षण के आधार पर सभी प्रान्तों में बोली जाने वाली तत्तद्-भाषाओं में 'किसान' अर्थ की एकरूपता देखी जाती है। इस प्रकार इतिहासकारों तथा कोशकारों ने 'कुटुम्बी' शब्द के केवल उस पक्ष को विशद किया है जिसके आधार पर 'कुटुम्बी' को कृषक जाति के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु 'कुटुम्बी' का वर्तमान समाधान व्यवहारतः सर्वथा पूर्ण नहीं है। अभिलेखीय साक्ष्यों तथा अनेक साहित्यिक साक्ष्यों के ऐसे उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह भावना दृढ़ होती जाती है कि 'कुटुम्बी' लोगों की ग्राम सङ्गठन के धरातल पर एक ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी जिसके कारण 'कुटुम्बी' राजा तथा किसानों के मध्य बीच की कड़ी रहे होंगे और उन्हें ग्राम प्रशासन का महत्वपूर्ण अधिकारी माना जाने लगा था।

मध्यकालीन ग्राम सङ्गठनों को ग्रामोन्मुखी तथा आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था ने बहुत प्रभावित किया जिसे इतिहासकार सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के रूप में भी स्पष्ट करते हैं।^२ गुप्तवंश^३ तथा पालवंश^४ के दान पत्रों से इस व्यवस्था के उस आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचे की पुष्टि होती है जिसके अन्तर्गत ऐसे अनेक प्रशासकीय पदों का अस्तित्व आ गया था जो भूमिदान तथा ग्रामदान के संवैधानिक व्यवहारों की देख-रेख करते थे। इस सन्दर्भ में 'कुटुम्बी' पद विशेष रूप से उल्लेखनीय है।^५

मध्ययुगीन दक्षिण भारत के ग्राम सङ्गठन के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 'कोडुक्कपिल्लै' नामक एक अधिकारी के पद का अस्तित्व रहा था।^६

१. Turner, R.L., A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages, London, 1912, p. 165
२. आर० एस० शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, अनु० आदित्य नारायण सिंह, दिल्ली, १९७३, पृ० १-२
३. Puri, B.N. History of Indian Administration, Vol. I, Bombay, 1968, p. 138
४. Choudhari, Early Medieval Indian Village, p. 220
५. Indian Historical Quarterly, Vol. XIX, p. 15
६. Meenakshi, C., Administration & Social Life under the Pallavas, Madras, 1938, p. 56

इस अधिकारी का मुख्य कर्त्तव्य ग्राम दान तथा ग्रामों से आने वाले 'परिहार' आदि करों से सम्बन्धित व्यवहारों को देखना था।^१ 'परिहार' आदि करों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि ये कर ग्रामों से प्राप्त होने वाले अठारह प्रकार के कर थे जिनकी सूचना भी पल्लववंश के अभिलेखों से प्राप्त होती है।^२ इस प्रकार दक्षिण भारत में 'कुडुम्बनी' अथवा 'कोडिय' की साम्यता पर 'कोडुक्कपिल्लै' नामक प्रशासकीय पद स्वरूप से विशुद्ध राजकीय अधिकारी का पद रहा था तथा यह ग्राम सङ्गठन के आर्थिक ढाँचे को नियन्त्रित करता था।

इस प्रकार 'कुटुम्बी' विषयक जैन साहित्य एवं जैनेतर साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में 'कोडिय' के रूप में गुप्तकालीन एवं मध्यकालीन 'कुटुम्बी' समाज सङ्गठन की न्यूनतम इकाई परिवार अथवा कुल के प्रधान के रूप में प्रतिनिधित्व करते थे। तदनन्तर पाँच अथवा उससे अधिक परिवारों के समूह—'ग्राम' के सङ्गठनात्मक ढाँचे में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान बनता गया।^३ मध्यकालीन ग्राम सङ्गठन में 'महत्तर' से कुछ छोटे पद के रूप में उनकी प्रशासकीय स्थिति रही थी। यही कारण है कि भूमिदान तथा ग्रामदान सम्बन्धी अभिलेखीय विवरण 'करद-कुटुम्बी' के रूप में इनकी उपस्थिति को रेखाङ्कित करते हैं। इतिहासकारों ने 'कुमियों' तथा 'कुम्बियों' के रूप में जिस कृषक जाति को 'कुटुम्बियों' का मूल माना है वह उस अवस्था का द्योतक है जब 'कुटुम्बी' ग्राम प्रशासन की अपेक्षा गोत्र अथवा जाति के रूप में अधिक लोकप्रिय होते चले गए थे तथा सङ्गठनात्मक ढाँचे में इनका स्थान 'जमीदारों' आदि ने ले लिया था। 'कुटुम्बी' के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ये अधिकांश रूप से शूद्र थे। ब्राह्मण आदि वर्ण के रूप में भी इनका अस्तित्व रहा था। अधिकांश ग्राम शूद्रों द्वारा बसाये जाने के कारण ही वर्तमान में शूद्र 'कुम्बियों' तथा 'कुमियों' की संख्या अधिक है।

राजाओं तथा मंत्रियों की ऐतिहासिक वंशावलियाँ

१. चाहमान वंशक्रम (अजमेर, शाकम्भरी तथा रणथम्भौर)

हम्मीर महाकाव्य में चाहमान (चौहान) वंश की वंशावली का वर्णन किया गया है। हर्षनाथ के शिलालेख (वि० सं० १०३०) बिजोलिया के शिलालेख (सं० १२२६) तथा पृथ्वीराजविजय (सं० १२४८) भी चाहमान वंश पर महत्त्व-

१. Aiyangar, K.V.R., Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras, 1938, pp. 118-9

२. वही, पृ० ११८

३. तु०—अग्निपुराण, १६५.११, तथा देशी०, २.४८

पूर्ण प्रकाश डालते हैं।^१ हम्मीर महाकाव्य की चाहमान वंशावली की इन ऐतिहासिक स्रोतों से तुलना करने पर अधिक अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। कुछ को छोड़ कर प्रायः सभी चाहमानवंश के राजाओं की वंशावली इतिहास सम्मत है और चाहमान वंश की ऐतिहासिक घटनाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है।^२

(क) उत्पत्ति—हम्मीर महाकाव्य में चाहमान वंश की उत्पत्ति सूर्य से मानी गई है। एक बार पुष्कर में ब्रह्मा ने यज्ञ में राक्षसों के विघ्न के प्रतिकार के लिए सूर्यदेव का स्मरण किया जिसके परिणाम स्वरूप सूर्य से एक योद्धा अवतरित हुआ और उसने यज्ञ की रक्षा की। ब्रह्मा की कृपा से उसने पृथ्वी में सांजाज्य विस्तार किया तथा 'चाहमान' नाम से प्रसिद्ध हो गया।^३ पृथ्वीराजविजय भी चाहमान वंश की उत्पत्ति सूर्य से ही मानता है।^४ इसी वंश में सर्वप्रथम राजा वासुदेव हुआ।^५

(ख) वंशक्रम—हम्मीर० के प्रथम सर्ग से लेकर चतुर्थ सर्ग पर्यन्त वासुदेव से लेकर सिहराज तक का वर्णन है तथा इनका क्रम इस प्रकार है—वासुदेव>नरदेव>चन्द्रराज>चक्रीजयपाल>जयराज>सामन्तसिंह>गूयक>नन्दन>वप्रराज>हरिराज>सिहराज>भीम>विप्रहराज>गुंददेव>वल्लभराज>राम>चामुण्डराज>दुर्लभराज>दुःशलदेव>विश्वल (प्रथम)>पृथ्वीराज (प्रथम)>माल्लहणदेव>ग्रानल्लदेव>जगदेव>विश्वलदेव (द्वितीय)>जयपाल>गङ्गादेव>सोमेश्वर>पृथ्वीराज (द्वितीय)>हरिराज>तथा गोविन्द (जोकि रणथम्भीर में राज्य करता था। हरिराज (भाई) के अग्निप्रवेश कर लेने के उपरान्त उसके सभी मन्त्री आदि रणथम्भीर में शरण लेने आ गए। अतः इसके उपरान्त रणथम्भीर से ही चाहमान वंश का सम्बन्ध रह गया था। हरिराज तक के चाहमान राजाओं का सम्बन्ध अजमेर तथा शाकम्भरी से था।^६ >[गोविन्द]>बाल्लहण>प्रह्लाद, वीरनारायण तथा वाग्भट>जैत्र सिंह>हम्मीर।

१. तु०—दशरथ शर्मा, हम्मीर महाकाव्य में ऐतिहासिक सामग्री, हम्मीर महाकाव्य, भूमिका, सम्पा० मुनिजितविजय, राजस्थान, १९६८, पृ० २६
२. वही, पृ० २६-२९
३. वही, १.१४-१८
४. हम्मीर महाकाव्य, भूमिका, पृ० १२
५. वही, पृ० २७
६. वही, सर्ग १-४
७. Sharma, Dasaratha, Rajasthan, Through the Ages, pp. 245-46, 615-20

इतिहास सम्मत चाहमान-वंशक्रम^१—

वासुदेव>सामन्त>नरदेव, जयराज>विग्रहराज (प्रथम)>चन्दनराज (प्रथम)>गोपेन्द्रराज (प्रथम)>गोविन्दराज (प्रथम) (गूयक प्रथम)>दुर्लभराज गोविन्दराज (द्वितीय) (गूयक द्वि०)>चन्दनराज (द्वि०)>वाक्पतिराज (प्रथम) (वर्षराज)>सिहराज (६५६ ई०)>विग्रहराज (द्वि०), दुर्लभराज द्वि०)>गोविन्दराज (तृतीय)>वाक्पतिराज (द्वि०), वीर्यराम तथा चामुण्डराज>सिहल, दुर्लभराज (तृ०)>विग्रहराज (तृ०)>पृथ्वीराज (प्रथम)>अजयपाल>अणोरराज>जगद्देव, विग्रहराज (चतुर्थ) (११५३-५४ ई०), अमर मांगेय, पृथ्वीराज (द्वि०), सोमेश्वर पृथ्वीराज (तृतीय), (११७१-११८१) ई० हरिराज (११८४ ई०)।

चाहमान राजवंश (रणथम्भौर)— गोविन्द राज>बालहण, प्रह्लाद तथा वाग्भट>वीरनारायण>जैत्रसिंह>हम्मीर (१२८३-१३०१ ई०)

२. चालुक्य वंशक्रम—

(क) उत्पत्ति—चालुक्य वंश की उत्पत्ति के विषय में अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं जिनमें से एक यह भी मान्यता है कि चालुक्य वंश की उत्पत्ति अग्नि से हुई।^२ कहा जाता है कि अबू पर्वत पर वसिष्ठ ऋषि ने यज्ञ किया और उस यज्ञ वेदी से 'चालुक्य' उत्पन्न हुआ था।^३ चालुक्य की अपर संज्ञा 'सोलङ्की' भी भी मानी जाती है। विक्रमादित्य के (वि० सं० ११३३ तथा ११८३) शिलालेखों के अनुसार 'सोलंकी' अर्थात् चालुक्य वंश की उत्पत्ति चन्द्रवंश से हुई थी।^४ एक तीसरी मान्यता के अनुसार ब्रह्मा से 'चुलुक' नामक पीर उत्पन्न हुआ इसी से चालुक्य वंश की स्थापना हुई।^५ जैन विद्वान् हेमचन्द्र राजा भीमदेव को चन्द्रवंश से सम्बन्धित मानते हुए चालुक्य वंश का उद्भव भी चन्द्रवंश से ही मानते हैं।^६ इस प्रकार इतिहासकारों में चालुक्य वंश के विषय में मतभेद है किन्तु अधिकांश शिलालेखों आदि के प्रमाणों से 'चन्द्रवंश' की ही पुष्टि होने के कारण चालुक्यों को चन्द्रवंशी क्षत्रिय माना जाता है।^७

१. Kirtane, N.J., The Hammira Mahākāvya of Nayacandra Sūri, introduction, p. x-xxxix.

२. लक्ष्मीशङ्कर व्यास, महान् चालुक्य कुमारपाल, वाराणसी, १९६२, पृ० ४७

३. वही, पृ० ४७-४८

४. Indian Antiquary, Part 21, p. 167

५. विक्रमांकदेवचरित, १.३६-३६

६. द्रया० ६.४०-६०

७. व्यास, चालुक्य कुमारपाल, पृ० ४७

(ख) वंशक्रम—इतिहास सम्मत मान्यता के अनुसार मूलराज चावड़ राजकुमारी लीलावती का पुत्र था तथा बड़ा होने पर यह अपने मामा के हाथ से राज्य छीनकर स्वयं राजा बन बैठा। कीर्तिकौमुदी, द्रयाश्रय तथा वसन्तविलास के अनुसार चालुक्य वंशक्रम इस प्रकार है—

मूलराज^१ (६७३-६६४ ई०) > चामुण्डराज^२ > वल्लभराज^३ < दुर्लभराज^४
भीम^५ (१०२६-१०६२ ई०) < कर्णदेव^६ (१०७४-१०९१ ई०) < जयसिंह^७
(१०२६-१०६३ ई०) < कुमारपाल^८ (११४५-११७१ ई०) < अजयपाल^९
(११७४ ई०) < मूलराज^{१०} (द्वितीय) < भीम^{११} (द्वि०) (११७८-१२३८ ई०)।^{१२}

३. मन्त्री वस्तुपाल तथा तेजपाल का वंशक्रम

वस्तुपाल के पूर्वज गुजरात के राजाओं के अमात्य रहे थे। वस्तुपाल के दादा चण्डप थे।^{१३} चण्डप के पुत्र चण्डप्रसाद भी चालुक्य राजाओं के काल में सम्माननीय व्यक्ति रहे थे।^{१४} चण्डप के पुत्र अश्वराज भी चालुक्य शासन से सम्बद्ध थे।^{१५} अश्वराज की पत्नी का नाम कुमार देवी था तथा इनके तीन पुत्र थे

१. कीर्ति०, २.१-५, द्रया०, २. १-४, वसन्त०, ३.३७
२. कीर्ति०, २.६-८, द्रया०, ६.१-१४, वसन्त, ३.८-६
३. कीर्ति०, २.६-११, द्रया०, ७.१-१६, वसन्त, ३.१०-११
४. कीर्ति०, २.१२-१४, द्रया०, ७.१-१६, वसन्त, ३.१२-१३
५. कीर्ति०, २.१५-१८, द्रया०, ८.१-८, वसन्त, ३.१४-१६
६. कीर्ति०, २.१६-२२, द्रया०, ६.७७-७७, वसन्त, ३.१७-१६
७. कीर्ति०, २.२३-३६, द्रया०, ११.११२-१८, वसन्त, ३.२०-२३
८. कीर्ति०, २.४०-५१, द्रया०, १५.३८, १०२, वसन्त, ३.२४-३०
९. कीर्ति०, २.५२-५५, वसन्त० ३.३१-३३
१०. कीर्ति०, २.५६-५८, वसन्त०, ३.३४
११. कीर्ति०, २.५६-६१, वसन्त०, २.३५-३७
१२. विशेष द्रष्टव्य, व्यास, चौलुक्य कुमारपाल, (चालुक्य वंश तालिका), पृ० ६६ तथा ६८.
१३. कीर्ति०, ३.४
१४. वही, २.८
१५. वही, ३.१७

—मल्लदेव, वस्तुपाल तथा तेजपाल ।^१ राजा वीर धवल ने वस्तुपाल तथा तेजपाल को अपना मन्त्री बनाया था ।

निष्कर्ष—

इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित राजनैतिक परिस्थितियों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि मध्यकालीन सामन्तवादी राज्य व्यवस्था राजशास्त्र के आदर्शों के प्रति यद्यपि सावधान नहीं थी किन्तु परिस्थितियों की विवशता के कारण 'राज्य' का क्षेत्र सामन्तवादी राजनैतिक संगठनों से प्रभावित रहा था । किसी भी राजा के राज्य की स्थिति पूर्णतः सुदृढ़ नहीं थी । इस युग में अनेक राजवंशों का उत्थान व पतन इस तथ्य की ऐतिहासिक दृष्टि से भी पुष्टि करता है । सामन्त राजाओं के नेतृत्व में चलने वाले तत्कालीन राजनैतिक संगठन राज्य-अस्थिरता के प्रमुख कारण बने हुए थे । स्वयं राज्य-परिवारों में ही उत्तराधिकार के लिए संघर्ष की स्थिति विद्यमान थी । किसी भावी राजकुमार को उत्तराधिकार से वंचित कराने में उसी राजा की रानियाँ तथा मन्त्री आदि भी पड़्यन्त्रों के सूत्रधार रहे थे ।

शासन तन्त्र से सम्बन्धित जैन महाकाव्यों के स्रोत मूलतः परम्परागत राजशास्त्र के ग्रन्थों की मान्यताओं से पूर्णतया प्रभावित होने के बाद भी युगीन परिस्थितियों के सम-सामयिक मूल्यों से अनुप्राणित रहे थे । इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह भी ज्ञात होता है कि जैन संस्कृत महाकाव्य जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से लिखे जाने पर भी राजनैतिक परिस्थितियों तथा विचारों का समसामयिक स्वरूप निष्पक्ष रूप से उद्घाटित करते हैं । इन महाकाव्यों में किसी भी दार्शनिक ग्रन्थवा धार्मिक पूर्वाग्रह के कारण 'राजनैतिक मूल्यों' की यथार्थता नाट नहीं होने पाई है । परराष्ट्र नीति विषयक जैन-महाकाव्यों के स्रोत तो तत्कालीन 'राज्य व्यवस्था' को स्पष्ट करने में पर्याप्त उपादेय सिद्ध होते हैं । मध्यकालीन भारत के राजनैतिक विचारों को इतिहास के अभिलेखादि साध्य उत्तम विशद नहीं कर पते जितना इन महाकाव्यों ने किया है । इसी प्रकार कोष वृद्धि आदि के सामन्तवादी तौर तरीकों ने राजनैतिक जगत् में 'मात्स्य न्याय' और 'प्रभुत्ववाद' की जो दयनीय स्थिति उत्पन्न कर दी थी, जैन महाकाव्यों की सामग्री उस पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है ।

राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित जिन प्रशासकीय पदों का जैन महाकाव्यों में उल्लेख हुआ है ऐतिहासिक दृष्टि से वे महत्वपूर्ण हैं तथा अभिलेखीय स्रोतों के आधार पर भी उनकी भलीभांति पुष्टि होती है । इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय

है कि प्रस्तुत अध्याय में राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय शासन व्यवस्था के प्रतिपादक तथ्य समग्र रूपेण मध्यकालीन भारतवर्ष की राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध राजवंशों तथा चालुक्य, चाहमान आदि राजवंशों की शासन प्रणाली का राज्य व्यवस्था पर विशेष प्रभाव पड़ा था। ग्राम प्रशासन से सम्बद्ध 'महत्तर'/'महत्तम' और 'कुटुम्बी' आदि के जैन महाकाव्यीय उल्लेखों से इतिहासकारों की अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है तथा तत्कालीन ग्राम प्रशासन के सामन्तवादी चरित्र को विशद करने में इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। द्रयाश्रय, कीर्तिकौमुदी, वसन्त-विलास तथा हुम्मीरमहाकाव्य में उपलब्ध विविध राजवंशावलियों आदि के उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

तृतीय अध्याय

युद्ध एवं सैन्य व्यवस्था

युद्धों की राजनैतिक पृष्ठभूमि

सन् ६४६ ई० में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त भारतवर्ष की राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी। हर्षवर्द्धन के राज्यकाल के कुछ स्वतन्त्र सामन्त राजा अब अपने साम्राज्य-विस्तार के लिये भी विशेष प्रयत्नशील थे। दक्षिण भारत में ही अनेक राजवंश अस्तित्व में आ चुके थे। इन राजवंशों का शीघ्रातिशीघ्र पतन एवं उत्थान आलोच्य युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।^१ वैसे तो भारत के राजनैतिक इतिहास में युद्ध एवं सेना का प्राचीनकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान रहता आया है, किन्तु गुप्त अथवा मौर्य साम्राज्य काल में चील-कौओं जैसे युद्ध नहीं लड़े जाते थे। न ही कोई सामान्य राजा इन बड़े साम्राज्यों से युद्ध करने का साहस ही कर पाता था। किन्तु मध्यकाल में सामन्त पद्धति के उत्तरोत्तर विकास के कारण भारतीय राजनैतिक चेतना राष्ट्रीय एकता से विमुख होती हुई छोटे-छोटे राज्यों तक सीमित हो चुकी थी। परिणामतः सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० के बाद भारतीय इतिहास में युद्ध बहुत अधिक मात्रा में लड़े गये युद्धों के वातावरण से आराजक बने भारतवर्ष की सैन्य व्यवस्था का छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त हो जाना भी स्वाभाविक ही है। जैन संस्कृत महाकाव्यों के युद्ध वर्णनों तथा सैन्य-व्यवस्थाओं की यही राजनैतिक पृष्ठभूमि रही थी। पौराणिक कथानकों पर अवलम्बित युद्ध वर्णन भी तत्कालीन युग चेतना से अत्यधिक प्रभावित हैं।

युद्धों के कारण

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार युद्ध के लिए प्रायः राजा स्वयं उत्तरदायी नहीं होता था। प्रायः कोई अन्य शत्रु राजा ही उसे युद्ध करने के लिये बाध्य करता था।^२ किन्तु दिग्विजय के लिये प्रयाण करते हुए राजा स्वयं दूसरे राजाओं को अधीन बनाने अथवा युद्ध करने के लिए विवश करते थे।^३ जैन संस्कृत महाकाव्यों में जिन कारणों से युद्ध लड़ने के प्रायः उल्लेख आये हैं

१. Thapar, Romila, A History of India, Vol. I, p. 168-69,

२. वराह्म०, १६.४६-४६; चन्द्र०, १२.१-२५

३. चन्द्र०, सर्ग-१६; जयन्त०, सर्ग-१०

उनमें एक राजा का दूसरे राजा की सीमा पर बलपूर्वक अधिकार कर लेना,^१ पूर्व शत्रुता होना,^२ माँगी हुई वस्तु मेट के रूप में न देना,^३ कन्या की विवाहार्थ याचना करने के प्रस्ताव को ठुकरा देना,^४ स्वयम्बर के समय द्वेष वश अपनी शत्रुता प्रकट करना,^५ स्वशक्ति प्रदर्शन^६ आदि मुख्य कारण हैं।

युद्ध सम्बन्धी दूत प्रेषण एवं पत्र व्यवहार

युद्ध के कारण की सूचना देने के लिये एक राजा दूसरे राजा की सभा में दूतों द्वारा अपने सन्देश भिजवाते थे।^७ दूत या तो स्वयं उक्त सन्देश को राजा के समक्ष कहता था अथवा वह राजा की ओर से दिये गए पत्र को प्रस्तुत करता था।^८ दूत प्रायः स्पष्टवक्ता होता था और अत्यधिक क्रोधित होने पर दूत को किसी प्रकार का दण्ड देना राजधर्म के विरुद्ध था।^९ दूत शत्रु राजा के अभिप्राय को समझ कर अपने राजा को स्थिति से अवगत कराता था।^{१०} दूत के परामर्शानुसार राजा युद्ध करने या न करने का निर्णय लेते थे।^{११} इस प्रकार की दूत पद्धति का सभी राजा पालन करते थे। किन्तु लूट-मार करने वाली भीलों की सेना बिना किसी पूर्व सूचना के भी आक्रमण कर देती थी। क्योंकि उनका यह आक्रमण सार्थवाह आदि जातियों की प्रभूत घन सम्पत्ति की बलपूर्वक लूटने की दृष्टि से होता था। वराहचरित में यह उल्लेख मिलता है कि लगभग १२ हजार सेना के साथ पुलिन्दपति ने एक सार्थवाह के नगर को चारों ओर से घेर लिया। यह सूचना सार्थवाह के अपने कर्मचारी के द्वारा उसे बाद में प्राप्त हुई।^{१२}

-
१. वराह०, २०.६
 २. हम्मीर०, ४.८३
 ३. वराह०, १६.८-१०
 ४. चन्द्र०, ६.६६
 ५. हम्मीर०, ४.८२-८४
 ६. वही, ११.६०
 ७. वराह०, १६.१२, चन्द्र० ६.८६
 ८. वराह०, १६.१०
 ९. चन्द्र०, ६.६०-६४, हम्मीर०, ११.६४
 १०. हम्मीर०, ११.७४
 ११. वही, ११.७१
 १२. वराह०, १४.६

‘दण्डनीति’ के अनुसार युद्ध की पृष्ठभूमि

जैन संस्कृत महाकाव्यों की राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में राजसत्ता प्रमुख रूप से बल पर ही निर्भर थी। युद्धनीतिसार में छः प्रकार के बलों का उल्लेख है—(१) शारीरिक बल, (२) आत्मिक बल, (३) सैन्य बल, (४) अस्त्र बल (५) बुद्धि बल तथा (६) आयु बल।^१ इन छः बलों में सैन्य बल राजा के अस्तित्व के लिए अत्यधिक आवश्यक था। कौटिल्य के मतानुसार राजा को सदैव अमात्यों के कोप तथा बाह्य शत्रु-राजाओं के कोप से भय रहता है।^२ राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में कौटिल्य-कथित यह भय आलोच्य काल में व्यावहारिक रूप से चरितार्थ होने लगा था। इस भय से मुक्ति पाने के लिए भी सैन्य-बल का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित परराष्ट्र नीति में युद्ध का विशेष महत्व था। विजयेच्छु राजा को दण्डनीति के अनुसार ही परराष्ट्र नीति का आश्रय लेना आवश्यक था। इस परराष्ट्र नीति के अन्तर्गत ‘त्रिविध शक्ति’—‘प्रभुशक्ति’, ‘मन्त्र-शक्ति’, ‘उत्साह शक्ति’;^३ ‘षाड्गुण्य-व्यवहार’—‘सन्धि’, ‘विग्रह’, ‘यान’, ‘आसन’, ‘द्विधीभाव’ तथा ‘संशय’^४; तथा ‘चतुर्विध’ उपाय—‘साम’, ‘दान’, ‘दण्ड’ ‘भेद’ आदि आते हैं।^५ सिद्धान्ततः उपर्युक्त नीति के अनुसार राजा को युद्ध से पूर्व मन्त्रणा लेनी आवश्यक थी।^६ यह भी आवश्यक नीति का अङ्ग था कि यदि ‘साम’, ‘दान’ से युद्ध विभीषिका को बचाया जा सकता हो तो बचाना चाहिए। क्योंकि ‘दण्ड’ एवं ‘भेद’ के सम्भावित परिणाम तो युद्ध एवं विनाश ही थे।^७

युद्ध नीति तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा विचार-विमर्श

जैन संस्कृत महाकाव्यों में साम-दान-भेद-दण्ड—इन चार उपायों के देशकालानुसारी प्रयोग पर विशेष बल दिया गया है। ऐसी सम्भावना प्रकट की गई है कि बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य पद्धति से ‘षाड्गुण्य’ तथा ‘चतुर्विध उपायों’ के प्रयोग

१. शारीरं हि बलं शौर्यबलं सैन्यबलं तथा ।

चतुर्थमास्त्रिकबलं पञ्चमं धीबलं स्मृतम् ॥ षष्ठमायुर्बलम् ॥

—युद्धनीतिसार, ४.८६८-६९

२. अर्थशास्त्र, ६.१.१

३. चन्द्र०, ५.२३; द्विस०, २.१४; हम्मिर०, ९.१

४. पद्मा०, ६.१६; हम्मिर०, ९.१

५. वराह्म०, २१.६६-६७

६. वही, २१.६८

७. वही, २१.६८

द्वारा एक निर्बल राजा भी शक्तिशाली राजा का सामना कर सकता है ।^१ सामन्त-वाद से प्रभावित शासन व्यवस्था में प्रायः प्रत्येक राजा साम्राज्य-विस्तार हेतु लालायित था । कुछ ऐसे उद्धण्ड राजा भी थे जो अपनी सैन्य सबलता की आड़ में दूसरे राजाओं को डरा धमका कर अथवा अन्य किसी बहाने से युद्ध का भय दिखाकर दो प्रकार के लाभ प्राप्त करना चाहते थे—एक तो कोष संचय होता था, दूसरा भयभीत राजा अधीन होकर कर इत्यादि देना प्रारम्भ कर देता था ।^२ इस प्रकार के उद्धण्ड राजा पहले अपने दूत को भेजकर अपना मांग-पत्र उस राजा तक भिजवाते थे ।^३ अधिकांश छोटे राजा तो युद्ध के भय से उस राजा के अधीन हो जाते थे । किन्तु ऐसे स्वाभिमानी राजा भी थे जो स्वयं भी अन्य सामन्त राजाओं के स्वामी थे तथा किसी दूसरे राजा की अधीनता स्वीकार करना स्वाभिमान के विरुद्ध समझते हुए युद्ध करना ही अधिक उपयुक्त समझते थे ।^४ जैन संस्कृत महाकाव्यों में ऐसे अनेक प्रसङ्ग उपस्थित हुए हैं जिनमें उपर्युक्त पृष्ठभूमि में युद्ध हुआ ।^५ वराह्मचरित में राजा इन्द्रसेन इसी प्रकार का राजा था जो ललितपुर के राजा देवसेन के मधुप्रभ नामक आदर्श हाथी को प्रेमपूर्वक न मांगकर बलपूर्वक छीन लेना चाहता था । इससे पूर्व भी वह अनेक राजाओं की धन सम्पत्ति को बलपूर्वक छीनने की चेष्टा कर चुका था ।^६ देवसेन एक आदर्श राजा होने के कारण स्वाभिमानी था और शत्रु की कुटिल नीति के आगे झुकना नहीं चाहता था ।^७ बाद में उसके मन्त्रिमण्डल ने इस समस्या को हल करने के लिए कई सुझाव दिए ।^८ एक पक्ष के अनुसार राजा इन्द्रसेन देवसेन की अपेक्षा अल्प शक्तिशाली था इसलिये 'साम' तथा 'दान' का प्रयोग करना ही उपयुक्त था ।^९ परन्तु दूसरे पक्ष की मान्यता थी कि 'साम' एवं 'दान' का समय निकल चुका है केवल 'भेद' एवं 'दण्ड' के प्रयोग ही समस्या को नियन्त्रित कर सकते हैं ।^{१०}

-
१. धर्म०, १८.२७; वराह्म०, १६.४४; चन्द्र०, १२.७४, १०४
 २. शौर्योद्धावप्रतिकोशदण्डौ गृहीतसामन्तसमस्तसारौ । —वराह०, १६.७
इतिवक्रमतिः स कैतवाहुतस्मानभिहन्तुमीहते ॥ —चन्द्र०, १२.६५
 ३. वराह्म०, १६.१०, चन्द्र०, १२.२०
 ४. वराह्म० १६.२०, चन्द्र०, १२.६६
 ५. वराह्म०, सर्ग १६, चन्द्र०, सर्ग १२, धर्म०, सर्ग १८
 ६. वराह्म०, १६.१-१०
 ७. वही, १६.५१-६१
 ८. वही, १६.५०-७५
 ९. वही, १५.५७
 १०. वही, १५.७०; १६.६५-६६

चन्द्रप्रभवर्तित में भी पृथ्वीपाल इसी प्रकार का एक उद्दण्ड राजा था जो पद्मनाभ से युद्ध करने के लिये लालायित था ।^१ पद्मनाभ को भी एक प्रकार से सामन्त राजाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है । पृथ्वीपाल के दूत द्वारा यह सूचना देना भी महत्वपूर्ण जान पड़ती है कि राजा पद्मनाभ के पूर्वज पृथ्वीपाल के पूर्वज राजाओं के अधीन थे किन्तु इन्होंने स्वयं को पृथ्वीपाल की अधीनता से मुक्त कर लिया था ।^२ पृथ्वीपाल यह चाहता था कि राजा पद्मनाभ पूर्व परम्परा के अनुसार उसके अधीन रहे ।^३ पद्मनाभ के पुत्र सुवर्णनाभ ने वंशानुगत राज्य परम्परा की निन्दा की और स्वभुजाजित राज्य को ही उचित माना है ।^४ इसी कारणवश युवराज सुवर्णनाभ पृथ्वीपाल जैसे उद्दण्ड एवं साम्राज्यवादी राजा से दण्डनीति के साथ व्यवहार करना चाहता था न कि 'साम' नीति से, क्योंकि 'साम' का प्रयोग सदैव नम्र राजा के साथ ही सुशोभित होता है ।^५ इसी सन्दर्भ में एक अन्य मन्त्री की मान्यता थी कि शत्रु क्योंकि शक्तिशाली है इसलिए उसके साथ 'दण्ड' का प्रयोग करने से राज्य नष्ट हो सकता है अथवा धन सम्पत्ति की क्षति भी संभावित है । अतः 'साम' के प्रयोग द्वारा राज्य को इस भावी क्षति से बचाना ही बुद्धिमत्तापूर्ण नीति होगी ।^६ इस 'साम' नीति के पक्षधरों का मुख्य तर्क यह था कि राजा को चाहिए कि वह सर्वप्रथम 'साम' का प्रयोग करे, इससे सफलता न मिलने पर 'भेद' का प्रयोग करे तदनन्तर 'दान' का और जब तीनों उपायों से सफलता न मिले तो अन्त में 'दण्ड' नीति प्रयोग करते हुए शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए ।^७ चन्द्र-प्रभवर्तित महाकाव्य में वर्णित इस युद्धनीति की वैचारिक पृष्ठभूमि में दो अतिवादी दृष्टिकोण मुख्यतः उभर कर आते हैं । राजकुमार सुवर्णनाभ सीधे आक्रमण करने का विचार रखता है जबकि मंत्री 'साम' नीति का पोषक है और युद्ध विभीषिका

१. चन्द्र०, १२.७७

२. कियतापि पुरातनं क्रमं यदतिक्रम्य विचेष्टसेऽन्यथा ।

प्रणमन्ति मदन्वयोद्भवं तव वंश्या इति पूर्वजस्थितिः ।

करिणेव मदश्चुतार्गला भवता सा सकलापि लङ्घिता ॥

—वही, १२.१०-११

३. भव यत्वा प्रभुपादवत्सलः ।—वही, १२.२२

४. वचनं वव खलूपयुज्यते प्रभुरस्मि क्रमतोऽहमित्यधः ।

ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनैः ॥

—वही, ११.२२

५. परवृद्धिनिबद्धमस्तरे विफलद्वेषिणि साम कीदृशम् ।

—वही, १२.८५

६. न हि सामतः परम् ।—वही, १२.८१

७. प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमानथ भेदादि युनक्ति सिद्धये ।

गुरुदण्डनिपीडना रिपोरियमन्त्या हि विवेकिनां क्रिया ॥ —वही, १२.७६

से बचाने की नीति सुझाता है। पूरे मन्त्रिमण्डल ने इन दोनों पक्षों के बीच का मार्ग निकाला और राजा को यह सुझाया कि 'भेद' नीति का आश्रय लेना ही हितकर होगा। इस तीसरे प्रस्ताव का अनुमोदन सभी मन्त्रिमण्डल के सदस्यों ने किया तथा राजा पृथ्वीपाल से एक मास का समय मांग लिया गया।^१ इस एक मास में पृथ्वीपाल के साथ 'भेद' नीति का व्यवहार कर उसे निर्बल बनाया जा सकता था। अभिप्राय यह है कि अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास न होने तथा शत्रु की शक्ति का भी अनुमान न होने की स्थिति में 'साम-दण्ड' की द्विविध नीति से शत्रु को क्षीण किया जा सकता था। इस प्रकार उसे युद्ध परास्त करना भी सहज था।^२ पद्मनाभ के मुख्यमंत्री ने इसी राजनैतिक उद्देश्य से पृथ्वीपाल से एक मास का समय मांगा।^३

सैन्य प्रशासकीय व्यवस्था

जैन संस्कृत महाकाव्यों में महाभात्य,^४ मंत्री,^५ सेनापति,^६ पुरोहित,^७ सान्धिविग्रहिक^८, दूत^९ आदि सेना के शासकीय उच्चाधिकारियों का प्रसङ्ग मात्र से उल्लेख आया है। तत्कालीन विभिन्न राजवंशों की सैनिक व्यवस्थाओं में से राष्ट्रकूट एवं चालुक्य काल में सेना का उच्चाधिकारी 'दण्डनायक' था,^{१०} जो प्रधान सेनापति के रूप में भी कार्य करता था।^{११} वैसे चालुक्य राजा कुमारपाल एक प्रकार से प्रधान सेनापति भी था किन्तु सेना का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व 'दण्डनायक' पर ही आता था। राष्ट्रकूट तथा चालुक्य काल में एक महत्त्वपूर्ण पद 'सान्धिविग्रहिक' का भी था जो परराष्ट्र मन्त्री के रूप में कार्यभार संभालता था,

१. चन्द्र०, १२.१०४-१११
२. वही, १२.१०५.१०६
३. वही, १२.११०
४. द्वया०, ६.२६
५. वराह्म०, १५.२
६. चन्द्र०, १५.७१
७. द्वया०, ३.८०
८. वही, ६.४०
९. वराह्म०, १६.१२, तथा चन्द्र०, ६.८६
१०. Altekar, A.S., Rastrakutas And their times, Poona, 1967, p. 163 तथा लक्ष्मीशङ्कर व्यास, चोलुक्य कुमारपाल, पृ० १४६
११. व्यास, चोलुक्य कुमारपाल, पृ० १३८

तथा युद्ध एवं शान्ति से इसका मुख्य सम्बन्ध होता था।^१ सभी राजवंशों की प्रशासनिक व्यवस्था में 'पुरोहित' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद था^२ सेना-प्रयाण सम्बन्धी शुभाशुभ विचार ज्योतिषीय गणना एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान के कारण 'पुरोहित' का भी सैनिक प्रशासन में विशेष स्थान था। चालुक्यकालीन केन्द्रीय शासन व्यवस्था ३२ विभागों में विभक्त थी,^३ जिनमें परराष्ट्र विभाग, गज विभाग, ऊंट विभाग तथा आयुध विभाग सैन्य व्यवस्था से ही सम्बद्ध थे। परराष्ट्र विभाग का अधिकारी 'सान्धिविग्रहिक' होता था तथा अन्य विभागों के अधिकारी को सामान्यतः 'महामण्डलेश्वर' अथवा 'दण्डनायक' के नाम से जाना जाता था।^४ राजस्थान के चाहमान एवं प्रतिहार वंश की सैन्यव्यवस्था में 'प्रधान' तथा 'महामात्य' के पद महत्त्वपूर्ण थे जिनमें महामात्य की अपेक्षा 'प्रधान' के ऊपर सैन्य व्यवस्था का अधिक भार होता था।^५ इसके अतिरिक्त 'सेनापति', 'दण्डनायक', 'सान्धिविग्रहिक', 'साधनिक', 'भाण्डागारिक' तथा 'पुरोहित' के पद भी उत्तर-दायित्वपूर्ण होते थे।^६

सेना की परिभाषा तथा स्वरूप

शुक्रनीतिसार के अनुसार जस्त्रों तथा अस्त्रों से सुसज्जित समुदाय को सेना कहते हैं—'सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका'^७ मुख्यतया सेना को दो भागों में विभक्त किया गया है—'स्वगमा' अर्थात् पदाति सेना तथा 'अन्यगमा' अर्थात् रथ, अश्व, गज आदि वाहन पर चलने वाली सेना।^८ मुख्य रूप से सेना 'चतुरङ्ग' कहलाती है। 'चतुरङ्गणी' सेना में पदाति, अश्व, रथ तथा गज सेना आती हैं। नवीं शताब्दी के पौराणिक महाकाव्य आदिपुराण के अनुसार सेनाएं सात प्रकार की उल्लिखित हैं—१. हस्तिसेना, २. अश्वसेना, ३. रथसेना, ४. पदाति सेना, ५. वृष सेना, ६. गन्धर्व सेना, ७. तथा नर्तकी सेना।^९ इन सात प्रकार की सेनाओं को

१. व्यास, चौलुक्य कुमारपाल, पृ० १४८, तथा

Altekar, Rastrakutas And their., p. 167

२. Altekar, Rastrakutas And their., p. 169

३. Munshi, K.M., Glory that was Gurjara Deśa, Bombay, 1954, p. 349

४. वही, पृ० ३४९

५. Sharma, Dashratha, Rajasthan Through the Ages, Vol. I, p. 705,

६. वही, पृ० ७०५

७. शुक्र०, ४.८६४

८. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में०, पृ० ३६७

९. आदि०, १०.१६८-१६९

‘महत्तर’ संज्ञा दी गई है।^१ आदिपुराण में ही भरतचक्रवर्ती की सेना को ‘षडङ्ग’ कहा गया है जिसमें ‘चतुरङ्गिणी’ सेना के साथ ‘देव सेना’ तथा ‘विद्याधर सेना’ का भी उल्लेख है।^२ भरत की सेना के आगे ‘दण्डरत्न’ तथा पीछे ‘चक्ररत्न’ चलता था।^३ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के द्वारा ‘दण्डरत्न’ को आधुनिक ‘टैंक’ की संज्ञा दी गई है, जो आगे चलता था, मार्ग साफ करता था तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल बनाता जाता था।^४

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पी० सी० चक्रवर्ती तथा पी० के० मजूमदार के अनुसार सातवीं आठवीं शती में यद्यपि सेना का स्वरूप चतुरङ्गिणी बना हुआ था किन्तु किन्हीं कारणों से रथ सेना का प्रचलन कम हो गया था। प्रमाण में उन्होंने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि बाण के हर्षचरित में रथ सेना का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता।^५ इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन के समय में भारत भ्रमण के लिए चीनी यात्री युवाङ्ग-च्वांग ने भी पुलकेशी द्वितीय की सेना वर्णन के अवसर पर रथ सेना का उल्लेख नहीं किया।^६ किन्तु जैन संस्कृत महाकाव्यों में ‘रथ सेना’ का उल्लेख अनेक बार हुआ है।^७ मध्यकालीन सैन्य व्यवस्था से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ वैशम्पायन कृत ‘नीतिप्रकाशिका’ में भी चतुरङ्गिणी सेना के अन्तर्गत ‘रथिकों’ की व्यूह रचना का स्पष्ट निर्देश है।^८ इसके अतिरिक्त हर्षकालीन सेना में नौसेना का भी उल्लेख मिलता है,^९ किन्तु जैन संस्कृत महाकाव्यों में नौसेना का उल्लेख प्रायः नहीं के समान है।

सेना के प्रकार

द्वीं शती ई० के द्विसन्धान महाकाव्य पर रचित नेमिचन्द्र की टीका के

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में, पृ० ३६७
२. हस्त्यश्वरथपादात्तं देवाश्च सनभश्चराः ।
षडङ्गबलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी । — आदि०, २६.६
३. वही, २६.७
४. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में, पृ० ३६८
५. Chakravarti, P.C. The Art of War in Ancient India, pp. 25-26,
तथा प्रबोधकुमार मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, प्रथम खण्ड,
लखनऊ, १९६४, पृ० २०८
६. Dixitar, War in Ancient India, pp. 165-66.
७. वराह्मण, १७.७४, चन्द्र०, १२.१७, हम्मिर०, ६.११६
८. योधेषु रथिकान् कुर्वादश्वपृष्ठविशारदान् । — नीतिप्रकाशिका ६.५५
९. Dixitar, War in Ancient India, p. 289

अनुसार सेना की भरती कई स्रोतों से तथा कई दृष्टियों से होती थी। मुख्य रूप से छः प्रकार की सेना का उल्लेख है—(१) 'मौल'—वंश परम्परा से आई हुई क्षत्रिय आदि जातियाँ, (२) 'भृत्य'—केवल वेतन भोगी (३) 'श्रेणी'—शस्त्रविद्या में पारङ्गत जातियाँ (४) 'आरण्य'—भील आदि जङ्गली जातियाँ (५) 'दुर्ग'—केवल दुर्ग में ही रहकर लड़ने वाली सेना (६) 'मित्र बल'—मित्र राज्यों की सेना।^१

हम्मीर महाकाव्य के अनुसार अलाउद्दीन ने हम्मीर के रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार करने के लिए सम्पूर्ण भारत से सेना एकत्र की जो अपने देशों के नाम से प्रसिद्ध थी, यथा—अङ्ग, तिलङ्ग, मगध, कलिङ्ग, बङ्ग, पाञ्चाल, बंगाल, नेपाल, डाहाल, तथा भिल्ल सेना।^२ युद्ध के समय ये यवन सेना का ही प्रतिनिधित्व करती थीं। वराङ्गचरित महाकाव्य में वणिक सेना का भी उल्लेख मिलता है।^३

युद्ध-धर्म

सामान्य रूप से युद्ध प्रातः प्रारम्भ होते थे तथा सायंकाल को समाप्त हो जाते थे। रणक्षेत्र में दोनों ओर की सेनाएं एकत्र होकर एक दूसरे की शक्ति का निरीक्षण करती थीं।^४ युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दोनों पक्षों के राजा अपने अमात्य आदि से परामर्श करते थे।^५ इस समय राजा अपने दूतों के आदान-प्रदान द्वारा अपने मन्तव्यों का प्रकाशन भी करते थे।^६ यह समय ऐसा समय था जब कोई राजा युद्ध का विचार छोड़ आत्म-समर्पण भी कर सकता था।^७ तदनन्तर वाद्ययंत्रों की घोषणा से वास्तविक युद्ध प्रारम्भ होता था।^८ सिद्धान्त रूप से युद्ध भूमि में पराक्रम एवं युद्ध निपुणता को महत्त्व दिया जाता था। समान बल वाले योद्धा से ही युद्ध करना नीतिसम्मत था इसलिए पदाति के पदाति से, रथी के रथी से,

१. 'षड्विधं बलम्'—द्विसन्धान, २.११ पर नेमिचन्द्रकृत पदकीमुदीटीका—
"मौलभूतकश्रेण्यारण्यदुर्गमित्रभेदनम्। मौलं पट्टसाधनम्, भूतकं पदाति-
बलम्, श्रेण्योऽष्टादशः, सेनापतिः, गणकः, राजश्रेष्ठी, दण्डाधिपतिः...,
आरण्यमाटविकम्, दुर्गं धूलिकोटपर्वतादि, मित्रं सौहृदम्।"
२. हम्मीर०, ११.१
३. वराङ्ग०, सर्ग-१४
४. वही, १७.२८
५. वही, २१.६६-६७
६. जयन्त०, १०.१०; हम्मीर० ११.६६
७. हम्मीर०, ११.६०
८. जयन्त०, १०.२६

अस्वारोही के अस्वारोही से हुए युद्ध को आदर्श माना जाता था जिसमें प्रत्येक योद्धा को अपनी निपुणता दिखाने का अवसर मिल जाता था।^१ निःशस्त्र योद्धा पर शस्त्र उठाना शास्त्रानुकूल नहीं था।^२

युद्ध प्रयाण के अवसर पर शकुन-अपशकुन विचार

युद्ध प्रयाण के लिए मुहूर्त देखने की परिपाटी थी।^३ सम्पूर्ण सेना को छत्रों आभूषणों तथा पताकाओं से सुसज्जित किया जाता था।^४ भेरी, पटह आदि वाद्ययन्त्रों के महानिनाद से सम्पूर्ण नगरवासियों तथा युद्ध में जाने वाले सैनिकों को प्रस्थान करने की सूचना से अवगत कराया जाता था।^५ सभी नगरवासी लोग राजा की जयजयकार करते हुए विजय की शुभकामनाएं प्रकट करते थे।^६ भाटचारण, आदि भी राजा की विजय कामना के गीतों का उच्च स्वर में गायन करते थे।^७ इस अवसर पर माताएं अपने पुत्रों के मस्तक पर तिलक भी लगाती थीं।^८

शकुन-अपशकुन—नगरवासियों को युद्ध प्रयाण की सूचना मिल जाने पर, वे मार्ग में किसी प्रकार के शुभ शकुनों के सम्पादनार्थ—जल एवं दही से भरे घड़ों तथा अन्य उपहारों से युक्त होकर राजा तथा सेना का अभिनन्दन करते थे।^९ युद्ध प्रयाण के अवसर पर प्राकृतिक शकुनों एवं अपशकुनों पर विशेष विचार किया जाता था, राजा के बाईं ओर शुभाली एवं गधे का शब्द करना, खंजरीट (भारद्वाज) पक्षी का राजा की परिक्रमा करना, कौए द्वारा दूध वाले वृक्ष में बैठकर ध्वनि करना, अनुकूल वायु का चलना,^{१०} दही मिलना,^{११} जल के घड़े भरकर ले जाती

१. पदगः पदगं सादी सादिनं रथिनं रथी ।
निषादिनं निषादी, चेत्यवृण्वन् सैनिका मिथः ॥ हम्मीर० ६.११६, तथा वराह०, १७.७६, जयन्त०, १०.४०
२. वराह०, १७.५०
३. जयन्त०, ६.६७
४. तु०—वरांग०, १४.११; चन्द्र०, ४.४६, १५.२०; द्विस०, १४.७; धर्म०, ६.७८
५. चन्द्र०, १५.२५, पद्मा०, १७.१०३
६. वराह०, २०.५४
७. वही, २०.५४
८. पद्मा०, १७.१०३; हम्मीर०, १२.१०
९. हम्मीर०, १२.२६; चन्द्र०, १३.४१
१०. चन्द्र०, १५.२७-२८ तथा ४.४६
११. वही, १३.४१

हुई स्त्रियों को देखना^१ आदि शुभ शकुन माने जाते थे। इसके विपरीत दायीं ओर शूगाली का शब्द करना, छींक आना, सांप का रास्ता काटना, कांटे वाले वृक्ष पर कौए का कर्कश स्वर होना, घोड़े की पूंछ पर आग लगना तथा प्रतिकूल वायु का बहना आदि अपशकुन माने जाते थे।^२

हर्षवर्धन के समय में ही सेना में अन्धविश्वास जड़ पकड़ गया था।^३ हर्षचरित के अनुसार हर्ष की सेना-प्रयाण के समय तीन अपशकुन हुए—हिरण बाईं ओर से निकला, कौघ्रा सूर्य की ओर मुख करके सूखे पेड़ पर बैठकर कर्कश स्वर करने लगा तथा नग्न साधु सामने दिखाई पड़ा।^४ हर्षचरित में शत्रुओं में होने वाले अपशकुनों की विस्तृत तालिका दी गई है।^५

इस प्रकार शकुन-अपशकुनों का सेना की विजय अथवा पराजय पर प्रभाव पड़ने जैसी मान्यतायें समाज में प्रचलित थीं। पुरोहित वर्ग राजा तथा सेना को समय समय पर शुभ मुहूर्तों तथा शुभ-अवसरों की सूचना देता रहता था।^६

युद्ध प्रयाण तथा सेना-सञ्चालन

सेना प्रयाण के समय नगरवासी जन भी कुछ दूर तक सेना के साथ जाते थे।^७ युद्ध में जाने वाले उच्चाधिकारियों में प्रायः राजा, युवराज, अमात्य, महामात्य, सेनापति, पुरोहित आदि मुख्य थे।^८ युद्ध प्रयाण के समय सेना-सञ्चालन के क्रम के विषय में वराहचरित के अनुसार आगे चतुरङ्गिणी सेना चलती थी तदनन्तर राजा अथवा राजकुमार का रथ चलता था। उसके बाद शस्त्र-अस्त्रों तथा अन्य उपकरणों से युक्त वाहन चलते थे। इन वाहनों के पीछे राजकुल की स्त्रियाँ पालिकाओं में चलती थीं। पुनः इन राजकुल की स्त्रियों को चारों ओर से घेरकर सैनिक चलते थे।^९ पर्वत गुफाओं तथा भीषण वनों में भी राजा तथा राज-परिवार जैसे महत्त्वपूर्ण लोगों के दाएं-बाएं, आगे-पीछे सैनिक सुरक्षा की समुचित

१. हम्मिर०, १२.२६

२. चन्द्र०, १५.३२-३४

३. मज्जिमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २२६

४. हर्षचरित, पृ० १५२

५. वामुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३४-३५

६. भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २२८

७. वराह०, २०.५८

८. वही, १५.२

९. वही, २०.५६-६०

व्यवस्था होती थी ।^१

चन्द्रप्रभञ्जरित के अनुसार युद्ध-प्रयाण के अवसर पर चतुरङ्गिणी सेना में गज सेना प्रयाण करती थी । उनके ऊपर बैठे हुए महावत डिण्डिम बजाते हुए जाते थे ।^२ संभवतः डिण्डिम की ध्वनि से सभी नागरिक सतर्क हो जाते थे तथा मार्ग छोड़ देते थे ।^३ गज धीरे-धीरे चलते थे । तदनन्तर वेग से अश्व सेना प्रयाण करती थी । उसके बाद रथारोही अर्थात् रथ-सेना चलती थी ।^४ मध्य भाग में राजा को घेरकर सामन्त एवं भाण्डलिक नृप गण प्रयाण करते थे ।^५ राजा के चारों ओर अङ्गरक्षक नियुक्त होते थे ।^६ पदाति सेना राजा के पीछे-पीछे उसे चारों ओर से घेरकर चलती थी ।^७

सेना के साथ जाने वाली स्त्रियाँ आदि

वराङ्गचरित के अनुसार सेना के साथ रानियाँ पालकियों में बैठकर जाती थीं ।^८ तथा चन्द्रप्रभ० के अनुसार रानियाँ हाथियों में बैठकर जाती थीं ।^९ अन्तःपुर की दासी-चेटियाँ आदि खच्चर पर बैठकर जाती थीं ।^{१०} सामान लादकर ऊँट सेना के साथ जाते थे ।^{११} बैलों से जुती गाड़ियों में घी इत्यादि खाद्य सामग्री लादकर ले जायी जाती थी ।^{१२} कुली भी काँवर पर बोझ लादकर सेना के साथ जाते थे ।^{१३}

१. वराङ्ग०, २०.६१
२. पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितः । —चन्द्र०, १३.१४
३. कूपितधीरनिवर्तितदृष्टिभिः पद्मदीयत मत्तमतङ्गजैः । —वही, १३.१४
४. वही, १३.१७
५. वही, १३.८
६. कतिपयानि न यावदयुः पदान्यनुचरै रभसेन विनिर्गताः । —वही, १३.२१
७. तान्भटगणा नृपतीन्परिवद्विरे । —वही, १३.२१
८. वराङ्ग०, १०.५६-६०
९. गजवधूष्ववरोधपुरंध्रयः । —चन्द्र०, १३.२४
१०. जनरवात्सतो निपतन्त्यधस्तरलवेगसरादवरोधिका । —वही, १३.२७
११. कृतकटुस्वरमायतकन्धरं सपदि भाण्डमपास्य पलायितः । —वही, १३.२८
१२. वही, १३.२६
१३. वही, १३.३१

राजपरिवार के उच्चाधिकारियों की स्त्रियाँ युद्ध में साथ-साथ जाती थीं। सैनिक भी अपनी स्त्रियों को युद्ध में साथ ले जाते थे।^१ गरुणिकाएं तथा वेश्याएं भी युद्ध में सेना के साथ ही चलती थीं।^२

युद्ध प्रयाण सम्बन्धी अनुशासनहीनता

जैन संस्कृत महाकाव्यों में सेना में युद्ध प्रयाण सम्बन्धी अनुशासनहीनता के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं यथा—हाथियों तथा अश्वों के चलते समय छोटे बच्चों का कुचला जाना।^३ नागरिकों का हाथी के भय से घबराकर नीचे गिर जाना,^४ सेना के हाथियों, ऊंटों तथा खच्चरों में पारस्परिक टकराव होना आदि।^५ ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन-काल के अन्तिम समय में सेना इस प्रकार की उद्दण्डता के लिए प्रसिद्ध हो चुकी थी।^६ सेना-प्रयाण के समय भीड़-भाड़ में जनता को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ती थी। छोटी-छोटी बस्तियां तहस-नहस हो जाती थीं। इस कारण से सेना के इस दुर्व्यवहार के कारण प्रजा में राजा के प्रति असन्तोष का उदय भी होने लगा था।^७

सैनिक शिविर-व्यवस्था

सैनिक तथा घोड़े-हाथियों के विश्राम के लिए मार्ग में छोटे पड़ाव डाले जाते थे।^८ पड़ाव डालने के लिए प्रायः पर्वत तथा वनों के प्रदेश उपयुक्त समझे जाते थे। सुन्दर एवं प्राकृतिक दृश्यों से युक्त पर्वत प्रदेशों पर सैनिक पड़ाव डालने के दो मुख्य उद्देश्य होता थे—एक तो सैन्य सुरक्षा की दृष्टि से यह स्थान उपयुक्त होता था, दूसरे राजा एवं सेना ऐसे स्थानों पर ठहरकर पर्वत, नदी, झरनों आदि

१. बालभिः कुचभुजपीडिता युवानस्तदभूयः स्थपुटदरीषु पानमीषुः ।

—द्विस०, १४.१२

२. वेश्यागणाः परिचितानुपचारहेतोरश्वश्रमातुरतनूननुपालयन्तः ।

—चन्द्र०, १४.४७

३. वराङ्ग०, २०.५७, चन्द्र०, १३.६

४. चन्द्र०, १३.६०

५. वही, १३.२७-२९

६. मज्जिमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २२३

७. वही, पृ० २२३-२४

८. चन्द्र०, १३.५३, द्विस०, १४.३६

प्राकृतिक दृश्यों से अपना मनोरञ्जन कर सकती थी।^१ ऐसे स्थानों पर कई दिन तक के लिए भी सेना के ठहरने की व्यवस्था की जाती थी।^२

सैनिक पड़ावों पर व्यापारीगण अपनी-अपनी दुकानों को लगाकर पहले से ही आकर बैठ जाते थे।^३ ये दुकानें कपड़े को तानकर बनाई जाती थीं।^४ सैनिकों के भोजन के लिए भी बड़े-बड़े भोजनालय बना दिए जाते थे। इन भोजनालयों में से पूरियों (इड्डुरिका) आदि की गन्ध आने का उल्लेख आया है। सभी सैनिक इन्हीं भोजनालयों में भोजन करते थे।^५

राजा, सामन्त, सैनिकों के निवास की पृथक् व्यवस्था की जाती थी। राजा का निवास भवन एक बहुत बड़े प्रवेशद्वार से सुसज्जित रहता था।^६ द्विसन्धान के अनुसार वन पंक्तियों की पीछे तथा दम्पति सैनिक गुफाओं में विश्राम करते थे।^७ सेना के ठहरते समय यद्यपि सभी लोगों के निवास की व्यवस्था अलग अलग होती थी किन्तु सभी वर्गों के सैनिकों को निवास की ठीक सूचना न मिल पाने के कारण उनके द्वारा एक दूसरे को आवाज देकर इधर उधर बुलाने का उल्लेख भी चन्द्रप्रभचरित में आया है।^८

सैनिक मनोरञ्जन एवं भोग-विलास

जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्राप्त सैनिकों की रुचियों एवं गतिविधियों से ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश सैनिक वर्ग प्राकृतिक दृश्यों, स्त्री सौन्दर्य, तथा संगीत-गायन एवं नृत्य द्वारा अपना मनोरञ्जन करता था। चन्द्रप्रभचरित में मणिकूट पर्वत के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों को देखने की जिज्ञासा से राजा पद्मनाभ तथा उसकी सेना वहीं ठहर जाती है।^९ राजाओं के साथ उनकी स्त्रियां भी होती थीं।^{१०} तथा सैनिक भी अपनी पत्नियों को युद्धभूमि में साथ ले जाते थे।^{११} अतः इस प्रकार के प्राकृतिक वन प्रदेशों में राजा तथा सेना को दाम्पत्य आनन्द

१. चन्द्र०, १४.४२
२. वही, १४.४१
३. वही, १४.४४
४. वही, १४.४४
५. वही, १४.४६
६. वही, १४.४४
७. द्विस०, १४.३८
८. चन्द्र०, १४.४८
९. वही, १४.१-४१
१०. वरांग०, २०.५६-६०, चन्द्र०, १३.२४
११. द्विस०, १४.१२

लेने में पूर्ण सुविधा मिल जाती थी और आभोद-प्रमोद का उचित वातावरण भी ।^१ द्विसन्धान के अनुसार राजा तथा सैनिक दृन्द अपनी पत्नियों सहित वन विहार करने जाते थे तथा सलिल क्रीड़ा आदि का भी आनन्द लेते थे ।^२ अन्य सैनिकों के लिए वेश्याओं का भी प्रबन्ध होता था ।^३

हम्मीर महाकाव्य में सैनिकों के मनोरञ्जनार्थ 'शृङ्गार-गोष्ठी' का उल्लेख हुआ है ।^४ इस प्रकार की 'शृङ्गार-गोष्ठी' में नर्तकौ द्वारा शृङ्गारिक भावना को उद्दीप्त करने वाले नृत्य होने तथा इस नृत्य के साथ-साथ गायन एवं सङ्गीत का भी आयोजन होने का उल्लेख आया है ।^५ ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय संगीतज्ञों का एक ऐसा भ्रमणशील व्यावसायिक दल था जो नाचने-गाने वाली स्त्रियों को साथ लेकर वाद्ययंत्रों सहित एक दुर्ग से दूसरे दुर्ग तक भूमकर सैनिकों का मनोरञ्जन करता था ।^६ हम्मीर महाकाव्य में वर्णित 'शृङ्गार-गोष्ठी' का आयोजन करने वाला दल ऐसा ही रहा होगा ।

यवन सैनिक मदिरापान तो करते ही थे संभवतः चाहमान सैनिक भी मदिरापान के अभ्यस्त थे । हम्मीर के सैनिक उच्चाधिकारी को अलाउद्दीन की बहन द्वारा मदिरा पिलाने का स्पष्ट उल्लेख आया है ।^७ सिद्धान्त रूप से मदिरापान करने वाले व्यक्ति की निन्दा की गई है ।^८

सैन्य पशु-निवास-व्यवस्था

शिविर में ठहरी हुई हाथी-घोड़े आदि सैन्य पशुओं की रुचि एवं निवास का भी विशेष ध्यान रखा जाता था । हाथियों को जलाशय में स्नान करने^९ तथा उनके रुचिकर भोजन की विशेष व्यवस्था थी ।^{१०} इसी प्रकार जल-स्नान एवं पृथ्वी पर लोट लगाने आदि रुचिकर क्रियाओं द्वारा अश्वसेना के सन्तुष्ट रहने का उल्लेख भी

१. दम्पतयो गुहासु सर्वत्र पुण्यसहिताः सुखमावसन्ति । द्विस०, १४.३८
२. वही, १५.१
३. वेश्यागणाः परिचित्तानुपचारहेतोः । वही, १४.४७
४. हम्मीर०, १३.१
५. वस्त्राण्युत्संवृणोति स्म प्रकनूय न भयान्नः कः । हम्मीर०, १३.२, तथा
६. Shastri, Nilkanth, Pandyan Kingdom, p. 144
७. हम्मीर०, १३.८१
८. वही, १३.६४
९. द्विस०, १४.३६; चन्द्र० १४.५५
१०. चन्द्र०, १४.६२

आया है ।^१ बोझ लादने के कारण थके हुए बैलों द्वारा यत्र-तत्र सींगों तथा पैरों से भूमि खोदने तथा पर्वतीय नदियों के जल पीने जैसी शक्तिर क्रियाएं करने का भी वर्णन मिलता है ।^२ इसी प्रकार ऊँट द्वारा कर्णकटु शब्दों को करते हुए ऊँची-ऊँची शाखाओं के पत्तों को खाकर दुग्ध स्रावित होने का उल्लेख भी हुआ है ।^३ तृप्त हो जाने पर हाथी पेड़ों के स्कन्धों से बांध दिए जाते थे ।^४ घोड़े पट्टमय अस्तबलों में^५ तथा बैल वृक्षों की छाया में बैठकर विश्राम करते थे ।^६

युद्धों के भेद—

जैन संस्कृत महाकाव्यों में युद्धों के निम्नलिखित प्रकारों का वर्णन हुआ है—

१. दृष्टि युद्ध^७—परस्पर आँखों के द्वारा क्रोध अभिव्यक्त करना ।^८

२. वायुयुद्ध^९—परस्पर ऊँचे गर्जन के साथ एक दूसरे को युद्ध के लिए ललकारना ।^{१०}

३. भुज-युद्ध^{११}—(मल्लयुद्ध)^{१२}—आयुधों से रहित होकर एक दूसरे योद्धाओं से मल्ल युद्ध करना ।^{१३}

४. पबाति युद्ध^{१४}—शस्त्रों से एक योद्धा का दूसरे पर आक्रमण करना । इस प्रकार के युद्धों में एक दूसरे योद्धाओं की आँख फोड़ना, सिर काटना, मार कर मूर्च्छित कर देना आदि क्रियाएं संभव थीं ।^{१५}

१. द्विस०, १४.३७, चन्द्र०, १४.५१, ५४
२. चन्द्र०, १४.६३
३. वही, १४.६५-६६
४. द्विस०, १४.३८, चन्द्र०, १४.६१
५. द्विस०, १४.३८; चन्द्र०, १४.५५
६. चन्द्र०, १४.६४
७. पद्मा०, १७.२८८-२९
८. वही, १७.२८८
९. वही, १७.२९३-२९७; जयन्त०, १०.२०
१०. पद्मा०, १७.२९४
११. वही, १७.३०५
१२. वराह०, १७.५०
१३. पद्मा०, १७.३०८, तथा कीर्ति०, ५.४५
१४. वराह०, १७.४५, हम्मीर०, ६.१५
१५. वराह०, १७.४५-४६, हम्मीर०, ६.१५-१६

५. रथयुद्ध^१—रथारोहियों से युद्ध करने के उद्देश्य से किए जाने वाले युद्ध में, अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग तो होता ही था,^२ साथ में रथ तोड़ना, रथ में लगे ध्वजा आदि को काटना भी रथ-युद्ध की उल्लेखनीय विशेषता थी।^३

६. अश्व युद्ध^४—अश्व-युद्ध दोनों सेनाओं के अश्वारोहियों के मध्य होता था।^५ अश्व अत्यधिक स्फूर्ति के साथ रण में अपना युद्ध-कौशल दिखाने के लिए प्रसिद्ध थे।^६

७. गजयुद्ध^७—गज युद्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युद्ध था। हाथियों के शरीर कवचों द्वारा सुरक्षित होते थे।^८ तीक्ष्णमुख वाले आयुधों द्वारा हाथियों के शरीर पर आक्रमण किया जाता था।^९ प्रायः हाथी मादक द्रव्य पीकर युद्ध करते थे।^{१०} सम्पूर्ण युद्ध में हाथियों पर ही अधिकाधिक अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार किया जाता था।^{११} इसके बाद भी हस्ति सेना अन्तिम क्षणों तक शत्रु सेना को हानि पहुंचाने में अधिक समर्थ थी। लहु-लुहान होते हुए भी हाथी शत्रुओं पर पर्वत के समान टूट पड़ते थे।^{१२} यही कारण था कि अन्य सेनाओं की अपेक्षा हस्तिसेना पर नियंत्रण पाना कठिन समझा जाता था।

८. दुर्गयुद्ध^{१३}—हम्मीरमहाकाव्य में वर्णित दुर्गयुद्ध को १४वीं-१५वीं शताब्दी ई० के युद्ध कला विकास के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। हम्मीर की राजपूताना चाहमान सेना तथा अलाउद्दीन खिलजी की यवन सेनाओं के मध्य हुए इस युद्ध में रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार करने के लिए यवन

१. वराङ्ग०, १७.७४-७६
२. चन्द्र०, १५.७४-६४
३. वही, १५.७५
४. वराङ्ग०, १७.७६
५. वही, १७.७६
६. वही, १७.१७, जयन्त०, १०.७, ८
७. वराङ्ग०, १७.७६, १८.१०
८. तेषां सनाह्वतां गजानाम्। वही, १८.११
९. ते तोमराघातविभिन्नगात्राः प्रचक्षरल्लोहिततीव्रधाराः। वही, १८. १२
१०. गजा मदान्धाः समरे रिपूणाम्। वही, १८.१२
११. वही, १८.१३
१२. वही, १७.७५, १८.१२
१३. हम्मीर०, सर्ग १३

सेनाओं ने, सुरङ्गों को खोदने तथा खाइयों को भरने का कार्य लगभग कई महीनों तक संचालित रखा।^१ शत्रु का प्रतिकार करने की दृष्टि से राजपूताना सैनिकों ने परिखाओं में अग्नि गोले रख दिए तथा सुरङ्गों के मार्गों पर गर्म तेल डाल दिया था। परिणामतः शत्रु सेना प्रवेश करते समय जलभुन कर नष्ट हो गई थी।^२

दुर्ग के आसपास यवन सेनाओं ने अपने शिविर डाल दिए किन्तु चाहमान सेना के बाण वर्षा द्वारा तङ्ग करने पर अलाउद्दीन को अपनी सेनाओं को पीछे हटाना पड़ा।^३ हम्मीर की सेना की अपेक्षा यवन सेना संख्या में कई गुना अधिक थी। इसके अतिरिक्त हम्मीर की सेना के कई उच्चाधिकारी भी अलाउद्दीन के साथ जा मिले थे।^४ ऐसी संकटकालीन स्थिति में हम्मीर को उसके ही पक्ष के लोगों द्वारा उत्पादित दुर्ग में कृत्रिम अन्नाभाव की विपत्ति का सामना भी करना पड़ा।^५ दुर्ग में राजपरिवारों तथा अन्य महत्वपूर्ण सेनाधिकारियों के परिवारों के निवास की भी समुचित व्यवस्था होती थी।^६ दुर्ग में सम्पूर्ण आवश्यक सामग्रियों तथा सैन्य उपकरणों का भण्डार भी होता था।^७ दुर्गयुद्ध निर्णायक युद्ध होता था। राजपूताना सैनिक इस युद्ध में विशेष दक्ष थे। ऐतिहासिकों के अनुसार सातवीं-आठवीं शताब्दी में दुर्ग युद्ध का विशेष का प्रचलन नहीं था।^८ राजपूताना सैन्य व्यवस्था में ही दुर्ग युद्धों का विशेष प्रचलन था। राजपूताना सैनिकों तथा यवन सैनिकों के मध्य ही अधिकांश दुर्ग युद्ध हुए थे।

९. पुलिन्द युद्ध—सातवीं-आठवीं शताब्दी के महाकाव्य वराङ्गचरित में पुलिन्द-युद्ध का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। वराङ्गचरित की पुलिन्द जाति दक्षिण भारत के वनों में निवास करने वाली भौल जाति थी।^९ जयन्तविजय महाकाव्य से भी इसकी पुष्टि होती है।^{१०} ये पुलिन्द जातियाँ अत्यधिक युद्ध प्रिय होती थीं।^{११}

१. हम्मीर, १३.४०-४१
२. वही, १३.४१-४३
३. वही, १३.३७-३८
४. वही, १३.८१-८२
५. वही, १३.१७
६. वही, १३.१०७
७. वही, १३.४४-४५
८. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २१६
९. वराङ्ग०, सर्ग-१३
१०. जयन्त०, ११.८
११. वराङ्ग०, १३.४७

भुवराज अथवा किसी राजपुरुष के दर्शन मात्र से ही पुलिन्द लोग भयभीत हो जाते थे और युद्ध करने के लिए सन्नद्ध रहते थे।^१ पुलिन्द लोग डण्डे, धनुष बाण, तलवार सदृश साधारण स्तर के आयुधों से सदैव लैस रहते थे।^२ पुलिन्द अजीब सी वेशभूषा धारण करके भ्रुण्डों के रूप में विचरण करते थे।^३ ये लोग स्वभाव से निर्दयी होते थे।^४ पुलिन्दों की पृथक् आवासीय बस्तियां होती थीं जहाँ इनका राजा भी होता था।^५

पुलिन्द जातियां प्रायः राजाओं तथा धनी सार्थवाहों से विशेष द्वेष रखती थीं। राजकुमार आदि के साथ दुर्व्यवहार करने का स्पष्ट उल्लेख वराङ्गचरित में प्राप्त होता है।^६ इसके अतिरिक्त एक धनी सार्थवाह के घन को लूटने के उद्देश्य से पुलिन्द सेना तथा सार्थवाह सेना के मध्य घमासान युद्ध होने का उल्लेख भी हुआ है।^७ पुलिन्द लोग 'गुरिल्ला-पद्धति' के युद्ध में विशेष दक्ष होते थे तथा अचानक ही धोखे से आक्रमण करना इनकी विशेषता थी।^८ वराङ्गचरित के अनुसार पुलिन्द एवं सार्थपति सागरवृद्धि की सेनाओं के मध्य युद्ध में प्रयोग किए जाने वाले शस्त्र-अस्त्र राजाओं की सेनाओं के शस्त्र-अस्त्रों से कम नहीं थे, और युद्ध कला प्रदर्शन भी उच्च स्तर का था।^९ ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिन्द जाति के लोग युद्ध कला में विशेष दक्ष थे। षड्विध बल के अन्तर्गत आने वाले 'आरण्य बल' में इन्हीं पुलिन्द आदि जातियों के लोगों को भरती किया जाता होगा।^{१०}

१० गुरिल्ला युद्ध—गुरिल्ला पद्धति से युद्ध करना भी प्राचीन भारतीय सेनाओं की विशेषता रही है। द्वयाश्रय महाकाव्य में भी राजा 'ग्राह्रिपु' के नेतृत्व में युद्ध करने वाली जाति द्वारा छलकपट से आक्रमण करने का उल्लेख

१. वराङ्ग०, १३.४७-४८

२. गृहीतदण्डासिंहरासनात्मकाः । वही, १३.४७

३. वही, १३.४६-४७

४. वही, १३.५८

५. वही, १३.४६-५०

६. वही, १३.५६-५७

७. वही, १४.२३

८. वही, १४.६

९. वही, १४.१०-४५

१०. दिस०, २.११ पर नेमिचन्द्रकृत पदकोमुदी टीका

हुआ है।^१ ये गुरिल्ला पद्धति से लड़ने वाली जातियाँ युद्ध में भूमिगत खानों का भी प्रयोग करती थीं।^२

वनों की गुफाओं इत्यादि में गुप्त रूप से रहना चाहमान राजपूत सेना के लिए सुसाध्य था।^३ हम्मीर० में राजपूत एवं यवन सेना के मध्य हुए गुरिल्ला युद्ध का भी वर्णन मिलता है।^४

योद्धाओं का दाह-संस्कार

युद्ध समाप्त होने के बाद 'रण-संशोधन' अर्थात् रणस्थल के निरीक्षण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^५ राजा के सेवक रण में मारे गए योद्धाओं का निरीक्षण करते थे तथा महत्त्वपूर्ण विपक्षी व्यक्तियों यथा राजा अथवा युवराज आदि के कटे हुए सिर को राजा तक पहुँचाया जाता था।^६

मृतक योद्धाओं की मृत्यु के समाचार को उनके सम्बन्धियों तक भी पहुँचाया जाता था। मृतक योद्धा के सम्बन्धी आकर युद्ध भूमि में अपने व्यक्ति के शव को पहचान कर वहीं बाणों की चिता तैयार करके दाह संस्कार कर देते थे।^७

ग्राहत योद्धाओं की प्राथमिक चिकित्सा

वराङ्गचरित के अनुसार युद्ध में राजा के साथ वैद्य इत्यादि भी जाते थे।^८ असंख्य योद्धाओं के युद्धभूमि में ग्राहत हो जाने के कारण उनमें से सभी को प्राथमिक चिकित्सा की सुविधा देना सम्भवतः व्यावहारिक न रहा हो किन्तु युद्ध भूमि में प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था होती अवश्य थी। वराङ्गचरित में वराङ्ग के युद्ध भूमि में ग्राहत हो जाने पर उपचारार्थ उसके शरीर को हाथों से दबाकर, शीतल जल के छींटे देकर, चन्दन जल को मस्तक 'प्रदेशों पर लगाकर तथा पंखे से हवा कर, वराङ्ग की मूर्च्छितावस्था को दूर करने का उल्लेख आया

१. द्वया०, ६.७६

२. Narang, Dvayaśraya, p. 177-78

३. हम्मीर०, ११.२३

४. वही, ६.१४५-५१

५. रण संशोधयामास० । चन्द्र०, १५.१३१

६. वही, १५.१३३

७. वही, १५.१३२

८. वराङ्ग०, १४.६०

है।^१ तदनन्तर सार्धपति की आज्ञा से वंशों ने वराङ्ग के रक्त से लथपथ शरीर को जल से धोया और घावों को भरने वाली उत्तम औषधियों को लगा कर कुछ ही दिनों में उसे स्वस्थ बना दिया।^२

आयुध वर्णन

मानव सभ्यता के विकास के अनुरूप आयुधों का भी विकास होता रहा है। प्रारम्भ में आयुधों की संख्या सीमित थी परन्तु उत्तरोत्तर युगों में युद्धों के वातावरण से राज्य संस्था जब विशेष प्रभावित हुई तो विविध प्रकार के आयुधों की तकनीक भी विकसित हुई। ऋग्वेद के काल में ऋषि, बाण, अंकुश, तूणीर, वज्र, कृपाण, परशु, आदि आयुधों का युद्ध में प्रायः प्रयोग होता था।^३ अथर्ववेद के काल तक विषाक्त बाणों का भी आविष्कार हो चुका था।^४ 'शतघ्नी' भी एक वैदिक कालीन उल्लेखनीय आयुध था जिसके प्रयोग से सौ व्यक्ति तक मारे जा सकते थे।^५

आयुध विभाग

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आयुधों के आठ विभागों का उल्लेख मिलता है— (१) स्थिर यन्त्र, (२) चलयन्त्र (३) हलमुख (४) धनुष (५) बाण सदृश शस्त्र (६) खड्ग सदृश शस्त्र एवं (८) यन्त्र चालित अस्त्र।^६ अग्नि पुराण^७ और विष्णुधर्मोत्तरपुराण^८ में आयुधों को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है— (१) यन्त्रमुक्त, (२) पाणिमुक्त, (३) मुक्तामुक्त (४) अमुक्त तथा (५) नियुद्ध अथवा बाहुयुद्ध। धनुर्वेद के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वैशम्पायनकृत नीतिप्रकाशिका में आयुधों के चार विभाग उपलब्ध होते हैं—(१) मुक्त (२) अमुक्त (३) मुक्ता-मुक्त एवं (४) मन्त्रमुक्त।^९ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि नीतिप्रकाशिकाकार

१. वराङ्ग०, १४.५४

२. वही, १४.६०

३. ऋग्वेद, ५.५२.६; ५.५६.२, ८.१७.१०; ५.५७.२, १०.४८.३; १०.२२.१०; १०.२८.८

४. अथर्ववेद, ४.६.६

५. कृष्णयजुर्वेद, १.५.७.६

६. अर्थशास्त्र, २.१८.३६

७. अग्निपुराण, २४६-२५२

८. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, २.१७८-१८२

९. मुक्तं चैव ह्यमुक्तं च मुक्तामुक्तमतः परम् ।

मन्त्रमुक्तं च चत्वारि धनुर्वेदपदानि वै ॥

ने 'खड्ग' को एक पृथक् पाँचवे प्रकार के रूप में निर्दिष्ट किया है।^१ आयुधों के अन्तर्गत शस्त्र-अस्त्र में मुख्य भेद यह स्वीकार किया गया है कि 'शस्त्र' हाथों द्वारा चलाया जाता था तो 'अस्त्र' यन्त्र द्वारा संचालित हो सकते थे।^२

षट्त्रिंशदायुध—आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्यों में अनेक बार 'षट्त्रिंशदायुधानि' का प्रयोग आया है।^३ इन छत्तीस प्रकार के आयुधों की परम्परागत मान्यता एवं संख्या इस प्रकार कही गई है—

(१) चक्र (२) धनुष (३) वज्र (४) खड्ग (५) क्षुरिका (६) तोमर (७) कुन्त (८) त्रिशूल (९) शक्ति (१०) परशु (११) मक्षिका (१२) भल्ली (१३) भिन्दिपाल (१४) मुष्टि (१५) लुण्ठि (१६) शङ्कु (१७) पाश (१८) पट्टिश (१९) रिष्टि (२०) कणाय (२१) कम्पन (२२) हल (२३) मूसल (२४) गुलिका (२५) कर्तारि (२६) करपत्र (२७) तरबारी (२८) कुदाल (२९) दुष्फोट (३०) गोफनि (३१) डाल (३२) डच्चूस (३३) मुद्गर (३४) गदा (३५) घन तथा (३६) करवालिका।^४

१. आक्रमणात्मक आयुध

सामान्यतया आयुधों के दो मुख्य प्रकार हैं (१) आक्रमणात्मक आयुध तथा (२) सुरक्षात्मक आयुध। प्रथम वर्ग में निम्नलिखित आयुध रखे जा सकते हैं।

(क) **मुक्त वर्ग के आयुध**—प्राचीन भारतीय आयुधविज्ञान की मान्यताओं के सन्दर्भ में प्रक्षेपात्मक आयुधों को 'मुक्त' आयुधों की संज्ञा दी गई है। ये या तो हाथ से फेंके जा सकते थे (पाणिमुक्त) या फिर यन्त्र की सहायता से संचालित होते थे (यन्त्रमुक्त)। नीतिप्रकाशिका के अनुसार परम्परागत मुक्त आयुधों की संख्या बारह कही गई है—धनुष, बाण, भिण्डवाल, शक्ति, दूधरा, तोमर, नलिका, लंगुड, पाश, चक्र, दन्तकण्टक, तथा भुशुण्डी।^५ इसी परिप्रेक्ष्य में जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित आयुधों का विवेचन इस प्रकार है—

१. धनुष^६—प्रायः बांस अथवा सींग से निर्मित होते थे। अग्निपुराण में लोह

१. नीतिप्रकाशिका, सर्ग-३

२. Sharma, Major Gautam, Indian Army through the Ages, Madras, 1966, p. 21

३. द्र्या०, ११.५१; पद्मा०, ४.२२, हम्मीर०, १२.१२

४. पद्मा० ४.२२ पर अभयतिलकगणिकृतटीका

५. नीति० २.१७-१८

६. वराह०, १७.७१; द्विस०, ६.२७; प्रबुध्न०, १०.४३, चन्द्र०, १५.४८; कीर्ति०, ५.२७; जयन्त०, १४.७७; हम्मीर०, १३.३१, सनत्कुमार०, २०.७५

धनुष का भी उल्लेख मिलता है।^१ धनुष का दण्ड चार हाथ अथवा छह फुट लम्बा होता था।^२ कौटिल्य के अनुसार धनुष चार प्रकार से बनाए जा सकते थे:—(१) 'ताल' (ताड़ निर्मित) (२) 'बाप' (बांस-निर्मित) (३) 'दाख' (काष्ठनिर्मित) तथा (४) 'शाङ्ग' (हड्डियों अथवा सींगों से निर्मित)^३। धनुष वह यन्त्र विशेष था जिससे बाण इत्यादि फेंके जाते थे।

२. बाण^४—बांस अथवा लोहे से निर्मित होते थे। कौटिल्य ने पांच प्रकार के जिन बाणों का उल्लेख किया है वे हैं—वेणु, शर, शलाका, दण्डसार तथा नाराच।^५ प्रथम तीन काष्ठ निर्मित थे। दण्डसार आधे लोहे आधे बांस से निर्मित होता था। नाराच सम्पूर्ण रूप से लौह निर्मित होता था।^६

बाण सदृश अन्य आयुध—जैन संस्कृत महाकाव्यों में बाण सदृश निम्नलिखित आयुधों का उल्लेख आया है—

३. नाराच^७—सम्पूर्णतः लौह निर्मित बाण विशेष।
४. असोध^८—बाण विशेष।
५. शिलीमुख^९—बाण विशेष।
६. उर्ध्वमुख^{१०}—उर्ध्वमुखी बाण विशेष।
७. अधोमुख^{११}—अधोमुखी बाण विशेष।

१. अग्निपुराण, २५५.५-६; ७-१०
२. Dikshitar, war in Ancient India, p. 95
३. अर्थशास्त्र २.१८
४. वराह, १७.४६; प्रद्युम्न०, ६.६६; चन्द्र०, ६.१०१; जयन्त, १०.६५; सनत्कुमार०, २०.७८; हम्मीर०, १३.३२
५. अर्थशास्त्र, २.१८
६. वही, २.१७
७. जयन्त०, १४.७७
८. प्रद्युम्न० १०.४४
९. चन्द्र०, १५.१०८, १२५
१०. हम्मीर० ११.८५
११. वही, ११.८५

८. सुचीमुख^१—सुई के समान मुख वाला बाण विशेष ।
९. वत्सवत्^२—दन्त युक्त बाण जो 'अर्ध' चन्द्र से मिलता-जुलता था ।^३
१०. अर्धचन्द्र^४—अर्ध चन्द्र के आकार वाला बाण विशेष ।^५
११. काण्ड^६—बाण विशेष ।
१२. अग्नि बाण^७—अग्नि बरसाने वाला बाण विशेष ।
१३. क्षुरप्र^८—छुरे के आकार वाला बाण विशेष ।^९
१४. मिन्डिपाल^{१०}—एक हाथ लम्बा शस्त्र विशेष जिसका आगे का भाग झुका हुआ होता था एक बड़ी गांठ-दार टेढ़ी लकड़ी से संयुक्त इस शस्त्र विशेष को बाएँ पाँव से संचालित किया जाता था ।^{११} काटना, आघात करना आदि इसके विविध प्रयोग संभव थे ।^{१२}
१५. शक्ति^{१३}—दो हाथ लम्बा शस्त्र विशेष जिसका मुख चौड़ा और खुला रहता था ।^{१४} नीतिप्रकाशिकाकार के अनुसार 'तोलन' 'भ्रामण,' 'वल्गन', 'नामन', 'मोचन' तथा 'भेदन' रूप छह दृष्टियों से शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था ।^{१५}

१. वराङ्ग०, १८.४२
२. वही, १८.४२
३. Hopkins, J.A.O.S., Vol. 13, p. 279
४. वराङ्ग०, १८.४२, प्रद्यु० १०.२५, सनत्कुमार०, २०.८३
५. Hopkins, J. A. O. S. Vol. 13, p. 279
६. कीर्ति०, ५.२५, हम्मीर०, १०.५७
७. हम्मीर०, ११.८०
८. द्विस०, ६.२०
९. वही, पद० टीका
१०. वराङ्ग, १४.१५, १८.४५
११. नीति०, ४.३०
१२. Dikshitar, War in Ancient India, p. 106
१३. वराङ्ग०, १४.१५, सनत्कुमार०, ११.६१, त्रिषष्टि०, ४.१.६६०
१४. Dikshitar, War in Ancient India, p. 106
१५. तोलनं भ्रामणञ्चैव वल्गनं नामनं तथा ।
मोचनं भेदनञ्चेति षण्मागश्शक्तिसंश्रिताः ॥ नीति०, ४.३५

१६. तोमर^१—अर्थशास्त्र के टीकाकारों ने इसे बाण सदृश शस्त्र बताया है।^२ दो प्रकार के तोमरों का उल्लेख मिलता है लोहे की गदा सदृश तोमर तथा काष्ठदण्ड युक्त कुन्तसदृश तोमर।^३ वराहचरित में भाले (कुन्त) और तोमर भिन्न-भिन्न शस्त्र थे।^४ नीतिप्रकाशिका के अनुसार मोटे गुच्छ वाला तीन हाथ लम्बा तोमर तीन प्रकार के 'उद्धान' 'विनिवृत्ति' तथा 'वेधन' कार्यों में प्रयुक्त किया जा सकता था।^५ कौटिल्य के टीकाकारों के अनुसार 'साधारण', 'मध्यम' और 'उत्तम' तोमर के तीन भेद थे जो क्रमशः ४, ४½, और ५ हाथ लम्बे होते थे।^६ अग्निपुराण के अनुसार शत्रु की आँख एवं हाथ पर प्रहार करने की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी शस्त्र रहा था।^७ होपकिन्स ने इसकी त्रिशूल सदृश आकृति की सम्भावना की है।^८

१७. लघुड^९—दण्ड सदृश शस्त्र जिसका पाद भाग सूक्ष्म एवं उर्ध्व भाग चौड़ा और लौह-निर्मित होता था। दो हाथ लम्बे इस आयुध की 'उत्थान', 'पतन', 'पेषण' तथा 'पोथन' चार गतियाँ कही गई हैं।^{१०} दीक्षितार महोदय ने 'भिन्दिपाल' के समान इसके प्रयोग होने की सम्भावना भी बताई है।^{११}

१८. पाश^{१२}—शत्रु को बाँधने के प्रयोग में लाया जाने वाला 'पाश' नामक शस्त्र आकृति से त्रिकोणात्मक था। 'सीसगुलिका' से अलंकृत 'पाश' 'प्रसारण' 'वेष्टन' और 'कर्तन' के कार्यों में प्रधानतया प्रयुक्त किया

१. वराह०, १३.१५, जयन्त०, १०.६५

२. अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) रामतेज पाण्डेय, पृ० १८०

३. Dikshitar, War in Ancient India, p. 107

४. वराह०, १४.१५

५. नीतिप्रकाशिका, ४.३८.३६

६. Dikshitar, War in Ancient India, p. 107

७. वही, पृ० १०७

८. Hopkins, J. A. O. S. Vol. 13, p. 291

९. हम्मीर०, ३.३७, १०.४१

१०. नीति०, ४.४२-४३

११. Dikshitar, War in Ancient India, p. 108

१२. वराह०, १७.५२, द्विस०, ६.२७

जाता था।^१ दीक्षितार ने इसकी लम्बाई ३० हाथ मानी है जिसे तीन मण्डलाकृतियों में लपेटा जाता था।^२ 'पाश' का वर्ण नीला कहा गया है।^३

१६. चक्र^४ —मध्यरन्ध्र कुण्डलाकार नीले वर्ण वाले चक्र नामक शस्त्र के 'ग्रन्थन', 'भ्रामरा', 'क्षेपण', 'कर्तन' 'दलन'—पाँच कार्य सम्भव थे।^५ इसके तीन भेद रहे थे (१) आठ आरों वाला चक्र (२) छह आरों वाला चक्र तथा (३) चार आरों वाला चक्र।^६ कौटिल्य ने इसे चालित यन्त्र की संज्ञा दी है।^७

२०. भृशुण्डी^८—तीन हाथ लम्बा शस्त्र विशेष उन्नत ग्रन्थि, टेढ़ी लकड़ी की मूठ वाला शस्त्र था। कृष्ण सर्प के समान इसकी अग्र आकृति होती थी। भृशुण्डी के 'घापन' और 'घूर्णन' दो मुख्य कार्य कहे गए हैं।^९ इसकी 'भृशुण्डी', 'भृशुण्डी', 'भृशुण्डी' आदि अनेक संज्ञाएँ प्रचलित थीं। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में इसे चमड़े से निर्मित पत्थर फेंकने वाला अस्त्र कहा गया है।^{१०} दीक्षितार महोदय इसे 'मूसल' सदृश मानते हैं।^{११} होपकिंस के अनुसार महाभारत कालीन 'भृशुण्डी' वह हस्त संचालित यन्त्र था जिससे डण्डे या गोलाकार पत्थर आदि फेंके जा सकते थे।^{१२}

२१. ढण्ड^{१३}—सम्भवतः काष्ठ-निर्मित शस्त्र विशेष था। वराहमिहिर महाकाव्य

१. नीति०, ४.४५-४६
२. Dikshitar, War in Ancient India, p. 109
३. नीति०, ४.४५ पर सीतारामकृत तत्त्वविवृति, पृ० ४६
४. वराहमिहिर, १७.७७, प्रद्युम्न०, १०.२; चन्द्र०, १५.१२७, त्रिषष्टि०, ४.१.७१७, जयन्त०, १४.७७, हम्मीर०, १०.८
५. नीति०, ४.४७-४८
६. Dikshitar, War in Ancient India, p. 109
७. वही, पृ० १०६
८. जयन्त०, १४.७७
९. नीति० ४.५१-५२
१०. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ८६०
११. Dikshitar, War in Ancient India, p. 109
१२. Hopkins, J. A. O. S., Vol. 13, p. 292
१३. वराहमिहिर, १४.१५, चन्द्र०, १५.४८; जयन्त०, १४.१०१; हम्मीर०, ६:१५५

में लौह निर्मित दण्ड (लौहदण्ड) का भी उल्लेख आया है।^१ मुक्तवर्ग के आयुधों में 'दण्ड' की गणना नहीं की गई है। दीक्षितार के अनुसार 'तोमर' के अन्तर्गत या उससे मिलते जुलते शस्त्र को 'दण्ड' की संज्ञा दी जा सकती थी।^२ तोमर के जिन दो भेदों लौह दण्ड अथवा सामान्य दण्ड का 'लक्षणप्रकाश' में उल्लेख आया है वह सम्भवतः 'दण्ड' की ही वास्तविक स्थिति रही होगी।^३

२२. लोहदण्ड^४—'दण्ड' का ही एक भेद विशेष। इसे 'लौहवृत्त' भी कहा जाता था।^५

२३. क्षपण^६—वराङ्गचरित महाकाव्य में इसे प्रहारात्मक शस्त्र के रूप में वर्णित किया गया है।^७

२४. यष्टि^८—बांस का दण्ड विशेष।^९

२५. कुश^{१०}—सम्भवतः कुश की नोक जैसा दुर्गभेदक शस्त्र।^{११}

२६. गोलक^{१२}—यन्त्र द्वारा चलाए जाने वाला प्रक्षेपणात्मक शस्त्र।

२७. लोह-गोलक^{१३}—लोह विशेष से निर्मित प्रक्षेपणात्मक गोला।

२८. वह्नि-गोलक^{१४}—अग्नि कणों से युक्त प्रक्षेपणात्मक-गोला।

(ख) अमुक्त वर्ग के आयुध—अमुक्त वर्ग के अन्तर्गत ऐसे आयुधों को समाविष्ट किया जाता था जिन्हें फेंका या छोड़ा नहीं जाता था। नीतिप्रकाशिकाकार ने 'अमुक्त' आयुधों के अन्तर्गत वज्र, ईलो, परशु, गोशीर्ष, असिधेनु, लवित्र, आस्तर, कुन्त, स्थूरा, प्रास, पिताक, गदा, मुद्गर, सीर, मुसल, पट्टिश, मोष्टिक,

१. तु०—“केचित्पुनर्लोहनिबद्धदण्डैः”। वराङ्ग०, १७.५४

२. Dikshitar, War in Ancient India, p. 107

३. वही, पृ० १०७, पाद टि०, ५३

४. वराङ्ग०, १७.५४, पद्मा०, १७.४३

५. वराङ्ग०, १७.५४

६. वही, १४.१६

७. तु०—“क्षपणैः प्रहारैः”। वही, १४.१६

८. द्वया०, ६.५६

९. Narang, Dvyāśraya, p. 180

१०. हम्मीर०, १३.४२

११. वही, ३.११८

१२. वही, ३.११८, ११.१००

१३. वही, ११.१५

१४. वही, १३.४२

परिध, मयूखी, तथा शतघ्नी—२० आयुधों की परिगणना की है।^१ पृथक् रूप से निर्दिष्ट 'खड्ग' भी अमुक्त आयुधों के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जा सकता है। जैन संस्कृत महाकाव्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित अमुक्तवर्गीय आयुधों का उल्लेख आया है—

२६. खड्ग^२—संस्कृत साहित्य में खड्ग अर्थात् तलवार को असि, महा असि, आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है।^३ खड्ग से तात्पर्य बड़ी तलवार से है। उत्तम खड्ग की लम्बाई पचास अंगुल कही गई है।^४ 'लक्षण-प्रकाश' के अनुसार 'उत्तम' 'मध्यम' तथा 'साधारण' खड्ग क्रमशः पचास इंच तथा छत्तीस इंच के होते थे।^५ नीतिप्रकाशिका में तलवार के आठ नाम इस प्रकार दिए गए हैं—(१) असि, (२) विशसन, (३) खड्ग, (४) तीक्ष्णधर्म, (५) दुरासद, (६) श्रीगर्भ, (७) विजय, तथा (८) धर्ममाल।^६ 'निस्त्रिश' छोटी तलवार होती थी जिसका अग्रभाग वक्र रहता था।^७

खड्ग सदृश अन्य आयुध—जैन संस्कृत महाकाव्यों में खड्ग सदृश प्रायः लघु आकृति के अन्य शस्त्रों के नाम इस प्रकार वर्णित हैं—

३०. कृपाण^८—तलवार के आकार की, किन्तु परिमाण में छोटी, कमर में लटकाई जाती थी।

३१. क्षुरिका^९—छुरी, इसे 'असिपुत्रिका' भी कहा जाता था।

३२. शस्त्रो^{१०}—कटारी।

३३. वज्र^{११}—वज्र आयुध दध्नीचि की अस्थियों से निर्मित दिव्य अस्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। प्रयोग काल में इसकी घोर गर्जना होने का प्रायः वर्णन

१. नीति०, २.१६.२०

२. वराह०, १४.६, द्विस० ६.२७ प्रद्यु०, ६.६६, चन्द्र०, ६.१०६ कीर्ति०, ५.३२; जयन्त०, १०.७३. हम्मीर०, १३.२२२

३. Hopkins, J. A. O. S., Vol. 13, p. 285

४. Dikshitar, War in Ancient India, p. 117

५. वही, पृ० ११८

६. नीति० ३.३६-३७

७. Hopkins, J.A.O.S., Vol. 13, p. 286

८. जयन्त०, १०.६५, १४.१०१; हम्मीर०, १०.४३, सनत्कुमार०, १०.७४

९. सनत्कुमार०, २१.७३

१०. द्विस०, १८.२०

११. हम्मीर०, ३.११८

मिलता है। विविध प्रकार के तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रों से युक्त 'वज्र' एक अत्यन्त शक्तिशाली आयुध माना जाता है। 'चालन', 'चूनन', 'छेदन', 'भेदन',—इसकी चतुर्विध गतियाँ कही गई हैं। तलवारों की मण्डला-कृति से सुशोभित वज्र को ज्वलनशील आयुध भी कहा गया है।^२

३४. ईली^३—खड्ग सदृश एक ऐसा आयुध जो दो हाथ ऊँचा और पाँच अंगुलि चौड़ा, आगे से विस्तृत एवं करत्राण से रहित होता था। 'सम्पात' 'समुदीर्ण' 'निग्रह' तथा 'प्रग्रह'—ईली के चार प्रयोग सम्भव थे।^४

३५. परशु^५—मज्जमदार महोदय ने इसे २४ इन्च लम्बा अर्ध चन्द्राकार शस्त्र के रूप में स्पष्ट किया है।^६ नीतिप्रकाशिका में इसे सूक्ष्म यष्टि एवं विशालमुख वाले आयुध के रूप में पारिभाषित किया गया है। 'पातन' और 'छेदन' परशु के दो मुख्य कार्य थे।^७

३६. कुन्त^८—छह से दस हाथ लम्बा इसका आकार होता था। लौहनिर्मित इस शस्त्र विशेष की छह धारें होती थीं।^९ 'उड्डीन', 'अवडीन', 'निडीन', 'भूमिलीन', 'तिर्यग्लीन' तथा 'निखात' इसकी छह गतियाँ कही गई हैं।^{१०} सामान्यतया कुन्त तीक्ष्णाग्रभाग वाले भाले के रूप में जाना जाता है।

३७. प्रास^{१०}—दो हथों वाला, २४ इन्च लम्बा शस्त्र माना जाता है।^{११} नीति-प्रकाशिका में इसकी लम्बाई सात हाथ की कही गई है जो लौहशीर्ष, तीक्ष्ण-पाद एवं कौशेय पुंख से समलंकृत रहता था।^{१२}

-
१. नीति०, ५.२-६
 २. वराङ्ग०, १७.४५
 ३. नीति० ५.७-८
 ४. वराङ्ग०, १७.५५, दिस०, ६.२७, सनत्कुमार०, २१.२, हम्मीर०, ३.२६
 ५. मज्जमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १२४
 ६. नीति० ५.६-१०
 ७. वराङ्ग०, १४.१५, प्रद्युम्न०, ६.६६, चन्द्र०, १५.४८, कीर्ति०, ५.३२, सनत्कुमार०, २१.६४, हम्मीर०, ११.८७
 ८. Dikshitar, War In Ancient India, p. 112
 ९. नीति०, ५.२३
 १०. चन्द्र०, १५.१०८
 ११. मज्जमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १२४
 १२. नीति०, ५.२५

३८. गदा^१—नीतिप्रकाशिका के अनुसार चार हाथ ऊँचा तथा आगे से बृहद् शीर्ष वाला 'गदा' नामक आयुध लौहशंकुओं से व्याप्त रहता था ।^२ हाथियों तथा चट्टानों आदि पर आघात करने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी आयुध था । बीस प्रकार के आक्रमणात्मक प्रयोजन इस शस्त्र से साधे जा सकते थे ।^३
३९. मुद्गर^४—जिसका पादभाग सूक्ष्म हो तथा जो शीर्ष रहित हो 'मुद्गर' कहलाता था । इसमें पकड़ने की मूठ विद्यमान रहती थी ।^५ बृहद् शङ्कु के आकार सदृश इसकी लम्बाई तीन हाथ मानी जाती है ।^६ 'भ्रमण' तथा 'पातन' इसके मुख्य उपयोग रहे थे ।^७ कौटिल्य ने इसे चलयन्त्र की संज्ञा प्रदान की है ।^८
४०. मुसल^९—मजूमदार ने इसे खैर की बनी हुई छड़ी के रूप में स्पष्ट किया है ।^{१०} दीक्षितार इसे 'शूल' अथवा 'त्रिशूल' श्रेणी का शस्त्र मानते हैं ।^{११} 'पातन' और 'पोथन' इसकी द्विविध गतियाँ कही गई हैं ।^{१२}
४१. पट्टिश^{१३}—दोनों ओर से पार्श्वधार सहित करत्राणयुक्त खड्ग विशेष ।^{१४} इसे दोनों ओर से त्रिशूल सदृश शस्त्र भी माना जाता है ।^{१५}
४२. परिध^{१६}—काष्ठनिर्मित चक्राकार शस्त्र विशेष जिसका परिमाण चार

-
१. वराह्मण, १७.७७; द्विसं०, ६.२७; प्रद्यु०, १०.८; चन्द्र०, १५.२१७; जयन्त०, १४.७७; हम्मीर०, १०.५१
 २. नीति०, ५.२६
 ३. वही, ५.३४
 ४. वराह्मण, १४.१५; चन्द्र०, १५.१२७; हम्मीर०, ६.११४
 ५. नीति० ५.३५
 ६. Dikshitar, War in Ancient India, p. 114
 ७. नीति०, ५.३६
 ८. अर्थशास्त्र, २.१८
 ९. वराह्मण, १४.१५, सनत्कुमार०, २१.५५
 १०. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १२४
 ११. Dikshitar, War in Ancient India, p. 114
 १२. नीति०, ५.३८
 १३. वराह्मण, १७.७७, हम्मीर०, ३.३२
 १४. नीति०, ५.३६
 १५. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १२४
 १६. वराह्मण, १८.१३, त्रिषष्टि०, ४.१.६६२

हाथ होता था।^१ नीतिप्रकाशिका के व्याख्याकार सीताराम ने इसकी बृहद् द्वारों को बन्द रखने वाले प्रतिबन्धक शस्त्र के रूप में व्याख्या की है।^२

४३. शतघ्नी^३—यह एक प्राचीन आयुध रहा है। इसके स्वरूप के विषय में मतभेद है। शब्दार्थ की दृष्टि से एक समय में सौ व्यक्तियों के संहार करने की इस आयुध में क्षमता थी। मजूमदार महोदय के अनुसार इस यन्त्र को दुर्ग की दीवारों में स्थापित किया जाता था।^४ दीक्षितार के अनुसार आधुनिक तोप से इसकी तुलना की जा सकती है।^५ कालिदास ने रघुवंश में इस आयुध का उल्लेख किया है।^६ टीकाकार मल्लिनाथ ने 'केशव' को उद्धृत करते हुए चार हाथ लम्बे लौह कण्टकों से संवलित यष्टि विशेष के रूप में 'शतघ्नी' की परिभाषा दी है।^७ 'वैजयन्ती'^८ कार ने इसे 'गदा' सदृश कहा है तो नीति-प्रकाशिका के अनुसार यह 'मुद्गर' सदृश आयुध था तथा 'मूठ' (त्सर) से युक्त था।^९ 'शतघ्नी' को सामान्यतया सभी ने 'कांटेदार' (कण्टकयुक्त) आयुध माना है।

(ग) अनुवृत्त वर्ग के अन्य आयुध

४४. शूल^{१०}—तीक्ष्ण मुख वाली यष्टि।^{११}

४५. त्रिशूल^{१२}—तीन कांटों वाली लम्बी यष्टि।^{१३}

४६. शङ्कु^{१४}—विशेष प्रकार का भाला।

-
१. नीति०, ५.४५
 २. परिघो नाम बृहत्कवाटोद्घाटनप्रतिबन्धककार्यअर्गलविशेषः। वही, ५.४५
 ३. द्रया०, ११.४६
 ४. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १६५
 ५. Dikshitar, War in Ancient India, p. 115
 ६. रघु०, १२.६५
 ७. रघु०, १२.६५ पर मल्लिनाथटीका में उद्धृत 'केशव'
 ८. नीति०, ५.४८ पर सीताराम कृत टीका में उद्धृत 'वैजयन्ती'
 ९. नीति०, ५.४८
 १०. वराङ्ग०, १७.७७, हम्मोर० ११.६१
 ११. अर्थशास्त्र, २.१८, हिन्दी अनुवाद (रामतेज पाण्डेय), पृ० १८०
 १२. वराङ्ग०, १४.१५
 १३. Narang, Dvyāśraya, p. 178.
 १४. चन्द्र०, १५.८६

४७. शस्त्र^१—शंकु सदृश शस्त्र विशेष ।^२
 ४८. कण्य^३—तीक्ष्णमुख लोहनिर्मित शस्त्र, जिसके दोनों सिरों पर तीन-तीन मुकीले कोने होते थे ।^४
 ४९. टंक^५—कुन्त सदृश तीक्ष्णमुख शस्त्र ।^६
 ५०. आरा^७—दन्त युक्त आयुध विशेष ।
 ५१. कुलिश^८—कुल्हाड़ी ।
 ५२. हल^९—हलाकार शस्त्र विशेष ।
 ५३. सहलकोटी^{१०}—हजार दांतों वाली गदा ।^{११}
 ५४. स्तम्भपरचन^{१२}—सम्भवतः हथौड़े जैसा आयुध ।^{१३}
 ५५. वह्नि^{१४}—वज्र अथवा तत्सदृश आयुध ।^{१५}
 ५६. अग्निपास्त्र^{१६}—अग्नि बरसाने वाला अस्त्र ।^{१७}
 ५७. यन्त्र^{१८}—अस्त्र प्रक्षेपक यन्त्रविशेष ।
 ५८. भैरवयन्त्र^{१९}—बृहदाकार यन्त्रविशेष सम्भवतः 'गोलक' इत्यादि के प्रक्षेपणार्थ

१. द्वया०, ४.४५
२. Narang, Dvyāśraya, p. 180
३. वराङ्ग०, १७.७७
४. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० १२४
५. वराङ्ग०, १४.१५, हम्मीर०, ११.६१
६. अर्थशास्त्र, २.१८, हिन्दी अनुवाद (रामतेज पाण्डेय), पृ० १८०
७. द्विस०, १८-२१
८. द्वया०, ८.६५
९. सनत्कुमार०, २१.५६
१०. वराङ्ग०, १७.६०
११. वही, १७.६०
१२. द्वया०, ८.६५
१३. Narang, Dvyāśraya, p. 181
१४. द्वया०, ६४
१५. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ५२४
१६. चन्द्र०, ६.२०५, जयन्त०, १४.८४
हम्मीर०, ११.८०
१७. विशेष द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १८२-८४
१८. द्वया०, २४.३२
१९. हम्मीर०, ११.७३

प्रयोग में लाया जाता था।^१

(घ) उपकरणात्मक आयुध

५६. तूणीर—^२ बाण रखने का उपकरण।

६०. शान—^३ तीक्ष्णमुख वाले आयुधों को पैना करने का उपकरण।

६१. कटाह^४—तेल गर्म करने वाला कड़ाहा। दुर्गयुद्ध के अवसर पर इसकी विशेष आवश्यकता होती थी।

२. सुरक्षात्मक आयुध

सुरक्षात्मक आयुधों में (६२) कवच^५ तथा (६३) सेटक^६ (ढाल) प्रमुख आयुध थे। (६५) शिरस्त्र^७ नामक आयुध 'शिर' की सुरक्षा हेतु प्रयोग में लाया जाता था। (६५) संनाह सामान्यतया कवच के लिए प्रयुक्त होता है। वरांगचरित में हाथियों के कवचों का भी उल्लेख आया है।^८ इन सुरक्षात्मक आयुधों के अतिरिक्त (६६) 'अगंला'^९ भी एक सुरक्षात्मक उपकरण रहा था जो शत्रु सेना के दुर्ग आदि प्रवेश-निरोध हेतु प्रयुक्त होता था। पूर्व निर्दिष्ट 'परिच'^{१०} ऐसा ही प्रवेश-निरोधक आयुध था जिसे मुख्य द्वारों पर स्थापित किया जाता था। कुछ 'दिव्यास्त्र' भी सुरक्षात्मक दृष्टि से प्रयुक्त होते थे।

३. दिव्यास्त्र

रामायण एवं महाभारत में दिव्यास्त्रों के प्रयोग होने का उल्लेख आया है। जैन संस्कृत महाकाव्यों के पौराणिक युद्ध वर्णनों के प्रसङ्गों में निम्नलिखित दिव्यास्त्रों का उल्लेख मिलता है—

६७. तामसास्त्र^{११}—अन्धकार फैलाने वाला अस्त्र। इसका अपर नाम 'तिमिरास्त्र'^{१२} भी है।

१. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १८४

२. द्विस०, ६.५७

३. वही, १६.७६

४. हम्मीर० ११.७२

५. जयन्त०, १४.६८

६. द्विस०, १६.३७; चन्द्र०, १५.११

७. वराङ्ग०, १४.६, १८

८. चन्द्र०, १५.७.८; वराङ्ग०, १८.११

९. वराङ्ग०, १७.७७

१०. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १७७

११. चन्द्र०, ६.१०३, (टीका) पृ० १६७; प्रद्युम्न०, १०.४१

१२. जयन्त०, १४.६४

६८ तापनास्त्र^१—प्रकाश फैलाने वाला अस्त्र । इसका दूसरा नाम 'प्रद्योत-
नास्त्र'^२ भी है ।

६९ भुजगास्त्र^३—सर्पबाण सदृश अस्त्र ।

७० गरुडास्त्र^४—सर्पबाण का निवारक अस्त्र ।

७१ आग्नेयास्त्र^५—युद्ध भूमि में अग्नि फैला देने वाला अस्त्र ।

७२ मेधास्त्र^६—वृष्टि सञ्चार करने वाला अस्त्र । आग्नेयास्त्र का निरोधक ।

७३ पर्वतास्त्र^७—पर्वत के समान भयंकर अस्त्र ।

७४ वज्रास्त्र^८—पर्वतास्त्र का निवारक ।

७५ तन्द्रास्त्र^९—सेना में तन्द्रा फैला देने वाला अस्त्र ।

७६ उद्यमास्त्र^{१०}—तन्द्रास्त्र का निवारक तथा पुनः स्फूर्तिदायक अस्त्र ।

७७ सिद्धयस्त्र^{११}—सिद्धि प्रदान करने वाला अस्त्र ।

७८ विघ्नविनायकास्त्र^{१२}—शत्रु के 'सिद्धयस्त्र' का निवारक तथा स्वसेना के
विघ्नों को शान्त करने वाला अस्त्र ।

७९ पवनास्त्र^{१३}—युद्ध भूमि में पवनावेग द्वारा वृष्टि निरोधक अस्त्र । इसका
दूसरा नाम 'वायव्यास्त्र' भी है ।^{१४}

८० पवननाशनास्त्र^{१५}—'पवनास्त्र' का निरोधक ।

८१ चक्रयुधास्त्र^{१६}—अङ्गों को काट देने वाला अस्त्र ।

८२ त्रिपुरान्तकास्त्र^{१७} तथा

८३ विषुतुवास्त्र ।^{१८}

१. चन्द्र०, ६.१०४ (टीका, पृ० १६७)

२. जयन्त०, १४.६६

३. चन्द्र०, ६.१०५ (टीका पृ० १६७)

४. वही

५. चन्द्र०, ६.१०५ (टीका, पृ० १६७), जयन्त०, १४.८४, हम्मीर०, ११.८०

६. चन्द्र०, ६.१०५, जयन्त०, १०.८६

७. चन्द्र०, ६.१०५, जयन्त०, १६७

८. वही

९. वही

१०. वही

११. वही

१२. वही

१३. वही

१४. प्रद्युम्न०, १०.३६, जयन्त०, १४.८८

१५. जयन्त०, १४.६६

१६. वही, १४.१००

१७. वही, १४.१००

१८. वही, १४.६८

युद्ध में 'बाहूद' एवं 'एटमबम' का प्रयोग

आग्नेयास्त्र सम्बन्धी आयुधों के सन्दर्भ में सामान्यतया यह धारणा प्रचलित है कि १६वीं शती ई० में सर्वप्रथम बाबर ने ही युद्ध में 'तोप' तथा 'बाहूद' का प्रवर्तन किया था।^१ इसके विपरीत आग्नेयास्त्र सम्बन्धी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल से ही भारतीय आग्नेयास्त्र— 'शतघ्नी' अथवा 'सूर्मी' नामक ज्वलनशील आयुधों से परिचित थे।^२ कृष्ण-यजुर्वेद में निर्दिष्ट 'शतघ्नी' अथवा 'सूर्मी' लौहनिर्मित ज्वलनशील अस्त्र के रूप में परिभाषित किए गये हैं।^३ ओपर्ट महोदय की मुदद मान्यता है कि वैदिक काल में ही भारतीय आग्नेयास्त्र का युद्ध में प्रयोग करते थे तथा इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में अब किसी प्रकार की भी शङ्का करना अयुक्तसङ्गत है।^४

आग्नेयास्त्र निर्माण की रासायनिक विधियाँ—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (१) 'अग्निधारण' (२) 'क्षेप्यो अग्नियोग' तथा (३) 'विश्वासघाती' नामक तीन प्रकार के आग्नेयास्त्रों की विधियाँ दी गई हैं।^५ पहली 'अग्निधारण' की प्रक्रिया के अन्तर्गत गन्धे, ऊँट, बकरी और भेड़ की लीद से तैयार छोटी-छोटी गोलियों को सरल, देवदारु की लकड़ियों तथा पूरी तृण, गुग्गुलु, श्रीवेष्टक और लाक्षा की पत्तियों के रासायनिक संयोग से पुष्ट किया जाता था।^६ दूसरी प्रक्रिया 'क्षेप्यो अग्नि-योग' की थी जिसमें प्रियाल चूर्ण, अवलगुज, कज्जल आदि के संयोग से घोड़े, गन्धे,

१. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० ३५१

२. कृष्णयजुर्वेद, १.५.७.६

३. वही तथा तु० 'ज्वलन्ती लोहमयी स्थूणा सूर्मी'। (भट्टभास्करकृत ज्ञान-यज्ञ टीका) 'ज्वलन्ती लोहमयी स्थूणा सूर्मी सा च कर्णकावती छिद्रवती अतएव ज्वलन्तीत्यर्थः—एकेन प्रहारेण शतसङ्ख्यान् मारयन्तश्शूराश्शततर्हीः' (विद्यारण्यस्वामीकृत तैत्तिरीयवेदार्थप्रकाशटीका)

४. 'The weight of these Vedic verses and of their commentaries can hardly be overrated, as they clearly establish the existence of ancient fire arms in the earliest time of Indian history.'—Oppert, Gustav, Nitiprakashikā, (Reprint) Delhi, 1985, Intr. p. 12

५. Dikshitar, War in Ancient India, p. 102

६. वही, पृ० १०२

जुट आदि के लौह की गोलियां सम्पुष्ट रहती थीं। आग्नेयास्त्रों में 'विश्वासघाती' प्रक्रिया वाले 'आग्नेयास्त्र' आधुनिक बम सदृश थे। इन्हें कूम्भी, सीसे, जस्ते, आदि धातु खण्डों से निर्मित किया जाता था, पारिभद्रक, पलाश, मोम एवं तारपीन के तेल की ऐसी संरचना की जाती थी जिससे विस्फोट के समय धातुओं के टुकड़े इधर-उधर बिखर पड़ते थे।^१ दीक्षितार महोदय ने 'विश्वासघाती' आग्नेयास्त्र को बम सदृश आयुध माना है।^२ युक्तीतिसार (१३-१४वीं शती ई०) में यवक्षार का पांच 'पल', गंधक का एक 'पल' एवं कोयले के चूर्ण का एक 'पल' मिलाकर अग्निचूर्ण अर्थात् 'बारूद' बनाने की विधि उल्लिखित है।^३ इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष इतिहास के प्रारम्भिक युगों में ही 'आग्नेयास्त्र' की अवधारणा से परिचित था। रामायण एवं महाभारत में दिव्यास्त्रों के प्रयोग होने का विशेष वर्णन आया है। आलोच्य महाकाव्य भी दिव्यास्त्रों का उल्लेख करते हैं। यद्यपि हॉपकिंस ने लिखा है कि बारूद एवं बन्दूक का प्रयोग महाभारत के काल में नहीं होता था^४ परन्तु आधुनिक शोध के निष्कर्ष कुछ दूसरी ही बात बताते हैं। सोवियत विद्वान् डा० ए० ए० गोरबोवस्की ने अपनी पुस्तक 'बुक ऑफ हाइपोथीसिस' (शीघ्र प्रकाश्य) में महाभारत के हवाले से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'ब्रह्मास्त्र' से उत्पन्न जिस प्रचण्ड तापमान का महाभारत में उल्लेख आया है उससे लगता है कि प्राचीन भारत के लोग 'एटमबम' से अनजान नहीं थे।^५ डा० गोरबोवस्की के अनुसार चार हजार वर्ष पहले मरे व्यक्ति के कंकाल में जितनी रेडियो धर्मिता पाई गई है वह सामान्य से कई गुना अधिक है। उनके अनुसार 'ब्रह्मास्त्र' के कारण हुये विनाश का महाभारत में दिया गया वर्णन लगभग वही है जो एटमबम के कारण हुई तबाही का है। आग की शलाका पर पड़ी, दिशाएं अन्धकार में डूब गईं, सूर्य ढक गया, संसार तपकर जलने लगा। ब्रह्मास्त्र का उद्देश्य सारी मानव जाति को भस्मसात करना था। जो बच गये उनके बाल और नाखून झड़ गये। संसार में खाने लायक पदार्थ ही नहीं बचा और सारा वातावरण दूषित हो गया।^६ इस सन्दर्भ में आलोच्यकाल के दिव्यास्त्रों में अग्निवर्षण, धूमाच्छादन से अन्धकार सम्पादन, जलवर्षण, पवनाधिक्य, निद्रा-प्रसार आदि के जो उल्लेख आए हैं उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है। सामान्यतया ये

१. Dikshitar, War in Ancient India, p. 102

२. वही, पृ० १०२

३. युक्तीतिसार, ४.२००.२०३ (चौखम्बा संस्करण) वाराणसी, १९७८,

४. Hopkins, J.A.O.S., Vol. 13, pp. 292-303

५. जनसत्ता, सितम्बर १, सन् १९७६, पृ० २

६. वही, पृ० २

दिव्यास्त्र दिव्य शक्ति से सम्पन्न माने जाते थे। हम्मीर महाकाव्य (चौदहवीं शताब्दी) में निर्दिष्ट यवन नरेश अलाउद्दीन खिलजी एवं हम्मीर के बीच हुये युद्ध वर्षानों में 'भैरव यंत्र' से तोप, 'आग्नेयास्त्र' से बन्दूक एवं 'वह्निगोलक' से बारूद के गोलों की संभावना की जा सकती हैं।^१ मजूमदार महोदय ने खिलजी वंश की सेवाओं को तोप से युक्त तो माना है परन्तु 'बारूद' जैसे विस्फोटक पदार्थ की संभावना से इन्कार किया है।^२ परन्तु आग्नेयास्त्र प्रयोग की उपर्युक्त पृष्ठभूमि से यह सिद्ध हो जाता है कि हम्मीर महाकाव्य कालीन सेना के द्वारा प्रयुक्त 'वह्निगोलक' बारूदी गोले ही रहे थे। 'भैरव यंत्र' अर्थात् 'तोप' से इनका प्रक्षेपण किया जाता था।

युद्धोपयोगी वाद्ययंत्र

सेना में वाद्य यन्त्रों का वीरता का संचार करने तथा योद्धाओं के युद्ध-उत्साह को बढ़ाने को दृष्टि से विशेष महत्त्व होता था।^३ सम्भवतः तीन बार वाद्य-यन्त्रों को बजाया जाता था। सेना प्रयाण के समय,^४ युद्ध प्रारम्भ होने के समय^५ तथा युद्ध समाप्त होने के समय^६। हर्षकालीन सेना के समय में युद्ध के लिये कूच करते हुये भी सङ्गीत का उपयोग होता था।^७ भेरी^८ 'पटह'^९ वाद्ययन्त्रों में सर्वाधिक प्रमुख थे। हर्षचरित के अनुसार 'शंख' तथा 'पटह' सेना-प्रयाण के समय विशेष रूप से बजाये जाते थे।^{१०} इन वाद्ययन्त्रों के अतिरिक्त जैन संस्कृत महाकाव्यों में निम्नलिखित वाद्य यन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनका युद्धावसर पर प्रयोग होता था—

मृदङ्ग^{११}, दुन्दुभी,^{१२} यक्का,^{१३} ढक्का,^{१४} तथा काहल।^{१५} काहल

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १७६
२. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० ३३२
३. जयन्त०, ६-६६, १०-२६
४. वही
५. वही
६. वही
७. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २२१
८. हम्मीर०, ३-३६
९. वही, ३-५६
१०. हर्षचरित, पृ० १५२, तथा १८४
११. हम्मीर०, ३-५६
१२. वराङ्ग०, २०-७३
१३. द्वया०, १८-४०
१४. द्वया०, ६-१६
१५. द्वया०, १८-४०

लगभग दो फुट लम्बा सुतार की फूँकनी के आकार का वाद्य यन्त्र होता था जिसे हवा भरकर बजाया जाता था।^१ रण में युद्ध की स्थिति पर भी वाद्ययन्त्रों के सङ्गीत का विशेष प्रभाव पड़ता था। 'वीरता' को सञ्चारित करने वाले सङ्गीत-स्वरों का विशेष महत्त्व था। हम्मीर महाकाव्य में शत्रुपक्ष द्वारा हम्मीर के वाद्य-यन्त्र बजाने वाले लोगों को घन आदि देकर फोड़ लिया गया था फलतः उन्होंने ऐसी सङ्गीत संयोजना की जिससे अश्व युद्ध करने की अपेक्षा नृत्य करने लगे।^२

भारतीय सैन्य शक्ति के क्षीण होने के कारण

सैन्य शक्ति की दुर्बलता का मुख्य कारण था—सैनिक शक्ति का क्षीण होना। सैनिक शक्ति के क्षीण होने के भी कई राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कारण हो सकते हैं।^३ राजनैतिक कारणों में राजा के आदर्शों का पतन होना मुख्य कारण था। दण्डनीति का आडम्बर कर मिथ्यारोपों द्वारा पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करना भारत की राजनैतिक एकता के लिये महान् अभिशाप सिद्ध हुआ। साम तथा दान नीति के आश्रय स्थल शक्तिहीन राजा थे। भारवि के किरात का 'अरिषु हि विजयाथिनः क्षितीशाः विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि' (१.४५) का इसी ओर संकेत है कि किसी भी प्रकार से कपटपूर्वक सन्धिभङ्ग का आरोप लगाकर आक्रमण किया जा सकता है। भारतीय सैनिकों में राष्ट्रवाद की भावना समाप्त हो गई थी।^४ श्री कुपलैण्ड का कथन है कि भारत पर इतनी सरलता से विदेशियों का अधिकार पा जाने का प्रधान कारण है उनसे लड़ने के लिये समस्त हिन्दू राज्यों में सैनिक एकता का अभाव।^५ सेना में अन्धविश्वास बढ़ गया था। युद्ध में जाने से पूर्व ज्योतिषी से यह सुनने पर कि आज उनका ग्रह शुभ नहीं है राजा युद्ध में ही नहीं जाते थे।^६ सैन्य व्यवस्था में कई दोष आ गये थे। सी० वी० दैद्य के मतानुसार वर्णविषमता भारतीय सैन्य व्यवस्था के लिये हानिकारक सिद्ध हुई।^७ ऐतिहासिकों के मतानुसार भारतीय अश्वारोही सेना

१. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २२२
२. हम्मीर०, ३.५४, ५६-६०
३. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २८३
४. Valdy, C.V., Down fall of India, p. 451
५. Coupland, R. India (A Re-statement), p. 6
६. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २८६
७. वही, पृ० २८६

अरबों तथा तुर्कों की अश्वारोही सेना की अपेक्षा अल्पवेगगामी तथा सुस्त थी।^१ भारतीयों की विजय का उत्तरदायित्व 'गजसेना' पर ही अधिक निर्भर था किन्तु 'गजसेना' कभी भी युद्ध में बोझा दे सकती थी।^२ इसके अतिरिक्त भारतीय सेना सदा संरक्षणात्मक युद्ध ही अधिक लड़ते थे तथा आक्रामणात्मक कम। भारतीय युद्ध धर्म का पालन करते हुये शत्रु-सेना के पृष्ठ भाग पर भी आक्रमण नहीं करते थे।^३ इतिहासकारों की यह भी मान्यता रही है कि धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को लौकिक मूल्यों से अपेक्षाकृत अधिक महत्व देना भी भारतीय सेना के मनोबल वर्धन के लिए एक अभिशाप से कम नहीं था।^४ मजूमदार महोदय ने जैन धर्म के 'अहिंसा परमोधर्मः' के सिद्धान्त को भी भारतीय सैन्य शक्ति की एक त्रुटि के रूप में स्वीकार किया है।^५ किन्तु केवल मात्र जैन धर्म आदि किसी धर्म विशेष को इसका उत्तरदायी मानना अनुचित जान पड़ता है। जैन संस्कृत महाकाव्यों से भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्मावलम्बी राजा आदि युद्ध करने या न करने के निर्णय करते समय धर्म को कभी बीच में नहीं लाए। युद्ध के प्रति अनेक प्रकार की जो उदासीनताएं दृष्टिगत होती हैं वे भी जैन धर्मानुप्राणित न होकर तत्कालीन समाज में प्रचलित आध्यात्मिक एवं राजनैतिक विचारों का ही समग्र परिणाम समझनी चाहिए। सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी में युद्ध के अवसर पर हुई अहिंसा सिद्धान्त का जो प्रतिपादन हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन मतावलम्बी राजा युद्धों के अवसर पर अहिंसा को अधिक महत्त्व नहीं देते थे।^६

प्राचीन भारतीय धार्मिक चेतना से युद्ध भावना की तुलना की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय युद्ध में मृत्यु प्राप्त करने से स्वर्ग की प्राप्ति मानते थे।^७ इस भावना से भारतीय सेना का मनोबल पर्याप्त ऊँचा रहा था तथा मौर्य एवं गुप्तसाम्राज्य से लेकर मध्यकालीन युग तक भारतीय सैनिक युद्ध को अपना

१. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २८६-८७

२. वही, पृ० २८७

३. वही, पृ० २८७

४. Majumdar, Bimal Kanti, The Military System in Ancient India, Calcutta, 1960, p. 155-56

५. मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, पृ० २८५

६. कीर्ति०, ५.३५-३७

७. तु०—हृतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कीन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

—भगवद्गीता, २.३७

धर्म समझते आए थे। किन्तु मध्यकालीन भारत के सामाजिक मूल्य धर्म-दर्शन से कुछ हटकर लौकिक सुखों की ओर अधिक झुक गए थे। इसी का परिणाम था कि भारतीय सेना में भोगविलास के मूल्य सामाजिक दृष्टि से भी स्वीकार कर लिये गए। प्रद्युम्नचरित महाकाव्य में आए एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि भगवद्गीता के अनुसार युद्ध में मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—यह धारणा अब हेय हो चुकी थी। प्रद्युम्नचरित महाकाव्य में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा गया है—“युद्ध से न तो स्वर्ग मिलता है और न ही मोक्ष, केवल मात्र कीर्ति ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु मृत्यु के उपरान्त इस कीर्ति का भी क्या महत्त्व रह जाता है। इस कारण अपनी सुन्दर स्त्रियों तथा पुत्रों आदि को छोड़कर युद्ध में जाना व्यर्थ है।”^१ मध्यकालीन भारतवर्ष से सम्बन्धित प्रद्युम्नचरित का यह उद्धरण तत्कालीन युद्ध-विषयक मान्यता का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार भारतीय सेना की शक्ति के क्षीण होने के कारणों में इस बदली हुई मध्यकालीन युद्ध भावना का भी विशेष प्रभाव पड़ा था।

निष्कर्ष

इस प्रकार भारतीय सेना की विविध गतिविधियों तथा ऐतिहासिकों की प्रतिक्रियाओं के आकलनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्यकालीन सैन्य व्यवस्था बाह्य रूप से शक्तिशाली रही थी किन्तु राष्ट्रीय एकता का अभाव तथा सामन्तवादी प्रवृत्तियों का प्राबल्य अनेक युद्धों का कारण बना। कृत्रिम कारणों को लेकर लड़े जाने वाले युद्धों का मुख्य प्रयोजन राजाओं की सैन्य शक्ति प्रदर्शन ही था। एक बार किसी राजा द्वारा युद्ध क्षेत्र में अपना पराक्रम दिखा देने के बाद अनेक छोटे-छोटे सामन्त राजाओं को बिना युद्ध किए ही अपने अधीन कर लिया जा सकता था। राजनैतिक सङ्गठन कभी भी एक होकर किसी शक्तिशाली राजा को पराजित भी कर सकते थे। इस कारण प्रत्येक राजा युद्धों की तैयारी एवं सैनिक शक्ति के निर्माण में ही अधिक व्यस्त रहा था। युद्धकला तथा युद्ध-नीति के अवसर पर केवल मात्र दिखावे के लिये प्राचीन परम्पराओं तथा युद्ध धर्मों का प्रयोग किया जाता था यहाँ तक कि छोटे-छोटे कारणों की लेकर युद्ध करना, निराश होने की भ्रम भिटाने के लिए ईर्ष्यावश स्वयंवर में विजयी राजकुमार के साथ युद्ध करना, शास्त्रों के अनुसार दूत के साथ भद्र व्यवहार करने की परम्परागत मान्यताओं को तोड़कर उसके साथ अभद्र व्यवहार करना आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो मध्यकालीन-भारतीय राजाओं की कुटिल

१. युद्धाद् स्वर्गो नाप्यते नापि मोक्षः कीर्त्या किं वा साध्यमाचक्ष्व मृत्वा।

योषा मुक्त्वा सत्सुताश्चन्द्रवक्त्रा मा युद्धयस्त्वं याहि मा स्थाः पुरो मे॥

—प्रद्युम्न०, १०.१४

तथा उच्छृंखल युद्ध नीति पर प्रकाश डालते हैं। राज्य स्तर पर संकीर्ण युद्धनीति तथा युद्ध के प्रति उदासीनता का यह परिणाम निकला है कि सैनिक भी युद्ध को एक गम्भीर तथा संयमसाध्य वस्तु न मानकर साधारण घटना के समान समझने लगे। राजाओं की देखादेखी सैनिक भी अपनी पत्नियों को युद्ध-क्षेत्र में साथ ले जाते थे। अनेक प्रकार के भोगविलास, सलिल क्रीड़ा आदि श्रृङ्गारिक वातावरण सैनिकों के शौर्य तथा एकाग्र वृत्ति के लिए महान घातक सिद्ध हुए। सैनिक पड़ावों में वेश्याओं के भ्रष्टों का लगना यह सिद्ध करता है कि राजा तथा सैनिक आदि युद्ध के अवसर पर भी रमणियों के साथ भोग-विलास की गतिविधियों को विशेष महत्त्व देने लगे थे। विदेशी आक्रमणकारी भारतीय सेना की इस निर्बलता को भली भाँति जान चुके थे कि तथा इस कमजोरी का उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाकर भारतीय सैनिक शक्ति को क्षीण करने की पूरी चेष्टा की है। हम्मीर महाकाव्य में वर्णित खिलजी नीति इसका एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कुछ राजपूतादि जातियों की सेना ने इस काल में भी अपना चरित्र ऊँचा उठाया हुआ था।

अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से भारतीय सेना एक समृद्ध तथा प्रगतिशील सेना के रूप में दृष्टिगत होती है। १४वीं शताब्दी में भारतीय सेना द्वारा यन्त्रों और अग्नि गोलों (बारूद के गोलों) से खाइयों को तोड़ना तथा दुर्ग के चारों ओर बनी खाई में गरम तेल डालकर शत्रुओं के दुर्ग-आक्रमण से रक्षा करना आदि यह सब सिद्ध करता है कि भारतीय सेना निरन्तर आधुनिकतम शस्त्रों तथा युद्ध-कलाओं को युद्ध व्यवस्था में स्थान देती जा रही थी। संक्षेप में जैन संस्कृत महाकाव्यों के युद्ध वर्णन सम्बन्धी उल्लेख प्राचीन भारतीय सेना के संस्थागत इतिहास की मध्यकालीन पृष्ठभूमि को नवीन सूचनाओं से विशेष आलोकित करते हैं। इतिहासकारों द्वारा प्रदत्त अनेक संकेतपरक संभावनाओं का इनसे विशदीकरण हुआ है तो अनेक आन्त धारणाएं निरस्त भी हुई हैं।

चतुर्थ अध्याय

अर्थव्यवस्था एवं उद्योग-व्यवसाय

१. अर्थव्यवस्था

आर्थिक संस्था तथा अर्थव्यवस्था

अन्य व्यवस्थाओं के समान आर्थिक व्यवस्था भी समाज की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है। आर्थिक संस्थाओं की उत्पत्ति के विषय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'आगबर्न' तथा 'निमकोफ' ने कहा है कि 'भोजन' तथा 'सम्पत्ति' विषयक मानवीय क्रियाओं ने आर्थिक संस्थाओं को जन्म दिया है।^१ मानव समाज की आद्यावस्था भौतिक दृष्टिकोण से उतनी व्यवस्थित एवं परिपूर्ण नहीं कही जा सकती है जितनी आज है। कुछ समाज शास्त्रियों की यह धारणा है कि आदिम युग में भूमि आदि 'सम्पत्ति' पर सामुदायिक अधिकार होता था। शिकारी तथा पशुपालन अर्थव्यवस्था की इस प्रारम्भिकावस्था में लगभग आधे से अधिक मानव जातियों में सामुदायिक स्वामित्व की अर्थव्यवस्था प्रचलित थी। किन्तु दूसरी शिकारी तथा पशुपालक जातियों की भूमि स्वामित्व की इकायाँ छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त थीं। इन अर्थव्यवस्थाओं में 'सम्पत्ति' अधिकार का विकेन्द्रीकरण अत्यधिक मात्रा में होता था। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति अपने भाई की भूमि पर बिना उसकी अनुमति के शिकार नहीं कर सकता था और यदि शिकार किसी मित्र के क्षेत्र में भी हो जाता था तो उस भूमि का स्वामी शिकार के मांस का एक भाग लेने का हकदार था।^२ इन समाजों में भूमि का हस्तान्तरण कुटुम्ब के प्रौढ़ व्यक्तियों के बिना नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार आदिम युगीन आर्थिक व्यवस्थाएं अर्धविकसित व्यवस्थाएं रही थीं।^३

१. 'The activities of man in relation to food and property constitute the economic institution.'

—Ogburn, W.F., & Nimkolf, M.F., A hand Book of Sociology, p. 375

२. Lowie, Robert, M., Primitive Society, New York, 1920, p. 214

३. वही, पृ० २१३

दूसरे प्रकार की 'सामन्तवादी' अर्थव्यवस्था स्वरूप से यद्यपि सामूहिक नहीं समझी जाती है किन्तु सिद्धान्ततः ऐसी ही है। 'सामन्तवादी' अर्थव्यवस्था सिद्धान्ततः यह स्वीकार करती है कि भूमि पर स्वामित्व राज्य अथवा राजा का होता है। राजा 'भू-सम्पत्ति' का अधिकार महत्त्वपूर्ण अथवा घनी व्यक्तियों को सौंपता है तथा पुनः ये भी किसी दूसरी सेवा आदि के बदले में भूमि छोटे लोगों को प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार 'सामन्तवादी' अर्थ व्यवस्था 'समतावादी' अर्थ व्यवस्था यद्यपि नहीं है किन्तु सामूहिक अवश्य है।^१ इस अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक दोष तब उत्पन्न होता है जब केन्द्रीय शासन निर्बल रहता है। केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर सामन्त अपने क्षेत्र में पूर्णतः स्वतन्त्र बन बैठते हैं तथा समग्र सम्पत्ति का उपभोग भी उन्हीं तक सीमित हो जाता है। यूरोप की मध्यकालीन अर्थव्यवस्था इसी प्रकार की थी।

पुरातन समाजों में 'सामन्तवादो' प्रथा का विशेष प्रचलन अमेरिका में देखा जाता है। उदाहरणार्थ धोंगा जनजाति में बादशाह लगान लेकर 'भू-सम्पत्ति' बड़े-बड़े व्यक्तियों में बाँट देता था। तदनन्तर ये इस भूमि को किसानों में बाँटकर लगान वसूल करते थे। भारत की जमींदारी प्रथा भी इसी अर्थव्यवस्था से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।^२

'आर्थिक संस्था' तथा भारतीय आर्थिक विचारक—

कृषि आदि व्यवसायों के अस्तित्व में न आ पाने के कारण पहले पहले मानव समाज 'धन' की व्यक्तिगत भावना से अछूता रहा था। किन्तु जैसे-जैसे उत्पादन के क्षेत्र में उन्नति होती गई मनुष्य व्यक्तिगत 'श्रम' के आधार पर व्यक्तिगत 'धन' के प्रति भी सजग होता गया।^३ प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम युग वैदिक-युग में ही कृषि उत्पादन, पशु पालन आदि महत्त्वपूर्ण उद्योग-व्यवसाय अस्तित्व में आ गए थे।^४ इसी युग में व्यक्ति 'धन' के स्वत्व की भावना से भी पूर्णतः अनुप्राणित हो चुका था।^५ वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवताओं से धन, पुत्र, गृह आदि वस्तुओं की याचना की जाती थी।^६

१. किंगले डेविस, मानव समाज, पृ० ३६६

२. वही, पृ० ३६६

३. Roucek, Social Control, p. 348

४. Mitra, Priti, Life and Society in the Vedic Age, Calcutta, 1966, p. 72-73

५. ऋग्वेद ४.२.५; १०.११७.५

६. वही, ७.५४.१; ६.७.६

इसी प्रकार यत्र-तत्र वेदों में ही दूसरे के धन का लालच न करने का उपदेश दिया गया है ।^१ 'कर्म' करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की धारणा भी आर्थिक दृष्टि से 'श्रम' के महत्त्व पर ही प्रकाश डालती है ।^२ ऋग्वेद आदि में उपलब्ध 'स्तेन' तथा 'तस्कर' आदि के उल्लेख यह सिद्ध कर देते हैं कि समाज में कुछ ऐसे तत्त्व भी अस्तित्व में आ चुके थे जो 'धन' की लालसा के कारण दूसरे व्यक्तियों के 'श्रम' से अर्जित वस्तुओं से 'उपभोग' करना चाहते थे ।^३

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के संस्थागत विकास की दृष्टि से अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, महाभारत का शान्तिपर्व, कामन्दक-नीतिसार आदि ग्रन्थों का विशेष महत्त्व रहा है ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'श्रम' को पूँजी प्राप्ति का प्रमुख कारण माना गया है ।^४ इसी प्रकार शासनतन्त्रीय आर्थिक नीति-निर्धारण के सन्दर्भ में कौटिल्य ने राष्ट्र के सभी कार्य 'कोष' पर अवलम्बित मानते हुए इसके महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है ।^५ महाभारत में ही 'वात्ता' अर्थात् कृषि, वाणिज्य तथा पशु-पालन^६ को आर्थिक उन्नति का मूल कारण स्वीकार किया गया है ।^७

मनु ने ग्रामों को आर्थिक उत्पादन के मूल स्रोत के रूप में स्वीकार करते हुए 'राष्ट्र' सङ्गठन के अन्तर्गत 'ग्राम' सङ्गठन की आवश्यकता पर ही बल नहीं दिया अपितु इन ग्रामों में रक्षकों की नियुक्ति के महत्त्व को भी आवश्यक रूप से स्वीकार किया है ।^८ आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से 'उत्पादन' के समान ही 'वितरण'

१. मा गृधः कस्य म्विद् धनम् ।—ईशावास्योपनिषद्-१

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।—वही, २

३. सत्यवत शास्त्री, 'संस्कृते पर्यायवाचिनः शब्दाः', (निबन्ध), 'परमेश्वरानन्द-शास्त्रि-स्मृतिग्रन्थः', प्रधान सम्पा०—पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, नई दिल्ली १९७३, पृ० ६०

४. अर्थस्य मूलं उत्थानम् ।—अर्थ०, १.१६.४०

५. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः ।—वही, २.८.१, तथा कोषमूलो हि दण्डः ।

— वही, ८.१.४७

६. अच्युतानन्द घिल्डियाल, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक, वाराणसी, १९७३, पृ० १४२

७. वात्तामूलो ह्ययं लोकः ।—महा० शान्ति०, ६८.३५, तथा कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।—वही, ८६.७

८. मनु०, ७.११३-१४

का भी महत्त्व रहता है। 'वितरण' के अन्तर्गत मुख्यस्थित रूप से व्यापारिक गतिविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना भी अत्यावश्यक है। मनु ने व्यापारिक शुल्क को एकत्र करने,^१ मुनाफाखोरों को दण्ड देने^२ तथा माप तौल की दृष्टि से बेईमानी करने वाले व्यापारियों के लिए कठोर दण्डों का भी विशेष विधान किया है।^३ राजा को व्यापारियों के 'योगक्षेम' अर्थात् हानि-लाभ के प्रति सतर्क रहने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।^४ इस प्रकार भारतीय विचारक 'अर्थव्यवस्था' के प्रशासकीय पक्षों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

सम्पत्ति उपभोग और जैन परम्परागत 'नवनिधियाँ'

'सम्पत्ति' की अवधारणा उसके उपभोग की प्रवृत्तियों से मूल्याङ्कित की जाती है। इस दृष्टि से जैन महाकाव्यों में परम्परागत नवनिधियों^५ का वर्णन तत्कालीन समाज की उपभोगपरक प्रवृत्तियों को विशद करता है। धन, सम्पत्ति, खनिज पदार्थ, भोज्य एवं पेय वस्तुएँ ही 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं थी अपितु विविध प्रकार की भोग-विलासितापूर्ण सामग्रियाँ, रत्न-आभूषण, युद्धोपयोगी आयुध आदि भी 'निधि' की अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते थे। एक आदर्श राजा के सन्दर्भ में इन नवनिधियों की स्थिति इस प्रकार मानी गई है—

१. नैसर्ग निधि^६—विशाल भवन, नगर, ग्राम आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। चन्द्रप्रभचरित तथा वर्धमान चरित में शय्या से सम्बन्धित तकिया, रजाई, पलङ्ग तथा आसनादि वस्तुओं को भी परिगणित किया गया है।^७ पद्मा० महाकाव्य में विभिन्न प्रकार के नगरों तथा ग्रामों के स्वामित्व को राज्य वैभव के रूप में स्वीकार किया गया है।^८ यही कारण है कि पारस्परिक राज्य सम्बन्धों को मधुर बनाने के लिए नगर-ग्राम आदि दान में भी दिए जाते थे।^९ त्रि० श० पु० में दान तथा गृह

१. शुल्कस्थानेषु कुशलः सर्वपण्यविचक्षणाः।—मनु०, ८.३६८

२. वही, ८.४०१

३. वही, ८.४०३

४. महा० शान्ति०, ८६.२३; मनु०, ८.४०१

५. वराङ्ग०, २८.३४, चन्द्र०, ७.१८-२७, वर्ध०, १४.२५

६. चन्द्र०, ७.२६, वर्ध०, १४.२६

७. चन्द्र०, ७.२६

८. पद्मा०, १६.१६२-२००

९. वराङ्ग०, १६.२१ तथा १६.५७

दान की भी विशेष प्रशंसा की गई है।^१ संक्षेप में राजसी ऐश्वर्य भोग का मूल्य इस विधि से संकेतित है।

२. पाण्डुकनिधि^२—इस निधि के अन्तर्गत, गेहूँ, चावल, जौ, चना आदि अन्न परिगणित हैं।^३ कृषिपरक उत्पादन से सम्बन्धित सम्पत्ति 'पाण्डुकनिधि' कहलाती थी।

३. पिंगलनिधि^४—इस निधि के अन्तर्गत स्त्रियों तथा पुरुषों के विभिन्न प्रकार के आभूषणों की स्थिति स्वीकार की जाती है।^५ कुण्डल, चन्द्रहार, मणि-मेखला आदि विभिन्न प्रकार के रत्न समूहों से निर्मित आभूषण इसमें परिगणित किए गए हैं।^६ सौन्दर्यप्रसाधन एवं साजसज्जा के उपभोग परक मूल्य का यह निधि प्रतिनिधित्व करती है।

४. पद्मनिधि^७—इस निधि के अन्तर्गत विविध प्रकार के वस्त्र आते हैं।^८ रत्नकम्बल भी इसी में परिगणित है।^९ वस्त्रादिक सम्पत्ति की अवधारणा 'पद्मनिधि' से संपुष्ट होती है।

५. महातालनिधि^{१०}—इसके अन्तर्गत सोने, चाँदी, शीशे, लोहे आदि धातुओं के बर्तन परिगणित हैं।^{११} धातुपरक बहुमूल्य वस्तुओं का इस निधि से सम्बन्ध है।

६. शंखनिधि^{१२}—विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र इस निधि के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।^{१३} सङ्गीत आदि ललित कलाओं के वैभव की ओर यह निधि इङ्गित करती है।

१. त्रिशष्टि०, ३.७.१५८-५९
२. चन्द्र०, ७.१९, वर्ध०, १४.२७
३. वर्ध०, १४.२७
४. चन्द्र०, ७.२०, वर्ध०, १४.२८
५. वर्ध०, १४.२८
६. चन्द्र०, ७.२०
७. चन्द्र०, ७.२३, वर्ध०, १४.३२
८. चन्द्र०, ७.२३
९. वर्ध०, १४.३२
१०. चन्द्र०, ७.२४, वर्ध०, १४.३०
११. चन्द्र०, ७.८४
१२. चन्द्र०, ७.२२, वर्ध० १४.३१
१३. वर्ध०, १४.३१

७. **माणवनिधि**^१—युद्ध की दृष्टि से उपयोगी शस्त्रास्त्र इस निधि में आते हैं। इनमें पाश, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति आदि आयुध उल्लेखनीय हैं।^२ सामरिक महत्त्व की दृष्टि से आयुध आदि भी सम्पत्ति की अवधारणा के प्रमुख अङ्ग रहे थे।

८. **कालनिधि**^३—प्राकृतिक सौन्दर्योपेत वस्तुओं का इस निधि में परिगणन हुआ है। वृक्ष, गुल्म, लता, वनस्पति, फल-फल आदि वस्तुएं इसमें आती हैं।^४ प्राकृतिक वैभव की सम्पन्नता भी 'उपभोग' परक मूल्य से जुड़ चुकी थी।

९. **सर्वरत्ननिधि**^५—यह निधि समस्त मनुष्यों के लिए मनोवांछित वस्तु को उत्पन्न करती है तथा यह सम्पत्ति के अधिकाधिक भोग समग्रता के मूल्य से अनुप्रेरित रखी थी।

चतुर्दश रत्न

नवनिधियों के समान ही जैन महाकाव्यों में चतुर्दश रत्नों की मान्यता भी राज्य के सन्दर्भ में घन सम्पत्ति के तुल्य ही परमोपकारी स्वीकार की जाती थी।^६ चन्द्रप्रभविरत्न के अनुसार ये चौदह रत्न हैं—(१) गृहपति, (२) सेनापति, (३) पुरोहित (४) शिल्पी, (५) गज, (६) अश्व, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) दण्ड, (१०) छत्र, (११) अग्नि, (१२) वृद्धामणि, (१३) चर्म तथा (१४) कांकिणि उपर्युक्त चौदह रत्नों में प्रथम सात रत्न चेतन और अन्तिम सात अचेतन माने जाते हैं।^७

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप

आत्म-निर्भर आर्थिक इकाइयाँ—मध्यकालीन भारत की आर्थिक दशा आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों से प्रभावित रही थी।^८ राजनैतिक अस्थिरता तथा सम्पूर्ण राष्ट्र का छोड़े-छोटे खण्डों में विभाजित होने के कारण इस युग के आर्थिक

१. चन्द्र०, ७.२५, वर्ष०, १४.३३

२. चन्द्र०, ७.२५

३. चन्द्र०, ७.२१, वर्ष०, १४.२६

४. चन्द्र०, ७.२५

५. चन्द्र०, ७.२७, वर्ष० १४.३४

६. वराह्म०, २८.३४, चन्द्र०, ७.१७, पद्मा०, ६.१५१

७. चन्द्र०, ७.१-१६

८. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० ६७

उत्पादन का ढाँचा व्यापक न होकर सीमित रहा था। विभिन्न सामन्त राजाओं के अधीन आने वाली आर्थिक इकाइयाँ अपने-अपने क्षेत्रों के भरण-पोषण तक सीमित थीं। अन्न आदि उत्पादन करने वाले ग्रामों के कृषक 'कृषि-दासत्व' (सर्फडम) प्रथा से पूर्णतया प्रभावित थे—'इस प्रथा के अधीन किसान भूमि से बंधे होते थे और भूमि के मालिक वे जमींदार होते थे जो असली काश्तकारों और राजा के बीच की कड़ी का काम करते थे। किसान जमीन जोतने के बदले सामन्तों को उपज और बैठ-बेगार के रूप में लगान अदा करते थे। इस प्रणाली का आधार आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था थी, जिसमें चीजों का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए नहीं, बल्कि मुख्यतः स्थानीय किसानों और उनके मालिकों के उपयोग के लिए होता था।'^१

भूमिदान—उपर्युक्त मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को भारत के राजाओं के भूमिदानों ने विशेष प्रभावित किया है।^२ इस प्रथा का प्रारम्भिक स्वरूप महाभारत के 'अनुशासन पर्व' के 'भूमि-दान प्रशंसा' में भी देखा जा सकता है।^३ अभिलेखीय साक्ष्य की दृष्टि से 'भूमिदान' का उल्लेख करने वाला प्रथम-शताब्दी ईस्वी का सातवाहन अभिलेख इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रमाण माना गया है।^४ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि वैदिक काल^५ तथा सूत्रकाल^६ में भूमि को मातृतुल्य माने जाने के कारण उसके दान को नैतिक दृष्टि से अनुचित माना जाता था।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में मध्यकालीन अर्थ-चेतना

इस प्रकार भूमि दानों की परम्परा ईस्वी की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ होकर आलोच्य काल तक उत्तरोत्तर विकसित होती रही थी। मध्यकालीन सामन्त-वादी राजनैतिक व्यवस्था ने 'भूमिदान' प्रथा को विशेष प्रोत्साहित किया है। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर शक्तिशाली राजा अधिकाधिक 'भूमि' के स्वामी होने की लालसा रखते थे।^७ इस कारण अनेक निर्बल सामन्त राजा अपने अधिकार में आने वाले पुरों अथवा ग्रामों को उपहार के रूप में देकर

१. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० १-२
२. अत्लामा अबदुल्लाह यूसुफ अली, मध्यकालीन भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था, प्रयाग, १९२९, पृ० ५१
३. शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० २
४. वही, पृ० २ तथा सु० Sircar, D.C., Select inscription, p. 188
५. अथर्ववेद, १२.१.१० तथा शतपथ०, १३.७.७-१५
६. मीमांसासूत्र, ६.७.३ तथा शबरभाष्य
७. वराह्म०, १६.१७ तथा चन्द्र०, १२.३१

किसी भी शक्तिशाली सामन्त राजा से मित्रता जोड़ सकते थे।^१ वराह्मचरित महाकाव्य में निर्भय राज्य करने तथा युद्ध से बचने के लिए देशादि भूमि को उपहार के रूप में देने का उल्लेख भी आया है।^२ हम्मीर महाकाव्य में अलाउद्दीन द्वारा भूमि मांगने का यद्यपि उल्लेख नहीं आया है किन्तु अनेक हाथी घोड़े तथा स्वर्ण मुद्राओं की उसने भी मांग रखी थी।^३ इसी प्रकार उत्सव-महोत्सवों तथा दहेज आदि देने के अवसरों पर भी अनेक पुर, राष्ट्र, ग्राम आदि के उपहार अथवा दान देने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।^४ 'पृथ्वी',^५ 'वसुधा',^६ 'मही',^७ 'भूमि',^८ 'क्षिति',^९ आदि भूमि वाचक विशेषण राजा के भू-स्वामित्व वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हैं। तथा 'भूमि' से अनुप्राणित तत्कालीन सामन्तवादी अर्थ चेतना के मौलिक स्वरूप का भी उद्घाटन कर देते हैं। वराह्मचरित^{१०} चन्द्रप्रभचरित^{११} आदि महाकाव्यों में 'वसुधा-उपभोग' की धारणा स्पष्ट रूप से उभर कर आई है। इसी प्रकार भरत चक्रवर्ती के घन-ऐश्वर्य की चर्चा के अवसर पर जनपद, ग्राम, पुर, मडम्ब, खेटादि भूमि-इकाइयों के स्वामी होने की भी चर्चा को भी विशेष महत्त्व दिया गया है।^{१२}

१. धनेन देशेन पुरेण साम्ना रत्नेन वा स्वेन गजेन वापि।

स येन येनेच्छति तेन तेन संदेय एवेति जगौ मुनीतिः॥

—वराह्म०, १६.५७

२. वही, १६.५७

३. हम्मीर०, ११.६०

४. वराह्म०, ११.६७, १६.२१

५. चन्द्र०, ६.४०, पदमा०, १.७१

६. वराह्म०, ११.५७, २२.१

७. वराह्म०, २.३२, ३१.११३

८. वराह्म०, ११.६४.६७. १४.८३

९. वराह्म०, २०.२७, २६.६२, जयन्त०, ७.५८

१०. वराह्म०, २१.७५

११. तु०—राया प्रभुशक्तिसंदा परिरक्षन्सकला वसुधराम्।

नयति प्रथितं यथार्थंतां पृथिवीपाल इति स्वनाम यः॥

—चन्द्र०, १२.३, तथा

तु०—तनु खड्गबलेन मुउयते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनः॥

—चन्द्र०, १२.३१ तथा, जयन्त०, ६.७३

१२. पदमा०, १६.१६२-२००

हेमचन्द्र ने भी भूमिदान महात्म्य को स्वीकार किया है।^१

भू-स्वामित्व का हस्तान्तरण तथा विकेन्द्रीकरण

ग्राम आदि भूमिदानों से भूमि के हस्तान्तरणीय वैशिष्ट्य पर भी जैन महाकाव्य महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। कृषि-दास प्रथा के कारण किसानों द्वारा जोती जाने वाली भूमि के वास्तविक स्वामी किसान नहीं रहे थे और न ही किसान का भूमि पर किसी प्रकार का वैधानिक अधिकार ही पहुँच पाता था।^२ भूमि सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध में दो प्रकार की विशेषताएँ दृष्टिपथ में आती हैं। एक विशेषता जिसके अनुसार राजा ब्राह्मण आदि जातियों को 'अग्रहार' नामक ग्राम दान के रूप में देते थे।^३ दूसरी विशेषता यह रही थी कि प्रायः राजा दूसरे सामन्त राजाओं से भी ग्राम-नगर आदि दान में लेते थे।^४ स्वाभाविक ही है कि इस दान में दिये गये ग्रामों के स्वामित्व का अधिकार हस्तान्तरणीय रहा होगा तथा इन ग्रामों के खेतों आदि में कार्य करने वाले कृषक आदि एक प्रकार से राजा आदि के अधीन हो जाते थे।^५ किन्तु कृषकों की यह अधीनता प्रत्यक्ष रूपेण राजा से प्रभावित न होकर ग्राम के जमींदारों, ग्राम-प्रधानों अथवा ग्रामाधीशों के माध्यम से अनुशासित थी।^६ इन परिस्थितियों के सन्दर्भ में ग्रामों के 'विकेन्द्रीकरण' की

१. तु०—कन्यादानं महीदानं प्रदानमयसामपि ।

तिलदानं कार्पासदानं दानं भवामपि ॥

—त्रिषष्टि०, ३.७.१५८

तथा० तु०—वराङ्ग०, ७.३४

२. शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ०, १५

३. Thapar, Romila, A History at India, I, p. 176

४. वराङ्ग०, ११.६७

५. नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३६०

६. 'The tendency from the seventh century onwards of granting land in lieu of cash salaries intensified the feudal process. The work of cultivation was carried out by peasants, generally Shudras, who in effect were almost tied to the land and who handed over as fixed share of their assigned land to cultivators from whom they collected the revenue agreed upon. Part of the revenue from the land they sent to the King. Out of the vassal he was expected to maintain the feudal levies which,

प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला जा सकता है। जैन संस्कृत महाकाव्यों के निम्नलिखित उल्लेख भू-स्वामित्व के 'हस्तान्तरणीय' तथा 'विकेन्द्रीकरण' सम्बन्धी विशेषताओं की पुष्टि करते हैं तथा मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के सामन्तवादी ढाँचे को विशद करने में उपयोगी प्रकाश डालते हैं—

१. वराह्मचरित महाकाव्य में राजाओं को अनेक पुर, राष्ट्र आदि के उपहार के रूप में प्राप्त होने के संकेत प्राप्त होते हैं।^१ इसी प्रकार दहेज आदि के अवसर पर भी राजकुमार को सैकड़ों ग्राम दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं।^२

२. वराह्मचरित में ही आनर्तपुर की पुनः स्थापना के उपरान्त राजा द्वारा नगर के समीपस्थ प्रदेशों में कृषि तथा पशु-पालक-ग्रामों आदि के बसाने का उल्लेख आया है।^३ आदिपुराण के सन्दर्भ में गाँव बसाना, बेगार लेना, जनता से राजस्व वसूल करना राजा के शासकीय दायित्व स्वीकार किए गये हैं।^४ वराह्मचरित में राजा को ग्रामों का 'भोक्ता' भी कहा गया है।^५

३. पद्मानन्द महाकाव्य में भी नगर-भेदक विभिन्न प्रकार की इकाइयों के अन्तर्गत आने वाले कृषि आदि ग्रामों के शासकत्व के रूप में राजा की प्रशंसा की गई है।^६

underlying his oath of loyalty to his king, he was in duty bound to furnish for the king's service. To break his oath was regarded as a heinous offence'.

—Thapar, Romila, A History of India, 1, p. 242

१. तु०—पुराणि राष्ट्राणि च पत्तनानि...समर्पयद्भूमिपतिः सुताय ।

—वराह्म०, ११.६७

तथा —धनेन देशेन पुरेण साम्ना...संदेय एवेति जगौ सुनीतिः ॥

—वराह्म०, १६.५७

२. तु०—ग्रामाः शतेन प्रहृताः । —वही, १६.२१

धनेन देशेन पुरेण साम्ना । —वही; १६.५७

३. वराह्म०, २१.४१-४८

४. नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३६०

५. तु०—नाथोऽयमस्माकमसौ क्षितीशो भुनक्त्ययं ग्रामसहस्रमेकम् ।

—वराह्म०, ८.५०

६. पद्मा०, १६.१६२-२००

ग्रामाधीशों^१ तथा गोष्ठमहत्तरो^२ द्वारा राजाओं का स्वागत करने तथा सम्पत्तियों को राजा को भेंट करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ये 'ग्रामाधीश' तथा 'गोष्ठमहत्तर' राजाओं तथा कृषकों आदि के मध्य रहने वाले वे लोग थे जो कृषकों द्वारा किए गए उत्पादन पर नियन्त्रण रखते थे तथा उसके बदले राजा को धन आदि देकर प्रसन्न भी करते थे।^३

५. हेमचन्द्र ने 'कुटुम्बी' कृषकों को सामन्त राजाओं के तुल्य कर देने वाले तथा अधीन रहने वाले कहा है।^४ हेमचन्द्र द्वारा 'कुटुम्बी' शब्द का प्रयोग सम्भवतः साधारण कृषक से न होकर जमींदार-कृषकों अथवा 'ग्रामाधीश' के समकक्ष रहा था। क्योंकि राजा की आगमानी करने का कार्य साधारण किसान नहीं अपितु किसानों के मुखिया आदि ही करते थे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'कृषक' का पर्यायवाची शब्द 'कुटुम्बी' प्रशासकीय अधिकार सम्पन्न 'ग्रामाधीश' के अर्थ में रूढ़ हो गया था।^५

सामन्ती ढाँचे के सम्बन्ध में श्रेणिगण-प्रधान

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों के काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी तथा कर्मकार अपने-अपने श्रेणि-प्रधानों के आधिपत्य से जीविकोपार्जन करते थे। राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में भी इन विविध श्रेणियों के प्रधानों की

१. तु०—मलेच्छा मडम्बनगरग्रामादीनामधीश्वराः ।

तं तत्रेयुः सर्वतोऽपि पाशाकुष्टा इव द्रुतम् ॥
भूषणानि विचित्राणि रत्नानि वासनानि च ।
रजतं च सुवर्णं तुरङ्गान् कुञ्जरानपि ॥
स्यन्दनान्यन्यदपि यत् प्रकृष्टं वस्तुकिञ्चन ।
सेनान्ये तदुपनिन्युन्यासापितमिवाऽथ ते ॥

—त्रिषष्टि०, २.४-१७०-७२

२. रुचिररत्नकराजितविग्रहैर्विहित संभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।

पथि पुरोदक्षिसपरुषायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥

—चन्द्र०, १३.४१

३. Thapar, A History of India, I, p. 242.

४. कुटुम्बिका इव वयं करदा वशगाश्च वः ।

स्थास्यामोऽनेति सेनान्यं ते बद्धाञ्जलयोऽवदन् ॥

—त्रिषष्टि०, २.४.१७३ तथा

कुटुम्बिनः पत्तयो वा, सामन्ता वा स्वदानया ।

अतः परं भविष्यामस्त्वदधीना हि नः स्थितिः ॥

—वही, २.४.२४०

५. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १२४-४२

महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।^१ राज्य के विभिन्न उत्सव-महोत्सवों में 'श्रेणिगण' के प्रधान ही सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे।^२ राज्याभिषेक विवाह आदि अवसरों पर 'श्रेणिगण' के प्रधानों द्वारा विभिन्न प्रकार के माङ्गलिक कार्य भी सम्पादित किए जाते थे।^३ इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि राजाओं ने इन 'श्रेणिगण' प्रधानों को राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दे रखा था तथा इन्हीं के माध्यम से वे राज्य के सम्पूर्ण शिल्प आदि व्यवसायों को भी नियन्त्रित किए हुए थे। कृषि-ग्रामों के समान ही शिल्प-व्यवसाय भी विकेन्द्रीकरण की नीति से प्रभावित हो चुके थे। तत्कालीन शिल्प सम्बन्धी भवनविन्यास, मूर्तिकला आदि के ऐश्वर्य-वैभव को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्प-व्यवसाय अत्यधिक प्रगति पर था।^४ इसी उद्देश्य से राजाओं ने आर्थिक व्यवस्था को सन्तुलित बनाए रखने के लिए शिल्पियों को 'श्रेणियों' के माध्यम से पूर्णतः नियन्त्रित कर रखा था।^५ शिल्प सम्बन्धी व्यवसायियों के हस्तान्तरण की ओर संकेत करते हुए वराङ्गचरित में अनेक शिल्पियों को वहेज के रूप में देने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।^६ पद्मानन्द महाकाव्य में राज्य के सन्दर्भ में 'कुम्भकार', 'तक्षक' (बढ़ई) 'चित्रक' (चित्रकार), 'कुविन्द' (जुलाहा), तथा 'नापित' (नाई)—पाँच शिल्पियों की विशेष रूप से चर्चा की गई है।^७ चतुर्दश रत्नों

१. श्रेणिप्रधानेश्वरमन्त्रिमुख्यास्तौ रत्नापायां प्रीतिमुखा बभूवुः ।

—वराङ्ग०, १६.१६ तथा

अष्टादशश्रेणिगणप्रधाना बहुप्रकारैर्मणिरत्नमिश्रैः ।

गन्धोदकैश्चन्दनवारिभिश्च पादाभिषेकं प्रथमं प्रचक्रुः ।

—वही, ११.६३

२. वही, १६.२५

३. वही, ११.६३, १६.१६

४. सुशिल्पिनिर्मापितरम्यशालं मृदङ्गगीतध्वनितुङ्गशालम् ।

वन्दाहृदिष्यस्तुतिपूरिताशं बभूव तच्चैत्यगृहं विशालम् ॥

—वही, २२.५६

५. अष्टादशश्रेणिगणप्रधानैरष्टादशान्येव दिनानि तत्र ।

कश्चिद्भटस्यावनिपात्मजायाश्चक्रे विभूतिं महतीं महद्भिः ॥

—वही, १६.२५

६. सुशिल्पिनः कर्मकरा विनीता दत्तानि पित्रा विधिवददुहित्रे ।

—वही, १६.२२

७. तेनिते तदनु कुम्भकारकाः । —पद्मा०, ५१०.७२, तथा तु०—

तक्षचित्रककुविन्दनापितानातनोदिति स पञ्चशिल्पिनः ।

स्वाम्यमी तु शतधाऽभवन् यतो विंशति प्रकृतिरेक एककः ॥

—वही, १०.७३

में 'शिल्पी रत्न' का उल्लेख भी इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।^१ इस प्रकार कुंघि आदि उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों के अतिरिक्त शिल्प आदि व्यवसाय भी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से विशेष रूप से प्रभावित थे।

अग्रहार ग्रामों में शिल्पी आदि जातियों के पुनर्वास पर प्रतिबन्ध

भूमिदान तथा ग्रामदान से सम्बन्धित आर्थिक व्यवस्था में 'अग्रहार' ग्रामों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। 'अग्रहार' नामक ग्राम राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिए गए वे ग्राम थे जिनका संरक्षण राजा के अधीन ही होता था।^२ सातवीं-आठवीं शताब्दी के समुद्रगुप्त के नाम से जाली तौर पर जारी किए गए दो ताम्रपत्रों^३ से विदित होता है कि इन गाँवों में दूसरे किसी गाँव के किसानों तथा शिल्पियों को बसाने पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था।^४ शर्मा महोदय की मान्यता है कि इन 'अग्रहार' ग्रामों में बिना कर दिये भी रहा जा सकता था अतएव अनेक किसान तथा शिल्पी कर से बचने के लिए इन गाँवों में शरण लेना चाहते थे।^५ इसी प्रकार अनेक देशों के शिल्पी नगरों में आकर जीवन-यापन करना अधिक पसन्द करते थे।^६ आठवीं शताब्दी के बराह्मचरित में भी शिल्पियों द्वारा समृद्ध नगर में वास करने के उल्लेख मिलते हैं।^७ इन तथ्यों से इतना स्पष्ट होता है कि निम्नवर्ग की कृषक-शिल्पी आदि जातियाँ ऐसे नगरों अथवा ग्रामों में जाकर रहना पसन्द करती थीं जहाँ उन्हें जीविकोपार्जन के अधिक अवसर मिल सकें। किन्तु अर्थव्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के भय से कृषकों तथा शिल्पियों के स्वेच्छा से स्थानान्तरण पर प्रतिबन्ध भी लगाया जाता था।^८

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६४

२. Thapar, Romila, A History of India, Pt. I, p. 176

३. Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum, No. 60, p. 254

४. शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० ६६

५. वही, पृ० ६६

६. तु०—देशान्विहाय हि पुराण्युषितान्कलजाः शिल्पावदातिमत्यश्च नटा विटाश्च ।
—बराह्म०, १.२८

७. तु०—पाषण्डिशिल्पबहुवर्जनगतिर्कीर्णम् ।

—बराह्म०, १.४४

८. शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० ६६

उद्योग व्यवसायों का आर्थिक ढाँचा—

वर्ण-व्यवस्था के आधार पर आर्थिक विभाजन

प्राचीनकाल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था से समाज की आर्थिक स्थिति मुख्यतया प्रभावित रहती आयी है। उत्पादन, वितरण तथा विनिमय जैसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे थे। हिन्दू धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णों के अनुसार ही सामाजिक उद्योग एवं व्यवसाय विभाजित कर दिए गए थे।^१ जैन समाज व्यवस्थापकों ने भी आलोच्य काल में वर्ण-व्यवस्थानुसारी विभाजन के औचित्य को स्वीकार कर लिया था। आदिपुराणकार के समय में वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू धर्मशास्त्रीय पद्धति से निरूपित किया जाने लगा था।^२ इस विभाजन में धार्मिक भावना की अपेक्षा आर्थिक नीतियों का अधिक आग्रह था। उदाहरणार्थ वृषभदेव ने ब्राह्मणों के लिए पढ़ना, पढ़ाना, दान लेना, पूजा करना, तथा यज्ञानुष्ठान सम्पादित करने आदि कार्यों का उपदेश दिया।^३ क्षत्रियों के लिए शस्त्रविद्या एवं युद्ध विद्या की शिक्षा देते हुए शस्त्र-जीवी व्यवसाय (सैन्य व्यवसाय) का विधान किया।^४ वैश्यों के लिए जल-स्थलीय व्यापार विधियों का उपदेश दिया।^५ शूद्रों के लिए दैन्य वृत्ति में तत्पर रहते हुए उत्तम वर्णों की सेवा-शुश्रूषा करने का विधान किया।^६ ६वीं शताब्दी में रचित आदिपुराणोक्त वर्ण-व्यवस्थानुसारी व्यवसाय विभाजन की मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रीय साहित्य से तुलना करने पर द्योतित होता है कि इस युग में आर्थिक व्यवस्था में किसी प्रकार का मौलिक अन्तर नहीं रह गया था। बदली हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में अब ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म के लिए, क्षत्रिय युद्धादि कर्म के लिए, वैश्य वाणिज्यादि कर्म के लिए, शूद्र कृषि आदि के लिए आनुवंशिक अधिकार रखते थे। पद्मानन्द के अनुसार ब्राह्मण 'शास्त्र-जीवी', क्षत्रिय 'शस्त्रजीवी' तथा वैश्य एवं शूद्र 'कला-कौशल-जीवी' के रूप में वर्णित किए गए हैं।^७ इस प्रकार १२वीं-१३वीं शताब्दी तक आर्थिक व्यवसाय मुख्यतः तीन भागों में विभक्त हो चुके थे—१. अध्यापन तथा शास्त्रपरक व्यवसाय—जिसके अन्तर्गत पौरोहित्य कर्म, विविध प्रकार की उच्च विद्याओं का शास्त्रीय ज्ञान आदि

१. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १०६-१८

२. आदि०, ३८.४५-४६

३. वही, १६.२४६-४८

४. वही, १६.२४३

५. वही, १६.२४४

६. वही, १६.२४५

७. तु०—शास्त्रैकजीविनो विप्राः क्षत्रियाः शस्त्रजीविनः ।

भवन्ति वैश्याः शूद्राश्च कलाकौशलजीविनः ॥

—पद्मा० ७.५३

सम्मिलित था । २. सैन्य व्यवसाय—जिसमें युद्ध कला में पारङ्गत होना, राजकुमारों को युद्धादि विद्याओं की शिक्षा देना, सेना में भरती होकर जीविकोपार्जन करना आदि प्रमुख था । ३. कला-कौशल सम्बन्धी व्यवसाय—जिसमें वाणिज्य, शिल्प, कृषि, पशुपालन आदि उद्योग एवं व्यवसाय सम्मिलित थे । इनमें से भी वैश्य वर्ग वाणिज्य कर्म, तथा अन्य जातियों के लोग कृषि, पशुपालन तथा अन्य तकनीकी शिल्प-कौशल द्वारा जीवन निर्वाह करते थे ।^१

कुल-परम्परागत व्यवसाय चयन पर बल

प्रालोच्य युग में वर्णव्यवस्था के अनुरूप व्यवसाय चयन पर विशेष बल दिया जाने लगा था ।^२ अपने वर्ण द्वारा निश्चित व्यवसाय को छोड़कर दूसरे वर्ण के व्यवसाय को अपनाने वाले व्यक्ति को राजा द्वारा दण्डनीय भी माना जाता था ।^३ समाज व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा वर्ण-संकीर्णता पर कुछ सीमा तक प्रतिबन्ध लगाने के लिए ऐसा करना आवश्यक भी हो गया था ।^४ पद्मानन्द महाकाव्य में भी कुल-परम्परागत जीविकोपार्जन को विशेष महत्व दिया गया है ।^५ अमरचन्द्र सूरि की स्पष्ट धारणा है कि कुलागत जीविकोपार्जन मन्द-मन्द गति से चलने वाली किन्तु गरिमा से युक्त गजराज की सवारी के समान है जबकि कुलेतर आजीविका दूनगामी अश्व की सवारी के तुल्य है । इन दोनों में गज की सवारी के समान कुल-परम्परागत आजीविका ही श्रेयस्कर एवं गरिमा से युक्त है ।^६ वणिक् वर्ग द्वारा व्यापार को ही व्यवसाय के रूप में स्वीकार करने के लिए विशेष बल दिया जाने लगा था ।^७ 'कला-कौशल'—

१. पद्मा०, ७.५३

२. आदि०, १६.१८७ तथा पद्मा०, ७.५३, तथा जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ११२

३. आदि०, १६.२४८

४. नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १५२

५. पद्मा०, ७.४८-६०

६. कलां कुलागतामेव सेवमानो जनप्रियः ।

मन्दयानो गजः श्रेयांस्तुरङ्गस्तु त्वरागतिः ॥

—पद्मा०, ७.५४, तथा तु०—

Ghurye, G.S., Caste Class and Occupation, Bombay, 1961. p. 14

७. कलाकौशलमेव स्याद्, वणिजां वत्स ! जीवनम् ।

—पद्मा०, ७.५०, तथा

यन्नैव वणिजां कार्यो विक्रमः सुभटकमः ।

—वही, ७.४५

कृषि, पशुपालन, शिल्प तथा वाणिज्य आदि के लिए प्रयुक्त होता था तथा इसके अधिकारी वैश्य अथवा शूद्र वर्ग ही माने गये हैं।^१ शत्रुंजय महाकाव्य में कृषक, सेवक, कुम्हार, व्यापारी, नियोगी (पुरोहित), क्षत्रिय, सूत्रकार (जुलाहा), शिल्पी, स्वर्णकार, चित्रकार, मणिकार (जोहरी) आदि व्यवसायों का उल्लेख जातियों के रूप में होने के कारण यह सिद्ध हो जाता है कि आलोच्य काल में आर्थिक-विभाजन का मुख्य आधार वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था बन चुकी थी तथा वह भी ऐसी रुढ़ व्यवस्था जिसमें कर्म की अपेक्षा जन्म का अधिक महत्त्व था।^२ इस प्रकार किसी जाति विशेष में उत्पन्न होने के कारण कोई भी व्यक्ति अपने कुलोचित व्यवसाय को अपनाने के लिए सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः बाध्य था। किन्तु ऐसी सूचना भी मिलती है कि मुगल काल में वंशानुगत व्यवसाय चयन पर ढील दी जाने लगी थी।^३ आलोच्यकाल की आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में वर्ण-व्यवस्थामूलक व्यवसायों की स्थिति इस प्रकार रही थी—

(क) ब्राह्मण तथा पौरोहित्य व्यवसाय

जैन महाकाव्यों में ब्राह्मणों द्वारा चारों वेदों, षडङ्गों तथा इतिहास-पुराण में नैपुण्य प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं।^४ असग के वर्धमानचरित से भी ज्ञात होता है कि समाज में ब्राह्मण अग्निहोत्री कहलाते थे।^५ अग्निभूति नामक ब्राह्मण ऐसा ही एक ब्राह्मण था।^६ जयन्त-विजय महाकाव्य में राज-सभा में एक ब्राह्मण द्वारा दर्शन-पाण्डित्य प्रदर्शन करने का भी उल्लेख आया है।^७ ब्राह्मण विविध प्रकार की तपश्चर्या, शील, गुण, ज्ञानार्जन तथा ज्ञान-वितरण के लिए प्रसिद्ध थे।^८ हेमचन्द्र के काल में ब्राह्मणों के लिए, 'श्रोत्रिय', 'स्मार्त', 'मौहूर्तक' आदि संज्ञाओं का

१. भवन्ति वैश्याः शूद्राश्च कलाकौशलजीविनः।

—पद्मा०, ७.५३

२. कर्षकाः सेवकाः कुम्भकारा वाणिज्यजीविनः।

नियोगिनः क्षत्रियाश्च सूत्रकाराश्च शिल्पिनः।

स्वर्णकाराश्चित्रकारा मणिकारास्तथापरे।

—शत्रु०, ३.१२७

३. जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ११२

४. प्रद्युम्न०, ६.२०३, वराह०, २५.७०

५. वर्ध०, ३.८६

६. वही, ३.८६

७. जयन्त०, १५.१५

८. वराह०, २५.४३; वर्ध०, ३.६८

प्रयोग किया गया है ।^१ इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्ग-चेतना की भावना से ब्राह्मण पौरोहित्य आदि व्यवसाय करते थे । सन्ध्या-कर्म, आचरण एवं वैदिक विधियों को त्याग देने वाले मिथ्या ब्राह्मणों का भी उल्लेख मिलता है ।^२ इस प्रकार आचार, शील एवं शास्त्र ज्ञान के कारण ही समाज में ब्राह्मणों का गौरव रहा था ।^३ विवाह सम्पन्न कराना, यज्ञानुष्ठान कराना, श्राद्ध कर्म आदि ब्राह्मणों के प्रमुख व्यवसाय थे । ब्राह्मणों को बदले में दक्षिणा आदि दी जाती थी । समाज में पौरोहित्य कर्म करने वाले ब्राह्मणों का यद्यपि विशेष सम्मान रहा था^४ तथापि सातवीं-आठवीं शताब्दी में कर्नाटक आदि जैन धर्म से प्रभावित प्रदेशों में ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन के लिए बहुत संघर्ष भी करना पड़ा था । वराहचरित के अनुसार घन आदि प्राप्त करने की इच्छा से ब्राह्मण राजदरबार में जाते थे तो द्वारपाल उन्हें प्रविष्ट नहीं होने देते थे ।^५ किसी प्रकार से राजा के पास पहुंच जाने पर जो कुछ दान में मिलता था तो उसकी भी समाज में निन्दा की जाती थी तथा उनको अपमानित किया जाता था ।^६ ग्यारहवीं सदी में ब्राह्मणों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान रहा था तथा राज्य के सभी प्रकार के कर्मों से ब्राह्मण मुक्त थे ।^७ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में जैन धर्म के प्रभाव क्षेत्रों में भी ब्राह्मणों को उच्च सम्मान दिया जाता रहा था । चालुक्य कुमारपाल तथा अन्य वस्तुपाल आदि जैन मन्त्री ब्राह्मणों के सम्मान करने के लिए इतिहास में विशेष रूप से प्रसिद्ध रहे हैं ।

१. तत्र कि श्रोत्रियोऽसि त्वमसि पौराणिकोऽथवा ?

स्मात्तो वा ? मोहूर्तो वाऽसि ? त्रिविद्याविदुरोऽसि वा ? ॥

—त्रिविष्टि०, २६.२३३

२. प्रद्युम्न०, ६.१६५

३. विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।

ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥

—वराह०, २५.४३ तथा तु०—प्रद्युम्न०, ६.२०५

३. जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ८०-८५

५. प्रवेष्टुकामाः क्षितिस्थ वेद्वेन द्वारस्थैर्निरुद्धाः क्षणमीक्षमाणा ।

—वराह०, २५.३०

६. ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः ।

—वराह०, २५.३३

७. जयशङ्कर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० ११०

हेमचन्द्र के काल में चारों वेदों तथा चौदह विद्यास्थानों के अध्येता ब्राह्मण को हाथी में बैठाकर राज सम्मान दिए जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।^१

(ख) क्षत्रिय तथा सैन्य व्यवसाय

क्षत्रियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हो चुका था कि ये लोग शूरवीर एवं शस्त्र-शास्त्र में विशेष पारङ्गत होते हैं।^२ शास्त्र से यहाँ अभिप्राय युद्ध सम्बन्धी शास्त्र से ही रहा था। वेद-पुराण आदि भी शास्त्र कहलाते हैं। इनके लिए ब्राह्मण प्रसिद्ध थे। पद्मानन्द काव्य में इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए 'शास्त्रैकजीविनो विप्राः क्षत्रियाः शस्त्रजीविनः'^३ कहा गया है। हम्मीर महाकाव्य में वर्णित चाहमान वंश राजपूत जाति से ही सम्बद्ध था। क्षत्रिय युद्ध कौशल के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे। राजस्थान आदि प्रदेशों की वीर राजपूत जातियाँ तो अपने प्राणों को देकर भी देश-रक्षा को महत्त्व देती थीं।^४ हम्मीर महाकाव्य में वर्णित युद्धवर्णन क्षत्रियों की वीरता को स्पष्ट कर देते हैं।^५ चाहमान वंश की स्त्रियाँ भी वीरता के लिए प्रसिद्ध थीं।^६ इस प्रकार कुछ क्षत्रिय वंशों ने युद्ध एवं सेना के क्षेत्र में अपना गौरव नहीं खोया था। हेमचन्द्र के समय में क्षत्रिय वर्ग प्रायः युद्ध सम्बन्धी शास्त्रों में विशेष दक्ष होता था। विभिन्न प्रकार के शस्त्रों-अस्त्रों के प्रयोग की शिक्षा देने का कार्य भी सम्भवतः क्षत्रिय आचार्य ही करते थे। विभिन्न प्रकार की युद्ध-कलाओं में भी क्षत्रिय विशेष रूप से पारङ्गत होते हैं।^७ क्षत्रिय ही मुख्यतया सैन्य-व्यवसाय में जाते थे किन्तु यह परम्परा धीरे-धीरे टूट भी रही थी। सातवीं-आठवीं शताब्दी में पुलिन्द अर्थात् भीलों तथा वणिकों की सेना के उल्लेख भी मिलते हैं।^८ द्विसन्धान महाकाव्य के 'पद्मविघ्नबल' के सन्दर्भ में टीकाकार नेमिचन्द्र ने छः प्रकार की सेना का उल्लेख किया है।^९—(१) 'मौल'—वंश परम्परागत क्षत्रिय सेना। (२) 'मृतक'—नेतनार्थ भरती की गई सेना, (३) 'श्रेणी' व्यापारियों आदि की सेना। (४) 'आरण्य'—भील आदि जङ्गली जातियों की सेना, (५) 'दुर्ग'—दुर्गस्थ सेना

१. परि०, १३.७-८

२. अहं तु क्षत्रियः शूरः शस्त्रशास्त्रविशारदः । —शत्रु०, १.१३६

३. पद्मा०, ७.५३

४. हम्मीरमहाकाव्य, भूमिका. पृ० २३

५. हम्मीर०, १३.२०८

६. वही, सर्ग—१३

७. वही, १३.१८५

८. चन्द्र० ४.५; त्रिषष्टि०, २.६.२३४-३७

९. वराङ्ग०, १४.२३

१०. द्विसन्धान०, २.११ पर तु० नेमिचन्द्रकृत पद कौमुदी टीका, पृ० २७

तथा (६) 'मित्र'—मित्र राजाओं की सेना। इन षड्विध सेनाओं के स्वरूप से सिद्ध हो जाता है कि 'क्षत्रिय' वंशपरम्परागत पद्धति से सैन्य व्यवसाय को अपनाते थे, किन्तु हम्मीर के अनुसार सेना में विविध जातियों तथा धर्मों आदि के लोग भी जा सकते थे।^१ राज्य सम्बन्धी कार्य भी क्षत्रियों का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था।^२

(ग) वैश्य-शूद्र तथा वाणिज्य-कृषि आदि व्यवसाय

मध्यकालीन भारत के प्रारम्भिक चरणों में वैश्य वर्ग का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य रहा था। इतिहासकारों की मान्यता है कि ८वीं शताब्दी के बाद बङ्गाल आदि प्रदेशों में वैश्य आदि व्यापारी लोग वाणिज्य व्यवसाय के प्रति उपेक्षा भाव भी दिखाने लगे थे।^३ ग्यारहवीं शती के अलबरूनी के अनुसार भी यह विदित होता है कि वैश्यों एवं शूद्रों में रहन-सहन, व्यवसाय आदि की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं रह गया था। अलबरूनी के अनुसार वैश्य तथा शूद्र एक ही ग्राम तथा नगर में रहते थे तथा एक ही घर में बैठते-उठते थे।^४

इस प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर वैश्य तथा शूद्र वर्ग में जीविकोपार्जन सम्बन्धी व्यवसायों के चयन में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएं टूटने भी लगी थीं। ९वीं शताब्दी के आदिपुराण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैश्यों की जीविका व्यापार, कृषि एवं पशुपालन थी तथा शूद्र सेवा-शुश्रूषा आदि द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते थे।^५ आदिपुराण में ही दो प्रकार के शूद्रों का वर्णन भी आया है प्रथम, वे जो 'कारु' शूद्र कहलाते थे। धोबी इत्यादि जातियाँ इससे सम्मिलित थीं।^६ दूसरे, वे जो 'अकारु' शूद्र कहलाते थे।

१. हम्मीर०, ११.१

२. Sharma, Ram Sharan, 'Social Changes in Early Medieval India'—The First Devaraja Chanana Memorial Lecture, Delhi, 1969, pp. 14-15

३. वही, पृ० १२

४. 'Albiruni notes the absence of any significant difference between the vaiśyas and the Śūdras, who lived together in the same town and village and mixed together in the same house.'
—वही, पृ० ११

५. तु०—वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः।

—आदि०, १६.१८४

६. तु०—तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः।

कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः॥

—आदि०, १६.१८५

‘कार’ शूद्र भी दो भागों में विभक्त थे। प्रथम वे जो समाज में अस्पृश्य माने जाते थे। ये समाज से बाहर रहते थे। दूसरे वे शूद्र जो स्पृश्य थे तथा समाज में ही रहते थे नाई आदि जातियाँ इसके अन्तर्गत आती थीं।^१ इस प्रकार ९वीं शताब्दी तक वैश्य एवं शूद्र क्रमशः कृषि आदि तथा शिल्पी आदि व्यवसायों की दृष्टि से ही विभक्त हो चुके थे। किन्तु इन शूद्रों में भी ‘कार’ नामक स्पृश्य शूद्र अस्पृश्य शूद्रों से कुछ उत्कृष्ट समझे जाते थे। इसीलिए ११वीं शताब्दी में अलबेरूनी ने वैश्यों के साथ उठने बैठने वाले जिन शूद्रों की चर्चा की है वे सम्भवतः स्पृश्य शूद्र ही रहे होंगे।^२ १२वीं-१३वीं शताब्दी में वैश्यों तथा शूद्रों में प्रचलित व्यवसायों की दृष्टि से हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि में प्रयुक्त ‘कार’^३ तथा ‘कुटुम्बी’^४ शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अभिधान चिन्तामणि ने ‘कार’ को ‘शिल्पी’ संज्ञा दी है।^५ आदिपुराण के अनुसार नवीं शताब्दी में वे ही ‘कार’ स्पृश्य शूद्र कहे जाते थे। इसी प्रकार अभिधान-० में कृषि कर्म करने वाले लोगों के लिये ‘कुटुम्बी’ शब्द का पारिभाषिक प्रयोग भी हुआ है।^६ आर. एस. शर्मा महोदय ने हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि में आए ‘कुटुम्बी’ शब्द की ओर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हुए कहा है कि मध्यकालीन भारत में शूद्र कृषि एवं पशुपालन उद्योग करने लगे थे तथा इससे कुछ पहले उत्तर प्रदेश तथा बिहार की ‘कुम्भि’ एवं महाराष्ट्र की ‘कुम्बि’ नामक शूद्र जातियाँ मध्यकालीन भारत की ‘कुटुम्बियों’ की ही पूर्व रूप रहीं थीं।^७ स्कन्दपुराण में ‘गृहस्थ’ नामक शूद्र अन्न देने वाले (अन्नदा) कहे गये हैं।^८ हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि के अतिरिक्त त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी अनेक स्थलों

१. कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।

तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥

—आदि० १६.१८६

२. Sharma, R.S., ‘Social Changes in Early Medieval India’, p. 11

३. अभिधान०, ३.८६६

४. वही, ३.८६०

५. तु०—कारहस्तुकारी प्रकृतिः शिल्पी श्रेणिस्तु तद्गणः ।

—अभि०, २.८६०

६. तु०—कुटुम्बी कर्षकः क्षेत्री । —वही, ३.८६०

७. Sharma, R.S., ‘Social Changes in Early Medieval India’, p. 11

८. स्कन्द०, २.३६.१६१

पर 'कुटुम्बी' शब्दों का कृषक के रूप में ही प्रयोग किया है।^१ 'कुटुम्बी' का 'सामन्त' आदि के साथ प्रयोग होने के कारण तथा कुटुम्बियों को सामन्तों के 'उपमान' के रूप में ही प्रयोग करने के कारण यह भी सिद्ध होता है कि 'कुटुम्बी' आदि का स्वरूप सामन्ती चरित्र के साँचे में ढल चुका था। अर्थात् 'कुटुम्बी' आदि कृषक वर्ग राजा को कर देते थे। ये सामन्तों के समान राजा के अनुग्रह पर ही जीवित थे तथा वास्तविक किसानों के मुखिया भी बने हुये थे।^२

वैश्य वर्ग का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य ही रह गया था किन्तु वर्ण-विभाजन की दृष्टि से वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, शिल्प आदि व्यवसाय अब एक ही 'श्रेणि' में गिने जाने लगे थे। पद्मानन्द महाकाव्य में इन सभी व्यवसायों के लिये 'कला-कौशल' शब्द का व्यवहार हुआ है।^३ यह इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि व्यवसाय विभाजन में जो स्पष्ट अन्तर पहले था वह अब नहीं रहा था। इस प्रकार मध्यकालीन भारत आर्थिक व्यवसाय-विभाजन की दृष्टि से एक ऐसा युग था जिसमें वर्णव्यवस्था की चार प्रमुख वर्ग चेतनाओं का स्थान अब केवल तीन वर्ग-चेतनाओं ने ले लिया था।^४ ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकौशलपरक नवीन आर्थिक संचेतना अर्थव्यवस्था के 'उत्पादन' एवं 'वितरण' से मुख्यतया जुड़ चुकी थी जिसका व्यावहारिक रूप से सम्पादन वैश्य एवं शूद्र वर्ग द्वारा किया जाने लगा था। इन दोनों वर्गों के एकीकृत होने से सर्वाधिक लाभ यदि किसी वर्ग को मिल सकता था तो वह सामन्त राजाओं का वर्ग ही था। यही कारण है कि इस तृतीय वर्ग की संचेतना को राजसंस्था द्वारा भरपूर प्रोत्साहन और समर्थन मिला।

२. प्रमुख उद्योग-व्यवसाय

(क) कृषि

इस युग में अर्थव्यवस्था की मुख्य भित्ति कृषि पर ही अवलम्बित थी। स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर ग्रामों की अर्थचेतना भी मूलतः कृषि 'उत्पादनों' से अनु-

१. कुटुम्बिका इव वयं करदावशाश्च वः।

—त्रिषष्टि०, २.४.१७३ तथा

कुटुम्बिनः पत्तयो वा सामन्ता वा त्वदाजया।

अतः परं भविष्यामस्त्वदधीना हि नः स्थितिः॥ — वही, २.४.२४०

२. वही, २.४.१७३ २.४.२४० तथा

३. भवन्ति वैश्याः शूद्राश्च कलाकौशलजीविनः। —पद्मा०, ७.५३, तथा
शिल्पं कला विज्ञानं च मालाकारस्तु मालिकः। —अभि०, ३.६००

४. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० २०३-७

प्राणित रही थी। जैन संस्कृत महाकाव्यों में लहलहाती फसल का वर्णन आया है।^१ कृषि-सम्पदा के लिए अनेक देश तो विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।^२ अधिकांश रूप से कृषि ग्रामों को 'निगम' के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त थी। इन निगमों के खलिहान सदैव ऊँचे-ऊँचे अनाज के ढेरों से भरे रहते थे।^३ फसल काटने, जुताई करने, रुपवाई करने आदि विभिन्न कृषि-सम्बन्धी गतिविधियों का भी सजीव चित्रण हुआ है।^४ अहीर-बालिकाओं द्वारा भीत गाकर फसल की रक्षा करने का वर्णन भी प्रस्तुत होता है।^५ पट्टमय भूमि में घान के अच्छे होने जैसी मान्यताओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।^६ समय पर हुई वर्षा को कृषि के लिए बहुत अच्छा समझा जाता था।^७ घान्य वृद्धि के लिए सूर्य की गरमी आवश्यक थी। किन्तु वृक्ष की छाया हानिकारक समझी जाती थी।^८ फसल काटने के बाद इसे ग्राम के निकटतम खलिहानों में जमा कर दिया जाता था।^९ तदनन्तर बैलों द्वारा अनाज को श्रीर भूसे को पृथक् किया जाता था।^{१०} अनाज को सुरक्षित रखने के लिये बड़े-बड़े कुम्भों का प्रयोग होता था।^{११} गाड़ियों द्वारा अनाज ढोने आदि के उल्लेख भी मिलते हैं।^{१२}

१. बराङ्ग०, २१.४२, जयन्त०, १.३७

२. वर्ष०, १.६, चन्द्र०, १.१३

३. चन्द्र०, १.१६, घर्म०, १.४८, वर्ष०, ४.४

४. द्विस०, २.२३, तथा आदि०, २६.११२-१३

५. यत्राभिरामाणि विशालशालिक्षेत्राणि संरक्षितुमीयुषीणाम्।

गोपाङ्गनानां मधुरोपगीतैः कृच्छ्राद्युवानः पथि यान्ति पन्थाः।

—जयन्त०, १.३७

निरुन्धते भीतगुणेन गोप्यः क्षेत्रेषु यत्रानिशमेणयूथम्।

—नेमि०, १.३१

भारेण स्तनकलशद्वयस्य यस्मिन्नुत्थातुं मुहुरसहा विदग्धगोप्यः।

गीतेन स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां लुण्ठाकं हरिणगणं विमोहयन्ति।

—चन्द्र०, १६.२

तथा तु०—आदि०, २६.११५-२०

६. द्विस०, २.२३

७. परि०, १.१२

८. द्विस०, ४.१६

९. चन्द्र०, १३.४६, चन्द्र०, १.१६, घर्म०, १.३८, वर्ष०, १.११

१०. परिपुञ्जितसस्यकूटकोटीनिकटालुञ्चिवृषैर्विभूषितोयः। वर्ष०, ४.४

११. अध्यासिता गोधनभूतिमद्भिः कुटुम्बिभिः कुम्भसहस्रधानैः।

—वर्ष०, १.११

१२. गन्त्रीचयचीत्कारविभिन्नकर्णरन्ध्रैः। —वर्ष०, ४.४

सिंचाई के साधन

यद्यपि सिंचाई का प्रमुख साधन वर्षा एवं नहरों आदि का जल था^१ तथापि राज्य की ओर से भी खेतों की सिंचाई करने की व्यवस्था की जाती थी। द्विसन्धान महाकाव्य में जलयन्त्रों का उल्लेख आया है। इन यन्त्रों में 'घटीयन्त्र' 'रहट' सक्ष होता था। इसके 'अरों' अर्थात् काष्ठ कीलों को पांव से दवाने पर पानी निकाला जा सकता था।^२ इसी प्रकार सिंचाई करने की एक दूसरी विधि का सङ्केत भी प्राप्त होता है। इसके अनुसार पहले किसी यन्त्र द्वारा पानी को एकत्र कर लिया जाता था। तदनन्तर उसका नालियों द्वारा निकास कर सिंचाई की जाती थी।^३ वर्धमानचरित के अनुसार ऊंची भूमि पर स्थित खेतों की सिंचाई करने के उद्देश्य से नदियों में कृत्रिम यंत्र लगे होते थे।^४ द्रयाश्रय महाकाव्य में सिंचाई करने के उद्देश्य से बनाई गई प्रणालियों को 'आख' संज्ञा दी गई है।^५ 'यन्त्रप्रणालीचषक' अर्थात् कृत्रिम यन्त्रों द्वारा बनाए गए पनाले भी सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन रहे थे।^६

कृषि उपज

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार कृषि-पैदावार सम्बन्धी अनाजों में धान की उपज बहुत अधिक मात्रा में होती थी। ग्रीहि,^७ शालि,^८ षष्ठिक^९ आदि धानों के विविध प्रकारों का उल्लेख आया है।^{१०} धान की पौध को 'कलम' संज्ञा भी दी गई है।^{११} इसके अतिरिक्त गोधूम (गेहूं), अलसी, तिल, जौ, मुद्ग (मूंग) चना,

१. परि०, १.१२

२. अरान् घटीयन्त्रगतान् गतश्रमः, पयःकणैरग्रपदेन पीडयन् । — द्विस०, १.१३,
तथा वराङ्ग०, ५.१०६

३. यन्त्रोद्धत वारिपूरितम् । शिखावलान्यत्र बहुत्प्रणालिकं करोति० ॥
—द्विस०, १.२३

४. जलोद्घातावुद्यतकच्छिकानां तुलाघटीयन्त्रविकीर्णकूलाः ।
—वर्ध०, १.१२

५. द्रया०, १३.३३

६. यन्त्रप्रणालीचषकैरजलमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवीधम् । — वर्ध०, १.४५

७. वराङ्ग०, २१.४१, चन्द्र०, ७.१६

८. वराङ्ग०, २१.४०, चन्द्र०, ७.१६

९. द्विस०, २.२३, आदि०, ३.८६

१०. विशेष द्रष्टव्य, नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १६३-६५

११. चन्द्र०, १६.२

उड़द, कोद्रव (कौंदों) आदि अनाजों की पैदावार मुख्य रूप से होती थी ।^१ सरसों कृष्णतिल, चावल, जौ आदि अनाज पूजन विधियों में प्रयुक्त होते थे ।^२

ईख-उत्पादन एक प्रमुख व्यवसाय

आलोच्य युग में ईख उत्पादन एक प्रमुख कृषि व्यवसाय भी रहा था । कर्नाटक आदि प्रदेशों में 'पुण्ड्रेक्षु' जाति की ईख पैदा होती थी ।^३ यह ईख लाल रङ्ग की होती है ।^४ ईखों के बड़े वन होते थे ।^५ उंचानों आदि में भी ईख की पैदावार की जाती थी ।^६ ईख का रस अत्यधिक लोकप्रिय पेय बना हुआ था ।^७ ईख द्वारा गुड़, शक्कर, खाण्ड आदि बनती थी ।^८ इस कार्य के लिए ग्रामों में विशेषकर 'निगम' ग्रामों में 'ईक्षुयन्त्र' स्थापित किए गये थे ।^९ ईक्षु-यन्त्र निरन्तर गन्ना पेरने का कार्य करते थे । तदनन्तर इससे बनी गुड़ आदि वस्तुओं को विक्रय के लिये गाड़ियों द्वारा नगर आदि तक ले जाया जाता था ।^{१०} इस प्रकार अनाज उत्पादन के साथ-साथ ईख उत्पादन भी विशेष उन्नति पर था । प्रत्येक ग्राम में ईक्षु-यन्त्रों आदि के विद्यमान रहने आदि तथ्यों के आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में 'ईख-उत्पादन' कृषि व्यवसाय की तुलना में एक स्वतन्त्र व्यवसाय के रूप में भी विकसित हो चुका था ।

बगीचों में उत्पन्न होने वाली शाक-सब्जियाँ

महाकाव्यों में अनेक स्थलों पर शाक-सब्जियों से समृद्ध बगीचों का उल्लेख आया है । सब्जियों के बगीचों के लिये 'शाक-वाटक' शब्द का प्रयोग किया गया

१. क्वचित्सगोधूमयवातसीतिलाः । — वराङ्ग०, २१.४१,
तेषु माषचणकातसीतिलब्रीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् । — चन्द्र०, ७.१६,
तथा द्वया०, ३.१४१, १५.७१
२. वराङ्ग०, २३.१८
३. वराङ्ग०, २१.४१, वर्ध०, १.१०
४. द्वारकाप्रसाद शर्मा, चतुर्वेदी, संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ, इलाहाबाद, १९६७,
पृ० ७१७
५. वराङ्ग०, २१.४१
६. यत्रेक्षुवाटा गुरवोपि भूमौ । — प्रद्यु०, १.११, वर्ध०, १.१० तथा ग्रामे-
ग्रामे चेक्षुवाटाः । त्रिषष्टि०, २.१.११
७. कीर्ति०, ६.१४
द्विस०, १०.१, धर्म०, ४.७, वर्ध०, १.४४
८. कीर्ति०, ६.३७
९. वर्ध०, ४.४.६
१०. वही, ४.४

है।^१ चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य में कृषि-खेतों की हरियाली का वर्णन करते हुये कहा गया है कि शाक-सब्जियों के खेत भी उत्कृष्ट प्रकार की सब्जियों से युक्त थे। इन खेतों अथवा बगीचों में बड़ी-बड़ी लौकियां (लावुक) उत्पन्न होती थीं।^२ इसी प्रकार 'धर्मशर्माश्रुदय' में कूष्माण्ड (लौकी अथवा कद्दू) चिमंट (कचरिया) वृन्ताक (बैंगन) वास्तुक (बथुआ) आदि सब्जियों का शाक वाटकों में उत्पन्न होने का उल्लेख आया है।^३ इनके अतिरिक्त जिन शाक-सब्जियों की बगीचों अथवा खेतों में उत्पन्न होने की सम्भावना की जा सकती है उनमें पीली सरसों,^४ आर्द्रकन्द (अदरक), कलिङ्ग (कलिदा अथवा तरबूज), मूलक (मूली),^५ मिर्च^६ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विभिन्न प्रकार के दालों आदि के पौधों को भी इन्हीं शाक-वाटकों में उगाने का प्रचलन भी रहा था जिनमें, चना, उड़द, आदि दालें विशेष उल्लेखनीय हैं। शाक बगीचों की ग्वालिनों (मोकुल-योषिता) द्वारा देखभाल की जाती थी।^७

(ख) वृक्ष-उद्योग

उद्यान-व्यवसाय तथा बागवानी

कृषि के साथ साथ उद्यान व्यवसाय विशेष प्रगति पर था। ग्रामों तथा नगरों की शोभा उद्यानों तथा वाटिकाओं (बगीचों) आदि से मानी जाने लगी थी।^८ तत्कालीन जन जीवन में इन उद्यानों आदि का विशेष प्रभाव उपलक्षित होता है। सामान्यतया 'उद्यान' पथिकों के विश्राम स्थल थे।^९ राजा आदि घनिक

१. निष्क्रान्ता कथमपि शाकवाटकेभ्यः । —धर्म०, १६.७२

२. बृहदलावुकगौरवामनां वृत्तिमुपयुं परि प्रसृतैः पपे ।

—चन्द्र०, १३.४३।

३. कूष्माण्डीफलभरगर्भचिमंटेभ्यो वृन्ताकस्तबकविनप्रवास्तुकेभ्यः ।

—धर्म०, १६.७२

४. धर्म०, १८.१८

५. आर्द्रकन्दं कलिङ्गं (कलिन्द) वा मूलकं ।

—धर्म०, २१.१३८

६. वराङ्ग०, २२.७२

७. चन्द्र०, १३.४३

८. चन्द्र०, १.३१. १२.२० तथा वराङ्ग०, १.३७, धर्म०, ३.१६, १७, २५-३० तथा सर्ग-१२

९. चन्द्र०, २.१२०

वर्गों के लिये उद्यान का शोभा एवं रुचि की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रहा था।^१ इसके अतिरिक्त जैन मुनियों द्वारा उद्यानों में भाषण करना,^२ प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा प्रेम-व्यवहारों का सम्पादित होना^३ आदि सांस्कृतिक एवं श्रृङ्गारिक गतिविधियों के लिए भी उद्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे। राजा लोग वनों में आसटे के लिये भी जाते थे।^४ राज्य की ओर से नगर के बड़े-बड़े उद्यानों को संरक्षण प्राप्त था। परिणामतः उद्यान की रक्षा के लिये 'उद्यानपाल' की नियुक्ति होने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।^५ प्रायः जैन मुनियों के उद्यानों में आने पर 'उद्यानपाल' स्वयं जाकर राजा को सूचित करता था।^६ उद्यान पर्याप्त विशाल होते थे।^७ उपदेश-श्रवण आदि अवसरों पर विशाल जन-समूह इन उद्यानों में बैठकर धार्मिक प्रवचन सुन सकता था।^८ उद्यानों की सामाजिक उपादेयता उद्यान-व्यवसाय की आर्थिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने में विशेष सहायक रही थी। उद्यानों के सम्बन्ध में 'स्वामित्व' की कल्पना भी समाज में मान्य हो चुकी थी।^९ इस प्रकार आलोच्य युग में 'उद्यान' व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में भी स्वीकार किये जाने लगे थे।

उद्यानों आदि में वृक्षारोपण

वनों, उद्यानों, वाटिकाओं,^{१०} नदी के तटस्थ^{११} स्थानों में वृक्षारोपण किये जाते थे। वृक्ष आर्थिक दृष्टि से उत्पादन के भी महत्त्वपूर्ण साधन रहे हैं। आलोच्य काल में भी चन्दन, माला, सुगन्ध, विविध प्रकार के लेप आदि ऐश्वर्य एवं भोग

१. धर्म०, १२.१, यशोधर०, ४.१०
२. धर्म०, २.७५
३. वराङ्ग०, १.३०, धर्म०, १.१७, १२३.३ प्रद्यु०, ७.५२
४. हम्मीर०, ४.५५-५८
५. वराङ्ग०, ३.६
६. धर्म०, २.७५, प्रद्यु०, ६.२७
७. वराङ्ग०, ३.६, धर्म०, २.७५
८. प्रद्यु०, ६.३०-३१
९. तपोहीनं यथा ज्ञानं ज्ञानहीनं यथा तपः ।
स्वामिहीनं तदुद्यानं, तस्य नातिमुदेऽजनि ।

—पद्मा०, १३.३७०;

तथा—अरक्षकं ह्युपवनं पान्थैरप्युपजीव्यते । परि०, ७.१०६

१०. वराङ्ग०, २२.६६-७२, धर्म०, सर्ग-१२
११. धर्म०, १.४६

विलास की सामग्रियाँ वृक्षों तथा पुष्पों आदि से प्राप्त होती थीं।^१ अतएव उद्यानों में वृक्षारोपण का प्रमुख लक्ष्य धनोपार्जन भी रहा था। सुगन्धित पदार्थों तथा लोंग; इलायची, कड़्कोल आदि बहुमूल्य वस्तुओं के आर्थिक उत्पादन के मूलस्रोत वृक्ष एवं उद्यान व्यवसाय ही थे। गन्ना की पैदावार भी वनों तथा बगीचों में की जाने लगी थी।^२ इसका अभिप्राय था जो लोग कृषि-भूमि द्वारा व्यवसाय करने में असमर्थ थे वे बाग-बगीचों के माध्यम से गन्ना आदि बोक़र जीवन निर्वाह कर सकते थे। कृषक वर्ग ही खेतों द्वारा तथा बाग-बगीचों द्वारा अनाज, शाक, सब्जियाँ, फल आदि उगाने का कार्य करते थे। बाग-बगीचों तथा उद्यानों में अनेक प्रकार के वृक्ष तथा लताएं लगाई जाती थीं।

वृक्ष-उद्योग का आर्थिक दृष्टि से महत्त्व

आलोच्य युग में विविध प्रकार की मोग-विलास की सामग्रियों में अधिकांश वस्तुएं उद्यानों अथवा वनों में ही उत्पादित होती थीं।^३ इस कारण उद्यानों के औद्योगिक एवं आर्थिक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। चम्पा, मालती, नागकेशर, चमेली आदि विविध प्रकार की पुष्प मालाओं को सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में प्रयोग किया जाता था।^४ वृक्षों की लकड़ियों आदि से सम्बन्धित उद्योग भी प्रगति पर थे।^५ चन्दन के विविध प्रकारों का उत्पादन भी उद्यानों आदि में ही होता था।^६ पद्या० महाकाव्य के एक उल्लेखानुसार गोशीर्ष चन्दन का एक लाख दीनार मूल्य होना तत्कालीन सुगन्धित एवं शीतल पदार्थों की आर्थिक उपयोगिता को स्पष्ट कर देता

१. वराह्म०, ७.६-१०, २०-२२

२. वराह्म०, २१.४१

३. एलातमालोत्पलचम्पकानां गन्धान्स्वगन्धैश्च विशेषयन्ति ।

—वराह्म०, ७.६

उरः शिरोदेशनिवेशचम्पकप्रकारपुष्पप्रकरो नरोत्तम ।

कर्पूर-कृष्णागुरुरङ्ग-कुनामिभिः सौरभ्यसम्भारमयो भवान्वहम् ॥

—पद्या०, ३.१३१, वसन्त०, २.२७

४. सुगन्धिसञ्चम्पकमालतीनां पुन्नागजात्युत्पलकेतकीनाम् ।

पञ्चप्रकारा रचिताभ्यमाला माल्याङ्गवृक्षा विसृजन्त्यजसम् ॥

—वराह्म०, ७.२२

५. द्वया०, १८.२०

६. तुरुष्ककालामरुचन्दनानां...स्वगन्धैश्च विशेषयन्ति ॥ —वराह्म०, ७.६

तथा—कर्पूरकृष्णागुरु-धूपनैः । —पद्या०, ३.११५

है।^१ 'कालागर' इस युग में शरीर-लेप के रूप में तथा घरों में जलाये जाने वाले धूप के रूप में विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा था।^२ सुपारी, इलायची, लोंग, कङ्कौल, कपूर, केशर, ताम्बूल, नारियल, कस्तूरी आदि बहुमूल्य मसाले तथा आस्वाद्य पदार्थों का उच्च वर्ग के लोगों में विशेष रूप से सेवन किया जाता था।^३ फूलों तथा फलों के विविध प्रकार के रसों का सार निकालकर शर्बत अथवा मदिरा आदि बनाने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में 'अरिष्ट' (विधिपूर्वक निकाला गया फूलों-फलों का रस) 'मैरेय' (रासायनिक विधि से निकाला गया फूलों-फलों का रस) 'सुरा' (फलों को सड़ाकर निकाला गया रस) 'मधु' (मधु-मक्खियों द्वारा संचित पुष्प-पराग) 'कादम्बरी' (एक विशेष प्रकार की मदिरा) आदि फूलों-फलों से निर्मित 'रसों' तथा मदिराओं के उल्लेख^४ तत्कालीन उद्यानों से सम्बद्ध उद्योगों पर भी प्रकाश डालते हैं।^५ इन सभी तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वृक्षों, फलों पुष्पों आदि का भी आर्थिक दृष्टि से उतना ही महत्त्व था जितना कृषि आदि का। परिणामतः इन्हें 'निधि' के रूप में भी स्वीकार किया जाने लगा था।^६

१. प्रयच्छ मूल्यान्मणिकम्बलं च गोशीर्षकं चेत्यभिजल्पितस्तैः ।

वृद्धो वणिग् वस्तुयुगस्य मूल्यमेकैकदीनारकलक्षमूचे ॥

—पद्मा०, ६.५६ तथा

गोशीर्षवृक्षस्तरु प्रधानस्तथा भवानां मनुजत्वमाहुः । —वराङ्ग०, ८.१०

२. कालागरप्रततधूपवहाश्च गेहा । —वराङ्ग०, १.२५

कर्पूर-कृष्णागररङ्कुनाभिः । —पद्मा०, ३.१३१

३. सवङ्गकङ्कौलककुङ्कुमानाम् । —वराङ्ग०, ७.६ तथा तु०—

धर्म०, ३.३०, वर्ष०, ४.७, पद्मा०, ३.१६४

४. अरिष्टमैरेयसुरामधूनि कादम्बरीमद्यवरप्रसन्ताः ।

मदावहानासवनातिथोग्यान्मद्याङ्ग वृक्षाः सततं फलन्ति ॥

—वराङ्ग०, ७.१५

५. लाक्षाविक्रयसाम्—स्वयोनिवृक्षादुद्धरणेन टङ्गणमनःशिलासकूमाप्रमृतीनां बाह्यजीवघातहेतुत्वेन मुग्गुलिकाया धातकीपुष्पत्वचश्च मद्यहेतुत्वेन तद्विक्रयस्य पापाश्रयत्वात् । (सागारधर्माभूत, ५.२१-२३ पर टीका),

—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ० ४२२ से उद्धृत ।

६. वृक्षगुप्तिकामसमुद्भव...पुष्पपल्लवमथोत्तमं फलं तस्य कालनिधिरीप्सितं ददौ । —चन्द्र०, ७.२१

फलों, मेवों, मसालों तथा सुगन्धित द्रव्यों के सूक्ष

१. आम्र ^१ (आम)	२. कदली ^२ (केला)
३. दाडिम ^३ (अनार)	४. मातुलिग ^४ (चिकोतरा)
५. बिल्व ^५ (बेल)	६. कन्द ^६
७. जम्बीर ^७ (निंबु विशेष)	८. जम्बू ^८ (जामुन)
९. नारङ्ग ^९ (सन्तरा)	१०. आमलकी ^{१०} (आमला)
११. कन्दर्पवीर ^{११}	१२. मौलसिरी ^{१२}
१३. अभया ^{१३} (हरीतकी)	१४. खजूर ^{१४} (खजूर)
१५. कमुक ^{१५} (द्राक्षा)	१६. नारिकेल ^{१६} (नारियल)
१७. पुन्नाग ^{१७} (नागकेशर)	१८. लवङ्ग ^{१८} (लौंग)
१९. एला ^{१९} (इलायची)	२०. कङ्कौल ^{२०} (गुग्गुल)

१. वराङ्ग०, २२.७०, धर्म०, ३.३०, पद्मा०, २.५४, नेमि०, ६.३०, जयन्त०, १३.५६ प्रद्यु० ७.३७
२. वराङ्ग०, २२.७२, पद्मा०, २.५३, धर्म०, ६.४६, प्रद्यु०, ७.४३
३. वराङ्ग०, २२.७०, परि०, २.३५, वसन्त०, ६.५३
४. वराङ्ग०, २२.७०, परि०, २.३५
५. वराङ्ग०, २२.७०
६. द्वया०, १.३६
७. धर्म०, ४.६
८. धर्म०, ४.६, परि०, २.३८, द्वया०, १५.८१
९. धर्म०, ४.६
१०. धर्म०, ३.१६, द्वया०, १५.८१
११. पद्मा०, २.५५
१२. चन्द्र०, २.१४
१३. वराङ्ग०, २२.७२
१४. वराङ्ग०, २२.७०, द्वया०, १५.२०
१५. वराङ्ग०, २२.७०
१६. वही, २२.७२
१७. द्विस०, ७.६०, धर्म०, ३.१७
१८. वराङ्ग०, २२.७२, धर्म०, ३.३०, वसन्त०, ६.४५
१९. धर्म०, ३.३०, द्वया०, ३.१३५
२०. वराङ्ग०, २२.७२

२१. पूग ^१ (सुपारी)	२२. ताम्बूल ^२ (पान)
२३. कालागरु चन्दन ^३	२४. मुवर्ण ^४ (हरिचन्दन)
२५. तुरुष्क ^५ (लोवान)	२६. कुङ्कुम ^६ (केसर)
२७. कपूर ^७ (कपूर)	२८. चम्पा ^८
२९. मरीचि ^९ (गोल मिर्च)	३०. चन्दन ^{१०}
३१. एलात ^{११}	३२. उत्पल ^{१२}
३३. जाति ^{१३}	३४. सरल (देवदारु) ^{१४}

पुष्पवृक्ष एवं छायादार वृक्ष

१. अशोक ^{१५}	२. कदम्ब ^{१६}
३. काशिकार ^{१७} (कनेर)	४. कुटज ^{१८} (कीरिया)
५. कुन्द ^{१९}	६. कुरवक ^{२०} (लाल कटसरैया)

-
१. वर्ष०, १.१०, नेमि०, ८.७६, धर्म०, ४.६
 २. वराङ्ग०, २२.७२। द्वया०, १७.३६
 ३. वराङ्ग०, २२.७१
 ४. वही, ७.६
 ५. वही, ७.६
 ६. वही, ७.६, जयन्त०, १३.५६, वसन्त०, १०.७४, प्रद्यु०, ३.३०, द्वया०, १५.७५
 ७. धर्म०, ३.३०, नेमि० ६.२२
 ८. धर्म०, ३.३०
 ९. वराङ्ग०, २२.७२
 १०. धर्म०, ३.३३, वसन्त०, १०.७४
 ११. वराङ्ग०, ७.६
 १२. वही, ७.६
 १३. वही, ७.२२
 १४. धर्म०, १०.३४
 १५. वराङ्ग०, २२.७०, चन्द्र०, २.१३, धर्म०, ३.३८, नेमि०, ८.८, वसन्त०, ६.५७
 १६. चन्द्र०, २.२२, प्रद्यु०, ११.८३, जयन्त०, १३.४७, ६.२२
 १७. वराङ्ग०, २२.६६, चन्द्र०, २.३१, नेमि०, ८.८
 १८. चन्द्र०, २.१६, प्रद्यु०, ११.८७, वसन्त०, ६.२१
 १९. चन्द्र०, २.१८
 २०. चन्द्र०, ८.८, नेमि०, ६.२५, वसन्त०, ६.६१

७. चम्पक ^१	८. मल्लिका ^२
९. नवमल्लिका ^३	१०. कुब्जक ^४ (सेवती)
११. बन्धूक ^५ (मध्याह्नपुष्प)	१२. मालती ^६
१३. जाति ^७ (चमेली)	१४. अतिमुक्तक ^८
१५. शिरीष ^९	१६. लवली ^{१०}
१७. किशुक ^{११}	१८. प्रियाल ^{१२}
१९. सल्लकी ^{१३} (सलई)	२०. वासन्तिक ^{१४} (वासन्ती)
२१. तिलक ^{१५}	२२. पारिभद्र ^{१६}
२३. बकुल ^{१७}	२४. आकन्द ^{१८}
२५. खदिर ^{१९} (खैर)	२६. अश्वत्थ ^{२०}

१. वराङ्ग०, २२.७०, चन्द्र०, २.१६, नेमि०, १.४६, प्रद्यु०, ११.८०, वसन्त०, ६.६१
२. वराङ्ग०, १२.७१, चन्द्र०, २.१३७, प्रद्यु०, ११.८३, वसन्त०, १०.७५
३. चन्द्र०, २.२१, नेमि०, ८.८
४. चन्द्र०, २२.७१
५. वराङ्ग०, २२.७१, नेमि०, ७.४, वसन्त०, ६.५०
६. वराङ्ग०, ७.२२.२२.७१, धर्म०, २.३६, प्रद्यु०, ३.६
७. वराङ्ग०, ७.२२, २२.७१, वसन्त०, ७.३४
८. वराङ्ग०, २२.७१
९. द्वया०, ३.४२
१०. द्वया०, ३.३६, वसन्त०, ६.४५
११. नेमि०, ६.३८, १.४७, प्रद्यु०, ११.७६, वसन्त०, ६.५८
१२. द्वया०, ४.२
१३. चन्द्र०, ६.६, नेमि०, ६.३२
१४. वराङ्ग, २२.७१
१५. चन्द्र०, २.१५, धर्म०, ३-३३, नेमि०, ६.२२, वसन्त०, ६.६१, प्रद्यु०, ६.२
१६. परि०, २.३८
१७. चन्द्र०, २.१४, नेमि० ६.२३, प्रद्यु०, ११.८०, वसन्त०, ६.६०
१८. परि०, २.३८
१९. द्वया०, ५.६८
२०. द्वया०, १५.६०

२७. सप्तपर्ण ^१	२८. कंचननार ^२
२९. प्लक्ष ^३	३०. पलास ^४
३१. ताल ^५	३२. तमाल ^६
३३. हिन्ताल ^७	३४. पिपली ^८
३५. श्व ^९	३६. नीप ^{१०}
३७. निचुल ^{११}	३८. लङ्गली ^{१२}
३९. उदुम्बर ^{१३}	४०. सेफाली ^{१४}
४१. मधूक ^{१५}	४२. कूष्माण्डी ^{१६}
४३. शामी ^{१७}	४४. जप ^{१८}
४५. बाण ^{१९}	४६. अश्वत्थ ^{२०} (पीला शाल)
४७. अञ्जन ^{२१}	४८. लवली ^{२२}

-
१. चन्द्र०, ६.६
 २. द्वया०, ६.३
 ३. द्वया०, ४४
 ४. चन्द्र०, २.१७, धर्म०, ३.२५, पद्मा०, २.६४
 ५. धर्म०, ३.३४, पद्मा०, २.६४, परि० २.३६, प्रद्यु०, ७.४३
 ६. वराङ्ग०, २२.७०, चन्द्र०, ६.२, पद्मा० २.६४, वसन्त०, ६.४५
 ७. पद्मा०, २.६४
 ८. द्वया०, ४.६३
 ९. द्वया०, ५.६८
 १०. प्रद्यु०, ११.८७, द्वया०, ३.४१
 ११. द्वया०, ५.२०
 १२. द्वया०, ५.१०
 १३. द्वया०, १५.६०
 १४. द्वया०, ३.३७
 १५. द्वया०, ३.२८
 १६. द्वया०, १.७६
 १७. द्वया०, १५.६०
 १८. द्वया०, १.२६, वसन्त० ६.४६
 १९. चन्द्र०, २.१०
 २०. वराङ्ग०, २१.६६
 २१. प्रद्यु०, ६.२, द्वया० ६.६१
 २२. द्वया०, ३.३७ त्रिषष्टि०, ४.५.५

४६. केतकी^१

५०. निम्ब^२ (नीम)

५१. शिलिघ्न^३

(ग) पशुपालन व्यवसाय

पालतू पशु

कृषि उद्योग का पशु पालन व्यवसाय से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। हल आदि चलाने, अनाज की चुटाई करने तथा खेतों की उर्वरा बनाने में पशुओं से विशेष सहायता ली जाती थी। आलोच्य काल में पशुपालन व्यवसाय प्रगति पर था। गाय, भैंस बैल, ऊँट, घोड़ा आदि पशुओं को पालने की विशेष चर्चा प्राप्त होती है।^४ ब्रजों में गायों को पालने तथा स्वादिष्ट दूध देने वाली उत्तम भैंसों का भी उल्लेख आया है।^५ बैलों के भुण्डों द्वारा जलाशय में पानी पीने के लिये जाने का उल्लेख भी आया है।^६ 'घोष' नामक ग्राम इस काल में पशु-पालन के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे।^७ 'गोष्ठ महत्तर' द्वारा दही और घी द्वारा राजा का स्वागत करने के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अहीर आदि जातियाँ पशुपालन व्यवसाय करती थीं।^८ गाड़ियों को चलाने के लिए प्रायः बैलों अथवा ऊँटों को प्रयोग में लाया जाता था। घोड़े, हाथी, ऊँट, खच्चर, गधे आदि से भी बोझा ढोने का कार्य लिया जाता था।^९

युद्धोपयोगी पशु

पशुओं में से घोड़े, हाथी, खच्चर, ऊँट, बैल आदि का सेना में भी

१. वराह्म०, ७.२८, जयन्त०, १३.२८, प्रद्यु०, ११.८७, वसन्त०, १०.७५, कीर्ति०, ७.५०

२. वराह्म०, ७.४१

३. प्रद्यु०, ११.८७, वसन्त०, ६.२२

४. वराह्म०, ०.१५, पद्मा०, १०.४६

५. निजैर्गुणैः स्मारितकामधेनुव्रजा यत्र गवां विभान्ति।

स्वादिष्टदुग्धेन मुषासुषापि यासां महिष्यश्च मनोहरास्ताः ॥

—जयन्त० १.३१ तथा वराह्म०, २१.४७, चन्द्र०, २.१२३, धर्म०, ४.३०

६. चन्द्र. १.६५

७. योषस्त्वाभीरपल्लिका। अभि० ४.६७ तथा तु०—वराह्म०, १.२६

८. वही, तथा तु०—अभ्रमगोष्ठमहत्तरैः।

पथि पुरो दधिसपिरुपायनान्युपहितानि। चन्द्र०, १३.४१

९. वराह्म०, ६.१५, चन्द्र०, २८-२९

महत्त्वपूर्ण स्थान रहा था ।^१ 'चतुरङ्गिणी' सेना में आधी सेना घोड़ों तथा हाथियों से ही बनती थी ।^२ फलतः हाथी तथा घोड़ों के लक्षणों की परीक्षा करने के निमित्त 'गजशास्त्र' तथा 'अश्वशास्त्र' का तत्कालीन विद्याओं में विशेष स्थान बन गया था । काम्बोज, वानायुज, वाल्मीकि, पारसीक आदि जातियों के घोड़े युद्ध की दृष्टि से उत्कृष्ट समझे जाते थे ।^३ हाथियों के भद्र, मन्द्र, मृग आदि भेद प्रचलित थे ।^४ इस प्रकार युद्ध की दृष्टि से हाथी तथा घोड़े इस युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पशु थे । युद्ध प्रयाण के अवसर पर बैलों, खच्चरों तथा ऊँटों द्वारा सामान ढोने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं ।^५ युद्धोपयोगी पशुओं की सुरक्षा तथा आवास-व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता था ।^६

मुर्गापालन

गाँवों में मुर्गा पालन व्यवसाय भी प्रचलित था ।^७ 'निगम' ग्रामों में मुर्गों की उल्लेखकृद् करने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं ।^८ एक गाँव के मुर्गे दूसरे गाँवों में आते जाते रहते थे ।^९ मुर्गों की लड़ाई जन-साधारण में मनोरञ्जन का विशेष आकर्षण रही थी । दण्डी के दशकुमारचरित में भी मुर्गों की लड़ाई का वर्णन आया है ।^{१०} इस प्रकार आलोच्य काल में ग्रामों में मुर्गा-पालन व्यवसाय एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था । प्रायः इसे निम्न जाति के लोग करते थे ।

वन्य पशुओं की व्यावसायिक उपयोगिता

हिरण, सियार, सूअर, वृक, रुरुच, न्यह्वीलक, सिंह, बाघ, चमरी मृग आदि

१. द्विस०, १४.३६-३८ तथा चन्द्र०, १३-२७-२९, १४.५७, ६०, ६३-६५,

२. चन्द्र०, १५.५९

३. काम्बोजवानायुजवाल्मीकाः हयाः सपारसीकाः पथि चित्रचारिणः ।

—धर्म०, ९.५०

४. भद्राश्च मन्द्राश्च मृगाश्च केऽपि ये । —धर्म०, ९.४९

५. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. १५९-६०

६. वही, १६२-६३

७. कुक्कुटान्मेघमार्जारान्नकुल्लिलावकाञ्छुनः । —वराह०, ५.६६

परस्परं ग्रामसहस्रदर्शिनो निपेतुरभ्यर्णंतथा हि कुक्कुटाः । —वही, २१.४४

८. कृकवात्कूपतनक्षमान्नुपः । —द्विस०, ४.४६

९. वराह०, २१.४४

१०. दशकुमारचरित, २.५

को मांस अथवा चमड़े के लिए भी मारा जाता था ।^१ चमड़ों से निर्मित विविध प्रकार के वाद्य यन्त्रों का निर्माण होता था । चमरी मृग की पूँछ के बालों से भी व्यावसायिक उपयोग होने का अनुमान लगाया जा सकता है ।^२ मृत-हाथियों से हाथी-दांत तथा मोतियों आदि का व्यापार भी आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण व्यवसाय रहा था ।^३ संभवतः व्यापारी लोग भीलों आदि से हाथी दांत खरीदकर इसका व्यापार करते थे ।^४

पशु पक्षियों से दुर्घ्यवहार

जैनाचार्य जटिसहनन्दि ने पशुओं तथा पक्षियों के साथ दुर्घ्यवहार करने की तिन्दा की है ।^५ प्रायः हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, खच्चरों आदि पशुओं पर अपेक्षा से अधिक वजन लादा जाता था तथा इन्हें भूखा प्यासा रखा जाता था ।^६ धार्मिक दृष्टि से पवित्र माने जाने वाले गाय जैसे पशु को भी सामाजिक शोषण तथा दमन-पूर्वक व्यवहार का शिकार होना पड़ता था । प्रायः पशुओं को डण्डों, अंकुशों, चाबुकों, रस्सियों आदि से मारा पीटा भी जाता था ।^७ पशु-पक्षियों के गले में मोटी रस्सी बांध दी जाती थी ।^८ कुछ पशु-पक्षियों को विशाल पिंजड़ों में बन्द कर दिया जाता था अथवा उसके पांवों में रस्सी बांध दी जाती थी ।^९ आखेटक प्रायः कबूतर, लवक, बतक, मोर, कपिजल, टिटिट्थ, आदि पक्षियों को दाना डालकर जाल में फाँस लेते थे ।^{१०} इसी प्रकार आखेटकों द्वारा नदी, तालाब आदि-स्थानों पर

१. वराङ्ग०, ६.२१

२. वही, ६.२६

३. वही, ६.२६

४. दन्तवाणिज्यं हस्त्यादिदन्ताद्यवयवानां पुलिन्दादिषु द्रव्यदानेन तदुत्पत्ति-स्थाने वाणिज्यार्थं ग्रहणम् ।

—(सागर घर्माभूत, ५.२३, पर टीका), जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ. ४२२ से उद्धृत ।

५. वराङ्ग०, ५.२६

६. वही, ६.१५

७. वही, ६.१६

८. वही, ६.१७

९. वही, ६.१७

१०. वही, ६.१७

जल पीने के लिए आए हुए बगुलों, सारसों, जलमुगियों आदि पक्षियों को मार देने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।^१ इस प्रकार पशु-पक्षी मनुष्यों से सदैव भयभीत रहते थे।

(घ) वाणिज्य व्यवसाय

व्यापार का स्वरूप

जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित व्यापार तथा क्रय-विक्रय सम्बन्धी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वाणिज्य विशेष प्रगति पर था। वैश्यवर्ग वाणिज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता था।^२ खानों से, सेतुओं से, तथा वणिक्पथों से राजा द्वारा कर प्राप्त करने के उल्लेख यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि वातु व्यापार तथा समुद्र व्यापार विशेष प्रगति पर था।^३ नगर के बाजारों की समृद्धि का मुख्य कारण खनिज उत्पादन तथा व्यापार रहा था।^४ भारत तथा अन्य, नेपाल, चीन आदि देशों के मध्य भी व्यापारिक वस्तुओं के आयात-निर्यात होने के संकेत प्राप्त होते हैं।^५ आदिपुराण में स्पष्ट रूप से समुद्र-व्यापार का वर्णन आया है। इसी सन्दर्भ में व्यापारियों की नौकाओं का मार्ग में टूट जाना, घाँधी तूफानों में नौकाओं का फंस जाना आदि समुद्री व्यापारियों की अनेक मार्गगत कठिनाइयों का उल्लेख भी आया है।^६ स्थलमार्ग से व्यापार करने वाले वणिकों की 'सार्थ' संज्ञा प्रचलित थी।^७ ये सार्थवाह किसी 'सार्थनाथ' के नेतृत्व में देश-देशान्तरों में जाकर व्यापार करते थे।^८ सार्थवाहादि व्यापारी अधिकांश रूप से विभिन्न प्रकार के मोती माणिक्यादि तथा सोने-चांदी आदि का व्यापार करते थे।^९

१. वही, ६.१६

२. कलाकौशलमेव स्याद्, वणिजां वत्स जीवनम् । —पद्मा०, ७.५०;

भवन्ति वैश्याः शूद्राश्च, कलाकौशलजीविनः । —पद्मा०, ७.५३;

इलाध्य कुर्वन् तत् कर्म यन्नैवात्मकुलोचितम् । —पद्मा०, ७.५४

३. वणिक्पथे खनिषु, वनेषु सेतुसु । द्विस०, २.१३

४. द्विस०, १.३४, २.२८, चन्द्र०, १.१८

५. ततश्चचाल नेपालं प्रावृत्कालेऽपि बालात् । —परि०, ८.१५४

६. आदि०, ४७.४५-१०८

७. वराङ्ग०, १३.७६ तथा आदि०, ४६.११२-१४२

८. स सार्थनाथः परिपूच्छति । —वराङ्ग०, १३.८२, तथा तु०—देशान्तरं प्राप्य समान्तरेषु । वराङ्ग०, १४.६२

९. प्रवालमुक्तामाणिरूप्यकाश्चनैरयं भूतः सार्थ इतो निगद्यताम् । वही, १३.७८

व्यापारिक काफिले

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि एक साथ काफिले के रूप में व्यापार करने के लिए जाने वाले वणिजों की 'सार्थ' संज्ञा प्रचलित थी।^१ वराहचरित में ऐसे ही 'सार्थपति' सागरवृद्धि नामक नगर सेठ का वर्णन आया है।^२ वराहचरित के अनुसार भी काफिले बनाकर व्यापार के लिए जाने वाले व्यापारी 'सार्थ' कहलाते थे।^३ 'सार्थवाहाधिपति' राजाओं के समान ही घन, ऐश्वर्य तथा सेना, गुप्तचर आदि से सम्पन्न होते थे।^४ मार्ग में जाते हुए इनके साथ अनेक गुप्तचर भी रहते थे जो काफिले को चोर-दस्युओं आदि के आने की पूर्वसूचना दे देते थे।^५ वराहचरित में उल्लिखित वर्णनों के आधार पर सार्थवाहों के गुप्तचर द्वारा एक व्यक्ति को सन्दिग्धवस्था में घूमते हुए देखकर 'कहाँ जाते हो ? क्या ढूँढ़ रहे हो ? क्या प्रयोजन है ? तुम्हारे स्वामी का क्या नाम है ? उसका सैन्य-बल कितना है ? यहाँ से कितने योजन की दूरी पर ठहरा है ? आदि पूछताछ करने का उल्लेख हुआ है।^६ इससे ज्ञात होता है कि सार्थवाह-वर्ग जङ्गली पुलिन्द आदि जातियों के लोगों से सदैव भयभीत बने रहते थे। पुलिन्द आदि जातियाँ भी सेना सहित सार्थवाहों के काफिले पर आक्रमण कर घन-सम्पत्ति लूट लिया करती थीं। इन्हीं कारणों से सार्थवाह लोग काफिले में सशस्त्र सेना भी रखते थे।^७ वराहचरित में सार्थवाहों तथा पुलिन्दों के मध्य घोर-युद्ध होने का उल्लेख भी आया है।^८

१. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ६४६
२. समूचिवान्संसदि सार्थनायकः । — वराह०, १३.८५, प्रदाप्य पाद्यं वणिजां पतिस्ततो । — वही, १३.८७
३. वराह०, १३.७६, तथा १४.६४
४. वही, १३.८६-८६ तथा सर्ग-१४
५. वही, १३.७८, १४.६
६. क्व यासि किं पश्यसि किं प्रयोजनं क्व देश्वरो वा क्व च तस्य नाम किम् । कियद्बलं वा कतियोजने स्थितं वदेति संगृह्य बबन्धुरीश्वरम् ॥
७. वही, १३.७७
८. वही, १४.११, १३-१५
९. पुलिन्दकानां वणिजां च घोरं मुहूर्तमेव समयुद्धमासीत् ।

—वही, १४.२३

नगर सेठों का आर्थिक वैभव

व्यापार करने वाले लोगों को सामान्यतया 'वणिक्' कहा जाता था। किन्तु इनके अधिपति के लिए 'सार्थनाथ'^१ 'सार्थनायक'^२ 'सार्थाधिपति'^३ 'वणिक्पति',^४ 'वणिक्श्रेणिनाथ'^५ आदि संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। 'वणिक्श्रेणिनाथ' विशेषण व्यापारियों के संघटित स्वरूप (guild) पर भी प्रकाश डालता है। 'सागरवृद्धि' जैसे सार्थवाहाधिपति घन धान्य सम्पन्न व्यापारी होते थे। प्रायः ये मूंगा, भोती, मणि, सोना, चांदी आदि बहुमूल्य वस्तुओं से सम्पन्न होते थे। सार्थपति सुन्दर वस्त्राभूषणों, सुगन्धित मालाओं आदि उपभोग्य वस्तुओं का सेवन करते थे। इनके अधीन जीविकोपार्जन करने वालों में युद्धकर्म-व्यवसायी सैनिक, हास्यादि ललित कलाओं के ज्ञाता, नट, नर्तक, सङ्गीतज्ञ, भाण्ड (स्वांग करने वाले) आदि होते थे। ये सभी लोग काफिले के साथ-साथ जाते थे। चोर दस्युओं द्वारा आक्रमण करने पर सैनिकों आदि से तथा वणिकों के मनोरञ्जनार्थ नटों, नर्तकों आदि से आवश्यकतानुसार कार्य लिया जाता था।

विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध

जैन संस्कृत महाकाव्यों में विदेशी व्यापार द्वारा आयातित कतिपय वस्तुओं का उल्लेख आया है। हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व के अनुसार नेपाल देश के 'रत्नकम्बल' प्रसिद्ध थे।^६ कोशा नामक वेद्या द्वारा नेपाल के रत्नकम्बल के प्रति इच्छा प्रकट करने पर जैन मुनि द्वारा नेपाल जाकर 'रत्नकम्बल' लाने का उल्लेख आया है।^७ 'रत्नकम्बल' का मूल्य एक लाख (मुद्राएं) कही गई है।^८ यह कम्बल इतना हल्का तथा कोमल होता था कि इसे बांस की छड़ी में भी धिपाकर रखा जा सकता था।^९ पद्मानन्द महाकाव्य में भी 'मणिकम्बल' का उल्लेख आया है तथा

१. वराङ्ग०, १३.८२

२. वही, १३.८५

३. वही, १३.८१

४. वही, १३.८७

५. वही, १३.८८

६. नेपालभूपो पूर्वस्मै साधवे रत्नकम्बलम् । —परि० ८.१५३, तथा चन्द्र०, ७२२, तथा वर्ष०, १४.३२

७. परि० ८.१५४

८. वही, ८.१५६

९. वेद्याकृतेऽस्य वंशस्यान्तः क्षिप्तोरत्नकम्बलः । वही, ८.१६०

इसका मूल्य एक लाख दीनार कहा गया है।^१ शल्य चिकित्सा की दृष्टि से भी 'रत्नकम्बल' का विशेष महत्त्व रहता था।^२

अनेक जैन महाकाव्यों में, 'चीनांशुक' (चीनी शिल्क) का उल्लेख मिलता है।^३ चालुक्यकालीन गुजरात के समय में भारत के चीन तथा जावा से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रहे थे।^४

नगरों के बाजार

उपभोगपरक विविध प्रकार की वस्तुओं के लिए जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित नगर विशेष रूप से समृद्ध रहे थे।^५ नागरिकों द्वारा क्रय-विक्रय किये जाने के कारण इन नगरों में रात-दिन चहल-पहल रहती थी।^६ इन बाजारों को 'वणिक्पथ' (Market) कहा गया गया है^७ तथा इनमें स्थित दुकानों को 'आपण' संज्ञा दी गई है।^८ युद्ध प्रयाण के समय भी वणिक्-वर्ग सेना के साथ-साथ जाता था तथा सैनिक पड़ावों पर कपड़े को तान कर अस्थायी दुकानें बनाई जाती थीं।^९ चन्द्रप्रभचरित में इस प्रकार की दुकानों का उल्लेख आया है।^{१०}

समृद्धि की दृष्टि से नगरों के बाजार प्रत्येक दृष्टि से उत्कृष्ट तथा सम्पन्न कहे गये हैं। प्रायः व्यापारी-वर्ग नगर के लोगों की आवश्यकतानुसार वस्तुएं अपने पास रखते थे।^{११} इन व्यापारियों की क्रय-नीति तथा व्यावहारिक भाषा की भी

१. पद्मा०, ६.५६
२. वही, ६.८६
३. सच्चिनपटांशुककम्बलानि । —वरांग०, ७.२१
चित्रनेत्रपटचीनपट्टिका । —चन्द्र०, ७.२३, वर्ष०, २४.३२
४. Majumdar, A.K., Chaulukyias of Gujrat, Bombay, 1956
p. 268
५. वराङ्ग०, १.३६, द्विस०, १.३२-३५
६. नक्तं दिवं क्रयपरिक्रयसक्तमर्त्यम् । —वराङ्ग०, १.४०
७. वणिक्पथे खनिषु वनेषु । —द्विस०, २.१३
८. यदापणा भान्ति चतुःपयोधयः । —द्विस०, १.३२
९. वणिग्भिन्नप्रगतैः पटमयापणराजितान्ताः । —चन्द्र०, १४.४४
१०. वही, १४.४४
११. तस्मिन्पुरे प्रतिवसत्सुलभं च वस्तु । —वराङ्ग०, १.३६ तथा द्विस०, १.३४

प्रशंसा की गई है। व्यापारियों का शिष्ट व्यवहार होने के कारण तथा प्रत्येक वस्तु दुकानों में सुलभ होने के कारण ग्राहकों को नगर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी।^१ व्यापारी प्रायः विक्रेय वस्तुओं के प्रयोग के सम्बन्ध में भी पूछताछ कर लेते थे।^२ कभी-कभी धार्मिक उद्देश्य से क्रय की जाने वाली बहुमूल्य वस्तु का भी वणिक् लोग मूल्य नहीं लेते थे। पद्मा० महाकाव्य में जैन मुनि के उपचारार्थ क्रय की जाने वाली एक-एक-लाख दीनार मूल्य वाली वस्तुओं का मूल्य स्वीकार नहीं किया गया।^३ इस प्रकार नगरों के बाजारों में सौहार्दपूर्ण वातावरण होने का उल्लेख आया है। जैन लेखकों ने बाजारों के माप तौल सम्बन्धी व्यापारियों की इमानदारी को विशेष सराहा है।^४

विक्रयार्थ फुटकर वस्तुएं

वराङ्गचरित तथा द्विसन्धान महाकाव्य में भी कहा गया है कि नगरों के बाजारों में दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी प्राप्य थी।^५ उवाहरणार्थ धातुओं में सोना, फूलों में पराग, घन पद्मार्थों में वज्र, जलोत्पन्न वस्तुओं में मोती जैसी बहुमूल्य वस्तुएं भी क्रयार्थ उपलब्ध रहती थीं।^६ इसी प्रकार एक स्थान पर विभिन्न प्रकार की लकड़ियों में देवदार लकड़ी के भी उपलब्ध रहने का उल्लेख किया गया है।^७

बाजारों में विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के अन्तर्गत बहुमूल्य हीरे, मोती रत्नों आदि के अन्तर्गत प्रवाल, मुक्ता, नील, कर्कतन, वज्र, गारुडमणि, वैडूर्य, महेन्द्रनीलमणि, चन्द्रकान्तमणि, पद्ममणि, शंख, सूचित आदि उल्लेखनीय हैं।^८ धातुओं के अन्तर्गत, सोना, चांदी, ताँबा, लोहा, शीशा विक्रयार्थ उपलब्ध रहता था।^९

१. द्विस०, १.३५

२. पद्मा०, ६.५७

३. विनाशि गृह्णामि घनं न मूल्ये, काङ्क्षामि किन्त्वक्षयमेव धर्मम्।

—पद्मा० ६.६५

४. प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा।

वणिजस्ताकिंकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमीयते ॥

—चन्द्र०, २.१४२

५. वराङ्ग०, १.३६, तथा द्विस०, १.३४

६. द्विस०, १.३४

७. वही, १.३६

८. द्विस०, १.३२, वराङ्ग०, ७.४-५, २२.६४-६५

९. चन्द्र०, ७.८४, वध०, १४.३०, द्विस०, १.३३

इनसे बने अनेक प्रकार के आभूषणों, आयुधों तथा अन्य उपकरणों के विक्रयार्थ उपलब्ध रहने की सम्भावना की जा सकती है। महत्वपूर्ण वस्त्रों के अन्तर्गत पटी, पटक्षीम, दुकूल, कम्बल, रेशमी वस्त्र, सूक्ष्म वस्त्र, चीनी वस्त्र, कमरबन्द, अंशुक, रत्नकम्बल, मणिकम्बल, तकिया, शय्या, आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^१ पद्मानन्द महाकाव्य में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से 'मणिकम्बल' तथा 'गोशीर्षचन्दन' का एक-एक लाख दीनारों में विक्रय किए जाने का स्पष्ट रूप से वर्णन आया है।^२

मुद्रा तथा क्रय शक्ति

प्राचीन काल से ही भारतीय व्यापार में रुपयों आदि के व्यवहार से वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था। जैन संस्कृत महाकाव्यों में व्यापारिक सन्दर्भों में विनिमय सम्बन्धी मुद्राओं का अधिक उल्लेख नहीं आ पाया है। पद्मानन्द महाकाव्य में एक स्थान पर एक लाख दीनारों का प्रयोग व्यापारिक लेन-देन के सम्बन्ध में ही हुआ है।^३ इसी प्रकार हम्मीर महाकाव्य में भी अलाउद्दीन द्वारा हम्मीर से एक लाख स्वर्ण मुद्राएं (स्वर्णलक्षम्) मांगी गई थीं।^४ इन दो उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारतवर्ष में 'दीनार' तथा 'स्वर्ण' अथवा 'सुवर्ण' महत्पूर्ण मुद्राएं रही होंगी। ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीनार' तथा 'सुवर्ण' का गुप्त लेखों में भी प्रयोग हुआ है।^५

'दीनार' को 'केवड़िक' भी कहा जाता था।^६ निशीथभाष्य के अनुसार मयूरांक नामक राजा ने अपने नाम से चिह्नित 'दीनारों' को भूमि में गाड़ रखा था।^७ 'दीनार' नामक सिक्कों पर 'मोर' चिह्नित रहता था तथा सर्वप्रथम इसका प्रयोग 'कुमारगुप्त' ने किया। तदनन्तर स्कन्दगुप्त तथा भानुगुप्त द्वारा चलाए गए 'दीनार' सिक्कों में भी मोर का चिह्न बना रहता था।^८ जगदीश चन्द्र जैन के

१. द्विस०, १.३३, चन्द्र०, ७.२३, तथा वर्ध०, १४.३२

२. पद्मा०, ६.५६

३. वृद्धो वणिग् वस्तुयुगस्य मूल्यमेकैकदीनारकलक्षमूचे। — पद्मा० ६.५६

४. तत् स्वर्णलक्षं चतुरो गजेन्द्रान्। — हम्मीर०, ११.६०

५. ए० एस० अल्तेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं, पटना, १९५४, पृ० २०६

६. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८६, पाद टि० २

७. निशीथभाष्य, १३.४३१५

८. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८६

अनुसार ईस्वी की प्रथम शताब्दी में, कुषाण काल में रोम के 'डिनेरियस' नामक सिक्के का यह प्रतिरूप रहा था ।^१

'सुवर्ण' नामक सिक्के का प्रयोग जैन आगम ग्रन्थ 'निशीथसूत्र' में भी हुआ है ।^२ ऐसी संभावना की जा सकती है कि संस्कृत 'स्वर्ण' तथा 'सुवर्ण' पर्यायवाची रहे होंगे ।

द्वयाश्रय महाकाव्य में जिन अन्य मुद्रापरक इकाइयों की ओर संकेत किया गया है उनमें 'रूप्य'^३ 'कार्षापण',^४ 'नैक',^५ 'पण'^६, 'कोकराणी'^७, 'सुवर्ण'^८ 'शूर्प'^९ आदि नाम उल्लेखनीय हैं । द्वयाश्रय महाकाव्य में 'लौहितिक'^{१०} नामक लोहे की मुद्रा का भी उल्लेख आया है ।

नारङ्ग महोदय के अनुसार, 'रूप्य' अथवा 'रूपक' मुद्राएं एक ही रही थीं ।^{११} अभय तिलक गणि के अनुसार बीस रूपकों में खरीदी गई वस्तु 'विशतिक' कहलाती थी ।^{१२} वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह बीस माषों के बराबर की मुद्रा रही होगी ।^{१३} सौराष्ट्र के दक्षिणस्थ 'द्वीप' के दो 'साभरक' को उत्तरापथ के एक 'रूप्यक' के तुल्य, उत्तरापथ के दो 'रूप्यक' को पाटलिपुत्र के एक 'रूप्यक' के तुल्य, दक्षिणपथ के दो 'रूप्यक' को कांचीपुरी के एक 'नेलक' के तुल्य तथा कांचीपुरी के दो 'नेलक' को पाटलिपुत्र के एक 'नेलक' के तुल्य स्वीकार किया जाता था ।^{१४} कम्बलों के मूल्य १८ 'रूप्यक' से लेकर एक लाख 'रूप्यक' तक भी होते थे ।^{१५}

१. वही, पृ० १८८, पाद टि० ८
२. निशीथसूत्र, ५.३५
३. रूप्यस्य प्रतिकी । —द्वया०, १७.७६
४. कार्षापणिकी काञ्चनस्य किम् । —वही, १७.७६
५. नैकिका बैस्तिका द्वित्रिबह्वाद्या । —वही, १७.८५
६. पणः कार्षापणः । —द्वया० १७.८७ पर अभयतिलकगणिकृत टीका, पृ० ३८५
७. वही, १७.८८
८. द्विसुवर्णात्रिसौवर्णिकांशुका । वही, १७.८३
९. शोषिकं वासनम् । वही, १७.८१
१०. पाञ्चलौहितिकोन्मेयम् । वही, १७.८२
११. Narang, Dvayāśraya, p. 215
१२. विशती रूपकादीनि मानमस्य विशतिकम् । —द्वया०, १७.८१ पर कृत अभय० टीका, पृ० ३८२
१३. Agrawala, V.S., India As known to Pāṇini, p. 269
१४. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८६
१५. बहुत्कल्पभाष्य, ३-३८६०

‘कार्षापण’ नामक मुद्रा राजा बिम्बसार के समय में भी प्रचलित थी। संघ के नियमों को बनाते समय बुद्ध ने इसे एक ‘स्टैंडर्ड’ ‘मुद्रा’ के रूप में मान्यता दी थी।^१ मूलतः यह स्वर्ण-मुद्रा रही थी किन्तु परवर्ती काल में इसका चाँदी के रूप में भी प्रचलन होने लगा था।^२ दशवैकालिकचूर्णी के द्वारा एक तीतर का मूल्य एक ‘कार्षापण’ बताए जाने के कारण जगदीश चन्द्र जैन महोदय का मत है कि यह मुद्रा ताम्बे की भी रही होगी।^३ उत्तराध्ययनसूत्र में ‘कूट’ (खोटे) ‘कार्षापण’ का भी उल्लेख आया है।^४ ‘कार्षापण’ के लिए ‘कर्ष’ प्रयोग भी हुआ है।^५

‘निष्क’ तथा ‘गाय’ पारस्परिक विनिमय के माप दण्ड भी रहे थे।^६ अभयतिलकगणि ने एक ‘निष्क’ को सौ ‘पल’ के तुल्य माना है।^७ स्वर्ण-निमित्त ‘निष्क’ का मूल्य एक सौ आठ ‘पल’ भी सम्भव था।^८

‘काकणी’ (उत्तराध्ययनसूत्र में ‘काकिणी’)^९ ‘रूप्यक’ से अल्प मूल्य वाली मुद्रा रही होगी। उत्तराध्ययन के एक उल्लेख के अनुसार एक रूपये से अनेक ‘काकणी’ मुनाई जा सकती थी।^{१०} अभयतिलकगणि के अनुसार एक ‘काकणी’ बीस ‘कर्पद’ के तुल्य थी।^{११}

वस्तुओं में मिलावट तथा झूठे मापतौल का प्रयोग

सामान्यतया व्यापारी माप तौल के व्यवहार में इमानदार होते थे। परन्तु वराङ्गचरित महाकाव्य में ऐसे भी कुछ व्यापारियों की ओर संकेत किया गया है कि जो वस्तुओं में मिलावट करते थे अथवा नकली वस्तुओं को असली वस्तु के रूप में बेचते थे। इस प्रकार के भ्रष्ट विक्रेता प्रायः तक्र (मठा) दधि (दही) क्षीर (दूध)

१. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८७
२. Narang, Dvyāśraya, p. 214
३. दशवैकालिक चूर्णी पृ० ५८ तथा जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में, पृ० १८६
४. उत्तराध्ययनसूत्र, २०.४२
५. Narang, Dvayāśraya, p. 214
६. वही, पृ० २१४
७. द्वया०, १५.६६ पर अभय० कृत टीका, पृ० २३३
८. निष्को हेम्नोष्टोत्तरं शतं पलं वा । —द्वया०, १७.८४
९. उत्तराध्ययन सूत्र, ७.११
१०. वही,
११. कर्पदकविंशतिः काकणी । —द्वया०, १७.८८ पर कृत अभय० कृत टीका, पृ० ३८६

धृत (घी) गुड़ आदि में पानी तथा अन्य सस्व वस्तुओं को मिलाकर बेच देते थे।^१ इसी प्रकार प्रवाल (मूँगा), मुक्ता (मोती), मणि तथा सोने आदि में भी सस्व नकली वस्तुओं को मिलाकर बेचने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^२ इस प्रकार के लोगों के लिए दण्ड के रूप में पशु-जीवन मिलने की धार्मिक मान्यता प्रसिद्ध थी।^३ इसी प्रकार मापतील सम्बन्धी बेईमानी करने वालों की भी यही सजा कही गई है।^४

(ड) शिल्प व्यवसाय

श्रेणि-व्यवसाय तथा अष्टादश श्रेणियाँ

आर० सी० मजूमदार महोदय के अनुसार 'श्रेणि' वह विशिष्ट शब्द है जो व्यापारियों अथवा शिल्पियों के 'सङ्गठन' का परिचायक है।^५ भिन्न-भिन्न जाति के किन्तु समान व्यवसाय तथा उद्योग अपनाने वाले लोगों के सङ्गठन की स्थिति को 'श्रेणि' का वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाता है।^६ बौद्ध जातक ग्रन्थों तथा अभिलेखों में भी 'श्रेणि' के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^७ मजूमदार महोदय के अनुसार श्रेणियों की संख्या १८ स्वीकार करना एक परम्परागत मान्यता रही है।^८ उन्होंने स्वयं विभिन्न व्यवसायों के आधार पर २७ श्रेणियों की सूची प्रस्तुत की है।^९

१. वराङ्ग०, ६३५

२. वही, ६३६

३. वही, ६३५, ३६

४. ये वञ्चकाः कूटतुलातिमानैः परोपतापं जनयन्ति नित्यम् ।

—वही, ६३३

५. रमेशचन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संचटित जीवन, सागर, १९६६, पृ० १८

६. वही, पृ० १८

७. वही, पृ० १८

८. वही, पृ० १८

९. तु०—१. लकड़ी का काम करने वाले बड़ई (जिनमें पेटिका का निर्माण, चक्र-निर्माण, गृह निर्माता तथा सभी प्रकार के वाहन बनाने वाले आदि सम्मिलित हैं) । २. सोना, चाँदी, आदि धातुओं का काम करने वाले । ३. पत्थर का काम करने वाले । ४. चर्मकार ५. दस्तकार ६. भोदयंत्रिक (पनचक्की चलाने वाले) ७. वसकर (बांस का काम करने वाले) ८. कसकर (ठठेरे) ९. रत्नकार (जौहरी) १०. बुनकर (जुलाहे) ११. कुम्हार १२. तिल-पिषक (तेली) १३. फूस का काम

जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी 'श्रेणि' की सत्ता को स्वीकार किया गया है तथा इनकी परम्परागत संख्या भी अठारह ही मानी गई है।^१ जैन महाकाव्यों के काल में श्रेणियां अपने नियमों तथा संविधानों के अनुरूप सज्जित रही होंगी। 'क्योंकि 'श्रेणि' के साथ प्रायः 'गण' एवं 'प्रधान' आदि का व्यवहार हुआ है जो स्पष्ट रूप से इनके 'सङ्घठित' स्वरूप का द्योतक है।^२ वराहचरित में उल्लिखित 'श्रेणि' के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि राजदरबार में भी विभिन्न प्रकार की श्रेणियों के प्रधानों का महत्वपूर्ण स्थान था। विशेष राजकीय उत्सवों के अवसरों पर ये 'श्रेणि-प्रधान' व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों की देखभाल करते थे।^३ राज्याभिषेक के अवसर पर भी श्रेणि-गणों के प्रधान ही सर्वप्रथम गन्ध तथा चन्दन जल से राजकुमार का पादाभिषेक करते थे।^४ पद्मानन्द महाकाव्य में 'प्रश्रेणियों' का भी उल्लेख आया है।^५

जीविकोपार्जन सम्बन्धी तकनीकी व्यवसाय

जैन संस्कृत महाकाव्यों में उल्लिखित शिल्प-व्यवसायियों तथा अन्य जीविकोपार्जन सम्बन्धी व्यवसायों की जानकारी इस प्रकार मिलती है—

करने वाले और डलिया बनाने वाले १४. रङ्गरेज १५. चित्रकार १६. वंमिक (भान्य के व्यापारी) १७. कृषक १८. मछुए १९. कसाई २०. नाई तथा मालिश करने वाले २१. मालाकार (माली) २२. नाविक २३. चरवाहे २४. सार्थ सहित व्यापारी २५. डाकू तथा लुटेरे २६. वन-आरक्षी जो सार्थों की रक्षा करते थे तथा २७. महाजन।

१. अष्टादशश्रेणिगणप्रधानैरष्टादशान्येव दिनानि तत्र।

कश्चिद्भटस्यावनिपातमायाश्चक्रे विभूति महतीं महदिभः ॥

—वराह०, १६.२५;

अष्टादशश्रेणिगणप्रधाना बहुप्रकारैर्मणिरस्तमिश्रैः।

गन्धोदककैवचन्दनवारिभिश्च पादाभिषेकं प्रथमं प्रचक्रुः।

—वही०, ११.६३

तथाऽष्टदशभिः श्रेणिप्रश्रेणिभिरशोभत। —पद्मा०, १६.१६३

२. कारुस्तु कारी प्रकृतिः शिल्पी श्रेणिस्तुतदगणः।

—अभिधानचिन्तामणि कोश ३.८६६, सम्पादक विजयकस्तूर सूरि, मुम्बई, वि० सं० २०१३, पृ० २०४

३. वराह०, १६.२५

४. वही०, ११.६३

५. पद्मा०, १६.१६३

१. लोहकार^१ (लुहार) —लोहे का काम करने वाले ।
२. कुलाल^२ (कुम्हार) —मिट्टी के बर्तन बनाने वाले ।
३. कुविन्द^३ (जुलाहा) —कपड़े बुनने वाले ।
४. रंगरेज —वस्त्रों में रङ्ग चढ़ाने वाले ।^४
५. रजक^५ (धोबी) —कपड़े धोने वाले ।
६. खनिक^६ (खान-मजदूर) —खानों को खोदने वाले ।
७. उद्यानपाल^७ (भाली) —वनों की रक्षा आदि करने वाले ।
८. नापित^८ (नाई) —दाढ़ी-हजामत बनाने वाले ।
९. कंचुकश्री^९ (दर्जी) —कपड़े सीने वाले ।
१०. हस्तिपक^{१०} (महावत) —हाथी सञ्चालन करने वाले । इसे 'महामात्र'^{११} भी कहा गया है ।
११. कर्णधार^{१२} (नाविक) —नौका चलाने वाले ।
१२. कन्द^{१३} (हलवाई) —पूरी, मिष्ठान आदि बनाने वाले ।^{१४}
१३. सूपकार^{१५} (रसोइया) —भोजन बनाने वाले ।
१४. भोजक^{१६} (बैयरा) —भोजन परोसने वाले ।

१. द्वया०, १६.४६, द्विस०, ५.११-१२
२. पद्मा०, १२.७२, द्वया०, १६.६३
३. पद्मा०, १०.७३, द्वया०, १७.११
४. द्वया०, १५.४२-४४
५. द्वया०, ११.३७, परि०, ७.६७, पद्मा०, ४.१६६
६. द्वया०, ११.३७ तथा चन्द्र०, १.१८
७. वराङ्ग०, ३.६, धर्म०, २.७५, प्रबु०, ६.२७
८. पद्मा०, १०.७२, द्वया०, १६.२१
९. द्विस०, १.४, धर्म०, २.५०
१०. यशो०, २.३४
११. चन्द्र०, १५.२१, द्वया०, ११.८४
१२. द्वया०, ११.५३
१३. चन्द्र०, १४.४६
१४. चन्द्र०, १४.४६
१५. पद्मा०, २.४८
१६. वराङ्ग०, २३.४७

१५. तक्षक^१ (बढ़ई)—लकड़ी का काम करने वाले ।
१६. शौनिक^२ (कसाई)—मांस बेचने वाले । मुर्गे आदि पालने वालों को 'श्वपच' कहा गया है ।^३
१७. भिषज्^४ (वैद्य)—चिकित्सा करने वाले ।
१८. वैवधिक^५ (कावडिक)^६—कंधे पर कांवर उठाकर बोझा ढोने वाले ।
१९. गोपाल^७ (अहीर)—सिर पर धड़ा उठाकर दही घी आदि बेचने वाले । दही बेचने वाली गोप वधू के लिए 'वल्लव-योषिता'^८ का प्रयोग हुआ है ।
२०. रङ्गोपजीवी^९ (नाटककार)—नाटक लिखने वाले तथा नाटकों का आयोजन करने वाले ।
२१. नट^{१०} (अभिनेता)—नाटकादि में काम करने वाले ।
२२. भाण्ड^{११}—उत्सवों आदि पर जनता का मनोरञ्जन करने वाले ।
२३. विदूषक^{१२}—हास्य कलाकार ।
२४. विडम्बक^{१३}—तकल करने वाले हास्य कलाकार ।
२५. गायिक^{१४} (सङ्गीतकार)—सङ्गीत बजाने वाले ।
२६. वागीश^{१५} (गायक)—गीत गाने वाले ।

-
१. पद्मा०, १०.७३, ४.१६७
 २. द्वया०, २२.३७
 ३. यशो०, ३.८०
 ४. यशो०, ३.४, परि०, २.२२५, हम्मीर०, ४.७१
 ५. चन्द्र०, १३.३१
 ६. चन्द्र०, १३.३१ पर विद्वन्मतोवल्लभा टीका
 ७. जयन्त०, १.३७, नेमि०, १.३१, चन्द्र०, १६.२
 ८. चन्द्र०, १३.३०, १३.४१-४२, तथा परि०, ११.११०
 ९. वराङ्ग०, १.२८, १४-४ २१.२२
 १०. वही, १४.३, २३.४७
 ११. वही, १४.५, २३.४७
 १२. वही, २३.४७
 १३. वही, २३.४७
 १४. द्वया०, ११.३७
 १५. वराङ्ग०, २३.६

२७. नर्तकी^१—नृत्य करने वाली ।
 २८. वैश्या^२—वैश्या-वृत्ति करने वाली ।
 २९. चित्रकार^३—चित्रकला निबद्ध करने वाले ।
 ३०. वणिक्^४—फुटकर-माल-विक्रेता ।
 ३१. सार्थवाह^५—बड़े व्यापारी ।
 ३२. पुरोहित^६—कर्मकाण्ड आदि व्यवसाय करने वाले ।
 ३३. गणक^७—ज्योतिष विद्या जानने वाले ।
 ३४. मन्त्रविद्^८ (ओम्ना)—मन्त्रों, द्वारा रोग आदि दूर करने वाले ।
 ३५. भट^९ (योद्धा सैनिक)—सेना में काम करने वाले ।
 ३६. कृषक^{१०} (किसान)—खेती का काम करने वाले ।
 ३७. पुलिन्द^{११}—जङ्गलों में रहकर व्यापारियों आदि को लूटने वाले ।
 ३८. विद्याभूत्य^{१२}—विभिन्न प्रकार की विद्याओं अथवा कलाओं को जानने वाले ।
 ३९. ग्रन्थापक^{१३}—ग्रन्थापन कार्य करने वाले ।
 ४०. काव्यकार^{१४}—काव्य-रचना करने वाले ।

-
१. वराङ्ग०, १४.३, द्वया०, ११.३७
 २. चन्द्र०, १४.४७
 ३. द्विस०, ८.४४, द्वया०, ९.१०८, पद्मा०, १०.७३
 ४. वराङ्ग०, १४.२५, चन्द्र०, १३.२९, पद्मा०, ६.५६, परि०, ११.११०-११
 ५. वराङ्ग०, १३.८१, पद्मा०, २.२७, वर्ष०, ३.३५, पार्श्व०, ३.६२
 ६. चन्द्र०, १५.२१, हम्मीर०, २.२२
 ७. वर्ष०, ५.६१
 ८. वराङ्ग०, २०.६६ हम्मीर०, ४.४१
 ९. द्विस०, २.३७, वराङ्ग०, १४.६२, चन्द्र०, १५.४, १५.४१ १५.४७
 १०. परि०, १.९, जयन्त०, १.३७, चन्द्र०, १.१३ तथा नेमि०, १.२८
 ११. वराङ्ग०, १४.७, १३, वर्ष०, ३.३९
 १२. द्वया०, १३.८
 १३. शान्ति०, १.१११
 १४. द्विस०, १.४८, ८.४८

उपर्युक्त तालिका में किसी व्यवसायी विशेष के आधार पर तत्कालीन व्यवसायों पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु कुछ ऐसे भी व्यवसायों के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है जिनका संस्कृत जैन महाकाव्यों में उल्लेख तो आया है किन्तु उसकी किसी पारिभाषिक संज्ञा विशेष का निर्देश नहीं हुआ है। इस प्रकार के प्रचलित महत्त्वपूर्ण व्यवसायों की स्थिति इस प्रकार थी—

४१. बेलगाड़ियों द्वारा बोझा ढोने वाले व्यवसाय—बेल गाड़ी के लिए 'शकट' तथा 'गन्त्री' आदि शब्दों का प्रयोग आया है।^१

४२. गन्ना पिरने आदि से सम्बन्धित व्यवसाय—यन्त्रों द्वारा तिल, ईक्षु आदि का रस निकालने के उल्लेख मिलते हैं।^२

४३. फल-पुष्पों से मदिरा आदि बनाने से सम्बन्धित व्यवसाय—इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की 'मदिरा' बनाने की सूचना भी मिलती है।^३

४४. दूधों से घृण आदि बनाने से सम्बन्धित व्यवसाय—कालागरु घृण तथा अन्य सुगन्धित लेपादि वस्तुओं के अस्तित्व की सूचना भी प्राप्त होती है।^४

४५. आयुष-निर्माण सम्बन्धी व्यवसाय—अनेक प्रकार के धनुष, तीर, तलवार तथा अन्य लौह-निर्मित आयुधों का आलोच्य काल में निर्माण होता था।^५

४६. बाहन बनाने से सम्बन्धित व्यवसाय—'रथकर्ता' का स्पष्ट उल्लेख आया है।^६

४७. गोमय व्यवसाय—उपले आदि बनाने से सम्बन्धित व्यवसाय की सूचना भी प्राप्ति होती है।^७

४८. मिक्षा-व्यवसाय—भिसा मांगने को भी जीविकोपार्जन से सम्बन्धित व्यवसाय के रूप में वर्णित किया गया है।^८

१. चन्द्र०, १३.२६ तथा वर्ध०, ४.४

२. पीड्यन्ते तिलयन्त्रेषु ईक्षुयन्त्रे तथापरे । —वराह०, ५.७१

तिलतोयेक्षुयन्त्राणां रोपणदावदीपनम् । —धर्म०, २१.४५

पिण्ड्यन्ते तिलपेषं चित्रैर्यन्त्रैश्च कुत्रापि । —पद्मा०, ३.१६७

३. अरिष्टमैरेयमुरामधूनि कादम्बरीमलयवरप्रसन्नाः । —वराह०, ७.१५

४. तुरुष्ककालागरुचन्दनानाम् । —वही, ७.६ तथा

कपूरकृष्णागुरुधूपधूपनैः । —पद्मा०, ३.१२५

५. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. १६८-८४

६. धर्म०, २१.४५, त्रिषष्टि०, २.६.३८

७. परि०, ३.१३

८. परि०, ८.२३०

४६. वास्तु-शास्त्रीय-व्यवसाय—नगर, देवालय आदि का निर्माण करना एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय रहा था ।^१

५०. लकड़ी काटने का व्यवसाय—जङ्गल में जाकर लकड़ी आदि काटकर जीविकोपार्जन से सम्बन्धित व्यवसाय भी प्रचलित थे ।^२

इन व्यवसायों के अतिरिक्त चोरी करना, डाका डालना तथा लूटमार करना भी व्यवसाय के रूप में प्रचलित हो चुका था ।^३

पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय

जैन पुराण ग्रन्थों की मान्यता के अनुसार जन-जीवन से सम्बन्धित व्यवसायों (सावद्य कर्मों) को 'प्रसि' (सैन्य व्यवसाय), 'मसि' (लेखन सम्बन्धी व्यवसाय), 'कृषि' (खेती), 'विद्या' (गणित आदि विद्याओं से सम्बन्धित व्यवसाय), 'शिल्प' (तकनीकी व्यवसाय) तथा 'वाणिज्य' (व्यापार)—छः विभागों में विभक्त किया गया है ।^४ जैन शास्त्रों में १५ अतिचार निषिद्ध हैं । ये अतिचार खरकर्म भी कहलाते हैं ।^५ इन खरकर्मों में जो १५ कर्म निषिद्ध हैं उनका भी व्यावसायिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है । इन विविध प्रकार के अतिचार तथा सावद्य कर्मों को व्यवसाय की दृष्टि से इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है^६—

१. वनजीविका—छिन्न अथवा अछिन्न वृक्ष आदि वनस्पतियों को बेचना गेहूं आदि अनाज को कूट-पीस कर बेचना आदि ।

२. अनोजीविका—गाड़ी, रथ, तथा उसके चक्र आदि भागों को स्वयं बनाना अथवा दूसरों से बनवाना, गाड़ी जोतने का काम स्वयं करना अथवा दूसरों से करवाना, गाड़ी आदि को बेचना आदि ।

१. वराह्म०, २१-३१ तथा २२.५६

२. धर्म०, २१.४५, पद्मा०, ४.१६३, द्वया०, २.४१

३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १०३-४

४. असिमपिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।

कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥

—आदि० १६.१७६ तथा

कर्मार्यास्त्रेधा—सावद्यकर्मार्या, अल्पसावद्यकर्मार्या, असावद्य कर्मार्याश्चेति ।

सावद्यकर्मार्याः षोढा—असि-मसि-कृषि-विद्या-शिल्पवणिक्कर्मभेदात् ।

(राजवार्त्तिक, ३.३६. २.२००.३२), जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,

भाग ४, पृ० ४२१

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ० ४२१

६. विशेष द्रष्टव्य—वही, पृ० ४२२

३. अग्निजीविका—कोयला आदि तैयार करना ।

५. स्फोटजीविका—पटाखे आदि विस्फोटक पदार्थों को बनाना ।

५. भाटकजीविका—गाड़ी घोड़े आदि से बोझ ढुलवाना ।

६. यन्त्रपोषण—तेल निकालने के लिए कोल्हू चलाना तथा तिल आदि देकर तेल खरीदना ।

७. नित्यञ्छन—बैल आदि पशुओं की नाक छेदने का कार्य करना ।

८. असतोषोष—हिंसक प्राणियों को पालना तथा किराए पर देने के लिए दास-दासियों का पालन पोषण करना ।

९. सरःशोष—अनाज बोने अथवा सिंचाई आदि करने के उद्देश्य से जलाशयों से नाली खोदकर पानी कालना ।

१०. दधप्रद—वन में घास आदि को जलाने का कार्य करना ।

११. विषवाणिज्य—विष का व्यापार करना ।

१२. लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यापार करना । टङ्कण (टाखन-खार), मनसिल, गुग्गल, धाय के फूलों तथा त्वचा से मद्य बनाना भी लाक्षा वाणिज्य के अन्तर्गत आता है ।

१३. वन्तवाणिज्य—भीलों आदि से हाथी दांत खरीदकर व्यापार करना ।

१४. केशवाणिज्य—दास-दासियों तथा पशुओं का व्यापार करना ।

१५. रसवाणिज्य—मक्खन, शहद, चरबी, मद्य आदि का व्यापार करना ।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में उपर्युक्त १५ व्यवसायों को जैन धर्म की दृष्टि से निषिद्ध माना गया है ।^१ सामान्यतया इन व्यवसायों का आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा था परन्तु जैन समाज में इन्हें 'क्रूर' व्यापार के रूप में देखा जाता था ।

निष्कर्ष—

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में जैन संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर मध्यकालीन भारत की अर्थव्यवस्था सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है । इतिहासकारों ने आलोच्य काल को आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से पूर्णतः सामन्तवादी प्रवृत्तियों से जकड़ा हुआ माना है । जैन संस्कृत महाकाव्यों के स्रोत इस तथ्य की पुष्टि करते हैं तथा युगीन सामन्ती चरित्र के अनेक अनालोचित पक्षों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से जमींदारी-प्रथा के उद्भव तथा विकास सम्बन्धी तथ्यों पर दृष्टि डाली जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन भारतवर्ष के भूमिदानों से इस प्रथा की पृष्ठभूमि विशेष रूप से सुदृढ़

होने लगी थी। राजनैतिक सामन्त-पद्धति से अनुप्रेरित मध्यकालीन भारतवर्ष की सामन्ती अर्थव्यवस्था को मध्यकालीन यूरोप की सामन्तशाही अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। अमेरिका की प्राचीन थोंगा आदि जन-जतियों में भूमि वितरण एवं भूमि-हस्तान्तरण की जो प्रक्रियाएं प्रचलित थीं। तदनुरूप ही मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था भी अपने दिशा निर्माण में अग्रसर हो चुकी थी। जैन संस्कृत महाकाव्यों में स्पष्ट रूप से जिस आर्थिक समृद्धि का चित्रण हुआ है वह समग्र समाज का आर्थिक चित्रण न होकर सामन्त राजाओं तथा धनिक वर्ग से ही अधिक सम्बद्ध है।

आलोच्यकाल में कृषक तथा शिल्पी वर्ग आर्थिक उत्पादन की वृद्धि के लिए साधन की भाँति प्रयोग में लाए जाते रहे थे। इन्हीं लोगों के कठोर परिश्रम का ही परिणाम माना जाना चाहिए कि आलोच्य काल का उपभोक्ता-वर्ग ऐश्वर्य सम्पन्न जीवन बिताने का आनन्द लूट रहा था। जैन संस्कृत महाकाव्यों के काल में धन-सम्पत्ति विषयक जो मान्यताएं प्रचलित थीं उनमें मुद्रा संचय की लालसा से कहीं अधिक विभिन्न प्रकार के उपभोगों की भोगने की मान्यताएं बलवती होती जा रही थीं। सामन्ती चरित्र की एक उल्लेखनीय विशेषता 'भूसम्पत्ति' के उपभोग से सम्प्रयुक्त रही है। आलोच्य काल में राजसत्ता 'वसुधा-उपभोग' के मूल्य से ही प्रधानतया केन्द्रित थी। इसी 'वसुधा-उपभोग' की प्रेरणा से राजाओं ने उत्पादन के मुख्य स्रोत ग्रामों को 'महत्तर' (महत्तम) कुटुम्बियों के माध्यम से नियन्त्रित कर रखा था। यही कारण था कि इस युग में 'स्त्री' तथा 'शिल्पी' एवं अन्य सेवक वर्ग राजा के सम्पत्ति उपभोग के साधनमात्र बन गए थे।

गुप्तकाल की अर्थव्यवस्था में भी ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के मूल्य अस्तित्व में आ गए थे किन्तु इनका उपभोग एक विशेष वर्ग तक एक निश्चित मात्रा में ही सीमित रहा था किन्तु मध्यकालीन भारतवर्ष में जितने अधिक से अधिक सामन्त राजा तथा उनके प्रशासकीय नियोजक बढ़ते गए उतनी ही सीमा तक ऐश्वर्यपरक जीवन-यापन का स्तर भी बढ़ता गया। परिणामतः कृषि-शिल्पादि व्यवसाय करने वाले श्रमिक वर्गों को उत्पादन के अनुपात से समृद्धि का लाभांश नहीं मिल सका। स्वायत्त ग्राम-प्रशासन की विवशताओं के कारण 'ग्राम-मुखिया' आदि सामन्ती सत्ता के पोषक और सहायक बने हुए थे। प्रमुख उद्योग व्यवसायों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जैन महाकाव्यों के स्रोत लगभग ५० व्यवसायों के अस्तित्व की सूचना देते हैं। कृषि उद्योग इस युग का एक प्रधान उद्योग था तथा समग्र अर्थव्यवस्था कृषि उत्पादन पर ही अवलम्बित थी। कृषि उद्योग के साथ पशुपालन, वृक्ष-उद्योग आदि की भी आर्थिक दृष्टि से विशेष भूमिका रही थी। व्यापार सम्बन्धी जिन महत्त्वपूर्ण गतिविधियों की ओर जैन महाकाव्यों के वर्णन केन्द्रित हैं उनमें सार्वबाह्य की व्यापारिक गतिविधियाँ विशेष रूप से विशद हुई हैं।

सार्थवाहों के काफिलों, उनके अधीन कार्य करने वाले सेवक वर्गों तथा उनके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों आदि का महाकाव्यों में विशद वर्णन आया है। व्यवसाय-चयन की युगीन प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए जैन महाकाव्यों की उपयोगी सामग्री वर्णव्यवस्था के अनुरूप व्यवसाय चयन की समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति को विशद करती है। ब्राह्मण वर्ग एवं क्षत्रिय वर्ग के कुलपरम्परागत व्यवसाय क्रमशः पौरोहित्य व्यवसाय एवं सैन्य व्यवसाय रहे थे तो वैश्य एवं शूद्र कला-कौशल-जीवी के रूप में रूढ़ हो चुके थे। समाजशास्त्रीय दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय अपने प्राचीन गौरव को खोते जा रहे थे एवं कुलपरम्परागत व्यवसाय से जीविकोपार्जन करते थे। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में कृषि-उत्पादक एवं उसके वितरक शूद्र एवं वैश्य वर्ग की एक नवीन संघटित संचेतना को राज संस्था की ओर से विशेष प्रोत्साहन मिल रहा था ताकि सामन्तशाही उपभोक्ताओं को अधिकाधिक लाभ मिल सके। समाज में कुल परम्परागत चयन को वरीयता दी जाती थी और कुलेतर व्यवसाय चयन को निरुत्साहित किया जाता था। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भूमिदानों की प्रथा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र वर्ग के परम्परागत श्रम विभाजन के मूल्यों को शिथिल बना दिया था। आर्थिक परिस्थितियों के मूल्यों की अपेक्षा से श्रम विभाजन की वर्ग चेतना अनुप्रेरित थी।

आवास-व्यवस्था, खान-पान तथा वेश-भूषा

(क) आवास-व्यवस्था

विविध आवासीय संस्थितियाँ

नगरों तथा ग्रामों में आकार सम्बन्धी भेद का मुख्य कारण भारत की भौगोलिक प्रकृति रही है। प्रायः वन-पर्वत-नदी से मिले हुए प्रदेश ग्रामों के रूप में विकसित होते हैं और एक निश्चित सीमा तक आर्थिक समृद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त उन्हें नगरों के रूप में प्रसिद्धि मिल जाती है। इन्हीं भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में नगरों तथा ग्रामों की विविध अवस्थाएँ भी देखी गई हैं। नगर, पत्तन, पुटभेदन, ग्राम, कर्बट, मडम्ब आदि नगरों तथा ग्रामों के विकास की ही क्रमिक इकाइयाँ कही जा सकती हैं। जैन आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित विविध प्रकार की आवासीय संस्थितियों की इकाइयाँ इस प्रकार थीं—

१. गाम (ग्राम) २. नगर ३. रायहाणि (राजधानी) ४. निगम ५. आगर (आकर) ६. पल्ली ७. खेड (खेट) ८. कब्बड (कर्बट) ९. दोणमुह (द्रोणमुख) १०. पट्टण (पत्तन) ११. मडम्ब १२. सम्बाह (सम्बाह) १३. आसम १४. पुटभेदन १५. सन्निवेश १६. घोस (घोष)^१ आदि।

परवर्तीकाल में इनकी संख्या में न्यूनता आती गई। मध्यकालीन भारत में लगभग एक दर्जन निवासार्थक इकाइयाँ प्रसिद्ध रही थीं। लगभग ८वीं शताब्दी ई० से लेकर १४वीं शती ई० तक के जैन संस्कृत महाकाव्यों में निम्नलिखित बारह प्रकार की आवासीय संस्थितियों का उल्लेख आया है—

१. उत्तराख्ययनसूत्र, ३०.१६, आचारांगसूत्र १.७.६, कल्पसूत्र, ७ ८६, श्रौत-पात्तिकसूत्र, ५३.६

१. ग्राम २. नगर ३. निगम ४. राजधानी ५. आकर ६. खेत
द्रोणमुख ८. मडम्ब ९. पत्तन १०. कर्वट ११. सम्बाध तथा १२. घोष^१

तीन प्रमुख आवासीय संघेतनाएं—ग्राम, नगर, निगम

आवास व्यवस्था के विविध आयाम युगीन आर्थिक परिस्थितियों के ही परिणाम माने जा सकते हैं जबकि भौगोलिक विविधता से उनकी वास्तुपरक संरचना प्रभावित रहती है। लोकजीवन के दो मुख्य आयाम ग्राम-जीवन तथा नगर-जीवन हैं। फलतः आवास व्यवस्था भी मुख्यतया इन्हीं दो विभागों में विभक्त रहती है। भारतीय लोक जीवन का यह एक ऐतिहासिक सत्य रहा है कि ग्राम अर्थव्यवस्था के मुख्य स्रोत रहने पर भी समृद्धि का उपभोग नगरों द्वारा किया जाता है। प्राकृतिक स्वाभाविकता ग्रामों का वैशिष्ट्य है तो नगरों में कृत्रिम वैभव का संग्रहण करने की होड़ सी लगी रहती है। इन्हीं दो अतिवादी मूल्यों में समन्वय स्थापित करते हुए 'निगम' नामक एक तीसरी संघेतना का मध्यकालीन भारत में विशेष पल्लवन हुआ। ग्राम और नगर की मिश्रित विशेषताओं से संघटित 'निगम चेतना' परम्परागत अर्ध-विकसित निगम ग्रामों का ही स्वतन्त्र विकास भी था और आलोच्य युग की सामन्तवादो अर्थव्यवस्था से परिणमित एक तीसरी आवासीय संस्थिति का कृत्रिम उपस्थापन भी। यही कारण है कि कहीं 'निगम' ग्राम के अनुकूल थे तो कहीं नगरों के साथ उनकी समानता की जा सकती है। व्यापारिक ग्राम के रूप में तथा अहीर आदि लोगों के निवास स्थान के रूप में भी इनकी बहुआयामी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। विविध शताब्दियों एवं विविध प्रान्तों से सम्बद्ध जैन संस्कृत महाकाव्यों ने ग्राम, नगर एवं निगम संस्थितियों के संरचनापरक एवं संघेतनापरक स्वरूप को इस प्रकार उद्घाटित किया है—

१. ग्रामाकराँश्चापि मडम्बखेटान्पुराणि राष्ट्राणि बहून्यतीत्य । —वराह्म०,
१२.४४ पुराणि राष्ट्राणि मडम्बखेटान् द्रोणीमुखान्खर्वडपत्तनानि ॥
—वही, ३१.५५ तथा वही, ३.४, ११.६७, १८.७५, २१.४४, ४७-४८,
२६.८६, ३१.५५; खेटकर्वटमडम्बचयेन लोके । —प्रद्युम्न०, ५.११; ग्रामा-
समग्रानिगमाश्च ।—वर्ध०, १०.११; पद्मा०, १६.१६२-२००; वराह्म०,
१३.४३; तथा तु०—म्लेच्छा मडम्बनगरग्रामादीनामधीश्वराः ।
—त्रिषष्टि०, २.४.१७०

१. ग्राम^१

ग्राम की निरुक्तिपरक व्याख्या करते हुए सूत्रकृतांग की 'दीपिका' में साधुओं द्वारा भिक्षा के लिए ग्रामों में जाकर गुणों का 'ग्रसन' करना अथवा अठारह प्रकार के करों को सहन करना अथवा कण्टक तथा वाटकों आदि से आवृत रहना ग्राम के तीन लक्षण दिए गए हैं।^२ इनमें से अन्तिम लक्षण ही ग्राम के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आदिपुराण में कृषि-क्षेत्र, जलाशय, नदी, पर्वत, गुफा, कटीले वृक्ष, वन तथा सेतु आदि ग्रामों की सीमाओं के चिह्न माने गए हैं।^३ छोटा ग्राम वह है जिसमें सौ घर होते हैं तथा बड़ा ग्राम वह है जिसमें ५०० घर होते हैं।^४

ग्राम—आर्थिक उत्पादन के मुख्य केन्द्र

जैन संस्कृत महाकाव्यों में कृषि^५ अथवा पशुपालन^६ व्यवसाय करने वाले ग्रामों का अधिकांश रूप से उल्लेख आया है। आदिपुराण के स्रोतों के आधार पर शिल्पि-ग्रामों के अस्तित्व की भी सूचना प्राप्त होती है।^७ इसी काल में ब्राह्मण जाति के ग्राम 'अग्रहार' कहलाते थे।^८ उसी प्रकार 'निगम' आदि ग्रामों को महाकाव्यों के टीकाकारों ने 'भक्तग्राम' के रूप में भी स्पष्ट किया है।^९ इन 'भक्त-ग्रामों' के स्वरूप के विषय में यद्यपि और अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि

१. तु०—पुराकरग्राममडम्ब०—वराङ्ग०, ३.४, पुराकरग्राम०, —वराङ्ग०, २१.४८, चन्द्र०, ६.३८, जयन्त०, १.३५ तथा वसन्त०, १३.४३

२. तु०—भिक्षार्थं साधुर्भ्रमति ग्रामे गुणान् ग्रसतीति ग्रामस्तस्मिन् ग्रामेऽथवा ग्रसति सहतेऽष्टादशविधं करमिति ग्रामस्तस्मिन्नथवा कण्टकवाटकावृतो जनानां निवासो ग्रामः। (सूत्रकृताङ्ग—दीपिकाटीका)

—Stein, Jinist Studies, पृ० ४ में उद्धृत

३. आदि०, १६.१६६-६७

४. ग्रामाः गृहशेतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः।

परस्तत्पञ्चशत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीवलः॥

—आदि०, १६.१६५

५. वराङ्ग०, २१.४१, चन्द्र०, १.१६, धर्म०, १.४३-५५

६. वराङ्ग०, १.२६, २१.४७, चन्द्र०, २.१२३, जयन्त०, १.३१

७. नेमिवन्द, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ७१-७२

८. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ० ६६

९. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २५३-५६

इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्पादित फसल के 'वितरण केन्द्र' (Distributing Centre) होने के कारण ही इन्हें 'भक्तग्राम' की संज्ञा दे दी गई होगी। ग्रामों के जन-जीवन सम्बन्धी विशेषताओं में 'कृषि-जीवन' प्रमुख रहा था।^१ कृषि से सम्बन्धित विविध प्रकार की ग्रामीण गतिविधियों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।^२ प्रायः ग्राम बहुत समीप होते थे।^३ ग्रामों में यातायात के साधनों में बैलगाड़ी (गन्त्री) आदि अनाज ढोने के महत्त्वपूर्ण साधन रहे थे।^४ जैन संस्कृत महाकाव्यों में इस तथ्य का उल्लेख आया है कि आर्थिक समृद्धि होने पर 'व्रज' (पशु-पालन करने वाले लोगों के ग्राम) ग्राम-सदृश, ग्राम नगर-सदृश बन सकते थे।^५ महाकाव्यों में प्रतिपादित ग्राम, आर्थिक उत्पादन के एकमात्र साधन रहे थे।^६ सम्पूर्ण नगरों तथा राज्य आदि की आर्थिक स्थिति इन्हीं पर अवलम्बित रही थी।^७ आठवीं शताब्दी के महाकाव्य वराहचरित में ग्रामों के उपभोग वैशिष्ट्य को राजा की महानता तथा प्रभुता का प्रतीक माना गया है।^८ इसी प्रकार राज्य के सन्दर्भ में 'ग्राम' एक सम्पत्ति के रूप में निदिष्ट हैं।

२. नगर^९

विभिन्न आगम ग्रन्थों की टीकाओं से सिद्ध होता है कि 'पुर' अथवा 'नगर'

१. अकृष्टपक्ष्यान्यनवग्रहाणि क्षेत्रैश्च सस्यानि सदा वहद्भिः । —वर्ध०, १.६
२. जनैः प्रतिग्रामसमीपमुच्चैः कृता वृषादयैर्वैरधान्यकूटाः । —धर्म०, १.४८
३. परस्परं ग्रामसहस्रदशितो निपेतुरभ्यर्णतया हि कुक्कुटाः । —वराह०, २१.४४
ग्रामैः कुक्कुटकसंपात्यैः । —चन्द्र० २.११८
जनैः प्रतिग्रामसमीपमुच्चैः । —धर्म० १.४८
४. निगमैर्वहदिक्षुयन्त्रगन्त्रीचयचीत्कारविभिन्नकर्णरन्ध्रैः । —वर्ध०, ४.४
५. व्रजास्तु ते ग्रामसमानतां गताः पुरोपमा ग्रामवरास्तदाभवन् ।

—वराह०, २१.४७

६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६४-६६
७. वही, पृ० १६७-२०१
८. नाथोऽयमस्माकमसौ क्षितीशो भुनक्त्ययं ग्रामसहस्रमेकम् । —वराह०, ८.५०
९. वराह०, १.३३ तथा तु०—अभ्यन्तरस्य नगरस्य बहिर्प्रदेशः । वही, १.३४, पुराकरग्राममडम्ब० । —वही, ३.४, —चन्द्र०, १.२१, तथा तु०—राष्ट्रं नगरग्रामनिरन्तरं प्रविष्टः । चन्द्र०, ६.३८, प्रद्युम्न०, १.२२, तस्मिन् ग्रामपुरं वधूनां, जयन्त०, १.३५, कीर्ति०, १.४८, वसन्त०, ४.१७

की प्रारम्भिक अवस्था 'नकर' थी ।^१ वह इसलिए कि इन्हें कर से मुक्त रखा जाता था ।^२ आदिपुराण के लक्षण के अनुसार नगर, परिखा, गोपुर, अट्टाल (अटारी) वप्र, प्राकार से वेष्टित होते थे तथा नाना प्रकार के भवन, उद्यान, जलाशयों का भी इनमें विन्यास होता था ।^३ वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ मानसार के अनुसार नगर में क्रय-विक्रय आदि होता था । अनेक जातियों, श्रेणियों अथवा कर्मकारों की अवस्थिति के साथ-साथ विभिन्न धर्मानुयायियों के मन्दिर भी इनमें होते थे ।^४ मयमत के निर्देशानुसार चारों दिशाओं में नगर द्वार गोपुरों से वेष्टित होने चाहिएँ ।^५

नगर जीवन : आर्थिक समृद्धि का परिणाम

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित नगर आर्थिक समृद्धि के कारण सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष समृद्ध रहे थे । नगरों के महलों में निरन्तर रूप से वीणा, मृदङ्ग आदि सङ्गीत ध्वनि के गूँजते रहने का उल्लेख आया है ।^६ इसी प्रकार अनेक प्रकार के उत्सव-महोत्सव, मन्दिर-पूजा, दान-क्रिया, आदि धार्मिक क्रिया कलापों के प्रति भी नागरिक विशेष रुचि लेते थे ।^७ नगर जीविकोपार्जन की दृष्टि से समृद्ध होने के कारण अनेक जातियों के लोगों, पाषण्डियों, शिल्पियों आदि से युक्त थे ।^८ नगर के सांस्कृतिक जीवन में किसी एक भाषा, वेश-भूषा का आग्रह विशेष नहीं रहा

१. तु०—नात्र कराः सन्ति (उत्तराध्ययन टीका) नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि (कल्पसूत्र टीका) Stein, Otto, The Jinist Studies, p. 5

२. 'Because 'nagara' is explained by 'na + kara'—'not paying taxes' the contrary of a nagara, the grāma pays eighteen kinds of taxes (kara)'—वही, पृ० ४

३. परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम् ।

नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ॥

—जिनसेन कृत आदिपुराण, १६ १६६

४. उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० १८

५. वही, पृ० १८

६. सङ्गीतगीतकरतालमुखप्रलार्पवीणा मृदङ्गमुरजध्वनिमुद्गरिद्धिः ।—वराङ्ग०, १.३८ सङ्गीतकारम्भरसन्मृदङ्गाः । —धर्म०, १.७६, कीर्ति०, १.५२

७. नैकप्रकारामहिमोत्सवचैत्यपूजादानक्रियास्तनपनपुण्यविवाहसंगः ।

—वराङ्ग०, १.४१ प्रद्यु०, १.२८, कीर्ति०, १.५२,

८. पाषण्डिशिल्पिबहुकणजनातिकीर्णम् । —वराङ्ग०, १.४४, द्विस०, १.१८,

था ।^१ नगरों में वर्णाश्रम-व्यवस्था का सम्यक्-पालन होना भी राज्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता स्वीकार की गई है ।^२ वृद्धों का वृद्धों के साथ, युवकों का गुरुओं के साथ संसर्ग नगर-जीवन का वैशिष्ट्य स्वीकार किया गया है ।^३ नगरों में वेश्यालय होना आलोच्य काल की लोकप्रिय विशेषता रही थी ।^४ नगर-युवकों का वेश्याओं के पास आना-जाना भी सामान्य बात थी ।^५ नगर-वेश्याएं शृङ्गार-प्रसाधन कर लोगों को आकर्षित करने में विशेष दक्षता दिखाने के लिए प्रसिद्ध थीं ।^६ नेमि-निर्वाण^७ तथा प्रद्युम्नचरित^८ महाकाव्यों में द्वारावती नगरी की स्त्रियों की स्वच्छन्द काम-वासना का सजीव चित्रण किया गया है ।

शिक्षा तथा बुद्धिजीवियों के शास्त्र-ज्ञान से भी नगर की शोभा मानी गई है ।^९ निरन्तर व्यापार विनिमय, क्रय-विक्रय आदि की गतिविधियों के लिए नगरों का विशेष महत्त्व रहा था ।^{१०} सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया गया है कि लोग न्यायाजित धन का उपभोग करते थे ।^{११} इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध नगर वर्णनों से नगरों में रहने वाले लोगों का आर्थिक स्तर पर्याप्त ऊँचा लगता है ।^{१२}

द्विसन्धान महाकाव्य में आए एक उल्लेख के अनुसार नगरों में भुग्मी-भोंपडियों सहस्र भकानों के अभाव रहने की सूचना प्राप्त होती है ।^{१३}

१. अनेकवेषाकृतिदेशभाषा निरीरुयुर्वीपतिना सहैव । —वराह्म०, ३.१६, प्रद्यु०, १.३६
२. यस्याज्ञया स्वपथमुत्क्रमितुं न शेकुर्वणाश्रमा जनपदे सकले पुरे वा ।
—वराह्म०, १.५१
३. वृद्धाः समेषु तरुणाश्च गुरुरपदेशे । —वराह्म०, १.४३
४. धर्म०, १.७५ तथा परि०, १.८१
५. वेश्याङ्गनाः सुललिताः समदा युवानः । —वराह्म०, १.४३
६. धर्म० १.७५
७. नेमि०, १.३६, ४१
८. प्रद्यु०, १.२७.४६
९. वराह्म०, १.४२

गजाश्वशास्त्रसमृद्धया महत्या नगरीं प्रविश्य ।

—वराह्म०, २.७ चन्द्र०, २.१४२

१०. वराह्म०, १.४०, द्विस० १.१८, २.२८, १.३२-३५, जयन्त १.४२
११. वराह्म०, १.४०, चन्द्र० २.१४२
१२. वराह्म०, २.१.४५
१३. गृहाणि तारानि भवन्ति पक्षिणां कुरगजार्तिर्न नरेषु सद्मसु ।

—द्विस०, १.३६

नगरों में भवन-विन्यास

नगरों में भवन-विन्यास का स्तर आर्थिक दृष्टि से विशेष समृद्ध रहा था। ऊँचे-ऊँचे महलों अथवा भवनों के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं।^१ भवनों के लिए 'प्रासाद'^२ 'हर्म्य'^३ 'सौध'^४ 'गृह'^५ 'गेह'^६ आदि संज्ञाओं का प्रयोग भी हुआ है। भवन वास्तु के अनुसार सात मंजिले धनिकों के मकानों को 'हर्म्य', चूने की सफेदी वाले सामन्तों तथा श्रेष्ठियों के मकानों को 'सौध', आयताकार आङ्गन तथा शयनागार, अग्न्यागार, गर्भवेदम, आदि से युक्त मकानों को 'भवन', राजन्य वर्ग से लेकर मध्यम वर्ग तक के व्यक्तियों के मकानों को 'गृह' तथा दुर्गमजिले, शीत दायक मकानों को 'वेदम' कहा जाता था।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित महलों की दीवारें चूने आदि से निर्मित होती थीं।^७ इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे बड़े-बड़े प्रासादों के उल्लेख भी आये हैं जिनकी भित्तियों में स्फटिकमणि,^८ नीलमणि,^९ चन्द्रकान्तमणि,^{१०} हरे रत्न की मणि^{११} आदि^{१२} जड़े होते थे। चन्द्रप्रभचरित में चमकीले पत्थर से सुसज्जित गृहों की भित्तियों का भी उल्लेख आया है।^{१३}

१. गृहैरिवाभ्रलिहशृङ्गकोटिभिः ।

—चन्द्र०, १.२४ तथा धर्म०, ४.१८, प्रद्यु०, १.३६

२. प्रासादकूटवलभीगोपुरैः । —वराङ्ग०, १.३७

प्रासादचूलानिहितैश्चलद्भिः । —नेमि०, १.४६

३. हर्म्यैरेकपरिवर्धितभूमिदेशे । —वराङ्ग०, १.३८

उच्चोच्च हर्म्याग्रकपोतपाली । —प्रद्यु०, १.३६

यत्रोच्चहर्म्याग्रहरिन्मणीनाम् । —धर्म०, ४.१८

४. निशागमे सौधशिरोधरोहिणो । —चन्द्र०, १.२६

सुधाधवलसौधचयैः । —वर्ध०, ५.३६

५. गृहाग्रभागोल्लिखितस्य० । —चन्द्र०, १.३०

पौरगृहेषु चौरः । —नेमि०, १.४२

६. नरेन्द्रगेहोत्तरदिक्प्रतिष्ठितो जिनेन्द्रगेहो मणिरत्नभासुरः ।

—वराङ्ग०, २१.३८

७. सुधाधवलसौधचयैः । —वर्ध०, ५.३६

८. दृष्ट्वा स्फुटं स्फटिकभित्तिभागे । —वही, १.२६

९. यत्सौधकुड्येषु विलम्बमानानितस्ततो नीलमहामयूखान् । —वर्ध०, १.२३

१०. चन्द्रमणिप्रणद्धसौधाग्रभूमि । —वही, १.३३

११. हरिन्मणीनां किरणप्ररोहैः । —वही, १.२५

१२. रम्याणि हर्म्याणि सुवर्णरत्नमयानि । —जयन्त०, १.४२

१३. बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तीनिगृहाणि सर्वतः । —चन्द्र०, १.३४

नगरों के वास्तुशास्त्रीय चिह्न

१. परिखा—प्रायः नगर परिखा से आवेष्टित होते थे ।^१ परिखाएं चौड़ी तथा गहरी होती थीं ।^२ इनमें जल भरा रहता था ।^३ चन्द्रप्रभचरित के अनुसार परिखाओं में हंसों आदि के तैरने का वर्णन भी आया है ।^४ इन परिखाओं की चौड़ाई इतनी होती थी कि इनमें स्त्रियाँ भी स्नान कर सकती थीं । परिखाओं के तटों पर वृक्ष लगे होते थे ।^५

नगरों को परिखाओं से आवेष्टित करने की परम्परा अर्थशास्त्र तथा महाभारत के काल में भी रही थी ।^६ राजधानी नगर को परिखा से आवेष्टित करना सुरक्षादि की दृष्टि से आवश्यक था ।^७ परिखाओं के तीन भेद हैं (१) जल-परिखा (२) पङ्क-परिखा तथा (३) शुष्क-परिखा । परिखा-जल में घड़ियालों को छोड़ने के उल्लेख भी मिलते हैं ।^८ जैन महाकाव्यों में अधिकांश रूप से जल-परिखा के ही उल्लेख मिलते हैं ।

२. गोपुर—गोपुर नगर का मुख्य द्वार कहलाता है ।^९ जैन संस्कृत महाकाव्यों के 'गोपुर' की दूसरी संज्ञा 'प्रतोली' भी प्रचलित थी ।^{१०} बुद्ध-प्रयाण के अवसर पर नगर के मुख्य द्वार—'गोपुर' से राजा सहित सेना के निर्गमन का उल्लेख भी आया

१. आवेष्टय तत्पुखरं परिखाऽवतस्थे । —वराह्म०, १.३६

यत्परिखा प्रथीयसी । चन्द्र०, १.२२, —धर्म०, १.६२, जयन्त०, १.४६

२. बभूव यस्मिन्परिखा समुद्रवत् । —वराह्म०, २१.३३, धर्म०, १.५८, नेमि०, १.३४

३. परिखाम्बुवीचयः । —द्विस०, १-१६, यदम्बुखातस्य तरङ्गपक्तिः ।

—वर्ध०, १.१६

४. हंसावलिस्तस्य जहार चित्तं । —चन्द्र० ४.७२

५. वही, २.१३३-३७

६. उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० २३६

७. नेमिचन्द्र, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६२-६३

८. उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में, पृ० २४२-४३

९. प्रासादकूटवलभीतटगोपुरैः । —वराह्म०, १.३७

गोपुरशृङ्गवर्तिनाम् । —द्विस०, ८.४६, चन्द्र०, १.२५, वर्ध०, ५.१०

१०. प्रतोल्याः गोपुरस्य शिखरमग्रभागम् । —चन्द्र०, २.१२६
पर विद्वन्मनोवल्लभा टीका, पृ० ६५

है।^१ 'गोपुर' पर्याप्त ऊँचे होते थे।^२ 'गोपुर' द्वारों को भण्डे आदि से सजाया जाता था।^३

उपर्युक्त 'परिखा' तथा 'गोपुर' शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करने के प्रयोजन से बनाए जाते थे।

३. वप्र —अर्थशास्त्र ने, परिखा बनाने के बाद जो मिट्टी खोदकर निकाल दी जाती थी, उसी से 'वप्र' बनाने का विधान किया है।^४ जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी प्राकार-परिखा आदि के साथ 'वप्र' (अन्तर्वेदी) के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।^५ नेमिनिर्वाण महाकाव्य में 'वप्र-भित्ति' को धुप्र कहा गया है।^६

४. प्राकार—वप्र के ऊपर 'प्राकार' अर्थात् परकोटे का निर्माण किया जाता था।^७ बहुत ऊँचे प्राकारों द्वारा नगर को आवेष्टित किया जाता था।^८ प्राकार को 'परिधि'^९ तथा 'शाल'^{१०} भी कहा गया है।

५. अट्टालक—प्राकारों में जिन बुजों का निर्माण किया जाता था उन्हें ही 'अट्टालक' कहा गया है। ये 'अट्टालक' नगर की चारों दिशाओं में होते थे।^{११} आदिपुराण के अनुसार परकोटे पर 'अट्टालिकाओं' की पंक्तियाँ बनी होती थीं जो परिमाण में साठ हाथ लम्बी तथा एक सौ बीस हाथ ऊँची थीं।^{१२} 'अट्टालक'

१. निरयण पुरगोपुरतश्चमूः । —चन्द्र०, १३-३७
२. हिमाद्रिकूटोपमास गोपुरम् । —वराह्म०, ३१-३
३. द्विस०, ६.५१
४. खाताद्वप्रं कारयेत् । अर्थशास्त्र, पृ० ५१, तथा तु०—उदय नारायण, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० २४४,
५. प्राकारपारिखावप्रं, पारितः परिवेष्टितम् । —चन्द्र०, २.१४१, नेमि०, १.४७, हम्मीर०, १.२६
६. यद्वप्रभित्तिः शरदभ्रधुआ । —नेमि०, १.४७
७. वप्रस्थोपरि प्राकारम् । —अर्थशास्त्र, पृ० ५२, उदय नारायण, प्राचीन भारत में, पृ० २४५ पर उद्धृत।
८. द्विस०, १.२०, चन्द्र०, २.५१, जयन्त०, १.४६, कीर्ति०, १.४६
९. समुच्छ्रिते यत्परिधौ हिरण्मये । —द्विस०, १.२०
- विभाति यस्मिन्परिधिः । —चन्द्र०, १.२३
१०. द्विस०, ८.४६
११. उदय नारायण, प्राचीन भारत में, पृ० २४८
१२. आदि०, १६.६२

तोरणों सहित ध्वजाओं तथा पताकाओं से सुशोभित रहते थे ।^१ 'अट्टालकों' की 'वलभी' संज्ञा भी प्रचलित थी ।^२

एक आदर्श नगर—आनर्तपुर का वास्तुशिल्प

वराङ्गचरित महाकाव्य में आनर्तपुर नामक एक नगर की पुनः स्थापना का वर्णन आया है ।^३ पौराणिक मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण ने इस स्थान पर जरासंध का वध किया था तथा विजयोत्थास से आनन्दित होकर नृत्य करने के कारण इस नगर का नाम आनर्तपुर पड़ गया था ।^४ राजा वराङ्ग ने इस नगर के पौराणिक महत्त्व से प्रभावित होकर इसकी पुनः स्थापना की थी ।^५ सातवीं-आठवीं शताब्दी के नगरों की वास्तुशास्त्रीय कला की दृष्टि से वराङ्गचरित में प्रतिपादित इस आनर्त-पुर को एक आदर्श नगर की संज्ञा दी जा सकती है ।

नगर चिह्न—पुराने ध्वंशावशेषों के स्थान पर जिस नवीन नगर की स्थापना की गई थी उसकी भौगोलिक सीमा के दोनों किनारों पर क्रमशः नदी तथा पर्वत थे ।^६ नगर के चारों ओर गहरी तथा चौड़ी परिखा (खाई) का निर्माण भी किया गया था ।^७ नगर का विशाल प्राकार (परकोटा) भी बहुत ऊँचा बनाया गया था ।^८ नगर में सरोवर, वापी, दीर्घिकाएं, छोटे-छोटे जलाशय, विशाल सभा-स्थल, मन्दिर तथा आश्रमों का निर्माण भी कराया गया था ।^९ नगरों में त्रिक, चौराहे, चौपाल आदि भी विद्यमान थे ।^{१०} नगर में व्यापार-विनिमय के लिए

१. सतोरणाट्टालकवैजयन्त्यद्वचलत्पताका रुचिरा विरेजुः । —वराङ्ग०, २२.६७
तथा—सगोपुराट्टालकचित्रकूटम् । —वही, २२.५७

२. वराङ्ग०, १.३७, धर्म १.७६

३. वराङ्ग०, २१.२८.४०

४. पुरा यदूनां विहगेन्द्रबाहनो जनार्दनः कालियनागमर्दनः ।

रणे जरासन्धमभीनिहृत्य यन्ननर्तवर्न्ननर्तपुरं ततोऽभवत् ॥

—वही २१.२६

५. वही, २१.३०

६. तयोर्नदीपर्वतयोर्दन्तरे । —वही, २१.२८

७. वही, २१.३३

८. वही, २१.३३

९. वही, २१.३२, ३४

१०. विभक्तनानात्रिकचतुष्कचत्वरम् । —वही, २१.३४

बाजार भी बनाए गए थे।^१ राजप्रासाद के उत्तर दिशा में एक विशाल जैन मन्दिर भी बनाया गया था।^२

राजप्रासाद का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप

नगर के ठीक बीचों बीच राजप्रासाद का निर्माण किया गया था।^३ राजप्रासाद के चारों ओर विशाल गजशालाएं तथा आयुष्वागारों का निर्माण किया गया था।^४ राजप्रासाद के निकट ही कोशगृह, धान्य-गृह, वस्त्रशाला, तथा औषधालय भी बनाए गए थे। इनके अतिरिक्त राजप्रासाद के अन्दर भी निवासगृह, रहोगृह (गुप्त-मंत्रणा का स्थान), दोलागृह, (क्रीड़ागृह), जलगृह, मण्डनगृह (सज्जागृह), नन्दिवर्धन, (धर्मोत्सवगृह), महानस (पाकालय), तथा विशाल सभा भवन बनाए गए थे।^५ राजप्रासाद से सम्बन्धित सभी भवन यथायोग्य रूप से तीन, पांच, छह, सात, आठ तथा नौ मंजिलों तक बने हुए थे।^६

नगर के समीपस्थ क्षेत्रों में ग्रामादि निर्माण

इस नगर के चारों ओर के जङ्गलों को काटकर विशाल राज-मार्ग बनाए गए थे।^७ वनों के आश्रम भी उत्कृष्ट पत्थरों तथा सुन्दर फलों से निर्मित थे।^८ नगर की सीमा के समीप ही कुषकों, खालों आदि के ग्राम बनाये गए थे।^९ इनके अतिरिक्त इसके समीप 'नगर', 'आकर', 'ग्राम' 'मडम्ब', 'पत्तन' आदि विभिन्न प्रकार के व्यायोगिक एवं व्यापारिक शाखा नगरों अथवा ग्रामों के विद्यमान होने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।^{१०} इस प्रकार आठवीं शताब्दी में नगर विन्यास कला की दृष्टि से वराङ्गचरित द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त आनर्तपुर-वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।^{१०}

१. वराङ्ग०, २१.३४

२. नरेन्द्रगेहोत्तरदिक्प्रतिष्ठितो जिनेन्द्रगेहो मणिरत्नभासुरः ।

—वही, २१.३८

३. २१.३४

४. गजाश्वशालायुधगेहपंक्तयः सुवर्णधान्याम्बरभेषजालयाः । वही, २१.३७

५. सभागृहं वासगृहं जलाग्निदोलागृहनन्दिवर्धनम् ।

महानसं सज्जनमण्डनाह्वयं...। —वराङ्ग०, २१.३६

६. वही, २१.३६

७. वही, २१.३६

८. वही, २१.४०

९. वही, २१.४१-४४, तथा ४७

१०. वही, २१.४८

३. निगम

‘नगर’ और ‘ग्राम’ आवासीय संस्थितियों के दो मुख्य आयाम रहे हैं। इन दोनों की मिश्रित आवासीय संचेतना ‘निगम’ के रूप में विकसित हुई है। प्रारम्भ में ‘निगम’ अर्धविकसित आवासीय संस्थिति के रूप में अवस्थित रहे थे। प्राचीन जैन एवं बौद्ध साहित्य से इसकी संपुष्टि होती है। मध्यकाल की आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ‘निगम’ संचेतना अपने पूरे वेग से विकसित हुई जिसका जैन महाकाव्यों में विशेष वर्णन आया है।^१ इससे पहले कि मध्यकालीन ‘निगम’ संस्थिति के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला जाए यह निर्दिष्ट कर देना आवश्यक होगा कि के० पी० जयसवाल प्रभृति इतिहासकारों ने ‘निगम’ के अर्थ-निर्धारण को भ्रामक दिशा प्रदान की है इन इतिहासकारों ने ‘श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम’ नामक एक शिलालेखीय प्रमाण के आधार पर ‘निगम’ का ‘व्यापारिक सङ्गठन’ अर्थ किया है जिसके परिणाम स्वरूप अन्धानुगति से अनुसरण करते हुये परवर्ती अनेक इतिहासकारों ने ‘निगम’ के आवासपरक अर्थ की उपेक्षा करते हुए ‘व्यापारिक सङ्गठन’ अर्थ को स्वीकार कर लिया है जो सर्वथा अयुक्तिसङ्गत एवं तथ्यविरुद्ध है। प्रो० आर० एस० शर्मा महोदय ने जैन महाकाव्यों में वर्णित ‘निगम’ को आवासीय ‘ग्राम’ के रूप में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का परिणाम माना है।^२ लेखक ने आगे आने वाले पृष्ठों में निगम की इस समस्या का ऐतिहासिक दृष्टि से पुनर्विवेचन किया है और समग्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रमाणों के आधार पर ‘निगम’ के ‘व्यापारिक सङ्गठन’ अर्थ के औचित्य को चुनौती दी है तथा उसकी एक विकसनशील आवासीय संस्थिति के रूप में पुष्टि की है।^३

जैन संस्कृत महाकाव्यों में निगम-वर्णन

आठवीं से दसवीं शती ई० के मध्य रचित जैन संस्कृत महाकाव्यों में ‘निगम’ ग्राम के अर्थ में वर्णित है। घनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य^४ (८वीं शती ई०)

१. द्विस०, ४.४६, चन्द्र०, १.१९, २० १३३, ५.४, १३.४६, वर्ध०, ४.४, ५.३७, १०-११, धर्म०, १.४८

२. Sharma, R.S., Indian Feudalism Retouched (article), The Indian Historical Review, Vol. I, No 2, Sep. 1974, p. 326, fn. 4

३. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २६४

४. निगमान्निनादः शिखण्डिनां सुभगान्धेनु हृङ्कृतैरपि ।

स ददर्श वनस्य गोचरान् कृकवात्कूत्पतनक्षमान्पुः ॥

वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रमचरित महाकाव्य^१ (१०वीं शती ई०) तथा असंगकृत वर्षभान-
चरित महाकाव्य^२ (१०वीं शती ई०) के वर्णनानुसार 'निगम' नामक ग्रामों में गायों
के रम्भाने, मोरों के ध्वनि करने, मुर्गों की उछल-कूद करने आदि गतिविधियां
प्रधानतया वर्णित हैं। इन 'निगम' ग्रामों के खलिहानों में घान्य आदि के बड़े-बड़े
ढेर लगे रहते थे तथा इनमें इक्षुयन्त्रों का कलरव होता रहता था। ऊँचे विशाल
भवन इनकी शोभा थे। धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में 'निगम' के स्थान पर 'ग्राम'
शब्द का प्रयोग हुआ है तथा जिसमें वर्णित जनजीवन उपर्युक्त 'निगम वर्णन' से

१. (क) क्वचिद् गोधनहुङ्कारैरिक्षुयन्त्ररवेः क्वचित् ।

क्वचिच्छिखण्डिता नादैर्निगमा यस्य सुन्दराः ॥ —चन्द्र०, २.१२३

(ख) वितताखिलक्षितितलाः पृथक् शिखरावलीवल्यलीढघनाः ।

समतां यदीय निगमान्तगता घरणीघरैर्दधति घान्यचयाः ॥

—वही, ५.४

(ग) शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिर्बहिः स्थितैर्नूतनघान्यराशिभिः ।

विभान्ति यस्मिन्निगमाः कुतुह्लादिवोपयातैः कुलमेदिनी धरैः ॥

—वही, १.१६

(घ) शशिकराङ्कुरनिर्मलगून्बहिःकृत खलान्निजसीमपरिष्कृतात् ।

बुधनिभान्निगमान्स विलोकयन्नजनि हृष्टमना वसुधाधिपः ॥

—वही, १३.४६

२. (क) निगमैर्वह्निदक्षुयन्त्रगन्त्रीचयचोत्कारविभिन्नकर्णरन्ध्रैः ।

परिपुञ्जितसस्यकूटकोटीनिकटालुञ्चिवृषैर्विभूषितो यः ॥

—वर्ध०, ४.४

(ख) अनपेतपुष्पफलचाकुर्कुर्जनिचितैः सुधाधवलसौधचयैः ।

निगमैः समुज्ज्वलनिवासिजनैरघरीचकार कुरुनपि यः ॥

—वही, ५.३६

(ग) पुण्ड्रेक्षुवाटैर्निचितोपशल्याः कुल्याजलैः पूरितशालिवप्राः ।

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगद्रुमान्वितोद्यानवनैश्च रम्याः ॥

अभ्यासिता गोधनभूतिमद्भिः कुटुम्बभिः कुम्भसहस्रधान्यैः ।

ग्रामा समग्रा निगमाश्च यत्र स्वनाथचिन्तामणयो विभान्ति ॥

—वही, १.१०.११

सादृश्य रखता है।^१ संभवतः अनेक प्रान्तों में 'निगम संचेतना' ग्राम के रूप में ही विकसित हो रही थी। 'ग्राम' की नगरोन्मुखी विकास की प्रवृत्तियाँ 'निगम' में सन्निविष्ट होती जा रही थीं। द्विसन्धान महाकाव्य के टीकाकार नेमिचन्द्र^२ तथा चन्द्रप्रभ० महाकाव्य के टीकाकार मुनिचन्द्र की विद्वन्मनोवल्लभाटीका^३ (१५०३ ई०) के अनुसार 'निगम'—'भक्तग्राम' के रूप में स्वीकार किए गए हैं। इस प्रकार मध्य-कालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में इन 'भक्तग्रामों' की अनाज के 'वितरणकेन्द्र' (Distributing Centre) के रूप में संभावना की जा सकती है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों के वर्णन 'निगम' के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। प्रायः ये 'निगम' नगर के समीपस्थ राज-मार्गों पर स्थित होते थे।^४ इन 'निगम' ग्रामों में रहने वाले गोपों (ग्वाले, अथवा अहीर) तथा गोपवधुओं (ग्वालिनों) का भी उल्लेख आया है।^५

अधिकांश जैन महाकाव्य दक्षिण भारत से सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'रट्ठ', 'मागण' शब्द^६ आन्ध्रप्रदेश में नगर-विभाजन की संज्ञाओं के रूप में प्रचलित थे। 'निगमाः' (प्राकृत-णिगमा) भाषा विज्ञान के 'शब्द-विपर्यय' नामक ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित होकर संभवतः कन्नड-भाषा में नगर-विभाजक 'मागण' की संज्ञा के रूप में प्रचलित हो गया था।^७ इस प्रकार नगर-विभाजन की वास्तुशास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से भी 'निगम' संस्थिति

१. जनैः प्रतिग्रामसमीपमुज्जैः कृता वृषाद्वयैर्वरषान्यकूटाः।

यत्रोदयस्ताचलमव्यगस्य विश्रामशैला इव भान्ति भानो ॥ —धर्म०, १.४८

२. स रामः युचिष्ठिरश्च निगमान्—भक्तग्रामान् ददर्श।

—द्विस०, ४.४६ पर नेमिचन्द्रकृत पदकोमुदीटीका, पृ० ६७

३. कुलभूषरैरिव निगमाः—भक्तग्रामाः विभान्ति।

—चन्द्र०, १.१६ पर मुनिचन्द्रकृत विद्वन्मनोवल्लभाटीका, पृ० ८

४. चन्द्र०, १३.३६-४६

५. वही, १३.४२, १३.४६, १६.२

६. Kundurl Iswar Datt, Inscriptional Glossary of Andhra Pradesh, Hyderabad, 1967, p. xxxi.

७. 'Māgaṇi' or 'Magaṇi' in Kannada means a part of a Taluk or a District. This Administrative division also is found during Vijaya Nagar period. This word appears to be a part of Rajya or Sīma.
—वही, पृ० xxxii

एक स्वतन्त्र संस्थिति के रूप में विकसित हुई। नगर विकास की प्रवृत्तियाँ 'निगम' में सन्निविष्ट होती जा रही थीं।

जैन संस्कृत महाकाव्यों के 'निगम' सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताओं को रेखाङ्कित किया जा सकता है—

१. 'निगम' 'ग्राम' से भिन्न थे तथा एक स्वतन्त्र निवासार्थक इकाई के रूप में व्यवहृत होते थे।
२. सामान्य रूप से निगमों का जीवन ग्रामीण जीवन से बहुत कुछ मिलता जुलता था। निगमों में गायों के रम्भाने, मोरों के ध्वनि करने, मुर्गों की उछल-कूद मचाने आदि का वातावरण ग्रामतुल्य ही रहा था।
३. 'निगम' व्यापार तथा कृषि-उत्पादन के केन्द्र थे। इनमें पीन्डा (ईख की एक विशेष जाति) ईख, सुपारी, पान आदि की भी फसल होती थी। गन्ने को यन्त्रों द्वारा पेर कर गुड़ आदि बनाने तथा उसे बाजार में ले जाने के लिए गाड़ियों के आवागमन के कारण इनमें विशेष चहल-पहल रहती थी।
४. निगमों के सीमान्त प्रदेशों में स्थित खलिहानों में अनाज के बहुत बड़े ढेर लगे रहते थे। बेल अनाजों के ढेरों में घूमकर चुटयाने का कार्य करते थे। चुटे हुए अनाज को बहुत बड़े-बड़े षड़ों में रख दिया जाता था। अनाज का संग्रहण एवं वितरण होने के कारण इन्हें 'भक्तग्राम' की संज्ञा भी दी गई थी।
५. निगमों का स्वरूप नगरों से भी मिलता-जुलता था। इनमें बड़े-बड़े महल (सीध) बने होते थे तथा समीपवर्ती स्थानों में फल-फूलों के समृद्ध उद्यान, वन आदि भी विद्यमान होते थे।
६. निगमों में रहने वाले लोगों का रहन-सहन ऊँचे स्तर का था तथा धन-धान्य सम्पन्न लोग इनमें निवास करते थे।
७. कृषि प्रधान ग्राम होने के कारण इनमें गोप आदि अहीर जातियों के निवास की संभावना की जा सकती है।^२
८. आवासीय मुद्राङ्ग चेतनाओं के सन्दर्भ में 'ग्राम' और 'नगर' जीवन के अतिरिक्त 'निगम' एक तीसरे प्रकार की आवासीय संकेतना को मुखरित करती है जो स्वरूप से 'ग्राम' सदृश थी परन्तु स्तर से 'नगर' चेतना की ओर अभिमुख हो रही थी।

४. राजधानी

राजधानी मूलतः नगर के स्वरूप की होती है अन्तर केवल यह रहता है कि अनेक नगरों में से किसी एक को 'राजधानी' चुना जाता है। मयमत के १०वें

अध्याय में राजधानी के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राज्य शासन, सैन्य व्यवस्था एवं शत्रुओं के आक्रमणों की सुरक्षा आदि विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए 'राजधानी' की स्थापना की जाती थी।^१ जैन महाकाव्यों में वर्णित नगर वास्तव में 'राजधानी' के रूप में ही वर्णित हैं।^२

५. आकर^३

ग्राम ग्रन्थों की टीकाओं से प्रतीत होता है कि 'आकर' स्वर्ण ग्रथवा लौह आदि धातुओं के उत्पत्ति स्थान (खान) रहे होंगे।^४ यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तो जैन संस्कृत महाकाव्यों में उल्लिखित स्वर्णादि की खानों को 'आकर' संज्ञा दी जा सकती है।^५ आदिपुराण के कर्त्ता ने 'आकर' की परिभाषा स्पष्ट नहीं कि किन्तु इस ग्रन्थ के सम्पादक पन्ना लाल जैन ने 'आकर' के समीप सोने चाँदी के खानों की अवस्थिति स्वीकार की है।^६ पद्यानन्द महाकाव्य में निर्दिष्ट पाद टिप्पणी में भी 'आकर' को सोने आदि की खान माना गया है।^७ इन सभी परिभाषाओं में 'आकर' को निवासार्थक नगर भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु ग्राम नगरादि के साथ 'आकर' का प्रयोग निवासार्थक ही लगता है इसलिए 'आकर' को सोने-चाँदी की खानों के निकटस्थ ग्राम मानना चाहिए। संभवतः इन्हीं खानों में काम करने वाले कर्मकार इन आकरों में रहते होंगे। जैन महाकाव्यों के ग्राम वर्णनों के सन्दर्भ में ऐसे आकरों का उल्लेख होने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इन ग्रामों के समीपस्थ खानों का वर्णन करना चाहता है।^८ स्रद्धामन् के जूनागढ़ शिलालेख^९ तथा गौतमी पुत्र शातकर्णी के

१. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, भारतीय वास्तु शास्त्र, लखनऊ, पृ० १०३

२. एवंविधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन। —नेमि०, १.३८

३. आकराणां स विशतिसहस्राणामधीश्वरः।

—पद्मा०, १६.१६८, वसन्त०, १३.४३, तथा वराह०, ३.४

४. स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थान् (उत्तरा० टीका),

लोहाद्युत्पत्तिभूमयः (कल्प० टीका), Jnlist Studies, पृ० १२ पर उद्धृत।

५. समुज्ज्वलाभिः कनकादियोनिभिर्विकासनीभिः खनिभिः समन्ततः।

—चन्द्र०, १.१८, तथा द्वया०, ११.३७

६. आदिपुराण, १६.१७६ तथा हिन्दी अनुवाद, पृ० ३६२

७. हिरण्याकरादय आकराः। —पद्मा०, १६.२६६, पृ० ३६२ पर उद्धृत

८. चन्द्र०, १.१८

९. Epigraphia Indica, VII, p. 44

नासिक प्रशस्ति^१ में 'आकर-अवन्ति' का उल्लेख होने से भी यह सिद्ध होता है कि 'आकर' नगर को भी कहते थे।^२ संभवतः नगर के समीप होने के कारण 'आकर-अवन्ति' संज्ञा प्रचलित हो गई होगी।

६. खेट^३

आगम ग्रन्थों की टीकाओं के अनुसार मिट्टी की दीवारों से वेष्टित 'खेट' कहलाता है।^४ सूत्रकृतांग-टीका दीपिका तथा आदिपुराण के अनुसार 'खेट' नदी तथा पर्वत से घिरा हुआ नगर विशेष होता है।^५ समराङ्गण सूत्रधार ने 'खेट' को नगर तथा ग्राम के मध्य रखा है।^६ हेमचन्द्र विस्तार की दृष्टि से 'खेट' को 'पुर' का आधा भाग मानते हैं।^७ जनसंख्या के प्राधान्य की दृष्टि से खेट शूद्रों के निवास स्थान माने गए हैं।^८ विश्वकर्मावास्तुशास्त्र के अनुसार 'खेट' नामक नगर की स्थिति जङ्गल के मध्य मानी गई है तथा इसमें शबर, पुलिन्द तथा मांसजीवियों का निवास होता था।^९ शिलालेखों के साक्ष्यों से पुष्ट होता है कि 'खेट' नदी के तीरस्थ ग्राम थे।

१. Epigraphia Indica, VIII, p. 60

२. Gupta, P., Geography In Ancient Indian Inscriptions, p. 15

३. मडम्बखेटानुपुराणि राष्ट्रारणि । — बराङ्ग०, १२.४४

खेटकर्वटमटंबचयेन लोके० । — प्रद्युम्न०, ५.११, खेटसहस्रां प्रपालकः

— पद्मा०, १६.१६८ तथा त्रिषष्टि० २.४.२६३

४. धूलिप्राकारपरिक्षिप्तम् । — (उत्तर० टीका); धूलिप्राकारोपेतम् । — (कल्प० टीका) Jinist Studies, पृ० ६ पर उद्धृत।

५. नद्यद्विवेष्टं परिवृत्तममितः । — (सूत्रकृताङ्ग टीका) वही, पृ० ६ तथा तु० — प्रांशुप्राकारनिबद्धानि क्वचिन्नन्दद्विवेष्टितानि वा खेटानि ।

६. भारतीय वास्तु शास्त्र, पृ० १०४

७. अभिधान चिन्तामणि, ४.३८

८. भारतीय वास्तु शास्त्र, पृ० १०५

९. खेटस्य वास्तुभूमिस्तु प्रायः काननमध्यगा ।

शबरैश्च पुलिन्दैश्च संयुता मांसजीविभिः ॥

— विश्वकर्मावास्तुशास्त्र ८.२० वासुदेव शास्त्री, तंजौर, १९५८,

महाराष्ट्र के अमरावती जिले में अम्भोरा नदी के तट पर 'तिवरखेट' तथा 'घुइखेट' (आधुनिक घुइ खेड) नामक दो ग्राम बसे हुए थे।^१ लोह नगर 'भोग' में भी 'अश्वत्थ खेटक' तथा 'वरद खेट' के अस्तित्व की पुष्टि प्रवरसेन द्वितीय के 'पत्तन-अभिलेखों' से मिलती है।^२ दद्व के 'सन्खेडा दानपत्र' के साक्ष्य से अन्य दो 'खेटक' एवं 'खेड' नामक निवासायक इकाइयों की भी सूचना मिलती है।^३ इनमें से 'सङ्गम खेटक' विषय के रूप में तथा 'सन्खेडा' जिले अथवा प्रान्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इन दोनों की स्थिति गुजरात में थी।^४ 'खेट' के आर्थिक विकास क्रम के ये दोनों उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। इस प्रकार 'खेट' प्राचीन भारत की निवासायक नगर भेद की महत्वपूर्ण इकाई रही है। प्रारम्भ में ये अर्ध-विकसित गांवों के रूप में थे तदनन्तर आर्थिक विकास की निरन्तर उन्नति से ये 'खेट' नगर, विषय, तथा प्रान्त तक की भौगोलिक सीमा तक व्याप्त होते गए।^५ आधुनिक 'खेड़ा' से 'खेट' की तुलना की जा सकती है। आज भी भारतवर्ष में 'खेड़ा' नाम से व्यवहृत होने वाले अनेक गांवों की स्थिति विद्यमान है। दिल्ली के समीपवर्ती गांवों में आज भी 'खेड़ा खुर्द', 'खेड़ा कलां' आदि नामों से प्रसिद्ध आवासीय संस्थितियां हैं। यमुना नदी अथवा अन्य नहरें इन गांवों के निकट पड़ती हैं। सहारनपुर स्थित आधुनिक 'कूआंखेड़ा' नामक गांव का स्वरूप अब भी प्राचीन

१. Tiwarkhedā Plates of Nanarāja, Epi. Ind., XI, p. 279

२. Pattan Plates of Pravarasena II, Epi. Ind., XXIII, p. 86

३. Sankhedā Grant of Dadda IV, Epi. Ind. V, p. 39

४. Gupta, Geography In Ancient Indian Inscriptions, p. 219

५. (१) खेट-ग्राम (खुडच, पाकिस्तान)—Halsi Grants of Kākustha-varmana and Ravivarman, Ind. Anti. VI, pp. 23, 26

(२) खेटाहार (सौराष्ट्र)—Prince of Wales Museum Grant of Dhruvasena—II, Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, New Series. p. 70

(३) खेटक-प्रद्वार (गुजरात)—Bhāvanagara Plates of Dharasena III, Epi. Ind. XXI, p. 183

(४) खेटकाहार (कैरा जिला, गुजरात)—Kairā Grant of Dharasena IV, Ind. Ant. XV, p. 339

‘खेट’ के तुल्य बना हुआ है, यद्यपि गन्ना, घान आदि के उत्पादन होने से यह अन्य साधारण गाँवों की तुलना में समृद्ध गांव है किन्तु जनोचित सुविधाओं के कारण इसकी भौगोलिक उन्नति अवरुद्ध रही है और पुरातन स्वरूप बरकरार है ।^१

७. द्रोणमुख^२

नदी के तटवर्ती नगर को ‘द्रोणमुख’ कहा जाता है ।^३ सूत्रकृताङ्ग तथा उत्तराध्ययन की टीकाओं ने भी इसे इसी प्रकार स्पष्ट किया है । उत्तराध्ययन की टीका ने ‘भृगुकच्छ’ को ‘द्रोणमुख’ का उदाहरण भी बताया है ।^४ शिल्परत्न के अनुसार इसे बन्दरगाह माना गया है ।^५ व्यापारिक केन्द्र के रूप में ‘द्रोणमुख’ नामक नगर का विशेष महत्त्व रहा होगा । समुद्र तट पर अवस्थित इस नगर में वणिक् आदि व्यापारी वर्ग का प्राधान्य था ।^६ कोश ग्रन्थों के प्रमाणों से ‘द्रोणमुख’ चार सौ ग्रामों के मध्य अवस्थित होते थे ।^७

१. द्रष्टव्य —नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, २७ मार्च, १९७६ ‘नजर अपनी-अपनी’ शोषक के अन्तर्गत, किशन सिंह चौहान, गांव कूमां खेड़ा, डाकखाना-भावसी, सहारनपुर का एक पत्र

२. पुराणि राष्ट्राणि मटम्बखेटान्द्रोणीमुखान् खर्वडपत्तनानि ।

—वराङ्ग०, १६.१६६

स सहस्रेणोनद्रोणमुखलक्षस्य रक्षकः । —पद्मा०, १६.१६६

ग्रामाकरद्रोणमडम्बपत्तनानि । —वसन्त०, १३.४३

३. मवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम् । —आदि०, १६.१७३

४. द्रोणाख्यं सिन्धुवेला-वलयितम् । (सूत्र० टीका);
द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमनप्रवेशं तद् भृगुकच्छादिकम् ।

—(उत्तरा० टीका)

५. तदेवाब्धेश्च नद्याश्च संगमागतपोतकम् ।

द्वीपान्तरवणिग्जुष्टं विदुर्द्रोणीमुखं बुधाः ॥ —शिल्परत्न, ५.२१२

६. वही, ५.२१२

७. ग्रामोपग्रामशताष्टके । तदर्धं तु द्रोणमुखं । —(वाचस्पति), अभिधान०, ६७२

८. मडम्ब^१

साढ़े तीन कोश तक जहाँ अन्य ग्राम न हो 'मडम्ब' कहलाता है।^२ एक दूसरी परिभाषा के अनुसार सभी ओर से आधे योजन से दूर स्थित ग्राम को 'मडम्ब' कहा गया है।^३ प्रमेयरत्नमंजूषा की परिभाषा के अनुसार पाँच सौ ग्रामों का उपजीव्य 'मडम्ब' कहलाता है।^४ आदितुराणकार ने भी 'मडम्ब' को पाँच सौ ग्रामों से परिवेष्टित माना है।^५ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में 'मडम्ब' एक छोटे से गाँव को कहते होंगे तदनन्तर मध्ययुग में ये व्यापार के केन्द्र बन गए थे तथा लगभग पाँच सौ ग्रामों का भरण-पोषण करने में समर्थ थे। प्रमेयरत्नमंजूषा में प्राचीन तथा मध्यकालीन आवासीय स्वरूप को देखते हुए ही 'मडम्ब' की परिभाषा दी गई है। ल्यूडर्स-तालिका संख्या-१२०० के शिलालेख में आया हुआ 'मडम्ब' लेनमैन महोदय के अनुसार जिले का केन्द्र-स्थान था।^६

९. पत्तन^७

उत्तराध्ययन की टीका ने 'पत्तन' को 'रत्नों की खान' के रूप में स्पष्ट किया

१. मडम्बखेडापुराणि राष्ट्राणि बहून्यतीत्य । —वराह्म०, १२.४४
पुराकरग्राममडम्बखेडैः । —वराह्म०, १६.८६ तथा ३.४, ३१.५५ कर्बटानां
मडम्बानाम् । —पद्मा० १६.१६७, तथा —खेटकर्बटमडम्बचयेन ।

—प्रद्यु० ५.११

२. (१) यस्य सर्वदिक्षुसार्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो न स्यात् ।—(उत्तरा० टीका),
Jinist Studies, पृ० ८ पर उद्धृत ।

(२) अर्धव्यूततृतीयान्तर्हितं मण्डपम् । —वही, पृ० ८

(३) अर्धतृतीयव्यूतान्तर्ग्रामपञ्चशत्युपजीव्यानि वा मडम्बानि ।

—पद्मा०, १७.१६७, पर प्रमेयरत्नमंजूषाटीका, पृ ३६२

३. सर्वतोऽर्धयोजनात्परतोऽवस्थितग्रामणि ।—(कल्प० टीका) Jinist Studies
पृ० ८ पर उद्धृत ।

४. प्रमेयरत्नमंजूषा-टीका, पद्मा०, १६.१६७, पृ० ३६२ पर उद्धृत ।

५. मडम्बमामनन्ति जाः पञ्चग्रामशतीवृत्तम् । —आदि०, १६.१७२

६. Epi. Ind. II, p. 484

७. पुराणि राष्ट्राणि च पत्तनानि ।—वराह्म०, ११.६७, तथा २१.४८, ३१.५५
पत्तनाष्टचत्वारिंशत् सहस्राणां च शासिता । —पद्मा०, १६.१६६,
ग्रामाकरद्रोणमडम्बपत्तनान्यनेकशः । —वसन्त०, १३.४३

है तथा 'जलवर्ती' एवं 'स्थलवर्ती' इसके दो भेद माने हैं।^१ आदिपुराण की मान्यता है कि जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नाव द्वारा उतरते हों, उसे 'पत्तन' कहते हैं।^२ एक अन्य परिभाषा के अनुसार नौकाओं द्वारा गम्य—'पट्टन' तथा नौकाओं के अतिरिक्त घोड़े, गाड़ियों द्वारा भी गम्य स्थान—'पत्तन' कहलाता है।^३

१०. कर्वट^४

प्राकारों से वेष्टित अथवा चारों ओर से पर्वतों से घिरे हुए नगर अथवा ग्राम को 'कर्वट' कहते हैं।^५ 'कर्वट' के लिए 'खर्वट' तथा 'खर्वड' का भी प्रयोग हुआ है।^६ वाचस्पति कोश में 'कर्वट', 'कर्वुटिक' तथा 'कार्वट' तीन भेद आए हैं, जो क्रमशः एक दूसरे के आधे होते थे।^७ आदिपुराणकार ने एक 'खर्वट' में दो सौ ग्राम माने हैं।^८ विश्वकर्मावास्तुशास्त्र के अनुसार 'खर्वट' नदी के तीरस्थ नगर

१. यत्र सर्वदिग्भ्यो जनाः पतन्त्यागच्छन्तीति पत्तनमथवा पत्तनं रत्नखनिरिति लक्षणं तदपि द्विविधं जलमध्यवर्त्ति स्थलमध्यवर्त्ति च । —(उत्तरा० टीका),

२. पत्तनं नत्समुद्रान्ते यन्नीभिरवतीर्यते । —आदि पु०, १६.१७२,
पारावारतटे वापि भूधरोपत्यकातटे स्वादुतोयस्थले वापि पत्तनम् कारयेद् बुधः । —विश्व०, ८.६०

३. पत्तनं शकटं गम्यं घोटिकैर्नीभिरेव च ।
नीभिरेव तु यद्गम्यं पट्टनं तत् प्रचक्षते ॥

—व्यवहारसूत्र, भाग ३, पृ० १२७

४. द्रोणीमुखान्खर्वडपत्तनानि । —वराह्म०, ३१.५५, कर्वटानां मडम्बानामिवा-
डम्बरभावश्रियाम् । —पद्मा०, १६.१६७, खेटकर्वटमटम्बचयेन । —प्रद्यु०,
५.११ तथा त्रिषष्टि०, २.४.२६२

५. क्षुल्लकप्राकारवेष्टितानि अभितः पर्वतावृत्तानि वा कर्वटानि । —पद्मा०,
१६.१६७ पर उद्धृत प्रमेयरत्नमंजूषा, पृ० ३६२

६. आदि०, १६.१७१ तथा वराह्म०, ३१.५५

७. कर्वटाधे कर्वुटिकं स्यात् तदधे तु कार्वटम् । —(वाचस्पति), अभि० ६७२,
Jinist Studies, पृ० १४ पर उद्धृत ।

८. शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया खर्वटयोः । —आदि०, १६.१७५

होते थे ।^१ इस नगर में मुख्यतः आखेटकों, भृत्यों तथा कृषकों का निवास माना गया है ।^२

११. सम्बाध^३

‘सम्बाध’ अथवा ‘सम्बाह’ अनाज रखने के भण्डार के रूप में पारिभाषित हुआ है । कल्पसूत्र-टीका की एक परिभाषा के अनुसार समभूमि में कृषि करने के उपरान्त कटे हुए अनाज की रक्षा करने के लिए उसे ‘सम्बाह’ नामक स्थान विशेष में रखा जाता था । इसे ‘दुर्गभूमि’ अर्थात् पर्वत के ऊँचे भाग के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है ।^४ ‘सम्बाह’ के इसी वैशिष्ट्य को औपपातिकसूत्र-टीका ने ‘पर्वत-नितम्बादि दुर्गो स्थापनी’^५ द्वारा स्पष्ट किया है । किन्तु उत्तराध्ययन की टीका ने ‘सम्बाध’ में चारों वरुणों के लोगों का निवास माना है ।^६ औप० तथा कल्प० की टीकाओं की प्रथम परिभाषा ‘सम्बाह’ तथा उत्तराध्ययन टीका की द्वितीय परिभाषा ‘सम्बाध’ से सम्बद्ध है । ऐसा प्रतीत होता है कि ‘सम्बाध’ ही निवासायुक्त नगर भेद की इकाई रही होगी तथा चारों वरुणों के लोग इसमें निवास करते होंगे किन्तु ‘सम्बाह’ अनाज आदि के केवल मात्र भण्डार ही थे अथवा इसमें लोगों का निवास भी होता था, इसकी सूचना नहीं मिलती । वैसे भी अन्य निवासायुक्त इकाइयों की तुलना में ‘सम्बाध’ का उल्लेख बहुत कम तथा केवल पद्मा०, त्रिषष्टि० आदि में ही हुआ है ।^७ आदिपुराणकार ‘सम्बाह’ का ही उल्लेख करते हैं ‘सम्बाध’ का नहीं ।^८ प्रमेयरत्नमंजूषा के अनुसार ‘पर्वत शिखरस्थ निवास स्थान’ अथवा ‘यात्रा के लिए आए हुए बहुत लोगों के आवास स्थान’ को ‘सम्बाध’ कहा जाता था ।^९ निष्कर्षतः ‘सम्बाध’ को ही निवासायुक्त इकाई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

१. वास्तुभूमिः खर्वटस्थ नदीतीरगता मता । —विश्व०, ८.२२
२. वागुराजीविभिश्चान्यैर्भूतकैश्च कृषीवलैः ।
मदिरागेहसंयुक्ता विपण्यादिभिरावृता ॥ —विश्व०, ८.२५
३. चतुर्दशसहस्राणां सम्बाधानामधीशिता । —पद्मा०, १६.१६६ तथा त्रिषष्टि०, २.४.२६२
४. समभूमौ कृषि कृत्वा येषु दुर्गभूमिषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थम् ।
—(कल्प० टीका), Jinist Studies, पृ० १७ पर उद्धृत ।
५. औप० सूत्र-टीका, वही, पृ० १८
६. सम्बाधः प्रभूतचातुर्वर्ण्य निवासः (उत्तरा० टीका०), वही, पृ० १८
७. पद्मा०, १६.१६६; त्रिषष्टि०, २.४.२६२
८. संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसञ्चय इष्यते । —आदि०, १६.१७३
९. शैलशृङ्गस्थायिनो निवासा यात्रासमागतप्रभूतजननिवेश वा सम्बाधाः ।
—(प्रमेयरत्नमंजूषा), पद्मा०, १६.१६६ पर उद्धृत

१२. घोष^१

हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि से सिद्ध होता है कि 'आभीर-पल्लिका' अर्थात् अहीरों की वस्तियां 'घोष' कहलाती थीं।^२ चन्द्रप्रमचरित में 'घोष' में रहने वाले आभीरों, गोपों तथा गोपवधुओं का वर्णन आया है।^३ विश्वकर्मावास्तु-शास्त्र के अनुसार भी 'घोष' में निवास करने वाले लोगों में 'गोपालक' ही मुख्य थे।^४

आवासीय संस्थिति के रूप में 'निगम'—एक पुनर्विवेचन

रामायण^५ एवं शिलालेखों^६ में उपलब्ध 'निगम' शब्द के अर्थनिर्धारण में प्रायः इतिहासकार सहमत नहीं। इतिहासकारों का एक वर्ग 'निगम' का 'व्यापारिक समिति' (Trader's Body) अथवा 'व्यापारिक-संगठन' (Trader's Corporation) अर्थ करता है, तो दूसरा वर्ग इसको निवासार्थक नगरभेद की इकाई के रूप में स्वीकार कर, 'निगम' से नगर (Town) का अभिप्राय लेता है। डा० के० पी० जायसवाल ने 'निगम' अथवा 'नैगम' को 'Corporate Body of Merchants' के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया है।^७ बसाढ़ के मुद्राभिलेखों में आए 'निगम' को ब्लॉख ने 'Chamber of Commerce' की संज्ञा प्रदान की है।^८ दूसरी ओर आर० सी० मजूमदार एवं भण्डारकर प्रभृति ऐतिहासिक जायसवाल एवं ब्लॉख के मतों से सहमत नहीं।^९ एन० एन० ला० तथा ए० एस० अल्टेकर ने जायसवाल

१. घोषा: प्रतिध्वनितमन्द्रगुणा गुणादयाः । —वराह्म०, १.२६

२. घोषस्त्वाभीरपल्लिका । —अभिधान०, ४.६७

३. चन्द्र०, १६.२, १३.४२, ४६ तथा जयन्त०, १.३७

४. गोभिर्गोपालकैश्चापि सर्वतस्संवृता शुभा । —विश्व०, ८.३२

५. Jayaswal. K.P., Hindu Polity, Pt. I & II, Banglore, 1943, p. 240

६. Mookerji, Radhakumud, Local Govt. in Ancient India, Oxford, 1920, pp. 112-14

७. Jayaswal, Hindu Polity, pp. 240-54

८. Bloch, Archeological Survey of India, Annual Report 1903-4, p. 104

९. (i) Majumdar, R. C., Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1969, p. 41

(ii) Bhandarkar, Carmichael Lectures, (Delivered in Calcutta University), 1918, p. 170, fn. I, p. 176

के 'पौरजानपद-सिद्धान्त' की कटु आलोचना करते हुए इसकी प्रामाणिकता को चुनौती दी है।^१ स्मरण रहे कि जायसवाल के 'पौरजानपद-सिद्धान्त' से 'नैगम' की व्याख्या भी पूर्णतया प्रभावित है।^२ इस सम्बन्ध में आर० सी० मजूमदार का सुझाव है कि जब तक 'निगम' शब्द की सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय से प्रमाणों को लेकर सम्यक् रूप से परीक्षा नहीं कर ली जाती और इस शब्द का वास्तविक भाव निश्चित करने की दिशा में कोई आरम्भिक खोज सामने नहीं आ जाती तब तक भण्डारकर द्वारा प्रतिपादित 'निगम' के 'नगर' अर्थ को ही प्रामाणिक मानना चाहिए।^३ मजूमदार महोदय के इस सुझाव को अन्य ऐतिहासिकों ने समर्थन देते हुए कहा कि 'निगम' का 'Chamber of Commerce' अर्थ प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था के अनुरूप नहीं है। 'निगम' का 'Corporation' आदि अर्थ अत्यधिक आधुनिक है, जिसे प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था के सन्दर्भ में ठीक बैठाने का प्रयास करना समीचीन नहीं।^४

'निगम' के अर्थनिर्धारण की दिशा में जर्मन विद्वान Otto Stein ने भी कुछ कार्य किया,^५ किन्तु उनके निष्कर्षों के आधार पर निगम के 'नगर' अर्थ तथा 'व्यापारिक-समिति' अर्थ दोनों को समर्थन मिलने के कारण स्थिति विवादपूर्ण ही रह जाती है।^६

१. (i) Law, N.N., 'The Janapada and Paura' (article) in the Historical Quarterly, Vol. 2, Nos. 2-3, 1926

(ii) Altekar, A.S., State and Govt. in Ancient India, Banaras, 1972, pp. 146-54

२. 'Now it appears that originally the 'Naigama' of the capital was the mother of the Paura Association.'

—Jayaswal, Hindu Polity, p. 252

३. रमेशचन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारतीय संघटित जीवन, सागर, १९६६, पृ० ४३

४. 'The 'Chamber of Commerce' is quite a modern term and we are not at all sure whether this will suit our ancient Indian situation.'

—Maity, S. K., Eco. Life of Northern India, Calcutta, 1957, p. 157

५. Stein, Otto, Jinist Studies, ed. Jinavijay Muni, Ahmedabad, 1948

६. 'Summarizing one could say : nigama : (a) Trader's place, (b) Trader's body'.

इस प्रकार भारतीय इतिहास के अध्येताओं के समक्ष 'निगम' के अर्थ एवं स्वरूपनिर्धारण की समस्या अब भी जटिल बनी हुई है। जैसा कि आर० सी० मजूमदार का कहना है कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय से प्रमाणों को एकत्र करके ही 'निगम' के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है—इसी उद्देश्य से प्रस्तुत विवेचन द्वारा रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, कोष-ग्रन्थ, वास्तुशास्त्र-ग्रन्थ, शिलालेख, मुद्राभिलेख, स्मृति-ग्रन्थ, निबन्ध-ग्रन्थ तथा अन्य साहित्यिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर 'निगम' के यथोचित देशकालानुसारी स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

१. रामायण—रामायण में 'निगम' के उल्लेख प्रायः 'पौरजानपद' के साथ हुए हैं।^१ राज्य के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर 'पुर-जनपद-निगम' के निवासी एकत्र होते थे।^२ कवि इन सभी लोगों की उपस्थिति का वर्णन प्रायः 'पौर', 'जानपद', 'नैगम' आदि शब्दों द्वारा करता है।^३ रामायणकाल की दूसरी एक विशेषता रही है कि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर राजा प्रजा के विभिन्न प्रतिनिधियों को बुलाकर उनसे मन्त्रणा आदि भी करता था। रामायण के अनेक स्थलों पर आए 'पौरजानपद'

१. पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणेश्व—Śrīmad Vālmiki Rāmāyaṇa, pub. by Aiyar, R.N., ed. Sastrigal, S.K., Madras, 1933, अयो०, १४.४०

पौरजानपदश्चापि नैगमश्च कृतात्मभिः—अयो०, १४.५५,

पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः—अयो०, १४.५४

—Hindu Polity, p 240 पर उद्धृत।

२. उपविष्टाश्च सचिवा राजानश्च सनैगमाः।

प्राच्योदीच्याः दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ॥ —अयो०, ३.२५

ब्राह्मणा जनमुल्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ —अयो०, २.१६

ददर्श पौरान् विविधान् महाधनानुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्टितान् ॥

—अयो०, १४.६८

अमात्या बलमुल्याश्च मुख्या ये निगमस्य च।

राधवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणास्तु संगताः ॥ —अयो०, १५.२

ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः पूर्वकन्याभिर्मन्त्रिभिस्तथा।

यौधेयैश्चैवाभ्यषिञ्चन्ते सम्प्रहृष्टाः सनैगमैः ॥ —युद्ध०, १३१.६२

३. वही

तथा 'नैगम' इसी प्रतिनिधित्व की सूचना देते हैं।^१ सरलमना रामायण का ऋषि-कवि इसी प्रयोजन हेतु 'पुर-जनपद-निगम' के निवासियों के लिए अथवा उनके प्रति-निधियों के लिए क्रमशः 'पौर', 'जनपद' 'नैगम' का प्रयोग करता है। 'पुर-जनपद' तथा 'निगम' नगरभेद की महत्त्वपूर्ण सस्थितियां होने के कारण रामायणोत्तर ग्रन्थों में भी इनका प्रयोग प्रायः साथ-साथ ही देखा जाता है।^२ पी० सी० धर्मा के मतानुसार 'नैगम' को तत्कालीन 'नगरशासक' की संज्ञा देना उपयुक्त है।^३ धर्मा के 'नगर-शासक' अर्थ की रामायण के सन्दर्भों में अन्विति बिठाने का यदि प्रयास किया जाय तो रामायण में आए 'निगमवृद्ध'^४ तथा 'निगम-मुख्य'^५ का अर्थ 'निगम' का 'प्रधान' अथवा 'मुखिया' करने में किसी प्रकार का अर्थ-विरोध उत्पन्न नहीं होता

१. पौरजनपदेषचापि नैगमैश्च कृतात्मभिः ।

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ॥ —अयो०, १४.५५

ददशान्तिःपुरं श्रीमान् नानाद्विजगणायुतम् ।

पौरजनपदाकीर्णब्राह्मणै रूपशोभिताम् ॥

—अयो० १४.३०

समेत्य ते मन्त्रयित्वा समागतबुद्धयः ।

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥

—अयो०, २.२० (जायसवाल द्वारा उद्धृत हिन्दू पोलिटी, पृ० २४१, पाद-टि० १६)

२. ते हि ब्राह्मणेहि ग्रामनिगमनगरजनपदेहि अण्वन्तेहि शाक्यानां

देवडहे निगमे सुभूतिस्थ शाक्यस्य सप्तधीतरो द्रष्टा ।

—महावस्तु अवदान, Vol. I, ed, Basak, Radha Govinda, Calcutta, 1963, p. 465;

ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशाला कारयित्वा ।

The Jātakamālā of Āryasūra, ed. Diwedi, R. C., & Bhatt, M.R., Delhi, 1966, p. 41;

उपसृष्टपूर्वनगरनिगमजनपदानाम् ।

—Jūnāgarh Rock Inscription of Rudradāman-I (150 A. D.), Sircar, D.C. Select Inscription, Vol. I, Calcutta, 1965, p. 178

३. Dharma, P.C., Rāmāyaṇa Polity, Madras, 1941, p. 70

४. तथा निगमवृद्धाश्च । —रामायण, ७.४०.१८

५. मुख्या ये निगमस्य च । वही— ३.१५.२

हैं। किन्तु इसके विपरीत रामायण के 'पौरजानपद' तथा 'नैगम' की के० पी० जायसवाल दूसरे ढंग से व्याख्या करते हैं। जायसवाल के अनुसार 'पौरजानपद' एक संवैधानिक एवं नगर के प्रतिनिधियों की 'संज्ञित समिति' है तो 'निगम' नगर के व्यापारियों का एक 'सामूहिक संगठन' है।^१ जायसवाल के इस तर्क का मुख्य आधार 'पौरजानपद' तथा 'नैगम' का एक वचन में प्रयुक्त होना है।^२ एन० एन० ला० तथा ए० एस० अल्टेकर ने जायसवाल के मत का खण्डन किया है।^३ अतः इस सम्बन्ध में और अधिक कहना प्रासङ्गिक न होगा। संक्षिप्त में यह उल्लेखनीय है कि 'पौरजानपदश्च' पाठ, जो कि जायसवाल को अभिमत है तथा जिस उद्धरण पर सम्पूर्ण 'पौरजानपद-सिद्धान्त' भी अवलम्बित है, वह पाठ विद्वानों को मान्य नहीं। इस तथ्य को स्वयं जायसवाल महोदय ने भी स्वीकार किया है।^४ इसके अतिरिक्त रामायण से स्पष्ट रूप से 'नैगम' की 'व्यापारिक समिति' के रूप में पुष्टि न होने के कारण 'पौरजानपद-सिद्धान्त' तथा 'नैगम' की तथाकथित व्याख्या भी निराधार हो जाती है। वास्तव में जायसवाल महोदय वैदिककाल से चली आ रही 'समिति' की जिस विशेषता को रामायणकाल में भी येन केन प्रकारेण सिद्ध करना चाहते हैं,^५ उसके लिए उन्होंने अत्यधिक परवर्ती विवादरत्न, वीरमित्रोदय आदि ग्रन्थों से अस्पष्ट उद्धरणों को लेकर अपने मत का समर्थन किया है।^६ इस सम्बन्ध में सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने जायसवाल महोदय की 'निगम-धारणा' का खण्डन करते हुए कहा है—“जायसवाल जी ने जिस ढंग से 'पौरजानपद' के स्वरूप को प्रतिपादित किया है, उसके विरोध में भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं। संस्कृत में सामूहिक अर्थ में एक वचन का प्रयोग असामान्य बात नहीं है। रुद्रदामन् और अशोक के शिलालेखों में 'पौरजानपद' का प्रयोग जिस रूप में हुआ है, उससे स्पष्टतया यह सूचित नहीं होता कि इन नामों की संस्थाएं या सभाएं वहाँ अभिप्रेत हैं। 'पुर-निवासी' और

१. Jayaswal, Hindu Polity, pp. 252-53.

२. वही, पृ० २४०

३. (i) Law, N.N., "The Janapada and Paura" (Article), 'Historical Quarterly', Vol. 2, Nos. 2-3, 1926.

(ii) Altekar, A.S., State and Govt. in Ancient India, Banaras, 1972, pp. 146-54.

४. Jayaswal, Hindu Polity, p. 240.

५. वही, पृ० १८-२२

६. Altekar, State and Govt., pp. 153-54

‘जनपद-निवासी’ ‘जनों को सन्तुष्ट करना तथा उनके प्रति अनुग्रह करना ही रुद्रदामन् और अशोक को अभीष्ट था। रुद्रदामन् शिलालेख में स्पष्ट रूप से ‘पौरजानपदजन’ लिखा गया है। कौटिलीय-अर्थशास्त्र में जहाँ ‘पौरजानपद’ का प्रयोग हुआ है, वहाँ ‘पुर-निवासी’ और ‘जनपद-निवासी’ अर्थ करने पर भी अर्थ सङ्गति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दिव्यावदान में ‘पौर’ का जिस ढङ्ग से प्रयोग हुआ है, वह उसके सुसङ्गठित संस्था होने का परिचायक अवश्य है। तक्षशिला जैसे नगर में यदि म्युनिस्पल-शासन के लिए ‘पौरसभा’ की सत्ता हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। रामायण में जिस प्रकार ‘पौरजानपद’ का उल्लेख है, उससे इसका संस्था होने का निर्देश अवश्य मिलता है। परन्तु जायसवाल जी ने इसे ग्रेट ब्रिटेन की वर्तमान समय की पार्लियामेंट के समकक्ष प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया है, उसका समर्थन कर सकना सम्भव नहीं।^१ वास्तव में जायसवाल महोदय ने एक भी ऐसा उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया जिससे ‘पौरजानपद’ को राज्य की ‘संवैधानिक-निर्णयकर्त्री-समिति तथा ‘निगम’ को ‘व्यापारिक समिति’ के रूप में स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सके। रामायण की समस्या का १५वीं-१६वीं शती के ग्रन्थों से समाधान करना भी ऐतिहासिक-दृष्टि से न्यायपूर्ण नहीं। इसके विपरीत रामायण के निकटस्थ काल में निर्मित जातकादि बौद्ध-ग्रन्थों में ‘निगम’ नगर-भेद की संस्था के रूप में वर्णित है।^२ अतः रामायण में आए ‘निगम’ को निवासार्थक-नगरभेद के रूप में ग्रहण करने तथा ‘नैगम’ को ‘निगम’ से सम्बद्ध नागरिक, शासकादि मान लेने पर किसी प्रकार का अर्थविरोध उत्पन्न नहीं होता। डा० रामाश्रय जोकि मूलतः जायसवाल के समर्थक हैं, ‘निगम’ तथा ‘नैगम’ में कोई भेद नहीं मानते।^३ वस्तुतः ‘निगम’ तथा ‘नैगम’ में

१. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, १९६८, पृ० २४१-४२

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २६७

३. ‘In the Rāmāyaṇa both the words Nigama and Naigama are to be met with technically, the term Nigama as well as the Naigama stands for a ‘Corporate Body’ and so the word Naigama may mean a ‘Corporate Body’ of merchants or a member of such a body.’

— Sharma, Ramasharya, A Socio-Political Study of the Vālmiki Rāmāyaṇa, Delhi, 1971, p. 374, fn. 1

भेद मानना व्याकरण की दृष्टि से तो अनिवार्य है ही,^१ इसके अतिरिक्त पारि-
भाषिक दृष्टि से यदि दोनों में भेद नहीं माना जाएगा तो फिर 'पुर-पौर' तथा
'जनपद-जानपद' में भी भेद मानना 'पौरजानपद सिद्धान्त' के अनुकूल नहीं। इस
प्रकार जायसवाल द्वारा प्रतिपादित निगम के 'व्यापारिक-सङ्गठन' अर्थ के औचित्य
हेतु रामायण में कोई अवकाश नहीं है।

रामायणकाल में राष्ट्र, राज्य, विषय, नगर, ग्राम, पुर, जनपद, घोष आदि
आवासभेदक विभिन्न संज्ञाएं प्रचलित थीं।^२ यद्यपि 'निगम' पुरों-जनपदों की भाँति
लोकप्रिय नहीं हो पाए थे किन्तु इनका अस्तित्व अवश्य था।^३ संभवतः रामायण
के रचना क्षेत्र में 'निगम' नामक संस्थिति अधिक प्रचलित न रही हो, किन्तु दक्षिण-
भारत के निगमों का प्रतिनिधित्व करने के लिए वहाँ के राजाओं के साथ 'नैगम'
भी उपस्थित होते थे।^४

इस प्रकार रामायण में 'नैगम', 'पौर', 'जानपद' किसी प्रकार के व्यापारिक
संगठन अथवा राज्य की संवैधानिक समिति के द्योतक नहीं अपितु निगमों, पुरों तथा
जनपदों से सम्बन्धित निवासी अथवा उनके शासक आदि के द्योतक हैं। वस्तुस्थिति
यह है कि 'निगम' का रामायणकाल में अस्तित्व अवश्य था।^५ तभी रामायण में
नैगमों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। निष्कर्षतः 'निगम' नामक निवासायुक्त-संस्थिति के
निवासी साधारणतः 'नैगम' कहलाए जा सकते हैं और शासन-सम्बन्धी पारिभाषिक
शब्दावली के अनुसार निगमों पर शासन करने वाले लोग भी उपलक्षण से 'नैगम'

१. निगम्यते निगमः, गोचरसंचरेति (अष्टाध्यायी ३.३.११६) साधुः। निगमे
भवौ नैगमः—नामलिङ्गानुशासन, क्षीरस्वामीकृत टीका, सम्पा० कृष्णजी
गोविन्द ओका, पूना, १९१३, पृ० २०८ तथा तु०—

'The literal significance of Nigama, from which Naigama is
derived, is in accordance with Pāṇini, III, 3.119. ...The body
of the people associated with the Nigama'.

—Jayaswal, Hindu Polity, p. 254

२. Sharma, Ramasharaya, A Socio-Political Study, p. 285
३. अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च। —अयो०, १५.२
४. उपविष्टाश्च सचिवा राजानश्च सनैगमाः।
प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याः दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः॥

—अयो०, ३.२५

५. अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च।
राघवस्याभिषेकार्थं प्रीयमाणस्तु सङ्गताः॥

—अयो०, १५.२

संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। तुलनीय—नगराधिकारी-नागरक,^१ ग्रामाधिकारी-ग्रामिक^२ आदि।

२. अष्टाध्यायी-महाभारत तथा अर्थशास्त्र—पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुल छः स्थानों पर 'निगम' के उल्लेख आए हैं।^३ ऋग्यनादि-गणपाठ में पठित होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि इसका अर्थ वेदविद्या भी रहा हो।^४ इनमें से पांच स्थानों पर 'निगमे' वेदार्थक है तथा केवल एक स्थान पर 'गोचरसंचरवह्व्रजव्यजापणानिगमाश्च' (अष्टा० ३.३.११६) में आए 'निगमाः' यद्यपि व्याख्याकारों के अनुसार वेदार्थक ही है,^५ किन्तु गोचर (गौश्रों के चरने का स्थान) संचर (मार्ग) वहः (मार्ग) व्रजः (गौश्रों का बाड़ा) व्यजः (पंखा) आपणः (दुकान) आदि ग्राम-सम्बन्ध के वाचक शब्दों के सन्दर्भ में पठित 'निगमाः' का अर्थ वेद की अपेक्षा मार्ग अथवा ग्रामादि अर्थ अधिक सन्दर्भानुकूल जान पड़ता है। अष्टाध्यायी के व्याख्याकार या तो 'निगमाः' को वेदार्थक (छन्द) मानते हैं अथवा मौन रहते हैं।^६

पाणिनिकालीन भारतवर्ष में प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए बामुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'निगम' 'व्यापारिक सङ्गठन' का

१. समाहृतृवन्नागरको नगरं चिन्तयेत् । —अर्थशास्त्र, २.३६

२. ग्रामेयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ॥ —महाभारत, शान्तिपर्व,
८७.३;

तथा तु०—महानगर (पुर) का आधुनिक सर्वोच्चाधिकारी—'महापौर'।

३. साद्वयसाद्वया साद्वेति निगमे (६.३.११२) वाषपूर्वकस्य निगमे (६.४.६) बभूयाततन्त्यजमृम्भववर्षेति निगमे (७.२.६४) मोनातेनिगमे (७.३.८१) समूवेति निगमे (७.४.७४) तथा गोचरसंचरवह्व्रजव्यजापणानिगमाश्च (३.३.११६)—अष्टाध्यायी

४. ऋग्यनादयः—ऋग्यन, पद, व्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दो-विचिति, न्याय, पुनरुक्त, निरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, छत्रविद्या,
—पाणिनीय शब्दकोष, ३२.१०, पृ० ६७६

५. गावश्चन्ति अग्निमिति गोचरो देशः । संचरन्त्ययेन संचरो मार्गः । वहन्त्यनेन वहः स्कन्धः व्रजः । व्यजस्तालवृन्तम् । आपणः पण्यस्थानम् । निगच्छन्त्यनेन निगमः छन्दः ।

—अष्टाध्यायी, ३.३.११६, पर सिद्धान्तकौमुदी टीका

६. वही

स्रोतक है।^१ अष्टाध्यायी से ही प्रमाणित न होने के कारण वामुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन प्रमाणाभाव के कारण सुग्राह्य नहीं। ऐसा समझना चाहिए कि पाणिनि भारत के जिस भूभाग से परिचित थे वहाँ 'निगम' नामक नगरभेद का अधिक प्रचलन न रहा होगा। ऐसी ही स्थिति महाभारत तथा अर्यशास्त्र के साथ भी रही थी। अर्यशास्त्र में आवासभेद की 'स्थानीय', 'द्रोणमुख', 'खार्वटिक' तथा 'संग्रहण' आदि पारिभाषिक संज्ञाओं का उल्लेख तो आया है,^२ किन्तु 'निगम' नामक नगर भेद से अर्यशास्त्र परिचित नहीं। वैसे महाभारत, अष्टाध्यायी तथा अर्यशास्त्र में निगमाभाव तथा रामायण एवं बौद्ध जातकादि ग्रन्थों में प्रयोगबाहुल्य के कारणों को जानकर कतिपय नवीन निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं।

३. अभिलेख, मुद्राभिलेख तथा सिक्के (ईस्वी० पूर्व ४००-६०० ई० तक) पुरातत्वीय स्रोतों के आधार पर भी नगर अथवा ग्राम के अर्थ में 'निगम' के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख इलाहाबाद के समीप भीटा नामक स्थान से प्राप्त मुद्राभिलेख में खुदे 'शाहिजितिये निगमश'^३ को माना जाता है, जिसका समय ईस्वी पूर्व तृतीय अथवा चतुर्थ शती निश्चित है।^४ सर जान मार्शल के मतानुसार यह मुद्राभिलेख 'शाहजिति' की 'निगमसभा' को मुद्रित करने की ओर संकेत करता है।^५ ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी के एक अन्य 'भट्टिट-प्रोलुशिललेख' में आए 'नैगमा'^६ को यद्यपि बुहलर द्वारा 'श्रेणी के सदस्य'^७ के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया है किन्तु डी० आर० भण्डारकर के मतानुसार 'नैगमा' संस्कृत—'नैगमाः' है तथा जिसका अर्थ है 'नागरिकों की सङ्गठित समिति'।^८

१. 'प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएँ थीं। शिल्पियों के सङ्गठन को 'श्रेणि', व्यापारियों के सङ्गठन को 'निगम' और एक साथ माल लादकर वाणिज्य करने वाले व्यापारियों को 'सार्यवाह' कहते थे।'

—वामुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, काशी, २०१२
वि० सं०, पृ० २३०

२. अर्यशास्त्र, २.१

३. Archeological Survey of India, Annual Report, 1911-12, p. 31

४. Majumdar, Corporate Life, p. 134

५. A.S.I., Ann. Rep., 1911-12, p. 31

६. Epigraphia Indica, Vol. II, p. 328

७. वही, पृ० ३२८

८. Bhandarkar, Carmichael Lectures, 1918, p. 170

मजूमदार ने इसे 'नगर' से सम्बन्धित माना है किन्तु इसे स्पष्ट नहीं किया संभवतः उनका अभिप्राय यहाँ 'नगरसभा' (Town Council) से हो।^१

तृतीय-चतुर्थ शती ईस्वी पूर्व के तक्षशिला से प्राप्त सिक्कों में भी 'नेगमा'^२ का ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में प्रयोग हुआ है। कनिंघम के अनुसार इन 'नेगमा' नामक सिक्कों को श्रेणियाँ प्रयोग में लाती थीं।^३

इस प्रकार ऐतिहासिकों के अनुसार ईस्वी पूर्व के सिक्कों, मुद्राभिलेखों तथा उत्कीर्णलेखों में 'निगम' का अभिप्राय या तो नगर अथवा ग्राम से है अथवा नगर अथवा ग्राम की 'सङ्गठित सभा' (Corporation) से।^४ 'निगम' को 'व्यापारिक-सङ्गठन' से सम्बद्ध मानना यहाँ किसी भी रूप से उपयुक्त नहीं है। मजूमदार तथा भण्डारकर ने भी इन स्थलों में 'निगम' को नगर अथवा ग्राम की सङ्गठित सभा के रूप में स्वीकार तो कर लिया है किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं जान पड़ता। प्राचीन काल में नगरों एवं ग्रामों को दान करने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखों में अमरावती स्तूप के अभिलेखों में 'धनकटक' नामक निगम को दान में देने का उल्लेख आया है।^५ इसी प्रकार, एक अन्य 'करहाटकनिगम' को दान के रूप में देने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।^६ स्टेन महोदय का विचार है कि 'करहाटक-निगम' से अभिप्राय 'करहाटक' नामक ग्राम से ही लेना चाहिए।^७ किसी 'व्यापारिक सङ्गठन' अथवा 'नगर सङ्गठन' को दान में देना तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता।^८ अपने इस मत के समर्थन में स्टेन महोदय ने घम्भपद की एक टीका का उल्लेख करते हुए मालदेश में एक 'अनुपिय' नामक निगम का भी उल्लेख किया है।^९ इस प्रकार शिलालेखादि के सन्दर्भ में भी 'निगम' ग्राम अथवा नगर के अर्थ में ही स्वीकार किया जाना युक्तिसङ्गत है।

१. Majumdar, Corporate Life, pp. 134-36

२. Cunningham, Coins of Ancient India, London, 1891, plate III, p. 63

३. वही, पृ० ६३

४. Majumdar, Corporate Life, pp. 134-36

५. Epigraphia Indica, Vol. XV, p. 263

६. Hultzsch, E, Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, 1886, Vol. XI, p. 62, f.n. 2; Indian Antiquary, 1892, Vol. XXI, p. 20; Luder's List, No. 705, Epigraphia Indica, Vol. X, appendix

७. Stein, Jinst Studies, p. 15, fn. 20

८. वही, पृ० १५

९. वही, पृ० १५

१५० ईस्वी के 'रुद्रदामन् शिलालेख' के 'उपसृष्ट पूर्वनगरनिगमजनपदानाम्'^१ में आए 'निगम' का 'नगरवणिक्संघपरिषद्'^२ अर्थात् 'नगर के व्यापारियों की सङ्गठित समिति' अर्थ भी सुग्राह्य नहीं। नगर तथा जनपद के साथ प्रयुक्त हुए 'निगम' का अर्थ ग्राम ही करना चाहिए। क्योंकि राज्य के महत्वपूर्ण भौगोलिक विभाजन की ओर संकेत करते हुए उत्कीर्ण लेखक का अभिप्राय नगर, निगम, तथा जनपद से ही है।

कुषाणकालीन भीटा से प्राप्त चार मिट्टी के मुद्राभिलेखों में 'निगमस'^३ तथा पांचवीं गुप्तकालीन मुद्राभिलेख 'निगमस्य'^४ में आए 'निगम' को ग्राम अथवा नगर के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। ईस्वी की पांच-छः शताब्दियों में 'निगम' का स्वरूप ग्राम तथा नगर के रूप में रहा होगा अथवा 'सङ्गठितसभा' के रूप में? ऐतिहासिकों के लिए यह निश्चित करना अभी संभव नहीं हो पाया। अधिकांश इतिहासकार इस युग में 'निगम' को 'नगर की सङ्गठित समिति' (Town Corporation) के रूप में स्वीकार करने लगे हैं।^५

१२० ईस्वी के नासिक शिलालेख में 'निगमसभा' का स्पष्ट रूप से उल्लेख आया है—'एत च स्थावित (नि) गमसभाय निबन्ध च फलकचारे चरित्रेति।' ^६ इस शिलालेख में उषवदत्त द्वारा दिए गए सभी दान को 'निगमसभा' में पंजीकृत करने का भी उल्लेख हुआ है। इस शिलालेख में आए 'निगमसभा' का अल्टेकर 'Town Council' (नगरसभा) अर्थ करते हैं,^७ तो *Epigraphia Indica* में इसका *Town-Hall* (नगरभवन) अर्थ निर्दिष्ट है।^८ किन्तु राधाकुमुद मुकजी द्वारा इस

१. Jūnāgarh Rock Inscription of Rudradāman I (150 A. D.) No. 67, Sircar, D.C., Select Inscription, Calcutta, 1965, p. 178.

२. तुलनीय, उत्कीर्णलेखाञ्जलि, सम्पा० जयचन्द्र विद्यालङ्कार, वाराणसी, वि० सं० २०२०, रुद्रदामन् शिलालेख, पृ० ६, पाद० टि० ४०

३. Arch. Surv. of India, Ann. Rep. 1911-12, p. 56.

४. वही

५. Majumdar, Corporate Life, pp. 132-36

६. Nasik Cave Inscriptions of the Time of Nahapāna (119-24 A.D.), No. 58; Sircar, D.C., Select Inscription, p. 164.

७. Altekar, State & Govt., p. 223

८. 'And all this has been proclaimed (and) registered at the 'town hall' at the record office according to custom,'

— Epigraphia Indica, Vol. VIII (No. 8), p. 83

स्थल पर 'निगम' का Guild (श्रेणी) अर्थ करना किसी भी रूप से उचित नहीं है।^१

बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त हुए गुप्तकालीन मिट्टी के मुद्राभिलेखों— 'श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम', 'श्रेष्ठि-कुलिक-निगम', 'कुलिक-निगम'^२ आदि में आए 'निगम' की व्याख्या करते हुए डा० ब्लॉख का कहना है कि उन दिनों पाटलि-पुत्र में वर्तमान 'Chamber of Commerce' जैसे व्यापारिक सङ्गठन विद्यमान थे। अतः ब्लॉख के अनुसार इन मुद्राभिलेखों में आए 'निगम' का 'व्यापारिक सङ्गठन' अर्थ है।^३ राधाकुमुद मुकर्जी भी उनका समर्थन करते हैं।^४ किन्तु आर० डी० भण्डारकर^५ एवं मजूमदार^६ किसी भी प्रकार के सङ्गठितसमूह के अर्थ को अस्वीकार करते हुए 'निगम' का 'Town' अर्थ ही करते हैं। सचिन्द्रकुमार मैट्टी प्रभृति ऐतिहासिक भी ब्लॉख द्वारा सुझाये गए 'Chamber of Commerce' अर्थ को अत्यधिक आधुनिक मानते हुए, अस्वीकार कर देते हैं।^७

वस्तुतः यहाँ पर भी 'निगम' पुर, जनपद आदि का व्यावर्तक है। जातक-काल से ही नगर एवं ग्राम के प्रधानों द्वारा नगरों एवं ग्रामों के शासन को नियंत्रित किया जा रहा था।^८ फलतः निगमों के उच्चाधिकारियों की सम्मिलित-मुहर 'श्रेष्ठी' 'सार्थवाह' 'कुलिक' तत्कालीन शासकीय-पदों की ओर संकेत करती

१. Mookerji Radhakumud, Local Govt. in Ancient India, Oxford, 1920, p. 120

२. A. S. I., Ann. Rep., 1903-4, p. 104

३. वही, पृ० १०४

४. Mookerji, Local Govt. in Ancient India, p. 112

५. Carmaichael Lectures Delivered in Calcutta University, 1918, p. 170, fn. I

६. Majumdar, Corporate Life, p. 41

७. 'The 'Chamber of Commerce' is quite a modern term and we are not at all sure whether this will suit our ancient Indian situation'.

—Maity, Sachindra Kumar, Economic Life of Northern India, p. 157

८. Alteker, State & Govt. in Ancient India, p. 229;

तथा तु०—'सत्त्वे नैगमजानपदे' The Jataka, Vol. I, p. 149;

नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आभन्तयम् । —दीघनिकाय, कुट्टदन्त सुत्त

हैं। 'श्रेष्ठी' 'सार्थवाह' आदि पदविशेष जनपदों तथा अन्य शासन-संस्थाओं में भी हो सकते हैं इसलिए अन्त में 'निगम' शब्द को जोड़कर इन अधिकारियों के अधिकारक्षेत्र को स्पष्ट किया गया है। 'नैगम'^१ तथा 'जानपद'^२ नाम से अङ्कित मुहरें क्रमशः तक्षशिला तथा नालन्दा से भी प्राप्त हुई हैं। ऐतिहासिकों के अनुसार नालन्दा से प्राप्त 'जानपद' नाम की मुद्राओं को नालन्दा विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग कार्यालयीय पत्रों को मुद्रित करने के काम में लाते थे।^३ इसी प्रकार 'निगम' विशेष के उच्चशासनाधिकारी 'नैगम' भी 'नैगमा' (संस्कृत-नैगमाः) शब्दों से उत्कीर्ण मुद्राओं से राजकीय पत्रों को मुद्रित करते थे। इसी परिप्रेक्ष्य में बसाढ़ की 'श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम' आदि मुद्राओं के अर्थ को भी समझना चाहिए। इस प्रकार 'श्रेष्ठी' 'सार्थवाह' 'कुलिक' आदि शासनाधिकारी थे, तथा निगम से सम्बद्ध थे। 'श्रेष्ठिनिगमस्य'^४ का भी सीधा अर्थ 'निगम का सेठ' है। गुप्तकाल में इसी प्रकार के 'नगरश्रेष्ठी'^५ नामक एक पद का भी उल्लेख मिलता है। बृहस्पतिस्मृति द्वारा प्रतिपादित चार प्रकार की सभाओं में 'मुद्रिता सभा' का उल्लेख हुआ है।^६ कात्यायन के अनुसार 'नैगम' लोग राजमुद्रा से महत्त्वपूर्ण व्यवहारों आदि को मुद्रित करते थे।^७

इस प्रकार पुरातत्वीय-मुद्रामिलेखों, सिक्कों तथा उत्कीर्ण-लेखों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई० से लेकर गुप्तकाल तक की शासन

१. Cunningham, Coins of Ancient India, (Plate III), p. 63
२. Memoirs of the Archaeological Survey of India, No. 66, p. 45.
३. Alteker, State & Govt., p. 229
४. A.S.I. Ann. Rep., 1913-14, Seal No. 282B, p. 139
५. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० २८०
६. तु०— प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठिता च मुद्रिता शासिता तथा ।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सम्प्राश्चैव तथाविधाः ॥
मुद्रिताऽध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता ॥
— बृहस्पतिस्मृति, १.१७-५८

७. नैगमानुमतेनैव मुद्रितं राजमुद्रया ।

नैगमस्येस्तु यत्कार्यं लिखितं यद्व्यवस्थितम् ॥ (कात्यायन)

—(पृथ्वीचन्द्र प्रणीतधर्मतत्त्वकलानिधि), व्यवहारप्रकाश, ७.१.१ सम्पा०

जयकृष्ण शर्मा, बम्बई, १९६२

व्यवस्था में 'निगम' का महत्वपूर्ण स्थान था किन्तु स्पष्ट रूप से कहीं भी 'निगम' का 'व्यापारिक समिति' के रूप में उल्लेख नहीं आया है।

४. बौद्ध-साहित्य—बौद्ध-कालीन उत्तरी भारत १६ महाजनपदों में विभक्त था।^१ मुख्यरूप से स्वतन्त्र राज्य 'रट्ठ' (राष्ट्र) कहलाते थे तथा राष्ट्र के भी दो उपभेद होते थे—'जनपद' अर्थात् 'ग्राम' तथा 'निगम' अर्थात् 'पुर'^२। महावस्तु-अवदान, दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय आदि बौद्धग्रन्थों में 'निगम' का ग्राम-नगर-जनपद आदि के साथ अनेक बार प्रयोग हुआ है।^३ बौद्धनिकाय-ग्रन्थों के उल्लेखानुसार 'निगम' में 'शाक्य', 'कौलिक', 'कुरु', 'मेदसुम्प' आदि जातियाँ

१. 'Some Pali texts have lists of famous independent sixteen Mahājanapadas into which northern India was divided and which flourished just before the Buddha's time (c. 567-487 B.C.) and most probably during his life time also.'

—Mahāvastu Avadāna, Vol. I, ed. Dr. Radha Gobinda Basak, Calcutta, 1963. Introduction, p. XXIII.

तथा—अंगुत्तरनिकाय, १.२१३, ४.२५२, २५६

२. 'Each of these states under the rule of an Independent monarch was dominated a raṭṭha of which the principal constituent parts were : (i) Janapada or the villages and (ii) nigam or the city.'

—De. G.D., Significance and Importance of Jātakās, Calcutta, 1951, p. 131

३. (क) ग्रामं वा नगरं वा निगमं वा हनध्वम् ।—महावस्तु-अवदान, पृ० २०
एमेव ग्रामे निगमेषु वा पुनः महाजनो भवति ।—वही, पृ० ३८१
ते हि ब्राह्मणेहि ग्रामनिगमनगरजनपदेहि अण्वन्तेहि शाक्यानां देवइहे निगमे सुभूतिस्य शाक्यस्य सप्तधीतरो वृष्टा ।—वही, पृ० ४६५
- (ख) एकं समयं भगवा कुरुसु विहरति कम्मासघम्मं नाम कुरूनं निगमो
—दीघनिकाय, महानिदानसुत्त, २.१.१,
- (ग) एकं समयं भगवा सक्केषु विहरति मेदलुभ्पं नाम सक्क्यानं निगमो ।
—मज्झिमनिकाय, घम्मचेतियसुत्त, ३६.१०२,
- (घ) थुल्लकोट्ठिकं नाम कुरूनं निगमो तदवसरि ।
—वही, रट्ठपालसुत्त, ३२.११,
- (ङ) एकमिदाहं, महाराज, समयं सक्केषु विहरामि नगरकं नाम सक्क्यानं निगमो ।—संयुत्तनिकाय, कल्याणमित्तसुत्त, ३.१८.४७.

निवास करती थीं।^१ प्रत्येक जाति-विशेष के नामानुसार ही 'निगम' नामक ग्राम अथवा पुर के साथ उनकी जाति का नाम भी जोड़ा जाता था, उदाहरणार्थ— 'सक्यानं निगमो' (शाक्य जाति का निगम) 'कुरुनं निगमो' (कुरु जाति का निगम)^२ आदि। मज्झिमनिकाय के 'एकं समयं भगवां अङ्गुत्तरापेसु विहरति आपणं नाम अङ्गुत्तरापानं निगमो'^३ पर टिप्पणी करते हुए राहुल सांकृत्यायन का मत है कि 'अङ्गुत्तराप' का अर्थ है जनपद, तथा 'आपण' निगम की संज्ञा है।^४ संभवतः बौद्धसाहित्य में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार प्राचीन भारत में 'निगमों' की बहुत संख्या थी, तथा किसी जाति-विशेष के आधार पर अथवा अन्य किसी विशेषता के आधार पर 'निगम' के 'शक्य', 'कुरु', 'मेदलुम्प', आदि जातियों से सम्बद्ध हो गए थे।^५ 'अङ्गुत्तराप' नामक जनपद में स्थित 'आपण' नामक 'निगम' में लगभग बीस हजार दुकानें थीं। फलतः यह 'निगम' आपणप्रधान होने के कारण 'आपणं नाम-निगमो' कहलाया।^६ कण्वेरजातक के 'गामनिगमराजधानियो'^७ तथा आर्यशूर के यज्ञजातक के 'अथ ते तस्य राज्ञः सचिवाः परमिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्राम प्रदेशेषु च दानशाला कारयित्वा'^८ आदि उद्धरणों से ग्राम तथा नगर के समकक्ष 'निगम' की भी संस्थिति जानी जा सकती है।

मज्झिमनिकाय में 'निगम' के स्वरूप के विषय में एक महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है। राजा प्रसेनजित के पूछने पर कारायण ने राजा को 'निगम' का मार्ग बताया। इस उल्लेख के अनुसार नगर से 'निगम' तीन योजन दूर पर था।

१. संयुक्तनिकाय, कल्याणमित्तसुत्त, ३.१८४७

२. वही, ३.१८.४७

३. मज्झिमनिकाय, पोतलियसुत्त, २.१.४

४. मज्झिमनिकाय, भाग १, अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन, बनारस, १९३३, पृ० २१४, पादटिप्पण १

५. शाक्यानां देवडहे निगमे ।—महावस्तु पृ० ४६५

कम्मासधम्मं नाम कुरुनं निगमो ।—दीघ०, महानिदानसुत्त, २.१.१

मेदलुम्पं नाम सक्यानं निगमो ।—मज्झि०, धम्म० ३६.१०२

६. मज्झिमनिकाय, अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २१४, पादटिप्पण १

७. Kanavera-Jātakā, ed., Fausball, Vol.-III, p. 61

८. The Jātakamālā of Āryasūra, ed. Dviwedi R. C. and Bhatt, M. R. Delhi, 1966, p. 41

इस 'निगम' तक पहुँचने के लिए कुछ दूर यान से तथा उसके बाद पैदल ही जाया जा सकता था ।^१

इससे स्पष्ट है कि निगम नगर के समीपवर्ती ग्राम होते थे, जहाँ की समीपवर्ती भूमि ऊबड़-खाबड़ (विषम) होती थी, इसलिए रथ आदि के द्वारा जाना असम्भव था ।^२ परवर्ती वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि 'निगम' प्रायः वन-पर्वतादि से घारक्षित होते थे ।^३ बौद्धकाल में संभवतः इन 'निगमों' को राज्य की ओर से अधिक सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं किन्तु मध्यकालीन भारत में निगमों में अधिकार रूप से वणिक् निवास करने लगे थे ।^४ विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के अनुसार 'निगम' नामक नगर 'नृपभोग्य' भी कहलाए जाने लगे थे, तथा इनमें मार्ग आदि की सभी सुविधाएं भी प्रदान कर दी गई थीं ।^५

५. जैन-साहित्य—जैन धम्म-ग्रन्थों में 'निगम' (णिगम) का अनेक बार

१. तु०—'एकं समयं भगवा सक्केसु बिहरति । मेदलुम्पं नाम सक्कयानं निगमो तेन खो पन समयेन राजा पसेनदि कोसलो नगरकं अनुप्पत्तो होति । ...कीवदूरे पन, सम्म, कारायन नगरकम्हा मेदलुम्पं नाम सक्कयानं निगमो होतीति' ? 'न दूरे महाराज, 'तीणि योजनानि, सक्कादिवसावसेसेन गन्तु' ति । तेन हि सम्म कारायन, योजेहि भद्रानि भद्रानि यानानि; गमिस्साम मयं तं भगवन्तं दस्सनाय अरहन्तं सम्मास सम्बुद्धं' ति । ...भद्रेहि भद्रेहि यानेहि नगरकम्हा येन मेदलुम्पं नाम सक्कयानं निगमो तेन पायासि; तेनेव दिवसावसेसेन मेदलुम्पं नाम सक्कयानं निगमं सम्पापुणि; येन आरामो तेन पायासि । यावत्तिका यानस्य भूमि यानेन गत्वा, यानापच्चोरोहित्वा पत्तिको व आरामं पाविसि ।'

—मज्झिमनिकाय, धम्मचेतियसुत्त, पृ० ३२२-२३

२. वही, तथा तु०—'nigama or the city, i.e. urban portion large tracts of forest or groups of mountains which were no man's land being resorts of 'rishis' formed generally the boundaries of these states that were seldom conterminant,'

—De, Signl. and Imp. of Jātakas, p. 131

३. वनमध्यगतो वापि गिरिसानुगतोऽपि वा ...कथितो निगमो बुधैः ॥

—विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 8.40-46 ed. K.V. Shastri, Tanjore, 1958,

४. निगमो वणिग्ग्रामः ।—पद्मचन्द्रिका, Jlnst Studies, पृ. १५ पर उद्धृत

५. निगमादिनगयंस्तु नृपभोग्या उदीरिताः । तथा

चतुर्दिक्चतुर्द्वारो महाभार्गयुतो भवेत् । —विश्वकर्म०, ४०.४२

प्रयोग हुआ है। आचाराङ्गसूत्र^१ सूत्रकृताङ्ग,^२ कल्पसूत्र,^३ औपपातिकसूत्र^४ तथा उत्तराध्ययनसूत्र^५ आदि आगम ग्रन्थों में 'निगम' स्पष्ट रूप से निवासायक आवास भेद के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जैन आगमग्रन्थों में प्रायः 'गाम' (ग्राम), 'नगर' (नगर) 'खेड' (खेड) 'कब्बड' (कर्वट) 'मडम्ब' (मडम्ब) 'पट्टण' (पत्तन) दोणमुह (दोणमुख) 'आगर' (आकर) 'आसम' (आसम) 'सन्निवेश' (सन्निवेश) 'निगम' (निगम) 'रायहाणि' (राजधानी) के अतिरिक्त 'सम्बाह' (सम्बाह) 'घोस' (घोष) 'पुडभेयण' (पुटभेदन) आदि आवास भेदों की विभिन्न पारिभाषिक संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं। प्राचीन भारत में आवास भेदों की इस प्रकार की संज्ञाएं देश-काल के अनुसार पृथक्-पृथक् रही हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य-विभाजन एवं प्रशासन की दृष्टि से नगरों एवं ग्रामों को 'स्थानीय', (आठ सौ ग्रामों का समूह), 'दोणमुख' (चार सौ ग्रामों का समूह) 'स्वार्द्धिक' (दो सौ ग्रामों का समूह) 'संग्रहण' (दस गाँवों का समूह) आदि इकाइयों में विभक्त किया

१. तु०—गाम, नगर, खेड, कब्बड, मडम्ब, पट्टण, दोणमुह, आगर, आसम, सन्निवेश, निगम, रायहाणि।

—*Āyārāṅgasūtra*, ed., H. Jacobi, London, 1882I, 7.6'

२. तु०—गाम नगर, खेड, कब्बड, मडम्ब, दोणमुह, पट्टन, आसम, सन्निवेश निगम, रायहाणि।

—*Sūyagaḍāṅgasūtra*, ed., Nirṇayasāgara Press, Bombay, 1880, II. 2.13

३. तु०—गाम, आगर, नगर, खेड, कब्बड, मडम्ब, दोणमुह, पट्टण, आसम, सम्बाह, सन्निवेश, निगम, घोस, पुडभेयण।

Kalpasūtra of Bhadrabāhu, ed. H. Jacobi, VII, (1879), 89

४. तु०—गाम, आगर, नगर, खेड, कब्बड, दोणमुह, मडम्ब, पट्टण, आसम निगम, सम्बाह, सन्निवेश।

—*Aupapātikasūtra*, ed. E. Leumann, VIII, (1883), 53

५. तु०—गाम, नगर, रायहाणि, निगम, आगर, पत्ती, खेड, कब्बड, दोणमुह, पट्टन, मडम्ब।

—*Uttarādhyayanāsūtra*, Calcutta, 1879, XXX, 16

जाता था ।^१ श्रीमद्भागवतपुराण में पुर, ग्राम, व्रज, आकर, खेट, खवंट, घोष, पत्तन आदि संज्ञाएं आई हैं ।^२ इसी प्रकार वात्स्यायन के कामसूत्र में 'नगर' 'पत्तन' 'खवंट' 'महत्' आदि नगरभेद सम्बन्धी पारिभाषिक संज्ञाएं प्रचलित थीं ।^३ इस प्रकार भारत के उत्तरी क्षेत्र एवं दक्षिणी क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की नगर-विभाजक संज्ञाएं प्रचलित थीं । दक्षिण भारत में 'निगम' आदि आवास-भेदक संज्ञाओं का अधिक प्रचलन था । बौद्ध ग्रन्थों तथा जैन-आगम ग्रन्थों में 'निगम' का प्रयोग बाहुल्य है परन्तु अर्थशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थों में 'निगम' नामक आवास-भेदक इकाई का उल्लेख प्राप्त नहीं होता ।

लगभग चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के जैन ग्रन्थ अङ्गविज्जा (अङ्गविद्या) में भी किञ्चित् परिवर्तनों सहित ग्राम-नगर भेद के सम्बर्धन में ही 'निगम' (णिगम) का उल्लेख हुआ है ।^४ दशाश्रुतस्कन्ध में भी 'रट्ठ' (राष्ट्र) एवं 'निगम' (तु० नेयारं निगमस्स) का उल्लेख व्यापारिक ग्रामों की ओर संकेत करता है ।^५

आगम ग्रन्थों में आए 'निगम' की व्याख्या करते हुए जैन चूर्णी ग्रन्थों एवं वृत्ति ग्रन्थों से भी बहुत उपयोगी प्रकाश पड़ता है । आचाराङ्गसूत्र^६ (१.८) में आए

१. अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशतग्राम्या खार्बटिकं, दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत् ।

—अर्थशास्त्र, २.१

२. पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमकरात् ।

खेटखवंटघोषांश्च ददतुः पत्तनानि च ॥

—श्रीमद्भागवतपुराण०, ७.२.१४

३. नगरे पत्तने खवंटे महति वा सज्जनाश्रये स्थानम् ।

—कामसूत्र, १.४.२

४. तत्थ एणीद्वारेसु चलेसु गाम-एगगर-णिगम-जाणपय-पट्टण-सिवेश-सण्णाखधा-वार —अडविपव्ययदेस-संजाणजाणागते ।

—अङ्गविज्जा, सम्पा०, मुनि पुण्यविजय, वाराणसी, १९५७,
अ० १२, पृ० १३६

५. जे नायगं च रट्ठस्य नेयारं निगमस्य वा । सेट्ठिं बहुसं हता महामोहं पक्कुवइ ॥'

—दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अनुवादक, आत्माराम, लाहौर, १९३६, ६.१६,
पृ० ३४०

६. अणुपविसित्ता गामं वा, एगगरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मड्डं वा, पट्टणं वा, द्रोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, णिगमं वा, रायहाणि वा ।

—आचाराङ्गसूत्र, सम्पा०, मुनिनयमल, प्रकाशक जैन स्वैताम्बर
तेरापन्थी महासभा; कलकत्ता, १९६७, १.८.१०६

‘णिगम’ (निगम) की व्याख्या करते हुए आचाराङ्ग-चूर्णी (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईस्वी) का कथन है कि जहाँ ‘नैगम’ अर्थात् व्यापारी लोग निवास करें उसे निगम कहते हैं—‘णिगमो जत्य णेगम वग्गो परिवसति ।’^१ इसी प्रकार शीलाङ्गाचार्य-कृत आचाराङ्ग वृत्ति के अनुसार ‘निगम’ की ‘प्रभूततरवणिग्गवासाः’^२ परिभाषा की गई है। यही परिभाषा ‘सूत्रकृताङ्गटीका’ को भी अभिमत है : तुलनीय—‘बहु-वणिग्गिनिवासः’^३ उत्तराख्ययन की टीका, जो संभवतः इन टीकाओं से प्राचीन है ‘भूतवणिग्गिनिवासः’^४ कहकर ‘निगम’ को परिभाषित करती है। लगभग चतुर्थ शताब्दी ई० से ६वीं शताब्दी ई० तक के उपर्युक्त चूर्णी ग्रन्थों एवं वृत्ति ग्रन्थों में ‘निगम’ को व्यापारिक ग्राम के रूप में प्रतिपादित किया गया है। मध्यकालीन जैन संस्कृत महाकाव्य भी व्यापारिक ग्रामों के रूप में ‘निगम’ का वर्णन करते हैं।^५

६. कोष-ग्रन्थ—कोष-ग्रन्थों में ‘निगम’ शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द परिगणित किए गए हैं। इन कोष ग्रन्थों पर की जाने वाली टीकाओं के द्वारा ‘निगम’ शब्द के स्वरूप-निर्धारण में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। सर्वप्रथम अमर कोष लगभग छठी-शताब्दी ईस्वी में लिखा जा चुका था।^६ अमरकोष के समय में ‘निगम’ के वणिक्पथ (बाजार) पुर, नागर, वणिक् तथा वेद अर्थ प्रचलित थे।^७ अमरकोष के पुरवर्ग में पठित ‘निगम’ नगरभेद की संज्ञा के रूप में उल्लिखित है।^८ पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० तक नगर भेदों में पुर, नगर, पत्तन, पुटभेदन, स्थानीय, निगम, मूलनगर (राजधानी) तथा शाखा नगरों की आवासीय संस्थितियाँ वर्तमान थीं।^९ ‘निगम’ के सन्दर्भ में प्रधानतः अमरकोष

१. आचाराङ्गचूर्णी, रतलाम, १९४१, पृ० १८२

२. आचाराङ्गवृत्ति, बम्बई, १९३५, पृ० २५८

३. Stein, Jinal Studies, पृ० १४ पर उद्धृत

४. वही, पृ० १४

५. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २५३-५६

६. Kalpadrukoṣa of Keśava, ed. Rāmāvatāra Śarmā, Vol. I, Baroda, 1928, Intro, p. xvii.

७. वणिक्पथः पुरं वेदो निगमो नागरो वणिक् ।

—नामलिङ्गानुशासन, ३.१४०, सम्पा०, कृष्णजी गोविन्द
ओका, पूना, १९१३

८. पुः स्त्री पुरीनगयी वा पत्तनं पुटभेदनम् ।

स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु यन्मूलनगरात्पुरम् ॥

—नामलिङ्गा०, द्वितीय काण्ड, पुरवर्ग १, पृ० ४८

९. मूलनगरं राजधानी ततोऽन्यत्समुदायस्थानं (शाखानगरं) शाखेऽप्युपाङ्गोप-
लक्षणम् ।

—नामलिङ्गा०, पुरवर्ग-१, पर क्षीरस्वामीकृत टीका, सम्पा०,
कृष्णजी गोविन्द ओका, पृ० ४८

का ही परवर्ती कोषकारों ने अनुसरण किया जिनमें विश्वकोष,^१ त्रिकाण्डशेष,^२ विश्वप्रकाश,^३ मेदिनीकोष^४, नानार्थमञ्जरी,^५ कोष-कल्पतरु,^६ कल्पद्रुकोष,^७ शब्दरत्नसमन्वयकोष,^८ वाङ्मयार्णव^९ कोष आदि उल्लेखनीय हैं। लगभग छठी शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक के इन कोष-ग्रन्थों में 'निगम' के स्वरूप-भेद पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। १२वीं शती के हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्ता-मणि में 'निगम' के पर्यायवाची शब्द आवासभेद की दृष्टि से परिमणित हैं।^{१०} हेमचन्द्र के समय तक भारत के भौगोलिक एवं राजनैतिक विभाजन

१. निगमो वाणिजे पुण्यां कटे वेदे वणिक्पथे । —विश्वकोश

२. कटे पुण्यां च निगमो नियमो निश्चये व्रते ।

—त्रिकाण्डशेष, बम्बई, १६१६, ३.२६६, पृ० १६४

३. निगमो वाणिजे पुण्यां कटे वेदे वणिक्पथे ।

—विश्वप्रकाश, सम्पा०, श्री शीलस्कन्धस्थविर, बनारस, १६११,

मत्रिकम्, ४२, पृ० ११३, मत्रिकम् ४५, पृ० ११८

४. निगमो वाणिजे पुण्यां कटे वेदे वणिक्पथे ।

—मेदिनीकोष

५. निगमो स्त्री पुरे वेदे वाणिज्ये च वणिक्पथे ।

—नानार्थमञ्जरी, सम्पा०, के० पी०, कृष्णमूर्ति शर्मा, पूना १६५४,

१२३६, पृ० ६१

६. पुरं त्रिलङ्कायां नगरी नपुंसि, द्रङ्गो नृलिङ्गो निगमः स्त्रियां पूः ।

निवेशनं पत्तनं पट्टने च स्थानीयमुक्तं पुटभेदनं च ॥

—कोषकल्पतरु, सम्पा०, एम० एन० पाटकर एवं के० बी० कृष्णमूर्ति,

पूना, १६७५, पुरवर्ग-१, पृ० ११६

७. तदद्वैतस्त्रियां खेटस्तस्याद्वैतं पत्तनो स्त्रियाम् ।

तदहं निगमः पुंसि तदद्वैतं तु निवेशनम् ।—कल्पद्रुकोष

८. निगमो वाणिजे पुण्यां कटे वेदे वणिक्पथे ।

—शब्दरत्नसमन्वयकोष, सम्पा० बी० भट्टाचार्य

बड़ोदा, १६३२, पृ० २२८

९. निगमो नगरे वेदे निश्चये च वणिक्पथे । —वाङ्मयार्णव

१०. नगरी पूः पुरी द्रङ्गः पत्तनं पुटभेदनम् ॥ निवेशनमधिष्ठानं स्थानीयं निगमोऽपि च ।

—अभिधानचिन्तामणि, सम्पा०, विजयकस्तूरसूरि, अहमदाबाद, वि० सं०

२०१३, पद्यसंख्या ६७१-७२, पृ० २२१

में वास्तुशास्त्र द्वारा अनुमोदित शास्त्रीय (technical) शब्दावली प्रयुक्त होने लगी थी। नगर के दस भेदों में 'निगम' भी एक महत्त्वपूर्ण भेद होता था। वाचस्पति ने अभिधान चिन्तामणि के 'निगम' को स्पष्ट करते हुए इसके पारिभाषिक स्वरूप को स्पष्ट किया है। ८०० ग्रामों के आधे भाग को 'द्रोणमुख' अथवा 'कर्वट', 'कर्वट' के आधे को 'कर्वटिक', 'कर्वटिक' के आधे को 'कार्वट', 'कार्वट' के आधे को 'पत्तन' अथवा 'पुटभेदन' संज्ञा दी गई है। 'निगम' 'पत्तन' का आधा भाग होता था तथा 'निगम' के आधे भाग को 'निवेशन' कहा गया है।^१ इस प्रकार लगभग २५ गांवों के समूह की संज्ञा 'निगम' ठहरती है। अभिधान चिन्तामणि पर विजयकस्तूर सूरि कृत 'चन्द्रोदया' नामक गुजराती टीका के अनुसार 'पत्तन' का आधा तथा २५ ग्रामों में श्रेष्ठ नगर 'निगम' कहलाता था।^२ कल्पद्रुकोष में भी इसी दिशा में 'निगम' का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। कल्पद्रुम के अनुसार 'खेट' का आधा 'पत्तन' होता था तथा 'पत्तन' का आधा भाग 'निगम' कहलाता था और 'निगम' के आधे भाग को 'निवेशन' संज्ञा दी गई है।^३ संस्कृत कोषकारों ने 'निगम' शब्द के पर्यायवाची शब्द भी दिए हैं। एक, 'निगम' के साधारण पर्यायवाची शब्द जिनके पुर, वेद, निश्चय वाणिज्य, वणिक् तथा नगर आदि अर्थ संभव थे। दूसरा, वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'निगम' नगरभेद सम्बन्धी अर्थों से सम्बद्ध था। नगरभेद के पर्यायवाची शब्दों को प्रायः 'पुरवर्ग' में परिगणित किया गया है। 'निगम' का अर्थ मूल रूप से मार्ग होता था बाद में यह अर्थ व्यापार-मार्ग के रूप में, तदनन्तर व्यापार अर्थ में, तथा व्यापारियों के ग्रामों के अर्थ में भी होने लगा था। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि में 'निगम' का मार्ग अर्थ भी दिया गया है।^४ इसी प्रकार ११वीं शती की पद-

१. ग्रामशताष्टके तदर्धं तु द्रोणमुखं तच्च कर्वटमस्त्रियाम् ।

कर्वटाधे कर्वटिकं स्यात् तदर्धं तु कार्वटम् ॥

तदर्धं पत्तनं तच्च, पुटभेदनम् ॥

निगमस्तु पत्तनार्थे, तदर्धं तु निवेशनम् ।

—(वाचस्पति), अभिधान०, ६७२

२. अभिधान० ६७२ पर विजयकस्तूर सूरि कृत 'चन्द्रोदया' गुर्जरभाषा टीका, अहमदाबाद, वि० सं० २०२३, पृ० २२१

३. तदद्वयमस्त्रियां खेटस्तस्याद्वयं पत्तनोऽस्त्रियाम् ।

तदद्वयं निगमः पुंसि तदद्वयं तु निवेशनम् ॥

—कल्पद्रुकोष

४. पदव्येकपदी पद्या पद्धतिर्वर्तते वर्तनी ।

अयनं सरणिर्मार्गोऽन्वा पन्था निगमः सृतिः ॥

—अभिधान०, ६८३, पृ० २२४

चन्द्रिका कोश के अनुसार निगम के सुर, वेदादि ग्रंथ होते थे किन्तु निगम ग्राम के व्यापारियों को भी कहते थे।^१ १७वीं शताब्दी के कोष कल्पतरु द्वारा प्रतिपादित निगम का प्रचलन व्यापार, वणिक्पथ, आदि से अधिक सम्बद्ध हो गया था।^२ क्योंकि निगम में अधिकांश रूप से वणिक् लोग ही निवास करने लगे थे अतः निगम का निवासी—‘नैगम’ वणिक् के रूप में रूढ़ हो गया। अभिधान० ने इसी आशय से ‘नैगम’ के पर्यायवाची शब्दों का परिगणन किया है। इससे पूर्व १२वीं शताब्दी के समय तक ‘नैगम’ शब्द पूर्णतः व्यापारी के ग्रंथ में रूढ़ रहा था।^३

७. वास्तुशास्त्र के ग्रंथ—वास्तुशास्त्र के ग्रंथों में भी नगर-ग्राम आदि के स्वरूप पर विशद प्रकाश डाला गया है। नगर-ग्राम आदि की परिभाषाओं के सन्दर्भ में ‘निगम’ भी इसी प्रकार के आवास भेद का एक प्रकार था। ‘विश्वकर्मप्रकाश’ संभवतः मत्स्यपुराण से प्राचीन था अतः सातवीं सती ई० के लगभग इसका समय निर्धारित किया जा सकता है।^४ वास्तुशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थानुसार निगम, स्कन्धावार, द्रोणक, कुब्ज, पट्टण तथा शिविर नामक छः प्रकार के नगर ‘नृपभोग्य’ नगर कहलाते थे।^५ संभवतः ये नगर राज्य की शासन व्यवस्था, सुरक्षा, व्यापार आदि दृष्टियों से भी उपादेय रहे थे। ‘निगम’ नामक नगर धनधान्य से समृद्ध होते थे तथा राज्य के महत्त्वपूर्ण उच्चाधिकारी गण इनमें निवास करते थे। इन नगरों में बाजार, न्यायशालाएं तथा ऊँचे-ऊँचे महल भी बने होते थे। क्योंकि शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों तथा केन्द्रों से इन नगरों का सम्बन्ध होता था। ये नगर प्रायः वनमध्य तथा पर्वतादि से प्रारक्षित होते थे। सुरक्षा की दृष्टि से इन नगरों के चारों ओर रक्षक नियुक्त किये जाते थे तथा इन नगरों के चारों ओर बड़े-बड़े मार्ग भी बने होते थे। नानाविध जातियों के लोग इनमें निवास करते

१. निगमो वणिक्ग्रामः। निगमः सुरे वेदे ॥ —पदचन्द्रिकाकोश

२. अट्टो स्त्री निगमो द्वंद्वे विपणिः स्याद् वणिक्पथः।

क्रयस्थली पण्यवीथी वासनी विपणिद्वयोः॥

—कोषकल्पतरु, पुरवर्ग २४, पृ० १२१

३. सत्यानृतं तु वाणिज्यं वणिज्या वाणिजो वणिक्।

क्रयविक्रयिकः पण्यजीवाः सपणिकनैगमाः॥

—अभिधान०, ८६७

४. Benerji, S.C., Aspects of Ancient Indian Life, Calcutta, 1972, p. 55

५. निगमादिनगर्यस्तु नृपभोग्या उदीरिताः।

—विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, ed. Shastri, K.V., Tanjore, 1958;

थे।^१ मयमत (१०वीं शताब्दी) के अनुसार निगम में चारों वर्णों के लोग निवास करते थे।^२ 'समराङ्गणसूत्रधार' (११वीं शती) के अनुसार 'निगम' की स्थिति ग्राम से कुछ ऊँची मानी जाती थी।^३ 'मानसार' के अनुसार 'निगम' को कारीगरों का कस्बा स्वीकार किया गया है।^४ इसी प्रकार 'शिल्प रत्न' (१६वीं शती) के अनुसार निगम में चारों वर्णों के लोग निवास करते थे तथा ये धन-धान्य एवं पशु आदि से विशेष समृद्ध होते थे।^५

इस प्रकार १०वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक के वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में 'निगम' नामक नगर के निर्माण के लिए आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। जी० इन० शुक्ल महोदय के मतानुसार प्रायः निगमों में चारों वर्णों के लोग निवास

१. वनमध्यगतो वापि गिरिसानुगतोऽपि वा ॥
सदातोयातीरभाग्वा रक्षकैरभिसंवृतः ।
निगमो दुर्गसंयुक्तो वप्रेणापि समावृतः ॥
चतुर्दिक्स्थचतुर्द्वारो महाभागयुतो भवेत् ।
पीठाधिष्ठानसद्वप्रगोपुरादि समन्वितः ॥...
राजकार्यकरैरन्यैः पुरकार्यकरैर्युतः ।
विपण्यादि समोपेतो न्यायशालादिभिर्युतः ॥
नानाजातिजनाकीर्णो वारुण्यां देवगेहभाक् ।
तुङ्गैस्सीधैरुपेतोऽयं कथितो निगमो बुधैः ॥

—विश्वकर्म०, ८.४०-४६

२. चातुर्वर्ण्यसमेतं सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ।
बहुकर्मकारयुक्तं यन्निगमं तत् समुद्दिष्टम् ॥

—मयमत, १०.३४

३. ऊनं कर्वटमेवेह गुणोनिगम उच्यते ।
ग्रामः स्यान्निगमादूनो ग्रामकल्पो गृहस्वसौ ॥

—राजाभोजदेव कृत समराङ्गणसूत्रधार, सम्पा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
लखनऊ, १९५५, ३२३-२४, पृ० २५२

४. बहुकर्मकारै युक्तं निगमं तदुदाहृतम् । —मानसार०, अ० १०, पंक्ति ८४

५. चातुर्वर्णैः कर्मकारैर्नानाकर्मोपजीविभिः ।

पण्याधवनधान्याद्युक्तं तु निगमं स्मृतम् ॥

—शिल्परत्न, अ० ५

कर सकते थे किन्तु प्रधान रूप से इनमें शिल्पी वर्ग की अधिक संख्या थी।^१ १६३८ से १६७८ ई० में अल्मोड़ा के चन्द्रवंशी राजा बाजबहादुर के सभापण्डित अतन्तदेव द्वारा प्रणीत 'राजधर्म कौस्तुभ'^२ नामक ग्रन्थ में 'निगम' नामक आवास भेद के अभाव होने से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि उत्तरी भारत के पर्वतीय प्रान्तों में 'निगम' नामक आवासीय संस्थिति विशेष प्रचलित नहीं थी।

८. स्मृति-ग्रन्थ एवं निबन्ध-ग्रन्थ—जिन स्मृति ग्रन्थों में 'नैगम' का उल्लेख मिलता है उनमें नारदस्मृति^३ तथा बृहस्पतिस्मृति^४ उल्लेखनीय हैं। व्यवहार-प्रकाश^५ द्वारा उद्धृत याज्ञवल्क्य के वचनों में भी 'नैगम' का उल्लेख हुआ है। स्मृति ग्रन्थों में प्रायः 'श्रेणीधर्म', 'पाषण्डधर्म', के साथ ही 'नैगमधर्म' का भी उल्लेख किया गया है।^६ स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है कि स्मृति ग्रन्थों में

१. 'यद्यपि इस निगम-नगर में विशेषकर शिल्पियों की बस्तियाँ होती थीं तथापि इन प्रवचनों (मयमत-१०, शिल्प-०-५) के प्रमाण से चारों वर्णों के लोगों के भी इसमें निवास होते थे—इसमें सन्देह नहीं परन्तु प्राधान्येन शिल्पी लोग रहते होंगे। निगम-नगर के विकास सम्बन्धी परम्परा में इसकी संज्ञा—'निगम' का महत्त्व है। निगम का शब्दार्थ तो व्यापारमार्ग—Trade Route है अतः कालान्तर में इसी विशेषता के कारण नगर का नाम भी निगम पड़ गया।'

—द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, भारतीय वास्तुशास्त्र, लखनऊ, १९५५, पृ० १०८

२. Rājadharmakaustubha of Ananta Deva, ed. Mahāmahopādhyāya Kamala Kṛṣṇa Smṛtīrtha, Baroda, 1905, Vāstuprakāraṇam

३. पाषण्डनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते।

—व्यवहारप्रकाश, पृ० ३०६ पर उद्धृत नारदस्मृति

४. नैगमा वक्ष्यन्ति वाः सम्योक्तोचकवञ्चकाः।

प्रकाशतस्करा ह्येते तथा कुट्टकजीविनः॥

—बृहस्पतिस्मृति, ३२.३ तथा

मर्यादा लेखिता कार्या नैगमाधिष्ठितासदा।

—व्यवहारप्रकाश, ३०६ पर उद्धृत बृहस्पतिस्मृति

५. श्रेणिनैगमपाषण्डिगणानामप्ययं विधिः।

—वही, पृ० ३०६, पर उद्धृत याज्ञवल्क्य

६. पाषण्डिनैगमश्चेणीपूगव्रातगणादिषु।

संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥

—नारदस्मृति, १०२

‘नैगम’ से क्या अभिप्राय रहा होगा ? संभावना यह ही अधिक प्रतीत होती है कि स्मृतियों में ‘नैगम’ से अभिप्राय ‘व्यापारी वर्ग’ से ही रहा होगा ।

स्मृति ग्रन्थों में आए ‘नैगम’ तथा स्वतन्त्र रूप से ‘नैगम’ की व्याख्या करते हुए परवर्ती निबन्ध ग्रन्थों के लेखक भी ‘नैगम’ के स्वरूप प्रतिपादन में एकमत नहीं । कुछ टीकाकार ‘नैगम’ को वेदादि से जोड़कर इस शब्द का ‘वेद को प्रमाण मानने वाला’ अर्थ करते हैं ।^१ याज्ञ० के टीकाकार विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा (१०८०-११०० ईस्वी) के अनुसार ‘नैगम’ की ‘पाशुपतादि’ सम्प्रदायों के सन्दर्भ में व्याख्या की गई है ।^२ याज्ञ० के ही एक अन्य टीकाकार विश्वरूप (८००-८५० ई०) के अनुसार ‘साथंवाह आदि का समूह’ ‘नैगम’ कहलाता है ।^३ याज्ञ० के तीसरे टीकाकार अपराकं (११००-१३०० ई०) के अनुसार ‘एक साथ व्यापार के लिए जाने वाले नाना जाति के लोग’ ‘नैगम’ कहलाते हैं ।^४ देवण्णभट्टकृत स्मृतिचन्द्रिका (१२००-१२२५ ई०) के मत में साथंवाहों का संगठन ‘नैगम’ है ।^५ मिश्रमिश्रकृत ‘वीरमित्रोदय’ (१६१०-१६४० ई०) के अनुसार ‘रत्नादि बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार करने वाले’ ‘नैगम’ कहलाते थे ।^६ इस प्रकार स्मृति ग्रन्थों तथा निबन्ध ग्रन्थों के सन्दर्भ में ‘नैगम’ का अर्थ व्यापारी करना उचित है ।

६. दक्षिण भारत के व्यापारिक निगम—प्राचीन भारत में राजा आदि से दान में प्राप्त ग्राम विशेषों की ‘अग्रहार’ संज्ञा प्रचलित थी ।^७ अधिकांश रूप

१. नारद०, १०.२ पर ‘व्यवहारमुख्य’ की व्याख्या—‘पाषण्डि’ व्यापार तथा कृषि करने वाले वेद विरोधी सम्प्रदाय, ‘नैगम’ वेद का विरोध न करने वाले लोग । द्रष्टव्य, Mookerji, Local Govt., p. 128, fn. 3

२. नैगमाः ये वेदस्य प्राप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिच्छन्ति, पाशुपतादयाः ।

—मिताक्षरा

३. साथंवाहादिसमूहो नैगमाः—(विश्वरूप), पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २ पृ० ६४६ से उद्धृत तथा तु०-‘पाषाण्डनैगमादीनां’ पर पृथ्वीचन्द्र कृत टीका—‘पाषण्डाक्षपणादयः । नैगमाः सायिका वणिजः ।

—व्यवहार०, पृ० ३०६

४. सह देशान्तरं वाणिज्यार्थं ये नानाजातीया अधिगच्छन्ति ते नैगमाः ।

—अपराकं, पृ० ७६६, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ६४६ से उद्धृत

५. Smṛticandrikā of Devaṇṇa Bhaṭṭa, ed. Gharpure, J.R., Mysore, Vol. III, p. 523

६. नैगमाः रत्नादीनां वाणिज्यकर्तारः । —वीरमित्रोदय, राजनीतिप्रकाश, पृ० ४८

७. Thapar, Romila, A History of India, Great Britain, 1974, Vol. I, p. 176

से इन ग्रामों में ब्राह्मण वर्ग निवास करता था तथा ये अग्रहार-ग्राम शिक्षा के केन्द्र भी बन गए थे।^१ अग्रहार ग्रामों के समान ही मध्यकालीन भारत में निगम-ग्रामों में भी मुख्य रूप से व्यापारी वर्ग निवास करता था जिन्हें 'नैगम' भी कहा जाता था।^२ निगमों में प्रभूतमात्रा में अनाज का उत्पादन होता था इसके साथ ही ग्रामों में इक्षु-यन्त्रों के द्वारा गन्ने के रस से गुड़ आदि का उत्पादन भी किया जाता था।^३ इस प्रकार निगमों में अनाज आदि का भण्डार होने के कारण ये व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र बन चुके थे। दण्डी के दशकुमार चरित तथा जैन संस्कृत महाकाव्यों द्वारा वर्णित निगमों की स्थिति ग्राम सदृश ही थी।^४ एक ओर इन निगमों में मोरों की ध्वनि होने, गायों के रम्माने तथा मुर्गों की उछल-कूद के कारण ग्रामीण-वातावरण बना हुआ था तो दूसरी ओर समृद्धि वैभव के कारण इनकी तुलना विकसित नगरों से भी की जा सकती थी।^५ इन निगमों में ऊँचे-ऊँचे प्रासाद भी बने होते थे तथा राज-मार्ग आदि विभिन्न प्रकार की उन्नत सुविधाएं भी इन्हें प्राप्त थीं। फलतः निगमों के लिए 'वणिग्ग्राम'^६ तथा 'नृपभोग्यनगर'^७ आदि संज्ञाओं का भी प्रयोग हुआ है।

दक्षिणभारत के प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईस्वी के आन्ध्र-सातवाहनयुगीन राज्य-व्यवस्था के सन्दर्भ में 'निगम' नामक नगरों के अस्तित्व होने की पुष्टि दक्षिण भारत के शिलालेखों से भी होती है।^८ आन्ध्र-सातवाहन काल में दक्षिण भारत के भटकच्छ (भड़ोच), सोपारा, कणहेरी, कल्याण, पेठन, गोवर्धन, धनकटक,

१. Thapar, R.. A History of India, Vol. I, p. 176

२. Gupta, D.K., Society and Culture in the Time of Daṇḍin Delhi, 1972, p. 133

३. चन्द्र०, २.११३

४. अहं च पञ्चबाणवश्यः श्रावस्तीमभ्यवर्तिषि ।

मार्गे च महति निगमे नैगमानां ताम्रचूडयुद्धकोलाहलो महानसीत् ।

—Daśakumāracarita, ed. Kale, M.R., II. 5

तथा चन्द्र० १.१६, २.११३, ५.४, १३.४६, द्विस०, ४.६६

५. विश्वकर्मा०, ८.४०-४६ तथा चन्द्र० २.११३, द्विस०, ४.६६

६. Gupta, Society and Culture, p. 310

८. तु०—निगमादिनगर्यस्तु नृपभोग्या उदीरताः । विश्वकर्मा०, ८.३१

७. Puri, B.N., History of Indian Administration, Vol. I, Bombay, 1968, p. 162

नामक प्रसिद्ध 'निगम' व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।^१ यह भी सूचना मिलती है कि इन व्यापारिक निगमों की 'निगम-सभा' नामक 'संज्ञासिद्धि समिति' भी बनी हुई थी।^२

इस प्रकार रामायण में आए 'नैगम' शब्द द्वारा रामायणकालीन 'निगम' नामक आवासार्थक संस्थिति के अस्तित्व की सूचना मिलती है। 'पौर'-'जनपद' जिस प्रकार पुर-जनपद नामक नगरभेद की संस्थाओं से सम्बद्ध थे उसी प्रकार रामायण का लेखक निवासार्थक 'निगम' से भी परिचित था। किन्तु रामायणकाल में पुर-जनपद के समान 'निगम' अत्यधिक लोकप्रिय नहीं हो पाए थे। संभवतः दक्षिण भारत में इन निगमों का विशेष प्रचलन था। पाणिनि प्रायः 'निगम' को वेद के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं तथा कभी-कभी वेदेतर अर्थ में उन्होंने 'निगमाः' का भी प्रयोग किया है। महाभारत, अर्थशास्त्र जोकि भारतीय राजशास्त्र के कोष-ग्रन्थ हैं, 'निगम' के विषय में मौन हैं। आवासार्थक 'निगम' के अस्तित्व के प्राचीनतम पुरातत्त्वशास्त्रीय ऐतिहासिक प्रमाण तृतीय शताब्दी ई० से पूर्ववर्ती नहीं। संभवतः महाभारत, अर्थशास्त्र तथा अष्टाध्यायी तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व से पूर्व निर्मित होने के कारण 'निगम' नामक ग्रामों अथवा नगरों से परिचित न हों। वैसे उपर्युक्त सभी ग्रन्थों की कालसीमा सुनिश्चित न होने के कारण इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मान्यता स्थापित नहीं की जा सकती है। केवल इतना स्पष्ट होता है कि रामायण, जातक आदि प्राचीन बौद्ध साहित्य, तथा जैन आगम ग्रन्थों में 'निगम' पुर-जनपद के साथ प्रयुक्त होने के कारण निवासार्थक ही था। ईस्वी पूर्व के सभी शिलालेखों, मुद्राभिलेखों तथा सिक्कों से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। 'नैगम' का अर्थ रामायण में 'निगम से सम्बद्ध व्यक्ति' था। बौद्ध साहित्य में 'नैगम' का अर्थ एक ओर शासक (नगरसेठ) था तो दूसरी ओर नगर-सेठों का व्यवसाय मूलतः व्यापार होने के कारण व्यापारी वर्ग के लिए भी इस शब्द का सामान्य प्रयोग होता था। बौद्ध निकाय ग्रन्थों में 'निगम' छोटे-छोटे कस्बों के समान थे जिनमें कुरु, शाक्य आदि जातियाँ निवास करती थीं। बौद्ध युग में 'निगम' आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे क्योंकि इन निगमों में आवागमन आदि की भी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाई थी। भारत के स्वर्ण युग गुप्त काल में निगमों का विकास हुआ तथा दसवीं शताब्दी तक इन निगमों को मार्ग आदि की उन्नत नागरिक सुविधाएं प्रदान कर दी गईं थीं। फलतः इस युग में 'निगम' कृषि उत्पादन की दिशा में भी बहुत समृद्ध होने लगे थे।

१. Puri, B.N., History of Indian Administration, Vol. I, p. 162

२. Ep. Ind., VIII, No. 12

राज्य की ओर से समुचित सुविधाएं प्राप्त होने पर निगमों का उत्तरोत्तर आर्थिक विकास होता रहा। अनाज तथा अन्य गुड़ आदि खाद्य वस्तुओं का उत्पादन मूलतः निगमों में ही होता था। अधिकांश रूप से इनमें निवास करने वाले 'नैगम' वर्ग का व्यवसाय था—कृषि-उत्पादन करना तथा राज्य में उसका वितरण करना। वास्तुशास्त्र के कुछ ग्रन्थों के अनुसार 'निगम' नामक नगर में शिल्पी वर्ग भी निवास करता था। फलतः कृषि एवं शिल्प के व्यवसाय से निगम अत्यधिक समृद्ध एवं ऐश्वर्य सम्पन्न होते थे। १६वीं शताब्दी ई० के वीरमित्रोदय नामक ग्रन्थ के उल्लेखानुसार नैगमवर्ग रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार भी करने लगे थे। दक्षिण भारत के ग्रन्थ सातवाहन तथा प्रारम्भिक पल्लव वंशी राजाओं के काल में भारतवर्ष में पांच छः निगम ऐसे भी थे जिन्हें देश की सर्वोच्च व्यापारिक केन्द्रों के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। डी० एन० शुक्ल महोदय के विचारानुसार 'निगम' का वास्तविक अर्थ 'Trade Route' था किन्तु बाद में निगम व्यापारिक ग्राम अथवा नगर के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। इस सम्बन्ध में डा० डी० सी० सरकार ने एक महत्वपूर्ण सूचना दी है। डा० सरकार ने 'लेखपद्धति' के 'निगमागमदान' के पारिभाषिक अर्थ होने की ओर ध्यान दिलाया है।^१ इस सन्दर्भ में 'दान' का अर्थ है Toll or Tax—चुंगी अथवा शुल्क तथा 'निगमागम' का अर्थ है—Importing and Exporting—आयात तथा निर्यात। इस पारिभाषिक व्याख्या द्वारा भी 'निगम' के व्यापार से सम्बद्ध होने का प्रमाण मिलता है।

इस प्रकार अधिकांश भारतीय वाङ्मय के साक्ष्यों के आधार पर यह कहना सरल हो जाता है कि प्राचीन भारतीय शासन पद्धति एवं आर्थिक जन-जीवन के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'निगम' का आवासार्थक—नगर अथवा ग्राम अर्थ ही उपयुक्त है। जायसवाल आदि ऐतिहासिकों के द्वारा कल्पित निगम के 'Corporation' अथवा 'Corporate Body of Merchants' आदि अर्थ कृत्रिम एवं प्रमाण-विरुद्ध होने के कारण सुग्राह्य नहीं हैं।

-
1. 'The Word dāna has been used in the sense of 'a toll or tax' in passages like nigamāgamadāna—'tax for importing and exporting', occurs in the 'Lekhapaddhati'.'

—Sircar, D.C., Society and Administration of Ancient and Medieval India, Vol. I, Culture, 1967, p. 94

(ख) खानपान

विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ

आलोच्य काल में विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ कृषि-उपज के अनुसार ही प्रचलित रहे थे। जैन संस्कृत महाकाव्यों में निर्मित विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों का वर्णन इस प्रकार आया है :—

१. ओदन^१—भात को कहते थे। द्विसन्धान महाकाव्य में इसे 'अन्धस्' भी कहा गया है।^२ हेमचन्द्र ने मांसमिश्रित भात के लिए 'मांसोदन' तथा कौन्दी के भात के लिए 'कौद्रवोदन' का प्रयोग किया है।^३

२. करम्भक^४—दही के साथ मिलाकर तैयार किए गए 'सक्तु' (जो चूर्ण) को 'करम्भक' कहा जाता था।^५ जो चूर्ण को 'सक्तु' (आधुनिक सत्तु) की संज्ञा दी जा सकती है।

३. मण्डक^६—घाजकल इसे 'मांडा' कहा जाता है।^७ पंजाबी में यह 'मन्डे'^८ तथा गुजराती में 'मान्डे' कहलाता है।^९ हरियाणवी भाषा में भी चपाती अर्थात् रोटी को 'मान्डा' कहा जाता है। इसे विशेष अवसरों पर खाण्ड के साथ भी खाया जाता है। इसके लिए 'खांड-मांडा' शब्द प्रयुक्त होता है।^{१०} हेमचन्द्र के अनुसार 'मण्डक' खाण्ड-मिश्रित भी होता था।^{११}

१. परि०, ७.६६, त्रिषष्टि०, ३.१.१६, धर्म०, २१.३६

२. द्विस०, १.३

३. द्वया० १७.४१, तथा परि० ७.६८

४. द्वया०, ३.१३४

५. करम्भो दधिसक्तवः। —अमरकोष; द्वितीय काण्ड, १८०२

६. Nārang, Dvayāśraya, pp. 190-91

७. त्रिषष्टि०, ३.१.४३, परि० १२.११४

८. भक्ष्यविशेषा भाषायां 'मांडा'।

—त्रिषष्टि०, ३.१.४३, पाद-टिप्पण, पृ० २५७

९. Nārang, Dvayāśraya, p. 192

१०. Jani, A.N., A Critical Study of the Naisadhiyacarita, Baroda, 1957, p. 218.

११. मण्डकाः खण्डमण्डिताः। —त्रिषष्टि०, ३.१.४३

१२. मण्डकाः खण्डसम्मिश्राः। —वही, ३.१.४३

४. मण्डिका^१ हेमचन्द्र ने 'मण्डिका' को खण्ड-मिश्रित कहा है। इसे पतली अथवा छोटे आकार की रोटी माना जा सकता है।

५. खाद्य—हेमचन्द्र ने 'खाद्य' को भी सुस्वादु भोजन के रूप में निर्दिष्ट किया है।^२ आजकल की भाषा में इसे 'खाजा' कहा जाता है।^३

६. अपूपिका^४—शिशुओं का यह प्रिय भोजन रहा था।^५ आधुनिक 'मालपूए' से इसे अभिन्न माना जाता है।^६ अपूप को 'मुद्ग' (मूंग) से तैयार किया जाता था।^७

७. मर्मराल^८—इसे 'पर्पट' अर्थात् गुजराती पापड़ कहा गया है।^९ मोनियर विलियमस् ने इसे चावलों अथवा मटरों से बने पापड़ के रूप में स्पष्ट किया है।^{१०} हेमचन्द्र द्वारा 'सुकुमार' विशेषण के प्रयोग से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'मर्मराल' पापड़ जैसा ही कोई पतला एवं हल्का भोज्य पदार्थ रहा होगा।^{११}

८. वटक^{१२}—आधुनिक काल में इसे 'बड़ा' कहा जाता है।^{१३} हेमचन्द्र ने इसे चिकने भोज्य पदार्थ के रूप में स्पष्ट किया है।^{१४}

९. तीषन^{१५}—त्रिषष्टि० महाकाव्य के सम्पादक ने इसे संस्कृत 'क्वथिका' से अभिन्न मानते हुए आधुनिक 'कढ़ी' के रूप में स्पष्ट किया है।^{१६}

१. मण्डिका: खण्डमण्डिताः । —त्रिषष्टि०, ३.१.४३
२. खाद्यानि स्वादु हृद्यानि । —वही, ३.१.४३
३. भक्ष्यविशेषा भाषायां 'खाजा' । —वही, पाद टिप्पण, पृ० २५७
४. द्रया०, १५.५२
५. आपूपिकैर्तुं माणव्यम् । —द्रया०, १५.५२
६. Narang, Dvayāśraya, p. 193
७. आपूपमयं मौद्गिकम् । —द्रया० १६.५७
८. त्रिषष्टि०, ३.१.४४
९. Johnson, Triṣaṣṭi, (Eng. Tr.), Vol. II, p. 123
१०. Williams, Monier, Sanskrit-English Dictionary, Oxford, 1899, p. 606
११. सुकुमारा मर्मराला । —त्रिषष्टि०, ३.१.४४ तथा तु०—मर्मरशब्दवन्तः । —वही, पाद टि०, पृ० २५७
१२. वही, ३.१.४४
१३. 'बड़ा' इति भाषायाम् । वही, ३.१.४४ पाद टि०, पृ० २५७
१४. वटकाश्चातिपेशलाः । —वही, ३.१.३४
१५. वही, ३.१.४४
१६. क्वथिका 'कढ़ी' इति भाषायाम् । — वही, पाद टि०, पृ० २५७

१०. इड्डुरिका^१—इसे आधुनिक 'पूरी' के रूप में जाना जाता है।^२ चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य में पूरियों की गन्ध फैलाने का भी उल्लेख आया है।^३

११. मोदक^४—लड्डू के नाम से प्रसिद्ध यह एक प्रमुख एवं लोकप्रिय मिष्ठान रहा था।^५

अन्य भोज्य पदार्थ

द्वयाश्रय महाकाव्य में अनेक प्रकार के मिष्ठानों का उल्लेख आया है जिनमें 'मौदश्वित्क'^६, 'क्षैरेय',^७ दुग्ध निर्मित मिष्ठान थे। 'दाघिक'^८ दही से निर्मित होता था। फटे हुए दूध से 'कीलाट' नामक मिष्ठान तैयार किया जाता था।^९ जो से बने पदार्थ 'यव'^{१०} तथा 'माष' से बनी मिठाई 'वटकिनी'^{११} कहलाती थी।

द्वयाश्रय में उल्लिखित कुछ अन्य भोज्य पदार्थों में 'पुरोडास' (यज्ञावसर पर प्रयोग किए जाने वाला पकवान) शष्कुलि (जलेबी), सक्तु-घान (भुने हुए चावल), यवागु (चावल की खिचड़ी) आदि १२वीं-तेरहवीं शताब्दी के लोकप्रिय भोज्य पदार्थ रहे थे।^{१२}

मांस भक्षण

समाज में मांस खाने का प्रायः प्रचलन रहा था।^{१३} वराहचरित महाकाव्य के अनुसार हरिण, शश, वराह, आदि पशुओं का भी मांस खाने का प्रचलन था।^{१४} द्वयाश्रय महाकाव्य के अनुसार निम्न जाति के लोग गोमांस भी खाते थे।^{१५} मांस को चावलों के साथ भी पकाया जाता था। इस प्रकार का भोजन 'मांसोदन' के नाम

१. चन्द्र०, १४.४६ तथा तु० पाठभेद-‘इन्दुरिका’।

२. अमृतलाल शास्त्री, चन्द्र० हिन्दी अनुवाद, पृ० ३४०

३. चन्द्र०, १४.४६

४. द्वया०, १७.४०, —त्रिषष्टि०, ३.१.४३, तथा परि०, १२.११४

५. मोदकाश्च प्रमोदकाः। त्रिषष्टि०, ३.१.४३

६. द्वया०, १६.५

७. वही, १६.५

८. वही, १६.५

९. Narang, Dvayāśraya, p. 194

१०. द्वया०, १५.७७

११. वही, १८.६१

१२. Narang, Dvayāśraya, pp. 194-95

१३. वही, पृ० १६३

१४. वराह०, ६.२१

१५. द्वया०, २.८६

से प्रसिद्ध था ।^१ सिद्धान्ततः जैन धर्म की मान्यता के अनुसार मांस खाना निषिद्ध था । राजा कुमारपाल द्वारा सम्पूर्ण राज्य में 'मांस-भक्षण' पर एक बार पूर्ण प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया था ।^२

पेय पदार्थ

भोजन सम्बन्धी पेय पदार्थों में दूध,^३ तक्र^४ (छांछ), इक्षु रस,^५ तारिकेल रस,^६ फाण्ट^७ आदि विशेष रूप से प्रचलित थे । इनमें से भी फाण्ट जलमिश्रित विशेष प्रकार का कसैला (कषाय) पेय होता था तथा कुछ उष्ण होने पर इसका पान किया जाता था ।^८

मदिरा सेवन

जैन संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार आलोच्य काल में मदिरा पान का विशेष प्रचलन रहा था ।^९ 'अरिष्ट' 'मैरेय', 'सुरा', 'मधु', 'कादम्बरी' आदि विभिन्न प्रकार की मदिराओं का उल्लेख भी आया है ।^{१०} मदिरा का प्रयोग पुष्प तो करते ही थे,^{११} साथ ही स्त्रियों में भी इसका विशेष प्रचलन था ।^{१२} जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित रति-क्रीडा के सन्दर्भ में अनेक स्थलों पर मदिरा से मत्त स्त्रियों द्वारा काम-चेष्टाएं करने का वर्णन आया है ।^{१३} धर्मशर्माम्युदय

१. द्वया०, १७.४१, तथा तु० — मासीदनो मांसमिश्र ओदनः । — अभयतिलक-गणिकृत टीका, पृ० ३५८
२. द्वया०, २०.१२
३. वराङ्ग०, ६.३५, द्वया०, ८.६६, कीर्ति०, ८.२६
४. वराङ्ग०, ६.३५, द्वया०, २.४८
५. कीर्ति०, ६.१४
६. चन्द्र०, १६.३१
७. द्वया०, १५.१०
८. Narang, Dvayāśraya, p. 197
९. द्विस०, सर्ग १७, धर्म०, सर्ग-१५, हम्मौर०, १३.८०-८४
१०. अरिष्टमैरेयसुरामधूनि कादम्बरीमद्यवरप्रसन्नाः । — वराङ्ग०, ७.१५ तथा तु० — स्त्रीभ्यो मैरेयमदविह्वलाः । — द्वया०, १७.१२७, मैरेयपानच्युतचेतनानाम् । — कीर्ति०, ७.७७
११. द्विस०, १७.६७, धर्म०, १५.१६
१२. धर्म०, १५.१०, १२, द्विस०, १७.५६
१३. धर्म०, १५.२६, ३१; द्विस०, १७.६०

महाकाव्य में ऐसी ही नायिका का चित्रण करते हुए कवि हरिचन्द्र ने एक लड़खड़ाती शब्दावली में एक सुन्दर पद्य का निर्माण भी किया है ।^१

सिद्धान्ततः मदिरा का सेवन निषिद्ध था । हम्मीर महाकाव्य में चाहमान सेना के एक महत्वपूर्ण व्यक्ति द्वारा अलाउद्दीन की बहिन के हाथों से मदिरापान करने की घोर भर्त्सना की गई है ।^२ मद्य-पान करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में बहुत ही हीन विचार भी प्रकट किए गए हैं ।^३ उदाहरणार्थ मदिरा सेवन से अङ्ग-अङ्ग में पीड़ा पहुँचती है, धैर्य समाप्त हो जाता है, बुद्धि भ्रष्ट होती है,^४ मुख से दुर्गन्ध आती है^५, चेहरा लाल हो जाता है^६ तथा इन्द्रियों के व्यापार शिथिल पड़ जाते हैं^७ इत्यादि । फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में मदिरा पान का बहुत अधिक प्रचलन रहा था ।

(ग) वेश-भूषा

वस्त्रों के विविध प्रकार

जैन संस्कृत महाकाव्यों के काल में प्रचलित वेश-भूषा के अन्तर्गत रेशमी वस्त्र^८ (कौशेय), ऊनी वस्त्र^९ (श्रीणकाम्बर), कपास के वस्त्र^{१०} (कापसि वाससः)

१. त्यज्यतां पिपिपिप्रिय पात्रं दीयतां मुमुमुखासव एव ।

इत्यमन्तरपदस्खलितोक्तिः प्रेयसी मुदमदाददयितस्य ॥ —धर्म०, १५.२२

२. अपीप्यत् तद्भगिन्या च प्रतीत्यै मदिरामपि । —हम्मीर०, १३.८१ तथा १३.६१-६४

३. कुलं शीलं मतिलज्जाऽभिमानः स्वामिभक्तता ।

सत्यं शौचं च न क्वापि जृम्भते मद्यपायिनि ॥

—वही, १४.६४

४. धर्म०, १५.१०

५. तदा चास्य मुखाद् गन्धः प्रससार मवोदभवः । हम्मीर०, १३.६१

६. धर्म०, १५.६, द्विस० १७.५८

७. धर्म०, १५.२५; द्विस०, १७.५६-६०

८. कौशेयान्यध्वदक्षिनाम् । —द्वया०, १५.६८ तथा वराङ्ग०, ७.२१

९. दक्षिणाध्वीणकाम्बरः । —द्वया०, १५.६७

१०. श्रीणपोयत्वक्पटानाम् । —वही, १५.६८

तथा पशुओं की त्वचा से बनाए गए वस्त्र^१ (त्वक्पट) का प्रचलन विद्यमान था। द्रयाश्रय महाकाव्य में सौराष्ट्र देश के लोगों की वेश-भूषा को 'अर्णकाम्बर'^२ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त थी। इसी प्रकार सौराष्ट्र तथा पर्वतीय प्रदेशों के वस्त्रों को भी त्वक्^३ कहा जाता था। चीनी शिल्प आलोच्य काल का लोकप्रिय वस्त्र रहा था। इसी प्रकार 'रत्नकम्बल' एवं 'मणिकम्बल' भी वेश-भूषाओं के सन्दर्भ में बहुमूल्य वस्त्र स्वीकार किये जाते थे।^४ चन्द्रप्रभ० महाकाव्य में 'चित्रनेत्रपट'^५ तथा द्रयाश्रय महाकाव्य में 'सूक्ष्मवस्त्रतमः'^६ प्रयोग भी बहुत हल्के तथा बारीक कपड़े की विशेषता को प्रकट करने के लिए किए गए हैं। नेपाल देश का 'रत्न कम्बल' भी इसी प्रकार की विशेषता के लिए प्रसिद्ध रहा था।^७ इसी प्रकार 'सुघ्न' देश भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कपड़ा बनाने के लिए प्रसिद्ध था।^८ द्रयाश्रय महाकाव्य में 'त्रसर'^९—आधुनिक 'टस्सर' तथा 'आमक'^{१०}—आधुनिक 'लीनन' नामक वस्त्रों का भी उल्लेख आया है।^{११} इस प्रकार आलोच्य काल में कपड़ा उद्योग विशेष रूप से प्रगति पर होने के कारण विभिन्न प्रकार के उत्कृष्ट वस्त्रों का उत्पादन करने में सक्षम रहा था।

सिले हुए वस्त्र

आलोच्य काल में वस्त्रों को सुई द्वारा सीकर बनाया जाता था।^{१२} 'पट्यः' शब्द से दो सिले हुए वस्त्रों से अभिप्राय रहा था।^{१३} स्त्रियों एवं पुरुषों के द्वारा पहने जाने वाले विभिन्न प्रकार के वस्त्रों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. तेषामोणपटानां सौराष्ट्राणाम् । —द्रया०, १५.६८ पर अभयतिलककृत टीका, पृ० २३३
२. वही, पृ० २३३
३. प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २२६-२७
४. चन्द्र०, ७.२३
५. द्रया०, १६.५८
६. परि०, ८.१६०
७. द्रया०, ३.५८
८. वही, २.३६
९. वही, १५.६७
१०. Narang, Dvyāśraya, p. 199
११. पट्यः सीवितवस्त्रद्वयलक्षणाः । —द्विस०, १.३ पर पदकौमुदी टीका, पृ० १६
१२. चन्द्र०, ७.२३

सामान्य वस्त्र

१. पट^१—साधारण वस्त्र ।
२. पट्टिका^२—कटिवेष्टन अथवा कमरबन्द ।
३. पटी^३—द्विपट्टिका अथवा बुपट्टा ।
४. कुक्ष^४—ग्रोढ़मी अथवा कुसाला ।
५. रल्लीक^५—प्रायः कम्बल को कहा जाता होया अथवा यह कम्बल के समान ही परिधान वस्त्र रहा होगा ।
६. कम्बल^६—परिधान वस्त्र । चन्द्रप्रभ के टीकाकार ने 'रत्नकम्बल' को 'लोहित कम्बल' के रूप में स्पष्ट किया है ।^७

स्त्रियों के वस्त्र

१. उत्तरीय^८—शरीर के ऊपरी भाग में पहना जाने वाला परिधान वस्त्र 'उत्तरीय' कहलाता था ।^९ वसन्तविलास महाकाव्य में 'उत्तरीय' के आंचल से आँखों को ढकने का उल्लेख भी आया है ।^{१०} चादर के पर्यायवाची शब्दों में भी 'उत्तरीय' की परिभाषा की जाती है ।^{११} जैन संस्कृत महाकाव्यों में स्त्रियों के स्तनादि ऊपरी प्रदेशों में पहने जाने वाले वस्त्र के लिए 'उत्तरीय' की संज्ञा प्रसिद्ध थी ।^{१२} धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार ने भी ऊपरी भाग तथा अधोभाग के वस्त्रों के अर्थ में ही क्रमशः 'उत्तरीय' तथा 'अन्तरीय' का प्रयोग किया है ।^{१३}

१. चन्द्र०, ७.२३
२. चन्द्र०, ७.२३ तथा विद्वन्मनो० टीका, पृ० १७६
३. वही
४. वराह०, ७.२१, द्विस०, १.३३
५. चन्द्र०, १३.४१
६. वराह०, ७.२१, द्विस०, १.३३
७. चन्द्र०, ७.२३ पर विद्वन्मनो० टीका, पृ० १७६
८. द्विस०, १८.४, धर्म०, १५.३१, नेमि०, वसन्त, ७.१०
९. उपरितनवस्त्रम् । —धर्म०, १५.३१ पर यशस्कीतिकृत सन्देहध्वान्त-दीपिका, टीका, पृ० २३५
१०. वसन्त ७.१०
११. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४५
१२. उत्तरीयमपकर्षति नाथे प्रावरिष्ट हृदयं स्वकराम्याम् ।
—धर्म०, १५.३१
१३. धर्म०, १५.३१ पर यशस्कीतिकृत सन्देह० टीका०, पृ० २३५

२. अन्तरीय^१ — स्त्रियों के नितम्बादि अधोभाग में धारण किए जाने वाले वस्त्र को 'अन्तरीय' कहा जाता था।^२ रति-क्रीड़ा के अवसर पर अन्तरीय-वस्त्रापनयन का उल्लेख आता है।^३ स्त्रियों के विषय में यह भी कहा गया है कि लज्जा को ढकने के लिए 'उत्तरीय' के साथ 'अन्तरीय' भी आवश्यक है।^४

३. अंशुक^५ — जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'अंशुक' का प्रयोग स्त्रियों के वस्त्र के रूप में किया गया है।^६ प्रायः इसे 'साड़ी' के रूप में भी स्पष्ट किया जाता है। संभवतः यह एक प्रकार का परिधान वस्त्र रहा होगा तथा 'अन्तरीय' एवं 'उत्तरीय' के ऊपर ओढ़ा जाता होगा।

४. कंचुक^७ — 'कंचुक' स्त्रियों के स्तनावरण-वस्त्र को कहा जाता था।^८ रतिक्रीड़ा के अवसर पर पति द्वारा 'स्त्रियों के 'कंचुक' को खोलने का भी उल्लेख आया है।^९ वसन्तविलास के अनुसार वस्त्र गाठों द्वारा बांधा जाता था।^{१०} यज्ञ-स्तिलक चम्पू के अनुसार भी 'कंचुक' स्तनों को ढकने का ही वस्त्र था।^{११} इस स्थल पर टीकाकार ने इसका 'कृपासंक' अर्थ किया है।^{१२} कालिदास ने 'कंचुक' के अर्थ में ही स्तन-वस्त्र के रूप में 'कृपासंक' का प्रयोग किया है।^{१३} इससे प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में 'कृपासंक' वस्त्र ही मध्यकालीन भारत में 'कंचुक' के रूप में प्रसिद्ध

१. द्विस०, १८.४, धर्म०, ४.१४, १५.३१, हम्मौर०, १३.१५
२. अन्तरीयमपरा पुनराशुभ्रष्टमेव न विवेक नितम्बात् । — धर्म०, १५.३१
३. वही, १५.३१
४. लज्जालुप्तोत्तरीयेण नान्तरीयेण केवलम् । — द्विस०, १८.४
५. द्विस०, १.४२
६. रतेषु दण्डाघरमाहृतांशुकम् । — द्विस०, १.४२
७. धर्म०, १५.३२, वसन्त० ८.५७
८. मोती चन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, वि०, सं० २००७ पृ० ५५८
९. धर्म०, १५.३२
१०. वसन्त०, ८.५७
११. पीनकुचकुम्भपदपं वृट्कंचुकाः । यशस्तिलक०, पृ० १६
१२. कंचुकानि कृपासकाः । गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३१, पाद टि० ८३ से उद्धृत
१३. मनोज्ञकृपासकपीडितस्तनाः । ऋतुसंहार, ५.८

हो गया था। हम्मीर महाकाव्य में 'कंचुक' अर्थात् चोली के अर्थ में 'चोल' शब्द का प्रयोग किया गया है।^१

पद्मानन्द महाकाव्य में वधू के विवाह वस्त्रों के लिए 'पारिणेत्र-वसन' का प्रयोग हुआ है।^२ पद्मानन्द महाकाव्य में ही वधू का 'दूकूल' वस्त्रों से शृङ्गार करने का उल्लेख भी मिलता है।^३ उच्चवर्गीय स्त्रियाँ 'भणिकम्बल' का भी परिधान वस्त्र के रूप में प्रयोग करती थीं।^४

स्त्रियों के सौन्दर्य प्रसाधन

आलोच्य युग में स्त्रियाँ सौन्दर्य प्रसाधनों की बहुत शौकीन रहीं थीं। वराह्मचरित के अनुसार सुन्दर स्त्रियाँ भी साज शृङ्गार करने में विशेष रुचि लेती थीं। सुन्दर वेशभूषा धारण करना तथा अनेक आभूषणों को पहन कर चलना स्त्रियों का विशेष स्वभाव रहा था।^५ चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का स्त्रियाँ शरीर पर लेप करती थीं।^६ स्त्रियाँ अपने केशों को भी सुसज्जित ढङ्ग से रखती थीं।^७ सिर के जूड़े पर तथा कानों पर फूलों को सजाया जाता था।^८ अनेक प्रकार की पत्रावलियों से भी सिर को सजाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^९ कपोल-प्रदेशों पर भी विभिन्न प्रकार की चित्रकारी की जाती थी।^{१०} धर्माशर्मभ्युदय महाकाव्य में

१. इदं चोलान्तरीयाभ्यां स्तनश्रीणीप्रविभ्रती । —हम्मीर०, १३.१५
२. तैः पारिणेत्रवसनैर्दुसदङ्गनाभिस्ते रेजतुः । —पद्मा०, ६.६३
३. अङ्गानुकूलनवदिव्यदुकूलानि । —पद्मा०, ६.४५
४. छन्नाभिर्मणिमयकम्बलैर्वृषीभिः । —द्विस०, १४.११
५. सुभङ्गलायैव कृतप्रसाधना । —वराह्म०, ११.४३,
पौराङ्गनाभिः कृतभूपणाभिः । —वही, २३.५६
सन्तो नरा युवतयश्च विदग्धवेषा । —वही, १.२७,
चक्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः प्राशप्रकाशैरतिहारहारैः—
भूमिश्च चापाकृतिभिर्विरेजेः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः । नेमी०, १.३६
तथा ताम्बूलवस्त्रा भरणप्रसूनश्रीखण्डसंस्कारसमाकुलाभिः । कीर्ति०, ७.६०
६. शरीरे चन्दनं गौरे सौरभ्यादन्वमोयत । —कीर्ति० ७.४६ द्विस० १५.१ तथा
जयन्त १५.२१
७. कालिका च रचितालकावलि० । —धर्म०, ५.४३, ५०
८. द्विस०, १५.१५, धर्म०, १४.४८
९. आरोग्य चित्रावरपत्रवल्लोः । — धर्म०, १४.६०, तथा द्विस०, १५.१५
१०. धर्म०, ५.५१, कीर्ति०, ७.५८

स्त्रियों के कपोलों पर कस्तूरी रस से मकरी का चिह्न बनाने का उल्लेख आया है ।^१ चरणों में लाक्षारस (यावक) लगाने का प्रचलन था ।^२ ओठों पर भी लाक्षारस लगाया जाता था ।^३ आंखों में काजल डाला जाता था ।^४ स्त्रियाँ मस्तक पर चन्दक का तिलक लगाती थीं ।^५ हाथों को कुंकुम से रङ्गने की प्रथा भी रही थी ।^६ स्तनों पर केशर^७ (रक्त कन्द), कपूर, कस्तूरी तथा कुंकुम^८ आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप किया जाता था । इस प्रकार स्त्रियाँ अंग-प्रत्यंग को सौन्दर्य प्रसाधनों से अलंकृत करती थीं ।

आलोच्यकाल में अधिकांश सौन्दर्य प्रसाधन वृक्षों के पुष्पों, पत्रों तथा सुगन्धित द्रव्यों से निर्मित होते थे । परिणामतः इन सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुओं ने आर्थिक दृष्टि से वृक्ष-उद्योग को विशेष रूप से विकसित किया था ।

स्त्रियों के आभूषण

मध्यकालीन भारत में वेश-भूषा के अन्तर्गत स्त्रियों एवं पुरुषों, दोनों की

१. एणनाभिरसनिर्मितैकया पत्रभङ्गिमकरी कपोलयोः । —धर्म०, ५.५१
तथा—कुङ्कुमाभीकृतपत्रभङ्गी । —कीर्ति०, ७.५८
२. सलाक्षिकपदन्यासाः कुङ्कुमै रञ्जिता इव । —द्विस०, ७.३६ तथा
इत्यम्बुजाक्ष्या नवयावकाद्ररुषेव रक्तं पदयुग्ममासीत् ।
—धर्म०, १४.५४
३. मेने जतो यावकरक्तमोष्ठम् । —धर्म०, १४.५७
४. श्लेखनी कज्जलमञ्जुला यः । —धर्म०, १४.५८ तथा पद्मा०, ६.५१
५. आरोप्य बित्रा वरपत्रवल्लीः श्रीखण्डसारं तिलकं प्रकाश्य ।
—धर्म०, १४.६०
६. नखपदविततिर्दधौ कुचान्तर्भुवि परिशेषितरक्तकन्दलीलाम् ।
—धर्म०, १३.५४
७. अधिजलमधिकुङ्कुमं बभौ करघृतमङ्गनया स्तनद्वयम् । —द्विस०, १५.३०
धर्म०, १३.६७ तथा यशःकीर्तिकृत सन्देहध्वान्तदीपिका टीका, पृ० २१२
८. किमु विलुलित कुङ्कुमावलि किमधिकुचं नखरक्षतं नवम् ।
—द्विस०, १५.४२
९. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २१५

दृष्टियों से आभूषणों का विशेष महत्त्व था ।^१ परन्तु महाकाव्य के लेखकों ने स्त्रियों के सन्दर्भ में आभूषणों के औचित्य का विशेष प्रतिपादन किया है ।^२ चन्द्रप्रभचरित में एक स्थान पर मणिकुण्डल, अङ्गद, किरीट, कटक, रशना आदि आभूषणों का वन्चों के सन्दर्भ में भी चर्चा आई है ।^३ जैन संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर आभूषणों की संख्या बहुत अधिक प्रतीत होती है । केवल वरांगचरित के ही एक प्रसङ्ग में स्त्रियों के पन्द्रह प्रकार के आभूषणों का वर्णन आया है ।^४ पद्मानन्द महाकाव्य के एक प्रसंगानुसार अङ्गानुसारी आभूषणों के पहनने योग्य स्थानों का भी उल्लेख आया है ।^५ स्त्रियाँ अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आभूषण धारण करती थीं ।^६ सामान्यतया ये आभूषण सोने, चाँदी, मुक्ता, मणि, रत्न आदि धातुओं तथा पुष्पों

१. किरीटहाराङ्गदकुण्डलानि ग्रीवोरुबाहूदरबन्धनानि ।
स्त्रीपुंसयोग्यानि विभूषणानि विभूषणाङ्गा विसृजन्ति शशवत् ॥
—वराङ्ग०, ७.१७
२. चक्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशै रतिहारहारैः ।
भूमिश्च चापाकृतिभिर्विरेजुः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः ॥
—नेमि०, १.३६
३. मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटककरशनादिभूषणैः । —चन्द्र०, १७.२२
४. रत्नहारप्रबालांश्च नूपुरप्रकटाङ्गदम् ।
मुक्ताप्रलम्बसूत्राणि मालावलयेखलाः ॥
कटकाम्यूरुजालानि केयूराः कर्णमुद्रिकाः ।
कर्णपूरान् शिखाबन्धान्मस्तकाभरणानि च ॥
कण्ठिका वरसदामानि रत्ननाः पादवेष्टकाः ।
भ्रालुण्ड्याकुञ्च्य सर्वाणि चिक्षिपुर्विदिशो दिशः ॥
—वराङ्ग०, १५.५७-५९
५. मणिमयकटके क्रमयोः कटिसूत्रं कटितटे विकटशोभम् ।
करयोः कङ्कणयुगलं भुजयोरङ्गदयुगलं चङ्गम् ॥
हृदयभुवि हारलतिका कण्ठतटे कण्ठिकाऽप्यकुण्ठश्रीः ।
श्रुत्योः कुण्डलयुगलं मौली माल्यं तथा मुकुटः ॥
—पद्मा०, ४७-८
६. Shastri, Ajay Mitra, India as seen in the Kuttani-Mata of
Damodar Gupta, Delhi, 1975, p. 138,
तथा द्विस०, १.३८. पद्मा०, ६.५३-६३

से निर्मित होते थे।^१ वलय आदि आभूषण शङ्खों से भी बने होते थे।^२ विभिन्न अङ्गों के अनुसार आभूषणों की स्थिति इस प्रकार थी—

(क) सिर के आभूषण

१. किरौट^३—सामान्यतया 'किरौट' सम्राट धारण करते थे। किन्तु पद्यानन्द महाकाव्य के अनुसार विवाहावसर पर इसे वधू को भी पहनाया जाता था।^४ आदिपुराण के अनुसार स्त्रियां 'किरौट' धारण करतीं थीं।^५ 'किरौट' स्वर्णभूषण था किन्तु 'किरौटी' मणियों तथा स्वर्ण दोनों धातुओं से बनता था।^६ पद्यानन्द में 'किरौट' को भी मणि-निर्मित कहा गया है।^७

२. मुकुट^८—स्त्रियां भी विवाहावसर पर 'मुकुट' धारण करतीं थीं।^९ 'किरौट' की तुलना में 'मुकुट' कम मूल्य का होता था इसमें ताम-झाम-झालर आदि भी लगे होते थे। अल्मोड़ा आदि प्रदेशों में आज भी विवाहावसर पर स्त्रियों को 'मुकुट' पहनाने की प्रथा प्रचलित है।

३. मस्तकाभरण^{१०}—वराङ्गचरित में स्त्रियों द्वारा 'मस्तकाभरण' उतारने का उल्लेख आया है। सम्भवतः सिर के विभिन्न प्रकार के आभूषणों के लिए 'मस्तकाभरणानि' प्रयोग किया गया होगा।^{११} किन्तु कुछ विद्वान् 'मस्तकाभरण' को 'शीर्षफल' (आधुनिक सीस फूल) के रूप में भी स्पष्ट करते हैं।^{१२}

४. शिखाबन्ध^{१३}—केशों को बाँधने के लिए भी विशेष प्रकार की मालाओं

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २०८
२. Gupta, Kanta, the Bhikṣāṭana a study, Indological Studies, Vol. III, Nos. 1-2, Delhi, Dec. 1974, p. 45
३. वराङ्ग० ७.१७, पद्या०, ६.५४
४. पद्या०, ६.५४
५. आदि०, ३.७८
६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २०६
७. पद्मा०, ६.५४
८. वरांग०, ७.७०, चन्द्र०, ७.६३, पद्मा०, ६.६२
९. पद्मा०, ६.६२
१०. वरांग०, १५.५८
११. शिखाबन्धन् मस्तकाभरणानि च । —वराङ्ग०, १५.५८
१२. खुशालचन्द्र गोरवाला, वराङ्ग चरित (हिन्दी अनुवाद), पृ० १२८
१३. वराङ्ग०, १५.५८

का प्रयोग किया जाता था। द्विसन्धान महाकाव्य के अनुसार 'मुक्तावलि' का प्रयोग भी केशों के बँधने के लिए होता था।^१

५. पट्ट^२—पट्ट पाँच प्रकार के कहे गये हैं—(१) राजपट्ट (२) महिषी-पट्ट (३) युवराजपट्ट (४) सेनापतिपट्ट तथा (५) प्रसादपट्ट।^३ स्पष्ट है कि 'पट्ट' नामक आभूषण का प्रयोग स्त्रियां व पुरुष दोनों करते थे। 'पट्ट' स्वर्ण-निर्मित होते थे तथा स्त्रियों के 'पट्ट' में तीन शिखाएं होतीं थीं।

६. शोखर^४—जूड़े की माला को कहते हैं।

(ख) कर्णाभूषण

७. कुण्डल^५—कानों में पहने जाने वाले गोलाकृति के आभूषण 'कुण्डल' कहलाते हैं। मध्यकालीन भारत में 'मणिकुण्डल', 'रत्नकुण्डल' आदि का भी विशेष प्रचलन रहा था। आदिपुराण के अनुसार मकराकृति के कुण्डलों का भी विशेष प्रचलन रहा था।^६

८. कर्णपूर^७—कर्णपूर 'कनफूल' को कहते हैं। कभी कभी इसके लिए 'कर्णावतंस' का प्रयोग भी किया गया है।^८ 'कर्णपूर' फूल के भी बनते थे। नेमि-निर्वाण महाकाव्य में 'मणि-कर्णपूर' का भी उल्लेख प्राप्त होता है,^९ जिसकी आकृति गोल थी।

९. कणिका^{१०}—कानों की बालियों को कहते हैं। 'कणिका' स्त्रियां तथा पुरुष दोनों पहनते थे। यदि ये कुछ गोलाकार हों तो 'कुण्डल' कहलाते थे।^{११}

१. द्विस०, १.४३
२. पद्मा०, ६.५० तथा आदि०, १२.२३३
३. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१०
४. द्विस०, १.२९, ४२
५. वराह०, ७.१७, चन्द्र०, १३.४, नेमि०, ६.३५, पद्मा०, ६.५६, जयन्त०, १३.३२
६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २१८
७. वराह०, १८.९, चन्द्र०, २.७, नेमि०, ११.६
८. गोकुल चन्द जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४२-४३
९. चक्रायमाणैर्मणिर्कर्णपूरैः पाशप्रकाशै रनिहारहारैः । —नेमि०, १.३६
१०. द्वया०, १६.७२
११. कनिधम अलैकजैन्डर, भरहुत-स्तूप, अनु० तुलसीराम शर्मा, दिल्ली, १९७५, पृ० ३३

१०. कर्णमुद्रिका^१—‘कर्णिका’ के समान ही ‘मुद्रिका’ के आकार का आभूषण था। वराहचरित महाकाव्य में ही इसका उल्लेख मिलता है।

११. अवतंस^२—अवतंस’ प्रायः पल्लवों तथा पुष्पों से बनते थे।^३ द्विसन्धान महाकाव्य के टीकाकार ने ‘अवतंस’ को ‘कर्णाभरण’ की संज्ञा दी है।^४

(ग) कण्ठाभूषण

मध्यकालीन भारत में कण्ठाभूषणों के विविध प्रकार प्रचलित थे। स्त्रियां कण्ठाभूषणों को सर्वाधिक पसन्द करतीं थीं। आदि पुराण में केवल मात्र हारों के ही ५५ प्रकार उपलब्ध होते हैं। इनमें भी ग्यारह प्रकार की यष्टि होती थी।^५ जैन संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर अत्यधिक लोकप्रिय कण्ठाभूषण इस प्रकार हैं—

१२. हार^६—कण्ठाभूषणों के लिए सामान्यतया ‘हार’ का व्यवहार होता है। जैन महाकाव्यों में ‘रत्न हार’^७, ‘मुक्ता हार’^८ आदि के अतिरिक्त ‘मणि-माला’^९ का भी उल्लेख आया है।

१३. हारलता^{१०}—सामान्यतया हार को ही कहा जाता था। जयन्तविजय में ‘मौक्तिक-हारलता’ का भी उल्लेख आया है।^{११} ‘हारलता’ प्रायः लम्बी होती थी तथा भुजाओं तक पहुँचती थी।

१. वराह०, १५.५८

२. गलितावतंसकाः । —द्विस०, १.२६

३. गोकुल चन्द जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४१

४. गलितावतंसकाः पतितकर्णाभरणाः । —द्विस०, १.२६ पर पदकौमुदी टीका, पृ० १५

५. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में; पृ० २१६

६. वराह०, ७.१७, चन्द्र०, ६.७, नेमि०, ११.६, धर्म०, १६.७६, जयन्त०, ७.२२ तथा नर०, १.१०

७. वराह०, १५.५७

८. धर्म०, २०.३७

९. चन्द्र०, १०.५६

१०. चन्द्र०, १३.३, जयन्त०; ४.२६

११. विमलमौक्तिकहारलता इव । —जयन्त०, ४.२६

१४. हारलतिका^१—‘हारलता’ से कुछ छोटी होती थी तथा वक्षस्थल तक ही लम्बाई पहुँचती थी ।^२

१५. हारयष्टि^३—यह इकहरी माला होती थी ।^४ प्रायः इसे अनेक लड़ियों वाला कण्ठामूषण माना जाता है ।

१६. एकावली^५—मोतियों की एक लड़ी की माला को ‘एकावली’ कहते हैं ।^६ इसके मध्य भाग में मणि लगी होती है । कीर्तिकीमुदी के अनुसार यह स्त्रियों के वक्षस्थल को सुशोभित करता था ।^७

१७. कण्ठिका^८—‘कण्ठिका’ में ग्रीषधियों की जड़ें मंत्रित करके भा पहुँची जाती थीं ।^९ दाक्षिणात्य सैनिक भी तीन लड़ियों वाली ‘कण्ठिका’ पहनते थे ।^{१०} ‘कण्ठिका’ रत्न निर्मित भी होती थी ।^{११}

१८. निष्क^{१२}—पद्मानन्द महाकाव्य के आधार पर स्त्रियों द्वारा ‘निष्क’ नामक कण्ठामूषण धारण करने का उल्लेख मिलता है ।^{१३} ‘निष्क’ को प्रायः बच्चे भी धारण करते थे ।^{१४}

१९. मौक्तिकदाम^{१५}—कण्ठामूषणों में ‘मौक्तिकदाम’ की भी प्रायः गणना

१. चन्द्र०, ७.८५, जयन्त०, ७.६७

२. भाति हारलतिकास्य वक्षसि । जयन्त०, ७.६७

३. वराङ्ग०, २३.४४, तथा नेमि०, ६.४६, कीर्ति०, ७.५४

४. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र फलक ४. संख्या २१

५. कीर्ति०, ७.५६

६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में; पृ० २१२

७. एकावली वक्षसि विस्फुरन्ती रराज राजीवलोचनायाः ।

—कीर्ति०, ७.५६

८. वराङ्ग०, १५.५६, चन्द्र०, १५.१७, धर्म०, १३. ३६

९. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४६

१०. वही, पृ० १४६

११. रत्नकण्ठिकया कण्ठं—चन्द्र०, १५.१७

१२. पद्मा०, ६.५७ तथा द्वया० ८.७६

१३. पद्मा०, ६.५७

१४. द्वया०, ८.१०

१५. नेमि०, ७.३०

की जाती है।^१ नेमिनिर्वाण में इस आभूषण का उल्लेख आया है।^२

२०. मुक्तावलि^३—द्विसंघान महाकाव्य में 'मुक्तावलि' को कण्ठ तथा सिर दोनों का आभूषण माना गया है।^४ कण्ठाभूषण के रूप में इसे 'एकावलि' से अभिन्न माना जा सकता है।

२१. वत्सदाम^५—यह आभूषण भी माला सदृश कण्ठाभूषण था। श्रीवत्स मणियों से निर्मित होने के कारण इसे 'वत्सदाम' की संज्ञा दी गई है।^६

२२. प्रलम्बसूत्र^७—वराङ्गचरित महाकाव्य में मुक्ता निर्मित 'प्रलम्बसूत्र' का उल्लेख आया है।^८ संभवतः यह नीचे तक लटकने वाली माला रही होगी। संस्कृत-शब्दार्थ-कोस्तुभ के अनुसार इसे 'कण्ठहार' से अभिन्न माना गया है।^९

(घ) करामूषण

२३. अंगद^{१०}—भुजाओं पर बांधा जाने वाला आभूषण होता है। 'अङ्गद' को भुजाओं की कोहनियों के ऊपरी भाग में धारण किया जाता है। हिन्दी में इसे 'बाजूबन्द' भी कहा जाता है।^{११}

२४. केयूर^{१२}—'केयूर' भी भुजा में ही धारण किया जाता है किन्तु यह 'अङ्गद' से नीचे पहना जाता था।^{१३} कालिदास के रघुवंश के आचार पर 'केयूर' एक नुकीला आभूषण था।^{१४} अमरकोषकार 'अङ्गद' तथा 'केयूर' को यद्यपि पर्यायवाची मानते हैं किन्तु इन दोनों आभूषणों का एक साथ प्रयोग होना इनकी पारस्परिक

१. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्विलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४७
२. नेमि०, ७.३०
३. द्विसं०, १.४३
४. वही, १.४३
५. वराङ्ग०, १५.५६
६. खुशाल चन्द्र गोरावाला, वराङ्ग चरित, पृ० १२८
७. वराङ्ग०, १५.५७
८. मुक्ताप्रलम्बसूत्राणि । —वराङ्ग०, १५.५७
९. संस्कृत-शब्दार्थ-कोस्तुभ, पृ० ७८०
१०. वराङ्ग०, ७.१७, चन्द्र०, १३.६, नेमि०, १२.७, पद्मा०, ६.६०
११. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में; पृ० २१८
१२. वराङ्ग०, १५.५८
१३. Satya Vrat, The Rāmāyaṇa—A Linguistic Study, Delhi. 1964, p. 39
१४. रघुवंश, ७.५०

भिन्नता का प्रमाण है।^१ 'के बाहुशीर्षे यौति केयूरम्'—व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ विद्वान् 'केयूर' को भुजा के ऊपरी छोर पर पहने जाने वाले आभूषण के रूप में भी स्पष्ट करते हैं।^२

२५. कटक^३—कड़े के समान एक आभूषण है। पद्मानन्द में मणिमय 'कटक' का भी उल्लेख आया है।^४

२६. कङ्कण^५—स्त्री तथा पुरुष दोनों 'कङ्कण' पहनते थे। हाथ की दोनों कलाईयों में इसे पहना जाता था। 'कङ्कण' दक्षिण तथा वाम हाथों की दृष्टि से बने होते थे। नेमिनिर्वाण महाकाव्य में एक नायिका द्वारा भूल से दायें हाथ के 'कङ्कण' को बायें हाथ में तथा बायें हाथ के 'कङ्कण' को दायें हाथ में पहनने का वर्णन भी आया है।^६ वसन्तविलास महाकाव्य में 'मणि-कङ्कण' तथा 'रत्न-कङ्कण' का भी उल्लेख आया है।^७

२७. वलय^८—'वलय' भी कलाईयों में धारण करने योग्य आभूषण होता था। यशस्तिलक में भैसे के सींग से निर्मित 'वलय' का भी उल्लेख आया है।^९ 'वलय' शंखों से भी निर्मित होते थे।^{१०}

१. 'Keyūra and Āṅgada have been clearly mentioned as synonyms in the Amarakośa. We have it there, 'Keyūram āṅgadamaṭulye'. But between them too, there is some difference in meaning. Or else how could these be used together in one verse in the two great epics, the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata? The difference in their meaning is explained by the Rāmāyaṇa-commentator Rāma in the following words: Āṅgadamaṭ bahumūladhāryam bhūṣaṇam; Keyūram tadadho-bhāgastham'.

—Satya Vrat, The Rāmāyaṇa—A Linguistic Study, p. 39

२. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४७
 ३. वराहमिहिर, १५.५८, चन्द्र०, १७.४६, पद्मा०, ४.७
 ४. मणिमयकटके क्रमयोः । — पद्मा०, ४.७
 ५. चन्द्र०, १५.१६, धर्म०, ८.८६ पद्मा०, ६.६०, नेमि०, ८.७४, वसन्त०, ७.२८
 ६. दक्षिणः कङ्कणं वामे वामश्चक्षेप दक्षिणं । — नेमि०, ८.७३
 ७. वसन्त०, ७.२८ तथा ७.३
 ८. वराहमिहिर, १५.५७, द्वया०, १८.८६
 ९. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४८
 १०. Gupta, Kanta, Indological Studies, Vol. III, Nos. 1-2, p. 45

२८. मुद्रिका^१—अंगुलियों में धारण किया जाने वाला आभूषण । चन्द्र-प्रभञ्जरित में 'मणिमुद्रिका' का भी उल्लेख आया है ।^२

(ऊ) कटिप्रवेश के आभूषण

२९. कटिसूत्र^३—सामान्यतया 'कमरबन्द' को कहते हैं । इसे 'करघनी' अथवा 'तगड़ी' के नाम से भी जाना जाता है ।

३०. कांची^४—'मेखला' तथा 'कांचिका' इसकी अपर पर्यायवाची संज्ञाएं हैं ।^५ 'कांची' नामक आभूषण पर छोटी छोटी भूमरियां लगी होती थीं परिणामतः हिलने-डुलने पर इससे 'कलकल' का शब्द होता रहता था ।^६ इस आभूषण का पहनने का स्थान नीचीबन्ध वाला जंघा-प्रदेश था ।^७ यशस्तिलक के अनुसार विरहावसरों पर स्त्रियों 'कांची' को गले में पहन लेती थीं ।^८

३१. मेखला^९—कांची सदृश ही 'मेखला' नामक आभूषण की स्थिति रही थी । धर्मशर्माभ्युदयकार ने 'कांची' तथा 'मेखला' दोनों आभूषणों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया है ।^{१०} 'मेखला' को भी जघन प्रदेशों में ही धारण किया जाता था ।^{११}

३२. रत्नन^{१२}—यह भी कांची तथा मेखला के सदृश कटि प्रदेश के आभूषणों जैसा ही एक आभूषण था । कटि प्रदेश के ये तीनों आभूषण अमरकोष-कार के अनुसार पर्याय वाची ही हैं ।^{१३} किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन

१. चन्द्र०, १७.४६

२. वही, ४.७

३. पद्मा०, ४.७

४. द्विस०, १.४३, धर्म०, १५.४६, जयन्त०, १३.२१ तथा द्रवा०, ६.५४

५. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४६

६. सुभ्रुवः कलकलो मणिकाञ्च्याः । —धर्म०, १५.४६

७. धर्म०, १५.४६ तथा तु०—जघन्यवृत्ति पुरि यत्र काञ्च्यः ।

—द्विस०, १.४३

८. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४६

९. वराह्म०, १५.५७ तथा द्विस०, १५.४४

१०. धर्म०, १५.४४, ४६

११. मेखलागुणमवाप्य मदान्धोप्यारोहजघनस्थमस्याः । धर्म०, १५.४४

१२. वराह्म०, १५.५६ तथा चन्द्र०, ७.८६

१३. अमरकोष, २.६.१०८

आभूषणों के स्वरूप में कुछ न कुछ सूक्ष्म अन्तर रहा होगा।^१

३३. उरुजाल^२—कटि प्रदेश में धारण किया जाने वाला आभूषण किन्तु यह 'मेखला' से भिन्न था। वराङ्गचरित में रानियों द्वारा आभूषण उतारे जाने पर 'मेखला', 'रसना', तथा 'उरुजाल'—इन तीनों का पृथक्-पृथक् प्रयोग हुआ है।^३ द्विसन्धान महाकाव्य में भी 'उरुजाल' का उल्लेख आया है।^४ टीकाकार के अनुसार यहाँ पर 'उरुजाल' को मेखला के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्पष्ट किया गया है।^५

(ख) पादाभूषण

३४. पादवेष्टक^६—वराङ्गचरित महाकाव्य में इसका उल्लेख आया है। संभवतः यह पांवी का अङ्गद रहा हो।

३५. नूपुर^७—पायल को कहते हैं। नूपुरों में घुंघरू लगाए जाते थे। शिजित नूपुर, भास्वतकल नूपुर, कल नूपुर, मणि नूपुर आदि कई प्रकार के नूपुर प्रचलित थे।^८ जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'मणि नूपुर'^९ तथा मारिणवय नूपुर^{१०} के उल्लेख मिलते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में लगभग १२ प्रकार की आवासीय संस्थितियों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सहज हो जाता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों के युग में जन-जीवन की आवासीय व्यवस्था वर्णव्यवस्था तथा जाति व्यवस्था के आधार पर विभक्त थी। भारत की भौगोलिक आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के मिश्रित प्रभावों के कारण प्रायः जन-साधारण से सम्बद्ध इन आवासपरक संस्थितियों के स्वरूप पर भी समयानुसारी

१. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४६, नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में; पृ० २१६-२० तथा वराङ्ग०, १५.५७-५६

२. वराङ्ग०, १५.५८, तथा द्विस०, १.२६

३. वराङ्ग०, १५.५७-५६

४. च्युतीरुजाला गलितावर्तसंकाः । —द्विस०, १.२६

५. च्युतीरुजाला पतितमेखला । —वही, पदकौमुदी टीका, पृ० १५

६. वराङ्ग०, १५.५६

७. वराङ्ग०, १५.५७, चन्द्र०, ६.३, प्रद्यु०, ८.८, पद्मा०, ६.६२

८. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में; पृ० २२१-२२

९. जयन्त०, १३.१७, वसन्त०, ७.४

१०. पद्मा०, ६.६२

परिवर्तन आता रहा था। ऐसा भी विदित होता है कि एक विशेष प्रकार की आवास व्यवस्था आर्थिक उन्नति के कारण परिवर्तित होकर दूसरी आवासीय संस्थिति का रूप धारण करती जा रही थी। खेट, मडम्ब, द्रोणमूल आदि संस्थितियाँ इसी प्रकार की थीं। ऐसा ही 'निगम' नामक आवासीय संस्थिति के विषय में भी कहा जा सकता है। मूलतः 'निगम' यद्यपि व्यापारिक गतिविधियों से जुड़े ग्राम थे तथापि इन निगमों में नगरों के वातावरण की भी कुछ झलक देखी जाने लगी थी। व्यापारिक आध्याम्यों से सम्बद्ध होने के कारण निगम ग्राम जहाँ समृद्ध एवं घनधान्य सम्पन्न दिखाई देते हैं वहाँ तत्कालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को नियोजित करने वाले केन्द्र स्थान के रूप में भी इनका विशेष महत्त्व बन गया था। परवर्ती साक्ष्यों द्वारा इन्हें अनाज-मण्डी अथवा 'अनाज वितरण' केन्द्र (भक्त ग्राम) के रूप में परिभाषित किया गया है। वास्तुशास्त्र तथा कोषग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की शास्त्रीय परिभाषाएं यद्यपि इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की पुष्टि करती हैं तथापि आर्थिक दृष्टि से समग्र मध्यकालीन आवास व्यवस्था के दो ही प्रमुख विभाजन स्वीकार किए जा सकते हैं। वे दो विभाजन हैं—नगर तथा ग्राम। इन दोनों आवास चेतनाओं के मध्य विकसित होती तीसरी 'निगम चेतना' का तात्कालिक स्वरूप मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का युगीन परिणाम माना जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में 'निगम' के अर्थ निर्धारण की अपेक्षा से भी इसके तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है तथा यह पुष्टि की गई है कि प्राचीन भारत में 'निगम' के 'व्यापारियों के संघटित समूह' अथवा 'व्यापारिक समिति' अर्थ का अचिन्त्य नहीं रहा था तथा यह सिद्ध किया गया है कि 'निगम' प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक या तो अर्धविकसित ग्राम के रूप में अपनी आवासीय संस्थिति बनाए हुए थे अथवा आर्थिक समृद्धि के परिणाम स्वरूप ये नगर तुल्य वास्तुशिल्प की अपेक्षा से विकसित हो रहे थे।

खान पान एवं वेश-भूषा से सम्बद्ध जैन महाकाव्यों की सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। ओदन (भात), करम्भक (सत्तु), मण्डक (चपाती), खाद्य (खाजा), अपूपिका (मालपुष्पा), मर्मराल (पापड़), वटक (वड़ा), तीमन (कढ़ी), इड्डुरिका (पूरी), मोदक (लड्डू) आदि भोज्य पदार्थों के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। मांस भक्षण एवं मदिरापान तत्कालीन समाज में प्रचलित था परन्तु जैन धर्मावलम्बी उनसे परहेज करते थे। वेश-भूषा के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के सिले हुए वस्त्रों की चर्चा आयी है। स्त्रियाँ सौन्दर्य प्रसाधन एवं आभूषणों की विशेष शौकीन होती थीं। उत्तरीय (ऊपरी वस्त्र), अन्तरीय (अधोवस्त्र), अंशुक

(साड़ी), कंचुक (चोली) आदि स्त्रियों के लोकप्रिय वस्त्र थे। आभूषणों की संख्या बढ़ती जा रही थी। स्त्रियों के भङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहने जाने वाले लगभग ३५ आभूषणों का विवेचन किया गया है। आलोच्य काल में स्त्री-भोगविलास के मूल्यों से भी आभूषणों की संख्या व स्तर में वृद्धि होती जा रही थी। अधिकाधिक आभूषणों को धारण करना शान मानी जाती थी। स्वर्ण एवं रजत निमित्त आभूषणों के अतिरिक्त बहुमूल्य भण्ड, रत्नों आदि से निमित्त आभूषणों को उच्चवर्ग की स्त्रियाँ धारण करती थीं। आभूषणों का यह वैभव तत्कालीन राज-परिवारों एवं धनाढ्य वर्ग के लोगों की अपार समृद्धि का द्योतक है।

धार्मिक जन-जीवन एवं दार्शनिक मान्यताएं

(क) धार्मिक जन-जीवन

‘धर्म’ को सामाजिक अनुप्रेरणा

सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ‘धर्म’ का नियन्त्रण एक प्रभावशाली नियंत्रण स्वीकार किया जाता है। प्रायः जिन सिद्धान्तों का हम दैनिक जीवन में पालन करते हैं तथा जिनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो पाते हैं उन्हें ‘धर्म’ की संज्ञा दी गई है।^१ पाश्चात्य ‘Religion’ शब्द की निरुक्ति परक व्याख्या से भी यह ज्ञात होता है कि मानवीय एवं दैवी स्तर पर भावनात्मक सम्बन्ध को सुदृढ़ करने में ‘धर्म’ की विशेष भूमिका होती है।^२ भारतीय संस्कृति में ‘धर्म’ को जागतिक धारण शक्ति के रूप में भी परिभाषित किया गया है।^३ समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि में यदि ‘धर्म’ के स्वरूप का अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यद्यपि इसकी परिभाषाएं समय के अनुसार बदलती रही हैं तथापि सभी समाजशास्त्री ‘धर्म’ को सामाजिक नियंत्रण का एक प्रभावशाली माध्यम स्वीकार करते आए हैं।^४ इस नियंत्रण में किसी राजा आदि का भय न होकर ईश्वरीय भय विद्यमान रहता है। धर्म के द्वारा ही सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन, शिक्षा का प्रचार, चिकित्सा तथा सेवा, दान तथा त्याग की भावना, सहिष्णुता-भाव, ग्रहिता एवं विश्व-बन्धुत्व

१. ‘The principles which we have to observe in our daily life and social relations are constituted by what is called ‘dharma’.

—Radhakrishnan, S. Religions & Society, p. 104

२. ‘Religion’ is a European word and it came from the root, ‘big’ to bind, so that ‘religio’ meant a ‘relationship i.e. a communication between the human and the superhuman’.

—Bonquet, A.C. Comparative Religion, 1951, p. 15.

३. दयानन्दभागीव, ‘धर्म शब्द का अर्थ’ (निबन्ध) दार्शनिक त्रैमासिक कानपुर, जनवरी १९६६, पृ. ३३

४. Roucek, Social Control, p. 101

का प्रसार आदि समाजोपयोगी कार्य सम्पादित हो पाते हैं तो दूसरी ओर अन्ध-विश्वास, रुढ़िवाद, शोषण, संकुचितता, हिंसा, युद्ध, धृष्टता तथा वैमनस्य आदि सामाजिक विसङ्गतियाँ भी 'धर्म' के नाम पर जनपते लगती हैं। निःसन्देह इन सामाजिक बुराईयों का मूल कारण 'धर्म' न होकर उसकी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति है। वस्तुतः समाज में किसी भी प्रकार की धार्मिक रुढ़ियाँ जब किसी 'संस्था' या 'सम्प्रदाय' का रूप धारण कर लेती हैं तो उनमें इस प्रकार की त्रुटियों के आने की संभावना रहती ही है। वैदिक धर्म, जैन धर्म बौद्ध धर्म आदि सभी धर्मों का इतिहास इसका साक्षी है। वास्तव में धर्म शाश्वत और परिवर्तनशील मूल्यों की परिधि में रहकर ही अपना विकास कर पाता है। प्रत्येक धर्म को अपनी मौलिक प्रवृत्तियों से हटकर भी समाज मूल्यों को प्रश्रय देना ही पड़ा है। जैन धर्म का भी इस दृष्टि से मूल्याङ्कन किया जाए तो हम देखते हैं कि परवर्ती काल में जैन युग चिन्तकों ने वैदिक संस्कृति की अनेक मान्यताओं को सैद्धान्तिक विरोध के बावजूद भी स्वीकार किया। जैन महाकाव्यों के काल में जैन धर्म एक नए समाजशास्त्र को लेकर सामने आया जिसके कारण सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से जैन धर्म को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। दूसरी ओर बौद्ध धर्म वैदिक संस्कृति के साथ कोई समझौता न कर सकने के कारण अपनी सामाजिक लोकप्रियता को उत्तरोत्तर खोता चला गया।

हिन्दू धर्म जैसे शक्तिशाली धर्म को भी समय-समय पर अपने धार्मिक मूल्यों को परिवर्तित करना पड़ा है। वेद तथा ईश्वर विरोधी बुद्ध भी गुप्तकाल में राम, कृष्ण आदि के समकक्ष अवतार के रूप में स्वीकार कर लिए गए।^१ बौद्धानुयायियों को आकर्षित करने तथा हिन्दू धर्म के बौद्ध विरोध को समाप्त करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। जैन धर्म के 'अहिंसा' सिद्धान्त का भी ब्राह्मण संस्कृति पर विशेष प्रभाव पड़ा।^२

प्रस्तुत अध्याय में इसी समाज सापेक्ष दृष्टि को महत्व देते हुए जैन धर्म की वैचारिक पृष्ठभूमि सहित जन-सामान्य की विविध धार्मिक गतिविधियों, व्रताचरण, पूजा-पद्धतियों, मन्दिर-तीर्थ स्थानों एवं विविध धार्मिक उत्सव महोत्सवों आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही जैनधर्म धार्मिक जनजीवन पर अपेक्षित चर्चा प्रस्तुत की गई है। धर्मप्रभावना की अपेक्षा से आध्यात्मिक साधना एवं पौराणिक तथा दार्शनिक मान्यताओं को भी दिशा निर्देशक भूमिका रहती है। इसी उद्देश्य से जैन मुनिधर्म, तपश्चर्या, जैन देवशास्त्र, एवं तत्कालीन जैन एवं जैनधर्म दार्शनिक प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट किया गया है।

१. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० ४-७, १६-२१

२. कैलाश चन्द्र, दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृ० १६३

१. जैन धर्म : समाजोन्मुखी मूल्य एवं परम्पराएं

जैन संस्कृत महाकाव्यों का युग एक ऐसा संक्रान्ति युग था जिसमें धार्मिक और दार्शनिक मूल्यों को नवीन दिशा दी जा रही थी। रविघेरा, जिनसेन, सोमदेव आदि जैनाचार्य एक नए सिरे से जैन धर्म की आचार संहिता को वैचारिक आधार दे रहे थे तो दूसरी ओर जटासिंह नन्दि जैसे आचार्य भी थे जो ब्राह्मण संस्कृति की समग्र व्यवस्था पर ही चोट करने में लगे हुए थे। सर्वविदित है कि जाति-व्यवस्था, वैदिक कर्मकाण्ड और उनमें होने वाली हिंसा आदि के विरुद्ध भगवान् महावीर ने एक वैचारिक आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम स्वरूप वैदिक संस्कृति की लोकप्रियता को भारी आघात पहुंचा। परन्तु भगवान् महावीर निर्वाण के एक हजार वर्षों बाद जैन धर्म की अपनी संधीय स्थिति विघटित हो चुकी थी और साथ ही हिन्दु धर्म में भी भागवत धर्म के उदय से बलिप्रधान यज्ञों का स्थान अब फल-पुष्प-तोय की पूजा पद्धति ने ले लिया था। ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म के बीच इस अवधि में इतना आदान-प्रदान हो चुका था कि दोनों धर्मों के युगाचार्यों को नए धार्मिक मूल्यों को अपनाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इससे ब्राह्मण संस्कृति तथा जैन संस्कृति के मध्य पारस्परिक कटुता में पर्याप्त कमी आई। वैदिक संस्कृति ने अहिंसा के मूल्य को अङ्गीकार किया तो जैन संस्कृति ने भी वैदिक संस्कृति की अनेक समाजशास्त्रीय एवं देवशास्त्रीय आस्थाओं को अपनी धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी। परन्तु इसके साथ ही जैन धर्म जहाँ राजनैतिक संरक्षण में अपनी लोकप्रियता की ऊँचाइयों को छू रहा था वहाँ जटासिंह नन्दि जैसे दार्शनिक आचार्य ब्राह्मण संस्कृति की कटु आलोचना में विशेष रुचि भी ले रहे थे।

ब्राह्मण व्यवस्था के सिद्धान्तिक विरोध का समाजशास्त्र

जटासिंह के समय में कर्नाटक में जैन धर्म अपने उत्कर्ष पर था और वहाँ ब्राह्मण संस्कृति का कट्टर विरोध भी किया जाता था। सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० में कर्नाटक जैनधर्म की गतिविधियों का विशेष केन्द्र बना हुआ था। जटासिंह नन्दि के वराङ्गचरित महाकाव्य में कर्नाटक के जैन-वैभव का विलक्षण चित्रण हुआ है। यह स्वाभाविक ही है कि जटासिंह नन्दि के सामने ब्राह्मण संस्कृति के मूल्यों के साथ समझौता करने की कोई समाजशास्त्रीय परिस्थितियाँ नहीं थीं। जैन धर्म की इसी राजनैतिक प्रभुता से प्रेरणा पाकर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, वेद-प्रामाण्य, पुरोहितवाद, वैदिक कर्मकाण्ड, देवोपासना आदि की अन्धरूढ़ियों का उपहास उड़ाते हुए ब्राह्मणवाद के अनुयायियों के समक्ष अनेक तार्किक चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। यद्यपि हम यह भी देख सकते हैं कि स्वयं जैन संस्कृति द्वारा ही सिद्धान्ततः वैदिक संस्कृति की परम्पराओं को स्वीकार करना पड़ा और भागवत

धर्म की सुधारवादी लहर ने भी पुरातन वैदिक कर्मकाण्डों एवं बलिप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाई। परन्तु जटासिंह नन्दि द्वारा दिए गए ब्राह्मण संस्कृति के विरोधी स्वर इस तथ्य के महत्वपूर्ण प्रमाण हैं कि महाकाव्यों के समय में ब्राह्मण संस्कृति की कमजोरियों को कैसा वैचारिक रूप दिया गया था ? समाज में व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वासों और पौरोहित्यवाद के बंगुल में फंसी ब्राह्मण-व्यवस्था की किन तकों के आधार पर विरोधी वर्ग द्वारा आलोचना की जाती थी ? जटासिंह नन्दि कृत बराज्जचरित के सन्दर्भ में इनकी स्थिति इस प्रकार है—

(क) वर्ण-व्यवस्था का विरोध

जटासिंह नन्दि का मत है कि मनुष्य जाति एक होने के कारण उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्गों में विभक्त कर विषमता लाना प्रमाणों एवं नयों की दृष्टि से भी सर्वथा अनुचित है।^१ उनका कहना है कि सत्युग में किसी प्रकार का वर्ण विभाजन नहीं था किन्तु त्रेता युग में कुछ स्वार्थी लोगों ने अपनी सेवा कराने के उद्देश्य से भृत्यवर्ग की नींव डालने के लिए ही वर्ण-व्यवस्था का विधान किया था।^२ रङ्ग की दृष्टि से ब्राह्मणादि का विभाजन करना भी सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि व्यवहार में यह देखा जाता है कि ब्राह्मण चन्द्र-किरणों के समान श्वेत नहीं होते, क्षत्रिय भी किशुक पुष्प के समान गौरवर्ण नहीं होते, वैश्य हरिताल पुष्प के समान हरे रङ्ग के नहीं होते तथा शूद्र भी कोयले के समान कृष्ण वर्ण के नहीं होते हैं।^३ त्वचा, मांस, रक्त, मज्जा, हड्डी आदि से; चलने, उठने, बैठने आदि से तथा रङ्गरूप, केशादि से सभी वर्णों में समानता है। इसलिए मनुष्य जाति के एकत्व को वर्ण-विभाजन द्वारा नष्ट करना सर्वथा अनुचित है।^४

१. असत्यैक एवात्र यदि प्रजानां कथं पुनर्जातिचतुष्प्रभेदः।

प्रमाणदृष्टान्तनयप्रवादैः परीक्ष्यमाणो विषटामुपैति ॥

—बराज्ज०, २५.२

२. कृते युगे नास्ति च वर्णभेदस्त्रेताप्रवृत्तावयवाथ भृत्यम्।

—वही, २५.६

३. न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किशुकपुष्पगौराः।

न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः ॥

—वही, २५.७

४. पाद प्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन।

त्वग्मांसमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुःप्रभेदाश्च कथं भवन्ति ॥

—वही, २५.८

(ख) जाति-व्यवस्था का विरोध

हिन्दू धर्म में प्रचलित महत्वपूर्ण गोत्रों के सम्बन्ध में भी वराङ्गचरितकार ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उनकी मान्यता है कि कौशिक, काश्यप, गौतम, कौण्डिन्य, माण्डव्य, वसिष्ठ, आत्रेय, कौत्स, आङ्गिरस, मार्ग्य, मौद्गल्य, कात्यायन, भार्गव आदि गोत्रों का आधार भी पक्षपातपूर्ण है। विश्वामित्र, अत्रि, कृत्स आदि ऋषियों के वंश को विख्यात करने^१ तथा अपने परिवार का महत्व बढ़ाने के निमित्त से विभिन्न व्यक्तियों के नाम पर प्रचलित इन अनेक गोत्रों अथवा जातियों का आधार भी वर्ण-व्यवस्था के समान ही दोषपूर्ण माना गया है।^२

(ग) वेद-प्रामाण्य का विरोध

वेदों को प्रमाण मानने वाले लोगों के प्रति जहासिह का कहना है कि वेदों को प्रमाण मानकर उनमें निर्दिष्ट यज्ञ विधानों का अनुसरण करने से पशुबलि की हिंसा का पाप लगता है।^३ कालान्तर में निरपराध प्राणियों की हिंसा करने से उदित हुए कर्मफल से नरकादि एवं विभिन्न प्रकार की यातनाओं को भोगना पड़ता है। फलतः वेदों को प्रमाण मानना किसी भी रूप में उचित जाव नहीं पड़ता है।^४ यज्ञावसर पर मारे गए पशु का सीधे स्वर्ग चले जाने के कारण कोई पाप नहीं लगता आदि मान्यताओं को धूर्त एवं दुराचारी मनुष्यों की उक्ति माना गया है।^५ यदि यह सत्य कथन होता तो सर्वप्रथम यज्ञकर्ता अपने सम्बन्धियों को यज्ञ की बलि चढ़ाकर स्वर्ग पहुँचा बैठे।^६ उधर यशस्तिलकार स्वयं जैनमतावलम्बी होते हुए भी

१. ये कौशिकाः काश्यपगौतमाश्च कौण्डिन्यमाण्डव्यवसिष्ठगोत्राः ।

आत्रेयकौत्साङ्गिरसाः सगार्ग्या मौद्गल्यकात्यायनभार्गवाश्च ॥

—वराङ्ग०, २५.५

२. गोत्राणि नानाविधजातयश्च मातृस्नुषामैथुनपुत्रभार्याः ।

वैवाहिकं कर्म च वर्णभेदः सर्वाणि चैक्यानि भवन्ति तेषाम् ॥

—वही, २५.६

३. वेदाः प्रमाणं यदि यस्य पुंसस्तेन ध्रुवो यज्ञविधिस्त्वभीष्टः ।

हिंसानुबन्धाः खलु सर्वयज्ञाः हिंसा परप्राणिविहिंसनेन ॥

—वही, २५.१२

४. वराङ्ग०, २५.१३-१४

५. यज्ञे वधे नैव वधोऽस्ति कश्चिद्ब्रह्मो ध्रुवं याति सुरेश्वलोकम् ।

इदं वचो धूर्तवितस्य वेद्यं दयोपशान्तिश्च्रुतिवर्जितस्थ ॥

—वही, २५.१४

६. वही, २५.१५-१६

वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। सोमदेव ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हुए लौकिक एवं पारलौकिक दो प्रकार के गृहस्थ धर्म को स्वीकार कर लौकिक धर्म के अन्तर्गत वेदों को प्रमाण माना है।^१ सम्भवतः सोमदेव धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में जैन धर्म को एक उदार धर्म के रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु जटासिंह ब्राह्मण सस्कृति के घोर विरोधी होने के कारण उसके साथ सिद्धान्तः कोई समझौता नहीं कर पाए।

(घ) पुरोहितवाद का विरोध

वैदिक युग में ही ब्राह्मणों एवं क्षत्रिय राजकुमारों अथवा राजाओं के मध्य वर्ग-संघर्ष की स्थिति आ गई थी। इसी समय जैन एवं बौद्ध विचारधाराओं के बल पकड़ने और ब्रह्मविद्या के प्रचार से ब्राह्मणों के प्रभुत्व को भारी धक्का पहुंचा था।^२ भुक्तकाल के स्वर्णयुग में हिन्दू धर्म का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ तथा पुनः भारतवर्ष में पुरोहितवाद को विशेष शक्ति मिली। अनुस्मृति आदि ग्रन्थों में ब्राह्मण वर्ग की पवित्रता एवं उत्कर्षता प्रतिपादित करने की कोई कसर शेष न रही थी। पुरोहितवाद के इस महान् अभ्युदय की स्थिति का ज्ञान जैन संस्कृत महाकाव्यों से भी होता है। किन्तु जटासिंह नन्दि जैसे ब्राह्मण विरोधी व्यक्तित्वों ने पुरोहितवाद की त्रुटियों को सामने लाकर उनकी पर्याप्त आलोचना की है।^३ उनका कहना है कि ब्राह्मण अत्यन्त लोभी होते हैं तथा अपने यजमानों के पुण्य संचय के नाम पर फल, सुगन्ध, वस्त्र, भोजन आदि पदार्थों को स्वयं ले लेते हैं।^४

(ङ) देवोपासना का विरोध

वराहचरित के अनुसार लभभग सातवीं-आठवीं शताब्दियों में ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत पुराणसम्मत देवोपासना का बहुत अधिक प्रचलन हो गया था। इन

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः । तथा
श्रुतिर्वेदमिह प्राहुर्यमशास्त्रं स्मृतिर्मता ॥
—यशस्तिलक, पृ० २७३, २७८
२. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण,
पृ० ८६-८७
३. ये निग्रहानुहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः ।
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवस्त्युत्तमजातयस्तैः ॥
—वराह०, २५.३३
४. पत्राणि पुष्पाणि फलानि गन्धान्वस्त्राणि नानाविधभोजनानि ।
संगृह्य सम्यग्बहुभिः समेताः स्वयं द्विजा राजगृहं प्रयान्ति ॥
—वही, २५.२६

देवताओं में ब्रह्मा,^१ विष्णु,^२ शिव,^३ अग्नि,^४ इन्द्र,^५ कार्तिकेय,^६ सूर्य^७, आदि देवताओं की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी। जटार्सिंह नन्दि ने ब्राह्मण व्यवस्था से सम्बद्ध देवताओं के देवत्व की आलोचना की है।^८ तथा इनकी उपासना को अनुचित ठहराया है। तत्कालीन समाज में गोपूजा का विशेष प्रचलन रहा था।^९ गाय के दूध, घी, आदि को भी पवित्र मानकर देवताओं और पितरों को चढ़ाया जाता था।^{१०} ब्राह्मणों के लिए गोदान करने से देवता आदि प्रसन्न होते हैं तथा दान-कर्त्ता को अभीष्ट वस्तुएं प्राप्त होती हैं, आदि—धार्मिक मान्यताएं तत्कालीन समाज में विशेष रूप से प्रचलित थीं।^{११} किन्तु जटार्सिंह गाय को धार्मिक प्रतीक के रूप में नहीं मानते। उन्होंने खेद प्रकट किया कि सवारी करने, भार लादने, बल प्रयोग द्वारा दुही जाने, दमन करने आदि अभद्र व्यवहारों द्वारा गाय को कितनी भयङ्कर यातनाएं सहनी पड़ती थीं। वे कहते हैं कि धार्मिक दृष्टि से पवित्र माने जाने वाली गाय के साथ किए जाने वाले इन दुर्व्यवहारों को देखते हुए भी इसके देवत्व की भला कहीं तक रक्षा की जा सकती है ?^{१२}

जैन धर्म की समन्वयमूलक समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियां

जैन संस्कृत महाकाव्यों के समय से प्रारम्भ होने वाले युग में जैन धार्मिक परिस्थितियों को एक नया मोड़ दे दिया गया था। रविषेण के पद्मचरित (७वीं शताब्दी) तथा उसके बाद निर्मित होने वाले आदिपुराण आदि ग्रन्थों से यह प्रतीत

१. वराह्म०, २५.७६, जयन्त ११

२. वराह्म०, २५.७७-७८

३. वही, २५.७४

४. वही, २५.७५

५. वही, २५.७६

६. वही, २५.७६

७. वही, २४.३६

८. वही०, २५.७४-७६

९. वही, २५.७४-७६

१०. वही, २५.६०

११. वही. २५.६१

१२. आरोहवाहस्य घनप्रतोदं प्रदोहवाहो दमनक्रियाभिः।

प्रपीडिताः क्लेशगणान्भजन्ते देवसिंघातमुखानि तेषाम् ॥

—वही, २५.६२

होना है कि जैनाचार्य जैन धर्म को एक ऐसा उदार एवं लोकप्रिय धर्म बनाना चाहते थे जिससे ब्राह्मण संस्कृति के अनुयायी भी आकर्षित हो पाएं तथा जैन समाज के मौलिक तत्त्वों में भी किसी प्रकार का विरोध न आए।^१ सर्वप्रथम जैनाचार्यों ने 'प्राकृत' की ओर से अपना ध्यान हटाकर 'संस्कृत' को सम्पर्क भाषा के रूप में चुना। पूर्ववर्ती जैन साहित्य का लगभग सम्पूर्ण अंश प्राकृत में ही उपलब्ध होता है किन्तु रविषेण के 'पद्मचरित' की रचना के बाद अधिकांश धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे जाने लगे।^२ भाषा सम्बन्धी यह उदारता जैन धर्म की लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा कारण बनी। इतना ही नहीं जैनाचार्यों ने ब्राह्मण संस्कृति में प्रचलित अनेक धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था के साथ भी अनेक प्रकार के समझौते किए। वर्णव्यवस्था, पूजा-पद्धति, वेद-प्रामाण्य आदि, ब्राह्मण-संस्कृतिजन्य मूल्यों पर अब नए ढङ्ग से सोचा जाने लगा था और उन्हें उदारता से स्वीकार भी कर लिया गया था। संभवतः जैन दार्शनिकों द्वारा तर्कशास्त्र के क्षेत्र में 'अनेकान्तवाद' की जो नवीन अवतारण हुई^३ उसी की अनुप्रेरणा से ६वीं-१०वीं शताब्दी के जैन युगचिन्तकों ने जैन धर्म को सामाजिक दृष्टि से लोकप्रिय बनाने में विशेष रुचि ली।

प्रारम्भिकावस्था में वर्ण-व्यवस्था का जैन धर्म सिद्धान्ततः विरोध करता था किन्तु वर्ण-व्यवस्था की सामाजिक लोकप्रियता को देखते हुए^४ नवीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन ने इसका जैनीकरण कर दिया। फलतः बदली हुई परिस्थितियों में वर्ण-व्यवस्था जैसी सामाजिक व्यवस्था का जैन लोग विरोध भी नहीं कर सकते थे।^५ यही कारण था कि दसवीं शताब्दी में यशस्तिलककार को विवश होकर जैतानुमोदित वर्णव्यवस्था की तथा श्रुति-स्मृतियों को प्रमाण मानने आदि की संशोधित मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ा था।^६ दूसरे शब्दों में धर्म की सामाजिक प्रासङ्गिकता की दृष्टि से जैनाचार्यों द्वारा किए गए इस प्रकार के परिवर्तन एवं संशोधन जैन धर्म की लोकप्रियता के लिए प्रभावशाली उपाय

१. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, १९६७, पृ० ५६-६०
२. देवेन्द्र मुनि, साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, १९७०, पृ० ५७
३. दलमुख मालवगिरि, जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा, बनारस, १९५२, पृ० ५
४. वराह्मण, १.५१
५. महापुराण, १६.३४३-४६, ऋग्वेद १०.६०.१२
६. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७१-७२

थी। वैदिक संस्कृति तथा जैन संस्कृति के मध्य घोर कट्टरता की जो रेखा बराज़्जकरित जैसे ग्रन्थों में दिखाई देती है, ७वीं से १०वीं शताब्दी तक उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ चुके थे। रविषेणाचार्य ने वर्णव्यवस्था सम्बन्धी जैन मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए कहा कि ऋषभ देव ने सामाजिक दायित्वों की रक्षा करने के लिए रक्षा कार्यों में क्षत्रियों को, वाणिज्य तथा कृषि कर्म में वैश्यों को तथा हीन कार्यों के लिए शूद्रों को नियुक्त किया था।^१ ब्राह्मणों के विषय में रविषेणाचार्य का कथन था कि ऋषभदेव के पुत्र भरत ने व्रत आदि सम्पादन करने के लिए श्रावकों का जो पृथक् वर्ग बनाया था, उसे ही ब्राह्मण वर्ग मानना चाहिए।^२ इनसे कुछ परवर्ती आचार्य जिनसेन मनुष्य जाति को एक मानते हुए भी आजीविका के भेद से उसे चार भागों में विभक्त करते हैं।^३ उनके अनुसार व्रत-संस्कारादि से ब्राह्मण, शस्त्र-धारण से क्षत्रिय, धनार्जन से वैश्य तथा निम्न वृत्ति से शूद्र बने।^४

जैनाचार्यों का वर्णव्यवस्था सम्बन्धी उपर्युक्त विभाजन पूर्णतया ऋग्वेदोक्त वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप है तथा ब्राह्मण संस्कृति के स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित मान्यताओं से विपरीत नहीं कहा जा सकता है।^५ वास्तव में रविषेण द्वारा वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताओं की जो नवीन दिशा दे दी गई थी जिनसेन आदि आचार्य उनका विरोध नहीं कर सकते थे और ऐसा करना तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल भी नहीं था। इस सम्बन्ध में डा० गोकुल चन्द्र जैन ने ठीक ही कहा है कि “जिनसेन के करीब सौ वर्ष बाद सोमदेव हुए। वे यदि विरोध करते तो भी सामाजिक जीवन में से उन मान्यताओं को पृथक् करना सम्भव न था। इसलिए यशस्तिलक में उन्होंने यह चिन्तन दिया कि गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का है—लौकिक तथा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रित है तथा पारलौकिक आगमाश्रित, इसलिए लौकिक धर्म के लिए वेद (श्रुति) और स्मृति को प्रमाण मान लेने में कोई हानि नहीं है।”^६

१. पृष्ठ०, ३.२५५-५८

२. वही, ४.६६-१२२

३. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवः।

वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्छातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ आदि०, ३८.४५

४. ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।

वणिजोऽर्थार्जनान्याय्यात्शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥

—आदि०, ३८.४६

५. तु०—ऋग्वेद, १०.६०.१२, तथा मनु० १.८७-६१

६. गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५६

आलोच्य युग में जैन धर्म की राजनैतिक लोकप्रियता

६३४-३५ ई० के ऐहोल शिलालेख से ज्ञात होता है कि चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय में दक्षिण भारत में जैन धर्म उत्कर्ष की स्थिति पर था ।^१ पल्लवराज सिंह वर्मन (४३६ ई०) के राज्यारोहण के काल से लेकर कल्याणी के चालुक्य तैलप द्वितीय द्वारा राष्ट्रकूटों के पतन (९७३ ई०) तक अनेक अन्तरालों में जैन धर्म राजधर्म के रूप में भी प्रतिष्ठित हुआ था ।^२ पल्लवकाल में कांची जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था । आचार्य समन्तभद्र, भट्ट अकलङ्क आदि प्रमुख जैन नैयायिक कांची से ही सम्बद्ध थे । कांची में उपलब्ध विष्णु-कांची तथा शिव-कांची के अतिरिक्त जिन-कांची (निरुपकृति-कुन्नुम्) के अवशेषों से ज्ञात होता है कि शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के उत्कर्ष से पहले कांची जैन धर्म का भी प्रमुख केन्द्र रहा होगा । नवीं शताब्दी में पल्लव वंश के पतन के बाद चोल राजाओं ने अनेक जैन मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक केन्द्रों को नष्ट भी किया था ।^३

जैन धर्म के प्रचार व प्रसार के महत्वपूर्ण केन्द्र उज्जयिनी, मथुरा, तथा वलभी आदि भी थे ।^४ सातवीं-आठवीं शताब्दी में कर्नाटक में जैन धर्म राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित था । वर्धमानचरितकार असग भी कर्नाटक में रहते हुए ही साहित्य साधना कर पाए थे । डा० एन० एन० उपाध्ये महोदय के अनुसार वराङ्ग-चरितकार जटासिंह नन्दि (सातवीं-आठवीं शताब्दी ई०) के समय में कर्नाटक में जैन धर्म की स्थिति बहुत अच्छी थी ।^५ उस समय कर्नाटक में ब्राह्मण-धर्म की स्थिति अच्छी नहीं थी तथा जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था ।

१२वीं १३वीं-शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र तथा राजा कुमारपाल के समय में गुजरात जैन धर्म का विशेष केन्द्र था । चालुक्य काल के ही राजा वीरधवल के समय में महामात्य वस्तुपाल तथा तेजपाल द्वारा की गई जैन धर्म की सेवाओं को भी नहीं भुलाया जा सकता है । संक्षेप में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय से लेकर जैन धर्म उत्तरोत्तर वृद्धि पर रहा था । अनेक दानपत्रों से ज्ञात होता है कि चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य, तथा विक्रमादित्य ने जैन आचार्यों को अनेक भूमिदान भी दिए थे । पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने कन्नड

१. Epigraphia Indica, Vol. 8, p. 7.

२. वराङ्गचरित, खुशाल चन्द गोरावाला, भूमिका, पृष्ठ ३२

३. वही, पृ० ३३

४. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ५१५

५. वराङ्गचरित ए० एन० उपाध्ये, भूमिका, पृ० ३६

भाषा के जैन कवि रत्न को राज्याश्रय भी दिया।^१ इस प्रकार भारत में जैन धर्म विशेष प्रगति पर था तथा आलोच्य युग में गुजरात, राजस्थान के कुछ भाग तथा दक्षिण भारत के अनेक क्षेत्रों में जैन धर्म का विशेष प्रचार व प्रसार हुआ था। इस धर्म प्रचार में पल्लव, गुर्जर, राष्ट्रकूट, कदम्ब, होयसल, चालुक्य आदि राजवंशों का विशेष योगदान रहा है।^२

२. जैन गृहस्थ धर्म एवं व्रताचरण

जनानुमोदित 'धर्म' का स्वरूप

जैन संस्कृत महाकाव्यों में 'धर्म' शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है। प्रद्युम्नचरित के अनुसार 'धर्म' मनुष्य को दुर्गति से बचाता है तथा जगत् में प्राणियों की स्थिति का कारण भी है।^३ अनेक महाकाव्यों में धर्म को ही मात्र सच्चा मित्र माना गया है जो मनुष्य जीवन को सोद्देश्य तथा सफल बना पाता है।^४ दूसरे शब्दों में माता, पिता, भाई, बन्धु आदि सम्बन्ध 'धर्म' के सामने असहाय तथा फीके पड़ जाते हैं।^५ विभिन्न उपमानों का आश्रय लेकर कवियों ने सांसारिक व्यवहारों से तुलना करते हुए इसे कभी मछलियों की गति के लिए जल की भाँति, दीर्घ तथा दुर्गम यात्रा के लिए पाथेय की भाँति स्वीकार किया है,^६ तो कभी दुर्भेद्य कवच, समुद्रस्थ नौका तथा अचूक औषधि मानते हुए धर्म के लोकोत्तर स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।^७ जैन कवियों ने धर्म को ऐसे वृक्ष के समान भी माना

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ५१७

२. द्रष्टव्य—Ayyangar M.S.R., & Rao, B.S., Studies in South Indian Jainism, p. 111; Rice, B. L. Mysore and Coorg From the Inscriptions, London, 1909, p. 203; Moraes, G.M., The Kadamba Kula, p. 35.

३. पततो दुर्गंतो यस्मात्प्राणिनो धारयत्यसौ।

तेनान्वर्थो जगत्प्रेष धर्मः सदिर्भनिगच्छते ॥ —प्रद्यु०, ६.५७

४. वराङ्ग०, १५.७८, प्रद्यु०, ६.६६

५. कस्य माता पिता कस्य कस्य भार्या सुतोऽपि वा।

जातो जातो हि जीवानां भविष्यन्ति परे परे ॥

—वराङ्ग०, १५.७८

६. धर्म०, २१.८३, प्रद्यु०, ६.६५

७. प्रद्यु०, ६.६४

है जो दर्शन रूपी जल से सींचा गया है तथा स्वर्गफलदायी एवं इन्द्रियसुखकर है।^१ इन सभी परिभाषाओं में 'धर्म' का स्वरूप लोकोत्तर दृष्टिगोचर होता है। आचारपरक दृष्टि से भी 'धर्म' का स्वरूप उद्घाटित किया गया है। शान्तिनाथ-चरित में धर्म के चार प्रकार कहे गए हैं—(१) दान (२) शील (३) तप तथा (४) भावना।^२ चतुर्विध धर्म की यह व्याख्या जैन धर्म में विशेष रूप से लोकप्रिय हुई है।^३ आचार्य हेमचन्द्र सूरि द्वारा राजा कुमारपाल को धर्म का जो स्वरूप समझाया गया था उसमें भी धर्म के ये ही चार भेद कहे गए हैं।^४ वराह्मचरितकार 'धर्म' को दया के बिना अपूर्ण मानते हैं।^५ यशस्तिलक चम्पू में धर्म को लौकिक एवं पारमार्थिक इन दो भागों में बांटा गया है। इस प्रकार जैन धर्म का क्षेत्र लौकिक कर्मकाण्ड तथा पारलौकिक तप-साधनाओं तक व्याप्त है जिसमें गृहस्थों तथा मुनियों की धार्मिक दिनचर्या आदि भी समाहित है। संक्षेप में चतुर्विध धर्म-भेदों में दान के अन्तर्गत करुणा, दान, दया आदि त्यागपरक मानव मूल्य आते हैं। शील के अन्तर्गत पंचाणुव्रत, विचारसमन्वय, संयम आदि नैतिक एवं आचार सम्बन्धी जीवन मूल्य निहित हैं। तप द्वारा आत्म-विकास एवं आत्मशुद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। भावना के द्वारा राग-द्वेष, आदि दुर्भावनाएं समाप्त होती हैं। धर्म के इसी स्वरूप एवं परिधि को लक्ष्य कर जैन धर्म पर प्रकाश डाला गया है।

द्विविध धर्म--'सागार' एवं 'अनागार'

जैन धर्म को आचार, व्रत आदि दृष्टियों से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।^६ (१) सागार धर्म तथा (२) अनागार धर्म।^७ सागार धर्म का विधान गृहस्थों के लिए है तो अनागार धर्म की व्यवस्था मुनियों के लिए हुई

१. स्वर्गसौख्यफलं स्वादु सर्वेन्द्रियसुखावहम्।

धर्मद्रुमः फलत्येव सित्तो दर्शनवारिरणा ॥ —प्रबु०, ६.६२

२. दानं सुपात्रविषये प्रतिपादनीयं, शीलं विशदं परिपालनीयम्।

तप्यं तपश्च शुचि भावनया समेतं, धर्मं चतुर्विधमुदाहृतवाञ्छिनेशः।

—शान्ति०, ३.३६ तथा, पद्मा०, २.१७६

३. पद्मा०, २.१७७

४. Sheth, C.B., Jainism in Gujarat, Bombay, 1953, p. 72.

५. वराह्म०, १५.१०७ तथा—

धर्मक्रियाया हि दयैव मूलं। —वही, २५.२६

६. वर्ष०, १२.४७, धर्म०, २१.१२४

७. सागारिकोऽणुव्रतभेदमिन्तऽनागारिकः ख्यातमहाव्रतश्च।

—वर्ध०, १२.४८

है।^१ समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर गृहस्थों के लिए विहित 'सागार धर्म' अथवा 'लौकिक धर्म' का 'अनागार' अथवा 'पारलौकिक' धर्म से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। प्रायः गृहस्थ धर्म ही समाज के व्यापक घरातल में अनुस्यूत रहता है जबकि साधु धर्म अत्यधिक दुष्कर एवं क्लिष्ट होने के कारण सामान्य व्यवहार से कुछ भिन्न हो जाता है। मुनि नथमल जी की जैनधर्म के विषय में यह भी धारणा रही है कि धर्म जो आत्मगुण है, को परिवर्तनशील समाज व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुवरूप विकृत हो जाता है।^२

पुरुषार्थ सिद्धधुपाय के लेखक आचार्य अमृतचन्द्र के मतानुसार साधु-धर्म ही जैन धर्म का वास्तविक स्वरूप था। फलतः इसी धर्म का प्रचार व प्रसार करना समुचित था तथा गृहस्थ धर्म का उपदेश देना ठीक नहीं समझा जाता था।^३ परवर्ती काल में परिस्थितियाँ बदलती गईं, अब आवाकाचारों की अधिकाधिक रचना होने लगी थी।^४ परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति आई कि गृहस्थ धर्म अत्यधिक लोकप्रिय होने लगा और मुनि-धर्म कुछ फीका सा पड़ने लगा था। आलोच्य महाकाव्यों के युग में गृहस्थ धर्म उत्कर्ष पर था किन्तु मुनि-धर्म की स्थिति भी अच्छी रही थी।

सागार धर्म एवं अनागार धर्म में अन्तर

सागार धर्म एवं अनागार धर्म स्वरूप एवं उद्देश्य की दृष्टि से भिन्न भिन्न रहे हैं। सागार धर्म लौकिक विधियों पर आधारित होने के कारण गृहस्थों (आवकों) के लिए है किन्तु अनागार धर्म पारलौकिक दृष्टि से साधुओं के लिए होता है।^५ सागार धर्म का मुख्य फल स्वर्ग प्राप्ति एवं सुख-ऐश्वर्य भोग है तो अनागार धर्म का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है।^६ सागार धर्म के अन्तर्गत जिन-पूजा, मन्दिर स्थापना आदि कर्मकाण्डों के अतिरिक्त उपदेश-श्रवण, दान एवं 'अणुव्रतों' के पालन करने आदि पर विशेष बल दिया जाता है^७ तो दूसरी ओर

१. आद्यो गृहस्थैः परिपालनीयः परं परः संयमिभिविविक्तैः।

—वर्ध०, १२.४८

२. मुनि नथमल, जैन दर्शन : मनन और मोमांसा, पृ० ४४७

३. कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य, दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ० १६४-६५

४. वही, पृ० १६५

५. वराह्म०, २२.२८

६. वही, १२.४७

७. वराह्म०, २२.२६-७७, वर्ध०, २२.४८

अनागार धर्म के अन्तर्गत 'महाव्रतों' का महत्त्व होता है।^१ सागार-धर्म सांसारिक राग-द्वेष के रहते हुए भी साधा जा सकता है^२ किन्तु अनागार-धर्म की प्रवृत्ति ही सांसारिक वैराग्य के उपरान्त होती है।^३ सागार धर्म एक प्रकार से अनागार धर्म-साधना का पूर्व-सोपान है। चतुर्विध संघ में से श्रावक-श्राविका का सागार धर्म से तथा साधु-साध्वी का अनागार धर्म से विशेष सम्बन्ध रहता है। प्रस्तुत अध्याय में 'सागार धर्म' को गृहस्थ धर्म के रूप में सर्वप्रथम निरूपित किया गया है। तदनन्तर 'अनागार धर्म' अर्थात् मुनिधर्म का प्रतिपादन हुआ है।

द्वादश-व्रताचरण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म के पालन के लिए अणुव्रतों का प्रमुख स्थान है। कुल मिलाकर गृहस्थों के लिए पाँच 'अणुव्रतों'—'अहिंसाणुव्रत', 'सत्याणुव्रत', 'अचौर्याणुव्रत', 'ब्रह्मचर्याणुव्रत', 'परिश्रम-परिमाणुव्रत'; तीन 'गुणव्रतों'—'दिग्भ्रत', 'देशव्रत', 'अनर्थदण्डव्रत' तथा चार 'शिक्षा व्रतों'—'सामायिक', 'प्रोषधोपवास', 'भोगोपभोगपरिमाण', 'अतिथि-संविभाग' आदि कुल बारह व्रतों^४ का पालन करना अत्यावश्यक है। जैन संस्कृत महाकाव्यों में इन बारह प्रकार के व्रतों का प्रतिपादन निम्न प्रकार से हुआ है—

१. अहिंसाणुव्रत—देवताओं को प्रसन्न करने, अतिथि सत्कार करने, तथा ओषधिसेवन आदि किसी भी निमित्त से, प्राणियों की हिंसा न करना, 'अहिंसाणुव्रत' कहलाता है।^५

२. सत्याणुव्रत—लोभ, मोह, भय, प्रतिशोध, कपट, अहङ्कार आदि किसी भी कारण के विद्यमान रहने पर भी सत्य बोलना, 'सत्याणुव्रत' कहलाता है।^६

३. अचौर्याणुव्रत—खेत, मार्ग आदि किसी स्थान पर प्रमाद अथवा भूल से गिरी हुई वस्तु को स्वामी की स्वीकृति के बिना न उठाना 'अचौर्याणुव्रत' अथवा 'अस्तेयाणुव्रत' कहलाता है।^७

१. वर्ध०, २२.४८

२. वराङ्ग०, १२.४६

३. वर्ध०, २२.६०

४. वराङ्ग०, १५.११४

५. वराङ्ग०, १५.११२, पद्मा०, २.२२१

६. धर्म० २१.१३५-४०

७. वराङ्ग०, १५.१३३, पद्मा०, २.२२२०

८. वही, १५.११४

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत—विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहिन, तथा पुत्री समझकर व्यवहार करना एवं अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहना 'स्वदारसंतोषव्रत' अथवा 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' कहलाता है।^१ स्त्री का अपने पति में ही अनुरक्त रहना भी इसी व्रत के अन्तर्गत आता है।

५. परिग्रहपरिमाणव्रत—भवन, मन्दिर आदि, खेत-जमींदारी, सोना-चांदी, अन्न, गाय-भैंस-बैल-घोड़ा, सेवक-कर्मचारी आदि विविध प्रकार के ऐश्वर्योत्पादक वस्तुओं का एक निश्चित परिमाण में उपभोग करना 'परिग्रहपरिमाणव्रत' अथवा 'संतोषव्रत' कहलाता है।^२

६. दिग्गत—ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि दिशाओं, आग्नेय, वायव्य, नैऋत, ईशान आदि विदिशाओं के आवागमन का निश्चय कर उनका अतिक्रमण न करना 'दिग्गत' नामक गुणव्रत कहलाता है।^३

७. भोगोपभोगपरिमाणव्रत—तेल आदि सुगन्धित पदार्थों तथा वस्त्राभूषण आदि उपभोग्य वस्तुओं का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना 'भोगोपभोगपरिमाणव्रत' के नाम से प्रसिद्ध है।^४

८. अनर्थदण्डव्रत—डण्डे-रस्सी आदि तथा विष, शस्त्र, अग्नि आदि वस्तुओं को दूसरे व्यक्ति को न देना, बिल्ली आदि द्वारा चूहों के नाश करने के उपायों का प्रयोग न करना, दूसरे व्यक्ति के अङ्गछेदन का उपक्रम न करना, किसी की हत्या न करना, दूसरे को बन्धन में डालने का निमित्त न बनना, सामर्थ्य से अधिक पशुओं पर भार न लादना 'अनर्थदण्डव्रत' कहलाता है।^५ बैल आदि पशुओं को बधिया करना, उन्हें समय पर भोजन न देना, उन पर अधिक बोझ लादना, वनक्रीड़ा, चित्रकर्म, लेपादि कर्म भी इसी व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ के लिए निषिद्ध हैं।^६

९. सामायिकव्रत—पंचनमस्कार मन्त्र के उच्चारण द्वारा प्रातः एवं सन्ध्या को वीतराग प्रभु के आदर्श का चिन्तन करना, प्राणिमात्र को एक समझना, इन्द्रियों एवं मन की नियन्त्रित करना, सदैव अपने तथा दूसरे व्यक्ति के

१. बराङ्ग०, १५.११५, पद्मा०, २.२३१

२. बराङ्ग०, १५.११६, पद्मा०, २.२३२

३. बराङ्ग०, १५.११७

४. वही, १५-११८, पद्मा०, २.२४०

५. बराङ्ग०, १५.११९-२०, धर्म०, २१.१४२

६. धर्म०, २१.१४४-४८, पद्मा०, २.२७१-७७

कल्याण की कामना करना, शत्रुता एवं प्रतिशोध की भावना से दूसरे व्यक्तियों की क्षति पहुंचाने आदि दुर्भावनाओं से दूर रहकर सदैव जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा में लीन रहना 'सामायिक शिक्षाव्रत' कहलाता है।^१

१०. प्रोषघोषवासव्रत—भास के चार पदों (दो अष्टमियों तथा दो चतुर्दशियों) में मन, वचन, काय से पूर्णतः नियन्त्रित होकर अर्थात् 'मनोगुप्ति', 'वचनगुप्ति' तथा 'कायगुप्ति' का सावधानी पूर्वक पालन करते हुए उपवास रखना 'प्रोषघोषवासव्रत' कहलाता है।^२

११. अतिथिसंविभागव्रत—शास्त्रोक्त चार प्रकार के आहार से श्रद्धायुक्त होकर मुनि आदि का आतिथ्य सत्कार करना 'अतिथिसंविभाग' व्रत कहलाता है।^३

१२. सल्लेखनाव्रत—दस प्रकार के बाह्य एवं १४ प्रकार के आन्तरिक परिग्रहों का त्याग कर अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करते हुए शरीर का त्याग करना 'सल्लेखना' व्रत कहलाता है।^४

उपर्युक्त १२ प्रकार के व्रतों में प्रथम पांच 'अणुव्रतों' के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्यों की परम्पराओं में कोई विशेष मतभेद नहीं किन्तु उत्तरवर्ती तीन 'गुणव्रतों' एवं चार 'शिक्षाव्रतों' की परिगणना में कुछ मतभेद अवश्य रहा है। कुछ आचार्य 'सल्लेखना' व्रत के अस्तित्व को मानने के लिए दूसरे किसी व्रत को नहीं मानते। कभी-कभी एक व्रत को कुछ आचार्य 'गुणव्रतों' में परिगणित करते हैं तो दूसरे इसे 'शिक्षाव्रतों' के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। बारह व्रतों की संख्या का जहाँ तक प्रश्न है सभी आचार्य एकमत हैं किन्तु उनके वर्गीकरण में परस्पर मतभेद है। प्राचीन जैनाचार्यों से चली आ रही 'गुणव्रतों' एवं 'शिक्षाव्रतों' की यह परम्परा जैन संस्कृत महाकाव्यों के समय तक किस प्रकार प्रवाहित हुई थी उसका विवरण तालिका द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है^५—

१. वराह्म०, १५.१२१-२२; धर्म०, ११.१४६

२. वराह्म०, १५.१२३, धर्म०, ११.१५०

३. वराह्म०, १५.१२४; धर्म०, ११.१५२

४. वराह्म०, १५.१२५

५. विशेष द्रष्टव्य—

Williams, R., Jain Yoga, London, 1963, pp. 55-62;

Bhargava, D.N., Jain Ethics, Ch, V, pp. 110-146, & Sogani, K.C., Ethical Doctrines in Jainism, Sholapur, 1967, Ch. IV, pp. 71-119

दिगम्बर परम्परा^१

आचार्य	गुरुव्रत	शिक्षाव्रत
कुन्दकुन्द—१. दिग्व्रत, २. अनर्थदण्डव्रत,	१. सामायिक०, २. प्रोषध०, ३. अतिथि०	
३. भोगोपभोग०	४. सल्लेखना	
उमास्वाति—१. दिग्व्रत, २. देशव्रत,	१. सामायिक, २. प्रोषध०, ३. भोगोप-	
३. अनर्थदण्ड०	भोग०, ४. अतिथि	
सम्पन्नभद्र—१. दिग्व्रत, २. अनर्थदण्ड०,	१. देशव्रत, २. सामायिक०, ३. प्रोषध०,	
३. भोगोपभोग०	४. वैयावृत्य०	
वसुनन्दि—१. दिग्व्रत, २. देशव्रत,	१. भोगविरति०, २. परिभोगनिवृत्ति०,	
३. अनर्थदण्ड०,	३. अतिथि०, ४. सल्लेखना०	
जटासिंह नन्दि—१. दिग्व्रत, २. भोगोप०	१. सामायिक०, २. प्रोषध०, ३. अतिथि०,	
३. अनर्थदण्ड०	४. सल्लेखना०	

श्वेताम्बर परम्परा^२

उमास्वाति—१. दिग्व्रत, देशव्रत,	१. सामायिक०, २. प्रोषध०, ३. भोगोप०,
३. अनर्थदण्ड०	४. अतिथि०
आवकप्रज्ञप्ति—१. दिग्व्रत, २. अनर्थदण्ड०,	१. सामायिक०, २. प्रोषध०, ३. देशव्रत,
३. भोगोपभोग०	४. अतिथि०
अमरचन्द्र—१. दिग्व्रत, २. भोगोपभोग०	१. देशावकाशिक०, २. सामायिक०,
३. अनर्थदण्ड०	३. अतिथि०, ४. सल्लेखना०
हरिचन्द्र—१. दिग्व्रत, २. देशव्रत,	१. प्रोषध०, २. भोगोप०, ३. परिमाण०,
३. अनर्थदण्ड०	४. अतिथि०

उपर्युक्त तालिका के तुलनात्मक विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि इन व्रतों के वर्गीकरण में आचार्यों की दृष्टि से तो मतभेद है किन्तु दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायगत कोई मतभेद नहीं। डा० दयानन्द भार्गव के मतानुसार 'अणुव्रतों' एवं 'शिक्षाव्रतों' के वर्गीकरण का आधार रुचिपरक है न कि तात्त्विक।^३ गृहस्थ को अपनी रुचि के अनुसार इन बारह व्रतों का आचरण करना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से इन व्रतों की पृष्ठभूमि में सामाजिक न्याय एवं अहिंसा का यथा-सामर्थ्य आचरण करने के समाजशास्त्रीय आग्रह-अनुस्यूत हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इन बारह प्रकार के व्रतों का पालन करने वाले व्यक्ति को मृत्यु उपरान्त सौधर्म आदि कल्पों में जन्म मिलने तथा अष्टगुण-ऐश्वर्य लाभ होने की मान्यताएं समाज

१. वराह्म०, १५.११७-१२५ पर आधारित

२. पद्मा०, २.२१२-३५, धर्म० २१.१२५-५० पर आधारित

३. Bhargava, Dayanand, Jain Ethics, Delhi, 1968, p. 125

में प्रचलित थीं।^१ गृहस्थ व्यक्ति की इन व्रताचरणों में और अधिक दृष्टि बढ़ाने के लिए अम्तराश्रों के साथ रमण करने, अद्भुत प्रकार के भोगों को भोगने,^२ मृत्यु-उपरान्त पृथ्वी पर हरिवंश, भोजवंश, इक्ष्वाकु-वंश जैसे प्रसिद्ध वंशों में जन्म मिलने आदि के धार्मिक विश्वास समाज में विशेष रूप से प्रचलित थे।^३

राजा कुमारपाल द्वारा जैन धर्मों का पालन

चालुक्य राजा कुमारपाल ने साम्राज्य विस्तार करने के उपरान्त मंत्री बागभट के कहने पर कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि से धर्मोपदेश प्राप्त किया।^४ राजा कुमारपाल ने जैनाचार्य हेमचन्द्र से प्रभावित होकर मांस खाना तथा आखेट करना बन्द कर दिया था। उन्होंने विभिन्न राजकीय अवसरों पर पशुओं की बलि चढ़ाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया।^५ महावीरचरित से ज्ञात होता है कि राजा कुमारपाल ने मनोरञ्जन की दृष्टि से की जाने वाली सूअरों को दौड़ों तथा मुर्गों की लड़ाइयों आदि क्रूर गतिविधियों पर भी पाबन्दी लगा दी थी। यहाँ तक कि निम्न जाति के लोगों को भी पशुओं के वध करने की अनुमति नहीं थी।^६ द्रयाश्रय काव्य से स्पष्ट होता है कि 'अमारि' अर्थात् पशुवध निषेध की राजाज्ञा से प्रभावित हुए निम्न जाति के कसाई आदि लोगों को आजीविका हेतु राज्य की ओर से तीन-तीन वर्षों का वेतन दिया गया।^७ गुजरात में 'अमारि' की यह स्थिति लगभग चौदह वर्षों तक रही थी।^८ हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम कुमारपाल को हिन्दू तथा जैन धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों की शिक्षा दी तदनन्तर जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से अवगत कराया। कुमारपाल को 'अहंस्तुति' के आठ भागों का उपदेश भी दिया गया।^९

१. तेदिवं यान्ति सद्ब्रताः ।
सौधर्मादिषु कल्पेषु संभूय विगतज्वराः ।
तत्राष्टगुणमैश्वर्यं लभन्ते नात्र संशयः ॥

—वराह०, १५-१२६-२७ तथा चन्द्र०, ३-५५

२. अम्तराश्रिचरं रत्नवा वैक्रियातनुभासुराः ।
भोगानतिशयान्प्राप्य निश्चयवन्ते सुरालयात् ॥ —वराह०, १५-१२८
३. Sheth, C.B., Jainism in Gujarat, p. 65 तथा
सोमप्रभक्त कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ५-६
४. सोमप्रभक्त कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ४०-४१
५. महावीरचरित, १२-६५-७४
६. द्रया०, २०-४-३७
७. Sheth, Jainism in Gujarat, p. 70
८. वही, पृ० ७०-७६

कुमारपाल ने हेमचन्द्र के उपदेशों के आधार पर श्रावकों द्वारा धारण किए जाने वाले बारह व्रतों को अङ्गीकार किया। प्रत्येक व्रत ग्रहण करने के बाद उसने स्वयं भी उन व्रतों का व्यावहारिक रूप से पालन किया तथा राजकीय स्तर पर भी उनके आचरण पर विशेष बल दिया। जैन द्वादश व्रतों की सामाजिक एवं राजनैतिक घरातल पर प्रासङ्गिकता सिद्ध करने की दृष्टि से कुमारपाल द्वारा किया गया यह प्रयोग गुजरात के इतिहास में आजमाई गई धर्ममूलक राजचेतना का एक विरल उदाहरण है। कुमारपाल ने जैन व्रतों के आचरण हेतु निम्न कार्य किए :—

१. प्रथम व्रत (अहिंसाणुव्रत)—सम्पूर्ण राज्य में प्राणिहिंसा का प्रतिषेध तथा अठारह अधीन प्रान्तों में उबाल कर पानी पीने के आदेशों को लागू करना।^१

२. द्वितीय व्रत (सत्याणुव्रत)—मधुर तथा सत्य भाषण करना तथा परिवार के सदस्यों से सरलता से व्यवहार करना। असत्य प्रयोग हो जाने पर पश्चाताप के रूप में तपश्चर्या करना।^२

३. तृतीय व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत)—राजा द्वारा विवाह न करना।^३

४. पंचम व्रत (परिग्रहपरिमाणुव्रत)—अपनी सम्पत्ति को सीमित करना इसके लिए कुमारपाल ने छह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ, आठ करोड़ दीनारें, एक सहस्र तोला सोना, दो हजार धृत-पात्र, पांच लाख अश्व, एक हजार ऊँट, पांच सौ घर, पांच सौ दुकानें, ग्यारह सौ हाथी, पांच हजार रथ, ग्यारह हजार अश्व तथा अठारह लाख योद्धाओं तक स्वयं को सीमित कर लिया।^४

५. षष्ठ व्रत (अनर्थदण्ड व्रत)—वर्षाकालीन समय में खेतों में हल चलाने का निषेध करना क्योंकि इस मौसम में अधिक जीवों के नष्ट होने की अधिक आशङ्का होती है।^५

६. सप्तम व्रत (भोगोपभोगपरिमाणुव्रत)—२२ अभय तथा ३२ अनन्तकाय वस्तुओं का सेवन बन्द करना।^६

७. अष्टम व्रत (सामायिकव्रत)—प्रतिदिन दो सामायिकों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना।^७

१. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ८१

२. वही, पृ० ८४-८५

३. वही, पृ० ८४-८५

४. वही, पृ० ८५

५. वही, पृ० ८५-८६

६. वही, पृ० ८७

७. वही, पृ० ८८

८. एकावश व्रत (प्रोषधोपवासव्रत)—पर्वों के अवसर पर 'प्रोषधों' का आचरण करना तथा पूर्ण उपवास रखना ।^१

९. द्वादश व्रत (अतिथिसंविभागव्रत)—सभी जैनानुयायियों से प्राप्त करों को लौटाना तथा उनकी आर्थिक दशा सुधारने की आज्ञा देना ।^२

३. धार्मिक कर्मकाण्ड एवं पूजा-पद्धति

पंचोपचार एवं अष्टविध पूजन

जैन महाकाव्यों में 'पंचोपचार'^३ तथा 'अष्टविधपूजन'^४ के उल्लेख आए हैं। 'पंचोपचार' के अन्तर्गत १. आवाहन २. स्थापन, ३. सन्निधिकरण, ४. पूजन तथा ५. विसर्जन आदि क्रियाएं आती हैं।^५ 'अष्टविध' जिन पूजा के अन्तर्गत जिनेन्द्र प्रतिमा को स्नान कराना, कपूर-चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों से जिन बिम्ब का लेप करना, दूर्वा, पुष्पादि समर्पण करना, अक्षत आदि पदार्थों से स्वस्तिक पत्तियों का निर्माण करना, नैवेद्य, फलादि चढ़ाना, जल चढ़ाना, दीप प्रज्ज्वलित करना, आदि क्रिया-कलाप प्रचलित थे।^६ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में यह अष्टविध पूजन-विधि 'अष्टद्रव्य' पूजा के रूप में विहित है। अष्टद्रव्य पूजा के अन्तर्गत १. छत्र-चामरादि द्रव्यों, २. जल धाराओं, ३. चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों, ४. तण्डुलों, ५. पुष्पादि मालाओं, ६. नैवेद्यों, ७. धूप और दीपकों, तथा ८. दाडिम आदि फलों से देवपूजा करने का विधान आया है।^७ पद्मानन्द महाकाव्य में जैन पूजा को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) द्रव्यपूजा तथा (२) भावपूजा।^८ 'द्रव्यपूजा' के अन्तर्गत उपर्युक्त अष्टविध पूजन क्रियाएं आती थीं तथा 'भावपूजा' के अन्तर्गत मुख्यतः स्तुतियों द्वारा गुणगान करना, सङ्गीत

१. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ८८

२. वही, पृ० ८८-८९

३. वराङ्ग०, (वर्धमानकविकृत) १२.२३

४. पद्मा०, ६.१००, तथा तु०—

अष्टधेति जिनपूजनं व्यधादष्टधाऽपि निजकर्म हिंसितुम् ।

—वसन्त०, १०.८१

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ८०

६. पद्मा०, ६.१००-११४, वसन्त०, १०.८२

७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ७८

८. ते द्रव्यपूजां विधिद्व विधाय, व्यधुजिनेन्द्रोरथभावपूजाम् ।

—पद्मा०, ६.११५

महोत्सव का आयोजन करना, बारह प्रकार के व्रतों का पालन करना, चतुर्विध ध्यान तथा चतुर्विध संघ का सम्मान करना आदि कृत्य सम्मिलित थे ।^१

जिनेन्द्र पूजा

अन्य धर्माचरणों की तुलना में जिनपूजा सर्वाधिक लोकप्रिय थी ।^२ सामान्य लोगों के लिए भी अन्य व्रताचरणों की अपेक्षा जिनपूजा अत्यधिक सुगम व सहज थी ।^३ ऐसा विश्वास किया जाता था कि जिनेन्द्र के प्रति भक्तिभाव रखने से मनुष्य संसार की सभी विपत्तियों से मुक्त होकर सुखों के विशाल भण्डार को प्राप्त कर सकता है ।^४ पूर्वजन्मों के पापों को नष्ट करने के लिए जिनेन्द्र पूजा का विशेष महत्त्व है ।^५ जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के माध्यम से उनके आदेशों पर आचरण करने के कारण तीनों लोकों का कल्याण होने की मान्यता प्रसिद्ध थी ।^६ इसके लिए श्रद्धा एवं विधि पूर्वक प्रतिदिन प्रातः जिन-प्रतिमा की पूजा करने का विधान था ।^७

प्रतिमा अभिषेक

प्रतिमा के अभिषेक के अवसर पर स्वर्ण, रजत, कांस्य, तथा तांबे के पात्र,^८ विशाल नादें, सोने के शंख, अनेक प्रकार के कलश, भारियां, पालिकाएं, आवर्तक, स्वर्ण यन्त्र,^९ नदियों, भरनों, कूपों, जलाशयों, तीर्थस्थानों के जलपात्र भरे रहते थे ।^{१०} सोने-चांदी के बने हुए कुछ कलशों में दूध, दही, घृत आदि वस्तुएं होती थीं

१. पद्मा०, ६.११५-११८, वसन्त०, १०.७३-८०

२. वराह०, २२.२३, चन्द्र०, १७.३२-३३

३. वराह०, २२.४५, चन्द्र०, १७.३६

४. वराह०, २२.३७-३८, चन्द्र०, १७.३४

५. अनेकजात्यन्तरसंचितं यत्पापं समर्था प्रविर्तुमाशु ।

—वराह०, २२.४०, चन्द्र०, १७.३३

६. पूज्यानि तान्यप्रतिशासनानि रूपाणि लोकत्रयमङ्गलानि ।

—वराह०, २२.४२

७. प्रातः कुमारः कृतमङ्गलार्थो जिनेन्द्रबिम्बाचनतत्परोऽभूत् ।

—वही, ११.४८ पद्मा०, ६.१००

८. वराह०, २३.२२

९. वही, २३.२३

१०. वही, २३.२४, वसन्त०, १०.६७

और इनका मुख, फलों, फूलों के गुच्छों से अथवा सफेद वस्त्र से ढक दिया जाता था।^१ प्रतिमा अभिषेक के अवसर पर एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशों में क्षीतल जल भरा रहता था जिनके मुख कमलों, अथवा नील कमलों से ढके रहते थे।^२ चार प्रकार की उपमानिकाओं (मिट्टी के घड़ों) को हल्दी, सुगन्धित द्रव्य तथा ओदन से अलंकृत किया जाता था।^३ इन वस्तुओं के अतिरिक्त अनेक प्रकार के फल, सुगन्धित द्रव्य, विविध प्रकार के नैवेद्य, पुष्प मालाएं तथा हवन सामग्री (विपञ्चिका) भी पूजा मण्डप में विद्यमान रहती थी। अभिषेक क्रिया के अवसर पर इन सामग्रियों का विशेष उपयोग होता था।^४ स्नानाचार्य (पुरोहित) तालाब से जिनेन्द्र की प्रतिमा को स्नान कराकर निकालते थे तथा मौन धारण करते हुए इसे अभिषेक बाला में विशाल घासन पर स्थापित करते थे।^५ सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव को प्रणाम कर एक बड़ी भारी से प्रतिमा का अभिषेक किया जाता था।^६ प्रतिमा को कपड़े से पोंछ लेने के उपरान्त बाएं हाथ की हथेली पर अर्घ्य-पात्र लेकर 'जिनादिभ्यः स्वाहा' का उच्चारण करते हुए हाथ के अंगूठे के माध्यम से अर्घ्य चढ़ाया जाता था।^७ तदनन्तर मन्त्रोच्चारण सहित जिन प्रतिमा के उत्तमाङ्ग पर अर्घ्य दिया जाता था।^८ उपमानिकाओं तथा १०० घड़ों के जलों से अभिषेक कराने के पश्चात् आचार्य उन्नतन से प्रतिमा का लेप करते थे। इसके बाद सुन्दर आभूषणों तथा पुष्पमालादि से जिनविम्ब का शृङ्गार किया जाता था।^९ इस प्रकार हम देखते हैं कि वराङ्गचरित में प्रतिमा अभिषेक विधि का मध्य वर्णन चित्रित है जो तत्कालीन विशेषकर कर्नाटक में प्रचलित जैन पूजा-पद्धति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

१. वराङ्ग०, २३.२५, वसन्त०, १०.६७

२. वराङ्ग०, २३.२६, धर्म०, ८.२८.३२, वसन्त०, १०.६८

३. वराङ्ग०, २३.२७

४. वही, २३.२६-३०

५. वही, २३.६०

६. वही, २३.६१

७. वही, २३.६२

८. वराङ्ग०, २३.६३, वसन्त०, १०.७२

९. वराङ्ग०, २३.६४-६७, वसन्त०, १०.७४-७६

कर्मकाण्डपरक विधियाँ—

पूजा आदि के अवसर पर विभिन्न प्रकार की कर्मकाण्डपरक विधियाँ सम्पादित की जाती थीं, जिनमें 'प्रदक्षिणा', 'अभिषेक', 'मन्त्रजाप', 'नमस्कार', 'स्वस्तिवाचन' आदि का अनुष्ठान होता था—

१. प्रदक्षिणा^१—आराध्य वस्तु के बाएं से दाएं ओर चलते हुए तीन बार परिक्रमा करना । २. स्नपन^२ अथवा अभिषेक^३—जिनबिम्ब का मौनपूर्वक स्नान । ३. मन्त्रजाप^४—मन्त्राक्षरों का जाप करना । ४. नमस्कार^५—अञ्जलि बांध का प्रणाम करना । ५. स्वस्ति वाचन^६—पूजा के अन्तिम भाग के रूप में देश, राज्य, नगर आदि की मङ्गल कामना करना । ६. शेषिका^७—पूजा की समाप्ति पर सधिनय स्थापित पुष्प, धूप दीप आदि की नति करना । ७. अर्घ्य^८—मन्त्रोच्चारण के साथ प्रतिमा आदि के ऊपर जल की धारा छोड़ना । ८. प्रतिमा अलङ्करण^९—अलङ्कार-वस्त्रादि से प्रतिमा को सजाना । १०. द्रव्यसमर्पण^{११}—अक्षत, पुष्प आदि मङ्गलद्रव्य प्रतिमा को समर्पित करना ।

पूजा सामग्री

जैन संस्कृत महाकाव्यों में पूजा विधि के विभिन्न अवसरों पर माङ्गलिक द्रव्यों द्वारा पूजा करने का उल्लेख आया है। इस सम्बन्ध में के० एम० मुन्शी महोदय का मत है कि मध्यकालीन भारत में जैन तथा हिन्दू पूजा-पद्धति में कोई

-
१. धर्म०, ६.५३, वराङ्ग०, २३.५३.५७, परि०, ११.७१
 २. धर्म०, ६.४७, द्वया०, २.६४
 ३. वराङ्ग०, २३.६६
 ४. वही, २३.६२-६६
 ५. वही, २३.७०
 ६. वराङ्ग०, २३.६६-७१, वसन्त०, १०.८६
 ७. वराङ्ग०, २३.७२
 ८. वही, २३.६२, ६५, वसन्त०, १०.७३
 ९. विभूषणानि प्रतिभूषयन्तीम् । —वराङ्ग०, २३.६७
 १०. कीर्ति०, ६.३६, वसन्त०, १०.७६
 ११. वराङ्ग०, २३.६६-६८, परि०, ११.७३-७५, पद्मा०, ३.१२६
कीर्ति०, ६.३७, वसन्त०, १०.७५

विशेष अन्तर नहीं रह गया था ।^१ पूर्वोक्त अष्टविध पूजन आदि के अवसर पर जैन धर्म की पूजा पद्धतियों में हिन्दू पूजा पद्धति के अनुरूप ही निम्नलिखित पूजा-सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था—

(१) जल (२) दूध (३) दही (४) पुष्प (५) फल (६) माला (७) चन्दन (८) धूप (९) नैवेद्य (१०) जौ (११) घी (१२) सरसों (१३) तण्डुल (१४) लाजा (१५) अक्षत (१६) काले तिल (१७) दूब (१८) अर्घ्य (१९) चरु (२०) कपूर (२१) कृष्णागुरु (२२) कलश (२३) पत्र (२४) मधु (२५) खाण्ड (२६) तीर्थोदक (२७) पुरोडाश (२८) मधुपर्क (२९) हवि (३०) वस्त्र (३१) दीप आदि ।^२

अनेक प्रकार के इन मङ्गलद्रव्यों में से अन्न, नैवेद्य, पुष्प, फल, माला, चन्दन, धूप, अक्षत, दूध, दही, घी आदि द्रव्यों का सामान्य पूजा आदि के अवसर पर प्रायः प्रयोग होता था ।^३

हेमचन्द्र के कुमारपालचरित महाकाव्य से भी ज्ञात होता है कि सिद्धराज ने उज्जयिन्त पर्वतस्थ नेमिनाथ की पूजा के अवसर पर ईक्षुरस, दुग्ध, घृत, दही, मधु तथा जल युक्त 'मधुपर्क' तथा फल-फूलों आदि विविध पूजा सामग्रियों का प्रयोग किया था ।^४ इसी प्रकार कीर्तिकौमुदी में वस्तुपाल द्वारा सोमनाथ तथा एकलवीरा देवी आदि की प्रतिमाओं की अर्चना करने पर भी उपर्युक्त पूजा सामग्रियों का उपयोग किया गया था ।^५

विविध पूजा द्रव्यों का अनुष्ठानफल

धार्मिक अवसरों पर विविध प्रकार की पूजा सामग्रियों का विशेष माहात्म्य भी प्रतिपादित किया जाने लगा था । विविध प्रकार के ये द्रव्य पवित्रता, निरोगता आदि के प्रतीक माने जाते थे । जल—शान्ति का, पय—सन्तुष्टि का, दधि—कार्य-सिद्धि का, दुग्ध—पवित्रता का, तण्डुल—दीर्घायु का, सरसों—विघ्ननाश का, तिल—वृद्धि का, अक्षत—आरोग्यता का, जौ—शुभ वर्ण का, घृत—शरीरपुष्टि का, फल—दोनों लोकों की भोगसिद्धि का, गन्ध (सुगन्धित पदार्थ)—सौभाग्य का,

१. Munshi, Glory That was Gurjara Desa, p. 361

२. वराह० २३.१५, १८, २४, २५, २६-३०, कीर्ति०, ६.३७, ३९, ९.६५; प्रद्यु०, १४.४७

३. वराह०, २३.२८, धर्म० ८.७, तथा प्रद्यु०, १४.४७

४. कुमार०, ३.५.६, तथा द्रष्टव्य—

Munshi, Glory that was Gurjara Desa, p. 361

५. कीर्ति०, ६.३७

नाजा तथा पुष्प सोमनस्य अर्थात् प्रसन्नता का प्रतीक माना जाता था।^१ वसुनन्दि श्रावकाचार नामक ग्रन्थ में भी 'अष्टद्रव्य पूजा' के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली सामग्रियों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही धारणा का निर्देश हुआ है तथा पूजन के समय जल, चन्दन अक्षत आदि के समर्पण का फल बताया गया है।^२ सागारधर्माभूत में स्पष्ट रूप से उल्लेख आया है कि जल से पूजक के पाप नाश होते हैं। चन्दन से शरीर सुगन्धित होता है। अक्षत धन सम्पदा का संरक्षण करता है। पुष्प से मन्दारमाला की प्राप्ति होती है। नैवेद्य से लक्ष्मीपतित्व मिलता है। दीप और धूप कान्ति तथा सौभाग्य देते हैं। फल से पूजक के मनोरथ पूर्ण होते हैं तथा अर्घ्य से अभीष्ट की प्राप्ति होती है।^३

पूजा द्रव्य के रूप में बहुमूल्य वस्तुएं

विभिन्न राजकीय महोत्सवों के अवसर पर होने वाली जिनेन्द्रपूजा अथवा मन्दिर स्थापना के समय प्रयुक्त सामान्य पूजा वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य बहुमूल्य तथा कठिनता से उपलब्ध होने वाली वस्तुओं को भेंट के रूप में चढ़ाया जाता था। इन वस्तुओं में रत्नमणिजटित मुकुट, दर्पण, भारी, स्वर्ण आदि विभिन्न धातुओं से निर्मित कलश, थाली, धर्म-चक्र, तुरही, चंदोवा, छत्र, घण्टा, ध्वजा तथा विभिन्न तीर्थों के जल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^४ वराहचरित में प्रतिपादित प्रतिमा-अभिषेक के अवसर पर सोने, चांदी, कांसे तथा ताँबे के पात्र, विशाल नादें, शंख, अनेक धातुओं के घड़े, पालिकाएं स्वर्ण यन्त्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं द्वारा पूजा करने का उल्लेख भी आया है।^५ सोने आदि के संस्कृत एक हजार आठ कुम्भों^६ में विभिन्न तीर्थ स्थलों का जल भरा जाता था।^७

१. आपो हि शान्त्यर्थमुदाहरन्ति आप्यायनार्थं हि पयो वदन्ति ।
कार्यस्य सिद्धिं प्रवदन्ति दध्ना दुग्धात्पवित्रं परमित्युच्यन्ति ॥
दीर्घायुराप्नोति च तण्डुलेन सिद्धार्थं का विघ्नविनाशकार्थः ।
तिलैर्विवृद्धिं प्रवदन्ति नृणामारोग्यतां याति तथाक्षतस्तु ॥
यवैः शुभं वर्णवपुर्धृतेन फलैस्तु लोकद्वयभोगसिद्धिः ।
गन्धास्तु सौभाग्यकरा नराणां लाजैश्च पुष्पैरपि सोमनस्यम् ॥

—वराह०, २३.१६-२१

२. वसुनन्दि श्रावकाचार, ४८३-६२

३. सागारधर्माभूत, २.३०

४. वराह०, २३.७६-८२

५. वही, २३.२२, २३

६. अष्टोत्तराः शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशा विशालाः ।

—वही, २३.२६

देवी पूजा

देवी पूजा का जैन धर्म में प्रचलन रहा था। पौराणिक जैन महाकाव्यों में श्री, ह्री, धृति लवणा, बला, कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवलोक की देवियों का उल्लेख आया है,^१ ऐतिहासिक महाकाव्य कीर्तिकौमुदी में देवी एकलवीरा की वस्तुपाल द्वारा पूजा करने का वर्णन आया है।^२ एकलवीरा देवी की आराधना फल, पुष्प आदि द्वारा की जाती थी।^३ इस अवसर पर किसी भी प्रकार की बलि आदि देने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। द्वयाश्रय महाकाव्य में लक्ष्मी, उमा, दुर्गा, चण्डिका, निम्बजा, स्रोतदेवी, पीठदेवी, की आराधना करने के उल्लेख आए हैं।^४ इन देवियों को मन्दिरों में स्थापित किया जाता था।^५ द्वया० के टीकाकारों ने अमृता, बाह्यणी सिद्ध माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, ऐन्द्री, कालसंकषिणी आदि देवियों का उल्लेख करते हुए देवी की विभिन्न शक्तियों की ओर भी प्रकाश डाला है।^६ देवशास्त्रीय दृष्टि से छठी-सातवीं शताब्दी के उपरान्त पूजी जाने वाली जैन देवियाँ मुख्यतया तीन भागों में विभक्त थीं—(१) प्रासाद देवियाँ (२) कुल देवियाँ, तथा (३) सम्प्रदाय देवियाँ।^७ सामान्यतया जैन समाज में अम्बिका, ज्वालामालिनी सिद्धिदायिका (यक्षिणी), पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली, भद्रकाली, मृकुटी, तारा, गौरी, सरस्वती, त्रिपुरा आदि देवियों की पूजा भी प्रचलित थी। इनकी पूजा होने के तथ्यों की पुष्टि या तो जैन शास्त्रों

१. श्रीह्रीधृतिश्च लवणा च बला च कीर्तिलक्ष्मीश्च ।

—वर्ष० १७.५०

२. एकलवीरा प्रददर्श देवीम् । —कीर्ति० ६.५५

३. द्वया०, ३.८५, ६.१०६, ५.८, ११.८८, ८.४१, ७.८३, ४.४६

४. विशेष द्रष्टव्य—पाद टि० ६

५. वही, पृ० २३०-३१

६. 'तत्र देवस्त्रिधा प्रासाददेव्यः सम्प्रदायदेव्यः कुलदेव्यश्च । प्रासाददेव्यः पीठोपपीठेषु गुह्यस्थिता भूमिस्थिता प्रासादस्थिता लिङ्गरूपा वा स्वयम्भूतरूपा वा मनुष्यनिमित्तरूपा वा सम्प्रदायदेव्यः अम्बासरस्वतीत्रिपुराताराप्रभृतयो गुरुदण्डमन्त्रोपासनीयाः । कुलदेव्यः चण्डीचामुण्डाकण्डेश्वरीव्याघराजी प्रभृतयः ॥' [आचारदत्तकरप्रणीत प्रतिष्ठाविधि]—पुष्पेन्द्र कुमार, जैन धर्म में देवियों का स्वरूप, [निबन्ध], 'महावीर परिनिर्वाणस्मृति ग्रन्थः' प्रधान सम्पादक डा० मण्डनमिश्र, दिल्ली, १९७५, पृ० १३३

से होती है अथवा जैन संग्रहालयों में रखी मूर्तियों के आधार पर तत्कालीन देवी-पूजा की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।^१

विजय के उपलक्ष्य में देवी-पूजा महोत्सव

ऐतिहासिक महाकाव्य कीर्तिकौमुदी में देवी 'एकलवीरा' का भव्य पूजा-महोत्सव वर्णित है। वस्तुपाल द्वारा शङ्ख को पराजित कर दिए जाने के उपरान्त नगर में एक विजय-यात्रा का आयोजन किया गया। सभी नागरिकों ने इस यात्रा में भाग लिया तथा देवी 'एकलवीरा' के मन्दिर तक गए।^२ इस अवसर पर राजकीय मार्गों को भी विशेष रूप से सजाया गया। सभी घरों में देवी-देवताओं की पूजा भी सम्पन्न हुई। स्त्रियों के मङ्गल गीत तथा तुरही आदि बाद्य यन्त्रों से वातावरण मँज उठा।^३ वस्तुपाल ने मन्दिर में जाकर दूध, दही, शहद, घी, छायाड, पुष्प, कपूर, काले अगुरु चन्दन आदि पवित्र सामग्रियों से देवी-प्रतिमा की पूजा की,^४ नैवेद्य चढ़ाया तथा वस्त्रार्पण किया।^५ इस अवसर पर वस्तुपाल ने अपने तलवार-दण्ड में तथा हृदय में वास करने के लिए देवी से विशेष प्रार्थना की।^६ देवी के महात्म्यों का गुणगान करते हुए तथा बार-बार प्रणाम करते हुए वीर भूपाल ने देवी एकलवीरा के प्रति अपनी अपार भक्ति प्रदर्शित की।

४. जैन मन्दिर एवं तीर्थस्थान

जैन धर्म में मन्दिर निर्माण का मनोविज्ञान वराङ्गचरित में विशेष रूप से उभर कर आया है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में वादामी के चालुक्य राजाओं से जैन मन्दिरों के निर्माण को जो प्रोत्साहन मिला वराङ्गचरित में उसका चित्रण हुआ है।^७

१. पुष्पेन्द्र कुमार, जैन धर्म में देवियों का स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ० १३२-१४०

२. कीर्ति०, ६.१६-१७

३. वही, ६.२-३

४. दुग्धेन दध्ना मधुना घृतेन, खण्डेन तोयेन च शुद्धिमूर्तिम्।

आनर्च देवीं सचिवः प्रसून-कपूर-कृष्णागुरुचन्दनाद्यैः ॥ — वही, ६.३७

५. वही, ६.३६

६. नृत्या च नृत्या विशेषवत्या, देवीं समानीय मुदं स मानी।

श्रीवीरभूपाल कृपाणदण्डे, स्थितिं ययाचं हृदि च स्वकीये ॥

—वही, ६.४०

७. ए० एन० उपाध्ये, वराङ्गचरित, भूमिका, पृ० ७०-७२

जैन मन्दिरों की धार्मिक लोकप्रियता

मन्दिरों का निर्माण करना जैन समाज की एक विशेष धार्मिक प्रवृत्ति रही है। भारतवर्ष में आज असंख्य जैन मन्दिर अपनी सुन्दरता तथा स्थापत्यकला की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में धार्मिक प्रचार में मन्दिरों की एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जटासिंह नन्दि ने अपने महाकाव्य में जैन मन्दिरों के निर्माण को धर्मप्रचार एवं धर्मलाभ से जोड़ा है। उनका कहना है कि अल्प धनव्यय से बनाए गए जिनालयों से भी महान् धर्म-प्राप्ति होती है।^१ मन्दिरों द्वारा सामूहिक रूप से जनसाधारण में भी धार्मिक प्रवृत्ति का उदय होता है। इस धार्मिक मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हुए बराह्मचरितकार की मान्यता है कि सांसारिक विषय भोगों में अत्यासक्त व्यक्ति भी जिन मन्दिर रूपी सीढ़ियों में चढ़कर स्वयं के द्वार तक पहुँच जाते हैं। अतएव राजा को चाहिए कि वह अपने प्रजा की हित-कामना के लिए समृद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाए।^२ राजा लोग अपने परिवार के सदस्यों के धर्मलाभ के लिए भी मन्दिरों का निर्माण करवाते थे। बराह्मचरित में ही उल्लेख आता है कि राजा धर्मसेन ने पूजा करने के उद्देश्य से अपनी पुत्र-वधुओं के लिए एक मास के भीतर ही जिनालय का निर्माण करवा दिया।^३ इसी प्रकार राजा बराह्म ने भी अपनी महारानी के धर्माचरण की इच्छा को जानकर एक विशाल इन्द्रकूट नामक मन्दिर का निर्माण करवाया।^४ उधर चालुक्य महामात्य वस्तुपाल द्वारा निर्मित जैन मन्दिरों में से कुछ ऐसे मन्दिर भी थे जिनका निर्माण केवल मात्र राजपरिवार के सदस्यों के धर्मलाभ प्राप्त करने के निमित्त से हुआ था।^५ धर्मार्थ प्राप्त धन-सम्पत्ति को मन्दिर निर्माण आदि धार्मिक

१. अलाश्रमेणाल्पपरिधयेन जिनालयं यः कुरुतेऽतिभक्त्या ।

महाधनोऽप्यर्थमुखी च लोके गम्यश्च पूज्यो नृसुरामुराराम् ॥

—बराह्म०, २२.४७

२. योऽकारयेद्देशम् जिनेश्वराणां धर्मध्वजं पूततमं पृथिव्याम् ।

उन्मार्गयातानुबुधान्वराकान्सन्मार्गसंस्थांरतु क्षणात्करोति ॥

येनोत्तमं द्विजिनदेवगेहं संस्थापितं भक्तिमता नरेण ।

तेनात्र सा निःश्रयणी धरण्यां स्वर्गाधिरोहाय कृता प्रजानाम् ॥

—वही, २२.५०, ५१

३. वही, १५.१३६-३७

४. वही, २२.५४

५. सुकृत०, ११.२२, तथा वस्तु०, ६.६५६-५८

कार्यों पर लगाना ही उचित समझा जाता था। पद्मा० महाकाव्य में इसी उद्देश्य से छः मन्दिर बनवाने का वर्णन आया है।^१

जैन महाकाव्यों के देश वर्णनों से ज्ञात होता है कि जैन मन्दिरों की स्थिति नगरों में पर्याप्त समृद्ध रही थी। हेमचन्द्र के महावीरचरित में गाँवों में भी जैन मन्दिरों के होने के उल्लेख मिलते हैं।^२ किन्तु जैन महाकाव्यों के नगर वर्णनों के अवसर पर ही प्रायः जैन मन्दिरों के वर्णन आए हैं अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामों की अपेक्षा नगरों में अधिक समृद्ध जैन मन्दिरों का निर्माण होता था।^३

जैन मन्दिरों का स्थापत्य

जैन मन्दिर बहुत विशाल एवं गगन चुम्बी होते थे।^४ इनकी निकटस्थ भूमि में बड़े-बड़े बाग-बगीचे उद्यान आदि बनाए जाते थे।^५ वराहचरित में वर्णित इन्द्रकूट नामक विशाल मन्दिर के उद्यानों में प्रियङ्गु, अशोक, कर्णिकार, पुन्नाग, नाग, अशन, चम्पक, आभ्र, आंवला, अनार, मातुलिङ्ग, बेल, क्रमुक, अभया, ताल, तालीद्रुम, तमाल, सुवर्ण, (हरि चन्दन), वासन्ती, कुब्जक, बन्धूक, मल्लिका, मालती, जाती, अतिमुक्तक, खजूर, नारिकेल, द्राक्षा, गोल मिर्च, लवङ्ग, कङ्काल, कदली, ताम्बूल, आदि वृक्षों को लगाने का उल्लेख आया है।^६

मन्दिर में प्रेक्षागृह, अभिषेकशाला, स्वाध्यायशाला, सभागृह, सङ्गीतशाला, पट्टगृह, गर्भशाला आदि विविध प्रकार की शालाएं होती थीं।^७ मन्दिर का प्रवेश द्वार बहुत विशाल होता था। मन्दिर के पताका युक्त प्रधान शिखर बहुत ऊँचे बने होते थे।^८ जिन मन्दिर में एक बहुत बड़ा परकोटा भी बना होता था जिसमें सदैव सङ्गीत ध्वनि मुखरित रहती थी तथा गायकों द्वारा स्तुतिवाचन किया जाता था।^९

१. पद्मा०, ६.६६-६६

२. महावीरचरित, १२-७५

३. वराह०, १.३५ २२.५६, प्रद्यु०, १.२८, वसन्त०, २.२ कीर्ति०, १.६१

४. वराह०, २२.७६, प्रद्यु०, १.२८

५. चन्द्र०, १.३१

६. वराह०, २२.६६-७२, चन्द्र०, १.३१

७. प्रेक्षासभावत्यभिषेकशालाः स्वाध्यायसंगीतकपटशालाः।

सतोत्तराष्टालकवैजयन्त्यश्चलत्पताका रुचिरा विरेजुः॥

—वराह०, २२.६७

८. वराह०, २२.७६; प्रद्यु०, १.२८

९. सुशिल्पिनिर्मापितरम्यशालं मृदङ्गगीतध्वनिबुद्धशालम्। —वराह०, २२.५६

जैन मन्दिरों में मूंगे, मोतियों रत्नों आदि की मालाएं लटकी रहती थीं ।^१ मन्दिर की भित्तियों में सुन्दर चित्रकारियां निबद्ध होती थीं । द्वार के ऊपर कमल में निवास करते हुए लक्ष्मी का चित्र बना रहता था ।^२ मन्दिर की दीवारों में यक्षों, किन्नरों, भूतों, तीर्थंकरों, नारायणों, चक्रवर्तियों आदि जैन शलाका पुरुषों के चित्र बने रहते थे ।^३ घोड़े, हाथी, रथारोही, सिंह, व्याघ्र, हंस आदि के चित्र सोने, चांदी और ताँबे के आकारों पर काटकर मन्दिर के कपाटों पर निबद्ध किए जाते थे ।^४ मन्दिर में जिन प्रतिमाएँ विराजमान रहती थीं तथा इन प्रतिमाओं के सभी स्तम्भ स्फटिक मणि से बने होते थे । इन स्फटिक-स्तम्भों पर भी पुरुषों के सुन्दर चित्र काटकर बनाए गए थे । स्तम्भों पर स्वर्ण-निर्मित वलश सुशोभित रहते थे ।^५ मन्दिर का घराटल (पर्श) भी उत्तम प्रकार के मूंगे, मोती, मरकत, मणि, पुष्परागमणि, पद्मप्रभ (सफेद मणि) आदि से सुशोभित रहता था ।^६ मन्दिरों की भित्तियों तथा फर्शों पर विद्युद् स्वर्ण निमित्त कमल, वैदुर्य मणि-निमित्त कमल-नाल, महेन्द्र नील मणि निमित्त कमलों पर गुंजार करने वाले भ्रमरों की भी मनमोहक चित्रकारी उत्कीर्ण होती थी ।^७

वस्तुपाल तथा कुमारपाल की तीर्थयात्राएं

वस्तुपाल तथा कुमारपाल सम्बन्धी साहित्य से अनेक जैन तीर्थ स्थानों के महत्त्व की ऐतिहासिक पुष्टि होती है । प्रसिद्ध जैन तीर्थ स्थानों में अणहिलवाड-

१. अवचित्प्रवालोत्तमदामयष्टिः अवचित्च मुक्त्वान्तरलोलयष्टिः ।

ललम्बिरे ताः सह पुष्पयष्ट्या द्वारे पुनः कामलता विचित्राः ॥

—वराह, २२.६०

२. द्वारोपविष्टा कमलालया श्रीः । —वही, २२.६१

३. उपान्तयोः किन्नरभूतयक्षाः ।

तीर्थंकराणां हलिचक्रिणां च भित्त्यन्तरेष्वालिखितं पुराणम् ॥

—वही, २२.६१

४. ह्यद्विपस्यन्दनपुङ्गवानां मृगेन्द्रशार्दूल विहङ्गमानाम् ।

रूपाणि रूप्यैः कनकैश्च ताम्रैः कवाटदेशे मुकुतानि रेजुः ॥

—वही, २२.६२

५. वही, २२.६३

६. प्रवालकर्कतनपुष्परोगैः पद्मप्रभैः सस्यकलोहिताक्षैः ।

महीतलं यस्य मणिप्रवेकैस्तारासहस्रैरिव खं व्यराजत् ।

—वही, २२.६४

७. वही, ३२.६५

पाटण, स्तम्भतीर्थ, धोल्का, शत्रुञ्जय पर्वत, माउण्ट आबु, उज्जयन्त पर्वत आदि का जैन महाकाव्यों में विशेष उल्लेख आया है। चालुक्य कुमारपाल तथा मंत्री वस्तुपाल की तीर्थ यात्राओं के प्रसङ्ग में इन धार्मिक तीर्थस्थानों की विशेष चर्चा हुई है।

कीर्तिकौमुदी,^१ द्वयाश्रय^२ आदि ऐतिहासिक महाकाव्यों से राजा कुमारपाल तथा अमात्य वस्तुपाल की तीर्थ यात्राओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। गिरनार मन्दिर में स्थित एक शिलालेख तथा कीर्तिकौमुदी के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि १२२१ ईस्वी में वस्तुपाल को 'संघाधिपति' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी।^३ तदनन्तर उसने शत्रुञ्जय, उज्जयन्त (गिरनार) आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा की। वस्तुपाल धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध था। उसने ब्राह्मण धर्म के प्रति भी अपनी अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया।^४ देव पतन में शिव-सोमनाथ की पूजा करने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। राजा के आदेशानुसार वस्तुपाल ने माणिक्य खचित मुण्डमाला से सोमेश्वर की अर्चना की।^५ आचार्य हेमचन्द्र तथा राजा कुमारपाल द्वारा भी सोमनाथ-मन्दिर की यात्रा की गई। इस अवसर पर हेमचन्द्र ने सोमनाथ की स्तुति में एक संस्कृत पद्य की रचना भी की थी।^६

१. कीर्ति०, सर्ग० ६

२. द्वया०, २०.६०-१००

३. सं० ७७ वर्षे श्री शत्रुण्यज्योञ्जयन्तप्रभृतिमहातीर्थयात्रोत्सवप्रभावाविभूत श्रीमद्देवाधिदेवप्रस्तदासादितसंघाधिपत्येन... श्रीवस्तुपालेन
Burgess, J. Arch., Sur. W. Ind., No. 2, Memorandum of the Antiquities at Dabhoi, etc. p. 22 & Arch. Report. W. Ind. Vol. II, p. 170.

तथा तु०—चिकीर्षता श्रीसचिवेन तीर्थयात्रास्य सोऽयं समयः समेतः ।
धराधरं धर्मधुरन्धरः श्रीशत्रुञ्जयं शत्रुजयी जगाम ॥ १,
तमुज्जयन्तापरसंज्ञमद्रिमाज्ञाविधेयाखिलसंघलोकः । —कीर्ति० ६.१, २१, ३८

४. Munshi, K.M., Glory that was Gurjara Desa, p. 361-62

५. माणिक्यखचितं मुण्डमालमयमकारयत् ॥ —वस्तु०, ६.५३५-३६ तथा तु०
अम्यर्च्यं भक्त्या भवमत्र तीर्थे, श्री सोमनाथाभिधया प्रसिद्धम् ।

प्रत्तप्रसूनाञ्जलिना प्रदत्तो, जलाञ्जलिस्तेन पुनर्भवाय ॥

—कीर्ति०, ६.७१

६. Munshi, Glory that was Gurjara Desa, p. 362

वस्तुपाल द्वारा धार्मिक स्थानों का जीर्णोद्धार तथा मन्दिर-निर्माण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आलोच्य काल में मन्दिर निर्माण की ओर राजाओं की विशेष धार्मिक रुचि रही थी। ऐतिहासिक नायक अमात्य वस्तुपाल तथा तेजपाल ने माउण्ट आबु, उज्जयन्त पर्वत, स्तम्भतीर्थ, शत्रुञ्जय पर्वत, आदि धार्मिक तीर्थ स्थानों में स्थित अनेक जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया तथा जन-सामान्य की सुविधा के लिए कुए-तालाब आदि का निर्माण भी किया। वसन्तविलास, मुकुतसंकीर्तन आदि महाकाव्यों में इन तीर्थोद्धार सम्बन्धी गति-विधियों की विशेष चर्चा आई है।^१ माउण्टआबु प्रशस्ति से भी इन तथ्यों की पुष्टि होती है।^२ अभिलेखीय साक्ष्य बताते हैं कि वस्तुपाल तथा तेजपाल के धार्मिक स्थानों का निर्माण कार्य दक्षिण में श्रीशैल पर्वत तक, पश्चिम में प्रभासतीर्थ तक उत्तर में केदारनाथ तक तथा पूर्व में बनारस तक फैला हुआ था।^३ शत्रुञ्जय पर्वत पर अठारह करोड़, नब्बे लाख; गिरनार पर्वत पर बारह करोड़, अस्सी लाख तथा माउण्ट आबु पर बारह करोड़ तरेपन लाख तथा अन्य जनकल्याण कार्यों पर तीन सौ करोड़ चौदह लाख मुद्राओं के व्यय से इन धार्मिक स्थानों के पुनर्निर्माण का कार्य सम्भव हो पाया था।^४ जैन ऐतिहासिक महाकाव्यों के उल्लेखानुसार वस्तुपाल तथा तेजपाल ने विभिन्न स्थानों में जिन मन्दिरों, धर्मशालाओं, तालाबों आदि का जीर्णोद्धार किया अथवा जिनकी स्थापना की उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अणहिलबाड-पाटण—ईस्वी ११२६-२७ में पञ्चाक्षर-पादर्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार।^५

२. स्तम्भतीर्थ—(१) भीमेश के मन्दिर पर स्वर्ण-शिखर तथा ध्वज-स्थापन^६ (२) भट्टादित्य के मन्दिर में 'उत्तानपट्ट' स्थापना।^७ (३) पूजनवन

१. Buhler, G., The Sukritasamkīratana of Arisimha, Indian Anti-quary, Vol. XXXI, 1902, pp. 477-95.

Dalal, C.D., Vasanta Vilāsa Mahākāvya, Introduction, p. XVI.

२. तेन भ्रातृयुगेन या प्रतिपुरग्रामाश्वशैलस्थलं वापीकूपनिपातकाननसरः प्रासाद-सत्रादिकम् । धर्मस्थानपरम्परा नवतरा चक्रेऽथ जीर्णोद्घाता तत्सङ्ख्यापि न बुध्यते यदि परं तद्वेदिनी मेदिनी ॥ —आबुप्रशस्ति

३. Dalal, C. D., Vasant., Introduction, p. xvi

४. वही, पृ० १६

५. मुकुत०, ११-२, वस्तुपालचरित, ७.६६

६. मुकुत०, ११-३, वस्तु०, ४.७२०

७. मुकुत०, ११-४, वस्तु०, ४.७१६

(वहक भट्टार्क) में कृष्ण खुदवाना ।^१ (४) सूर्यमन्दिर (बकुल) का मण्डप परिवर्तन ।^२ (५) वैद्यनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार^३ (६) जैन मुनियों के दो उपाश्रयों तथा अनेक श्रौषधशालाओं का निर्माण करना^४ (७) जल-शालाओं की दो गोल गवाक्षों का निर्माण करवाना ।^५

३. धोल्का — (१) 'आदिनाथ' जैन मन्दिर का निर्माण कराना ।^६ (२) जैन मुनियों के लिए दो उपाश्रयों का निर्माण कराना ।^७ (३) भट्टार्क के राणक मन्दिर का जीर्णोद्धार कराना ।^८ (४) एक बापी का निर्माण तथा 'प्रपा' का जीर्णोद्धार कराना ।^९

४. शत्रुंजय पर्वत — (१) 'आदिनाथ' मन्दिर के आगे स्थित 'इन्द्रमण्डप' का निर्माण^{१०} (२) उज्जयिन्त स्थित दो जिन मन्दिरों—नेमिनाथ मन्दिर तथा जिन स्तम्भन मन्दिर (पादर्वनाथ मन्दिर) का निर्माण^{११} । (३) सरस्वती देवी की प्रतिमा का जीर्णोद्धार^{१२} (४) पूर्वजों की प्रतिमाओं का जीर्णोद्धार^{१३} (५) तीन गज-भूर्तियों की स्थापना, जिनके ऊपर स्वयं वस्तुपाल की, उसके भाई तेजपाल की तथा राजा वीरधवल की प्रतिमायें भी स्थित थीं ।^{१४} (६) अवलोकना, अम्बा प्रद्युम्न तथा शाम्भ नामक चार गिरनार पर्वत के शिखरों की प्रतिमाओं की स्थापना करना ।^{१५}

१. सुकृत०, ११.५
२. सुकृत०, ११.६, वस्तु०, ४.७२१
३. सुकृत०, ११.७, वस्तु०, ४.७१८
४. सुकृत०, ११.६, ४.३६
५. सुकृत०, ११.१०, कीर्ति०, ४.३३
६. सुकृत०, ११.११, वस्तु०, ३.४५७
७. सुकृत०, ११.२२
८. सुकृत०, ११.१३
९. सुकृत०, ११.१३-१४
१०. सुकृत०, ११.१५, वस्तु०, ६.३०, कीर्ति०, ६.२५
११. सुकृत०, ११.१६, वस्तु०, ६.१३१-३२, कीर्ति०, ६.३१-३३
१२. सुकृत०, ११.१७
१३. सुकृत०, ११.१८, वस्तु०, ६.६३३, कीर्ति०, ६.३४
१४. सुकृत०, ११.१६, वस्तु०, ६.३३-३४
१५. सुकृत०, ११.२०, वस्तु०, ६.६३१

जिन्हें आधुनिक अम्बा, गोरखनाथ, दत्तात्रेय तथा कालिकामाता शिखरों से अभिन्न माना जाता है।^१ (७) आदिनाथ मन्दिर अथवा जिनपति मन्दिर के तोरण की स्थापना।^२ वस्तुपालचरित के अनुसार यह तोरण इन्द्रभण्डप मन्दिर का था।^३ (८) भरुच (भृगुपुर) तथा साचोर (सस्यपुर) में क्रमशः 'सुव्रत' तथा 'वीर' के मन्दिरों की स्थापना।^४ वस्तुपालचरित के अनुसार ये दोनों मन्दिर आदिनाथ के दाएं तथा बाएं स्थित थे। इनमें से एक वस्तुपाल की पत्नी ललिता देवी, तो दूसरा उसकी दूसरी पत्नी सौर्यलता के निरिक्त बने थे।^५ (९) आदिनाथ प्रतिमा के पीछे 'पूठ-पट्ट' पट्टनिर्माण।^६ (१०) स्तम्भ द्वार को ऊपर उठाना।^७

५. पदलिप्तपुर (पालिताना)—(१) विशाल सरोवर का निर्माण करना^८
(२) जैन उपाश्रय का निर्माण करना।^९

६. अर्कपालित ग्राम (अंकवालय)—(१) तडाग निर्माण।^{१०}

७. उज्जयन्त पर्वत (गिरनार)—(१) स्तम्भन के 'पार्वनाथ' तथा शत्रुञ्जय के 'आदिनाथ' दो मन्दिरों का निर्माण करना।^{११} गिरनार शिलालेखों से भी इन दोनों मन्दिरों के अस्तित्व की पुष्टि होती है।^{१२} किन्तु वस्तुपालचरित के अनुसार केवल 'आदिनाथ मन्दिर' का ही निर्माण हुआ था।^{१३}

८. स्तम्भतीर्थ (स्तम्भन)—(१) नेमिनाथ तथा आदिनाथ की प्रतिमाओं से युक्त पार्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार।^{१४} वस्तुपालचरित के अनुसार वस्तुपाल

१. Arch. Sur. Rep. W. Ind, Vol. II, p. 170, 1.6

२. सुकृत०, ११.२१

३. वस्तु०, ६.६२९

४. सुकृत०, ११.२२

५. वस्तु०, ६.६५६-५८

६. सुकृत०, ११.२३

७. वही, ११.२४

८. वही०, ११.१६, वस्तु०, ६.६७७, कीर्ति०, १.३६

९. सुकृत०, ११.२७

१०. सुकृत०, ११.२९, वस्तु०, ६.६९०

११. सुकृत०, ११.३०

१२. Arch. Sur. Rep. W. Ind. Vol. II. p. 170, 1.6

१३. वस्तु०, ६.६९५

१४. सुकृत०, ११.३१

द्वारा इस मन्दिर के कोष में एक सहस्र दीनार दान के रूप में भी दिये गए थे ।^१

(२) पार्श्वनाथ मन्दिर के निकटस्थ 'प्रपा' का निर्माण ।^२

६. वर्धभती अथवा बभोई—वैद्यनाथ के 'शिव' मन्दिर के स्वर्णकुम्भों को मालवेश उतार कर ले गया था । वस्तुपाल ने इनकी पुनः स्थापना की । यहीं पर 'सूर्य देव' की प्रतिमा का भी निर्माण किया गया ।^३

१० माउण्ट आडु (अर्बुदाक्षल)—मरुतदेव के मन्दिर का निर्माण । वस्तुपालचरित के अनुसार यह मन्दिर शत्रुजय पर बना था ।^४

राजा कुमारपाल द्वारा मन्दिर निर्माण

राजा कुमारपाल ने भी धार्मिक मन्दिरों के निर्माण कार्य को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया ।^५ मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार इनकी संख्या १४४० तथा चरित्रकुन्दरमणि के अनुसार १४०० थी । हेमचन्द्र तथा सोमप्रभसूरि के अनुसार भी राजा कुमारपाल ने असंख्य जैन मन्दिरों का निर्माण किया ।^६ हेमचन्द्र के अनुसार प्रत्येक गांव में भी जैन मन्दिर था ।^७ दयाश्रय के अनुसार कुमारपाल ने अणहिलवाड में 'कुमार विहार' तथा देव पत्तन में 'पार्श्वनाथ' मन्दिरों को बनवाया था ।^८ मेरुतुङ्ग द्वारा दी गई सूचनाओं के अनुसार काम्बे (खम्भात) में 'दक्षिण विहार' तथा हेमचन्द्र से जन्म स्थान 'टनदुका' (धंघूका) में 'भोलिका विहार' नामक दो मन्दिरों के निर्माण की भी सूचना प्राप्त होती है ।^९ कुमारपाल ने शत्रुजय तथा गिरनार आदि तीर्थ स्थानों का भी दर्शन किया ।^{१०} गिरनार में राजा ने एक बहुत बड़े राजमार्ग का भी निर्माण किया था । इस कार्य का दायित्व सौराष्ट्र के राज्याधिकारी आश्रदेव को सौंपा गया था । कुछ दूसरे साक्ष्यों के अनुसार इस कार्य को कुमारपाल के मंत्री वाग्भट ने पूरा किया था ।^{११}

१. वस्तु०, ६.५१८

२. सुकृत०, ११.३२

३. सुकृत०, ११.३३, वस्तु०, ३.३७१

४. सुकृत०, ११.३४, वस्तु०, ८.७६

५. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ७५-७८, प्रभावकचरित १२.३८-४७, प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३८-३८, कुमारपालप्रबन्ध, पृ० ६६-१०४

६. कुमारपालप्रतिबोध, पृ० ७५-७८, तथा प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० २३८-३६

७. महावीर०, १२.७५

८. दया०, २०.६८-६९

९. प्रबन्ध०, पृ० २३२

१०. Munshi, Glory that was Gurjara Desa, p. 362.

११. Seth, Jainism in Gujarat, pp. 77-78

५. जैन धार्मिक पर्व एवं महोत्सव

१. नित्य मह—सामान्यतया धार्मिक पूजा अथवा पर्व के लिए 'मह' शब्द का व्यवहार होता है।^१ जैन समाज में अनेक प्रकार के 'महों' का प्रचलन रहा था नियमित रूप से मन्दिर में पूजा करना 'नित्य मह' कहलाता है। पं० आशाधर ने अपने सागर धर्माभूत में 'नित्य मह' का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है प्रतिदिन अपने घर से लाए गए जल, चन्दन, अक्षत आदि के द्वारा जिनालय में जिन भगवान् की पूजा करना अथवा अपने धन से जिनबिम्ब, जिनालय आदि बनवाना अथवा भक्तिपूर्वक गाँव, मकान, जमीन आदि को शासन विधान के अनुसार दानस्वरूप प्रदान करना अथवा अपने घर में तीनों सन्ध्याओं को ग्रहन्तदेव की आराधना करना और मुनियों को प्रतिदिन पूजापूर्वक आहार देना 'नित्यमह' कहलाता है।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नित्यमह' जैन पूजा-अर्चना के व्यापक सम्दर्भों में प्रयुक्त हुआ है। इसके अन्तर्गत, दैनिक पूजा के अतिरिक्त, मन्दिर बनवाना, भूमिदान देना आदि सभी प्रकार के धार्मिक कृत्य सम्मिलित हैं। इसके नन्दीश्वरपर्व, इन्द्रध्वज, सर्वतोभद्र, चतुर्मुख, कल्पद्रुममह, महामह आदि अनेक भेद भी स्वीकार किए जाते हैं।^३ वराहचरित के २२वें-२३वें सर्ग में 'मह' का भव्य वर्णन हुआ है।

२. अष्टाह्निक मह (नन्दीश्वर पर्व)—आशाधर के अनुसार भव्य जीवों के द्वारा 'नन्दीश्वर पर्व' में अर्थात् प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन के शुक्लपक्ष के अष्टमी आदि आठ दिनों में जो निरन्तर रूप से विशेष जिन पूजा की जाती है वह 'अष्टाह्निक मह' कहलाता है।^४ चन्द्रप्रभ महाकाव्य में इसका 'नन्दीश्वर पर्व' के रूप में वर्णन आया है।^५ वराहचरित में भी 'अष्टाह्निक मह' का उल्लेख आया है।^६ इस पर्व के अवसर पर राजा भी अपने परिवार सहित आठ दिन का उपवास रखते थे। आठों दिन जिनेन्द्र की पूजा-अर्चना की जाती थी। तदनन्तर जिनबिम्ब का विधिपूर्वक अभिषेक किया जाता था।^७ वराहचरितकार ने नन्दीश्वर पूजा का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि 'अष्टाह्निक पर्व' में स्वर्ग के इन्द्र प्रतिवर्ष श्री नन्दीश्वर द्वीप में विराजमान कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन बिम्बों की विशाल पूजा का

१. महीयते—पूज्यो भवति।—धर्माभूत (सागर), पृ० ७२

२. वही, ११.२५, पृ० ७२

३. वराहचरित, खुशाल चन्द्र गोरावाला, पृ० ३५१

४. धर्माभूत (सागर), ११.२६, पृ० ७३

५. चन्द्र०, ३.६०

६. अष्टाह्निकं शिष्टजनाभिजुष्टम्।—वराह०. २३.६४

७. चन्द्र०, ३.६०-६१

आयोजन करते हैं।^१ वराहचरित में इस अवसर पर जिनालय निर्माण, उनकी साज सज्जा, दान-भक्ति, दिक्पालपूजा, कलशयात्रा, जलयात्रा, अभिषेक-क्रिया आदि धार्मिक कृत्य विस्तार से वर्णित हैं।^२

३. महामह^३—मण्डलेश्वरादि राजा द्वारा जिनेन्द्र की जो विशेष पूजा की जाती थी उसे 'महामह' कहा जाता था।^४ चन्द्रप्रभचरित में निर्दिष्ट 'परमपर्व' का इसी 'महामह' से सम्बन्ध रहा होगा।^५ इसमें 'नन्दीश्वर पूजा' का भी स्पष्ट उल्लेख आया है।^६ पं० आशाधर 'महामह' को 'अष्टात्मिक पर्व' से कुछ विशिष्ट मानते हैं तथा 'सर्वतोभद्र' 'चतुर्मुख' इसकी अपरसंज्ञाएं प्रतिपादित करते हैं। 'नन्दीश्वर', 'अष्टात्मिक पर्व', 'महामह' आदि कुछ दृष्टियों से पृथक्-पृथक् रहे होंगे किन्तु इनका महोत्सवीय स्वरूप परस्पर समान है। कभी-कभी इन पर्वों को 'जिन मह' का भेद भी मान लिया जाता है।^७

४. इन्द्रध्वज मह^८—नन्दीश्वर पर्व की भांति प्रतिवर्ष आषाढ़ या कार्तिक तथा फाल्गुन मासों के शुक्ल पक्ष की अष्टमी से आठ दिन पर्यन्त इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिकादिक देवों द्वारा की जाने वाली पूजा 'इन्द्रध्वजमह' के नाम से प्रसिद्ध है। यदि इसी पर्व को भव्य-जीव सम्पादित करें तो इसे 'अष्टात्मिक' कहा जाता है।^६ पं० आशाधर ने अनुष्ठान-कर्ता के भेद से 'अष्टात्मिक' एवं 'इन्द्रध्वज' में भेद स्वीकार किया है।^९

५. सांवत्सर पर्व^{१०}—चैत्र मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को यह उत्सव मनाया जाता था। अर्बुदाचल पर्वत पर आयोजित होने वाले इस महोत्सव के अवसर पर तीर्थंकर ऋषभनाथ की स्तुति विशेष रूप से की जाती थी।^{१२}

१. वराह० २२.२६-३७
२. वही, सर्ग २२-२३
३. वराह० १५.१४०, चन्द्र०, ३.६०
४. धर्माभूत (सागार), ११.२७
५. नान्दीश्वरं परमपर्वं समामसाद । —चन्द्र० ३.६०
६. वही, ३.६०
७. धर्माभूत (सागार), ११.२७
८. वराहचरित, खुशाल चन्द्र गोरवाला, पृ० ३५१
९. द्वया० ३.१०५
१०. कैलाशचन्द्र, शास्त्री, जैन धर्म, पृ० ३२२
११. द्वया० १६.५०, तथा द्रष्टव्य, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म, पृ० ३३१
१२. द्वया०, १६.५० पर अभयतिलक टीका, पृ० २६५

६. दीपोत्सव—भगवान् महावीर की निर्वणतिथि के रूप में इस पर्व को जैन समाज बहुत उत्साह से मनाता था । इस उपलक्ष्य में सम्पूर्ण नगर को दीपकों से सजाया जाता था ।^१

तीर्थयात्रा-महोत्सव

सोमेश्वर कृत कीर्तिकौमुदी महाकाव्य में सामूहिक रूप से तीर्थयात्रा करने के उद्देश्य से सम्बद्ध एक यात्रा-उत्सव विशेष का भी वर्णन आया है ।^२ इस अवसर पर वस्तुपाल तथा उसके साथ जाने वाले प्रजा वर्ग ने विभिन्न तीर्थ स्थानों के दर्शन किए । प्रयाण करने से पूर्व धुभ मुहूर्त निकाला गया था ।^३ इस धर्मयात्रा उत्सव के अवसर पर रथ-वाहन आदि के साथ-साथ विशाल जन समूह भी प्रयाण कर रहा था । मार्ग में यात्रकों को दान आदि के रूप में अनेक वस्तुएं प्रदान की गयीं । जैन परम्परानुमोदित माङ्गलिक लोकगीत गाकर नागरिक अपना उत्साह प्रकट कर रहे थे । मार्ग में जितने भी जैन मन्दिर आते थे उनकी अर्चना करने के बाद ही जलूस आगे बढ़ता था ।^४

६. जैन देवशास्त्र तथा पौराणिक विश्वास

जैन देवों का वर्गीकरण

जैन देवशास्त्र के अनुसार देवलोक अर्थात् स्वर्ग में चार प्रकार के देवों की स्थिति मानी गई है :—१. भवनवासी देव —२. व्यन्तर देव, ३. ज्योतिष्क देव तथा ४. वैमानिक देव ।^५ १. भवनवासी देव दश प्रकार के हैं—सुपर्ण, नाग, उदधि, दिक्, द्वीप, अग्नि, विष्णु, स्तनित (मेघ), अनिल तथा अमुर ।^६ २. व्यन्तर देव—आठ प्रकार के कहे गये हैं—भूत, पिशाच, गरुड, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस तथा किम्पुरुष ।^७ ३. ज्योतिष्कदेव—पांच प्रकार के हैं—सूर्य, चन्द्रमा, तारकवर्ग, ग्रह

१. वराह्म०, २३.८, चन्द्र०, २.१३०

२. द्रष्टव्य, कीर्तिकौमुदी, सर्ग ६ तथा मुकुतसङ्कीर्तन, सर्ग-७, ८ तथा ९

३. कीर्ति०, ६.६

४. वही, ६.१५-२०

५. वैमानिकानां भवनाधिपानां ज्योतिर्गणव्यन्तरसंज्ञकानाम् ।

—वराह्म०, ६.१ तथा चन्द्र०, १८.४८, धर्म० २१.६०

६. वराह्म०, ६.४, चन्द्र०, १८.४८, धर्म०, २१.६१

७. वराह्म०, ६.५, चन्द्र०, १८.४९, धर्म०, २१.६३

तथा नक्षत्र ।^१ ४. वैमानिक देव — मुख्यतः दो भागों में विभक्त हैं—कल्पज और कल्पातीत^२ । सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार; माहेन्द्र, ब्राह्म, लान्तव, ध्रुव, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत — इन बारह कल्पों में वास करने के कारण 'कल्पवासी' देवों के भी बारह भेद स्वीकार किए गए हैं ।^३ परन्तु इनके ऊपर भी सारस्वत, आदिष्य, अहमिन्द्र, आदि 'कल्पातीत' नामक दूसरे प्रकार के वैमानिक देवों की स्थिति रहती है । अहमिन्द्र से ऊपर ग्रैवेयक देवलोक पड़ता है जिसके नौ विभाग हैं तथा अघोर्गवेयक, मध्य ग्रैवेयक एवं ऊर्ध्व ग्रैवेयक नामक तीन उपविभाग भी हैं । ग्रैवेयक से ऊपर विजय, जयन्त, वैजयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि नामक पांच विमान एक दूसरे के ऊपर होते हैं ।^४ आचार्य श्री देशभूषण जी ने शास्त्रसार समुच्चय में भाए 'पंचानृत्तराः' की व्याख्या करते हुए विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा पराजित नामक चार विमानों को पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं के श्रेष्ठी-बद्ध विमान के रूप में तथा सर्वार्थसिद्धि को मध्य स्थित पांचवे विमान के रूप में प्रारूपित किया है ।^५

जैन देवशास्त्र के अनुसार प्रत्येक स्वर्ग में देवों के विभिन्न वर्ग होते हैं । सौधर्म आदि वैमानिक देवों के स्वर्ग में दश प्रकार के अघोलिखित देववर्ग पाए जाते हैं :—

१. इन्द्र (प्रधान), २. सामानिक (इन्द्र के समकक्ष), ३. लोकपाल (दण्ड-नायक आदि), ४. त्रयस्त्रिंश (मंत्री, पुरोहित आदि), ५. अनीक (सैनिक आदि), ६. प्रकीर्णक (प्रजा के समान) ७. किल्बिषक (निम्न वर्ग), ८. आत्मरक्षा (अङ्गरक्षक), ९. अभियोग्य (सेवक वर्ग वाहन आदि के काम में आने वाले तथा १०. परिषत्त्रय (सभापद) ।^६ सूर्यादि ज्योतिष्क देवों तथा किन्नर आदि व्यन्तर देवों में त्रयस्त्रिंश तथा लोकपाल नामक देववर्गों की स्थिति मानी

१. वराह्मण, ६.६, चन्द्र०, १८ ४६, धर्म०, २१.६४

२. वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः कल्पातीताश्च कल्पजाः ।

—चन्द्र०, १८.५० तथा धर्म०, २१.६६

३. वराह्मण, ६.७-८, चन्द्र०, १८.५०, धर्म०, २१.६७.६८

४. वराह्मण, ६.१०-११, चन्द्र०, १८.५०-५१, २१.७०-७५

५. शास्त्रसारसमुच्चय, हिन्दी टीकाकार आचार्य श्री देशभूषण जी, दिल्ली, १९५७, पृ० १४३

६. इन्द्राश्च सामानिकलोकपालास्तथा त्रयस्त्रिंशदनीकिनश्च ।

प्रकीर्णकाः किल्बिषिकात्मरक्षा अथाभियोग्याः परिषत्त्रयं च ॥

—वराह्मण, ६.५०

गई है।^१ महाकाव्यों में इन देवों की आयु आदि का भी विस्तृत विवेचन मिलता है।^२

जैन देवों का स्वरूप

जनसामान्य में यह धार्मिक विश्वास प्रचलित था कि सदाचरण एवं धार्मिक व्रताचरण द्वारा देवपद की प्राप्ति संभव है। अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों दिग्ब्रतों, गुणव्रतों तथा शिक्षाव्रतों का पालन करने से स्वर्ग प्राप्ति की मान्यता प्रसिद्ध थी।^३ व्रत, उपवास, तपस्या आदि भी देवलोक प्राप्ति के सोपान माने जाते थे।^४ वराङ्गचरित के अनुसार पानी में डूबकर, जलती आग में कूदकर, पर्वत से गिरकर, धातक विषपानकर, किमी शस्त्रादि अवदा रस्सी आदि द्वारा फांसी लगाकर आत्महत्या करने वाले लोगों की भी देवगति सम्भव थी किन्तु इस प्रकार के देवों के सुखों की मात्रा न्यून मानी गई है।^५ इसी प्रकार आचार-शीलादि से रहित किन्तु शुद्ध दृष्टि वाले मनुष्यों को भी स्वर्गलोक की प्राप्ति संभव थी।^६

स्वर्गलोकों में देवताओं का जन्म अकस्मात् ही होता है। ये देव अत्यन्त रमणीय शय्या पर जन्म लेते हैं तथा एक मूहूर्त के अन्दर ही शारीरिक दृष्टि से परिपूर्ण हो जाते हैं।^७ इन देवों के सामने जब अन्य किन्हीं देवों का जन्म होता है तो ये बहुत प्रसन्न होते हैं, आनन्द में तालियाँ बजाते हैं, विस्फोट-ध्वनि करते हैं

१. वराङ्ग०, ६.५१

२. वराङ्ग०, ६.१२-४६, चन्द्र०, १८.५६-६५, २१.६०-७७

३. अणुव्रतानां च गुणव्रतानां शिक्षाव्रतानां परिपालका ये ।
सम्भूय सर्वद्विमितोन्द्रलोकं महर्द्धिकास्ते त्रिदशाभवन्ति ॥

—वराङ्ग०, ६.१०

४. वही, ६.२५-३०

जलप्रवेशादनलप्रवेशान्मरुत्प्रपाताद्विषभक्षणाद्वा ।

शस्त्रेण रज्ज्वात्मवषाभिकामा अस्पृद्धिकास्ते दिविजा भवन्ति ॥

—वही, ६.२६

५. नाचारवन्तो विकृता विशीला गुणैर्व्यपेता व्रतदानहीनाः ।
असंयताः केवलभोगकाङ्क्षाः सरुष्टिशुद्धास्त्रिविधं प्रयान्ति ॥

—वही, ६.३२

६. वही, ६.३७

७. वही, ६.३८

तथा मङ्गल-गानों से उनका अभिनन्दन करते हैं।^१ सुन्दर अप्सराएं उनके समक्ष नृत्य करती हैं तथा सङ्गीत आदि से उनका मनोरञ्जन करती हैं।^२ स्वर्गस्थ देवों को मनोवांछित वस्तुएं प्राप्त रहती हैं तथा देवांगनाओं के साथ वे नित्य विहार करते हैं।^३ इनमें यह बोध होता है कि स्वर्ग सुख की प्राप्ति उन्हें दयाभाव, दान, इन्द्रिय-दमन, ब्रह्मचर्यव्रत, जिनेन्द्र-पूजा आदि कर्मों के परिणामस्वरूप ही हुई है।^४

स्वर्गलोकवासी देव विमानों में बैठकर स्वर्गलोक में विचरण करते हैं।^५ शक्ति की दृष्टि से देव बहुत पराक्रमी होते हैं। ये चाहें तो सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंके, सारी पृथ्वी को एक हाथ से उठा दें तथा एक ही भटके से सूर्य-चन्द्र को पृथ्वी पर गिरा दें।^६ स्वभाव से ही देवताओं का शरीर सुन्दर तथा सूर्य के समान तेजस्वी होता है।^७ उनके शरीर से मधुर सुगन्ध आती रहती है।^८ जन्म से ही वे परिपुष्ट तथा सुन्दराकृति होते हैं तथा कभी भी उनमें शारीरिक ह्रास या विकार नहीं आता।^९ उनके बाल सुन्दर, घुंघराले तथा नीले वर्ण के होते हैं।^{१०} उनके शरीर में हड्डी नहीं होती। किसी भी देव को न ही रज-शुक-स्त्राव ही होता

१. प्रजायमानान्सहसा समीक्ष्य समुङ्गलाविष्कृतपुण्यघोषाः ।

प्रस्फोटिताः क्ष्वेणितमुष्टिनादाः कुर्वन्ति देवा मुदिता नमन्तः ॥

—वराह, ६.३६

२. नृत्यन्ति तत्राप्सरसो वराङ्गो वीणाः सलीलं परिवादयन्ति ।

—वही, ६.४०

३. ऐश्वर्ययोगद्विविशेषयुक्ताः प्रियासहाया विहरन्ति नित्यम् ।

—वही, ६.४१

४. दयातपोदानदमार्जवस्य सद्ब्रह्मचर्यव्रतपालनस्य ।

जिनेन्द्रपूजाभिरतेर्विपाकोऽप्ययं स इत्येव विबोधयन्ति । —वही, ६.४२

५. नभश्चरा यानविमानयाना अनूनभोगा दिविजा रमन्ते ।

—वही, ६.४८

६. उत्पाटयेयुः स्वभुजेन मेरुं महीं कराग्रेण समुद्धरेयुः ।

आदित्यचन्द्रावपि पातयेयुर्महोदधिं चापि विशोषयेयुः ॥

—वही, ६.४८

७. स्वभावतो बालदिवाकराभाः । —वही, ६.४१

८. स्वभावतो दिव्यसुगन्धिगन्धाः । —वही, ६.४३

९. वही, ६.४४

१०. समुल्लसत्कुञ्चितनीलकेशाः । —वही, ६.४६

है और न किसी प्रकार का पसीना आदि ही आता है।^१ वे कभी सोते नहीं और न कभी पलकें झपकाते हैं।^२ अनेक प्रकार के रोगों तथा जरा आदि अवस्थाओं से वे सदा बचे रहते हैं।^३ विभिन्न स्वर्गों में देवों की आयु पृथक्-पृथक् मानी गई है।^४

जैन देवियों का स्वरूप

जैन देवत्व की शास्त्रीय परिकल्पनाओं में देवियों की विलासपूर्ण गति-विधियों का विशेष वर्णन आया है। विभिन्न प्रकार के देववर्गों में तदनुसारी देवियों की भी स्थिति रही थी। मुख्यतः जैन देवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—१. प्रासाद देवियाँ, २. कुल देवियाँ तथा ३. सम्प्रदाय देवियाँ।^५ जैन देव पूजा के अन्तर्गत तीर्थङ्करों के साथ-साथ देवियों की भी पूजा की जाती है जिनमें सरस्वती, अम्बिका, पद्मावती आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।^६ इनके अतिरिक्त ज्वालामालिनी, सिद्धिदायिका (यक्षिणी), महाकाली, चक्रेश्वरी, श्री, लक्ष्मी, शान्ति देवी आदि देवियों के पूजा होने की ऐतिहासिक पुष्टि विभिन्न प्रान्तों से प्राप्त जैन देवी-मूर्तियों से होती है।^७ इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से जैनधर्म में देवी पूजा का महत्त्व रहा था।

जैन देवी-तत्त्व की कल्पना जैन देवशास्त्र की एक निराली कल्पना है। जैन धर्म ग्रन्थों में देवमति नामक कर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की विभूतियों से विशिष्ट द्वीप समुद्रादि में स्वेच्छानुसार विहार करना 'देवत्व' माना गया है। पंचसंग्रह के अनुसार दिव्यभावयुक्त अणिमादि आठ गुणों से नृत्य-क्रीड़ा आदि करना

१. अनस्थिकायास्त्वरजोऽम्बराश्च सर्वे सुराः स्वेदरजोविहीनाः ।

—बराह्म, ६.४६

२. अपेतनिद्राक्षिनिमेषशोकाः । —वही, ६.४७

३. आ जन्मनस्ते स्थिरयौवनाश्च । —वही, ६.४४ तथा
जराश्रुजाक्लेशशर्तैर्विहीनाः । —वही, ६.४६

४. वही, ६.५५-६०

५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३३८-३३९

६. पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, जैन धर्म में देवियों का स्वरूप (निबन्ध), आस्था और चिन्तन, आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, जैन इतिहास कला और संस्कृति—खण्ड, पृ० १५४

७. वही, पृ० १५३-१५७

‘देवत्व’ का लक्षण है। देवताओं की इन विलासपूर्ण चेष्टाओं के सम्पादन में देवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। ‘शास्त्रसार समुच्चय’ की कन्नड टीका में स्वर्गस्थ देव-देवाङ्गनाओं से विशेष महिमा-मण्डित निरूपित हुए हैं। ये देव, देवाङ्गनाओं के बिम्बाधारों का रसपान करते हुए, उनके अनुपम सौन्दर्य को निहारते हुए, नूपुर की सुमधुर झंकार का श्रवण करते हुए, मुख की सुगन्ध लेते हुए, कुच प्रदेश का स्पर्श करते हुए तथा अन्य इन्द्रिय जन्य सुख को भोगते हुए स्वर्ग में आनन्द मनाते हैं।^१ भवनवासी देव अपनी देवियों के साथ जलक्रीड़ा, स्थलक्रीड़ा, शयनक्रीड़ा दोलाक्रीड़ा तथा वाहनक्रीड़ा करते हुए निरूपित किए गए हैं।^२ भवनवासी ईशान कल्प तक रहने वाली देवियों काय-प्रविचार युक्त मानी गई हैं अर्थात् ‘मनुष्य’ के समान अनुभव करने से वे तृप्त हो जाती हैं। सानस्कृत महेन्द्र कल्प के देव देवियों के स्पर्श मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। इससे ऊपर के चार कल्पों के देव देवियों के रूप का अवलोकन मात्र करने से तृप्त होते हैं। उनके शृङ्गार, रूप-लावण्य, हाव-भाव आदि ही देवों की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त माने जाते हैं।^३

जैन महाकाव्य वराङ्गचरित में उपर्युक्त जैन देवियों का देवशास्त्रीन चरित्र चित्रित हुआ है। उन्हें अत्यन्त सुन्दर तथा विलासपूर्ण चेष्टाओं से युक्त माना गया है। अपनी अनुपम सुन्दरता तथा बहुमुखी प्रतिभा से वे देवों को आकर्षित करती प्रतिपादित की गई हैं।^४ प्रायः ये देवियां पत्नी की मर्यादाओं का पालन करती हुई अपने देव पतियों के आज्ञानुकूल व्यवहार करती हैं।^५ अपरिमित सौन्दर्य और लावण्य की स्वामिनी स्वर्गीय देवियां अपनी शारीरिक रचना, वेशभूषा, हावभाव, प्रेमप्रदर्शन, से विलक्षण एवं कल्पनातीत रूप से वर्णित हैं।^६

१. शास्त्रसार समुच्चय, (कन्नड टीका), हिन्दी टीकाकार आचार्य श्री देशभूषण पृ० १०७

२. वही, पृ० १४६

३. वही, पृ० १४६

४. सुराङ्गना वैक्रियचारुवेषाः सुविभ्रमाः सर्वकलाप्रगल्भाः ।
विशिष्टनानाद्विगुणोपपन्ना गुणैरनेकै रमयन्ति देवान् ॥

—वराङ्ग०, ६.५२

५. स्वनाथकायानुविकाररूपाः स्वनाथभावप्रियचारुवाक्याः ।

स्वनाथदृष्टिक्षमचारुवेषाः स्वनाथसच्छासनसक्तचित्ताः ॥

—वही, ६.५३

६. वही, ६.५४

कालविभाजन एवं युगचक्र

सूक्ष्म दृष्टि से काल का प्रत्येक क्षण एक दूसरे से भिन्न है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे विभाजित भी किया जाता है।^१ इसके परिवर्तन में शलाकापुरुषों की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी गई है।^२ कालविभाजन की जैन मान्यता के अनुसार न गिने जा सकने योग्य काल को 'आवलिका' संज्ञा दी गई है।^३ गणनातीत (असंख्यात) आवलिकाओं के बीत जाने पर एक 'शब्द' होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार सात आवलिकाओं के बीत जाने पर एक 'स्तोक' होता है। सात 'स्तोक' के बीत जाने पर एक एक 'लव' होता है। ३८ 'लवों' से कुछ अधिक प्रमाण वाला 'मुहूर्त' कहलाता है।^४ एक 'मुहूर्त' में दो नाड़ियाँ तथा ३० 'मुहूर्तों' का एक दिन-रात होता है। पन्द्रह दिन-रातों का एक 'पक्ष' होता है तथा दो 'पक्षों' से एक 'मास' बनता है।^५ दो मास की एक 'ऋतु' होती है। तीन ऋतुओं से एक 'आयन' बनता है। 'उत्तरायण' तथा 'दक्षिणायन' से एक 'वर्ष' बनता है।^६ जैन मनीषियों ने सम्पूर्णकाल को दो भागों में विभक्त किया है—'उत्सर्पिणी' तथा 'श्रवसर्पिणी' जो अनादि और अनन्त कहे गए हैं।^७ इनका चक्र उसी विधि से पूरा होता है जैसे चान्द्र मास में 'शुक्ल' तथा 'कृष्ण' पक्ष का चक्र।^८ प्रत्येक 'श्रवसर्पिणी' तथा 'उत्सर्पिणी' काल को क्रमशः छह निम्नलिखित उपकालों में विभाजित किया गया जाता है—

(क) श्रवसर्पिणीकाल—१. सुषमा-सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा-दुःषमा, ४. दुःषमा-सुषमा, ५. दुःषमा तथा ६. दुःषमा-दुःषमा (अति दुःषमा)

१. कालं पुनर्योगविभागमेति निगद्यतेऽसौ समयो विधिज्ञैः ।

—वराह०, २७.३

२. कालायुषी क्षेत्रमतो जिनाश्च जिनान्तरं चक्रभूतस्तथैव । —वही, २७.२

३. वही, २७.३-४

४. खुशाल चन्द्र गोरावाला, वराहचरित पृ० २५७

५. एको मुहूर्तः खलु नाडिके द्वौ त्रिशन् मुहूर्ता दिनरात्रिकौ ।

त्रिपञ्चकैस्तेदिवसैश्च पक्षः पक्षद्वयं मासमुदाहरन्ति ॥

—वही, २७.५

६. वही, २७.६

७. उत्सर्पिणी वाप्यश्रवसर्पिणी च अनाद्यनन्ताविह यौ च कालौ ॥

—वही, २७.२७

८. तौ भारतैरावतयोः प्रदिष्टौ पक्षौ यथैवात्र हि शुक्लकृष्णौ ॥

—वही, २७.२७

(ख) उत्सर्पणीकाल—१. दुःषमा-दुःषमा (अति दुःषमा), २. दुःषमा, ३. दुःषमा-सुषमा, ४. सुषमा-दुःषमा ५. सुषमा तथा ६. सुषमा-सुषमा^१

उपर्युक्त छह कालों में से प्रथम—‘सुषमा-सुषमा’ काल का चार कोटि-कोटि (कोड़ाकोड़ी) सागर प्रमाण है। दूसरा कालविभाग—‘सुषमा’ तीन कोटि-कोटि सागर प्रमाण वाला होता है। तीसरे—‘सुषमा-दुःषमा’ का काल प्रमाण एक कोटि-कोटि सागर है। चौथे—‘दुःषमा-सुषमा’ का प्रमाण ४२ हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागरोपम माना जाता है। पांचवे काल—‘दुःषमा’ का प्रमाण २१ हजार वर्ष है तथा छठे—‘दुःषमा-दुषमा’ का काल भी २१ हजार वर्ष माना गया है।^२ इस काल परावर्तन में कुलकर, तीर्थङ्कर आदि शलाकापुरुषों का आविर्भाव होता है जो कर्मभूमि की अपेक्षा से जीवमात्र का कल्याण करते हैं।^३

चौदह कुलकर अथवा सोलह मनु

जैन परम्परा के अनुसार जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से भोग भूमि का ह्रास होने पर १४ अथवा १६ कुलकरों के आविर्भाव को माना जाता है। ‘कुल’ की मांति इकट्ठे रहने का उपदेश देने कारण इन्हें ‘कुलकर’ संज्ञा दी गई है।^४ इन्होंने अनेक कुल स्थापित किए इसलिए इन्हें ‘कुलधर’ भी कहा जाता है।^५ प्रजा के जीवन-यापन सम्बन्धी उपायों को जानने के कारण ‘कुलकर’ ‘मनु’ भी कहलाते हैं।^६ कुलकरों को अवधिज्ञानी नहीं माना जाता परन्तु विशेष ज्ञानी होने के कारण ये ‘जाति-स्मरण’ के धारक माने जाते हैं। ‘कुलकरों’ ने कल्पवृक्षों की हानि के द्वारा जन सामान्य की कठिनाइयों को समझा और उनका समाधान बताकर लोगों का कष्ट दूर किया।^७ संख्या की दृष्टि से चौदह ‘कुलकर’ चौदह ‘मनु’ के रूप में भी माने जाते हैं। कभी कभी तीर्थङ्कर ऋषभ देव तथा चक्रवर्ती भरत की गणना ‘कुलकरों’ अथवा ‘मनुओं’ के रूप में भी की जाती है। फलतः जैन परम्परा में १६ ‘कुलकरों’ अथवा १६ ‘मनुओं’ की अवधारणा भी प्रचलित रही है।^८ ‘कुलकरों’ के क्रमिक नाम इस प्रकार हैं :—(१) प्रतिश्रुति (२) संमति (३) क्षेमधर (४) क्षेमंकर (५) सीमंकर (६) सीमंघर (७) अमलवाहन (विमलवाहन)

१. वराङ्ग०, २७.२८, चन्द्र०, ६.३५, धर्म०, २१.५०-५१

२. वराङ्ग० २७ २६-३०, चन्द्र०, १८.३६-४१, धर्म०, २१-५३-५४

३. उत्पेदिरे कारणमानुषास्ते जिनाश्चतुर्विंशति तत्र जाताः । —वही, २७.३२

४. आर्याणां कुलं संस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे । —महापुराण, ३.२११

५. कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति । —वही, २१२

६. प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः । —वही, २११

७. शास्त्रसार समुच्चय, हिन्दी टीकाकार आचार्य श्री देशभूषण, पृ० १२

८. द्रष्टव्य जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृ० २३ तथा महापुराण, ३.२३२

(८) चक्षुष्मान (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) मरुदेव (१३) प्रसेनजित तथा (१४) नाभिराय^१। इनके अतिरिक्त महापुराण^२ एवं वराङ्ग-चरित^३ आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव तथा भरत को 'मनुष्यों' के रूप में परिगणित करते हुए कुल 'मनुष्यों' अथवा 'कुलकरो' की संख्या सोलह तक पहुंचा दी गई है। आचार्य श्री देशभूषण जी ने ऋषभदेव को पन्द्रहवें 'कुलकर' तथा उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती को सोलहवें 'मनु' के रूप में प्रतिपादित किया है।^४

त्रिषष्टिशलाकापुरुष

जैन पौराणिक मान्यताओं के अनुसार चौथे काल 'दुःषमा-सुषमा' के आधे भाग के बीत जाने पर क्रमशः ६३ शलाकापुरुष होते हैं। भोग भूमि के क्षय हो जाने के उपरान्त कर्मभूमि के लिए आवश्यक जीविकोपार्जन तथा जीवोद्धार करने के प्रयोजन से २४ 'तीर्थङ्कर' उत्पन्न होते हैं। इन्हीं 'तीर्थङ्करों' के समय में भरत आदि बारह 'चक्रवर्ती', नौ 'वासुदेव' नौ 'नारायण' तथा 'नौ 'प्रतिनारायण' भी जन्म लेते हैं। नौ 'नारायण' राजाओं के शत्रु नौ 'प्रतिनारायण' कहलाते हैं जो एक दूसरे के समवर्ती भी होते हैं, जैसे राम का समवर्ती रावण तथा कृष्ण का समवर्ती जरासंध आदि। जैन महाकाव्यों में त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का उल्लेख इस प्रकार आया है :—

(क) चौबीस तीर्थङ्कर^५—१. वृषभनाथ २. अजितप्रभु ३. संभव नाथ ४. अभिनन्दन नाथ ५. सुमति नाथ ६. पद्मप्रभ (पद्मभ) ७. सुपाश्वर्धनाथ ८. चन्द्रप्रभ ९. सुविधि नाथ (पुष्पदन्त) १०. शीतल नाथ ११. श्रेयांसनाथ १२. वासुपूज्य १३. विमल नाथ १४. अनन्तनाथ १५. धर्मनाथ १६. शान्तिनाथ १७. कुन्धुनाथ १८. अरनाथ १९. मल्लिनाथ २०. सुव्रत २१. नमि २२. नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) २३. पार्श्वनाथ तथा २४. वर्धमान महावीर।

(ख) बारह चक्रवर्ती^६—१. भरत २. सगर ३. मधवा ४. सनत्कुमार ५. शान्तिनाथ ६. कुन्धुनाथ ७. अरनाथ (अरहनाथ) ८. सुभौम ९. महापद्म १०. हरिषेण ११. जयसेन तथा १२. ब्रह्मदेव (ब्रह्मदन्त)

१. वराङ्ग०, २७.३३-३६

२. महापुराण, ३.२३२

३. वराङ्ग०, २७.३५-३६ तथा तु०—यशस्विनः षोडसभूमिपालास्त एव लोके मनवः प्रदिष्टाः। —वही, २७.३६

४. शास्त्रसार समुच्चय, हिन्दी टीकाकार आचार्य श्री देशभूषण, पृ० १६

५. वराङ्ग०, २७.३७-३९, पद्मा०, १.६७-७०

६. वराङ्ग०, २७.४०-४१, पद्मा०, १.७१-७२

(ग) नौ नारायण^१—१. त्रिपृष्ठ २. द्विपृष्ठ ३. स्वयंभू ४. पुरुषोत्तम ५. नृसिंह (पुरुष सिंह) ६. पुण्डरीक ७. पुरुष दत्त ८. नारायण तथा ९. कृष्ण ।

(घ) नौ बलराम^२—१. विजय २. अचल ३. धर्म ४. सुप्रभ ५. सुदर्शन ६. नन्दि ७. नन्दि मित्र ८. राम तथा ९. पद्म (बलदेव)—बराङ्गचरित के अनुसार । १. अचल, २. विजय, ३. भद्र, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. आनन्द, ७. नन्दन ८. पद्म तथा ९. राम—पद्मानन्द महाकाव्य के अनुसार ।

(ङ) नौ प्रतिनारायण^३—१. अश्वघ्रीव २. तारक ३. समेरक (मेरक) ४. मधुकैटभ ५. निशुम्भ ६. बलि ७. प्रह्लाद (प्रहरण) ८. रावण (दशकन्धर) तथा ९. जरासंध ।

७. जैन मुनिधर्म

भोग से विरक्ति की ओर

जैन धर्म मूलतः एक निवृत्तिप्रधान धर्म है । 'सागार' तथा 'अनागार' इसके दो महत्त्वपूर्ण सोपान हैं । जन्म-जन्मान्तरीं से उपजे अविद्या जनित संस्कारों के प्रभाव से मुक्ति न पा सकना भी मानव की एक सबसे बड़ी समस्या रही है । पं० आशाधर कहते हैं 'संसार के विषय भोगों को त्यागने योग्य जानते हुए भी मनुष्य मोहवश उन्हें छोड़ने में असमर्थ है ।' ^४ उसके लिए वह सर्व प्रथम गृहस्थ धर्म (सागार धर्म) का अधिकारी है । 'सागार' धर्म जहाँ गृहस्थ को सांसारिक प्रपञ्चों से जोड़े रहता है वहाँ दूसरी ओर उसमें विषयभोगों की क्षणिकता एवं सांसारिक मोह की निस्सारता के प्रति भी एक आन्तरिक प्रतिक्रिया उपजती रहती है और एक ऐसा अवसर भी आ पहुँचता है जब वह निवृत्ति-मार्ग का पथिक बनने की अपेक्षा से 'अनागार' धर्म अर्थात् मुनिचर्या के लिए दीक्षित हो जाता है । वास्तव में आत्मोत्थान के प्रति यह विस्फोटक क्रान्ति अचानक ही नहीं हो जाती बल्कि कभी-कभी इस प्रक्रिया से गुजरते-गुजरते अनेक जन्मों की यात्रा भी तय करनी होती है ।

जैन धर्म की यह विशेषता रही है कि उसमें 'सागार' तथा 'अनागार' धर्म चेतना की आचार संहिता को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया गया है । गृहस्थ के रूप में द्वादश व्रतों आदि का पालन करते हुए व्यक्ति मानसिक रूप से इस योग्य हो जाता है कि वह यदि मुनि धर्म को अपनाना चाहे तो महाव्रतों

१. बराङ्ग०, २७.४२, पद्मा०, १.७४.७५

२. बराङ्ग०, २७.४३, पद्मा०, १.७३

३. बराङ्ग०, २७.४४, पद्मा०, १.७५-७६

४. धर्माभूत, (सागार), भूमिका, पृ० १

एवं कठोर तपश्चर्याओं को साधने की सुपात्रता रख सके। ईशावास्योपनिषद् के 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'^१ की ही भाँति जैन धर्म में भी 'सागार' धर्म के मार्ग से चलते हुए 'अनागार' द्वारा मोक्ष प्राप्ति की मान्यता धर्म के वास्तविक तथा समग्र रूप को चरितार्थ करती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन के परमलक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की दिशा में 'साधु' पद अध्यात्म साधना की प्रथम सीढ़ी है तदनन्तर वह 'आचार्य', 'उपाध्याय' और 'अरिहन्त' पदों को प्राप्त करता हुआ 'सिद्ध' बन जाता है।^२ वीतरागता और समताभाव मनुष्य में ज्यों-ज्यों विकसित होते रहते हैं त्यों-त्यों वह आत्मोत्थान के लिए अग्रसर होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी मनुष्य चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु सन्यासी, चाहे उसकी दार्शनिक मान्यताएं, कर्मकाण्ड आदि जैन धर्म के अनुसार हों अथवा अन्य धर्म सम्प्रदाय के अनुसार, 'मुक्त' अथवा 'सिद्ध' हो सकता है।^३

मुनिधर्म : सामाजिक प्रासङ्गिकता

पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि जैन मुनिधर्म मूलतः समाज-निरपेक्ष एवं निवृत्तिप्रधान है परन्तु इसकी सामाजिक सन्दर्भों में भी विशेष भूमिका रही थी। जैन शास्त्रों में मुनि आचार के अन्तर्गत धर्मप्रभावता में वृद्धि करना भी एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। इस नाते मुनि धर्म समाज व्यवस्था से स्वयं ही जुड़ जाता है। जैन महाकाव्यों के सामाजिक सन्दर्भों में जैन मुनियों के आचार-व्यवहार का विशेष औचित्य स्वीकार किया गया है।

इन महाकाव्यों में 'अनागार' धर्म से सम्बद्ध मुनिचर्या तथा उनके द्वारा अनुष्ठित किए जाने वाले व्रतों, नियमों तथा कठोर तपश्चर्याओं का विशेष विशदी-करण हुआ है। जैन धर्म और दर्शन की तात्त्विक चर्चा भी मुनियों द्वारा ही कहलवाई गई है जो इस तथ्य का द्योतक है कि धार्मिक दृष्टि से समाज में साधु वर्ग को सर्वाधिक उच्च स्थान प्राप्त था। साक्षात् राजत्व उनके चरणराज को शिरोधार्य करता हुआ स्वयं को कृतकृत्य मानता था।

समाज में मुनिभाव के प्रति आस्था

पञ्च परमेष्ठियों में 'मुनि' अथवा 'साधु' को भी स्थान प्राप्त है इसलिए धर्मप्रभावना की अपेक्षा से समाज में मुनियों के प्रति विशेष अर्चनाभाव प्रदर्शित किया जाता था। राजा सिंहासन से उठकर, सात कदम चलकर तथा सिर झुकाकर अपनी श्रद्धा प्रकट करते थे।^४ आचार्य हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्व

१. ईशावास्योपनिषद्, ११

२. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, जैन तत्त्व कलिका, पंजाब, १९८२, प्रथम कलिका, पृ० २१३

३. वही, द्वितीय कलिका, पृ० १००

४. पदार्ति सप्त प्रतिगम्य राजा ननाम मुहूर्ता विनतारि पक्षः ।—वराह०, ३.१२

के अनुसार राजा मुनि को देखकर हाथी से उतर गया तथा मुनि के चरणों में पड़कर उसने प्रणाम किया।^१ चन्द्रप्रभ के अनुसार मुनि के दर्शनार्थ जाते हुए राजा राज्य-चिह्नों को धारण नहीं करते थे।^२ इस अवसर पर राजा आदि भी मुनि की तीन बार प्रदक्षिणा करते थे तदनन्तर तीन बार प्रणाम किया जाता था तथा तीन बार मुनि की जय-जयकार की जाती थी^३ मुनि दर्शन के समक्ष 'ओ३म्' कहने तथा पंचांग-स्पर्श करने की प्रथा भी प्रचलित थी।^४ जैनमुनि धर्म-दर्शन के मौलिक तत्त्वों का उपदेश देते थे जिनका श्रवण करना प्रत्येक गृहस्थी के लिए पुण्यकारी माना जाता था।^५

मुनियों के उपदेश श्रवण के द्वारा गृहस्थ व्यक्ति के सभी पाप समूल नष्ट हो जाने की मान्यता प्रचलित थी।^६ उपदेश श्रवण की दृष्टि से श्रावकों के चौदह प्रकार भी बताए गए हैं।^७ वराहचरित में श्रावक की योग्यता और पात्रता को देखकर ही मुनि को उपदेश देने का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ मूर्ख अथवा अज्ञ व्यक्ति को साधारण ज्ञान, शिष्टार और व्रत-नियमादि का; इष्टवियोग से दुःखी व्यक्ति को कर्मोपदेश का; चंचल बुद्धि वाले व्यक्ति को संसार एवं शारीरिक अपवित्रता का, धन एवं विषयों के लोभी व्यक्ति को संयम का, निर्धन व्यक्ति को व्रतादि के अनुष्ठान का तथा चोरी-व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में फंसे हुए व्यक्ति को श्रद्धा एवं जिन-पूजा का उपदेश देना चाहिए।^८

१. उत्ततर मुनि दृष्ट्वा कुञ्जराद्राजकुञ्जरः । —परि०, १.६७

२. राजलीलां परित्यज्य चामरादि परिच्छदाम् । —चन्द्र०, २.३५,
प्रद्यु०, ६.३१

३. त्रिपरीत्य प्रणम्य त्रिस्त्रिजयेति निगद्य स ।

त्रिरुक्तमखिलं कृत्वा न्यविशत मुनेः पुरः ॥

—चन्द्र०, २.३७, प्रद्यु०, ६.३१

४. परि०, १.७०, २.४३, ११.३३

५. वराह०, सर्ग, ३, ११; चन्द्र०, सर्ग, २, १८; धर्म, सर्ग, ११; नेमि०, सर्ग १५; पद्मा०, सर्ग २; जयन्त०, सर्ग १५; प्रद्यु०, सर्ग ६; वर्ध०, सर्ग ३ तथा ६

६. यः संशृणोति जिनधर्मकथामुदारां पापं प्रणाशमुपयाति नरस्य तस्य ।

—वराह०, १.१६ तथा नेमि०, १५.७५, प्रद्यु०, ५.१४५

७. वराह०, १.१५

८. प्राज्ञस्य हेतुनयसूक्ष्मतरान्पदार्थान्, मूर्खस्य बुद्धिविनयं च तपः फलानि ।
दुखादितस्य जनबन्धुवियोगहेतुं, निर्वेदकारणमशीचमशाश्वतस्य ॥

लुब्धस्य शीलमघनस्य फलं व्रतानां, दानं क्षमा च धमिनो विषयोऽमुखस्य ।

सदर्शनं व्यसनिनो जिनपूजनं च, श्रोतुर्वशेन कथयेत्कथकोविदज्ञः ॥

—वही, १.१७-१८

मुनियों के उपदेश श्रवण के लिए जनसाधारण के मध्य राजा सपरिवार अपनी सेना तथा शासन के उच्चाधिकारियों सहित उपस्थित रहता था ।^१

८. मुनिचर्या का स्वरूप

सांसारिक विरक्ति के कारण

गृहस्थ जीवन के प्रति रागमोह का त्याग तथा सांसारिक प्रपञ्चों के प्रति उदासीनता का होना मुनिवृत्ति के लिए आवश्यक माना जाता था ।^२ विभिन्न महाकाव्यों में संसार के प्रति विरक्तिभावना के अनेकविध कारण कहे गए हैं । उदाहरणार्थ वराङ्गचरित एवं चन्द्रप्रभ महाकाव्य में राजा वराङ्ग तथा श्रीषेण को उत्कापतन देखकर वैराग्य भावना का उद्बोधन हुआ ।^३ बूढ़े बैल को दलदल में फंसे देखकर तथा पागल हाथी द्वारा नागरिकों के कुचले जाने की घटना पर भी विरक्ति होने का उल्लेख आया है ।^४ प्रद्युम्नचरित तथा वर्धमानचरित महाकाव्यों में मुनियों के धर्मोपदेश ही विरक्ति-भाव के कारण रहे थे ।^५ आशय यह है कि प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व सांसारिक विरक्ति का उद्बोधन होना आवश्यक माना गया है । प्रव्रज्या ग्रहण करने के उपरान्त ही मुनि वृत्ति का प्रारम्भ होता है ।

मुनि आचार

साधक प्रव्रज्या ग्रहण करने के तुरन्त बाद तथा मुनिचर्या प्रारम्भ करने से पूर्व गृहस्थ अवस्था में पहनी जानी वाली वेषभूषा को उतार देते थे तथा केशलुंचन किया जाता था ।^६ तदनन्तर दीक्षामुरु नवदीक्षित मुनि को सर्वप्रथम मुनि धर्म और आचार की शिक्षा देते थे । वराङ्गचरित में राजा वराङ्ग तथा अन्य राजाओं द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद मुनि वरदत्त केवली द्वारा इन सबको जिन धर्म-दर्शन तथा आचार परक तत्त्वों का उपदेश दिया गया उनमें स्थावर जंगम जीवों की चौदह श्रेणियाँ, मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, संयोगकेवली तथा अयोगकेवली—चौदह गुण स्थान; दण्ड भेद; मन-वचन-काय—तीन

१. वराङ्ग०, ३.१४-१६, प्रद्यु० ६.२६-३०

२. वराङ्ग०, २८.७३-७४ २६.१७-२४

३. वराङ्ग०, २८.२५, चन्द्र०, ४.१८, धर्म० २०.३

४. चन्द्र०, १.६६, ११.६

५. प्रद्यु० ६.८४, वर्ध० १६.१६५

६. निरस्तभूषाः कृतकेशलोचाः । —वराङ्ग०, ३०.२;
केशास्तत्रैवोदरवनतस्वयम् । परि०, ११.१४६

७. वराङ्ग०, ३०.३

गुप्तियाँ; क्रोध, मान, माया तथा लोभ—चतुर्विध कषायक्षय; जीवादि छह द्रव्य; दशविध-मुनि धर्म आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं^१। इनके अतिरिक्त, रत्नत्रय का सांगोपांग अध्ययन, पाँच महाव्रतों का स्पष्टीकरण, १२ प्रकार के बाह्य तथा आभ्यन्तर तप, आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह—चार संज्ञाओं; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, तथा श्रोत—पाँच करणों; (ईर्ष्या, भाषा, ऐषणा, आदान-निक्षेप, तथा उत्सर्ग—पाँच समितियों, सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रति-क्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग—छह आवश्यकों; कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल—छह लेश्याओं; शुभ, अशुभ तथा अशुद्ध—तीन योगों का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना भी मुनि धर्म की दृष्टि से आवश्यक योग्यता मानी जाती थी।^२ चतुर्विध शब्द-प्रपञ्च, नैगमादि सप्तविध नय, प्रत्यक्षादि प्रमाण, चौदह प्रकार की मार्गगाएँ, आठ प्रकार के अनुयोग, तीन प्रकार के भाव तथा पाँचों गुणों आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान भी मुनि-धर्म का आवश्यक अङ्ग था।^३

तपश्चर्या

कठोर व्रतों एवं तपों की साधना मुनि धर्म की आधारभूतचर्या मानी जाती थी।^४ तपों के द्वारा निर्जरा होती है।^५ दो प्रकार की—सविपाक तथा अविपाक निर्जराओं में से उपकर्म अथवा अविपाक निर्जरा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तपों से ही है। स्वाभाविक रूप से होने वाले कर्मफल का समय से पहले ही क्षीण हो जाना उपकर्म अथवा अविपाक निर्जरा कहलाती है जो तप से ही सम्भव होती है।^६ आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज का कथन है कि जैसे मिट्टी आदि मिला हुआ सोना अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्यारूपी अग्नि में तपकर कर्मफल से मलिन आत्मा शुद्ध हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।^७

तपों के भेद

सिद्धान्तिक रूप से तप के दो मुख्य भेद हैं—बाह्यतप तथा आभ्यन्तरतप।

१. वराङ्ग०, ३०.५
२. वराङ्ग०, ३०.६-७
३. वही, ३०.८
४. एवं तपःशीलगुणोपपन्ना व्रतैरेकैः कृशसामुपेताः। —वही, ३०.४०
५. स्थितं द्वादशभिर्मर्दैर्निर्जराकरणं तपः। —चन्द्र०, १८.१११
६. तपसा निर्जरा या तु सा चोपकर्मनिर्जरा। —चन्द्र०, ८.११०,
स्थितानि कर्माणि कृशीकृशानि तपःप्रभावान्मुनिसत्तमेन।
७. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, जैन तत्त्व कलिका, द्वितीय कलिका
पृ० १५७

बाह्य तप के पुनः छह भेद स्वीकार किए गए हैं—१. अनशन २. अवमौदय, (उनोदरी) ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त-शयनासन तथा ६. काय-क्लेश। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं—१. स्वाध्याय, २. वैयावृत्य, ३. ध्यान, ४. व्युत्सर्ग, ५. विषय, तथा ६. प्रायश्चित्त।^१

विविध प्रकार के कठोर तप

जैन मुनियों द्वारा अनेक प्रकार के दुस्साध्य कठोर तपों की साधने का वर्णन आया है। इन विविध प्रकार के तपों के अनुष्ठान हेतु उच्च शिखर, पर्वत-गुफा, गहन-वन, विशाल वृक्षों की खोखलें, उद्यान, जीर्णविशेष खण्डहर, देवालय, श्मशान-भूमि आदि एकान्त स्थान उपयुक्त समझे जाते थे।^२ सिंह, गज, रीछ आदि खूंखार जानवरों तथा विषैले सर्पों आदि से युक्त निर्जन वनों में मुनि लोग तपश्चर्या करते थे।^३ अधिक से अधिक कायिक क्लेश प्राप्ति के उद्देश्य से वराङ्गचरित में विविध प्रकार के कठोर एवं दुस्साध्य तपों का उल्लेख आया है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण तपों का वर्णन इस प्रकार है—

(क) वर्षा-ऋतु तप^४ — भीषण मेघ गर्जनाओं तथा मूसलाधार वर्षा ऋतु में तपस्या करना वर्षा ऋतु में अनुष्ठित किया जाने वाला विशेष प्रकार का तप था।^५ ऐसा माना जाना था कि वर्षा के कारण शरीर की मलिनता प्रक्षालित हो जाती है तथा शरीर स्वच्छ हो जाता है।^६ निरन्तर मूसलाधार वर्षा में भीगते हुए भी मुनि लोग निष्कम्प शरीर होकर तप-साधना में लीन रहते थे।^७ कुमारसंभव महाकाव्य में कालिदास ने भी पार्वती की कठोर तपश्चर्याओं का वर्णन करते हुए वर्षाऋतु तप का ऐसा ही वर्णन किया है।^८

१. चन्द्र०, १८.११२-१३

२. शून्यालये देवगृहे श्मशाने महाटवीनां गिरिगह्वरेषु।

उद्यानदेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीद्वसित्तमानाम् ॥

—वराङ्ग०, ३०.२६ तथा ३१.३७-३८

३. वही, ३०.२७

४. वही, ३०.२८, ३१, ३१.४६-४७

५. वर्षासु शीतानिलदुर्दिनासु घोरशनिस्फूर्ज्युनादितासु।

दिवानिशं प्रक्षरदम्बुदासु ते वृक्षमूलेषु निषेदुरार्याः ॥

—वही, ३०.२८

६. धाराभिधीताङ्गमलाः सुलेश्यः खद्योत्मालारचितात्ममालाः।

—वही, ३०.१३, ३१.४७

७. वही, ३१.४७

८. कुमारसंभव, ५.२५

(ख) ग्रीष्म-ऋतु तप^१—ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर 'अस्नान-योग' व्रत धारण किया जाता था। पसीने तथा धूल से लथपथ शरीर होकर मुनि लोग जेठ के महीने में सूर्य की ओर मुख करके ध्यानावस्था प्राप्त करते थे।^२ इतने दाहक वातावरण में कर्मबन्धनों के भस्म होने की मान्यता प्रचलित थी।^३ कालिदास के कुमारसंभव में भी ऐसे ग्रीष्म ऋतु तप को 'पंचाग्नि' तप कहा गया है।^४

(ग) शीत-ऋतु तप^५—शीतकाल में जब शीतल तथा बर्फीली वायु चलती थी ऐसे अवसरों पर 'अवकाश' तथा 'अस्पर्श' योग मुद्रा में निश्चल भाव से शीत-ऋतु-तप, किए जाते थे।^६ कुमारसंभव में पार्वती के तपस्या वर्णन के अन्तर्गत इस तप की चर्चा आई है।^७

इस प्रकार जिनेन्द्रोक्त अनेक विधानों का तपश्चर्या के अवसर पर अनुशरण किया जाता था।^८ चारदिन, छहदिन, आठदिन, एकपक्ष, एकमास पर्यन्त के उपवासों, चान्द्रायण आदि व्रतों, तथा विविध प्रकार के योगों का सम्पादन करते हुए मुनि वर्ग द्वारा कठोर तपों की साधा जाता था।^९

मुनि विहार^{१०}

देश-देशान्तरों में भ्रमण करना तथा जैन तीर्थ स्थानों का दर्शन करना

१. वराह, ३०.३५.३७

२. अस्नानभूरिव्रतयोगभाराः स्वेदाङ्गमासवतरजःप्रलिप्ताः।

निदाघसूर्याभिमुखा नृसिंहा व्यत्सृष्टगात्रा मुनयोऽभितस्थुः॥

—वही, ३०.३५

३. निदाघतीक्ष्णाकंकरप्रहारानुरस्स्वथादाय निरस्तपापाः।

—वही, ३०.३७

४. कुमार०, ५.२३

५. वराह, ३०.३२-३४, ३१.४८-४९

६. हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः।

अस्पर्शयोगा मलदिग्धगात्रा प्रसारणाकुञ्चनकम्पहीनाः॥

—वही, ३०.३२, ३३

७. कुमार०, ५.२६

८. जिनेन्द्रसूत्रोक्तपथानुचारी संयम्य वाक्कायमनांसि धीरः।

सुदुर्धरं कापुर्हर्षैरचिन्त्यं द्विषट्प्रकारं तप आचचार॥

—वराह, ३१.५०

९. वही, ३०.६४, ३१.४९

१०. मुनि नथमल, जैन दर्शन—मनन और मीमांसा, पृ० १०६, तथा तु०

वराह, ३१.५५

जैन मुनियों की एक महत्वपूर्ण चर्चा रही है। मुनियों द्वारा इस प्रकार के विहार करने से दो कार्य सिद्ध हो सकते थे एक तो जैन धर्म की प्रभावना होती थी तथा दूसरे तप में वृद्धि। मुनियों द्वारा दिए गए धर्मोपदेश के श्रवण के लिए राजा सहित समग्र प्रजा लालायित रहती थी। जब कभी भी मुनियों का संघ नगरोद्यान में प्रवेश करता था तो बहुत अधिक संख्या में लोग उपदेश श्रवण के लिए उपस्थित रहते थे।^१ इस प्रकार सार्वजनिक रूप से दिए गए जैन मुनियों के धर्मोपदेशों के प्रति तत्कालीन जनमानस बहुत अधिक आस्थावान् रहा था। इस सम्बन्ध में हेमचन्द्रभूति के धर्मोपदेश द्वारा राजा कुमारपाल में धर्मानुरक्ति उत्पन्न होने का निदर्शन एक ऐतिहासिक घटना है।^२ दक्षिण भारत में मन्दिरों के निर्माण तथा जैन धर्म के प्रचार व प्रसार का सर्वाधिक श्रेय श्री जैन मुनियों की प्रभावशाली धर्मप्रभावना को ही जाता है। वराह्मचरित के उल्लेखानुसार मुनिवृत्ति में विशेष परिवर्ण तथा समस्त विद्याओं में पारङ्गत मुनि ही देशविहार तथा धर्मोपदेश देने के अधिकारी थे।^३ वराह्म तथा अन्य मुनियों द्वारा सम्पूर्ण तपों, व्रतों तथा योगों आदि की साधना करने के उपरान्त ही नगरों, खेडों, गांवों, आकरों आदि में जाकर धर्मविहार करने का उल्लेख आया है।^४ दूरस्थ गांवों एवं अर्द्धविकसित आवासीय संस्थियों में जाकर जैन धर्म का लोकाधार सुदृढ़ करने की दिशा में भी जैन मुनियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी।

साध्वियों की तपश्चर्या

वराह्मचरित में साध्वियों के तपोमय जीवन का भी उल्लेख आया है।^५ प्रायः ये आधिकाएं अथवा साध्वियां मुनियों के अधीन होतीं थीं। प्रत्येक आधिका गण (संघ) के ऊपर एक प्रधान आधिका होती थी जो सभी आधिकाओं को धार्मिक शिक्षा आदि देकर उनके उचित मार्ग-निर्देशन के दायित्व को वहन करती थी।^६ संघ में शिक्षा-दीक्षा आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। आधिकाओं की

१. वराह्म०, ३.१४-१६, प्रबु०, ६.२२-३०

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३३०

३. वराह्म०, ३१.५०-५४

४. वही, ३१.५५

५. वराह्म०, ३१.१-१५

६. तपोधनानाममितप्रभावा गणाग्रभूतिः संयमनाधिका सा । —वराह्म०, ३१.६ तथा ३१.७

कराया जाता था ।^१ साध्वियां तीन, पांच, छह, आठ दिनों, पक्ष, चार मास, छह-मास आदि समयावधि के विभिन्न उपवास भी करती थीं ।^२ प्रायः कटे-पुराने वस्त्रों को धारण करती थीं ।^३ साध्वियों तथा मुनियों की तपस्चर्या में किसी विशेष प्रकार का भेद दृष्टिगत नहीं हुआ है । साध्वियां भी मुनियों की भाँति विभिन्न प्रकार के ऋतु-आदि काय-क्लेश तपों की साधना करती थीं ।^४ नगरों में अथवा वनों आदि निर्जन स्थानों में भी साध्वियों को मानापमान की दृष्टि से तुल्य-भाव वर्णित किया गया है ।^५ राजाओं द्वारा मुनिधर्म स्वीकार कर लेने की स्थिति में कभी कभी उनकी रानियां भी आश्रयिका धर्म में दीक्षित हो जाती थीं । वराहचरित महाकाव्य में राजा वराह की रानियों का साध्वियां बनकर तपस्चर्या करने का उल्लेख आया है ।^६

६. ब्राह्मणधर्म की युगीन प्रवृत्तियाँ

यज्ञानुष्ठान

जैन महाकाव्य मूलतः जैन धर्मावलम्बी होने के कारण आलोच्य युग में ब्राह्मण व्यवस्था के सम्बन्ध में यद्यपि इनसे पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं तथापि कतिपय महाकाव्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि इस व्यवस्था का समाज पर प्रभावशाली नियन्त्रण था । आलोच्य काल में ब्राह्मण धर्म पूर्णतया पौराणिक मान्यताओं से प्रभावित हो चुका था तथापि प्राचीनकाल से चले आ रहे वैदिक कर्मकाण्डों की भी लोकप्रियता कम नहीं थी । हेमचन्द्र जैसे जैन आचार्यों ने ब्राह्मणव्यवस्था से सम्बद्ध धार्मिक गतिविधियों का निष्पक्ष रूप से चित्रण किया है ।^७ हेमचन्द्राचार्यकृत द्वयाश्रय आदि महाकाव्यों से यह भी ज्ञात होता है कि १२-१३वीं शताब्दी में गुजरात जैसे जैन-धर्म से प्रभावित क्षेत्र में भी वैदिक यज्ञों आदि का

१. आचारसूत्राङ्गनयप्रभङ्गानाधीयते स्माल्पतमैरहोभिः ।

—वराह०, ३१.७

२. उपोष्य पञ्चत्रिषष्टशत्रं पक्षश्च मासानपि षट्चतुष्कान् ।

—वही ३१.१२

३. विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयः ॥ —वही, ३१.१३

४. वही, ३१.१६

५. पुरे वनेऽरातिजने जने वा मानापमानादिषु तुल्यभावाः । वही, ३१.१४

६. वही, ३१.११३

७. Narang, Dvayāśraya, pp. 226-27

अनुष्ठान होता था। द्वायाश्रय महाकाव्य में 'अष्टाकपाल'^१ (पुरोडाश), याज्ञिक पात्र,^२ तुरायण^३ तथा अग्निष्टोम यज्ञ,^४ शुष्क गोमय होम^५, होता^६ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की संज्ञाओं एवं अनुष्ठान विधियों का उल्लेख आया है। जयसिंह तथा अन्य चालुक्य राजा यज्ञों का भी सम्पादन करवाते थे। इसी प्रकार हम्मीर महाकाव्य में हम्मीर द्वारा वैदिक विधि से 'कोटि महायज्ञ' करने का उल्लेख आया है।^७ वराह्मचरित महाकाव्य के आधार पर भी यह ज्ञात होता है कि शत्रुनाश, स्वर्ग-कामना, आयुवृद्धि, रोगतिनाश, बलवृद्धि, एवं शरीररक्षा हेतु जनसाधारण में वैदिक यज्ञानुष्ठानों का विशेष प्रचलन था।^८ विवाहावसरों पर भी यज्ञानुष्ठान होते थे।^९ पुरोहित वर्ग बड़ी शुद्धता तथा स्वच्छता से हवन-सामग्री बनाते थे तथा उच्च वेद-स्वर सहित हवन-कुण्ड में हवि समर्पित की जाती थी।^{१०} वराह्मचरित के उल्लेखानुसार संभवतः इस अवसर पर पशु-बलि का भी विधान था।^{११} ईक्षुरस, दूध, दधि, जल आदि से पूर्ण कुम्भ ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में मिलते थे। घन, नाना वस्त्र, भोजन, आदि वस्तुएं भी दानस्वरूप प्राप्त होतीं थीं।^{१२}

बलिप्रथा

यज्ञानुष्ठानों तथा विभिन्न देवियों के मन्दिरों में बलि चढ़ाने की कुषाभिक मान्यताएं भी समाज में प्रचलित थीं। आठवीं शताब्दी ई० के यशोधरचरित आदि महाकाव्यों से पुष्टि होती है कि बकरे, मुर्गे, हिरण, सूअर, आदि विभिन्न पशुओं

१. द्वाया०, ६.६०
२. वही, ८.१४, १५
३. वही, १७.५६
४. वही, १७.५८
५. वही, ४.३२
६. वही, ६.३२
७. वही, १.४४, २.४६, हम्मीर०, ६.८५.६०
८. कर्माणि यान्यत्र हि वैदिकानि रिपुप्रणाशाय सुखप्रदानि ।
आयुर्बलारोग्यवपुःकराणि दृष्टाणि वैयर्थ्यमुपागतानि ॥

—वराह्म०, २५.३७

९. वही, २५.३४, ३६
१०. सुमन्त्रपूताम्बुहुताग्निसाक्ष्यः । —वराह्म०, २५.३८ तथा २४.२५
११. वही, २४.२५-२६
१२. द्वाया०, १.८७, वराह्म०, २५.२६

की बलि दिए जाने की प्रथा थी ।^१ किसी प्रकार के दुष्टस्वप्ननिवारणार्थ भी देवी के मन्दिर में कुक्कुट आदि की बलि चढ़ाने की मान्यताएं समाज में रूढ़ हो चुकी थीं ।^२ वराहचरित महाकाव्य में यज्ञादि अवसरों पर ब्राह्मणों द्वारा भी अनेक पशुओं की बलि देने का उल्लेख आया है ।^३ जैन कवियों ने बलि स्थान में कटे हुए पशुओं की दुर्गति का वीभत्स वर्णन किया है ।^४ कहीं कहीं पर बलि प्रथा का धार्मिक लोक-विश्वास इतना प्रबल था कि जैनानुयायियों को भी इस प्रथा का लक्ष्य होना पड़ा । 'यशस्तिलकचम्पू' तथा 'यशोधरचरित' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि यद्यपि जैन समाज में पशुबलि निषिद्ध थी किन्तु आटे आदि से निर्मित पशुओं के वध से बलिप्रथा का किसी न किसी रूप में अस्तित्व अवश्य रहा था । यशोधर के अनिष्ट निवारण के लिए उसकी माता चण्डी-मारी के मन्दिर में कुक्कुट की बलि चढ़ाने की सम्मति देती है । यशोधर ने पशु हिंसा के भय से ऐसा नहीं किया तथा आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाकर माता को सन्तुष्ट किया ।^५ इस अवसर पर यह भी उल्लेख मिलता है कि यशोधर द्वारा आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाने के अवसर पर समस्त प्राणियों की बलि चढ़ाने से जितना पुण्य प्राप्त हो सकता था उतने पुण्य-भर्जन का संकल्प भी किया गया ।^६ इसी पाप के कारण यशोधर को पशु-योनियों में भी भटकना पड़ा । संभवतः दक्षिण भारत आदि कई स्थानों में १०वीं शताब्दी में बलि-प्रथा का ग्रन्थविश्वास बहुत जोर पकड़ गया था तथा एक बहुत बड़े समाज में व्याप्त इस ग्रन्थ-विश्वास के प्रति संभवतः समग्रक्रान्ति करना तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल न रहा हो ।^७ वैसे जैन मुनि बहुत अधिक संख्या में पशु

१. वराह०, २४.२६, यशो०, १.२३

२. सातु तेन बलिना परितृप्ता स्वप्नदोषमचिरेण निहन्ति । —यशो० ३.१३

३. समस्तसत्वातिनिपातनेन यज्ञेन विप्रा न कथं प्रयान्ति ॥

—वराह०, २४.२५

४. मांसस्तूपाः स्वयं यत्र माक्षिकापटलावृताः ।

छदिताश्चण्डमायैव बहुभक्षणदुर्जराः ॥

—यशो०, १.४३ तथा वराह०, २४.२५

५. यशो० ३.१३-१८, तथा तु०—

अन्धया तनय तर्पय देवीं शालिपिष्टमयकुक्कुटहृत्या ।

—यशो०, ३.१८

६. सर्वेषु सत्त्वेषु हृतेषु यन्मे भवेत्फलं देवि तदत्र भूयात् ।

इत्याशयेन स्वयमेव देव्याः पुरः शिरस्तस्य चकर्तेशस्त्रया ॥

—यश०, पृ० १६३

७. गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४६

हिंसा वाले स्थानों में संध सहित जाते थे तथा इस प्रथा का धार्मिक रूप से विरोध करते थे।^१ सातवीं-आठवीं शताब्दी में वराह्मचरित में प्रतिपादित पशु-हिंसा सम्बन्धी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कर्नाटक आदि जिन प्रदेशों में जैन धर्म राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित था वहाँ पर बलिप्रथा तथा यज्ञों में होने वाली पशु-हिंसा का बहुत जोरदार शब्दों में विरोध किया जाता था।^२ जटासिंह ने राजा क्रूर के दृष्टान्त द्वारा यह तर्क दिया है कि जब कुत्ते से डरकर मर जाने वाले ब्राह्मण की हत्या से निर्दोष क्रूर को नरक मिल सकता है तो यज्ञावसरो आदि पर जानबूझ कर मारे जाने वाले पशुओं की हत्या के पाप से नरक-मुक्ति कैसे संभव है ?^३ यशोधरचरित में बलिप्रिय राजा की भी घोर निन्दा की गई है।^४

देवोपासना

ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत शिव,^५ विष्णु,^६ सूर्य^७ आदि देवताओं के अतिरिक्त ब्रह्मा,^८ अग्नि,^९ इन्द्र,^{१०} कार्तिकेय^{११} आदि देवताओं की आराधना करने के उल्लेख भी मिलते हैं। वराह्मचरित में विभिन्न देवताओं के अस्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख आया है जिनमें त्रिशूल, वज्र, चक्र, धनुष, गदा, शक्ति, खड्ग तथा तोमर आदि शस्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि देवों की पौराणिक देवशास्त्रीय मान्यताएं समाज में अत्यधिक लोकप्रिय होती जा रही थीं।^{१२} शिव, विष्णु आदि महत्त्वपूर्ण देवों की चर्चा सम्प्रदायों के अन्तर्गत की गई

१. यशो०, १.२६

२. यज्ञे वधे नैव वधोऽस्ति कश्चिद्वधो ध्रुवं याति सुरेन्द्रलोकम् ।

इदं वचो धूर्तविटस्य वेद्यं दयोपशान्तिश्रुतिर्वाजितस्य ॥

—वराह्म०, २५.१४

३. एकस्य विप्रस्य विराधनेन श्वभ्रं गतः क्रूर इति श्रुतिश्चेत् ।

समस्तसत्वातिनिपातनेन यज्ञेन विप्रा न कथं प्रयान्ति ॥

—वराह्म०, २५.२५

४. यशो०, १.५३

५. वराह्म०, २५.७४

६. वराह्म०, २५.७६, ७८ नेमि० १.७५-७६

७. वराह्म०, २४.३६

८. वराह्म०, २५.७६, जयन्त०, १.१

९. वराह्म०, २५.७५

१०. वही, २५.७६

११. वही, २३.७६

१२. वही, २५.५०

है। इस सन्दर्भ में वराङ्गचरित में निर्दिष्ट हिन्दू देवी-देवताओं के सम्बन्ध में अनेक माहात्म्य प्रचलित थे। ब्रह्मा के विषय में यह प्रसिद्ध था कि ये सृष्टि के स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक हैं। इन्होंने ही शुम्भ तथा निशुम्भ राक्षसों को परस्पर लड़ाकर मार दिया था।^१ अग्नि को देवताओं का मुख माना जाता था।^२ इन्द्र वज्र धारण करने वाले पराक्रमी देव के रूप में अभी भी प्रसिद्ध थे।^३ कार्तिकेय को भी एक लोकप्रिय देवता का पद मिल चुका था।^४

उपर्युक्त देवोपासना सम्बन्धी उल्लेखों को वराङ्गचरित में इसलिए स्थान दिया गया है ताकि महाकाव्य का लेखक इन देवताओं के देवत्व को चुनौती दे सके। वराङ्गचरित ने उपर्युक्त सभी देवताओं को ब्राह्मण व्यवस्था से सम्बन्धित होने के कारण आप्त नहीं माना है तथा अपने कठोर तर्कों के आधार पर इनके देवत्व की पर्याप्त आलोचना भी की है।^५

शैव सम्प्रदाय

सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदाय उन्नति पर था। इस सम्प्रदाय के आराध्य देव 'शिव' एक स्वतन्त्र देव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।^६ उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी शिव के अनेक मन्दिरों की स्थापना हुई थी।^७ शिव के विषय में कामदेव को भस्म करने, त्रिपुरादि असुरों का संहार करने तथा उमा को पत्नी के रूप में वरण करने की पौराणिक मान्यताएं भी समाज में प्रचलित थीं।^८ बारहवीं शताब्दी में अणहिलवाडपत्तन तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशों में भी शैव धर्म विशेष लोकप्रिय था।^९ चालुक्य राजा शैवधर्मी थे तथा

१. वराङ्ग०, १५.७६

२. अग्निर्मूर्खं वेद सुरेश्वराराम ।

—वराङ्ग०, २५.७५

३. वज्रायुधो गौतमभार्ययासौ विभिन्नवृत्तः किल तेन शप्तः ।

४. उमासुतः सोऽपि कुमारनामा भगवतोऽभूद्वनगोचरिण्या ।

—वराङ्ग०, २५.७६

५. वराङ्ग०, २५.७६-७६

६. Krishnamoorthy, A. V., Social & Economic Conditions in Eastern Deccan, Andhra Pradesh, 1970, p. 192-97

७. वही पृ० १६४

८. वराङ्ग०, २५.७४

९. Narang, Dvayāśraya, p. 228.

द्वयाश्रय में इनके द्वारा अनेक अवसरों पर शिवाराधना करने के उल्लेख मिलते हैं।^१ सोमनाथ के शिव मन्दिर के दर्शनार्थी राजाओं में कुमारपाल^२ तथा मन्त्रियों में वस्तुपाल आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।^३ वस्तुपाल द्वारा सोमनाथ के शिव मन्दिर में पूजा करने की सूचना मिलती है।^४ हम्मीरमहाकाव्य में बौद्धों तथा छेकिलों के साथ शैवों का भी उल्लेख आया है।^५ इस प्रकार शैव सम्प्रदाय आलोच्य युग में एक लोकप्रिय सम्प्रदाय रहा था तथा राजनैतिक दृष्टि से भी इसको पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था।

वैष्णव सम्प्रदाय

वैष्णव सम्प्रदाय में 'विष्णु' की आराधना का प्राधान्य था। विष्णु के विषय में राजा बलि को बन्धन में डालने, हय-ग्रीव का मुख फाड़ने, अशु, कंस तथा चाणूरमल आदि का वध करने की पौराणिक मान्यताएं समाज में लोकप्रिय थीं।^६ इन्हीं मान्यताओं के आधार पर जैनार्चय विष्णु के देवत्व की आलोचना भी करते थे।^७ द्वयाश्रय के अनुसार राजा जयसिंह ने विष्णु के दशों अवतारों की श्रेष्ठ प्रतिमाओं से युक्त एक विष्णु मन्दिर का भी निर्माण करवाया था।^८ इस प्रकार चालुक्य राजाओं के राजकाल में शैवधर्म के साथ वैष्णवधर्म भी लोकप्रिय रहा था। अनेक चालुक्य राजाओं ने अन्य वैष्णव मन्दिरों का भी निर्माण करवाया।^९ इस सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति महोदय का मत है कि आलोच्य काल में शैव धर्म की तुलना में वैष्णव धर्म कम लोकप्रिय था। शैव धर्म की पूजा विधि बहुत सरल थी किन्तु वैष्णव धर्म की पूजा विधि कर्मकाण्ड-प्रधान एवं जटिल बनती जा रही थी।^{१०}

सूर्योपासना

तत्कालीन समाज में 'सूर्य' भी देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके

१. द्वया०, ५.१३४-३७
२. Munshi, Glory that was Gurjara Desa, p. 360
३. वस्तु०, ६.५३५-३६
४. सोमेश्वरं तदानार्चं मन्त्री नानाविषाचर्चनैः । —वस्तु०, ६.५३५
५. हम्मीर०, ३.७२
६. वराह०, २५.७७
७. वही, २५.७८
८. द्वया० १.११६; Narang, Dvayāśraya, p. 228
९. Narang, Dvayāśraya, p. 228-29
१०. Moorthy, Social & Eco. Conditions, p. 213

थे ।^१ चालुक्य राज्यकाल में सूर्योपासना प्रचलित थी ।^२ सूर्य पूजा के अवसर पर 'स्वस्ति-वाचन' तथा 'शान्ति-वाचन' भी होता था ।

प्रसिद्ध तीर्थस्थान—

जैन महाकाव्यों के आधार पर १३वीं-१४वीं शताब्दी तक भारत में हिन्दू एवं जैन धर्म से सम्बद्ध निम्नलिखित धार्मिक तीर्थ स्थान प्रसिद्ध हो चुके थे :—

१. सोमनाथ^३ २. वैजनाथ^४ ३. महाकाल^५ ४. स्तम्भतीर्थ^६ ५. सिद्धेश्वर^७ ६. प्रभास^८ ७. पंचासर^९ ८. प्रियमेल तीर्थ^{१०} ९. केदार^{११} १०. शत्रुघ्नजय^{१२} ११. उज्जयन्त^{१३} १२. माउण्ड आबु^{१४} १३. श्री पर्वत^{१५} १४. स्वामीगृह^{१६} १५. कन्याकुमारी^{१७} १६. कुरुक्षेत्र^{१८} १७. शंखोढा^{१९} १८. भागीरथी^{२०} १९. सारावती^{२१} २०. चर्मवती^{२२} तथा २१. पुष्कर^{२३} ।

१. वराङ्ग०, २४.३६, द्वया० २.२२, १७.७३, १.६६

२. स्वर्ग्यः कार्म्यः स्तुतः स्वस्तिवाचनैः शान्तिवाचनैः ।

—द्वया०, १७.७३

३. कीर्ति०, ६.७१, वसन्त०, ११.३२, कुमार०, १५.८६, वस्तु०, ६.५३६

४. सुकृत०, ११.३३, वस्तु०, ३.३७१

५. हम्मीर०, ६.२४

६. कीर्ति० ४.३, वसन्त०, ४.१७

७. कीर्ति०, ४.८६

८. कीर्ति०, ६.७०, वसन्त०, ११.१

९. सुकृत०, ११.२

१०. वसन्त०, ११.३८

११. वही, ६.२८

१२. वसन्त०, ३.५६, सुकृत०, ११.१५, वस्तु०, ५.६३०, कीर्ति० ६.२५

१३. सुकृत०, ११.३०, द्वया० १५.६४, वराङ्ग०, २५.५६

१४. हम्मीर०, ६.३६

१५. वराङ्ग०, २५.५८

१६. वही, २५.५३

१७. वही, २५.५४

१८. वही, २५.५६

१९. द्वया०, ४.१३

२०. वराङ्ग०, २५.५५

२१. द्वया०, ६.७६

२२. द्वया०, २.६३

२३. हम्मीर०, ६.२७, ४१

सामान्य रूप से महान् पुरुषों के तपादि करने के स्थान तीर्थस्थल हो जाते हैं। ऐसे स्थानों के दर्शन, पूजा और स्तुति से पुण्य प्राप्त होने की मान्यता तत्कालीन समाज में प्रचलित थी।^१ वराह्मचरित महाकाव्य में निम्नलिखित हिन्दू तीर्थ स्थानों का विशेष उल्लेख आया है—

१. स्वामिगृह—स्वामी कार्तिकेय ने कुमारावस्था में ही घोर तप किया था। परिणामतः उनकी तपोभूमि स्वामिगृह (सामिगृह) के नाम से प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल बन गई।^२

२. कुमारी (कन्या कुमारी)—दक्षिण भारत से सम्बद्ध इस प्रदेश में 'कुमारी' ने अनेक वर्षों तक घोर तपस्या की थी।^३

३. भागीरथी (गंगा)—राजा सगर के पौत्र भागीरथ ने अपने पूर्वजों के उद्धारार्थ गंगा को पृथ्वी में लाने के लिए अनेक वर्षों तक तपस्या की थी। फलतः 'भागीरथी' सर्वाधिक पवित्र मानी जाने लगी।^४

४. कुरुक्षेत्र—प्रसिद्ध वंश कुरुवंश में उत्पन्न हुए कुरु नाम के महात्मा ने अपनी प्रजा को सुखी बनाने के लिए जिस विशाल प्रदेश में तपस्या की थी वह 'कुरुक्षेत्र' के रूप में प्रसिद्ध तीर्थ स्थल बन गया।^५ इसी स्थान पर पाण्डवों ने भी आत्मशुद्धि के लिए तपस्या की थी।^६

१. तीर्थानि लोके विविधानि यानि तपोधनैरध्युषितानि तानि ।

स्तुत्यानि गम्यानि मनोहराणि जातानि पुंसां खलु पावनानि ॥

—वराह्म०, २५.५१

२. वराह्म०, २५.५३ तथा तु० पाठभेद 'सामिगृह'

३. यस्याः कुमार्यास्तपसः प्राभावात्प्रकाशिता सा खलु दक्षिणाशा ।

ततः कुमारी वरधर्मनेत्री बहुप्रजानामभवत्स तीर्थम् ॥

—वही, २५.५४

४. भागीरथिश्चक्रधरस्य नप्ता वर्षाण्यनेकानि तपः प्रचक्रे ।

अवोगतानुद्धराय धीरो भागीरथी-पुण्यतमा ततोऽभूत् ॥

—वराह्म०, २५.५५

५. कुरुर्मर्हषिः कुरुवंशजातः कुमारभावे स तपस्त्वतप्तम् ।

प्रजाहिताय प्रथितप्रभावस्ततः कुरुक्षेत्रमभूत्प्रधानम् ॥

—वराह्म०, २५.५६

६. आतापयोगं परिगृह्य धीराः पाण्डोः सुताः क्लेशविनाशनाय ।

प्रचक्रिरे तत्र तपोऽतिघोरं मातापनीतेन पवित्रमासीत् ॥

—वही, २५.५७

५. श्रीपर्वत—संभवतः करनूल जिले का पहाड़ है जो आज भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थान माना जाता है।^१ कहते हैं कि इस पर्वत में 'श्री' नाम के महर्षि ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या की थी।^२

६. उज्जयन्त पर्वत—इसी पर्वत के वनों में श्री कृष्ण रासलीलाएं भी करते थे। फलतः उज्जयन्त पर्वत एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल बन गया था।^३ जैन धर्म की दृष्टि से भी यह 'तीर्थ स्थान' रहा था। तीर्थङ्कर नेमिनाथ की यह तपोभूमि रही थी।^४

(ख) दार्शनिक मान्यताएँ

महाकाव्य युग का जैन दर्शन : प्रवृत्तियाँ और प्रयोग

आगम युग का जैन दर्शन मूलतः आस्थाप्रधान दर्शन रहा था। विभिन्न दार्शनिक समस्याओं का शंका-समाधान अथवा उपदेशपरक शैली से प्रतिपादन किया जाता था। आगमों की दार्शनिक चर्चा अत्यन्त बिखरी हुई और अव्यवस्थित रही है। पं० दलमुख मालवणिया महोदय ने आगम युगीन दार्शनिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि "प्रत्येक विषय का निरूपण जैसे कोई द्रष्टा देखी हुई बात बता रहा हो इस ढंग से हुआ है। किसी व्यक्ति ने शङ्का की हो और उसकी शङ्का का समाधान युक्तियों से हुआ हो यह प्रायः नहीं देखा जाता। वस्तु का निरूपण उसके लक्षण द्वारा नहीं किन्तु भेद-प्रभेद के प्रदर्शन पूर्वक किया गया है। आज्ञाप्रधान या श्रद्धाप्रधान उपदेश यह आगम युग के जैनदर्शन की विशेषता है।"^५

जैन दर्शन के विकास सम्बन्धी जिन चार युगों का मालवणिया जी ने विवेचन किया है^६ उनमें से 'अनेकान्त व्यवस्था युग' जैन महाकाव्यों की दार्शनिक प्रवृत्तियों को मार्ग दर्शन दे रहा था। चौथी-पाँचवीं शताब्दी से सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकती है कि नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्गनाग आदि बौद्ध दार्शनिकों द्वारा भारतीय दर्शन में जिस तर्कप्रधान दार्शनिक

१. वराहचरित, (हिन्दी अनुवाद), खुशाल चन्द गोरावाला, पृ० ?

२. श्रीपर्वते श्रीः किल संचकार तपो महद्वर्षसहस्रमुग्रम्।

—वराह०, २५.५८

३. तमुज्जयन्तं वरणीधरेन्द्रं जनार्दनक्रीडवनप्रदेशम्।

—वराह०, २५.५९

४. वही, २५.५९

५. दलमुख मालवणिया, जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा, बनारस १९५२, पृ० ३

६. वही, पृ० ४-५

विवेचन को नई दिशा प्राप्त हुई उससे वैदिक एवं जैन दर्शन के चिन्तकों के सामने एक नई चुनौती भी आ खड़ी हुई कि वे बौद्ध दार्शनिकों के आक्रामक तर्कबाणों का वैसा ही जवाब दें। फलतः सभी भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में तर्कप्रधान वादों-प्रतिवादों को स्वर मिला नैयायिक वात्स्यायन, मीमांसक शबर आदि ने बौद्धों के 'शून्यवाद' तथा 'क्षणिकवाद' का खण्डन करते हुए अपने मतों की पुनः उपस्थापना की।^१ इसी खण्डन-मण्डन प्रधान दार्शनिक वातावरण में जैन दार्शनिकों ने अपनी तत्त्वमीमांसा को नया रूप प्रदान किया। इस दिशा में आगमों के प्रकीर्ण विषयों को संक्षिप्त एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने की अपेक्षा से सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर जैन दर्शन के सार को 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक ग्रन्थ में निबद्ध किया। जैन दर्शन को 'तत्त्वार्थसूत्र' जैसे सारगर्भित ग्रन्थ का विवेचनात्मक आधार मिल जाने पर छठी-सातवीं शताब्दी में अकलंक, सिद्धसेन, हरिभद्र सूरि आदि दार्शनिकों ने अनेकान्त व्यवस्था के औचित्य की दार्शनिक जगत् में विशेष पुष्टि की। सिद्धसेन ने अद्वैत, न्याय, सांख्य, बौद्ध आदि मतों को संग्रह, पर्यायाधिक, द्रव्याधिक, ऋजुसूत्र आदि नयों में समाविष्ट कर उनके समन्वयात्मक रूप में जैन दर्शन के 'अनेकान्तवाद' को चरितार्थ किया।^२ समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि का यह भी महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है कि उन्होंने नाना प्रकार के विरोधी वादों में सामञ्जस्य स्थापित करने की नवीन तर्क प्रणाली को 'अनेकान्तवाद' की अपेक्षा से समृद्ध बनाया। समन्तभद्र, मल्लवादी आदि दर्शनाचार्यों ने इस प्रयास को तर्कवैज्ञानिक एवं विधिपरक आयामों से जोड़ा।

जटासिंह नन्दि की अनेकान्त अवधारणा

जैन महाकाव्यों की दार्शनिक प्रवृत्तियों की कड़ी भी उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से जुड़ी हुई है। सातवीं-आठवीं शती ई० से सम्बद्ध जटासिंह नन्दि का इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। आचार्य जटासिंह ने वराह्मचरित महाकाव्य में अपने से पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों की 'अनेकान्तवाद-व्यवस्था' की परम्पराओं को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि नियति, कर्म, काल, भाग्य, ईश्वर आदि को सृष्टि का प्रधान कारण मानना केवल मात्र एक नय की अपेक्षा से ही सत्य है किन्तु एकान्तिक नयमूलक यह तत्त्वचिन्तन मिथ्यात्व का ही साधक है अतएव

१. दलमुञ्ज मानवगुणिया, जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा, पृ० ५

२. वही, पृ० ३

मोक्षप्राप्ति हेतु भी सर्वथा असमर्थ है।^१ इसके विपरीत समग्र नयीं से विशिष्ट 'अनेकान्तवाद' की तर्कप्रणाली ही मोक्ष प्राप्ति हेतु सहायक है।^२

जटासिंह का यह भी कथन है कि अपने पक्ष को सत्य घोषित करने तथा दूसरे के पक्ष को मिथ्या सिद्ध करने का आग्रह रखने वाले 'नय' 'मिथ्या नय' हैं।^३ किन्तु जब विभिन्न 'नय' परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से नियोजित होते हैं तभी वे सत्य का ज्ञान करा सकते हैं। उदाहरणार्थ मणि, पद्मराग, आदि रत्न जब बिखरे हुए पड़े रहते हैं तो उनकी 'रत्नावली' (हार) संज्ञा नहीं होती अपितु परस्पर गुंथे जाने पर ही हार के रूप में उनकी सार्थकता सिद्ध होती है।^४ हार बनाने की कला में निपुण व्यक्ति ही इन बिखरी हुई मणियों को परस्पर यथास्थान पिरोता है परन्तु इस प्रक्रिया में मणि विशेष के पृथक्-पृथक् नाम लुप्त हो जाते हैं।^५ वास्तव में जटासिंह 'प्रमाण व्यवस्था' के दार्शनिक युग में प्रविष्ट हो रहे थे। यही कारण है कि उन्होंने 'नयचेतना' को 'प्रमाणविज्ञान' से जोड़ने की चेष्टा की है। उनका मानना है कि 'नैगम' आदि नय अपने आंशिक ज्ञान का पूर्ण पदार्थ के ज्ञान में आत्म-समर्पण कर देते हैं जिसके कारण वे 'सम्यक्त्व' अर्थात् प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होते हैं तथा अपने पूर्ण रूप (नय) के 'मिथ्यात्व' की स्थिति को छोड़ देते हैं।^६ इस सम्बन्ध में जटासिंह ने यह भी स्पष्ट किया है कि लोकव्यवहार की दृष्टि से उपयोगी समझे जाने वाले 'नय' जब तक सापेक्ष होकर व्यवहृत होते हैं तब तक ही उनका औचित्य बना रहता है, जैसे ही वे निरपेक्ष भाव में आ जाते हैं तो उनकी प्रामाणिकता मिथ्या सिद्ध हो जाती है।^७

१. वराह०. २६.७२-७३ तथा २६.६८

२. वही, २६.७४

३. तस्मादुक्ता नयाः सर्वे स्वपक्षाभिनिवेशिनः ।

मिम्याद्दशस्त एवैते तत्त्वमन्योन्यमिश्रिताः ॥

—वही, २६.६०

४. मणयः पद्मरागाद्याः पृथक्पृथग्गथ स्थिताः ।

रत्नावलीति संज्ञां ते न विदन्ति महर्षिणः ॥

—वही, २६.६१

५. वही, २६.६२

६. तथैव च नयाः सर्वे यथार्थं विनिवेशिताः ।

सम्यक्त्वाख्यां प्रपद्यन्ते प्राक्तनीं संत्यजन्ति च ॥

—वही, २६.६३

७. वराह०, २६.६६.६७

नयों की संख्या के विषय में जटासिंह का मत है कि वाणी के जितने प्रकार हो सकते हैं 'नयो' की भी उतनी ही संख्या समझनी चाहिए तथा जितने 'नय' हैं उतने ही मिथ्या मार्ग (परतीर्थ) होते हैं।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य युग में जटासिंह नन्दि ने 'अनेकान्तवाद' की व्यवस्था को अधिकाधिक तार्किक युक्तियों से जोड़ने की चेष्टा की है। साथ ही वे दूसरे भारतीय दार्शनिकों की मान्यताओं को मिथ्या मार्गी सिद्ध करने के लिए भी प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। वास्तव में जैन महाकाव्यों का युग एक ऐसा दार्शनिक युग था जब सभी दर्शन एक दूसरे की तत्त्वमीमांसा का खण्डन करने में विशेष रस ले रहे थे।

अनेकान्तवाद पर विरोधी प्रहार

इस युग में जैन दार्शनिक जहाँ एक ओर 'अनेकान्तवाद' के माध्यम से जिस किसी भी दार्शनिकवाद की कटु आलोचना करने की तार्किक प्रणाली का विकास कर चुके थे वहाँ दूसरी ओर 'अनेकान्तवाद' का खण्डन करने के लिए अनेक जैनतर दार्शनिक भी मैदान में उतर आए थे। दसवीं शताब्दी में भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने 'अनेकान्तवाद' की अनेक तर्कसंगत त्रुटियों को सामने रखा।^२ उनका कहना है कि जगत् का व्यवहार निश्चयात्मक अथवा व्यवसायात्मक बुद्धि के आधार पर चलता है, अनिश्चयात्मक ज्ञान से नहीं। इस कारण जैन दर्शन का 'स्याद्वाद' अनिश्चयपूर्ण मापदण्डों से केवल भ्रम को ही पैदा करता है।^३ वाचस्पति मिश्र तर्क देते हुए कहते हैं कि सत्ता और असत्ता परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। वस्तुओं की नाना रूप से प्रतीति कुछ और है परन्तु विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थों की एक ही काल में एक ही स्थान पर एक साथ उपस्थिति अथवा उसकी अनिवर्चनीयता सर्वथा असंभव है। एकान्तिक निर्धारण अथवा निश्चय प्रवृत्ति मात्र का साधक है किन्तु 'अनेकान्तवाद' में यह सम्भव नहीं।^४ अतएव 'स्याद्वाद' की अपेक्षा से 'स्यादुर्वा पुरुषो वा'—यह ज्ञान अप्रमाणाभूत हो जाता है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने सप्तभंगों में सप्तत्व संख्या का निश्चय, उनके स्वरूप का निर्धारण करने वाले पुरुष और साधन

१. यावन्तो वचसां मार्गा नयास्तावन्त एव हि ।

तावन्ति परतीर्थानि यावन्तो नयगोचराः ॥

—वराहमिह, २६६६

२. ब्रह्मसूत्र, २.२.३३ पर भामती टीका

३. ईश्वर सिंह, भामती एक अध्ययन, रोहतक, १९८३, पृ० १४३

४. सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन समुच्चयाभावे विकल्पः ।

न च वस्तुनि विकल्पः संभवति ।

—भामती, २.२.३३

सभी को सन्देशों से ग्रस्त घोषित कर दिया।^१ ब्रह्मसूत्र के अन्य टीकाकारों तथा षड्दर्शन के अन्य दार्शनिकों ने भी इसी शैली में अनेकान्तवाद, स्यादवाद, जीव-शरीर-परिमाणवाद आदि जैन मान्यताओं का खण्डन किया है।

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का नवीन ध्रुवीकरण

उपर्युक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही हमें जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित दार्शनिक विचारों का मूल्याङ्कन करना चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष की समग्र दार्शनिक चेतना उस समय किस दिशा की ओर मुड़ रही थी। जैन महाकाव्यों के काल में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक वादों का समाज-शास्त्रीय दृष्टि से यदि मूल्याङ्कन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शती ई० के बाद लोकायत दर्शनों की सामाजिक लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। शायद उसका एक मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक षड्दर्शनों की तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा चिन्तनपरक ऊचाइयों को छूने के बाद भी एक दूसरे के विरोधी एवं निर्बल पक्षों के भी प्रचार-प्रसार में लगी हुई थीं और इस कारण दर्शनों की मौलिकता का ह्रास होने के साथ-साथ पिष्ट-पेषणता को भी बढ़ावा मिल रहा था। दूसरी ओर लोकायत दर्शन पहले की अपेक्षा और अधिक सबल तर्कों के सम्पादन में अधिक कारगर सिद्ध हो रहे थे। इस सन्दर्भ में 'षड्दर्शनसमुच्चय' के रचयिता हरिभद्रसूरि तत्कालीन दार्शनिक जगत् की व्यापक गतिविधियों की जानकारी देने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं। 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न सुरि ने भी १५वीं शताब्दी के दार्शनिक जगत् का जैसा सामयिक चित्रण प्रस्तुत किया है उससे ऐसा लगता है कि समाज में एक ओर लोकायतिक दर्शन चेतना फल-फूल रही थी तो दूसरी ओर उसकी प्रति-क्रियास्वरूप अनेक सम्प्रदायनिष्ठ धार्मिकवाद दर्शन का रूप लेते जा रहे थे।^२ गुणरत्न ने लोकायतिक तत्त्वमीमांसा का विशद विवेचन करते हुए लोकायतिक साधुओं का भी उल्लेख किया है। ये शरीर में कापालिकों की भाँति भस्म लगाते थे तथा जाति प्रथा का खण्डन करते थे। ये आत्मा, पाप-पुण्य आदि को नहीं मानते

१. तस्मात् स्थाणुर्वा पुद्गलो वेति ज्ञानवत् सप्तत्व-पञ्चत्वनिर्धारणस्य फलस्य निर्धारयितुश्च प्रमातुस्तत्करणस्य प्रमाणस्य च तत्प्रमेयस्य च सप्तत्व-पञ्चत्वस्य च सदसत्त्वसंशये साधु समर्थितं तीर्थंकरत्वमृषभेणात्मनः।

—भामती, २.२.३३

२. षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्नकृत टीका, (ज्ञानपीठ संस्करण), पृ० ३०-३१

थे । मद्य, मांस एवं स्त्री व्यभिचार से इन्हें परहेज नहीं था ।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्ती भोगविलास एवं ऐश्वर्य सुख के उपभोगपरक मूल्यों से लोकायतिक मनोवृत्ति समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी थी । अनेक जैन महाकाव्यों में लोकायतिक जीवन दर्शन का यह पहलू विशेष रूप से अभिव्यञ्जित हुआ है ।^२ प्रायः जैन महाकाव्यों ने इस मनोवृत्ति को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर उसका दार्शनिक शब्दावली में अपलाप किया है^३, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि सांख्य, वेदान्त आदि अन्य आस्तिक दर्शनों के समान ये लोकायतिक दर्शन भी अपनी तत्त्वमीमांसा को सामाजिक दृष्टि से लोकप्रिय बनाने में विशेष सफलता प्राप्त कर रहे थे तभी अष्टात्मवादी सभी दर्शनों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी अन्य दर्शनों के साथ-साथ लोकायतिक दर्शनों का भी विशेष रूप से खण्डन किया है । जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी लोकायतिक दर्शनों की विशेष चर्चा के साथ-साथ उनके खण्डन होने का भी वर्णन मिलता है ।

सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० से लेकर उत्तरोत्तर शताब्दियों में आस्तिक दर्शनों के विविध रूपों और विभिन्न देवताओं के नामों पर दार्शनिक सम्प्रदायों के विघटन और उनके ध्रुवीकरण की गतिविधियाँ भी विशेष गतिशील रहीं थीं । इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि जटासिंह नन्दि ने पुरुष, ईश्वर, काल, स्वभाव, दैव, ग्रह, नियति आदि सृष्टि विषयक इन अनेक मतों का खण्डन करते हुए उल्लेख किया है^४ तो दूसरी ओर जैन दर्शन की द्रव्य परिभाषा उत्पाद-व्यय तथा ध्रुव्य को क्रमशः त्रिपुष्प—ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु के प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में भी प्रस्तुत किया जाने लगा था ।^५ गुणरत्न की टीका के आधार पर भी यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि के अतिरिक्त भी और बहुत से देवों और तत्त्वों को सृष्टि का मूल कारण मानते हुए उनके नाम से अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों की दिन-

१. कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्यजाश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । ते च मद्यमांसं भुञ्जते मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते ।...वर्षे वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे सर्वे सम्भूय यथानामनिर्गमं स्त्रीभि रमन्ते ।

—षड्दर्शनसमुच्चय, ७६ पर गुणरत्न टीका, पृ० ४५०-५१

२. चन्द्र०, सर्ग २, पदमा०, सर्ग ३
३. चन्द्र०, २.४६-५६, पदमा०, ३.१३७-१५५
४. वराह्म०, २६.७२
५. द्विस०, १२.५० तथा उस पर पदकौमुदी टीका

प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही थी। गुणरत्न ने ऐसे लगभग २७ वादों का उल्लेख किया है।^१

जैन महाकाव्यों के आलोच्य युग की उपर्युक्त समग्र दार्शनिक चेतना के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों की दार्शनिक चर्चा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। जैन महाकाव्यों में पुरे के पुरे सर्ग ही दार्शनिक चर्चा आदि के लिए निबद्ध हुए हैं।^२ प्रायः महाकाव्यों में किसी जैन मुनि के आगमन और उसके द्वारा दिए गए धर्मोपदेश की कथानक योजना के अन्तर्गत दार्शनिक चर्चा का अवसर जुटाया गया है। पद्मानन्द आदि कुछ महाकाव्यों में राजा की मंत्रिपरिषद् में दार्शनिक चर्चा-परिचर्चा होने का वर्णन आया है।^३

आलोच्य जैन महाकाव्यों से सम्बद्ध दार्शनिक महत्त्व की सामग्री को दो भागों में विभक्त किया गया है। सर्वप्रथम जैन दर्शन के तथ्यों का विवेचन है तदनन्तर उन अनेक जैनैतर दार्शनिक वादों की स्थिति स्पष्ट की गई है जिनके प्रति महाकाव्य के लेखकों ने अपनी दार्शनिक प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

१. जैन-दर्शन

प्रमाणव्यवस्था

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण सामान्य का लक्षण है—जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाए।^४ जैन तर्कशास्त्री नैयायिकों की भाँति इन्द्रिय विषय व सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं मानते फलतः वे स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।^५ वराह्मचरित महाकाव्य में जैनप्रियत प्रमाणव्यवस्था का निरूपण करते हुए कहा गया है कि पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों तथा नयों से हो संभव है।^६ प्रमाण को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) प्रत्यक्ष तथा (२) परोक्ष।^७ प्रत्यक्ष के तीन भेद किए गए हैं—(१) अवधिज्ञान (२) मनःपर्यय ज्ञान तथा (३) केवलज्ञान। प्रथम दो भेद केवल मूर्त वस्तुओं का ज्ञान करा सकने में समर्थ हैं किन्तु

१. षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्नटीका, पृ० ३०-३१

२. वराह्म०, सर्ग २६; चन्द्र०, सर्ग १८; धर्म०, सर्ग १५; पद्मा०, सर्ग ३

३. पद्मा०, तर्ग ३

४. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । —कषायपाहुड, १.१.१.२७

५. स्व-पर-व्यवसायिज्ञानं प्रमाणम् । —प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, १.२

६. तेषामधिगमोपायः प्रमाणनयवर्त्मना । —वराह्म०, २६.४५

७. प्रत्यक्षं च परोक्षं च प्रमाणं तद्विधा स्मृतम् । —वही, २६.४५

तीसरा केवलज्ञान विश्व के समस्त पदार्थों के ज्ञान से समन्वित रहता है।^१ परोक्ष के भी दो परम्परागत भेद किए गए हैं—(१) मतिज्ञान तथा (२) श्रुतज्ञान। मतिज्ञान अनेक भेदों में विभक्त है किन्तु श्रुतज्ञान के दो भेद बताए गए हैं।^२

नयव्यवस्था

‘नय’ की अनेक अपेक्षाओं से परिभाषा की गई है।^३ आलापपद्धति के अनुसार नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव की ओर ले जाना ‘नय’ कहा गया है तो वस्तु की एकदेश परीक्षा भी नय का लक्षण स्वीकारा गया है।^४ सन्मतितर्क के अनुसार जितने वचन-भेद संभव हैं उतने ही नयवाद हो सकते हैं।^५ वराङ्गचरितकार ने नयज्ञान को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है—(१) द्रव्याधिक तथा (२) पर्यायाधिक।^६ जैन परम्परा के अनुसार इन दोनों नयों के १. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ तथा ७. एवंभूत ये सात भेद किए गए हैं। तदनु रूप नयव्यवस्था का अनुमोदन करते हुए वराङ्गचरितकार ने भी प्रथम तीन को द्रव्याधिक नय तथा अन्तिम चार को पर्यायाधिक नय का भेद माना है।^७ जटासिंह नन्दि ने इन सात प्रकार के नैगमादि नयों को लौकिक व्यवहार सम्पादन की एक तार्किक व्यवस्था माना है।^८

द्रव्यव्यवस्था

द्रव्य का सामान्य लक्षण है—‘सत्’।^९ द्रव्य को ‘सत्’ के अतिरिक्त उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्ययुक्त भी माना गया है।^{१०} लोक द्रव्यों का समूह है जो स्वतः सिद्ध माना गया है, कृतक नहीं।^{११} द्रव्य के छह मुख्य भेद माने जाते हैं—(१) जीव

१. वराङ्ग०, २६.४६
२. सप्रभेदा मतिश्चैव द्विविकल्पमपि श्रुतम् । —वही, २६.४६
३. विशेष द्रष्टव्य—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० ५१२
४. वही, पृ० ५१२
५. सन्मतितर्क, ३.४६
६. संक्षेपतो नयौ द्वौ तु द्रव्यपर्यायसंसृतौ ।^१ —वराङ्ग०, २६.४८
७. वही, २६.५०-५१
८. तयोर्भेदा नया जैनैराख्याताः नैगमादयः ।
नीयते यैरक्षेपेण लोकयात्रा विशेषतः ॥ —वही, २६.४६
९. तत्त्वार्थसूत्र, ५.२६
१०. पंचास्तिकाय, १०
११. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० ४५१

(२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश तथा (६) काल ।^१ वराहचरित में इन छह द्रव्यों का उल्लेख आया है ।^२ चेतनामय तथा चेतनाहीन स्वभावों की दृष्टियों से द्रव्य को मुख्य रूप से दो विभागों में भी रखा जा सकता है जिनकी (१) जीव तथा (२) अजीव संज्ञाएं दी गई हैं ।^३ तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'द्रव्य' वही है जिसमें गुण और पर्याय हों ।^४ परन्तु वराहचरितकार ने इस परिभाषा को भेद परक दृष्टि से विश्लेषित करते हुए द्रव्य के (१) गुण (२) द्रव्य तथा (३) पर्याय इन तीन भेदों की परिकल्पना की है ।^५ इसी प्रकार (१) रूप (२) अभिरूप (३) क्रिया तथा (४) गुण भेद से इसके चार भेद संभव हैं ।^६ पञ्चास्तिकाय भेद से द्रव्य के पांच भेद होते हैं ।^७ वराहचरित में द्रव्य के छह भेद भी स्वीकार किए गए हैं जो इस प्रकार हैं—(१) जीव (२) पुद्गल, (३) धर्म (४) अधर्म (५) काल तथा (६) आकाश ।^८ जैन दर्शन में 'षड्द्रव्य'-विभाजन, जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त, क्रिया-भाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सप्रदेशी-अप्रदेशी, सर्वगत-असर्वगत, कर्त्ता-भोक्ता आदि अनेक दृष्टियों से संभव है ।^९ इन्हीं नाना दृष्टियों से जटासिंह नन्दि ने भी द्रव्य निरूपण के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है जो उनके अनुसार 'स्याद्वाद' सिद्धान्त की देन हैं ।^{१०}

तत्त्वव्यवस्था

जैन दर्शन के सात तत्त्व—जैन दर्शन में मुख्यतया सात दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा प्राप्त होती है । तत्त्वार्थसूत्र^{११} आदि ग्रन्थों की भाँति जैन महाकाव्यों में जिन

१. महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, वाराणसी, १९६६, पृ० १४२
२. वराह०, २६.५
३. तच्च द्वेधा विनिर्दिष्टं जीवाजीवस्वभावतः ॥ —वही, २६.२
४. गुणपर्यायवद्द्रव्यम् । —तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७
५. तदेव त्रिविधं प्रोक्तं गुणद्रव्यैश्च पर्यायैः । —वराह०, २६.३
६. चतुर्धा भिद्यते तच्च रूपारूपक्रियागुणैः । —वही, २६.३
७. पञ्चास्तिकायभेदेन पञ्चधा भिद्यते पुनः । —वही, २६.४
८. जीवपुद्गलकालाश्च धर्माधर्मौ नभोऽपि च ॥ —वही, २६.५
९. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० ४५४-१६
१०. अर्हन्तमिदं पुण्यं स्याद्वादेन विभूषितम् ।
अन्यतीर्थैरनालीढं वक्ष्ये द्रव्यानुयोजनम् ॥ —वही, २६.१
११. जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् । —तत्त्वार्थसूत्र, १.४

सात तत्त्वों का विवेचन आया है, वे इस प्रकार हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा तथा (७) मोक्ष।^१ चन्द्रप्रभ आदि महाकाव्यों के अनुसार 'पुण्य' एवं 'पाप' इन दो तत्त्वों को पृथक रूप से स्वीकार कर लेने पर तत्त्वों की संख्या नौ मानी गई है।^२ वस्तुतः शुभकर्मों का बन्ध 'पुण्य' एवं अशुभ कर्मों का बन्ध 'पाप' होता है इस कारण इन दोनों तत्त्वों को 'बन्ध' के अन्तर्गत समाविष्ट करते हुए सात तत्त्वों के निरूपण की परम्परा ही अधिक प्रचलित है।^३ जैन महाकाव्यों के अनुसार इन सात तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. जीव

जीव का असाधारण लक्षण है—'उपयोगमयता' जो दो प्रकार से घटित होती है—१. दर्शनोपयोग से तथा २. ज्ञानोपयोग से। इसी कारण जीव समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है।^४ नेमिनिर्वाण^५ तथा चन्द्रप्रभ^६ आदि महाकाव्यों में जीव को चेतनामय मानते हुये उसे कर्मों का कर्ता-भोक्ता स्वीकार किया गया है। शरीरधारी होने से उसमें उत्पत्ति तथा विनाश आदि विशेषताएं भी होती हैं। धर्मशर्माम्युदय में जीव की बहुविध प्रवृत्तियों को समेटते हुये उसका सन्तुलित एवं सारगर्भित लक्षण देने का प्रयास किया गया है और कहा गया है कि जो 'अमूर्तिक, चेतनालक्षण से युक्त, कर्ता और भोक्ता, शरीरधारी, ऊर्ध्वगामी तथा उत्पाद-

१. वराङ्ग०, २६.१-३६; चन्द्र०, १८.१-१३२; धर्म०, २१.८-१२२; नेमि०, १५.५१-७६; वर्च०, सर्ग १५ तथा तु०—

जीवाजीवाश्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा ।

मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्ततत्त्वानि शासते ॥ —चन्द्र०, १८.२

२. चन्द्र०, १८.३, धर्म०, २१.६

३. बन्धान्तर्भाविनोः पुण्यपापयोः पृथगुक्तिः ।

पदार्था नव जायन्ते तान्येव भुवनत्रये ॥

—धर्म०, २१.१६, तथा चन्द्र०, १८.३

४. उपयोगलक्षणा जीवा उपयोगो द्विषा स्मृतः ।

ज्ञानेन दर्शनेनापि यदर्थग्रहणं हि सः ॥ —वराङ्ग०, २६.६

५. चेतनालक्षणो जीवः । —नेमि०, १५.५२

६. चेतनालक्षणो जीवः कर्ताभोक्ता स्वकर्मणाम् ।

—चन्द्र०, १८.४

व्यय एवं ध्रौव्य युक्त हो वह 'जीव' है ।^१ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जीव के 'चेतनालक्षणो जीवः' तथा 'उपयोगलक्षणो जीवः' युक्ति संगत लक्षण हैं जो संसारी तथा सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों में घटित होते हैं परन्तु व्युत्पत्ति के आधार पर जो जीता है, प्राण धारण करता है—यह जीव का जो अर्थ किया जाता है वह केवल संसारी जीवों में ही चरितार्थ होता है सिद्ध जीवों में नहीं ।^२ 'सिद्ध' और 'संसारी' भेद से जीव दो प्रकार का है । संसारी जीव के चार भेद संभव हैं— १. नारकी, २. तिर्यञ्च, ३. मनुष्य तथा ४. देव ।^३ नारकी जीव सात पृथिवियों की अपेक्षा से सात प्रकार का होता है । १. रत्नप्रभा २. शंकराप्रभा ३. बालुका-प्रभा ४. पंकप्रभा ५. घूमप्रभा ६. तमःप्रभा तथा ७. महातमः प्रभा—ये नरक की सप्त भूमियां हैं ।^४ मुख्यतया जीव तत्त्व को 'अभव्य', 'भव्य' तथा 'मुक्त'—इन तीन भेदों^५ की दृष्टि से विवेचित किया जाता है जो इस प्रकार हैं—

(क) अभव्य जीव—वीतराग तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि से प्रकाशमान् सत्य के प्रति जो अनास्थावान् हैं, मिथ्या तथा भ्रान्त ज्ञान के ग्राहक और पोषक हैं तथा अनादि काल से लेकर आगामी काल तक जो सदैव संसार-सागर में ही परिभ्रमण करते रहते हैं 'अभव्य' जीव कहलाते हैं । ये जीव उस पाषाणखण्ड के समान हैं जो सैकड़ों कल्पों के बीतने पर भी कभी थोड़ा सा भी निर्मल नहीं होते ।^६

(ख) भव्य जीव—जिनका संसार भ्रमण अनादि होता है परन्तु शुभावसर के आगमन पर रत्नत्रय के धारण से जिनका आगामी भव समाप्त हो जाता है—भव्य जीव कहलाते हैं । इस प्रकार के जीव उस मलिन धातु के तुल्य हैं जो शुद्धि के

१. अमूर्तश्चेतनाचिह्नः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः ।

ऊर्ध्वगामी स्मृती जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥

—धर्म०, २१.१०

२. तू० 'जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः।' तथा द्रष्टव्य, आचार्य श्री आत्मा राम जी, जैन तत्व कलिका, पंचम कलिका, पृ० ८१

३. धर्म०, २१.११

४. वही, २१-१२-१३

५. ते च जीवास्त्रिधा भिन्ना भव्याभव्याश्च निष्ठिताः । —वराह० २६.७

६. अश्रद्धाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन ।

अलभ्यतत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः ॥ —वही, २६.७

अनाद्यनिधनाः सर्वे मग्नाः संसारसागरे ।

अभव्यास्ते विनिदिष्टा अन्धपाषाणसंनिभाः ॥ —वही, २६.६

उपायों से परिष्कृत होकर शुद्ध स्वर्ण हो जाते हैं। तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट जीव-अजीवादि सात तत्त्वों में श्रद्धान इनकी शुद्धि का उपाय है।^१

(ग) मुक्त जीव—ज्ञानावरणी, मोहनीय आदि आठ कर्मों से मुक्त तीनों लोकों तथा कालों के ज्ञाता, समस्त लोक के हितैषी एवं अर्चना योग्य, आत्म-स्वरूप से व्याप्त, सांसारिक बन्धनों एवं सुखों से परे अद्यात्मानन्द से परिपूर्ण एवं सांसारिक सन्दर्भों से सर्वथा अव्याख्येय जीव 'मुक्त जीव' (सिद्ध) कहलाते हैं।^२

२. अजीव

स्वरूपतः 'अजीव' 'जीव' का प्रतिपक्षी है। इसमें 'जीव' के असाधारण लक्षण घटित नहीं होते। फलतः यह 'उपयोगमयता' से रहित है तथा चैतन्य का इसमें अभाव रहता है। इस कारण अजीव जड़ पदार्थ होने के साथ-साथ कर्ता-भोक्ता भी नहीं है। किन्तु यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है।^३ अजीव के पांच भेदों का महाकाव्यों में निरूपण आया है जो इस प्रकार हैं—१. धर्म, २. अधर्म, ३. काल ४. आकाश तथा ५. पुद्गल अथवा अणु।^४

'धर्म' द्रव्य गति का कारण है तो 'अधर्म' स्थिति का।^५ जैसे मछलियों की गति का कारण जल है उसी प्रकार धर्म जीवों की गति का कारण है।^६ चलते-चलते थका हुआ मनुष्य जैसे किसी स्थान विशेष पर रुक जाता है उसी प्रकार 'अधर्म' भी पुद्गलादि को रोकने में सहायता देता है।^७ 'काल' का लक्षण 'वर्तना' अर्थात् परिणाम आदि कराना माना गया है।^८ काल के तीन भेद हैं—भूत, भविष्य तथा वर्तमान।^९ व्यवहार की दृष्टि से 'काल' द्रव्य के 'समय', 'आवलि', 'नाड़ी',

१. वराह०, २६-१०-११

२. वही, २६-१२-१३

३. आचार्य श्री आत्माराम जी, जैन तत्त्व कलिका, पंचम कलिका, पृ० ६१

४. धर्मधर्माणवः कालाकाशौ चाजीवसंज्ञिताः । —नेमि० १५.७०

धर्मधर्मावकाशं कालः पुद्गल इत्यपि । —चन्द्र०, १८.६७

तथा धर्म०, २१.८१

५. वराह०, २६.२३, नेमि०, १५.७०

६. वराह०, २६.२४, चन्द्र०, १८.६६

७. वराह०, २६.२४, चन्द्र०, १८.७१

८. चन्द्र०, १८.७४

९. वराह०, २६.२७

‘मुहूर्त’, ‘दिन’, ‘रात’ आदि सूक्ष्म भेद भी किए गए हैं। इसी प्रकार पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, युग आदि भी काल की अन्य पर्याएँ होती हैं।^१ पाँचवें द्रव्य ‘आकाश’ की ‘सर्व-व्यापकता’ एवं ‘अवगाहनता’ विशेषता है।^२ वराहचरित में केवल ‘आकाश’ को ही व्यापक द्रव्य बताया गया है शेष पाँच द्रव्य अव्यापि हैं।^३ नेमिनिर्वाण महाकाव्य में ‘आकाश’ तथा ‘काल’ दोनों के ‘व्यापकत्व’ के वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हुए इन्हें ‘अनश्चर’ माना गया है।^४ इसके विपरीत वराहचरितकार ‘काल’ को ‘अनित्य’ मानते हुए उसमें ‘व्यापकत्व’ का भी सर्वथा अभाव मानते हैं।^५

पुद्गल षड्विध

‘अजीव’ तत्त्व का पाँचवा भेद ‘पुद्गल’ अथवा ‘अणु’ कहा गया है। ‘पुद्गल’ सूक्ष्म परमाणुओं की ही संज्ञा है जिसे ‘वर्गणा’ भी कहा जाता है। चन्द्रप्रभ महाकाव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द को भी ‘पुद्गल’ संज्ञा दी गई है।^६ वराहचरित महाकाव्य में पुद्गल के निम्नलिखित छह भेद^७ विस्तार से वर्णित हैं :—

१. स्थूल-स्थूल^८—इसके अन्तर्गत पृथिवी सहित पर्वत, वन, मेघ, विमान, भवन आदि कृत्रिम तथा अकृत्रिम पदार्थ आते हैं।

२. स्थूल^९—इसके अन्तर्गत तेल, घी, दूध, पानी आदि ऐसे तरल पदार्थ

१. वराह०, २६.२८

२. वराह०, २६.३१, चन्द्र०, १८.७२

३. वराह० २६.४२

४. जगतो व्यापकावेतो कालाकाशावनश्चरो । —नेमि०, १५.७१

५. कालद्रव्यमनित्यं तन्निस्त्यान्येवेतराणि च । —वराह०, २६.४१

६. रूपगन्धरसस्पर्शः शब्दवान् पुद्गलः स्मृतः । —चन्द्र०, १८.७६

७. षट्प्रकारविभक्तं तत्पुद्गलद्रव्यमिष्यते । —वराह०, २६.१४

८. भूम्पद्रिवनजीमूतविमानभवनादयः ।

कृत्रिमाकृत्रिमद्रव्यं स्थूलस्थूलमुदाहृतम् ॥

—वही, २६.१६

९. तनुत्वद्रव्यभावाच्च छेद्यमानानुबन्धि यत् ।

तैलोदकरसक्षीरघृतादि स्थूलमुच्यते ॥

—वही, २६.१७

समाविष्ट हैं जिनकी तन्वाकृति होती है तथा जो 'छेदन' अथवा 'पेषण' द्वारा निष्पन्न होते हैं ।

३. स्थूल-सूक्ष्म^१—इसके अन्तर्गत चक्षुर्ग्राह्य किन्तु स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अग्राह्य पदार्थ अन्तर्भूत हैं, जैसे छाया, घूप, अन्धकार, चाँदनी इत्यादि ।

४. सूक्ष्म-स्थूल^२—इसके अन्तर्गत अचक्षुर्ग्राह्य किन्तु अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य वस्तुएं आदि सम्मिलित हैं, जैसे शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, शीत, उष्ण, वायु आदि ।

५. सूक्ष्म^३—इसके अन्तर्गत 'वैक्रियक', 'भौदारिक' आदि पंचविध शरीर तथा मन एवं बुद्धि की 'वर्गणाएं' और साथ ही उनके अन्दर अनन्तानन्त संख्या में व्याप्त 'आन्तरिक वर्गणाएं' संघात रूप से समाविष्ट हैं ।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म^४—इसके अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'पुद्गल' की स्थिति मानी गई है जिसे 'परमाणु' कहा जाता है । इनकी उल्लेखनीय विशेषता यह रहती है कि ये संघात रूप से नहीं अपितु परस्पर बिखरे रूप में होते हैं ।

वराहचरितकार ने 'पुद्गल' द्रव्य के विषय में यह भी कहा है कि यह 'एकक्षेत्रावगाही' भी है और 'अनेकक्षेत्रावगाही' भी, जबकि धर्म, अधर्म, आकाश, तथा जीव 'अनेकक्षेत्री' हैं । 'काल' केवल एक 'क्षेत्र' में ही रह सकता है ।^५ 'पुद्गल' तथा शरीरी जीव 'नित्य' तथा 'अनित्य' दोनों होते हैं ।^६

१. चक्षुर्विषयमागम्य ग्रहीतुं यन्न शक्यते ।

च्छायातपतमोज्योत्स्नं स्थूलसूक्ष्मं च तदभवेत् ॥ —वराह०, २६.१८

२. शब्दस्पर्शरसो गन्धः शीतोष्णो वायुरेव च ।

अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम् ॥ —वही, २६.१९

३. पञ्चानां वैक्रियादीनां शरीराणां यथाक्रमम् ।

मनसश्चापि वाचश्च वर्गणा याः प्रकीर्तिताः ॥

तासामन्तरवर्तिन्यो वर्गणा या व्यवस्थिताः ।

ताः सूक्ष्मा इति विज्ञेया अनन्तानन्तसंहताः ॥ —वही, २६.२०-२१

४. असंयुक्तास्त्वसंबद्धा एकैकाः परमाणवः ।

तेषां नाम समुद्दिष्टं सूक्ष्मसूक्ष्मं तु तद्वबुधैः ॥

—वही, २६.२२

५. वही, २६.३७

६. पुद्गला जीवकायाश्च नित्यानित्या इति स्मृताः । —वही, २६.४१

जीव आदि छह द्रव्यों में 'काल' के कारण 'जीव' तथा 'पुद्गल' का ही परिणामन होता है तथा शेष 'धर्म', 'अधर्म', 'आकाश' आदि का कोई परिणामन नहीं होता ।^१ इन छह द्रव्यों में केवल 'जीव' ही चेतन है शेष 'अजीव' अर्थात् अचेतन हैं । इसी प्रकार केवल पुद्गल द्रव्य भूतिक है अन्य अभूतिक होते हैं ।^२ पुद्गल द्रव्य की यह भी विशेषता मानी गई है कि यह 'कार्य' भी होता है तथा दूसरों का 'कारण' भी बनता है । किन्तु शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये पाँचों द्रव्य 'कारण' ही होते हैं, किसी के 'कार्य' नहीं बन सकते ।^३ 'पुद्गल' द्रव्य कर्ता की अपेक्षा करता है तथा स्वयं भी कर्तृत्ववान् होता है, किन्तु शेष पाँचों द्रव्यों में कोई भी किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होता है ।^४ इस प्रकार हम देखते हैं कि जटासिंह नन्दि ने पुद्गल के स्वरूप का विस्तार से भेदसहित विवेचन ही नहीं किया बल्कि अन्य द्रव्यों के साथ उसके अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

३. आश्रय

कर्मों के आने का द्वार 'आश्रय' कहलाता है । यह मन, वचन तथा शरीर के योग से होता है ।^५ योग जीव की एक शक्ति विशेष मानी जाती है । अभिप्राय यह है कि हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं तथा शरीर के द्वारा जो क्रियाएँ करते हैं, उनसे 'कार्माण वर्गणाएं' आत्मा में सूचित होती जाती हैं ।^६ परिणामतः शुभ योग 'पुण्याश्रय' तथा अशुभ योग 'पापाश्रय' का कारण बनता जाता है । इस 'आश्रय' के 'सकषाय जीव' तथा 'अकषाय जीव'—दो स्वामी हैं ।^७ आश्रय ही संसार का मूल कारण है ।^८

१. जीवाश्च पुद्गलाश्चैव परिणामगुणान्विताः ।

परिणामं न गच्छन्ति शेषाणीति विदुर्बुधाः ॥ —वराह०, २६.३५

२. जीवद्रव्यं हि जीवः स्याच्छेषं निर्जीव उच्यते ।

मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यममूर्तं शेषमिष्यते ॥ —वही, २६.३६

३. वही, २६.४३

४. वही, २६.४४

५. कर्मणामागमद्वारमाश्रयं संप्रचक्षते ।

स कायवाङ्मनः कर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥

—चन्द्र०, १८.८२, तथा धर्म०, २१.१२०, नेमि०, १५.७५

६. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ६३१

७. चन्द्र०, १८.८३

८. आश्रयः संसृतेर्मूलम् । —धर्म०, २१.१२० तथा

स हि निःशेषसंसारनाटकारम्भसूत्रभूत् । —नेमि०. १५.७५

४. बन्ध

आत्मा के साथ इह-परिचय के रूप में स्थिर शुभाशुभ कर्मों के सम्बन्ध को 'बन्ध' कहते हैं^१। अथवा सकषाय होने के कारण जीव का कर्मयोग्य पुद्गल से जो सम्बन्ध होता है, उसे 'बन्ध' कहते हैं^२। 'मिथ्यादर्शन', 'प्रमाद', 'योग', 'अविरति' तथा 'कषाय' ये पांच 'जीव' के कर्मबन्ध के कारण माने जाते हैं^३। प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाव-बन्ध तथा प्रदेश-बन्ध के भेद से यह चार प्रकार का होता है।^४ प्रकृति-बन्ध के आठ भेद होते हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र तथा ८. अन्तराय।^५ भाव तथा क्षेत्र आदि की अपेक्षा से कर्मों का विपाक 'अनुभाव-बन्ध' कहलाता है।^६ आत्मा के सभी प्रदेशों में कर्मों के अनन्त प्रदेशों की स्थिति 'प्रदेश-बन्ध' कहलाती है।^७

५. संवर

जितनी सीमा तक मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध हो सके 'गुप्ति' कहलाता है। 'संवर' भी सुरक्षा का नाम है। इस प्रकार जिन द्वारों से कर्मों का 'आस्रव' होता है उनका निरोध करना 'संवर' कहलाता है।^८ इसी सन्दर्भ में चन्द्रप्रभचरित में 'चारित्रगुप्ति' का उल्लेख आया है। इस प्रकार 'चारित्रगुप्ति', 'अनुप्रेक्षा', 'परीषहजय', 'दशलक्षणधर्म' तथा 'समिति' (सम्यक् प्रवृत्ति) से 'संवर' होता है।^९ धर्शशर्माभ्युदय के अनुसार आश्रवों

१. इहं परिचयस्वैर्यं कर्मणामात्मानश्च यत् । —नेमि०, १५.७३

२. सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।

पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥

—चन्द्र०, १८.६६, तथा धर्म० २१.१०६

३. चन्द्र०, १८.६५, धर्म०, ६१.१०७

४. चन्द्र०, १८.६७, धर्म०, २१.१०८

५. चन्द्र०, १८.६८, धर्म०, २१.१०९

६. चन्द्र०, १८.१०३, धर्म०, २१.११४

७. चन्द्र०, १८.१०४, धर्म०, २१.११५

८. महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, पृ० २३८-३९

९. चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।

दशलक्षणधर्माच्च समितिभ्यश्च जायते ॥ —चन्द्र०, १८.१०७ तथा

उत्पन्नानामनाबद्धकर्मणामिव संवृतिः ।

क्रियते या स्मरादीनां संवरः स उदाहृतः ॥ —नेमि०, १५.७२

का द्वार रुक जाना 'संवर' कहलाता है।^१ 'संवर' को 'मोक्ष' का मूल माना गया है।^२

६. निर्जरा

कर्मों का फल 'भोग' से क्षय होना 'निर्जरा' कहलाता है। इसके कारण आत्मा दर्पण के समान स्वच्छ हो जाती है।^३ एक दूसरी परिभाषा के अनुसार पहले से बंधे हुए कर्मों का क्षय होना अर्थात् भङ्गना 'निर्जरा' कहलाती है।^४ धर्मशर्माभ्युदय ने इसे कर्मरूप लोहे के पंजर को जर्जर करने वाली कहा है।^५ 'निर्जरा' के दो भेद हैं—'सविपाक-निर्जरा' तथा 'अविपाक-निर्जरा'। स्वाभाविक क्रम से प्रत्येक समय कर्मों का फल देकर क्षीण हो जाना 'सविपाक' तथा तप द्वारा कर्मफलों के उदय से पूर्व ही क्षीण हो जाना 'अविपाक' निर्जरा कहलाती है।^६ इन्हीं दो प्रकार की निर्जराओं को 'अकाम निर्जरा' तथा 'सकाम निर्जरा' भी कहा गया है।^७

७. मोक्ष

अनेक जन्मों से बंधे हुए कर्मों के क्षय को 'मोक्ष' कहते हैं।^८ धर्मशर्माभ्युदय के अनुसार 'बन्ध' के कारणों का अभाव तथा 'निर्जरा' से जो समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है उसे 'मोक्ष' कहते हैं।^९ यह 'मोक्ष' उत्तम परिणाम वाले भव्य जीव का ही होता है।^{१०} 'ज्ञान', 'दर्शन' तथा 'चारित्र्य' इसके एकमात्र

१. आश्रवाणामशेषाणां निरोधः संवरः स्मृतः । —धर्म०, २१.११७

२. आश्रवः संसृतेर्मूलं मोक्षमूलं तु संवरः ॥ —धर्म०, २१.१२०

३. कर्मणां फलभोगेन संक्षयो निर्जरा मता ।

भूत्यादर्श इवात्मायं तथा स्वच्छत्वमुच्छति ॥

—नेमि०, १५.७४

४. चन्द्र०, १८.१०६, धर्म०, २१.१२२

५. जर्जरीकृतकर्मायः पञ्जरानिर्जरा मया । —धर्म०, २१.१२१

६. चन्द्र०, १८.१०६

७. धर्म०, २१.१२२-२३

८. अनेकजन्मबद्धानां सर्वेषामपि कर्मणाम् ।

विप्रमोक्षः स्मृतो मोक्षः आत्मनः केवलस्थितेः ॥

—नेमि०, १५.७६ तथा

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः । —चन्द्र०, १८.१२३

९. अभावाद् बन्धहेतूनां निर्जरायाश्च यो भवेत् ।

निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स मोक्षः कथ्यते जिनैः । —धर्म०, २१.१६०

१०. चन्द्र०, १८.१२३, धर्म०, २१.१६१

उपाय हैं।^१ तत्त्वों का अवगमन होना 'सम्यग्ज्ञान', श्रद्धान् होना 'सम्यग्दर्शन', तथा पापारम्भों से निवृत्ति होना 'सम्यक्चारित्र' कहलाता है।^२ अर्थात् जीवादि सात तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला 'सम्यग्ज्ञान' होता है, जीव आदि तत्त्वों में अभिरुचि उत्पन्न करने वाला 'सम्यग्दर्शन' होता है तथा पापमय व्यापारों का परित्याग करना 'सम्यक्चारित्र' कहलाता है।^३ 'रत्नत्रय' समग्र रूप से 'मोक्ष' प्राप्ति के उपाय होते हैं इनमें से किसी एक में भी यदि कमी आ जाए तो 'मोक्ष' संभव नहीं। कर्मों के बन्ध के कारण राग आदि होते हैं अतएव रागादि की समाप्ति ही कर्मों का क्षय है। 'रत्नत्रय' इसी कर्मक्षय में कारण होता है।^४ बन्धरहित जीव 'मोक्ष' की अवस्था में अग्नि की लपटों के समान तथा एरण्ड के बीज की भांति स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगामी हो जाता है^५, तथा लोक के अग्रभाग में जाकर वह वहीं पर स्थित हो जाता है।^६

२. जैनेतर दार्शनिकवाद

जैन संस्कृत महाकाव्यों में विभिन्न आस्तिक दर्शनों सहित बौद्ध एवं लोकायतिक दर्शनों के सम्बन्ध में चर्चा परिचर्चा प्राप्त होती है।^७ इन्हें विभिन्न वादों की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है^८ इनका विवेचन इस प्रकार है :—

१. ज्ञानदर्शनचारित्र्योपायः प्रकीर्तितः । —चन्द्र०, १८.१२३ तथा ज्ञानदर्शनचारित्र्यैरुपायैः परिणामिनः ।

—धर्म०, २१.१६१, वराह०, २६.११

२. तत्त्वस्थावगतिर्ज्ञानं श्रद्धानं तस्य दर्शनम् ।
पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्र्यं वर्ण्यते जिनैः ॥ —धर्म०, २१.१६२

३. तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं तत्त्वरोचकम् ।
पापारम्भपरित्यागश्चारित्र्यमिति कथ्यते ॥

—चन्द्र०, १८.१२४

४. रागादेवच क्षयात्कर्मप्रक्षयो हेत्वभादतः ।
तस्माद्रत्नत्रयं हेतुविरोधात्कर्मणां क्षये ॥

—चन्द्र०, १८.१२६

५. धर्म०, २१.१६३, चन्द्र०, १८.१३०

६. लोकाग्रं प्राप्य तत्रासी स्थिरतामरलम्बते । —वही, १८.१३१

७. चन्द्र०, २.८६; पद्मा०, ३.१५८-६५, वराह०, २५.८२-८३, २४.४४-४८

८. नैरात्म्यशून्यक्षणाकप्रवादाद् बुद्धस्य रत्नत्रयमेव नास्ति ।

—वराह०, २५.८२

सृष्टि विषयक प्राचीन वाद

१. कालवाद

कालवादियों के अनुसार समस्त जगत् कालकृत है। काल के नियमानुसार ही चम्पा, अशोक, आम, आदि वनस्पतियों में फूल तथा फल आते हैं और ऋतु विभाग से ही शीत-प्रपात, नक्षत्र-संचार, गर्भाधान आदि संभव होते हैं।^१ जटासिंह नन्दि ने कालवादियों का यह कहकर खण्डन किया है कि वनस्पतियों आदि में असमय में भी फल-फूल लगते हैं तथा मनुष्यों आदि की अकाल मृत्यु भी देखी जाती है।^२ वर्षाऋतु के न होने पर भी धारासार वृष्टि होती है। अतएव काल के कारण संसार को सुखी एवं दुःखी मानना अनुचित है।^३ काल को सृष्टि का कारण मानने से कर्त्ता का कर्तृत्व गुण विफल हो जाता है।^४

२. नियतिवाद

नियति से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जो जिस समय जिससे उत्पन्न होता है वह उससे नियति रूप से ही उत्पत्ति-लाभ करता है।^५ जटासिंह नन्दि ने इस वाद का खण्डन करते हुए कहा है कि इस वाद के मान लेने पर कर्मों के अस्तित्व तथा तदनुसार फल प्राप्त होने में व्यवधान उत्पन्न होगा। कृतकर्मों के अभाव से व्यक्ति सुख-दुःखहीन हो जाएगा। सुख से हीन होना किसी भी जीव को अभीष्ट नहीं है।^६

१. षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न टीका, पृ० १५-१६

२. अथजीवगणेष्वकालमृत्युः फलपुष्पाणि वनस्पतिष्वकाले ।

भुजगा दर्शनैर्दशन्यकाले मनुजास्तु प्रसवव्यकालतश्च ॥—बराह्म०, २४.२३

३. अथ वृष्टिरकालतस्तु वृष्टा न हि वृष्टिः परिदृश्यते स्वकाले ।

तत एव हि कालतः प्रजानां सुखदुःखात्मकमित्यभाषणीयम् ॥

—वही, २४.३०

४. यदि कालबलात्प्रजायते चेद्विबलः कर्तृगुणः परीक्ष्यमाणः । —वही, २४.२८

५. नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा । —षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० १८

६. नियतिनियता नरस्य यस्य प्रतिभग्नस्थितिकर्मणामभावः ।

प्रतिकर्मविनाशनात्सुखी स्यात्सुखहीनत्वमनिष्टमाप्तग्राह्यम् ॥

—वही, २४.४१

३. स्वभाववाद

स्वभाववादियों के अनुसार वस्तुओं का स्वतः परिणत होना स्वभाव है। उदाहरणार्थ, मिट्टी से घड़ा ही बनता है, कपड़ा नहीं। सूत से कपड़ा बनता है, घड़ा नहीं। इसी प्रकार यह जगत् भी अपने स्वभाव से स्वयं उत्पन्न होता है।^१ जटासिंह नन्दि ने इस वाद पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि स्वभाव को ही कारण मान लेने पर कर्त्ता के समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का औचित्य समाप्त हो जाएगा। जीव जिन कर्मों को नहीं करेगा, स्वभाववाद के अनुसार उनका फल भी उसे भोगना पड़ेगा।^२ इन्धन से अग्नि का प्रकट होना उसका स्वभाव है परन्तु इन्धन के ढेर-मात्र से अग्नि की उत्पत्ति असंभव है। इसी प्रकार स्वर्णमिश्रित मिट्टी या कच्ची धातु से स्वतः ही सोना उत्पन्न नहीं हो जाता।^३ जटाचार्य के अनुसार 'स्वभाववाद' मनुष्य के पुरुषार्थ को निष्फल सिद्ध कर देता है, जो अनुचित है।

४. यदृच्छावाद

यह वाद भी प्राचीन काल से चला आ रहा वाद है। महाभारत में इसके अनुयायियों को 'अहेतुवादी' कहा गया है। गुणारत्न के अनुसार बिना संकल्प के ही अर्थ-प्राप्ति होना अथवा जिसका विचार ही न किया उसकी अतकित उपस्थिति होना यदृच्छावाद है। यदृच्छावादी पदार्थों की उत्पत्ति में किसी नियत कार्य-कारण-भाव को स्वीकार नहीं करते। यदृच्छा से कोई भी पदार्थ जिस किसी से भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ कमलकन्द से ही कमलकन्द उत्पन्न नहीं होता, गोबर से भी कमलकन्द उत्पन्न होता है। अग्नि की उत्पत्ति अग्नि से ही नहीं, अपितु अरणि-

१. स्वभाववादिनो ह्येवमाहुः—इह वस्तुनः स्वत एव परिणतिः स्वभावः, सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते। तथाहि—मूढः कुम्भो भवति न पटादिः, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादिः। —षड्दशम०, १ पर गुणारत्न टीका, पृ० १६

२. अथ सर्वमिदं स्वभावतश्चेन्ननु वैयर्थ्यमुपैतिकर्मकर्तुः।
अकृतागमदोषदर्शनं च तदवश्यं विदुषां हि चिन्तनीयम् ॥

—वराह०, २४.३८

३. स्वयमेव न भाति दर्पणः सन्न वल्लिः स्वमुपैति काष्ठभारः।

न हि धातुरुपैति काञ्चनत्वं न हि दुग्धं घृतभावमभ्युपैत्यदीनाम् ॥

—वराह०, २४.३६

मन्थन से भी संभव है ।^१ इस वाद को 'स्वभाववाद' अथवा 'नियतिवाद' से प्रायः अभिन्न माना जाता है । वराङ्गचरित में सृष्टिविषयक वाद के रूप में इसका उल्लेख आया है ।^२

५. सांख्यविमत सत्कार्यवाद

सांख्यदर्शनानुसारी सत्कार्यवाद के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि जैसा कारण होता है उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा ।^३ सांख्यदर्शन के इस वाद के सन्दर्भ में जटासिंह नन्दि का आक्षेप है कि अव्यक्त प्रकृति से संसार के समस्त व्यक्त एवं मूर्तिमान् पदार्थ कैसे उत्पन्न हो सकेंगे ?^४ सांख्यों के अनुसार जीव को 'अकर्त्ता' कहा गया है, वह भी अनुचित है । वीरनन्दि कृत चन्द्रप्रभचरित में इसका खण्डन करते हुए कहा गया है कि जीव को अकर्त्ता मान लेने पर उस पर कर्मबन्ध का भी अभाव रहेगा तथा उसके पाप-पुण्य भी नहीं हो सकेंगे । बन्ध के न होने पर मोक्ष भी संभव नहीं ।^५ चन्द्रप्रभकार का कहना है कि कपिल मत में आत्मा को भोक्ता कहकर उसे भुक्ति क्रिया का कर्त्ता तो मान लिया गया है परन्तु उसके कर्त्तृत्व को छिपाने की चेष्टा भी की गई है, जो अनुचित है ।^६ वीरनन्दि के अनुसार प्रधान प्रकृति के बन्ध होने की जिस मान्यता का सांख्य समर्थन करता है, वह भी अयुक्तिसङ्गत है क्योंकि सांख्य दर्शन में प्रकृति अचेतन मानी गई है

१. ते ह्येवमाहुः—न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि—शालूकादपि जायते शालूको गोमयादपि जायते शालूकः । बल्लेरपि जायते बल्लिररणिकाष्ठादपि । —षड्दर्शन०, १ पर गुणरत्न टीका, पृ० २३

२. वराङ्ग०, २६.७२

३. असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् ।
शनतस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —सांख्यकारिका, ६

४. प्रकृतिर्महदादि भाव्यते चेत्कथमव्यक्ततमान्नु मूर्तिमत्स्यात् ।
इह कारणातो नु कार्यमिष्टं किमु दृष्टान्तविरुद्धतां न याति ॥

—वराङ्ग०, २४.४३

५. न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादितोषतः ।

कथं ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशल क्रियाः ॥

—चन्द्र०, २.८१

६. भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तात्मेति स्वयं वदन् ।

तदेषापह्नवानः सन्निकं न जिह्तेति कापिलः ॥

—बही, २.८२

फलतः अचेतन का न तो बन्ध संभव है और न ही मोक्ष ।^१ इस प्रकार वराह-चरित और चन्द्रप्रभचरित में सांख्याभिमत तत्त्व व्यवस्था को अयुक्तिसङ्गत सिद्ध किया गया है ।

६. मीमांसाभिमत सर्वज्ञवाद

चन्द्रप्रभचरित के अनुसार मीमांसादर्शन में जीवाजीव आदि छह पदार्थ ही स्वीकार किए गए हैं । 'स्वर्ग' के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने के कारण मीमांसक 'मोक्ष' को पदार्थ स्वीकार नहीं करते हैं ।^२ जयन्तविजय में 'सर्वज्ञवाद' नामक दार्शनिक सिद्धान्त की चर्चा आई है ।^३ इसी प्रसङ्ग में मीमांसकों के पक्ष को भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान तथा अर्थापत्ति इन पाँचों प्रमाणों द्वारा अग्राह्य होने के कारण 'सर्वज्ञ' की सिद्धि असम्भव है ।^४ सर्वज्ञसिद्धि के खण्डन में जो तर्क दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. चक्षु-इन्द्रिय से जैसे रमणियों का रूप दर्शन, श्रवणेंद्रिय से जैसे गायन-वादन, रसनेन्द्रिय से जैसे अघरामृत-स्वाद, घ्राणेन्द्रिय से जैसे चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ, स्पर्शेन्द्रिय से जैसे रमणी के अङ्गों का आह्लाद आदि ग्राह्य होता है वैसे पंचेन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा 'सर्वज्ञ' का ग्रहण नहीं किया जा सकता ।^५ २. साध्य धर्मों से युक्त लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का ज्ञान होता है किन्तु 'सर्वज्ञ' के सद्भाव का अविनाभावी न तो स्वभाव-लिङ्ग ही दृष्टिगोचर होता और न कार्य-लिङ्ग ही । 'सर्वज्ञ' का स्वभाव-लिङ्ग तथा कार्य-लिङ्ग ही अनिश्चित है अतएव अनुमान प्रमाण से भी वह अग्राह्य है ।^६ ३. गौ सदश गवय की उपलब्धि होने से ही उपमान द्वारा

१. अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः ।

तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ —चन्द्र०, २.८३

२. जीवाजीवादिषड्वर्ग प्रतिपद्यापरे पुनः ।

मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते मीमांसापक्षपातिनः ॥ —वही, २.९०

३. जयन्त १५.१५-६२

४. सर्वज्ञो नास्ति यद्ग्राह्यः प्रमाणैः पञ्चभिर्न सः ।

यदेवं तद्भवेदेवं यथा व्योमसरोरुहम् ॥

—वही, १५.१७

प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञं न बाधते । —चन्द्र०, २.१०७

५. जयन्त०, १५.१८-२३

६. लिङ्गेन लिङ्ग्यते लिङ्गी साध्यधर्मविभूषितः ।

अविनाभावसम्बन्धं सम्बन्धेन च नात्र तत् ॥

—वही, १५.२४

गी की सिद्धि हो पाती है किन्तु 'सर्वज्ञ' सहज' अन्य पुरुष के अभाव के कारण उपमान प्रमाण भी प्रवृत्त नहीं हो पाता ।^१ ४. अन्योन्याश्रय दोष से युक्त होने के कारण आगम प्रमाण द्वारा भी 'सर्वज्ञ' असिद्ध ही रह जाता है ।^२ ५. विनाभाव सम्बन्ध का प्रतिपादन होने के कारण 'अर्थापत्ति' द्वारा भी 'सर्वज्ञ' की सिद्धि नहीं हो सकती ।^३

बौद्धाभिमत विविध वाद

७. शून्यवाद

बौद्ध दार्शनिकों के एक सम्प्रदाय के अनुसार यह जगत् शून्य-स्वरूप है । अविद्या के कारण इसी शून्य से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है । इस वाद पर अक्षेप करते हुए जटासिंह नन्दि का कहना है कि चल-अचल पदार्थों को शून्य की संज्ञा देने से न केवल पदार्थों का ही अभाव होगा, अपितु ज्ञान भी शून्य अर्थात् अभावस्वरूप हो जाएगा, जिसका अभिप्राय है संसार के समस्त जीवों को ज्ञानशून्य मानना ऐसी स्थिति में शून्यवादी तत्त्वज्ञान को ग्रहण करने के प्रति भी असमर्थ रह जाएगा ।^४ इस सम्बन्ध में जटाचार्य का अभिमत है कि पदार्थों के किसी एक विशेष रूप में न रहने से उस पदार्थ को सर्वथा शून्य मानना अनुचित है, क्योंकि पदार्थ किसी एक रूप में नष्ट हो जाने के बाद भी सत्तावान् रहते ही हैं ।^५

८. क्षणिकवाद

बौद्धों के एक दूसरे सम्प्रदाय द्वारा सभी भावों एवं पदार्थों को क्षणिक मानने की मान्यता का खण्डन करते हुए जटासिंह नन्दि कहते हैं कि शुभ तथा

१. सर्ववित्तोपमानेन प्रमाणैर्नेष गृह्यते ।

प्रवर्तते हि सादृश्यात्तद्गोचरवययोरिव ॥ —जयन्त, १५.२५

२. परेषां नागमेनापि सर्ववित्साध्यते बुधैः ।

अन्योन्याश्रयदोषो हि निर्विवादोऽत्र वादिनाम् ॥

—वही, १५.२६

३. नार्थापत्तिप्रमाणं च सर्वज्ञास्तत्त्वसिद्धये ।

तत्र साध्याविनाभावभावो यत्रास्ति कश्चन ॥ —वही, १५.२७

४. यदि शून्यमिदं जगत्समस्तं ननु विज्ञप्तिरभावतामुपैति ।

तदभावमुपागतोऽनभिज्ञो विमत्तिः केन स वेति शून्यपक्षम् ॥

—वराह्मण, २४.४४

५. अथ सर्वपदार्थसंप्रयोगः सुपरीक्ष्य सदसत्प्रमाणभावान् ।

न च संभवति ह्यसत्सुशून्यं परिदृष्टं विगमे सतो महद्भिः ॥

—वही, २४.४५

अधुन कर्मों का भेद तब समाप्त हो जाएगा। संसार के प्राणी जो अनेक गुरुओं को धारण करने की चेष्टा करेंगे वे निराश ही रह जाएंगे क्योंकि तब गुरुणी भिन्न क्षणों में उदित होंगे।^१ पद्मानन्द महाकाव्य में भी 'क्षणिकवाद' की आलोचना करते हुए कहा गया है कि समस्त संसार के ज्ञानादि भी बौद्धमतानुसार क्षणिक मान लिए जाने पर स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि भाव, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध तथा पाप-पुण्य आदि व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी।^२ चित्त-सन्तान ज्ञान की धारा को आत्मा सिद्ध करने की बौद्ध मान्यता भी इससे खण्डित हो जाती है।^३

६. नैरात्म्यवाद

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकारा है। जटासिंह नन्दि के अनुसार तब भगवान् बुद्ध की कश्या का क्या होगा? क्योंकि आत्मा तथा चेतना के बिना कश्या कहाँ उत्पन्न होगी? इस प्रकार आत्मा का निराकरण करना स्वयं भगवान् बुद्ध के कश्याशील होने के प्रति ही सन्देह उत्पन्न करता है।^४

१०. पौराणिक देववाद

वेद मूलक ब्राह्मण संस्कृति में पुरुष, ईश्वर आदि द्वारा सृष्टि सृजन की मान्यता आलोच्य काल में पौराणिक दार्शनिक वाद के रूप में फलित हुई थी। अनेक देव-शक्तियों के साथ सृष्टि रचना का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा था। परिणामतः हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि आराध्य देवों में से किसी एक को महत्त्व देने की अपेक्षा से विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गए थे। आठवीं

१. क्षणिका यदि यस्य सर्वभावा फलस्तस्य भवेदयं प्रयासः ।

गुणिनां हि गुणेन च प्रयोगो न च शब्दार्थमवैति दुर्मतिः ॥

—वराह०, २४.४६

२. पद्मा०, ३.१६०-६५ तथा० तु० —

मन्त्रिन् ! विमुञ्च क्षणिकत्वादितानि निरन्वयं वस्तु यदीह दृश्यते ।

—वही, ३.१६०

३. चन्द्र०, २.८४-८५

४. नैरात्म्यशून्यक्षणिकप्रवादाद् बुद्धस्य रत्नत्रयमेव नास्ति ।

रत्नत्रयाभावतया च भूयः सर्वं तु न स्यात्कृत आप्तभावः ॥

मूषैव यत्नात्कश्याभिमानी न तस्य दृष्टा खलु सत्त्वसंज्ञा ।

—वराह०, २५.८२-८३

शताब्दी ई० में ब्राह्मणचरितकार ने इन सभी देवसम्बन्धी वादों का खण्डन किया है।^१ जटासिंह ने वैदिक देवताओं तथा यज्ञानुष्ठानों के औचित्य को भी नकारा है।^२ इनके खण्डन का मुख्य तर्क यह रहा है कि कर्म-सिद्धान्त की मान्यता को उपर्युक्त वाद असिद्ध ठहरा देते हैं। एक दुष्ट व्यक्ति तथा एक विद्वान् व्यक्ति जब एक ही देवता की आराधना से उसके कृपा का लाभ उठाता है तो निश्चित रूप से उस देवता का महत्त्व भी कम होता है।^३ अनेक दृष्टान्तों द्वारा जटासिंह ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी देवता सामान्य मनुष्य की भाँति अनेक प्रकार की श्रुतियों को लिए हुए हैं। इसी प्रकार ज्योतिषीय ग्रहों एवं नक्षत्रों के मानव-जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को भी जटासिंह उपेक्षा-भाव से देखते हैं।^४ उनके अनुसार बड़े से बड़े ग्रह तथा नक्षत्र जब स्वयं ही अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो भला दूसरों का वे कितना उपकार कर सकेंगे ?^५

११. चार्वाकाभिमत भूतवाद्

चार्वाक अनुयायी 'भूतवादी' कहलाते हैं। इनके अनुसार जीव अथवा आत्मा नामक कोई सत्ता नहीं है जो परलोक जा सके। शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसी वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाणा द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। गुड़, अन्न, जल आदि के संयोग से जैसे कोई उन्मादिका शक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है वैसे ही भूत-चतुष्टय—पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के संयोग से देह-निर्माण-शक्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।^६ भूतवादी के अनुसार इस संसार

१. ब्राह्म०, २४.२२-३५

२. वही, २४ २४-२६

३. पल्लोदनलाजपिष्ठपिण्डं परदत्तं प्रतिमुज्यते च येन ।

स परानगतिं कथं विभर्ति अननुष्णां त्यज देवतस्तु तस्मात् ॥

—वही, २४ २७

४. रविचन्द्रमसोः ग्रहपीडां परपोषत्वमथेन्द्रमन्त्रिणश्च ।

विदुषां च दरिद्रतां समीक्ष्य मतिमान्कोऽभिलषेद् ग्रहप्रवादम् ॥

—वही, २३ ३६

५. वही, २४ ३२-३३

६. संयोगवद्भ्यो गुडपिष्टघातकीतोयादिकेभ्यो मदशक्तिवद् ध्रुवम् ।

—पद्मा० ३.१२३

के भोगों को छोड़कर जो पारलौकिक सुखों की ओर आकृष्ट होता है, वह हस्तगत फल को छोड़कर स्वप्नदृष्ट फल की स्पृहा कर रहा होता है।^१ पाप-कर्मों तथा पुण्य-कर्मों का भी औचित्य नहीं।^२ भूतवादी पृच्छता है कि जिस पत्थर की लोग कपूर-धूप आदि से पूजा करते हैं तो क्या उस पत्थर ने पहले कोई पुण्य किया था ?^३ वैसे ही एक दूसरे पत्थर पर लोम मूत्रादि करते हैं, तो क्या उसने पहले कोई पाप किया था ?^४ अपनी इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा से भूतवादी सांसारिक भोग-विलासों को ही मानव-जीवन का लक्ष्य बताता है।^५

आत्मा का निषेध करने वाले भूतवादियों की धारणाओं पर आक्षेप करते हुए कहा गया है कि ज्ञानलक्षण युक्त जीव शुभाशुभ कर्मों के कारण सुख एवं दुःख को भोगने के लिए संसार में जन्म लेता है।^६ जीव के पुनर्जन्म नहीं होने की मान्यता का खण्डन करते हुए कहा गया है कि नवजात शिशु पूर्वजन्म के संस्कारों से ही माता के स्तन-पान की ओर प्रवृत्त होता है।^७ भूत-चतुष्टय से जीवशक्ति की उत्पत्ति होने की मान्यता को असङ्गन ठहराते हुए अमरचन्द्र सूरि का कहना है कि खाना पकाते समय बर्तन में अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी—इन चारों तत्त्वों का संयोग तो रहता ही है, फिर क्या इस बर्तन में कभी जीव की उत्पत्ति हुई ?^८

१. विहाय भोगानिहलोकसंगतान्, क्रियेत यत्नः परलोककांक्षया ।
प्रत्यक्षपाणिस्थफलोद्भूतादियं स्वप्नानुसंभाव्यफलस्पृहा हहा ॥
—पद्मा०, ३.१२१
२. धर्मोऽप्यधर्मोऽपि न सौख्यदुःखयोर्हेतुं विना जीवमिमो खपुष्पवत् ॥
—वही, ३.१२४
३. कपूरकुण्डागुरुधूपधूपनैः सम्पूज्यते पुण्यमकारि तेन किम् । —वही, ३.१२५
४. ग्राह्याः परस्योपरि मानववर्ज्यस्य क्रमो मूत्रपुरीशमूत्रणा ।
यद् रच्यते चूर्णकृते च खण्डघते सन्दह्यते पापमकारि तेन किम् ॥
—वही, ३.१२६
५. ताभिः सुखं खेलतु निर्भयं विमुर्मरालरोमावलितूलिकांगकः ॥
—वही, ३.१२९
- भोज्यानि भोज्यान्यमृतोपमानि च पेयानि पेयानि यथारुचि प्रभो !
—वही, ३.१३०
६. वही, ३.१३७-३९
७. तज्जातमात्रः कथमर्भको भृशं स्तने जनन्या वदनं निवेशयेत् ?
—वही, ३.१४४
८. वही, ३.१४६-५१

संसार में रूप-वैचित्र्य तथा गुण-वैचित्र्य तथा सुखों और दुःखों की व्यवितपरक विभिन्नता यह सिद्ध करती है कि पूर्व-संचित शुभाशुभ कर्मों का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता ही है ।^१

अन्य लोकायतिक वाद

१२. मायावाद

पद्मानन्द महाकाव्य में निर्दिष्ट प्रस्तुत मायावाद शंकराचार्य के मायावाद से सर्वथा भिन्न है । मायावादी की यह मुख्य स्थापना है कि संसार में कुछ भी तात्त्विक नहीं है । इक्ष्मान् सम्पूर्ण जगत् माया से आच्छादित है तथा स्वप्न एवं इन्द्रजाल की भाँति अयथार्थ है ।^२ संसार के सभी सम्बन्ध और पाप-पुण्य की व्यवस्था भी मिथ्या ही है ।^३ मायावादी इस लोक में उपलब्ध सुखों से ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश देते हैं तथा तपश्चर्या आदि द्वारा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति को भ्रम मानते हैं ।^४ दृष्टान्त द्वारा अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए मायावादी का कहना है कि एक शृगाल भुख में मांस के टुकड़े को दबाते हुए नदी-जल में दिखाई देती हुई मछली को पाने के लिए झपटा तथा मांस के टुकड़े को नदी-तट पर ही छोड़ आया, परन्तु मछली जल के अन्दर घुस गई और मांस का टुकड़ा भी गिद्ध झपटा मारकर ले गया ।^५

मायावादी के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा गया है कि संसार में वस्तु-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है क्योंकि असत् वस्तु से कार्य-सम्पादन वैसे ही असम्भव है जैसे कि स्वप्नदृष्ट वस्तु से प्रयोजन-सिद्धि ।^६ जैन दृष्टि के अनुसार

१. पद्मा०, ३.१५३-५५

२. महामतिः प्राहु न तत्त्वतः किमप्यस्त्यत्र मायेयमहो विजृम्भते ।

विलोक्यमानं निखिलं चराचरं स्वप्नेन्द्रजालादिनिभं विभाव्यते ॥

—वही, ३.१६६

३. शिष्यो गुरुः पुण्यमपुण्यमात्मजः पिता कलत्रं रमणः परो निजः ।

इत्यादिकं यद्व्यवहार इत्यसौ किञ्चित् पुनश्चञ्चति नैवं तात्त्विकम् ॥

—वही, ३.१६७

४. वही, ३.१६९

५. मांसं तटान्ते जम्बुको मीनोपलम्भाय लघुप्रधावितः ।

मीनो जलान्तः प्रविवेश सत्वरं मांसं च गृध्रो हरति स्म तद् यथा ॥

—वही०, ३.१६८

६. वही, ३.१७१

मायावाद के अनुसार इहलौकिक सुखों को पुरुषार्थ मानना और पारमाथिक सुखों को हेय बताना उन्मत्तावस्था का द्योतक है।^१

१३. तत्त्वोपप्लववाद

वीरनन्दीकृत चन्द्रप्रभचरित में इस वाद का 'नास्तिकागममाश्रित' के रूप में उल्लेख आया है।^२ तत्त्वोपप्लववादी चार्वाकों से भी एक कदम आगे थे। चार्वाक कम से कम चार भूतों तथा 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को तो मानते थे, परन्तु तत्त्वोपप्लववादी इन सब पदार्थों को भी अस्वीकार कर देते हैं। जयराशि के 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में इस वाद की विशेष चर्चा आई है। तत्त्वोपप्लववादी जीव और अजीव की तात्त्विक स्थिति का ही अपलाप करते हैं, फलतः जीव के धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदि भी स्वयं ही बाधित हो जाते हैं।^३ चन्द्रप्रभचरित में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बन्ध-मोक्ष आदि धर्म-धर्मी पर ही अवलम्बित हो सकते हैं, परन्तु जब जीव ही असिद्ध है तो उसके धर्मों की चर्चा करना व्यर्थ है।^४ तत्त्वोपप्लववादी की मान्यता है कि जीव-अजीव आदि तत्त्व पुरातन मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप अपना औचित्य खो चुके हैं, ठीक वैसे ही जैसे पुराने वस्त्र की तह को खोलते समय वह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ही छिन्न-भिन्न हो जाता है और पहनने के काम नहीं आता। वैसे ही जीव-अजीव आदि तत्त्ववादियों की मान्यताएं भी विचारने पर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।^५

तत्त्वोपप्लववादियों की उपर्युक्त मान्यताओं का जैन दार्शनिकों ने खण्डन करते हुए कहा है कि संसार के सभी प्राणियों को प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सुख-दुःख का

१. पद्मा०, ३.१७२

२. केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रितः ।

—चन्द्र०, २.४४

३. अजीवश्च कथं जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत् ।

—वही, २.४५

४. कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः ।

सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये ॥

—वही, २.४६

५. तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।

प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥

—वही, २.४७

स्वसंवेदन यह सिद्ध करता है कि जीव की सत्ता होती है।^१ ज्ञान स्वसंवेदी नहीं, बल्कि इसको जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रमाण-सम्बन्धी-अनवस्था-दोष की संभावनाओं का निराकरण करते हुए कहा गया है कि ज्ञान वेद्य एवं वेदक दोनों है।^२

इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों के लेखकों ने भारतीय दर्शन की अनेक विवादपूर्ण मान्यताओं की युगानुसारी तर्क-शैली में पुनर्विवेचना की है और नए-नए तर्क जुटाए हैं। महाकाव्यकार जैन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि वे जैनदर्शन की युगीन प्रवृत्तियों के अनुरूप विभिन्न जैनतरवादों की स्याद्वादी पृष्ठभूमि में आलोचना कर सकें। उन्होंने अनेक दर्शनों की मान्यताओं का यद्यपि खण्डन किया है, तथापि सिद्धान्तः वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्तवादों को विभिन्न नयों अथवा दृष्टियों के रूप में अनेकान्तवादी तर्क-पद्धति में स्थान दिया जा सकता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन संस्कृत महाकाव्यों का मुख्य उद्देश्य यद्यपि जैन धर्म और दर्शन का प्रचार व प्रसार करना रहा था तथापि ये महाकाव्य ब्राह्मण धर्म और संस्कृति की युगीन गतिविधियों के प्रतिपादन में भी पूरी तरह से विमुख नहीं हैं। ब्राह्मण संस्कृति की धार्मिक प्रवृत्तियों, देवशास्त्रीय मान्यताओं पूजापूरक कर्मकाण्डों के चित्रण में भी जैन कवियों ने पर्याप्त रुचि ली है। अधिकांश जैन कवि जैन धर्म के आचार्य थे उसके बाद भी ब्राह्मण धर्म के प्रति उनकी धार्मिक सहिष्णुता और आदरभाव यह बताता है कि पहले की अपेक्षा जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के बहुत निकट आता जा रहा था। जैन कवियों ने ब्राह्मण धर्म के अनुयायी व्यक्तित्वों को आधार बनाकर काव्यों का प्रणयन भी किया। वैसे ही ब्राह्मण धर्मानुयायी लेखकों ने भी जैन महापुरुषों को लक्ष्य कर ऐतिहासिक काव्य लिखे। जैन महाकवि नयचन्द्र-सूरि द्वारा रचित हम्मीर महाकाव्य तथा महाकवि सोमेश्वर द्वारा रचित कीर्ति कौमुदी महाकाव्य इसके क्रमशः उदाहरण दिए जा सकते हैं। आलोच्य काल की यह भी एक उल्लेखनीय ऐतिहासिक घटना है कि कलिकाल सर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र की धर्मप्रभावनाओं से प्रभावित होकर राजा कुमारपाल ने जैन धर्म को अङ्गीकार किया। उसके द्वारा सम्पूर्ण राज्य में जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को लागू

१. प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।

सुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते ॥

—चन्द्र०, २.५५

२. न चास्वेविदितं ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत् ।

—वही, २.५६

करवाने का राजकीय आदेश देना भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वस्तुपाल तथा कुमारपाल की धार्मिक तीर्थ यात्राओं के अवसर पर जिन अनेक धार्मिक मन्दिरों एवं तीर्थस्थानों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार होने की सूचना मिलती है उनमें भी हिन्दू एवं जैन दोनों धर्मों के मन्दिर सम्मिलित थे। जैन धर्मानुयायी वस्तुपाल द्वारा एकल्लवीरा देवी की पूजा करने और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा सोमनाथ की स्तुति में स्तोत्र लिखने की घटनाएं यह द्योतित करती हैं कि तत्कालीन युग प्रवृत्ति दोनों धर्मों की धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ाने की ओर विशेष प्रयत्नशील रही थी। जैन धर्म की पूजा-पद्धति हिन्दू-पूजा पद्धति के अनुरूप होने लगी थी।

जैन महाकाव्यों में मध्यकालीन जैन धर्मव्यवस्था का विशद चित्रण हुआ है। गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म दोनों की समसामयिक स्थिति के समन्वय में जैन महाकाव्यों का विशेष योगदान रहा है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से सातवीं शताब्दी जैन धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों के पुनर्निर्धारण की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है तथा इसी कालावधि से ही आलोच्य जैन संस्कृत महाकाव्यों का निर्माण होना भी इन बदले हुए युग मूल्यों का परिणाम समझना चाहिए। बौद्ध काल से लेकर गुप्त साम्राज्य के काल तक ऐसा लगता है कि जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में समाज में अपना स्वतन्त्र स्थान बनाना चाहता था। प्राकृत भाषा के प्रति कट्टरता, वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध तथा वेदों के प्रामाण्य के प्रति शङ्का तथा उनका खण्डन आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे जैन धर्म तथा ब्राह्मण धर्म में पर्याप्त वैमनस्य भी उत्पन्न हो गया था किन्तु आलोच्य-काल में रविषेण, जिनसेन, तथा सोमदेव आदि कुछ ऐसे समन्वयवादी उदार जैनाचार्य हुए जिन्होंने जैन धर्म को एक ऐसे धर्म के रूप में प्रस्तुत किया जिससे उनके अपने धर्म का ध्रुव एवं पारमार्थिक रूप भी नष्ट न हो सका तथा ब्राह्मण व्यवस्था के अनेक लोकप्रिय मूल्यों को भी स्वीकार कर लेने में उन्हें कोई हानि नजर नहीं आई। वास्तव में जैनाचार्यों द्वारा किए गए इस प्रकार के समाजशास्त्रीय समझौते आगे चलकर दोनों धर्मों की प्रगति में विशेष सहायक सिद्ध हुए। प्रारम्भिक चरणों में जटासिंह जैसे कट्टर ब्राह्मण विरोधी जैनाचार्यों ने इस वैचारिक समझौते के विरुद्ध आवाज भी उठाई तथा विशुद्ध सैद्धान्तिक धरातल पर ब्राह्मण व्यवस्था की मान्यताओं का खण्डन किया परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाया। जिनसेनाचार्य, सोमदेवाचार्य जैसे जैन धर्म के युगचिन्तकों के समक्ष जटासिंह नन्दि का कट्टरपन्थी रवैया प्रभावहीन होता गया। इस प्रकार बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक जैन धर्माचार्यों ने वर्णव्यवस्था को, वेदों तथा धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता को, ब्राह्मण-पौराणिक मान्यताओं को तथा हिन्दू पूजा पद्धति को मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लिया था।

सातवीं शताब्दी में तथा उसके बाद जैनाचार्यों द्वारा निरन्तर रूप से संस्कृत भाषा को साहित्य साधना के माध्यम रूप में विशेष प्रोत्साहित किया जबकि इससे पूर्व 'तत्त्वार्थसूत्र' को छोड़कर सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का माध्यम प्राकृत भाषा ही रही थी। भाषा विषयक इस रूढ़िवादिता को तोड़ना इसलिए भी आवश्यक था कि संस्कृत भाषा राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक आदान-प्रदान की सम्पर्क भाषा बनी हुई थी। जैनाचार्यों ने इसी पृष्ठभूमि में जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने हेतु प्राकृत का मोह छोड़कर संस्कृत भाषा में भी साहित्य सर्जना करने के विशेष औचित्य को देखा।

महाकाव्यों के साक्ष्य जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। अनेक जैन देवशास्त्रीय मान्यताएं यद्यपि परम्परागत थीं तथापि आलोच्य काल में उनका प्रस्तुतीकरण नवीन अपेक्षाओं से किया जाने लगा था। प्राचीन काल से ही जैन धर्म धार्मिक क्षेत्र में की जाने वाली हिंसा का विरोध करता आ रहा था। आलोच्य काल में बलिप्रथा समाज में बहुत जोरों से प्रचलित होती जा रही थी। परिणामतः धर्म के नाम पर समाज में अन्धविश्वास तथा क्रूरता का वातावरण व्याप्त था। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में तो बलिप्रथा पशुओं का बध करने की भर्थादा को तोड़ कर नरबलि तक पहुँच चुकी थी। ऐसी धार्मिक भयावह स्थिति में जैन अहिंसा का सिद्धान्त ही निर्दोष मारे जाने वाले लोगों को बचा सकने में समर्थ था। जैनाचार्यों ने बलिप्रथा के साथ सिद्धान्ततः यद्यपि थोड़ा बहुत समझौता भी किया किन्तु उन्होंने बलिपूजा के अवसर पर प्राणियों की हिंसा करने का सदैव घोर विरोध किया। गुजरात के इतिहास में राजा कुमारपाल के समय में तो एक ऐसा समय भी आया जब जैन अहिंसा के सिद्धान्त को राजकीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हुई जिसके परिणाम स्वरूप राज्यों में सभी कसाइयों की दुकानों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा अनुदान के रूप में उनकी आजीविका का व्यय राज्य की ओर से दिया जाने लगा था।

जैन महाकाव्यों के साक्ष्य जैन दर्शन की मध्यकालीन प्रवृत्तियों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। 'अनेकान्त व्यवस्था' युग से प्रेरित होकर जैन दर्शन एक ओर अपनी तत्त्वमीमांसा का स्वतन्त्र रूप से विकास करने में प्रवृत्त था तो दूसरी ओर महाकाव्यों के लेखकों ने जैन दार्शनिक मान्यताओं का विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों के सन्दर्भ में विशेष औचित्य सिद्ध करने की ओर भी रुचि ली है। सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि वैदिक दर्शनों की तत्त्वमीमांसा का जैन महाकाव्यों ने जोरदार खण्डन किया है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन तर्कशास्त्र विशेष प्रगति पर

था । महाकाव्य युगीन जैन दर्शन खण्डन-मण्डन की विशेष प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित है । मध्यकालीन दार्शनिक जगत् में सामन्तवादी भोग विलास को सैद्धान्तिक मूल्य प्रदान करने की ओर भी बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा विशेष प्रयत्न किया जा रहा था । चार्वाक दर्शन की मूल प्रेरणाओं से प्रभावित मायावाद, तत्त्वोपप्लववाद, भूतवाद आदि अनेक दार्शनिक मान्यताएं भौतिक मूल्यों की अपेक्षा से ही समाज पर हावी होती जा रही थीं । इन भौतिक दर्शनों ने इतने तीक्ष्ण एवं प्रभावशाली तर्क विकसित कर लिए थे जिनके द्वारा आध्यात्मिक मूल्यों पर टिके दार्शनिक सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा को छिन्न-भिन्न करना सहज हो चुका था । जैन महाकाव्यों के साक्ष्य इन लोकायतिक दार्शनिक वादों के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं ।

सप्तम अध्याय

शिक्षा, कला एवं ज्ञान-विज्ञान

(क) शिक्षा

मध्यकालीन भारत में शैक्षिक वातावरण

सातवीं शती ईस्वी तथा उसके उपरान्त परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप भारतीय शिक्षा संस्था जनसामान्य की अपेक्षा से ह्रासोन्मुखी दिशा की ओर अग्रसर होने लगी थी। ऐतिहासिक आंकड़े बताते हैं कि आठवीं शती में केवल चालीस प्रतिशत द्विज ही साक्षर थे उस पर भी शूद्रों एवं महिलाओं की साक्षरता की दृष्टि से दयनीय स्थिति बनी हुई थी।^१ सर्वविदित ही है कि किसी भी देश के शैक्षिक-वातावरण की प्रगति एवं ह्रास का एक मुख्य कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ भी होती हैं। दुर्भाग्यवश मध्यकालीन सामन्त राजा युद्धों में ही व्यस्त रहे, इस कारण से सार्वजनिक शिक्षा का आशानुकूल प्रचार व प्रसार नहीं हो पाया। दूसरी ओर राज-प्रासादों तथा धनिक वर्ग के राजकुमारों के लिए शिक्षा का उत्कृष्ट वातावरण बना हुआ था। यदि राजकुमार शिक्षित न हो तो राज्य के घुण लगी लकड़ी के समान खोलला हो जाने की संभावना की जाती थी।^२ सामान्यतया 'शिक्षा' का महत्त्व मनुष्यों के लिए ही नहीं पशुओं के सन्दर्भ में भी स्वीकार किया जाने लगा था।^३

मध्यकालीन शिक्षा वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सम्प्रदायगत धार्मिक चेतना से प्रभावित थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ग ब्राह्मण संस्कृति की शिक्षा व्यवस्था से यद्यपि पूर्णतया जड़े हुए थे, किन्तु इन तीनों वर्गों की शिक्षा चेतना में भी अन्तर था। ब्राह्मणवर्ग १४ प्रकार की विद्याओं का पारम्परिक पद्धति से अध्ययन

१. ए० एस० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, १९६८, पृ० १३६-३७

२. भज्यते राज्यं ह्यविनीतपुत्रं घुणाहतं काष्ठमिव क्षणेन।

—द्विस०, ३.४

३. पशवोऽपि हि शिक्ष्यन्ते नियुक्तैः किं पुनः पुमान्।

—परि० तथा तु०—आदि०, १६.६८

करते थे। व्यावहारिक दृष्टि से क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए इन चौदह प्रकार की विद्याओं की अधिक उपादेयता नहीं रही थी फलतः ये लोग क्रमशः युद्ध विद्या तथा व्यापार सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण करते थे।^१ ब्राह्मण वर्ग प्राचीनकाल से चली आ रही शिक्षा पद्धति से पूर्णतया सन्तुष्ट था।^२ शिक्षा केन्द्रों में राजकीय संरक्षण के कारण भी ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व रहा था।^३ ब्राह्मणों के शिक्षा-केन्द्र एक प्रकार से धार्मिक सम्मेलन के केन्द्र बन गए थे।^४

शिक्षा की तीन धाराएं

सम्पूर्ण भारत में शिक्षा का प्रसार तीन धाराओं में हुआ है। इनमें से ब्राह्मण संस्कृति की धारा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अधिकांश भारत के भू-भाग में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के रूप में प्रचलित थी। शेष दो शैक्षिक धाराओं का सम्बन्ध बौद्ध संस्कृति तथा जैन संस्कृति के अपने अपने सम्प्रदायों से था। ह्वेनत्साङ्ग के उल्लेखानुसार बौद्ध धर्मानुयायी बालकों की शिक्षण विधि ब्राह्मण एवं जैन संस्कृति की शिक्षण विधि से भिन्न थी। बौद्ध लोग ६ वर्ष की अवस्था में 'सिद्धम्' नामक पुस्तक द्वारा शिक्षा प्रारम्भ करवाते थे तदनन्तर उन्हें (१) व्याकरण (२) शिल्प स्थान (३) चिकित्सा (४) तर्क तथा (५) अध्यात्मविद्या में निपुण होना पड़ता था।^५ बौद्धों की अध्यात्मविद्या के अन्तर्गत बौद्ध दर्शनशास्त्र तथा त्रिपिटकादि ग्रन्थों की शिक्षा सम्मिलित थी।^६ बौद्ध शिक्षा पद्धति सत्यान्वेषण, तथ्यस्थापना, तर्क, समीक्षात्मक पर्यवेक्षण, चिन्तन तथा मनन पर विशेष बल देती थी।^७

जैन संस्कृति से सम्बद्ध शैक्षिक धारा के प्रमाण जैन पुराणों आदि में प्राप्त होते हैं।^८ जैन परम्परा के अनुसार बालक को सर्वप्रथम लिपिज्ञान से परिचित कराया जाता था तदनन्तर उसे 'दिव्यसिंहासनभागी भव', 'विजयसिंहासनभागी भव' 'परमसिंहासनभागी भव' आदि तीन मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था। संस्कार

१. Sharma, Dashratha, Rajasthan Through the Ages, p. 513-14

२. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० ११५-१६

३. Thapar, Romila, A History of India, Vol, I, p. 252

४. वही, पृ० २५३-५४

५. Mookerji, Radha Kumud, Ancient Indian Education, Delhi, 1947, p. 328

६. वही, पृ० ५२८-३०

७. जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी, १९७४ पृ० ५१७

८. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६०-६१

सम्बन्धी कतिपय पृथक् कर्मकाण्डों को छोड़कर ब्राह्मण संस्कृति एवं जैन संस्कृति की शैक्षिक धाराओं में कोई विशेष अन्तर नहीं था।^१ जैन शिक्षा परम्परा में भी वैदिक परम्परा की भांति वैदिक विषयों का अध्ययन आवश्यक था किन्तु जैन दर्शन एवं धर्म के ग्रन्थों के पठन-पाठन पर अधिक बल दिया जाता था।^२ ब्राह्मण संस्कृति की शिक्षा पद्धति के अनुसार वेद-वेदाङ्गादि चौदह विद्याओं में पारंगत होना पड़ता था। इस परम्परा में बालक के समय-समय पर उपनयनादि विभिन्न संस्कार होते थे तथा समावर्तन संस्कार से शिक्षा समाप्ति मानी जाती थी।^३

बौद्ध शिक्षा के मुख्य केन्द्र 'विहार' थे,^४ तो जैन परम्परा की शिक्षा मठों आदि में प्राप्त की जाती थी।^५ ब्राह्मण संस्कृति की शिक्षा के प्रचार करने वाले केन्द्रों में 'अग्रहार' नामक ग्राम होते थे।^६ ये ग्राम प्रायः राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान में दे दिए जाते थे। यहाँ ब्राह्मण निवास करते थे तथा छात्रों को पढ़ाते भी थे।^७

विद्यारम्भ की आयु सीमा

द्विसन्धान के अनुसार १६ वर्ष की आयु तक राजकुमारों द्वारा वर्णमाला ज्ञान तथा अक्षरगणित की शिक्षा सहित विद्याएं प्राप्त कर लेने के उल्लेख प्राप्त होते हैं तथा इस आयु तक उनके चूड़ाकरण संस्कार एवं यज्ञोपवीत संस्कार भी सम्पन्न हो जाते थे।^८ अन्य महाकाव्यों में राजकुमारों की विद्यारम्भ की आयु का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु विवाहावस्था से पूर्व प्रायः सभी राजकुमार विद्यार्जन तथा शास्त्राभ्यास आदि समाप्त कर लेते थे।^९ पार्श्वनाथचरित के अनुसार चूड़ाकरण संस्कार के उपरान्त बालक को विद्याभ्यास के लिए भेजा

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६१

२. वही, पृ० २७०-७२

३. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० २१३-१७

४. वही, पृ० १७४

५. द्रया०, १.७

६. Thapar, Romila, A History of India, Vol, I, p. 176
तथा अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १०७

७. वही, पृ० १०७

८. लिपि स संख्यामपि वृत्तचोलः समाप्य वृत्तोपनयः क्रमेण ।

ब्रह्माचरन् षोडशवर्षबद्धमादत्त विद्याः कृतवृद्धसेवः ॥

—द्विस०, ३.२४, प्रद्यु०, ५.६३

९. वराह०, २.६-७, चन्द्र०, ४.३-५

गया ।^१ इसी प्रकार वर्धमानचरित भी यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही विद्याग्रहण का उल्लेख करता है ।^२ वादीभसिंह ने क्षत्रचूडामणि में विद्यारम्भ की आयु पांचवें वर्ष को स्वीकार की है ।^३ इस आयु में बालक सर्वप्रथम 'द्विमातृका' (वर्णमाला) को सीखता था ।^४ पार्श्वनाथचरित में भी पांच वर्ष की अवस्था को ही विद्यारम्भ की आयु उपयुक्त मानी गई है ।^५ प्रारम्भिक वर्णमाला तथा गणित ज्ञान के उपरान्त ही प्रायः बालक को विद्यालयीय ज्ञान के लिए भेजा जाता था ।^६

शिक्षा सम्बन्धी संस्कार

जैन संस्कृत महाकाव्यों एवं जैन पुराणों में प्रतिपादित राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा सम्बन्धी वर्णनों के अनुसार विद्यार्थियों के शिक्षाकाल की अवधि में तीन संस्कार होते थे—अक्षरारम्भ संस्कार,^७ उपनयन संस्कार,^८ तथा समावर्तन संस्कार ।^९ प्रथम संस्कार 'अक्षरारम्भ' के अवसर पर बालक पांच वर्ष के लगभग होता था तथा आठ वर्ष पर्यन्त वह वर्णमाला, लिपिज्ञान एवं प्रारम्भिक अङ्कगणित को सीखता था । दूसरे संस्कार 'उपनयन' के अवसर पर बालक की आठ या नौ वर्ष की आयु होती थी इस संस्कार विशेष के साथ बालक उच्चस्तरीय अध्ययन विषयों का अध्ययन करने के लिए गुरु के पास भेजा जाता था अथवा राजभवन में ही उसके अध्यापन के लिए योग्य गुरुओं की नियुक्ति की जाती थी । तदनन्तर अध्ययन की समाप्ति पर बालक का 'समावर्तन' नामक तीसरा संस्कार होता था ।^{१०}

१. पार्श्व०, ५.४

२. वर्ष०, ५.२७

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में०, पृ० ५५५

४. निष्प्रत्यूहेश सिद्धार्थ सिद्धपूजादिपूर्वकम् ।

सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम् ॥

—क्षत्र०, १.११२

५. समं वयस्यैर्विनयेन तत्परो गुरूपदेशोपनतासु बुद्धिमान् ।

—पार्श्व०, ४.२८

६. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में०, पृ० ५५६

७. द्विस०, ३.२४, त्रिषष्टि०, १.२.६६३

८. पार्श्व०, ५.४, द्विस०, ३.२४

९. आदि०, ३८.१०६-२०, द्विस०, ३.२४

१०. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २६०-६३, तथा तु०—आदि०, ३८.१०२-८; ३८.१०६-२०

उपनयन संस्कार की स्थिति

उपनयन संस्कार के अवसर पर बालक को सावित्री मंत्र को भी कण्ठस्थ करना पड़ता था। वैदिक संस्कृति के मतावलम्बी बालकों के लिए उपनयन संस्कार का औचित्य था क्योंकि वे इस संसार के सम्पन्न होने के बाद वैदिक विषयों का ही अध्ययन करते थे किन्तु क्षत्रिय राजकुमारों के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे वैदिक विषयों का ही अध्ययन करें। राजकुमारों को इस युग में अन्य न्याय-व्याकरण तथा युद्ध विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। अतः प्रारम्भिक अवस्था में ये बालक लिपिज्ञान तथा अङ्गुज्ञान से विद्या का प्रारम्भ करते थे इसलिए अक्षर स्वीकरण इस युग में विशेष लोकप्रिय हो गया था।^१ दूसरे, उपनयन संस्कार को ब्राह्मण संस्कृति के संस्कार के रूप में भी समझा जाने लगा था इस कारण जैन एवं बौद्ध मतावलम्बी परिवारों ने उपनयन संस्कार को अधिक महत्त्व नहीं दिया। वैसे भी ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी के बाद उपनयन संस्कार का प्रचलन बहुत कम हो गया था। धर्मसूत्रों से भी ज्ञात होता है कि ऐसे भी कई परिवार थे जिनमें एक-दो पीढ़ी तक यह संस्कार हुआ ही नहीं।^२ शैक्षिक-मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो विद्या का श्रीगणेश लिपि-ज्ञान से ही मानना उचित जान पड़ता है जो 'अक्षर स्वीकरण' नामक संस्कार के अवसर पर तो सम्भव हो सकता था किन्तु उपनयन संस्कार के अवसर पर वैदिक-मंत्रों को लिपिबद्ध करने की आज्ञा न होने के कारण संभव नहीं था। उपनयन संस्कार के अवसर पर बालक ७-८ वर्ष की आयु का होता था जबकि पाँच वर्ष की आयु को विद्यारम्भ करने की उपयुक्त आयु मानी गई है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि उपनयन संस्कार से पहले पाँच-छः वर्ष की आयु में सभी बालकों को वर्णमाला का ज्ञान करा दिया जाता होगा, तभी वह उपनयन संस्कार के अवसर पर सावित्री-मन्त्र के उच्चारण एवं कण्ठस्थ करने की क्षमता रख सकता था।^३ मध्यकालीन भारत में पूर्ण रूप से यद्यपि 'उपनयन' संस्कार को त्यागा नहीं गया किन्तु वैदिक काल में 'उपनयन' को जो महत्त्व प्राप्त था वह इस युग में 'अक्षर स्वीकरण' ने प्राप्त कर लिया था। अधिकांश जैन राजकुमार इसी संस्कार से विद्यारम्भ करते थे।^४ रघुवंश में भी अक्षरारम्भ संस्कार से ही विद्या प्रारम्भ होने का उल्लेख आया है।^५

१. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० २०४-५

२. वही, पृ० २०२

३. वही, पृ० २०७

४. द्विसं०, ३.२४; आदि०, ३८.१०२-४; त्रिषष्टि०, १.२.६६३

५. रघु०, ३.२८-२९

१. गुरु-शिष्य सम्बन्ध

शिक्षक का स्वरूप

जैन संस्कृत महाकाव्यों में शिक्षक के लिए 'गुरु'^१; 'उपाध्याय'^२, 'आचार्य'^३ 'वाचनाचार्य'^४, 'अध्यापक'^५ आदि संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। द्विसन्धान महाकाव्य के अनुसार राज्य के विभिन्न उच्चाधिकारी भी राजकुमारों को शिक्षा देने का कार्य किया करते थे।^६ मुनि लोग भी त्रयी आदि विद्याओं की शिक्षा देते थे।^७

आदर्श शिक्षक की योग्यताएं—गुरु अथवा शिक्षक को प्रतिभाशाली तथा विद्वान् होना चाहिए। द्विसन्धान के अनुसार विषय के सारभूत अर्थ का ज्ञान होना, लोक व्यवहार के उपदेश देने का सामर्थ्य होना, काव्य-न्याय, व्याकरणादि महत्वपूर्ण विषयों के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों पर समान अधिकार होना आदि शिक्षक की आवश्यक योग्यताएं मानी गई हैं।^८ वराहचरित के अनुसार उपदेष्टा के सन्दर्भ में गुरु की योग्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। इन योग्यताओं में गुरु का तत्त्वज्ञ होना, संयमी होना, स्थिर बुद्धि होना, तथा परोपकारी होना आदि गुरु की चरित्र सम्बन्धी योग्यताएं स्वीकार की गई हैं।^९ वाक्चातुरी द्वारा प्रभावित करने की क्षमता रखना तथा शिष्यों की योग्यतानुसार उपदेश-विधियों का प्रयोग करना आदि भी गुरु की उल्लेखनीय विशेषताएं मानी गई हैं।^{१०} गुरु के लिए निर्देश दिए गए हैं कि वह मन्दबुद्धि को साधारण ज्ञान दे तथा प्रतिभाशाली छात्र को विषय का भेदोपभेद सहित सूक्ष्म परिचय दे।^{११}

१. द्विस०, ५.६७; पार्व०, ४.२८; परि०, १२.१६६
२. त्रिषष्टि०, ८.३.४६
३. परि०, १२.१७८
४. वही, १२.१८२
५. शान्ति०, १.१११
६. आन्वीक्षिकीं शिष्टजनाद्यतिभ्यस्त्रयीं च वातमधिकारकृद्भ्यः ।
वक्तुः प्रयोक्तुश्च स दण्डनीति विदां मतः साधु विदाञ्चकार ॥
—द्विस०, ३.२५
७. यतिभ्यस्त्रयीम् । —वही, ३.२५
८. द्विस०, १.३५ तथा पदकौमुदी टीका, पृ० १७
९. वराह०, १.१०
१०. वही, १.१०, १७
११. वही, १.१७, ३०.४-१०

शान्तिनाथरित महाकाव्य में शिक्षक की योग्यताओं की दृष्टि से कपिल एक आदर्श शिक्षक था। समस्त शास्त्रों तथा आगमों में पाण्डित्य,^१ अध्यापनशैली के वैशिष्ट्य तथा ग्रहातिचारादि ज्ञान के कारण कपिल अन्य अध्यापकों की तुलना में श्रेष्ठ तथा लोकप्रिय अध्यापक के रूप में वर्णित हुआ है।^२

सग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थ शिक्षक—जैन संस्कृत महाकाव्यों के सन्दर्भ में दो प्रकार के शिक्षकों के होने की सूचना प्राप्त होती है। ये दो प्रकार के शिक्षक थे—(१) सग्रन्थ तथा (२) निर्ग्रन्थ।^३ सग्रन्थ शिक्षक कषाय वस्त्र धारण करते थे तथा वेद वेदाङ्ग में निष्णात होते थे। इन शिक्षकों की जीविका छात्रों द्वारा दी गई दक्षिणा अथवा राजा द्वारा दिए गए वेतन से चलती थी। निर्ग्रन्थ शिक्षक मन्दिरों अथवा तपोवनों में निवास करते थे। धार्मिक तथा दार्शनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र इनके पास विशेष रूप से जाते थे। ये मुनिवृत्ति वाले निर्ग्रन्थ अध्यापक बदले में कुछ नहीं लेते थे।^४

शिक्षक-प्रशिक्षण तथा 'अग्रशिष्य प्रणाली'

हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में शिक्षक-प्रशिक्षण से सम्बद्ध 'अग्रशिष्य प्रणाली' के अस्तित्व की सूचना मिलती है। गुरु के कुछ समयावधि तक अनुपस्थित रहने पर प्रायः कक्षा में सर्वाधिक मेधावी छात्र गुरु-पद को संभाल लेता था। परिशिष्टपर्व में वर्णित वज्र नामक शिष्य इसी प्रकार का गुरु रहा था।^५ वज्र की व्याख्यान निपुणता से सभी छात्र प्रभावित थे। मन्दबुद्धि छात्रों को भी वज्र की वाचनाओं से विशेष लाभ हुआ था।^६ परिशिष्टपर्व के इस द्रष्टान्त से यह भी विदित होता है कि गुरु की सफलता के मूल्यांकन का आधार छात्र समुदाय को प्रभावित करने पर भी बहुत कुछ निर्भर करता था। 'वज्र' की शिक्षण विधि आदि के विषय में गुरु ने

१. शान्ति०, १.१२६

२. पाठनिमित्तकारणाद् ग्रहातिचारादिविबोधनादपि।

—शान्ति०, १.२७

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ५५८

४. वही, पृ० ५५८-५९

५. यास्यामो ग्रामममुकं द्वित्राहं तत्र नः स्थितिः।

वज्रो वो वाचनाचार्यो भवितेत्यादिशद् गुरुः॥

—परि०, १२.१८१-८३

६. येऽत्यल्पमेधसस्तेऽपि साधवोऽध्येतुमागमम्।

अमोघवचनो वज्रो बभूवातिजडेष्वपि॥

—वही, १२.१८७, १८८

जब बाद में पूछताछ की तो उसे सभी छात्रों द्वारा प्रशंसित पाया गया।^१ हेमचन्द्र प्रदत्त इस महत्वपूर्ण सूचना द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिक्षण संस्थाओं में आधुनिक 'अध्यापक-प्रशिक्षण' सदृश 'अग्रशिष्य प्रणाली' का प्रचलन भी रहा था। तक्षशिला आदि शिक्षण संस्थाओं में आचार्य की अनुपस्थिति में उसका अग्रशिष्य ही गुरुकुल का प्रधान होता था। प्रतिभाशाली छात्रों को अध्यापन-कार्य का प्रशिक्षण देना इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य था।^२ विद्यार्थियों के लिए भी यह एक सुभ्रवसर समझा जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति में 'अग्रशिष्य प्रणाली' ठीक आधुनिक अध्यापक प्रशिक्षण जैसा कार्य कर रही थी। इस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में 'Conitorial System' का वैज्ञानिक आधार भारतीय शिक्षा की 'अग्रशिष्य प्रणाली' में बहुत पहले ही स्वीकार किया जा चुका था।^३

शिष्य की योग्यताएं तथा अयोग्यताएं

शिष्य की योग्यताओं के विषय में कहा गया है कि उसे सदैव गुरु के प्रति श्रद्धावान् होना चाहिए। विनम्रता, जिज्ञासा वृत्ति, श्रद्धा, सेवा परायणता, श्रवण के प्रति सतर्कता, पठित विषय को ग्रहण करने की योग्यता, पठित वस्तु को सदैव कण्ठस्थ रखने की क्षमता, ऊहापोह, तर्कणा शक्ति, अप्रमाद तथा स्वाध्यायरत होना छात्र की आवश्यक योग्यताएं तथा कर्त्तव्य माने जाते थे।^४ शिष्य के लिए विनयी होना अत्यावश्यक था।^५

शिष्य की अयोग्यताओं एवं दोषों के सम्बन्ध में कहा गया है कि श्रवणकाल में समझ लेना किन्तु बाद में उपेक्षा करना, श्रवण तथा अश्रवण में समान बुद्धि अर्थात् जड़ होना, केवल रटन-बुद्धि से वस्तुओं को कण्ठस्थ कर लेना, दूसरे छात्रों की योग्यताओं से ईर्ष्या करना तथा उन्हें क्षति पहुंचाना, किसी मय अथवा लोभ से श्रवण के प्रति जिज्ञासा दिखाने का आडम्बर करना किन्तु वास्तव में अध्ययन के प्रति जिज्ञासु न होना, गुरु तथा दोषों में से गुणों की उपेक्षा कर दोषों का ही ग्रहण करना आदि शिष्यों की अयोग्यताएं तथा दोष माने गए हैं।^६

१. परि०, १२-१६६-६८

२. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १२६

३. वही, पृ० १२६

४. शुश्रूषताश्रवणसंग्रहधारणानि विज्ञानमूहनमपोहनमर्थतत्त्वम्।

—वराह०, १.१४;

तथा विशेष द्रष्टव्य आदि०, १.१६८, १४६

५. नयेन नेता विनयेन शिष्यः, शीलेन लिङ्गी प्रशमेन साधुः।

—पद्मा०, २.२४

६. वराह०, १.१५; आदि०, १.२६-३२

कुशिष्य

कुशिष्यों को मायावी, प्रमादी, कुटिल, क्रोधी एवं गुरु की आज्ञा का अति-क्रमण करने वाला कहा गया है।^१ कुशिष्य योग्य शिष्यों से ईर्ष्या-द्वेष रखते थे इस कारण से गुरु कक्षा में मेधावी शिष्यों की प्रशंसा करना उचित नहीं समझता था।^२ कुशिष्य अत्यधिक विषयगामी तथा प्रमादी होने के कारण जड़ बुद्धि होते थे। कुछ कुशिष्य अध्ययन करने का आडम्बर मात्र दिखाते थे, वास्तव में वे अत्यधिक दुष्ट एवं कुटिल प्रकृति के होते थे। इसलिए गुरु को कुशिष्यों से सदैव सावधान रहने की आवश्यकता पड़ती थी।

ज्ञानार्जन की दृष्टि से शिष्यों के विभिन्न स्तर

भवभूति के उत्तररामचरित आदि ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय शिक्षार्थियों के ज्ञान ग्रहण के सामर्थ्य की प्रायः चर्चा की जाती रही है तथा इनमें विद्यार्थियों के दो स्तरों की सूचना दी गई है। एक वे विद्यार्थी जो प्रतिभा सम्पन्न होते हैं तथा गुरु-ज्ञान द्वारा मणि सरश चमकते हैं। दूसरे प्रकार के वे विद्यार्थी जो समान गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी मिट्टी के ढेले के समान जड़ रह जाते हैं।^३ सुभाषित-रत्नभाण्डागार में भी विद्यार्थियों की इन्हीं दो श्रेणियों की ओर संकेत किया गया है।^४ जैन महाकाव्य वराहचरित में विद्यार्थियों को ज्ञान-ग्रहण की दृष्टि से चौदह भेदों में बांटा गया है। यद्यपि ये भेद श्रावकों के धर्मोपदेश ग्रहण करने के सम्बन्ध

१. मुखकृतकपटाः प्रमत्तचित्ताः परुषरुषश्चरणेषु सत्स्वखिन्नाः ।

गुरुकुलमतिचक्रमुः कुशिष्या हितमिव संयति संयतं गजेन्द्राः ॥

—द्विस०, ५.६७

२. परि०, १२.१७४

३. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे ।

न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ॥

भवति च पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा ।

प्रभवति शुचिबिम्बग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥

—उत्तररामचरित, २.४

४. अतःसार विहीनस्य सहायः किं करिष्यति ।

मलयेऽपि स्थितौ वेणुर्बेणुरेव च चन्दनः ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रोक्तं किं करिष्यति ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ४०-४१

में प्रतिपादित हुए हैं तथापि तत्कालीन शिक्षण पद्धति में शिष्यों की विभिन्न श्रेणियों की ओर भी इनसे महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। बराङ्गचरितकार ने विभिन्न उपमानों की सहायता द्वारा जिन चौदह प्रकार के शिष्य-भेदों^१ को विशेष रूप से स्पष्ट किया है उनका विवरण इस प्रकार है—

२. मिट्टी—सुनते समय प्रभावित होना तदनन्तर उपेक्षा भाव दिखाना।
२. भाङू—असार ग्राहक होना तथा सार वस्तु को छोड़ देना।
३. भैंसा—श्रवणाश्रवण दोनों अवस्थाओं में समान बुद्धि होना।
४. हंस—क्षीर-नीर न्याय से वस्तुओं को विश्लेषित करने में समर्थ होना।
५. शुक—जितना सुन लिया, बिना विवेक के ही उसे रट लेना।
६. बिल्ली—चालाकी से ज्ञानार्जन का केवल मात्र ढोंग करना।
७. बगुला—सुमने का आडम्बर करना।
८. मच्छर—गुरु एवं कक्षा को परेशान करना।
९. बकरा—बहुत देर में वस्तु ग्रहण करना तथा कामी स्वभाव होना।
१०. जोंक—दोषों को ही ग्रहण करना तथा गुणों को छोड़ देना।
११. छिद्रित घट—एक कान से सुनना तथा दूसरे कान से निकाल देना।
१२. पशु—बल प्रयोग के भय से अध्ययन में रुचि लेना।
१३. सर्प—कुटिल स्वभावी होना तथा कक्षा आदि में आतङ्क फैलाना।
१४. शिला—पत्थर के समान जड़बुद्धि होना।

आदर्श शिष्य के आठ गुणों में सेवा परायणता, श्रवण, संग्रहण, धारण, तर्कण, ऊह, अपोह तथा अर्थतत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।^२

शिक्षण-विधियाँ

शिक्षाशास्त्रीय मूल्यों की अपेक्षा से जैन महाकाव्यों में निरूपित निम्न-लिखित महत्त्वपूर्ण शिक्षण विधियों पर प्रकाश डाला जा सकता है—

१. पाठविधि

शिक्षक शिष्य को पाठ विधि द्वारा पहले पहल विवेच्य वस्तु की शिक्षा देते

१. मृत्सारिणीमहिषहंसशुकस्वभावा माज्जरिकङ्कुमशकाजजलूकसाम्याः ।
सच्छिद्रकुम्भपशुसर्पशिलोपमानास्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधाभवन्ति ।

—बराङ्ग०, १.१५

२. शुश्रूषताश्रवणसंग्रहधारणानि विज्ञानमूहनमपोहनमर्थतत्त्वम् ।

—बराङ्ग०, १.१४

थे। तदनन्तर शिष्य गुरु का अनुसरण करते थे। वराङ्गचरित में इसी विधि की ओर संकेत करते हुए 'अध्यापन' एवं 'अध्ययन' क्रमशः गुरु एवं शिष्य की शिक्षा-परक गतिविधियों को सूचित करते हैं।^१

२. पुनरावृत्तिविधि

गुरु द्वारा पढ़ाए गए पाठ को धारण करने के लिए शिष्य उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति कर हृदयांगम करते थे।^२ 'श्रवण', 'संग्रहण' तथा 'धारण' इस विधि की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ थीं।^३ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में निर्दिष्ट 'पाठ' 'अनुभव' तथा 'अवधारण' को प्रक्रियाएँ इसी विधि की ओर संकेत करती हैं।^४

३. प्रश्नोत्तर विधि

इस विधि के अन्तर्गत शिष्य अध्यापक से पूर्व-पठित विषय से सम्बन्धित संशयों के विषय में प्रश्न करते थे और शिक्षक इन संशयों का निवारण करते थे।^५ इस विधि के अन्तर्गत विज्ञान' अर्थात् विवेकपूर्ण ज्ञान, 'ऊहन' अर्थात् चिन्तन मनन तथा 'अपोहन' अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक बुद्धि द्वारा पठित विषय की अन्विति विठाने की युक्तिसंगतता आदि विभिन्न प्रक्रियाएँ समाविष्ट थीं।^६ वराङ्गचरित महाकाव्य में 'सुशिष्य' के लिए इसकी अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया है।^७

१. अध्यापनं चाध्ययनं च । —वराङ्ग०, ३१.६७, तथा तु०—

पठदार्यमुखाच्छृण्वन्नङ्गान्येकादशापि हि ।

पादानुसारी भगवान्ब्रजोऽधीयाय धीनिधिः ॥

—परि०, १२.१३७

२. पाठं पाठं च शास्त्राणि सगरोऽपि दिने दिने ।

—त्रिषष्टि० १.४४५

३. शुश्रूषताश्रवणसंग्रहधारणानि ।

—वराङ्ग०, १.१४

४. पाठतोऽनुभवतश्च विदधे हृदयङ्गमम् ॥

—त्रिषष्टि०, २.३.३३

५. उपाध्यायेनाऽप्यभ्यनान् संशयान् सगरः सुधीः ।

—वही, २.३.४६

६. विज्ञानमूहनमपोहनमर्थतत्त्वम् ।

—वराङ्ग०, १.१४

७. वही, १.१४

४. कण्ठस्थ विधि

प्राचीन भारतीय शिक्षण संस्थाओं में ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ विधि एक महत्त्वपूर्ण विधि रही थी। विद्यार्थियों को प्रायः पाणिनीय व्याकरण, मनुस्मृति, अमरकोश कण्ठस्थ करा दिए जाते थे।^१ सातवीं शताब्दी में फाह्यान के भारत भ्रमण के समय उत्तरी भारत में कण्ठस्थ विधि द्वारा ही प्रायः अध्ययन-अध्यापन होता था। बौद्ध-परम्परा में भी कण्ठस्थ विधि का प्रचलन रहा था।^२ इस प्रकार आलोच्य काल तक कण्ठस्थ विद्या का महत्त्व कम नहीं हुआ था। जैन संस्कृत महाकाव्यों में भी कण्ठस्थ करके विद्यार्जन करने का उल्लेख आया है।^३ गुरु द्वारा पढ़ते हुए श्रवणियों का शिष्य पहले श्रवण करते थे; तदनन्तर उन्हें निरन्तर अभ्यासों द्वारा कण्ठस्थ कर लिया जाता था।^४

५. सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विधि

अत्याधुनिक शिक्षा पद्धति में प्रचलित 'सिद्धान्त' तथा 'प्रायोगिकता' के प्रचलन की सूचना जैन महाकाव्यों से प्राप्त होती है। आचार्य सैद्धान्तिक रूप से सर्वप्रथम विद्यार्थी को प्रतिपाद्य विषय के सिद्धान्तों तथा मौलिक तत्त्वों की शिक्षा देते थे तदनन्तर उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से भी अभ्यस्त कराया जाता था।^५ युद्ध-विद्या के विविध सन्दर्भों में इस विधि का स्पष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है। युद्ध से सम्बन्धित अस्त्र-शस्त्रों की शास्त्रीय शिक्षा देने के उपरान्त विद्यार्थियों को प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र की व्यावहारिक रूप से चलाने का अभ्यास भी कराया जाता था।^६ द्विसन्धानादि महाकाव्यों में बालक को धनुर्विद्या की व्यावहारिक रूप से शिक्षा देने

१. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १२१

२. Mookerji, Radha Kumud, Ancient Indian Education, p. 497

३. चतुर्दशापि हि विद्यास्थानानि निजनामवत्,
कृत्वा कण्ठगतान्यागात्पुरं दशपुरं ययौ ॥

—परि०, १३.७

४. पाठं पाठं च शास्त्राणि समरोऽपि दिने दिने ।

—त्रिषष्टि०, २.३.४५

५. पाठतोऽनुभवतश्च विदधे हृदयङ्गमम् ।

—त्रिषष्टि०, २.३.३३ तथा २.३.२५-४७

६. वही

का स्पष्ट उल्लेख आया है।^१ इसी प्रकार काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के उपरान्त व्यावहारिक दृष्टि से काव्य लिखने का भी अभ्यास कराया जाता था।^२

उपर्युक्त जैन महाकाव्योक्त शिक्षण विधियों की तुलना जिनसेनकृत आदिपुराण से भी की जा सकती है। आदिपुराण में (१) पाठ विधि (२) प्रश्नोत्तर विधि (३) शास्त्रार्थ विधि (४) उपक्रम विधि (५) पञ्चांग विधि अर्थात् वाचना, संशय निवारण, पुनरावृत्ति, मनन-चिन्तन तथा धारणा एवं (६) उपदेशविधि आदि शिक्षण विधियों का विशेष उल्लेख मिलता है।^३ अल्लेकर द्वारा प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण शिक्षण विधियों की भी जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित उपर्युक्त शिक्षण विधियों से तुलना की जा सकती है।^४

३. शिक्षा केन्द्र

शिक्षा के उच्च केन्द्रों के सम्बन्ध में जैन संस्कृत महाकाव्यों में यद्यपि विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती है तथापि आश्रम तथा तपोवन आलोच्य काल में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रहे थे।^५ इन्हें 'विद्यामठ' की संज्ञा प्राप्त थी।^६ राजप्रासादों में भी राजकुमारों की शिक्षा देने की व्यवस्था रही थी।^७ समृद्ध नगरों में भी प्रत्येक विषय के अधिकारी गुरु होते थे। द्विसन्धान महाकाव्य के उल्लेखानुसार विद्यार्थी अपने ही नगर के शिक्षकों से ज्ञानार्जन करते थे। इन्हें किसी दूसरे नगर में अध्ययनार्थ जाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी।^८ इससे अनुमान किया जा सकता है कि तपोवनों के अतिरिक्त नगर भी अब शिक्षा के केन्द्र बनते जा रहे थे।

१. पदप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम् ।

—द्विस०, ३.३६

तथा तु०—अदर्शयत् पादगतिं फलकासिधरश्च सः ।

—त्रिषष्टि०, २.३.५१

२. साहित्यशास्त्रसर्वस्वमुपाध्यायाद् यत्नतः ।

साहित्यवल्लीकुसुमैः काव्यैः कर्णरसायनैः ॥

—त्रिषष्टि०, २३.२५-२६

३. आदि०, २.१०२, १०४; २१.६६

४. अल्लेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १२०-२५

५. द्वया०, १५.३७, परि०, १२.१८२-६७

६. द्वया० १.७

७. द्विस०, ३.२५

८. द्विस०, १.३५, तथा तु०—अन्यदीयान् जिघ्रतेऽन्यवस्तुनः ।

—वह्नी, १.३५

जैन शिक्षा के मुख्य केन्द्र जैन मुनियों के आश्रम थे। इन आश्रमों में अनेक जैन-साधुओं द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं।^१ इनमें जैन गार्ह्वियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं।^२ आलोच्य काल में 'अग्रहार-ग्रामों' का विशेष महत्त्व रहा था। ब्राह्मण संस्कृति से सम्बद्ध शिक्षा के ये प्रमुख केन्द्र बने हुए थे। आश्रमों तथा अग्रहार ग्रामों का संरक्षण राजा के अधीन होता था।^३

४. पाठ्यक्रम

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में वैदिक, बौद्ध एवं जैन संस्कृति के आधार पर शिक्षा के पाठ्यक्रम को निर्धारित करने की विशेष प्रवृत्ति देखने में आती है। विश्वविद्यालयी स्तर पर यद्यपि पाठ्यक्रम का स्वरूप तुलनात्मक एवं समाज सापेक्ष रहा था तथापि तीनों शिक्षा पद्धतियों में परम्परागत विद्याचेतना की स्थिति भी स्पष्ट देखने को मिलती है।

वैदिक विद्या परम्परा

उपनिषदों के समय से ही 'परा' तथा 'अपरा' दो वर्गों में अध्ययन विषयों को सम्राविष्ट किया जाने लगा था।^४ 'परा' अध्यात्म विद्या को कहते थे 'अपरा' के अन्तर्गत चार वेद, छह वेदाङ्ग कुल दस विद्याएँ आती थीं।^५ छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार वैदिक शिक्षा व्यवस्था में चार वेद, इतिहास पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशस्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवशास्त्र, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या आदि विषयों को पढ़ाया जाता था।^६ शतपथब्राह्मण वेद के सहायक अध्ययन विषयों के रूप में अनुशासनी (वेदाङ्ग) विद्या (विज्ञान) वाकोवाक्यम् (वादविवाद), इतिहास पुराण तथा गाथानारायणी आदि अध्ययन विषयों का उल्लेख करता है।^७ पौराणिक युग में शिक्षा के पाठ्यक्रम के रूप में वेद, पुराण, गाथा, इतिहास, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, युद्धविद्या के साथ-साथ सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त,

१. वराहमिह, ३०.२

२. ताश्च प्रकृत्यैव कलाविदग्धा जात्यैव धीरा विनयैर्विनीताः।

आचारसूत्राङ्गनयप्रभङ्गानाधीयते स्मारपतमैरहोभिः॥

—वराहमिह, ३१.७

३. Thapar, Romila, A History of India, Vol. I, p. 252,

तथा द्वया०, १५.१२०-२१

४. मुण्डकोपनिषद्, १.१.४

५. वही, १.१.५

६. छान्दोग्योपनिषद्, ७.१

७. शतपथब्राह्मण, ११.५.६.८

मीमांसा, वार्ता, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी, ज्योतिष, चित्रकला, वास्तुकला, सङ्गीत-कला एवं नृत्यकला आदि विषय विशेष लोकप्रिय रहे थे।^१ मध्यकाल में 'विद्या' तथा 'उपविद्या' के मूल्यों से पाठ्यक्रम में मुख्य तथा सहायक विषयों का औचित्य स्वीकार किया जाता था। हेमचन्द्र ने चौदह मुख्य विद्याओं की जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें चार वेद, छह वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय तथा मीमांसा, परिगणित हैं।^२

बौद्ध विद्या परम्परा

बौद्ध शिक्षा पद्धति में प्रचलित अध्ययन विषय युगीन मूल्यों एवं सामाजिक प्रासङ्गिकता से विशेष अनुप्रेरित थे। बौद्ध जातकों से ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षार्थी वेद, वदिक साहित्य, ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद्, शिक्षा, अर्थशास्त्र, शिल्प वार्ता, व्याकरण, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि की शिक्षा प्राप्त करते थे।^३ बौद्ध शिक्षा शास्त्रियों ने विज्ञान तथा टेक्नोलौजी की शिक्षा को विशेष महत्व प्रदान किया। इसके अतिरिक्त बौद्ध जातकों में परम्परागत शिल्प विद्याओं के रूप में 'अष्टादशशिल्प' की जो परिगणना की गई है उनमें व्यावसायिक शिक्षा से सम्बद्ध अध्ययन विषय समाविष्ट हैं। ये 'अष्टादशशिल्प' इस प्रकार थे—१. सङ्गीत २. गायन, ३. नृत्य, ४. चित्रकला, ५. नक्षत्रकर्म, ६. अर्थशास्त्र, ७. वास्तुशास्त्र, ८. तक्षणकर्म (बढ़ई गिरी), ९. वार्ता, (खेती), १०. पशुपालन ११. व्यापार, १२. आयुर्वेद, १३. गजाश्वपरिचालन, १४. कानून, १५. युद्धकला, १६. इन्द्रजाल, १७. सर्पक्रीड़ा तथा १८. मणिरागाकरज्ञान।^४

वस्तुतः बौद्ध कालीन विश्वविद्यालयीय शिक्षा से सम्बद्ध पाठ्यक्रमों की ओर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि नालन्दा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की प्रेरणा से पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता था। नालन्दा विश्वविद्यालय में महायान शाखा का विशेष अध्ययन सम्भव

१. सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, उलाहावाद, १९६८, पृ० २२५-६१

२. सोऽङ्गानि वेदाङ्कुरो मीमासान्यायविस्तरम् ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्राध्यैष्टाविशिष्टधीः ॥
चतुर्दशापि हि विद्यास्थानानि निजनामवत् ।
कृत्वा कण्ठगतान्यगात्पुरं दशपुरं धयी ॥

—परि०, १३.६-७

३. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५०५

४. जातक संख्या, ८०, १८५, २५६, ४१६, ५१७

था परन्तु उसके साथ साथ अन्य विषयों के अध्ययन की भी वहाँ व्यवस्था थी।^१ इसी प्रकार बौद्धकालीन शिक्षा प्रवृत्तियों से प्रभावित तक्षशिला विश्वविद्यालय में जो अध्ययन विषय पढ़ाए जाते थे उनमें वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा, धनुर्विद्या एवं युद्धकला, ज्योतिष, भविष्यकथन, मुनीमी, व्यापार, कृषि, रथचालन, इन्द्रजाल, नागवशीकरण, गुप्तनिधि अन्वेषण सज्जीत, नृत्य और चित्रकला आदि अष्टादश शिल्पविद्याओं का अध्ययन भी होत। था।^२ वास्तव में प्राचीन भारतीय शिक्षा संस्था के इतिहास में बौद्ध शिक्षा व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसने सर्वप्रथम, तर्कप्रधान एवं तुलनात्मक ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा से पाठ्यक्रम में पढ़ाए जाने वाले विषयों को वरीयता प्रदान की। परम्परागत धर्म-संस्कृति के संरक्षण, विज्ञान टैक्नीलोजी के संवर्धन तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण इन तीनों दृष्टियों से अध्ययन विषयों की रूपरेखा तैयार की।^३ अल्टेकर महोदय की धारणा है कि बौद्ध युग में ही सर्वप्रथम भारतीय विश्वविद्यालयों ने ललित कलाओं की शिक्षा देने की परम्परा प्रारम्भ की थी।^४

जैन विद्या परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव प्रथम राजा थे जिन्होंने समाज को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से असि-मसि-कृषि की शिक्षा प्रदान की तथा जीविकोपार्जन के विशेष प्रयोजन से विविध प्रकार की कलाओं का उपदेश भी दिया था। आदि पुराण के अनुसार ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र वृषभसेन को गान्धर्वविद्या, अनन्तविजय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद, बाहुबलि को कामशास्त्र, लक्ष्मणशास्त्र, धनुर्वेद, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, रत्नपरीक्षा, तन्त्रमन्त्रसिद्धि आदि विद्याओं की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी पुत्रियों को लिपिशास्त्र अक्षुण्णित आदि का भी उपदेश दिया।^५

जैन आगमों तथा परवर्ती महाकाव्य साहित्य में ७२ कलाओं के शिक्षण की मान्यता पर विशेष बल दिया गया है। लौकिक विषयों में दक्षता एवं निपुणता प्राप्त करना इन कलाओं का मुख्य उद्देश्य रहा था। बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान, रहन-सहन

१. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५२०

२. वही, पृ० ५२६

३. मोहन चन्द, प्राचीन भारतीय शिक्षा : आधुनिक शिक्षा वैज्ञानिक सन्दर्भ (निबन्ध), Ancient Indian Culture and Literature, Delhi, 1980, pp. 112-13

४. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १६७

५. आदि०, २.४८

लोक-व्यवहार, समाज व्यवस्था एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की अपेक्षा से ७२ जैन कलाओं का विशेष महत्त्व है।^१ बौद्ध शिक्षा चेतना की भाँति जैन शिक्षा चेतना भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक विषयों के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहित करती है। जैन महाकाव्यों से यह ज्ञात होता है कि राजकुमारों को युद्धकला इत्यादि के अतिरिक्त व्यावसायिक एवं उपयोगी ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायनकृत कामसूत्र में प्रतिपादित ६४ कलाओं तथा जैन परम्परासम्मत ७२ कलाओं में परस्पर साम्य है। जैन परम्परा के अनुसार जो आठ कलाएं अधिक मानी गई हैं उनमें स्कन्धाधारभान, नगरभान, इष्वस्त्र, त्सरुप्रवाद, अश्वशिक्षा, हस्तिशिक्षा, धनुर्वेद तथा बाहुयुद्ध नामक विद्याएं संग्राम कला और युद्धविद्या से सम्बद्ध हैं।^२ कामसूत्रोक्त ६४ कलाओं में इनका अभाव है परन्तु जैन परम्परा ने उन्हें सम्मिलित किया जो इस तथ्य का प्रमाण है कि क्षत्रिय राजकुमारों की विशेष अपेक्षाओं के अनुरूप जैन मनीषियों ने कलापरक विद्याओं के अन्तर्गत संग्राम कला को भी विशेष महत्त्व दिया। भारतवर्ष की राजनैतिक दशा को देखते हुए सांग्रामिक विद्याओं को सामान्य कलाओं के अन्तर्गत समाविष्ट करना आवश्यक हो गया था। राजकुमारों आदि के लिए युद्ध कला का प्रशिक्षण प्रदान करना शिक्षा संस्था की युगीन आवश्यकता थी। जैन मनीषियों ने इस और विशेष ध्यान दिया तथा परम्परागत ६४ कलाओं में युद्ध कला सम्बन्धी आठ कलाओं को और बढ़ाकर कलाओं के प्रशिक्षण को व्यवहारोन्मुखी शिक्षा भी प्रदान की।

परम्परागत जैन विद्याएं

जैन शिक्षा संचेतना 'विद्याओं' तथा 'उपविद्याओं' की परम्परागत चेतना से विशेष अनुप्राणित है। जैन दृष्टि से 'यथावस्थित वस्तु' के स्वरूप का अवलोकन करने की शक्ति को 'विद्या' कहा गया है।^३ जैन परम्परा को यह श्रेय जाता है कि इसने प्राचीनातिप्राचीन विद्याओं को संरक्षण प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। समाजशास्त्रीय अवधारणा से जुड़ी प्राच्य जैन विद्याएं 'जातिविद्या' 'कुलविद्या' 'तपविद्या' आदि के रूप में भी वर्गीकृत हैं। 'जातिविद्या' मातृपक्ष से प्राप्त विद्याएं कही गई हैं तो 'कुलविद्याएं' पितृपक्ष से सम्पुष्ट मानी जाती हैं। 'तपविद्याएं' साधुओं के पास होती हैं। जिन्हें वे व्रत, उपवास आदि द्वारा सिद्ध करने में समर्थ होते हैं।^४ जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार विद्याधरों की एक विशेष

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४२५

२. वही, पृ० ४२५

३. तु० — विद्यया — 'यथावस्थितवस्तुरूपावलोकनशक्त्या ।'

—न्यायविनिश्चय, १.३८.२८२.६

४. विशेष द्रष्टव्य, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ५५२

श्रेणि का भी अस्तित्व रहा था जो अनेक प्रकार की विद्याओं में सिद्ध हस्त होती थी। जैन साहित्य में विद्या देवियों का भी उल्लेख आता है। हरिवंश पुराण में नमि और विनमि को अर्पित देवी द्वारा विद्याओं के आठ निकाय तथा गन्धर्व सेनक नामक विद्याकोश के दान देने का उल्लेख भी आया है।^१ ये जैन विद्याएं अधिकांश रूप से ज्योतिष, खगोलशास्त्र, निमित्तशास्त्र एवं आकृतिशास्त्र आदि से सम्बद्ध हैं। तीर्थङ्कर महावीर से भी पूर्ववर्ती ज्ञान विज्ञान के जिन 'चौदहपूर्वों' में जैन परम्परागत विद्याओं की जो विषय तालिका प्राप्त होती है उसमें दर्शन, आचार, समाज, लिपि, गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि से सम्बद्ध मानवीय चिन्तन की प्राचीन गतिविधियाँ उपनिबद्ध नहीं थीं। जैन परम्परा में अनेक चामत्कारिक विद्याओं के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है जो मंत्र, तन्त्र तथा जादू टोने से साधे जा सकते थे परन्तु जैन मुनियों के लिए इनकी सिद्धिनिषिद्ध मानी गई है।^२

उपविद्याओं के रूप में बहत्तर कलाएं

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य में 'विद्या' तथा 'उपविद्या' की चर्चा आई है।^३ इसी महाकाव्य पर रचित विद्वन्मनोबल्लभा टीका के अनुसार आन्वौक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति को 'विद्या' तथा चौसठ कलाओं को 'उपविद्या' के रूप में पारिभाषित किया गया है।^४ यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चन्द्रप्रभ महाकाव्य के टीकाकार ने वैदिक परम्परा सम्मत 'विद्या' तथा 'उपविद्या' की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। जैन विद्याओं तथा कलाओं की मान्यता वैदिक शिक्षा परम्परा के मूल्यों पर ही अवलम्बित थी। वात्स्यायनकृत कामसूत्रोक्त^५ ६४ कलाओं तथा जैन आगमोक्त^६ बहत्तर कलाओं में भी विशेष अन्तर देखने को नहीं मिलता। पद्मानन्द महाकाव्य में १६ विद्याओं के साथ ७२ कलाओं का भी उल्लेख आया है^७ जो इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन लेखक मध्यकाल में भी जैन परम्परागत कलाओं अथवा उपविद्याओं को महत्त्व देते थे। पद्मानन्द महाकाव्य में निर्दिष्ट ७२ कलाओं के नाम

१. विशेष द्रष्टव्य, जैन प्राच्य विद्याएं (सम्पादकीय), आस्था और चिन्तन, आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४-५

२. वही, पृ० ५

३. विद्योपविद्या विधिना विदित्वा। —चन्द्र०, ४.३

४. वही, विद्वन्मनोबल्लभा टीका, पृ० ६४

५. कामसूत्र, १.३.१६

६. अभिवान राजेन्द्र कोश, भाग ३, पृ० ३७७-३७८

७. विद्यानाम्नेति षोडस। —पद्मा० १३.१७२, द्व्यधिकसप्तति कलाः।

—वही, १०.७६

इस प्रकार हैं—

१. लेख, २. गणित, ३. रूप, ४. नाट्य, ५. गीत, ६. वादित्त, ७. पुष्करगत, ८. स्वरगत, ९. समताल, १०. द्यूत, ११. जनवाद, १२. प्रोक्षत्व, १३. अष्टापद, १४. दकमुक्तिका, १५. अन्नविधि, १६. पानविधि, १७. वस्त्रविधि, १८. शयन-विधि, १९. आर्या, २०. प्रहेलिका, २१. मागधिका, २२. गाथा, २३. श्लोक, २४. गन्धयुक्ति, २५. मधुसिक्थ, २६. आभरणविधि, २७. तरुणीपरिकर्म, २८. स्त्री-लक्षण, २९. पुरुषलक्षण, ३०. हयलक्षण, ३१. गजलक्षण, ३२. गोलक्षण, ३३. कुक्कुट लक्षण, ३४. मेढूलक्षण, ३५. चक्रलक्षण, ३६. छत्रलक्षण, ३७. वण्डलक्षण, ३८. असिलक्षण, ३९. मणिलक्षण, ४०. काकिलक्षण, ४१. चर्मलक्षण, ४२. चन्द्रचरित, ४३. सूर्यचरित, ४४. राहुचरित, ४५. ग्रहचरित, ४६. सौभाग्यकर, ४७. दौर्भाग्यकर, ४८. विद्यागत, ४९. मन्त्रगत, ५०. रहस्यगत, ५१. सभास, ५२. चार, ५३. प्रतिचार, ५४. वास्तुमान, ५५. वास्तुनिवेशन, ५६. हिरण्यपाक, ५७. सूत्रखेल, नालिकाखेल, दूतखेल, ५८. पत्रच्छेद, कटकच्छेद, प्रतरच्छेद, ५९. सजीव एवं निर्जीव, ६०. शकुन्तरुत, ६१. व्यूह, ६२. प्रतिव्यूह, ६३. स्कन्धावार-निवेशन, ६४. नगरनिवेशन, ६५. स्कन्धावारमान, ६६. नगरमान, ६७. इष्वस्त्र, ६८. तसरुवाद, ६९. अश्वशिक्षा, ७०. हस्तिशिक्षा, ७१. धनुर्वेद तथा ७२. बाहुयुद्ध ।^१

वर्णव्यवस्थानुसारी पाठ्यक्रम

वैदिक युग में जाति अथवा वर्ण के आधार पर शिक्षा ग्रहण करने की परिपाटी का विशेष प्रचलन होने लगा था । स्मृतिकाल में केवल द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार रहा और शूद्रों को शिक्षा ग्रहण करने से वंचित कर दिया गया ।^२ सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक राजस्थान आदि प्रदेशों में दी जाने वाली शिक्षा का पाठ्यक्रम वर्णव्यवस्था के मूल्यों से प्रभावित रहा था । ब्राह्मण बालक चार वेद, छह वेदाङ्ग तथा चार उपाङ्ग (मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण) १४ विद्याओं का कर्मकाण्ड सहित अध्ययन करते थे ।^३ क्षत्रिय बालकों को मुख्यतया चित्रकला, ज्योतिष, नाट्य, गणित, गान्धर्व (सङ्गीत), गन्धयुक्ति (सुगन्धित वस्तुओं से इत्र बनाने की विधि), सांख्य, योग, वाय्वर्गुण, होराशास्त्र, हेतुशास्त्र, छन्द, निरुक्त, स्वप्नशास्त्र, शकुन-

१. पद्मा०, १०.७६ पर उद्धृत पादटिप्पण १, पृ० २१३-१४

२. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ४९०

३. Sharma, Dasharatha, Rajasthan Through the Ages, Vol. I, p. 513

शास्त्र, प्रायुष-तुरग-हस्ति-लक्षणाशास्त्र, इन्द्रजाल, धातुवाद, धनुर्वेद, पाककला आदि विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी ।^१

शिक्षा का व्यवसायीकरण

प्राचीन भारतीय शिक्षा की विशेषता इसका व्यवसायोन्मुखी होना भी था । सामाजिक परिस्थितियों तथा शैक्षिक मूल्यों का सदैव अभिन्न सम्बन्ध रहता आया है । मध्यकालीन भारतीय शिक्षा सर्वथा समाजोपयोगी होने के कारण उद्देश्य-मन्त्रक रही थी । हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुष्पचरित महाकाव्य में उपलब्ध एक वर्णन के आधार पर तत्कालीन व्यावसायिक शिक्षा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । इस वर्णन के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय शिक्षा वर्णव्यवस्था से भी विशेष रूप से अनुप्राणित थी । ब्राह्मणोचित ग्रथवा क्षत्रियोचित कर्त्तव्यों के अनुसार शिक्षा ग्रहण करके व्यक्ति तदनुसार अपने जीवन-यापन योग्य व्यवसाय भी प्राप्त कर सकता था ।^२ शिक्षा व्यवस्था का वर्णानुसारी होना इसलिए भी स्वभाविक हो गया था क्योंकि जीविकोपार्जन के व्यवसाय वर्णव्यवस्था से अनुप्रेरित थे ।

स्वतन्त्र शाखा के रूप में विद्याओं का विकास

इतिहासकारों ने सम्भावनायें की हैं कि मध्यकालीन शिक्षण संस्थाओं में किसी एक विशिष्ट विद्या में दक्षता प्राप्त करना युगौन प्रवृत्ति बन चुकी थी । केवल मात्र युद्ध से सम्बन्धित विभिन्न विद्याओं का ही शिक्षा क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलन होने लगा था । इन युद्ध सम्बन्धी विद्याओं में चापविद्या, चर्मविद्या, अस्त्रविद्या, प्रासविद्या, गदाविद्या, दण्डविद्या, शक्तिविद्या, मुसलविद्या, लाङ्गलविद्या, चक्रविद्या, कृपाणविद्या, बाहुयुद्धविद्या, अश्वविद्या, गजविद्या, व्यूहरचनाविद्या, व्यूहभेदन विद्या, रथसंचालनविद्या, दुर्गरचनाविद्या, आदि विद्यायें उल्लेखनीय हैं जिनकी क्षत्रिय वर्ग के लोग विशेष शिक्षा लेते थे । इसी प्रकार वास्तुशास्त्र सम्बन्धी विद्याओं में देवालय-निर्माणविद्या, प्रासादविद्या, हर्म्यविद्या, दुर्गनिर्माणविद्या आदि स्वतन्त्र विद्याओं के रूप में विकसित होने लगीं थीं । सङ्गीत आदि ललित

१. Sharma, Dasharatha, Rajasthan Through the Ages, Vol I, pp. 513-14.

२. विप्र-क्षत्रिय-विट-शूद्रवर्णभ्यः कतमोऽसि भोः ? — त्रिषष्टि०, २.६.२३२, पण्डितः किं कविः किं वा गन्धर्वः किं नटोऽथ किम् । — वही, २.६.२४५; तथा—वेदादिशास्त्रविज्ञेषु सहाधीतीव तादृशः ।

धनुर्वेदादिविद्वत्सु तदाचार्यइवाऽधिकः ॥ — वही, २.६.२४८

कलाओं से सम्बन्धित विद्याओं में किसी एक विद्या में से दक्षता प्राप्त की जाती थी। इन विद्याओं में वीणावादनकला, वेणुवादनकला, पटहवादनकला, मर्दलवादनकला, काव्यगायनकला, शिक्षागायनकला, रङ्गमञ्चकला, नाट्यकला, स्वस्तिवाचनकला, चारणकला, लिपिकला, लेखनकला, चित्रकला, मूर्तिकला, शिल्पकला, नदीसंस्तरण कला, समुद्रसंस्तरण कला, इन्द्रजाल विद्या, कुहकप्रयोगविद्या, छन्दकला आदि महत्त्वपूर्ण विद्याएं प्रचलित थीं। ब्राह्मण वर्ग में पौरोहित्य कला, से सम्बन्धित स्मार्त-विद्या, पुराणविद्या, निमित्तविद्या, श्रुतिविद्या, त्रिविद्या आदि विशिष्ट विद्याओं में दक्षता प्राप्त की जाती थी।^१ स्त्री लक्षण तथा पुरुष लक्षण भी विद्या के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।^२ आयुर्वेद की विभिन्न शाखाएं भी स्वतन्त्र विद्या में रूप में विकसित होने लगीं थीं।^३ बराह्मणचरित में व्यायाम विद्या का भी विशिष्ट विद्या के रूप में उल्लेख आया है।^४

चौदह वैदिक विद्याओं में पारङ्गत ब्राह्मण अपनी शैक्षिक योग्यता के बल पर श्रोत्रिय, पौराणिक, स्मार्तिक भौहृतिक आदि के रूप में गुरु-पुरोहित आदि का व्यवसाय कर सकते थे।^५ इसी प्रकार के शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देने वाले 'चापाचार्य' आदि विभिन्न व्यावसायिक पदों का अस्तित्व बन चुका था।^६ संग्राम-विद्या इस युग में बहुत लोकप्रिय विद्या रही थी, इस कारण संग्राम सम्बन्धी अनेक

१. त्रिषष्टि०, २.६.२३२-४४ तथा २.६.२२५

२. लक्षणानि पुरुषस्य योषितः । —पद्मा०, १०.७८

३. पद्मा०, ६.१७, त्रिषष्टि०, २.३.२०

४. व्यायामविद्यासु कृतप्रयोगाः । —बराह्मण०, २.१६

५. तत्र किं श्रोत्रियोऽसि त्वमसि पौराणिकोऽथवा ?
स्मार्तो वा ? भौहृतो वाऽसि, त्रिविद्याविदुरोऽसि वा ?

—त्रिषष्टि०, २.६.२३३

६. चापाचार्योऽसि यदि वा ? चर्मोऽसि चतुरोऽसि वा ?
किं वा प्राप्ते कृताभ्यासः ? शल्ये वा प्राप्तकोशलः ?
यद्धा गदायुधक्षोऽसि शक्तौ वा ? मुसले कुशलोऽसि वा ?
निरर्गलो लाङ्गले वा ? चक्रे वा प्राप्तविक्रमः ?
कृपाण्यां निपुणोऽसि वा ? बाहुयुद्धेऽथवा पटुः ? —वही, २.६.२३४-३६

महत्त्वपूर्ण व्यवसाय भी शिक्षा के साथ सम्बद्ध थे।^१ वास्तुकला,^२ तथा अन्य ललित कलाओं आदि^३ का भी समाज में व्यावसायिक महत्त्व विशेष रूप से प्रतिष्ठित था। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में जितने भी उच्चस्तरीय अध्ययन विषय थे उनकी केवल मात्र जानार्जन की दृष्टि से ही नहीं अपितु व्यावसायिक दृष्टि से भी प्रासङ्गिकता बनी हुई थी। राज्य संस्था भी इनकी दक्षता से विशेष लाभान्वित होती थी।

५. उच्चस्तरीय अध्ययन विषय

जैन संस्कृत महाकाव्यों के स्रोतों से तत्कालीन समाज में शिक्षा संस्था से सम्बद्ध जिन उच्चस्तरीय अध्ययन विषयों के अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी गतिविधियों की सूचना मिलती है उनका सम्बन्ध किसी एक समुदाय अथवा वर्ग की शिक्षा चेतना से नहीं अपितु शिक्षा संस्था के एकीकृत समग्र रूप से है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मध्यकाल में बौद्धिक परम्परा के अनुतार चली आ रही शिक्षा व्यवस्था समाज में अत्यधिक लोकप्रिय बनी हुई थी। जैनानुयायी भी इस व्यवस्था से जुड़े हुए थे। जैन कवियों की रचनाओं से सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे रामायण, महाभारत, कालिदास, माघ, भारवि, भट्ट, वाक्पति, हर्ष, बाण की रचनाओं को पढ़ते थे। व्याकरण, नाटक, ज्योतिष, नक्षत्रविज्ञान, काव्यशास्त्र, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र आदि का भी जैन विद्वान् विशेष अध्ययन करते थे। अलोल्य काल में उच्चस्तरीय अध्ययन विषयों की अध्ययनपद्धति, पाठ्यक्रम आदि की स्थिति इस प्रकार थी—

१. वेद^४—वेद के अन्तर्गत चारों वेदों का अध्ययन समाविष्ट होता था

१. यद्वाऽवहृदयज्ञोऽसि ? गजशिक्षाक्षमोऽसि वा ?
किं व्यूहरचनाचार्यः ? किं वाऽसि व्यूहभेदकः ?
किं वा रथादिकर्ताऽसि वा ?
रथादिप्राजकोऽसि वा ?
विचित्रयन्त्रदुर्गादिरचनाचतुरोऽसि वा ? —वही, २.६.३३५-३७
२. चैत्यप्रासाद-हर्म्यविनिर्माणनिपुणोऽसि वा ? —वही, २.६.३३६
३. किं वा वीणा प्रवीणोऽसि किं वेणुनिपुणोऽसि वा ?
पटुः पटहवाद्ये वा ? मर्दले वाऽसि दुर्मुदः ?
यद्वा वाग्गेयकारोऽसि ? किं शिक्षागायनोऽसि वा ?
रङ्गाचार्योऽथवाऽसित्वं किं नाटक नटोऽसि वा ?—वही, २.६.२४१-४२
४. आदि०, १६.११८; परि०, १३.८; द्वया०, १.१.१२२; १६१, १३.४७, १५. १२०-२१

तथा चारों वेदों के ज्ञाता को 'चतुर्वेदः' संज्ञा दी जाती थी ।^१ वैदिक पाठों का भी अध्ययन किया जाता था ।^२ ऋग्वेद के 'शाकल'^३ यजुर्वेद के 'कठ' पाठों^४ का भी उल्लेख आया है । इन वैदिक पाठों के अतिरिक्त 'वाजसनेय', 'खाण्डकीय', 'शौनक', 'श्रीख', 'छामलेयी'^५ 'छान्दोग्य', याज्ञिक्य', 'वाह्व्य', 'श्रीकण्विक्य', 'आथर्वण' तथा 'काठक' आदि वैदिक पाठों का भी द्वायाश्रय महाकाव्य में उल्लेख आया है ।^६

२. वेदांग^७ —निरुक्त,^८ शिक्षा,^९ व्याकरण,^{१०} कल्प,^{११} ज्योतिष^{१२} तथा छन्द^{१३} को 'षडंग' संज्ञा भी दी गई है । निरुक्त को 'अनुपदिक'^{१४} कहा गया है । इसके अतिरिक्त कर्मकाण्डविद्या के अन्तर्गत 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञ उल्लेखनीय हैं ।^{१५} उपर्युक्त 'षडंगों' में से निरुक्त का शब्दव्युत्पत्ति, शिक्षा का वैदिक उच्चारण, व्याकरण का वैदिक शब्दानुशासन, कल्प का याज्ञिक कर्मकाण्ड, ज्योतिष का ग्रहनक्षत्रादि तथा छन्द की मन्त्र रचना की दृष्टि से उपादेयता थी ।^{१६} वेदांगों के माध्यम से वेदों का अध्ययन-अध्यापन भी किया जाता था ।

३. व्याकरण^{१७} —वेदाङ्गों में वेदों की दृष्टि से व्याकरण का महत्त्व तो था ही । इसके अतिरिक्त लौकिक संस्कृत के अध्ययन की दृष्टि से भी जैन संस्कृत महाकाव्यों में व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार किया गया है । द्विसन्धान महाकाव्य

१. परि०, १३.८
२. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 206
३. द्वाया०, १६.८५
४. वही, १६.८८
५. वही, १६.८९
६. वही, १६.८८
७. आदि०, २.४८; द्वाया०, २५.१२०
८. आदि०, २.४८
९. वही, २.४८
१०. वही, २.४८
११. आदि०, २.४८; द्वाया०, १५.१२०-२१
१२. आदि०, २.४८; द्वाया०, १६.९४
१३. आदि०, २.४८; द्वाया०, १६.४६
१४. द्वाया०, १५.११८
१५. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 207
१६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५७१-७२
१७. वराङ्ग०, २.५; द्विस०, ३.३६; आदि० २.४८; त्रिषष्टि०, २.३२२; द्वाया०, १६.१, १६.८८, १६.९२

के अनुसार अन्य विद्याओं के अध्ययन के अवसर पर भी व्याकरण का अभ्यास नहीं छोड़ा जाता था ।^१ प्रारम्भ में व्याकरण सिखाते समय 'सुप्', 'तिङ्' पदों के प्रयोग, पत्व-गत्व करण-विधि, सन्धि एवं विसर्ग-विधान आदि के अभ्यास कराए जाते थे ।^२ व्याकरणों के 'लाक्षणिक'^३, 'पदिक'^४ अथवा 'पदकार'^५ आदि पर्यायवाची नाम प्रचलित थे । व्याकरण का 'शब्दशास्त्र'^६ भी अपर नाम था । आदिपुराण में व्याकरण विद्या को 'पदज्ञान' से अभिहित किया गया है ।^७ इसी पुराण में 'स्वायम्भुव' नामक एक 'पदशास्त्र' (व्याकरण) ग्रन्थ का उल्लेख भी हुआ है ।^८ आदिपुराण के उल्लेखानुसार आदितीयङ्कुर वृषभदेव ने पदज्ञान (व्याकरण) रूपी दीपिकाओं से अपनी पुत्रियों को विद्याओं का अभ्यास कराया था ।^९ पाणिनि व्याकरण तथा वररुचि के वात्तिकों का हेमचन्द्र के समय में विशेष रूप से अध्ययन किया जाता था । व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करते समय सूत्रों और वृत्तियों का अध्ययन करना भी मुख्य था ।^{१०} नाम, आख्यात, निपात तथा अव्यय चार भागों में विभाजित कर व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कराया जाता था ।^{११}

४. भाषा तथा लिपि—शिक्षा जगत् में भाषा का विशेष महत्त्व होता है । आहारा संस्कृति का अधिकांश साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा जाता रहा । बौद्ध एवं जैन धाराओं का प्रारम्भिक साहित्य यद्यपि पाली एवं प्राकृत भाषा में ही लिखा जाता था किन्तु ५वीं-६ठी शताब्दी के उपरान्त जैन एवं बौद्ध लेखकों ने भी संस्कृत भाषा में भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था । जैन संस्कृत महाकाव्यों के समय तक संस्कृत पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी । संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत एवं अन्य देशीय भाषाओं का भी विकास होता रहा ।^{१२} लगभग तृतीय

१. तच्चापेऽपि न व्याकरणं मुमोच । —द्विस०, ३.३६

२. वही, ३.३६

३. द्वया०, १५.११८

४. द्वया०, ५.१२२

५. वही, १५.६७

६. त्रिषष्टि०, २.३.२२

७. आदि०, १६.११६

८. वही, १६.११२

९. नेमिचन्द्रशास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २८४-८५

१०. Narang, Dvayāśrayakāvya, p. 207

११. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २७१

१२. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १३७

चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व तक के बौद्ध साहित्य में ६४ प्रकार की लिपियों का उल्लेख हुआ है।^१ इनमें से महावस्तु अवदान नामक बौद्ध ग्रन्थ में भाषा विषयक ३३ लिपियों तथा लेखन शैलियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^२ बौद्ध साहित्य में उल्लिखित इन लिपियों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों से पूर्व ही भारत में विभिन्न प्रकार की लिपियों का अस्तित्व बना हुआ था।

पद्मानन्द महाकाव्य में लगभग १८ लिपियों के पढ़ने का उल्लेख आया है।^३ वराङ्गवर्तित^४ एवं द्विसन्धान^५ महाकाव्यों में भी लिपि को एक विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है। राजकुमार शिक्षा प्राप्त करते समय विभिन्न देशों की लिपियों का ज्ञान सम्भवतः इसलिए प्राप्त करते थे ताकि उन्हें राज्य प्रशासन में सुविधा मिल सके। द्वायाश्रय काव्य में शौरसेनी, शबरी, गोपाल गुर्जरी आदि प्राकृत भाषाओं का उल्लेख भी आया है।^६ बारहवीं तथा तेरहवीं सती ई० में कर्नाटक आदि प्रदेशों में कन्नड़, तेलगू, मराठी आदि भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन के संकेत भी प्राप्त होते हैं।^७

शिक्षा का माध्यम : संस्कृत भाषा

इस प्रकार मध्यकालीन भारत में विविध भाषाओं तथा लिपियों का सम्यक् विकास हो चुका था किन्तु शिक्षा का माध्यम मुख्य रूप से संस्कृत भाषा ही थी।

१. श्रंगने लाल, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, लखनऊ, १९६८, पृ० २२४

२. तु० — १. ब्राह्मी २. पुष्करसारी ३. खरोस्ती (खरोष्ठी) ४. यावनी (यूनानी) ५. ब्रह्मवाणी ६. पुष्पलिपि ७. कुतलिपि ८. शक्तिनलिपि ९. व्यंत्तर-लिपि १०. लेखलिपि ११. उकर १२. उत्तरकुष शैली १३. मधुर शैली १४. दरद शैली १५. उकरमधुटदरद (उत्तरकुरुमगधदरद शैली) १६. चीण शैली १७. हूण शैली १८. आपीरा (आभीर) शैली १९. बंगशैली २०. सीफला शैली २१. त्रिमिद शैली २२. दुर्दरा शैली २३. रमठ शैली २४. मया शैली २५. बैच्छेतुका शैली २६. गुल्मला शैली २७. कमूला २८. केतुका २९. हस्तदा शैली ३०. कुसुवा ३१. तलका ३२. जजरि ३३. अक्षरबद्ध शैली।

—महावस्तु अवदान, जिल्द १, १३५.५-७

३. अष्टादशाप्यथ लिपीरपीपठत्।

—पद्मा०, १०.७९

४. वराङ्ग०, २.६

५. द्विस०, ३.२४

६. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 137

७. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १३७

प्राकृत का स्थान गौण था यद्यपि प्राचीन प्राकृत आदि ग्रन्थों को समझाने के लिए इस का महत्व अवश्य था। संस्कृत भाषा द्विजवर्ग से ही पूर्णरूपेण सम्बन्धित थी। राजकुमारों तथा ग्रन्थ घनिक वर्गों के बालक संस्कृत भाषा का शिक्षा के माध्यम के रूप में अध्ययन करते थे। शिक्षा का माध्यम संस्कृत होने के कारण तथा संस्कृत उच्च वर्ग की भाषा होने के कारण तत्कालीन समाज में शिक्षा के सर्वाङ्गीण विकास में पर्याप्त बाधाएं भी उत्पन्न हुईं।^१ फलतः राजप्रासादों, घनिक वर्गों तथा आभिजात्य वर्गों तक ही शिक्षा का क्षेत्र सीमित हो चुका था। जनसाधारण की भाषा में शिक्षा के प्रसार के प्रति यद्यपि समाज के कतिपय वर्ग प्रयत्नशील तो थे किन्तु देश का शिक्षा जगत् उनके साथ नहीं था। इस सम्बन्ध में अल्तेकर महोदय की धारणा रही है कि “क्योंकि शिक्षा का माध्यम संस्कृत थी जो इस काल (पुराणों तथा निबन्धों का युग—५०० ई० से १२०० ई० तक) में जन-भाषा न रह गई थी। जनसाधारण में विद्या के प्रचार के लिए प्राकृत भाषाओं के विकास की दिशा में कोई सङ्गठित प्रयास न हुआ। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में ‘वशिष्टता’ की हद कर दी गई थी। उदाहरणार्थ इस काल के न्याय, गणित और अलङ्कार शास्त्रों के पण्डितों को एक दूसरे की समस्याओं और अनुसन्धानों का कुछ भी ज्ञान न था। इस काल की शिक्षाप्रणाली का मुख्य ध्येय था प्राचीन संस्कृति और साहित्य की रक्षा।”^२

५. दर्शन—जैन संस्कृत महाकाव्यों में चार्वाक,^३ तत्त्वोपल्लववाद,^४ बौद्ध-दर्शन,^५ सांख्यदर्शन,^६ मीमांसादर्शन^७, न्यायदर्शन^८ तथा जैन-दर्शन^९ के प्रमुख तत्त्वों की समीक्षा की गई है।^{१०} इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन

१. अल्तेकर प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १८१

२. वही, पृ० १८१

३. धर्म०, ४.६२-६५; पद्मा०, ३.१२४-३१; चन्द्र०, २.७१; द्वया०, १५.१२०-२१

४. चन्द्र०, २.४४-४८

५. वही, २.८६

६. पद्मा०, ३.१६२-६५, चन्द्र०, २.७४-८३

७. चन्द्र०, २.६१-६६; जयन्त०, १५.१८-२२; द्वया०, १५.१२४

८. द्वया०, १३.४६; त्रिषष्टि०, २.३.२२

९. वराङ्ग०, सर्ग २६; चन्द्र०, सर्ग १८; धर्म०, सर्ग १६ तथा २१; पद्मा०, सर्ग २, तथा १४; शान्ति०, सर्ग ३

१०. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३८१-४०३

शिक्षा में दर्शन विषय अत्यधिक लोकप्रिय रहा होगा। दर्शन की शाखाओं में 'न्याय' सर्वाधिक लोकप्रिय एवं अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से महत्वपूर्ण दर्शन बन चुका था। न्यायदर्शन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में उभर कर आया तथा तत्कालीन विद्याओं में 'तर्कशास्त्र' के रूप में प्रसिद्ध हो गया।^१ जैन महाकाव्यों के आधार पर विभिन्न दर्शनों के प्रमुख तत्त्वों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दर्शन विषयक अध्ययन-अध्यापन की दशा विशेष समृद्ध थी तथा पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के माध्यम से खण्डन-मण्डन पद्धति में विद्यार्थियों को निष्णात किया जाता था। दर्शन के क्षेत्र में प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे। इस कारण प्रत्येक दर्शन का विद्यार्थी 'न्याय' में विशेष परिश्रम करता था।^२ अन्तेकर महोदय का कथन है कि न्याय दर्शन के छात्र से अपने दर्शन में निपुण होना ही अपेक्षित न था अपितु अन्य दर्शनों के खण्डन करने के सामर्थ्य की भी उससे विशेष अपेक्षा की जाती थी।^३ इस कारण 'न्याय' दर्शन को शिक्षा में 'तर्कशास्त्र'^४ तथा 'प्रमाण शास्त्र'^५ के रूप में भी एक स्वतन्त्र विद्या का स्थान प्राप्त था। जैन कुमारसम्भव^६ में न्याय के १६ तत्त्वों—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निगूँय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान^७ का उल्लेख आया है। आदिपुराण के अनुसार न्याय के अन्तर्गत द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य आदि सप्त पदार्थों का अवबोध कराया जाता था।

६. राजनीतिशास्त्र^८—राजतन्त्र से सम्बन्धित विद्या के अन्य पर्यायवाची नाम राजविद्या,^९ अर्थशास्त्र^{१०}, दण्डनीति^{११}, क्षत्रविद्या^{१२} आदि प्रचलित थे।

१. तत्राशेषाः कला न्यायं शब्दशास्त्रादि चापरम् ।

—त्रिषष्टि०, २.३.२२

२. अन्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० ११८

३. वही, पृ० ११८

४. द्वया०, १३.४६

५. त्रिषष्टि०, २.३.२७

६. जैन कुमारसंभव, १०.६४

७. वही, धर्मशेखरकृत टीका, पृ० ३५२

८. द्विस०, २.८; त्रिषष्टि०, २.३.३६; द्वया०, १५.२०

९. राजविद्यया—ग्रान्वीक्षिकी-अथी-वार्ता-दण्डनीति-लक्षणया ।

—नेमिचन्द्रकृत पदकोमुदी टीका, द्विस०. २.८, पृ० २६

१०. त्रिषष्टि०, २.३.२६

११. Narang, Dvayāśrayakāvya, p. 208

१२. द्वया०, १५.१२०

राजविद्या के अन्तर्गत आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति का अध्ययन कराया जाता था ।^१ द्विसन्धान की टीका के अनुसार आन्वीक्षिकी आत्मविज्ञान को कहते हैं,^२ इसका शिष्ट-जन उपदेश करते थे ।^३ त्रयी के अन्तर्गत धर्माधर्म-विवेक आता है,^४ इसकी शिक्षा मुनियों द्वारा दी जाती थी ।^५ वार्ता के अन्तर्गत लाभ-हानि आदि की चर्चा होती है,^६ इस विद्या की शिक्षा अमात्य आदि उच्चाधिकारी देते थे ।^७ दण्डनीति का न्याय-अन्याय से सम्बन्ध होता था,^८ इस विद्या की शिक्षा देने वाले न्यायाधीश अथवा शासकादि होते थे ।^९ द्वयाश्रय काव्य में राजनीति शास्त्र से सम्बद्ध त्रिविद्या का उल्लेख हुआ है । इसके अन्तर्गत वार्ता, त्रयी तथा दण्डनीति का ही विधान किया गया है ।^{१०} वास्तव में द्वयाश्रय काव्य द्वारा प्रतिपादित तीन विद्याओं का ही राजनीति शास्त्र से विशेष सम्बन्ध है । आन्वीक्षिकी अर्थात् आत्म विज्ञान को अध्यात्मिक विद्या जानकर परवर्ती आचार्यों ने राजनीति शास्त्र में इस विद्या को स्थान नहीं दिया होगा । हेमचन्द्र ने अर्थशास्त्र की विषयवस्तु की विवेचना करते हुए इस विद्या के अन्तर्गत षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्विधीभाव, संश्रय) तथा तीन शक्तियों (प्रभू, मन्त्र, उत्साह) को स्वीकार किया है ।^{११} उशनस् नीतिशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी । कुमारपाल को उशनस् नीति-शास्त्र का ज्ञान था ।^{१२}

१. द्विस०, २.८ पर, पदकौमुदी टीका, पृ० २६

२. आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानम् । —द्विस०, ३.२५ पर पदकौमुदी टीका में उद्धृत कामन्दक नीतिशास्त्र, २.७

३. आन्वीक्षिकीं शिष्टजनात् । —द्विस०, ३.२५

४. धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । —द्विस०, ३.२५ पर उद्धृत का० नी० २.७

५. यतिभ्यस्त्रयीम् । —द्विस०, ३.२५

६. अर्थानि यौ तु वार्तायाम् । —द्विस०, ३.२५ पर उद्धृत का० नी० २.७

७. वार्तामधिकारकुद्भ्यः । —द्विस०, ३.२५

८. दण्डनीत्यां नयानयो । —द्विस०, ३.२५ पर उद्धृत का० नी० २.७

९. वक्तुः प्रयोक्तुश्च स दण्डनीतिः । —द्विस०, ३.२५

१०. Narang, Dvayāśraya, p. 208

११. षाड्गुण्योपायशक्त्यादिप्रयोगोर्मिभिराकुलम् ।

अगाहिष्ट स दुर्गाहमर्थशास्त्रमहोदधिम् ॥

—त्रिषष्टि०, २.३.२३

१२. द्वया०, १६.३

७. साहित्यशास्त्र^१ —साहित्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन के अन्तर्गत काव्य-शास्त्र एवं सृजनात्मक काव्यरचना का अध्यापन सम्मिलित था।^२ जैन संस्कृत महाकाव्यों के प्रारम्भिक सर्गों में कवियों द्वारा काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी परिचय कराया गया है।^३ इन काव्य सिद्धान्तों में काव्य के गुणों, दोषों तथा अन्य काव्य सम्बन्धी नवीन मान्यताओं का तत्कालीन सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रहा था। काव्यविद्या की शिक्षा देते समय आचार्य राजकुमारों को उत्प्रेक्षादि शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों, अर्थस्फुटत्व एवं उद्देश्यपरक काव्य की रचना कराने का अभ्यास भी करते थे।^४ आदिपुराण,^५ वराङ्गचरित,^६ द्वयाश्रय^७ आदि महाकाव्यों में राजकुमारों को 'काव्यविद्या' की शिक्षा देने के उल्लेख प्राप्त हुए हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों तथा उनके काव्य ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। राजस्थान आदि प्रदेशों में जैन कवि कालिदास, माघ, भारवि, भट्टि, वाक्पति तथा हर्ष की रचनाओं का विशेषरूप से अध्ययन करते थे।^८ स्वयं माहामात्य वस्तुपाल ने 'नर-नारायणानन्द' महाकाव्य की रचना की थी। इसके अतिरिक्त द्विसन्धान महाकाव्य, द्वयाश्रय महाकाव्य, तथा सप्तसन्धान महाकाव्यों के पाण्डित्य प्रदर्शन एवं देवानन्द तथा शांतिनाथचरित महाकाव्यों की समस्यापूर्तिपरक प्रतिभा को देखकर यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि यद्यपि ८वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक की काव्य साधना कृत्रिम थी तथापि अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में निःसन्देह इस युग को भी काव्य का सृजनात्मक युग माना जाना चाहिए। शब्द-कीड़ा एवं वाग्बिलास इस युग की महत्त्वपूर्ण काव्य प्रवृत्तियाँ रहीं थीं।

८. युद्धविद्या^९ —आलोच्य महाकाव्य युग में युद्धविद्या की शिक्षा राजकुमारों के लिए अनिवार्य विद्या के रूप में दृष्टिगत होती है। युद्ध विद्या के अन्तर्गत

१. त्रिषष्टि०, २.३.२५

२. साहित्यवल्लीकुसुमैः, काव्यैः कर्णरसायनैः।

—वही, २.३.२६

३. वसन्तविलास, सर्ग-१, कीर्ति०, १.१-२६, वराङ्ग०, १.६, आदि०, १.६२-६६

४. वही

५. आदि०, १६.१११

६. वराङ्ग०, २.६

७. द्वया०, १५.१२०-२१

८. Sharma, Dashratha, Rajasthan Through the Ages, p. 514

९. त्रिषष्टि०, २.३-३५-३७

धनुर्विद्या, खड्गविद्या, क्षुरिविद्या, गजविद्या, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या तथा वाहनविद्या आदि का उल्लेख आया है। युद्ध सम्बन्धी विद्याओं में विशेष नैपुण्य प्राप्त करने के लिए पृथक् रूप से विभिन्न गुरुओं की नियुक्ति की जाती थी। धनुर्वेदादि इन विभिन्न युद्ध विद्याओं की शिक्षण पद्धति को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. सिद्धान्तपक्ष तथा २. व्यावहारिक पक्ष। सर्वप्रथम आचार्यों द्वारा उस विद्या विशेष से सम्बन्धित वस्तुओं का लाक्षणिक अथवा परिभाषागत सैद्धान्तिक स्वरूप समझाया जाता था। गजशास्त्र, अश्वशास्त्र आदि शास्त्रों के द्वारा उस विद्या के तात्त्विक स्वरूप को समझ लिए जाने के उपरान्त पुनः राजकुमारों को व्यावहारिक रूप से भी उस विद्या का प्रायोगिक अभ्यास कराया जाता था।^१ युद्ध विद्या सम्बन्धी शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

(क) धनुर्विद्या—यह विद्या 'धनुर्वेद'^२ के नाम से प्रसिद्ध थी। 'चाप विद्या'^३ से भी इसी विद्या की ओर संकेत किया गया है। विविध प्रकार के बाणों को चलाने आदि की शिक्षा 'चापविद्या' के अन्तर्गत आती थी। गुरु राजकुमार को सर्वप्रथम धनुष विद्या की सिखाते हुए चरणविन्यास, ज्यास्फालन, लक्ष्यसन्धान, तथा बाणविसर्जन सम्बन्धी अभ्यास कराते थे।^४ चापविद्या के अभ्यास के समय शब्द-वेधी बाणों को चलाना तथा व्यूह रचनाओं में नैपुण्य प्राप्त करना भी आवश्यक था।^५ प्रायः राजकुमार धनुष चलाने में इतने अभ्यस्त हो जाते थे कि ज्यास्फालन के अवसर पर सारा धनुष मुड़कर वृत्ताकार हो जाता था।^६ गुण-आहिता, नमनशीलता, शुद्ध बांस से निर्मित होना आदि उत्कृष्ट धनुष की विशेषताएं मानी गई हैं तो अत्यन्त सीधापन, तीक्ष्णता एवं अधिक लम्बा होना उत्कृष्ट बाण के लक्षण स्वीकार किए गए हैं।^७ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के अनुसार राधावेधन, शब्दभेदन, जलनिहितलक्ष्यभेदन, चक्रवेधन तथा भूतिकापिण्ड भेदन आदि बाण चलाने के विविध प्रकार के अभ्यास प्रचलित थे।^८

१. द्विस०, ३.३६; त्रिषष्टि०, ३.६.२३४-३६

२. त्रिषष्टि०, २.३.३४

३. द्विस०, ३.३५, ३६, ३७; त्रिषष्टि०, २.३.५०

४. पदप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धी विसर्गे च कृतावधानम्। —द्विस०, ३.३६

५. द्विस०, ३.३७

६. वही, ३.३८

७. वही, १.४०

८. त्रिषष्टि० २.३.५०

(ख) खड्गविद्या^१—खड्ग (तलवार) चलाने की विविध कलाओं का ज्ञान कराना,^२ खड्ग चलाते समय पावों की गति तथा उसकी धार का निरीक्षण करना,^३ आदि खड्गविद्या के अभ्यास कार्य होते थे। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में छुरीविद्या^४ का भी पृथक् उल्लेख आया है।

(ग) शस्त्रविद्या^५—ऐसा प्रतीत होता है कि विविध प्रकार के आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक आयुधों के प्रयोग का अभ्यास शास्त्रप्रतिपादित नियमों के अनुसार किया जाता था।^६ राजकुमार सगर द्वारा धनुष, फलक, (ढाल), असि, छुरी, शल्य, परशु, कुन्त, भिन्दिपाल, गदा, कम्पन, दण्ड, शक्ति, शूल, हल, मूसल, यष्टि, पट्टिस, दुःस्फोट, भुशुण्डी, गोफणि, कणाय, त्रिशूल, शंकु, आदि शस्त्रास्त्रों को चलाने का अभ्यास किया गया।^७ कुन्त, शक्ति, शर्वला आदि प्रहरणात्मक शस्त्रों अथवा अस्त्रों को बहुत वेग से घुमाकर आकाश की ओर फेंका जाता था। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के शस्त्रों का प्रशिक्षण 'शस्त्रविद्या' द्वारा प्राप्त किया जा सकता था।^८ 'शस्त्र विद्या' सामान्यतया विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र संचालन से सम्बद्ध थी परन्तु 'खड्गविद्या' एवं 'धनुविद्या' तलवार और तीर अम्दाजी से सम्बद्ध विशिष्ट विद्याएं रही थीं। वराङ्गचरित के अनुसार पांच प्रकार के आयुधों का अभ्यास भी विशिष्ट विद्या के रूप में किया जाता था।^९

(ख) कला

१. सङ्गीत कला

उच्च अध्ययन विषय के रूप में तथा जनजीवन के मनोरञ्जन की दृष्टि से सङ्गीतकला का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा था। धनिक वर्ग के प्रसादों^{१०} में तथा देवालयों^{११} में सङ्गीत साधना का सतत अभ्यास होता रहता था।^{१२} राज्य के

१. वराङ्ग०, ११.७४, त्रिषष्टि०, २.३.५१
२. वही, २.३.५०
३. वही, २.३.५१
४. वही, २.३.५३
५. वराङ्ग०, २.७, त्रिषष्टि०, २.३.५२, हम्मीर०, १.७७
६. त्रिषष्टि०, २.३.३५
७. त्रिषष्टि०, २.३. ३५, ३६-३७
८. वही, २.३.५२
९. पंचायुधे शास्त्रपरीक्षणे वा । —वराङ्ग०, ११.७४
१०. सङ्गीतध्वनिमुखरैविराजमाना प्रसादः । —चन्द्र०, १६.६
११. भुवङ्गीतध्वनितुङ्गशालम् । —वराङ्ग०, २२.५६
१२. पदे पदे नाटकानि, सङ्गीतानि पदे पदे । —त्रिषष्टि०, २.२. ५६६

महत्त्वपूर्ण अवसरों^१ पर तथा सज्जीत गोष्ठियों में सज्जीत कला का शास्त्रीय रूप भी विशद हुआ है।^२ सज्जीत विशारद विशेष उत्सवों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।^३ इसके अतिरिक्त राज्य के दैनिक क्रियाकलापों में भी सज्जीत का विशेष स्थान था। सज्जीत के विविध वाद्य यंत्रों में तूर्य (तुरही) पटह (नगाड़ा) आदि वाद्ययंत्र विविध राजकीय गतिविधियों की सूचना देने के महत्त्वपूर्ण साधन थे। हम्मीर महाकाव्य में उल्लेख आया है कि मृदङ्ग आदि से बन्दीगण प्रातःकाल होने की सूचना देते थे।^४ चन्द्रप्रभचरित के अनुसार राजा के प्रस्थान की सूचना देने वाले मृदङ्ग आदि वाद्य यंत्रों से नगर-वासियों को सचेत किया जाता था। पटह आदि वाद्य यंत्रों से युद्ध-प्रयाण की सूचना दी जाती थी।^५ देव मन्दिरों में पूजा के अवसर पर भी सज्जीत एवं नृत्य प्रयोग द्वारा आराध्य देव को प्रसन्न करने की विशेष प्रवृत्ति रही थी।^६ सज्जीत गोष्ठी आदि क्रिया-कलापों का सम्बन्ध विषुद्ध रूप से मनोरंजन से जुड़ा हुआ था। हम्मीरमहाकाव्य में इस प्रकार की सज्जीत गोष्ठी के आयोजन का उल्लेख आया है जिसका उद्देश्य सैनिकों का मनोरंजन करना था।^७

वाद्य यंत्र

विभिन्न धार्मिक महोत्सवों, रण-प्रयाणों, सज्जीत-गोष्ठियों आदि अवसरों पर विविध प्रकार के वाद्य यंत्रों का प्रायः प्रयोग होता था जिनमें मृदङ्ग, बीणा, वेणु, पटह, भेरी, वल्लकी, तूर्य आदि वाद्ययंत्र विशेष रूप से लोकप्रिय थे। जैन संस्कृत महाकाव्यों में निम्नलिखित वाद्य यंत्रों का उल्लेख आया है—

१. महोत्सववाद्यमिव । —नरनारा०, ५.४६, तथा तु०—

वरवंशमृदङ्गगीतशब्दान् भुरजध्वनिर्विमिश्रितांसरागान् ।

—वराङ्ग०, २४.५

२. गीतमृदङ्गध्वनिवेणुवल्लकीनादानुगैर्माद्यतु मेदिनीपते ।

—पद्मा०, ३.१३३

३. गन्धर्वगीतश्रुतितालवंशमृदङ्गबीणापणवादिमिश्रैः । —वराङ्ग०, २३.१०

४. मार्दङ्गिकैस्तावदवादि सद्यः प्रत्युषसूचा सुभगो मृदङ्गः ।

—हम्मीर०, ८.७

प्रबोधसमये तवोत्ससितकालमार्दङ्गिकाङ्कितः । —वसन्त०, ६.४४

५. द्रष्टव्य-प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १५७

६. वही, पृ० ३३६

७. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २५०

१. भेरी ^१	२. मृदङ्ग ^२	३. कसाल ^३
४. काह्ला ^४	५. शंख ^५	६. वेणु ^६
७. वीणा ^७	८. ढक्का ^८	९. पणव ^९
१०. त्रयं ^{१०}	११. शृङ्ग ^{११}	१२. पटह ^{१२}
१३. बल्लकी ^{१३}	१४. माड्डुक ^{१४}	१५. भर्भर ^{१५}
१६. डमरुक ^{१६}	१७. यका ^{१७}	१८. विक्वणि ^{१८}
१९. तन्त्री ^{१९}	२०. दुन्दुभी ^{२०}	२१. भल्लर ^{२१}

१. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; द्वया०, ३.६६; वराङ्ग०, १७.४०, २३.४, १३;
२. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; द्वया०, १५.६६; पदमा०, ३.१३३; हम्मीर०, १३.३३; प्रद्यु०, १७.४७; द्विस०, ४.२४; वराङ्ग०, २३.१०
३. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०
४. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; द्वया०, ६.१६
५. वराङ्ग० (वर्ध), ६.१०; द्वया०, ५.१३६; वसन्त०, ८.३५; वराङ्ग०, १७.४०, २३.१३
६. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; पार्श्व०, ११.३३; द्वया०, ३.३८, पदमा०, ३.१३३ हम्मीर०, १३.१३; धर्म०, ५.५३
७. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; पार्श्व०, ११.३३; द्वया०, ३.३८; हम्मीर०, १३.१३; प्रद्यु०, १७.४७
८. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०, द्वया०, ६.१६
९. वही, ८.१०
१०. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; कीर्ति०, ६.२; धर्म०, १७.१०
११. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; पदमा० ७.१५८
१२. वराङ्ग० (वर्ध), ८.१०; पार्श्व०, १०.६६; वसन्त०, १०.७१, चन्द्र०, १५.१; वराङ्ग०, १७.४०; धर्म०, १७.३४; द्विस०, ४.२२
१३. पार्श्व०, ६.८४; पदमा० ३.१३३; धर्म० ५.५३
१४. द्वया०, १७.३५
१५. वही, १७.३५
१६. द्वया०, ७.१३; वसन्त०, १०.२६
१७. द्वया०, ६.१६
१८. द्वया०, १२.६३
१९. वही, १०.२५
२०. द्वया०, ५.१३६
२१. वही, ८.१३; Narang, Dvayāśrayakāvya, p. 205

२२. ताल ^१	२३. भल्लरी ^२	२४. घण्टिका ^३
२५. वंश ^४	२६. मर्दल ^५	२७. हल ^६
२८. पणव ^७	२९. घण्टा ^८	३०. मुरज ^९

वीणा-भेद

वाद्य यंत्रों में वीणा अत्यधिक लोकप्रिय यन्त्र रहा है। नेमिचन्द्र शास्त्री ने जैन कुमारसंभव के टीकाकार जयशेखरसूरि के कथनानुसार चौदह प्रकार की वीणाओं का उल्लेख किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) नकुलोष्ठी (२) किन्नरी (३) शततन्त्री (४) जयाहस्तिका (५) कुब्जिका (६) कच्छपी (७) घोषवती (८) सारङ्गी (९) उदुंबरी (१०) तिसरी (११) द्विवरी (१२) परिवादिनी (१३) भालाविणी तथा (१४) वल्लकी।^{१०}

स्वर-राग एवं मूर्च्छनाएं

सङ्गीतशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार सप्त स्वर, उनचास राग एवं इक्कीस मूर्च्छनाएं प्रसिद्ध हैं। प्रासङ्गिक रूप से जैन महाकाव्यों में भी इन शास्त्रीय परिभाषाओं पर यत्र तत्र प्रकाश डाला गया है। तत्सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार है—

१. सप्त स्वर—पद्मानन्द महाकाव्य में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद—इन सप्त स्वरों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मयूर-

१. वराङ्ग० (वर्ध), ११.६२; वराङ्ग०, २३.१०; द्रया०, २.७१

२. धर्म०, १८.४५; वसन्त०, १०.७१

३. वसन्त०, १०.७१

४. वराङ्ग०, १७.४०, २३.१०

५. वही, १७.४०, २३.१३

६. वही, १७.४०, २३.९

७. वही, १७.४०, २३.१०

८. वराङ्ग०, १७.४०

९. वही, २४.५ तथा वाद्ययन्त्रों के विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य—नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३१५-२०; सुषमा कुलश्रेष्ठ, कालिदास साहित्य एवं वादनकला, दिल्ली, १९८६, पृ० २७-१९६

१०. नेमिचन्द्र शास्त्री संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ५९९; सुषमा कुलश्रेष्ठ, कालिदास साहित्य एवं वादन कला, पृ० ३५-५४

ध्वनि के समान षड्ज,^१ वृषभ की डकार के समान ऋषभ,^२ बकरी की ध्वनि के समान गान्धार,^३ क्रौंच पक्षी की ध्वनि के समान मध्यम,^४ कोकिल की कूँज के समान पञ्चम,^५ अश्व की हिनहिनाहट के समान धैवत^६ तथा हाथी की चिंघाड़ के समान निषाद स्वर^७ होते हैं ।^८

२. चतुर्विध ध्वनि—पद्मानन्द महाकाव्य में ही वाद्ययंत्रों से चार प्रकार की ध्वनियों (चतुर्विधातोद्यचतुरता) के मुखरित होने का संकेत भी प्राप्त होता है ।^९ वीणा आदि वाद्यों से तत्, तालादि से धन, वंशादि से शुषिर, तथा मुरजादि से आनन्द ध्वनियों का प्रतिस्फुरण ही 'चतुर्विधातोद्यचतुरता' के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है ।^{१०}

२. नृत्यकला

सङ्गीतकला के साथ गायन एवं नृत्य का भी अभिन्न सम्बन्ध है । जैन महाकाव्यों में सङ्गीत के आयोजन के साथ गायन आदि का विशेष वर्णन हुआ

१. केऽपि केकिवपुषः कलषड्जाराविणः प्रननूतुः । —पद्मा०, ८.६०

२. लक्षणाद् वृषभतो वृषभाख्या । —वही, ८.६६

३. रोमकोमलतरं दधतो गान्धारगानमिव । —वही, ८.६१

४. क्रौञ्चरूपमुपचर्य चुकूजर्मध्यमध्वनित । —वही, ८.६२

५. रेजिरे रचितपञ्चमगानाः क्लृप्तकोकिलवपुः प्रतिमानाः ।

—वही, ८.६३

६. धैवतध्वनिमनोरमवस्वीभूय भूरिकृतहेषितहर्षाः । —वही, ८.६४

७. सम्मदोदित-निषादमिनादाः । —वही, ८.६५

८. सप्त ध्वनियों की व्याख्या के लिए तु०—

“नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वं दन्ताश्च संस्पृशन् ।

षड्भ्यः सञ्जायते यस्मात् तस्मात् 'षड्ज' इति स्मृतः ॥

षड्जं वदति मयूरो, ऋषभं गाव एव च ।

अजा वदति गान्धारं, क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ॥

वसन्तकाले सम्प्राप्ते कोकिलो वदति पञ्चमम् ।

धैवतं हेषते बाजी, निषादं कुञ्जरः स्वरम् ॥”

—पद्मा०, ८.६०, पृ० १८४ पर उद्धृत

९. एते तव गन्धर्वाश्चतुर्विधातोद्यचतुरताप्रचुराः । —पद्मा०, ४.३२

१०. आतोद्यस्य —वादित्रस्य चतुर्विधता यथा वीणाप्रभृतिकं ततं,
तालप्रभृतिकं धनं, वंशादिकं शुषिरं, मुरजादिकं आनन्दं च ।

—वही, ४.३२, पृ० ६७

है। धार्मिक महोत्सवों तथा मनोरञ्जनार्थ आयोजित सङ्गीत-गोष्ठियों में नृत्य-प्रदर्शन का विशेष प्रचलन रहा था।^१ नृत्य के अवसर पर नर्तकी द्वारा कटाक्षादि चेष्टाएं एवं वस्त्रापनयपूर्वक श्रंग प्रदर्शन आदि का भी अभिनय किया जाता था।^२ स्तन-मण्डल पर पटह धारण कर नृत्य करना, भौहों को चलाना, नेत्रों को विलासपूर्ण बनाना, स्तनों को कम्पित करना, हाथों को उठाना, सुन्दर चरण विन्यास, आदि नृत्य की विशेष मुद्राएं प्रचलित थीं।^३ यशस्कीति कृत सन्देहबान्त टीका के अनुसार भ्रूभङ्गनृत्य सात प्रकार का, नेत्र-पक्ष नृत्य छब्बीस प्रकार का, नासिका अश्वर तथा कपोल नृत्य छह-छह प्रकार का शिर-नृत्य तेरह प्रकार का, शीवा-नृत्य नौ प्रकार का, उरु-नृत्य पांच प्रकार का, पार्श्व तथा उदर-नृत्य तीन प्रकार का; हस्त-नृत्य चौसठ प्रकार का, बाहु-नृत्य दश प्रकार का; कराभिनय पूर्ण नृत्य बीस प्रकार का, कटि-नृत्य पांच प्रकार का; पाद-नृत्य छह प्रकार का तथा पद-विन्यासपरक नृत्य बत्तीस प्रकार का होता था।^४ हम्मीर महाकाव्य में लास्य,

१. स्तोत्रैर्नृत्यप्रगीतैरुजयनिनदैर्वंशवीणासुदङ्गैः । —प्रद्यु०, १४.४७

गन्धर्व-गीत-श्रुति-ताल-वंशमृदङ्ग-वीणापरावादिभिर्भैः ।

लास्य-प्रयोगेष्वथ ताण्डवेषु स्वाथोऽय-चित्रं ननृतुस्तरुण्यः ॥

—वराङ्ग०, २३.१०

२. वस्त्राण्युत्संबृणोति स्म प्रवनूय न भयान्न कः । —हम्मीर १३.२,

मृगनाभिस्फुरन्नाभि यदङ्गरामराजत । —वही, १३.८

मियोऽपि स्पर्धया वर्धमानत्वादिव संयते ।

दृढं चोलान्तरीयाम्भ्यां स्तनश्रोणी प्रविभ्रति ॥

वपुर्वल्लिविलासेन मूर्च्छयन्तीव कामिनः । —वही, १३.१५, १६

३. एकया गुरुकलत्रमण्डले घृष्टकामुक इवाधिरोपितः ।

वलिगतभ्रून्वविभ्रमेषणं वेपितस्तनमुदस्तहस्तकम् ।

चारुचित्रपदचारमेकया नतिस्मरमनति तत्पुरः ॥

—धर्म०, ५.५४-५५

४. सप्तप्रकारनतितभ्रूलतं, षड्विंशतिप्रकारचाजितलोचनं, नवविनतितकानी-निकं, षट्प्रकाराश्वरं, षट्प्रकारनासिकं, षट्प्रकाराश्वरं, षट्प्रकारकपोलं, सप्तप्रकारचिबुकं, नवप्रकारलोचनपक्षमुष्टं, तथा त्रयोदशविधं शिरोनृत्यं, पश्चात् पूर्वोक्तानि तथा मुखच्छायाशृङ्गाररीद्रात्मभेदेन चतुर्धा तथा रङ्ग-मण्येज्जटी वीक्षणगुणा, नवप्रकारं शीवानृत्यं... तथा पार्श्वनृत्यं च तयोदरं त्रिविधं चतुःषष्टिप्रकारं हस्तकनृत्यं तथा बाहुनृत्यं दशविधं तथा करकर्माणि विंशतिः, कटीनृत्यं पंचविधं तथा पंचविधाजङ्घा तथा पादकर्म षड्विधं तथा द्वारित्रिंशत्पादचारिकाः ।

—धर्म०, ५.५५ पर यशस्कीतिकृत टीका, पृ० ८७

ताण्डव, मयूरासनबन्ध शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त नृत्यावसर पर नर्तकी द्वारा तीन गोलकों को उछालते हुए तथा अंगुली के अग्रभाग पर चक्र चलाते हुए विभिन्न प्रकार के आश्चर्यजनक कर्तव्यों के प्रदर्शन करने का वर्णन भी आया है।^१ इसी प्रकार वराङ्गचरित, पद्मानन्द आदि महाकाव्यों में लास्य, ताण्डव आदि नृत्यों का उल्लेख आया है।^२ वर्धमान चरित में अलसाई हुई वधुओं द्वारा नृत्य करने का वर्णन है।^३ पद्मानन्द में स्त्रियों द्वारा मण्डल बनाकर नृत्य करने का वर्णन है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे 'हल्लीसक' नृत्य कहा जाता था।^४ स्त्रियों के अतिरिक्त नट-विट आदि भी नृत्य-कला में विशेष दक्ष होते थे। राज्य के महोत्सवों के अवसर पर जनता का मनोरंजन करने के लिए इन नट-विटों आदि द्वारा भी आकर्षक नृत्यात्मक अभिनय किया जाता था।^५

३. चित्रकला

अन्य ललित कलाओं के समान चित्रकला की भी उत्कृष्ट स्थिति जैन महाकाव्यों में अङ्कित है। प्रायः लोग चित्रकारी से विशेष प्रेम करते थे। चित्रकारी जन-जीवन का एक अभिन्न अंग बन चुकी थी। प्रत्येक धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधि चित्रकला से विशेष संवरी हुई जान पड़ती है। तत्कालीन चित्रकला को वास्तुशास्त्रीय तथा श्रृङ्गारिक चित्रकला के रूप में मुख्यतया निरूपित किया जा सकता है :—

वास्तुशास्त्रीय चित्रकला

वास्तुकला में चित्रकारी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा था। खजुराहो, अजन्ता तथा एलोरा के भित्ति-चित्रों का सौन्दर्य-वैभव चित्रकला के अनुमानित स्वरूप को प्रत्यक्षरूपेण स्पष्ट कर देता है। जैन मन्दिरों में भी इसी प्रकार की चित्रकारी होने के संकेत मिलते हैं।^६ मन्दिरों के द्वारों पर कमल-मुशोभित लक्ष्मी, किन्नर, भूत, यक्ष आदि के चित्र बने होते थे। जैन मान्यताओं के अनुरूप तीर्थङ्करों आदि के चित्रों द्वारा भी मन्दिरों के दीवार मुशोभित रहते थे।^७ सोने-चांदी की पत्तियों को काटकर

१. हम्मौर०, १३.१८, २३, २७

२. वराङ्ग०, २३.१०, पद्मा०, ६.१०२

३. वर्ध०, ६.१८

४. पद्मा०, ६.१०२

५. वराङ्ग०, २३.४७

६. वराङ्ग०, २२.६१-६५, वर्ध०, १.२०-२२

७. द्वारोपविष्टा कमलया श्रीरूपान्तयोः किन्नरभूतयक्षाः।

तीर्थङ्कराणां हलिचक्रिणां च भित्त्यन्तरेण्वालिखितं पुराणम्॥

विभिन्न प्रकार के ढांचों से चित्रकारी करना भी इस युग की एक रोचक विशेषता रही थी। प्रायः घोड़े, हाथी, रथ, तथा इनके आरोही, सिंह, व्याघ्र, हंस आदि की आकृतियाँ इन पत्तियों में बनी रहती थीं।^१ स्तम्भों पर भी स्त्री तथा पुरुषों के युगल चित्र उत्कीर्ण होते थे।^२ सोने तथा वैडूर्यमणियों आदि की संयोजना से भी चित्रकारी को आकर्षक रूप प्राप्त था। इन्द्रकूट मन्दिर में जड़े गए कमल सोने के बने थे किन्तु उनके नाल-दण्ड वैडूर्य मणियों से निर्मित थे।^३ कलाकार सौन्दर्य तत्त्व के विशेष पारखी होते थे। स्वर्ण-कमलों पर गूँजन करते हुए महेन्द्र नीलमणियों से बनी भ्रमरों की पंक्तियों से सुशोभित चित्रकला द्वारा मन्दिरों की दीवारों को विशेषरूप से सुसज्जित किया जाता था।^४

महलों की भित्तियों पर भी स्त्रियों तथा पुरुषों आदि के चित्र अंकित होते थे। ये चित्र सजीव से जान पड़ते थे। ऐसी अवस्था में प्रथम बार आई वधू द्वारा उपस्थित लोगों के भय से गाढालिगन न करने की कविकल्पना तत्कालीन चित्रकला की उत्कृष्टता की ही द्योतक है।^५ महलों की भित्तियों पर चमकीले पत्थरों द्वारा भी चित्रकारी की जाती थी।^६ वेश्याओं के महलों की चित्रकला श्रृङ्गारिक चित्रों से सुशोभित रहती थी।^७

श्रृङ्गारिक चित्रकला

स्त्रियाँ चित्रकला में विशेष रुचि लेती थीं। उनके द्वारा चित्रकारी करने के

१. ह्यद्विपस्थन्दनपुङ्गवानां मृगेन्द्रशार्दूल-विहङ्गमानाम्।

रूपाणि रूप्यैः कनकैश्च ताम्रैः कवाटदेशे सुकृतानि रेजुः॥

—वराह०, २२.६२

२. तैः स्फाटिकैर्दम्पतिरूपयुक्ते रेजे जितेन्द्रप्रतिमागुहं तत्।

—वही, २२.६३

३. वैडूर्यनालैस्तपनीयपद्मैः। —वही, २२.६५

४. महेन्द्रनीलभ्रमरावलीकैः। —वही, २२.६५

५. निपातयन्ती तरले विलोचने सजीवचित्रामु निवातभित्तिषु।

नवा वधूर्यत्र जनाभिशाङ्क्या न गाढमालिङ्गति जीवितेश्वरम्॥

—चन्द्र०, १.२७

६. विभान्ति यस्मिन् बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तिनि गृहाणि सर्वतः।

—चन्द्र०, १.३४

७. कोशाभिधायी वेश्याया मृहे या चित्रशालिका।

विचित्रकामशास्त्रोक्तकरणालेखशालिनी॥ —परि०, ८.११५

उल्लेख मिलते हैं ।^१ प्रायः स्त्रियों के सौन्दर्य-प्रसाधनों में चित्रकला का विशेष स्थान बन गया था । कस्तूरी-रस से कपोलों पर मकरी के चिह्न आदि बनाकर शृङ्गार करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है ।^२ इसी प्रकार पत्र लताओं को आरोपित करना, चन्दन का सुन्दर तिलक लगाना आदि सौन्दर्य प्रसाधन की प्रविधियाँ चित्रकला से विशेष रूप से प्रभावित थीं । स्त्रियों की शृङ्गारपरक सौन्दर्य भावना प्रकट करते हुए महाकवि हरिचन्द्र ने कामदेव रूपी कायस्थ द्वारा सुलोचना स्त्री की दृष्टि रूपी लेखनी एवं कज्जल रूपी स्याही से तारुण्य लक्ष्मी के शृङ्गार-भोग सम्बन्धी शासनपत्र लिखने की सुन्दर कल्पना की है ।^३

(ग) ज्ञान विज्ञान

१. आयुर्वेद

आलोच्य युग में 'आयुर्वेद' एक उच्चस्तरीय अध्ययनविषय के रूप में अत्यधिक लोकप्रिय विषय था ।^४ पद्मानन्द महाकाव्य में अष्टांग आयुर्वेद का उल्लेख आया है ।^५ स्थानाङ्गवृत्ति के अनुसार ये आठ अङ्ग हैं (१) शल्यतंत्र २. शालाक्य ३. कायचिकित्सा ४. भूतविद्या ५. कौमारभृत्य ६. अगदतंत्र ७. रसायनतंत्र तथा ८. वाजीकरणतंत्र^६ । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी औषध-विज्ञान के रस-वीर्य-विपाक ज्ञान सहित अष्टाङ्ग आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने की चर्चा आई है ।^७ गज तथा अश्वचिकित्सा क्रमशः 'गजशास्त्र' तथा 'अश्वशास्त्र' के अन्तर्गत समाविष्ट थी ।^८ द्वयाश्रय महाकाव्य में बाल-रोगों से सम्बद्ध 'शैशुकन्द' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ का उल्लेख भी मिलता है ।^९

१. तूलिकोलिलिखितचित्रविभ्रमम् । —धर्म०, ५.५, तथा १४.६६

२. एणनाभिरसनिमित्तकया पत्रभङ्गिमकरी कपोलयोः । वही, ५.५१

३. कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा हलेखनीं कज्जलमञ्जुलां यः ।

शृङ्गार-साम्राज्य-विभोग-पत्रं तारुण्य-लक्ष्म्याः सुदृशो लिलेख ॥

—वही, १४.५८

४. पद्मा०, ६.१७ ४५; यशो०, ३.४

५. पद्मा०, ६.१७

६. पद्मा०, ६.१७ पर उद्धृत स्थानाङ्गवृत्ति, पृ० ४२८

७. सर्वौषधीरसवीर्यविपाकज्ञानदीपकम् । अष्टाङ्गयुर्वेदमष्टाङ्गमष्टाङ्गमेव सः ॥

—त्रिषष्टि०, २.३.३०

८. सोऽज्ञासोऽद गजलक्षणम् । चाश्वलक्षणं सचिकित्सितम् । —वही, २.३.३२-३३

९. द्वया०, १६.६५

चिकित्सा एवं प्राथमिक उपचार

सामान्यतया 'वैद्य' रोगों का उपचार करते थे। मंत्रवेत्ताओं द्वारा रोगों को शमन करने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।^१ मूच्छा, ज्वर आदि सामान्य रोगों का प्राथमिक उपचार वैद्यों के बिना बुलाए भी सम्भव था। रोगों के प्राथमिक उपचारों में चन्दन जल के छीटों से चेतना जागृत करना, चन्दन आदि शीतल लेपों द्वारा ज्वर-शमन करना आदि मुख्य प्राथमिक चिकित्सा पद्धतियाँ थीं।^२ द्विसन्धान में कपूर की भस्म से थकान दूर होने का उल्लेख आया है।^३ खली खिलाने से गाय के दूध में वृद्धि होने की संभावना की जाती थी।^४ वियोगजन्य अस्वस्थताओं में कपोलों के सूखने तथा चेहरे के पीला पड़ने आदि रोगों का भी उल्लेख आया है।^५ इस अवस्था में भोजन आदि की इच्छा नहीं होती थी तथा ज्वर के बिना भी शरीर में दाहकत्व की स्थिति मानी जाती थी।^६ आम्रफल को भूख, प्यास तथा थकान दूर करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी माना गया है।^७ पद्मामन्द महाकाव्य में आम्रफल के गुणों की आयुर्वेदीय व्याख्या भी की गई है।^८ कुपथ्य सेवन से रोग मुक्ति असंभव मानी जाती थी।^९ वैद्य लोग नाड़ी देखकर रोग की परीक्षा करते थे।^{१०} सिंह द्वारा कन्धे के दातों से ग्राहत होने^{११} एवं असंख्य शस्त्रादि लगने से लहु-लुहान-शरीर^{१२} का वैद्यों द्वारा उपचार करने का उल्लेख आया है। सिंहों के

१. मन्त्रवादिगणैर्वैद्यवन्दैरपि परः शतैः । —हम्मौर०, ४.७१

२. आश्वासयश्चन्दनवारि सेकैरवोचदेवं कृपयेव भूपः । —यशो०, २.७०
चन्दनोदकसंमिश्रैर्गन्धसन्धिषु पस्पृशे । —वराङ्ग०, १५.२४ तथा
रससेकः खलु चन्दनस्थ तापम् । —चन्द्र०, ६.६७

३. दाघानि कपूरैरजांसि भूयाः स्ववर्मणोऽन्तश्चकरुः श्रमात्ताः ।

—द्विस०, ५.५६

४. अहो खलस्यापि महोपयोगः—क्षीरं क्षरन्त्यक्षत एव गावः ॥ —धर्म०, १.२६

५. चन्द्र०, ६.६२

६. वही, ६.६२

७. पद्मा०, २.२६

८. वही, २.५३-५६

९. चन्द्र०, १.७१

१०. परि०, २.२२५-२६

११. हम्मौर०, ४, ६६

१२. वराङ्ग०, १४.४८-४९

द्रष्टाघात द्वारा विष व्याप्त अङ्ग का संभवतः उपचार दुःसाध्य माना जाता था। हम्मीर महाकाव्य में अनेक वैद्यों तथा मंत्रवादियों को इस रोग की चिकित्सा में असफल रहने का उल्लेख आया है।^१ गर्भपात-निरोध तथा विष-परिहार आदि रोगों के उपचार भी संभव थे।^२ अजीर्ण,^३ पित्त, वात, कफ, श्लेष्म, सन्निपात^४ जलोदर,^५ क्षाम, विपाण्डु, गंडलेखा,^६ आदि अन्य रोगों का भी प्रसङ्गतः उल्लेख आया है। इनके अतिरिक्त, औषधिवर्ण^७ रसायन काष्ठ,^८ वनौषधि^९ आदि विशेष प्रकार की औषधियाँ रोग चिकित्सा के लिए प्रयोग में लाई जाती थीं। जैन संस्कृत महाकाव्यों से कुछ रोगों के लक्षण अथवा उपचार संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

ग्राह्योपचार

घायल व्यक्ति के रक्त स्रावित स्थान को हाथ से दबाना, ठण्डे पानी के छींटे देना, मस्तक पर चन्दन का लेप लगाना, पंखे से हवा करना आदि प्राथमिक उपचार सम्बन्धी नियम प्रचलित थे।^{१०} इन उपायों द्वारा ग्राह्य व्यक्ति चेतना प्राप्त कर सकता था। गहरी चोटों का उपचार करते हुए वैद्य सर्वप्रथम घाव को पानी से धोते थे तदनन्तर उन घावों में औषधियों को भर दिया जाता था।^{११}

कुष्ठरोग की शल्यचिकित्सा

पद्मानन्द महाकाव्य में एक जैन मुनि के कुष्ठरोग उपचार का महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है।^{१२} मुनि के द्वारा कुपथ्यसेवन से यह रोग उत्पन्न हुआ

१. मन्त्रवादिगणैर्वैद्यवृन्दैरपि परः शतैः ।

मृशं चिकित्स्यमानोऽपि नाभूद् भूपः स्वरूपभाक् ॥ —हम्मीर०, ४.७१

२. द्विस०, ३.६

३. शान्ति०, १४.१६

४. द्वया०, १७.८६

५. परि०, ७.३०

६. चन्द्र०, ६.६२

७. धर्म०, ११.२४

८. पद्मा०, ६.४२

९. धर्म०, १२.४६

१०. वराङ्ग०, १४.५४

११. तं स्नापयित्वा ब्रणशोणितान् क्षिप्तौषधानि ब्रणरोपयानि ।

—वही, १४.६०

१२. पद्मा०, ६.२५-६३

था ।^१ अघोषधि ग्रहण न करने के प्रमाद तथा कोढ़ से व्याप्त कीटाणुओं की हत्या हो जाने के भय से जैन मुनि का इस रोग के उपचार के प्रति उपेक्षाभाव रहा था ।^२ जीवानन्द तथा उसके पांच मित्र वैद्यों ने मुनि के इस कुष्ठ रोग की चिकित्सा करने का विचार किया । इन छह वैद्यों में जीवानन्द मुख्य वैद्य था ।^३ तत्कालीन शल्यचिकित्सा सम्बन्धी पद्धतियों का इस अवसर पर प्रयोग किया गया । उपचारार्थ मुख्य सामग्रियाँ थीं—१. लक्षपाक तेल^४ २. भूत गाय का शव^५ ३. मणिकम्बल^६ तथा ४. गोशीर्ष-चन्दन^७ ।

शल्यचिकित्सा विधि

सर्वप्रथम जैन मुनि के सभी गात्रों को तेल से मालिश की गई ।^८ तदनन्तर कुष्ठ रोग विनाशक उष्ण तेल को मला गया ।^९ निरन्तर तेल की मालिश करने के कारण उष्ण हुए शरीर में से सभी कुष्ठ रोग के कीड़े बाहर निकलने लगे ।^{१०} अत्यधिक उष्णता को न सह सकने के कारण मुनि भी मूर्च्छितावस्था को प्राप्त हो गए ।^{११} ताप-क्षमनार्थ मुनि के शरीर को शीतल मणि-कम्बल से लपेट दिया गया ।^{१२} तेल की उष्मा से मणिकम्बल में कीड़े निकलते रहे तथा धीरे धीरे

१. चारित्रपावित्र्यकृते ह्यकाले, कुपथ्य-भोज्यात् कुमिकुष्ठरोगी ।

२. सोऽभूत् तथाऽप्योषधमग्रहीन्, देहानपेक्षा हि मुमुक्षवः स्युः ।

—पद्मा०, ६.३७

३. वही, ६.५३-६६

४. गृहेऽस्ति तैलं मम लक्षपाकम् । —वही, ६.५३

५. तत्रानयन् गोमूतकं नवं ते । —वही, ६.७१

६. गोशीर्षकं चन्दनमानयध्वं मित्राणि ! यूयं मणिकम्बलं च ।

—वही, ६.५४

७. वही, ६.५४

८. स्नेहेन सर्वाङ्गमथाभ्यषिञ्चन् । —वही, ६.७४

९. प्रत्यङ्गमम्यङ्गनिषङ्गरोग-घाताय तैलं व्यलसत् तदन्तः ।

—वही, ६.७५

१०. तैलेन तेनाकुलिता यतीन्दोर्बहिः शरीरात् कुमयो निरीयुः ।

—वही, ६.७७

११. अत्युष्णवीर्येण धपुर्गतेन, तैलेन जज्ञे स मुनिर्बिसञ्जः ।

—वही, ६.७६

१२. पुनर्मुनीन्दुं मणिकम्बलेन, वैद्यावतंसः परितोऽप्यघात तम् ।

यथान्तरीक्षं तपतापतप्तं तपात्पयस्तोयदमण्डलेन ॥

—वही, ६.८५

उन कम्बल में पड़े कीड़ों को एकत्र करके गाय के शव में डालने की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रही।^१ इस प्रकार चिकित्सकों की यह पूरी चेष्टा रही कि कुष्ठरोग की चिकित्सा करते हुए रोग के कीटाणुओं की मृत्यु न हो तथा वे गोशव में स्थानान्तरित होकर जीवित बचे रहें। ताप के अधिक बढ़ जाने पर बीच बीच में गोशीर्ष चन्दन का लेप भी किया जाता रहा।^२ परन्तु एक बार में ही सभी कीड़ों का शरीर से बाहर निकल पाना असम्भव था क्योंकि तेल की उष्णता जैसे ही कम होती थी कीड़े फिर शरीर के भीतर चले जाते थे।^३ इसलिए मांस-गत तथा अस्थि-गत कुष्ठ कृमियों की उष्णता के प्रभाव से पूर्णतः बाहर निकालने के लिए उपर्युक्त प्रक्रिया को तीन बार दोहराया गया। तीसरी बार तक शरीर के समस्त कीड़े बाहर निकाल कर गो-शव में पुनर्विस्थापित कर दिए गए थे।^४ मणिकम्बल तथा गोशीर्ष-चन्दन द्वारा समय-समय पर उष्णता वृद्धि पर भी नियन्त्रण किया जाता रहा था।^५ अन्त में कुष्ठ रोग के कारणभूत सभी कीड़ों के बाहर आ जाने पर गोशीर्ष चन्दन के लेप से मुनि को पुनः चेतनावस्था में लाया गया।^६ इस प्रकार जैन मुनि के कुष्ठ रोग का निवारण बिना जीव हत्या के हुई शल्य चिकित्सा द्वारा संभव हो पाया।

(ग) अन्य रोगोपचार

जलोदर रोग का लक्षण आकृति का कुरूप हो जाना माना गया है।^७

१. स मन्दमान्दोलयति स्म वैद्यस्तत्कम्बलं गोमूतकोपरिष्ठात् ।

—पद्मा०, ६.८०

२. ऋषि स गोशीर्षरसैर्मयूरेवेरिवीषघं ग्रीष्म द्रुतं सिषेच ।

—वही, ६.६८

३. अथापि तैलेन विनिर्गतास्त्वग् गता यदेते क्रमयः पुनस्तत् ।

—वही, ६.८३

४. बहिर्बभूवुः क्रमयोऽथ तस्मादभ्यङ्गतो मांसगता अपि द्राक् ।

—वही, ६.८६

तथा—भूयो निरीयुः क्रमयस्तृतीयाभ्यङ्गान्मुनेरस्थिगता अपि द्राक् ।

—वही, ६.८६

५. वही, ६.७६, ८२, ८६, ८८

६. तेनैष गोशीर्षविलेपनेन, लोपं प्रयाते सकलेऽपि तापे ।

मुनिः परां निर्वृतिमाजगाम स नाम गन्ता प्रशमेन यद्वत् ॥

—वही, ६.६३

७. किकुर्मः कोऽपि वृणुते न जलोदरिणीमिमाम् । —परि०, ७.३०

आयुर्वेदोक्त औषधियों द्वारा इस रोग का उपचार सम्भव था ।^१ पित्त-ज्वर में दूध मीठा नहीं लगता है ।^२ अजीर्ण रोग को सभी रोगों का कारण माना गया है ।^३ दुर्नामक अर्थात् अर्श रोग के बहुत अधिक बढ़ जाने पर 'छेदन-क्रिया' अर्थात् 'आप्रेसन' द्वारा ही रोग पर नियन्त्रण कर पाना सम्भव था ।^४

धार्मिक निःशुल्क चिकित्सा

चिकित्सा जीवन यापन का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन गई थी तथापि धार्मिक दृष्टि से निःशुल्क चिकित्सा करने का भी उल्लेख मिलता है । पद्मानन्द महाकाव्य के उल्लेखानुसार जैन मुनियों आदि की चिकित्सा के लिए अत्यधिक मूल्य वाली वस्तुएं व्यापारी लोग बिना मूल्य ही दे देते थे । जैन मुनि के कुष्ठरोग निवारणार्थ एक-एक लाख दीनार मूल्य वाले मणि कम्बल तथा गोशीर्ष चन्दन का कोई मूल्य नहीं लिया गया ।^५ इसी प्रकार जीवामन्द आदि वैद्यों ने धर्म लाभ के प्रयोजन से मुनि के कुष्ठरोग की निःशुल्क शल्य चिकित्सा की ।^६

५. ज्योतिष एवं नक्षत्र विज्ञान

जैन संस्कृत महाकाव्यों में ज्योतिष एवं नक्षत्र विज्ञान के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की गई है । महत्त्वपूर्ण अवसरों पर ज्योतिष विद्या के आधार पर ग्रहों-नक्षत्रों तथा मुहूर्तों की शुभाशुभ स्थिति का विचार किया जाता था । इसी दृष्टि से राजा के मन्त्रिमण्डल में पुरोहित का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा राज्य स्तर पर ज्योतिष विद्या एक महत्त्वपूर्ण विद्या के रूप में भी प्रतिष्ठित थी । अनेक जैन महाकाव्यों में ग्रहों, नक्षत्रों आदि का विचार कर किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रारम्भ

१. आयुर्वेदोदितौषध्योत्लाशीकृत्योदुवाहताम् । —परि०, ७.३६

२. पित्तज्वरवतः क्षीरं मधुरं नावभासते । —यशो०, १.५४

३. रोगा वैद्यविशारदैर्निगदिताः सर्वेऽप्यजीर्णोद्भवाः ।

—शान्ति०, १४.१६

४. असुहृत्वविधावुपस्थितं भुवि दुर्नामकमात्रविक्रियम् ।

शमयेन्मतिमान्महोदयं सहसार्च्छदमन्तरेण कः ॥

—वर्ध०, ७.४५

५. बृद्धो वरिण् वस्तुयुगस्य मूल्यमेकैकदीनारकलक्षमुचै ।

—पद्मा०, ६.५६

कल्याणवन्तो ! मणिकम्बलं मे, गोशीर्षकं चन्दनमाददध्वम् ।

विनाशि गृह्णामि धनं न मूल्ये, काङ्क्षामि किन्त्वक्षयमेव धर्मम् ॥

—वही, ६.६५

६. प्रदाय तेभ्योऽयं स धर्मलाभम् । —वही, ६.६५

करने का उल्लेख आया है ।^१ युद्ध प्रयास^२ विवाह,^३ राज्याभिषेक^४ आदि महत्त्वपूर्ण राजयोत्सवों में तो ज्योतिष विद्या के अनुसार ही दिन ग्रथवा तिथि का निश्चय करने के बहुधा उल्लेख आए हैं । पद्मानन्द महाकाव्य में ऋषभदेव के जन्म के समय की स्थिति को ज्योतिषीय आधार पर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उस समय चन्द्रमा धनु राशि में तथा अन्य सभी ग्रह उच्च राशियों में थे ।^५ ऋषभदेव के जन्म दिन तथा तिथियों का उल्लेख करते हुए यह भी कहा गया है कि वे चैत्रमास की अष्टमी को उत्पन्न हुए थे ।^६

ज्योतिष विद्या के ज्ञाता 'दैवज्ञ' भविष्यकाल की घटनाएं भी पहले बता देने में समर्थ होते थे । वर्धमानचरित में संभिन्न नामक 'दैवज्ञ' का इसी सन्दर्भ में उल्लेख आया है ।^७ शान्तिनाथ चरित महाकाव्य^८ में ज्योतिष के (१) शुभ लग्न (२) मित्र दृष्टि (३) ग्रहों का बलाबल (४) ग्रहों का स्वामित्व तथा (५) षड्वर्ग शुद्धि आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है ।^९ कीर्तिकौमुदी महाकाव्य में कूर ग्रहों के आक्रमक तथा चन्द्रमा नक्षत्र के शुभत्व का उल्लेख आया है ।^{१०} सामान्यतया चन्द्र, गुरु, शुक्र, शुभग्रह तथा शेष अशुभ ग्रह माने जाते हैं इनमें से बुध शुभ ग्रहों के साथ शुभ तथा अशुभ ग्रहों के साथ अशुभ माना गया है । इनके

१. अथ प्रशस्ते तिथि-लग्न-योगे मुहूर्त-नक्षत्रगुणोपपत्तौ ।

क्षपाकरे च प्रतिपूर्यमाणे ग्रहेषु सर्वेषु समस्थितेषु ॥

—वराह०, ३१.१ तथा

शुभे मुहूर्तेऽथ शुभनिमित्तैर्मन्त्री स्वनाथानुमतः प्रतस्थे ॥ —कीर्ति०, ६.६

२. शुभे मुहूर्ते जयकुञ्जराधिपं रणे जयं मूर्तिमिवाधिरूढवान् ।

—जयन्त०, १०.६७

३. विवाहलग्नाहं-मुहूर्तमेकं निर्णाय जिष्णुविससर्ज कृष्णम् ।

—नेमि०, ११.५६;

४. चन्द्र०, ६.१०८; हम्मीर०, ८.५६

५. पद्मा०, ७.३२५

६. चैत्रस्य बहुलाष्टम्याम् । —वही, ७.३२४

७. वर्ध० ५.१०७-११३

८. लग्ने प्रशस्ते पतिमित्रपूर्णदृष्ट्या प्रदृष्टे बलशालमाने ।

षड्वर्ग-शुद्धे च तयोः पुरोधा अमीलयन्मङ्क्षुकरं करेण ॥

—शान्ति०, ४.१२२

९. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में०, पृ० ५७०

१०. कूरग्रंहरिवाऽऽकम्प्य मुक्तमन्यैर्नियोगिभिः ।

प्रीणत्येष पुरं मन्त्री, नक्षत्रमिव चन्द्रमा ॥ —कीर्ति०, ४.१०

अतिरिक्त ग्यारहवें भाव में सभी ग्रह शुभ ही माने गए हैं। इसी दृष्टि से विचार करते हुए पार्वनाथचरित में वादिराज के नव ग्रहों की शुभ स्थिति स्वीकार की गई है।^१ वराहचरित में जातक की जन्मकुण्डली की ग्रह स्थिति का शुभ लगनों, ग्रह योगों, शुभ तिथियों, त्रिकोणगत तथा केन्द्रगत शुभ ग्रहों के अनुसार विचार करने की मान्यता का भी प्रतिपादन हुआ है।^२ शान्तिनाथ चरित में एक स्थान पर एक साथ नवग्रहों में से सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, गुरु, शनि, राहु तथा केतु इन आठ ग्रहों का स्वरूप तथा फल आदि भी कहा गया है।^३ वर्धमानचरित में उल्लेख आया है कि राजकुमार के राज्याभिषेक के लिए शुभ दिन, शुभ लगनों आदि दृष्टियों से विचार करने पर 'गुरुवार' का दिन शुभ दिन था।^४ राहु द्वारा चन्द्रमा को ग्रसित करने की मान्यता जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय रही थी।^५ चन्द्र ग्रहण को देखना स्त्रियों के लिए पतिकष्ट का सूचक माना जाना था।^६

ग्रह-नक्षत्रों के प्रति अविश्वास भावना

जैन धर्म के धार्मिक क्रिया कलापों के अवसर पर शुभ-लग्न, ग्रह, तिथि आदि के औचित्य को जटासिंह नन्दि ने यद्यपि स्वीकार किया है^७ किन्तु ब्राह्मण संस्कृति में ग्रहनक्षत्रों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण सैदान्तिक रूप में ग्रह आदि के शुभाशुभ परिणामों के प्रति उन्होंने अविश्वास भी प्रकट किया है।^८ जटासिंह का आक्षेप है कि जब रामादि महापुरुषों के विवाह शुभ नक्षत्रों आदि में सम्पन्न हुए थे तो उनके पति-पत्नी विश्लेष की स्थिति क्यों उत्पन्न हुई?^९ ऐसे ही

१. पार्व० ४.११६

२. शुभे विलग्ने ग्रहयोगसत्तिथौ त्रिकोणगैः केन्द्रगतैः शुभग्रहैः ।

—वराह० (वर्धं), १.३४

३. शान्ति०, २.४६-५१

४. वर्ध०, १.६०

५. रविचन्द्रमसोः ग्रहपीडाम् । —वराह०, २४.३६ तथा वर्ध०, ५.६

६. वर्ध०, ४.४१

७. अथ प्रशस्ते तिथि-लग्न-योगे मुहूर्तनक्षत्रगुणोपपत्तौ ।

क्षपाकरे च प्रतिपूर्यमाणे ग्रहेषु सर्वेषु समस्थितेषु ॥

—वराह०, २३.१

८. वही, २४.६०

९. ग्रहयोगबलाच्छुभं भवेच्चेत्स च रामः प्रियया कथं विहीनः ।

—वही, २४.३२

अनेक तर्कों के आधार पर तटासिंह ब्राह्मण संस्कृति के खण्डन करने की अपेक्षा से ही ग्रहों आदि की वैज्ञानिकता तथा उनके शुभत्व-अशुभत्व के गणित को चुनौती देते हैं।^१

३. शकुन शास्त्र

प्रायः विद्वान् शकुन-अपशकुनों की चर्चा ग्रन्थ विद्वांसों आदि के सन्दर्भ में करते हैं। मध्यकालीन भारतीय जन-जीवन में शकुनों तथा अपशकुनों को ग्रन्थ-विश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था। राजा भी शकुनों तथा अपशकुनों पर पूर्ण विश्वास करते थे। दिग्विजय प्रस्थान अथवा युद्धप्रथा आदि महत्वपूर्ण अवसरों पर शकुनों-अपशकुनों पर विशेष विचार किया जाता था।^२ तत्कालीन समाज में शकुनों तथा अपशकुनों का सामाजिक दृष्टि से कितना महत्व था, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि तत्कालीन शिक्षा-जगत् में भी 'शकुनशास्त्र' एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।^३ जैन महाकाव्यों में अनेक प्रकार के शकुनों तथा अपशकुनों की चर्चा आई है। शकुन कार्य सिद्धि के द्योतक थे तथा अपशकुनों से अनिष्ट प्राप्त होने की मान्यताएं प्रसिद्ध हो चुकी थीं। आलोच्य युग में शकुनों तथा अपशकुनों की स्थिति इस प्रकार थी—

शकुन—जल, दही आदि से भरे घड़ों को देखना, बायीं ओर शूगाली अथवा गधे का शब्द सुनना, खंजरीट (भारद्वाज) पक्षी द्वारा परिक्रमा करना, कौए का दूध वाले वृक्ष में बैठकर ध्वनि करना, अनुकूल वायु का चलना,^४ धान्य अंकुरों से युक्त घड़े देखना आदि शुभ शकुन माने जाते थे।^५

अपशकुन—मस्तकस्थित आभूषण का नीचे गिर जाना,^६ रानी की राजा द्वारा मृत्यु हो जाना,^७ कुरूप व्यक्ति सामने आ जाना,^८ दायीं ओर शूगाली का

१. ग्रहतो जगतः शुभाशुभानि प्रलपन्तो विमतीन्प्रवञ्चयन्ति ॥

—वराहमिह, २४.३१

२. चन्द्र०, १५.२७-२८; हम्मीर०, १२.२६; वर्ध०, ६.१७

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० २७२

४. हम्मीर०, १२.२६; द्रया०, ३.८८

५. चन्द्र०, १५.२७-२८

६. वर्ध०, ६.१७, द्रया०, ३.७१

७. द्रया०, ४.६६

८. वही, ४.६७

९. वही, २.३३

शब्द करना, छींक आना, साँप का रास्ता काटना, कांटे वाले वृक्ष पर कौए का कर्कश स्वर सुनना, घोड़े की पूँछ पर आग लग जाना, प्रतिकूल वायु का बहना,^१ आदि अपशकुन माने जाते थे। नलायन महाकाव्य^२ के अनुसार रात्रि में इन्द्र धनुष दिखाई देना, ग्रहों का एक दूसरे से टकराव होना, उत्कापात, केतु का उदय होना, दिन में चन्द्रमा का उदित होना तथा रात्रि को अस्त हो जाना, दिग्दाह, रजोवृष्टि, भूमिप्रकम्प, आदि प्राकृतिक विकार प्रकट होना, सिंह आदि हिंसक पशुओं की चिंघाड़ सुनाई पड़ना, वन्य पशुओं का ग्रामों में रहना तथा ग्राम-पशुओं का वनों में रहने लगना, दुर्ग पक्षी द्वारा नीड बनाकर बैठना; स्थलचर जीव जल में तथा जलचर जीव स्थल में रहने लगना, अस्थि, सर्प, इन्धन, तेल विकृतांग व्यक्ति तथा वन्ध्या एवं रजस्वला नारी का दर्शन होना आदि अपशकुन माने जाते थे।^३ प्रायः उपयुक्त शकुनों तथा अपशकुनों की चर्चा विशेष रूप से युद्ध-प्रयाण के प्रसङ्गों में आई है। जन-सामान्य में शकुनों तथा अपशकुनों के प्रति विश्वास भावना रही थी। यहाँ तक कि वैद्यक ग्रन्थों में वैद्यों तक के लिए ये निर्देश थे कि जब भी वे किसी रोमी की चिकित्सा करने के लिए जाएं को उस अवसर पर होने वाले शकुनों तथा अपशकुनों की भी विशेष परीक्षा कर लें।^४

४. स्वप्न-शास्त्र

निमित्त शास्त्र के प्रन्तर्गत 'स्वप्न शास्त्र' की चर्चा आती है।^५ तत्कालीन समाज में लोगों का धार्मिक दृष्टि से स्वप्नों पर विश्वास था तथा इनका फल बताने वाले 'नैमित्तिक' कहलाते थे।^६ जैन महाकाव्यों में जिन १४ अथवा १६ स्वप्नों का उल्लेख आया है उनका जैन परम्परा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा था। किसी तीर्थङ्कर के गर्भ में होने पर कुछ विशिष्ट प्रकार के स्वप्न प्रायः उनकी माता को

१. चन्द्र०, १५.३२-३४

२. नैमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ५७४-७५

३. नलायन महाकाव्य, ४.६.६५-७३

४. Sternbach, L., Juridical Studies in Ancient Indian Law, Pt. I, Delhi, 1965, p. 289

५. त्रिषष्टि०, २२.८६-८८

६. नैमित्तिकाः पुरो राज्ञो विज्ञप्ता वेदधारिणा ।

देव द्वाप्ततः स्वप्नाः स्वप्नशास्त्रे प्रकीर्तिताः । —बह्वी, २.२.६१ तथा

दिखाई देते हैं।^१ जैन महाकाव्यों में १८^२ अथवा १६^३ प्रकार के स्वप्नों की चर्चा आई है। संक्षेप में इन स्वप्नों में दृष्टिगत होने वाली वस्तुओं की तालिका इस प्रकार है—

१. ऐरावत गज, २. वृष (बैल), ३. सिंह, ४. लक्ष्मी, ५. माला, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. मत्स्य-गुगल ९. स्वर्ण-कुम्भ १०. सरोवर, ११. समुद्र १२. स्वर्ण सिंहासन, १३. विमान, १४. नागेन्द्र भवन, १५. रत्न तथा १६. अग्नि।^४

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता वाले चतुर्दश स्वप्नों^५ में 'मत्स्य-गुगल' तथा 'स्वर्ण सिंहासन' का उल्लेख नहीं आया है। फलतः त्रिषष्टिशलाकापुरुष० आदि श्वेताम्बर महाकाव्यों में चतुर्दश स्वप्नों की तथा चन्द्रप्रभवचरित आदि दिगम्बर महाकाव्यों में षोडश स्वप्नों की धार्मिक मान्यताएं प्रतिबिम्बित हैं।^६ इन स्वप्नों के पृथक्-पृथक् फल का भी उल्लेख हुआ है।^७

निष्कर्ष

इस प्रकार विविध प्रकार की कलाओं, आयुर्वेद आदि ज्ञान-विज्ञानों से सम्बद्ध मध्यकालीन भारतवर्ष की महत्त्वपूर्ण शैक्षिक गतिविधियों की जानकारी देने की दृष्टि से जैन संस्कृत महाकाव्यों की सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में अन्तेकर तथा राधाकुमुद मुकर्जी सदृश विद्वानों ने प्राचीन भारतीय शिक्षा पर जो प्रकाश डाला है उसमें जैन साहित्य के खोतों का स्थान नहीं के समान है। प्रस्तुत अध्याय में तुलनात्मक इतिहास निष्ठ चेतना से शिक्षा संस्था के विभिन्न पहलुओं को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों, आदि के सम्बन्ध में जैन संस्कृत महाकाव्यों के खोत कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन भी करते हैं। शिक्षण विधियों की दृष्टि से भी जैन महाकाव्यों के साक्ष्य कतिपय नवीन एवं अतिरिक्त तथ्य एवं सूचनाएं प्रदान करते हैं।

मध्यकालीन भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा के मूल्य ब्राह्मण संस्कृति के पारम्परिक खोदह विद्याओं से सम्बद्ध रहने हुए भी समसामयिक-परिस्थितियों से

१. चन्द्र०, १६.५७
२. त्रिषष्टि०, ३.१.११६-२१
३. धर्म० ५.५६-७७, चन्द्र०, १६.५८-६०
४. वही,
५. कल्पसूत्र, ३३-४७
६. त्रिषष्टि०, ३.१.११६-२१
७. धर्म०, ५.८२-८८; चन्द्र०, १६.६३-६६

भी अछूते नहीं थे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्गों से सम्बद्ध दो प्रमुख शिक्षा चेतनाएं इस युग में अपनी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप पूर्णतः विकसित हो चुकी थीं। सामान्यतया परम्परागत वैदिक शिक्षा पद्धति ही देश में सर्वोपरि रही थी। किन्तु क्षत्रिय वर्ग के राजपरिवारों में राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उच्च-स्तरीय शैक्षिक अध्ययन की विशेष सुविधाएं भी उपलब्ध थीं। मध्यकालीन भारतवर्ष की शैक्षिक गति-विधियों पर तत्कालीन युद्धों का वातावरण एवं सामरिक चेतना भी विशेष रूप से हावी थी। परिणामतः शिक्षा संस्था पर पड़ने वाली सामरिक चेतना के परिणामस्वरूप जनसाधारण की शिक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। युद्ध सम्बन्धी विशिष्ट विद्याएं विशेष लोकप्रिय होती जा रही थीं। राजकुमारों की शिक्षा के सन्दर्भ में युद्धकला, शस्त्र-ग्रस्त्र संचालन, व्यूहभेदन, अश्वशास्त्र तथा गजशास्त्र आदि विद्याओं के अध्यापन पर विशेष बल दिया जाने लगा था।

शिक्षा का व्यवसायीकरण होना तथा तत्कालीन जीविकोपार्जन की समस्या के अनुरूप अध्ययन विषयों की छात्रों को शिक्षा देना भी शिक्षा संस्था की एक विशेषता रही थी। मध्यकालीन भारतवर्ष के अधिकांश शिक्षा-पाठ्य-क्रम समाज से कटे हुए न होकर तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप थे। इसी प्रयोजन से पौरोहित्य व्यवसाय, सैन्य व्यवसाय, शिल्प व्यवसाय तत्कालीन विद्याओं तथा कलाओं से पूर्णतः सम्बद्ध थे। विद्याओं का व्यवसायों के साथ सम्बद्ध रहने के कारण जहाँ एक ओर अध्ययनार्थी के भरण-पोषण की दृष्टि से विद्या सार्थक हो सकी थी वहाँ दूसरी ओर विविध प्रकार के व्यवसायों के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया भी प्रगतिशील मूल्यों से अनुप्रेरित होती जा रही थी। इसी वैशिष्ट्य के कारण भारत की मध्यकालीन विभिन्न कलाकृतियों तथा भवन सन्निवेशों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवशेष भी आज अपने कला-सौन्दर्य के विशेष प्रकार के नमूने के तौर पर विश्व-विख्यात हैं। वास्तव में विभिन्न विद्याओं तथा कलाओं के स्वतन्त्र विकास का ही यह परिणाम है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों के स्रोतों के आधार पर निरूपित शैक्षिक गति-विधियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता संस्कृत भाषा भी रही थी। यह ठीक है कि दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों में लोकभाषाएं भी शिक्षा के माध्यम के रूप में उभर कर आ रही थीं किन्तु सम्पूर्ण शिक्षा जगत् में संस्कृत का वही स्थान था जो कि वर्तमान भारत में अंग्रेजी का रहा है। ज्ञान की विविध शाखाओं के मौलिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते थे तथा अध्ययन-अध्यापन की राष्ट्रीय भाषा भी संस्कृत ही रही थी। शैक्षिक चर्चा-परिचर्चा, दार्शनिक खण्डन-मण्डन तथा वैचारिक वाद-प्रतिवाद का राष्ट्रीय स्वर संस्कृत भाषा से ही मुखरित था। यद्यपि स्वयं जैन

कवि परम्परा से प्राकृत भाषा के पोषक तथा संवर्धक रहे थे किन्तु राष्ट्रीय पटल पर संस्कृत की गूँज के कारण सातवीं शताब्दी के बाद इन्होंने भी अपने साहित्यिक, दार्शनिक तथा धार्मिक ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। जैन कवि भी कालिदास, भारवि आदि के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय ने 'संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान' नामक अपने शोध ग्रन्थ द्वारा यह तथ्य भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि परवर्ती जैन साहित्य किस तरह से ब्राह्मण संस्कृति के साहित्य से अनुप्रेरित, एवं प्रभावित होकर निर्मित हुआ है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण शिक्षा एवं साहित्य जगत् में भाषा के माध्यम के रूप में संस्कृत राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए हुए थी। इस काल में आभिजात्य ब्राह्मण वर्ग से ही संस्कृत भाषा सम्बन्धित न थी अपितु जैन, बौद्ध विचार धाराओं को भी इसने पूरा-पूरा प्रभावित किया था। परिणामतः मध्यकालीन अध्ययन की विभिन्न शाखाओं तथा ज्ञान परम्पराओं का पल्लवन संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हो पाया था।

लोकोपयोगी शिक्षा के सन्दर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ज्योतिषविद्या, आयुर्वेद, शकुनशास्त्र, स्वप्नशास्त्र समाज में अपनी लोकप्रियता अर्जित कर चुके थे। लोकव्यवहार की दृष्टि से उपयोगी समझी जाने वाली इन विद्याओं के प्रशिक्षण में छात्र विशेष रुचि लेते थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुणवत्ता एवं राष्ट्रीय एकता दोनों दृष्टियों से मध्यकालीन शिक्षा संचेतना एक संतुलित एवं विकासोन्मुखी शिक्षा व्यवस्था का नियोजन कर रही थी और साथ ही भारतीय संस्कृति की विविध ज्ञान धाराओं के संवर्धन एवं संरक्षण के प्रति भी प्रयत्नशील थी।

स्त्रियों की स्थिति तथा विवाह संस्था

(क) स्त्रियों की स्थिति

वैदिक समाजव्यवस्था पितृसत्तात्मक कुलतन्त्र से अनुप्राणित रहने के कारण पुरुष को नारी की अपेक्षा विशेष महत्त्व देती है। प्राग्वैदिक काल में मातृसत्तात्मक परिवार तन्त्र की भी स्थिति रही थी^१ जिसमें नारी कुटुम्ब की मुखिया थी और पुरुष की भूमिका गौण होती थी।^२ इस मातृमूलक समाज व्यवस्था के प्रागैतिहासिक अवशेष सांख्य दर्शन में सुरक्षित हैं जिसमें सृष्टि के प्रधान कारण के रूप में 'प्रकृति' को मुख्यता प्रदान की गई है और 'पुरुष' को उदासीन कहा गया है।^३ सिन्धु सभ्यता के पुरातात्विक अवशेषों में मातृदेवियों की स्थिति भी यही बताती है कि तत्कालीन समाज में नारी शक्ति की देवत्व के रूप में पूजा की जाती थी।^४

वैदिक कालीन नारी

वैदिक कालीन नारी का स्थान अनेक दृष्टियों से सम्माननीय बना हुआ था। पुरुष के समान धर्म तथा शिक्षा के क्षेत्र में उसे पूरे अधिकार दिए गए थे।^५ परिणामतः हम देखते हैं कि वैदिक काल में नार्गी, मैत्रेयी, लोषामुद्रा, घोषा आदि अनेक ऐसी विदुषी महिलाएं हुईं जो मन्त्रों की रचना करती थीं और तत्त्वज्ञान

-
१. Chatterji, S. K. Atreya, B. L.; Danielov, A; Indian Culture, Delhi, 1966, pp. 49-55
 २. Sircar D.C., (ed.) Śakti Cult and Tara, Calcutta, 1967, p. 70
 ३. Lunia, B. N., Evolution of Indian Culture, Agra, 1955, pp. 33-34
 ४. Mohan Chand, Yogasūtra with Maṇiprabhā, Delhi, 1987, Introduction, p. x
 ५. Altekar, A.S., The Position of Women in Hindu Civilization, Delhi, 1965. p. 339; Arora, Rajkumar, Historical And Cultural Data From the Bhaviṣya Purāṇa, Delhi, 1972, p. 111.

सम्बन्धी शास्त्र चर्चा में भी भाग लेती थीं।^१ परन्तु वैदिक कालीन नारी से सम्बद्ध कुछ दूसरे पहलू भी विचारणीय हैं। वैदिक चिन्तक पितृप्रधान परिवार तन्त्र में नारी को पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं मानते^२ तथा उसके पुरुषायत्त रहने की मान्यता का विशेष पोंषण करते हैं।^३ ऋग्वेद स्पष्ट रूप से स्त्रियों को दास की सेना तथा अस्त्र-शस्त्र के रूप में भूल्यांकित करता है। उन्हें भेड़ियों के हृदय तुल्य कठोर एवं विद्वसाघाती माना गया है।^४ शतपथ ब्राह्मण नारी को पुरुषाधीन मानने का विशेष पक्षधर है।^५ इस प्रकार वैदिक कालीन नारी को कुछ सीमा में पुरुषों के समान सामाजिक अधिकार प्राप्त थे परन्तु नारी को पुरुषायत्त मानने एवं उसे हेय बताने की कुण्ठाएं भी वैदिक युग में अपना स्थान बना चुकीं थीं। इसी संदर्भ में वैदिक कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों की ओर यदि दृष्टिपात किया जाए तो हम देखते हैं कि सृष्टि के मूल कारण के रूप में पुरुष तत्त्व की ही विशेष प्रतिष्ठा की जा रही थी। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त,^६ हिरण्यगर्भसूक्त,^७ नासदीयसूक्त^८ आदि जिन सृष्टि विषयक मान्यताओं का सम्पोषण करते हैं वे पितृप्रधान परिवार व्यवस्था से अनुप्रेरित होकर ही पुरुष तत्त्व को सृष्टि का मूल कारण बताते हैं। प्राचीन भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं में 'पुरुष' को 'नारी' से ऊंचा मानने के मनोविज्ञान ने भी नारी की स्थिति को विशेष प्रभावित किया है। चूँकि भारतीय समाज वैदिक व्यवस्था के मूल्यों तथा परम्पराओं से विशेष प्रभावित हुआ है फलतः नारी को प्रधानता देने वाली वेदोत्तर समाज व्यवस्थाएं या तो लुप्त हो गई या फिर उन्हें पुरुषप्रधान समाजव्यवस्था के अन्तर्गत आत्म समर्पण करना पड़ा।

जैसा कि स्पष्ट है वैदिक काल में ही स्त्रियों के विषय में पुरुषाश्रित मानने की धारणा का अस्तित्व आ गया था जो धर्मसूत्रों के काल में और अधिक विकसित होती गई। गौतम, वसिष्ठ, बौधायन आदि सभी धर्मसूत्रकारों ने यह घोषणा की है कि स्त्रियां स्वतन्त्र नहीं हैं, सभी मामलों में वे आश्रित एवं परतन्त्र

१. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३८४

२. ऋग्वेद ३.३१.२, तैत्तिरीय संहिता, ६.५.८.२

३. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३२५

४. ऋग्वेद, ५.३०.६ तथा १०.६५.१५

५. शतपथ०, ११.५.१.६

६. ऋग्वेद, १०.६०

७. बही, १०.१२१

८. बही, १०.१२६

हैं।^१ धर्मसूत्रों के समय में यद्यपि बहुयस्नीकता का विशेष समर्थन किया जाने लगा था^२ परन्तु आदर्श के रूप में एक पत्नीव्रत की विशेष प्रशंसा भी की जाती थी। धर्मसूत्रकारों ने निर्दोष पत्नी के त्याग को एक भयंकर अपराध माना है तथा उसके लिए भयंकर सजा का प्रावधान भी किया है।^३

बौद्ध कालीन नारी

सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों का महत्त्व पुरुष और स्त्री दोनों के लिए समान है।^४ इस धार्मिक स्वतन्त्रता के आग्रह से नारी के प्रति बुद्ध ने सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया था परन्तु तत्कालीन समाज में नारी समस्याओं की जो भयंकर विभीषिकाएं व्याप्त हो चुकी थीं उनके प्रतिकार हेतु बौद्ध धर्म की कोई विशेष भूमिका देखने में नहीं आती है। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि स्वयं भगवान् बुद्ध नारी को सांसारिक रागद्विष का मूल कारण मानते थे।^५ दूसरा कारण यह भी था कि बौद्ध समाज व्यवस्था भी वैदिक व्यवस्था के समान, पुरुषप्रधान परिवारतन्त्र पर आरुढ़ थी जिसका प्रधान 'गृहपति' (गृहपति) होता था।^६ इन समाजशास्त्रीय परिस्थितियों में बौद्धधर्म नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारने में अथवा पूर्व प्रचलित नारी मूल्यों में किसी प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन को ला सकने में पूरी तरह से असमर्थ रहा है। बौद्ध आगमों से यह जाना जा सकता है कि स्वयं बौद्ध संघ में ही नारी को पुरुष के बराबर अधिकार प्राप्त नहीं थे।^७ 'चुल्लवग्ग' में बौद्ध भिक्षुणियों के लिए संघ व्यवस्था देते हुए बुद्ध का कथन है कि सो वर्ष की भिक्षुणी सद्यः प्रव्रजित भिक्षु को अभिवादन करे और उसकी पूजा करे।^८ बुद्ध संघ में भिक्षुणियों के प्रवेश को भी सर्वथा वर्जित मानते थे।^९ यही कारण है कि बौद्ध ने आनन्द के विशेष आग्रह पर भी गौतमी के नेतृत्व में आई स्त्रियों को दीक्षित करने हेतु उदासीनता प्रकट की और आनन्द के विशेष नैतिक दबाव में आकर ही उन्होंने

१. पी. बी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३२५
२. आपस्तम्बधर्मसूत्र, २.५.११.१२-१३
३. वही, १.१०.२८.१६
४. अंगुत्तरनिकाय २.५७,
५. इत्थो मलं ब्रह्मचारियस्स एत्वापं सज्जते पजा । —संयुतनिकाय १.३६
६. जयशंकरमिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३०
७. चुल्लवग्ग, १०.१
८. वही, १०.२
९. कोमलचन्द्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० १७६

संघ में नारी प्रवेश की अनुमति प्रदान की।^१ ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो यह ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में नारी समाज पर विशेषकर निम्नवर्ग की स्त्रियों पर पुरुषवर्ग की आधिपत्य भावना तथा कामवासना के कारण तरह तरह के अत्याचार एवं शोषण की प्रवृत्तियाँ हावी थीं।^२ बौद्ध धर्म के द्वारा चलाई गई सन्यासीकरण की धार्मिक लहर^३ के परिणाम स्वरूप भी पारिवारिक संघटन विघटित होने लगे तथा महिलाओं को भरण पोषण की समस्या से जूझने के लिए ही अनेक यातनाएं सहनी पड़ीं। यहाँ तक कि अपने चरित्र तथा शील की रक्षा कर सकने में भी वे असमर्थ होतीं जा रही थीं तथा पुरुषों का एक कुलीन वर्ग उनकी इस विवशता का नाजायज लाभ उठा रहा था। वास्तव में बौद्ध काल नारी समाज के शोषण का वह चरमरूप प्रस्तुत करता है जिसमें नारी एक सार्वजनिक उपभोग की वस्तु करार दे दी गई थी। नदी, मार्ग, मधुशाला, धर्मशाला, प्याऊ आदि के समान नारी भी सर्वभोग्या उद्धोषित कर दी गई थी।^४ स्त्री को व्यभिचार का पर्यायवाची बना दिया गया था^५ लोग स्त्रियों को गिरवी रखने में भी नहीं हिचकिचाते थे।^६ इन्हीं दयनीय परिस्थितियों में असहाय एवं निर्धन स्त्रियों को रोजी, रोटी, कपड़े आदि की जरूरतों के कारण किसी की भी पत्नी बन कर रहने के लिए भी मजबूर होता पड़ता था। बौद्ध साहित्य में जिन दस प्रकार की पत्नियों का उल्लेख आया है^७ उससे तत्कालीन नारी समाज की शोचनीय दशा का अनुमान लगाना सहज है। वे दस प्रकार की पत्नियाँ निम्न कही गई थीं—

१. धनक्कीता—धन से खरीदी गई पत्नी २. छन्दवासिनी—स्वेच्छा से रहने वाली पत्नी, ३. भोगवासिनी—भोग के कारण रहने वाली पत्नी,

१. चूलवग्ग, १०.१

२. मोहनलाल महतो वियोगी, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, १९५८ पृ० १७०

३. वही, पृ०

४. यथा नदी च पन्थो च पाणागारं समा पपा ।

एवं लोकित्थियो नाम नासं कुज्झन्ति पण्डिता ॥

—अनभिरति जातक, संख्या ५८

५. धम्मद जातक, संख्या २२०

६. मोहन लाल महतो, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १७०

७. तु०—दस भरियाओ...धनक्कीता...मुहुत्तिका ।—पाराजिक, पृ० २०० तथा द्रष्टव्य कोमल चन्द्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ८६-८२

४. पटवासिनी—वस्त्र प्राप्त करने से बनी पत्नी, ५. ओदपत्तिकिनी—उदकपात्र से बनी पत्नी, ६. ओमटचूम्रटा—सिरहाने को उतरवाने से बनी पत्नी ७. दासी—नौकरानी के रूप में बनी पत्नी ८. कम्मकारी—मजदूरी पर काम करने से बनी पत्नी, ९. घञाहटा—युद्ध से लूट कर लाई गई पत्नी तथा १०. मुहुत्तिका—कुछ समय के लिए बनी पत्नी। नारी समाज के इतिहास में पत्नी पद का अवमूल्यन इतना पहले कभी नहीं हुआ था।

जैन आगम कालीन नारी

जैन आगमों की नारी की स्थिति स्मृतिकालीन इतिहास चेतना से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ती है। जैन आगमों में मनुस्मृति के अनुसार ही नारी को अपने पूरे जीवन काल में पिता, पति तथा पुत्र के अधीन रहने की मान्यता का प्रतिपादन हुआ है।^१ जैन परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में स्त्री की भी परिगणना की गई है^२ जो नारी को सम्पत्ति मानने की अवधारणा का पोषण करता है। जैन सूत्रों ने स्त्रियों को काममूलक घोषित करते हुए कहा है कि ये युद्ध की भी मुख्य कारण हैं। जैन आगमों की अनेक कथाओं में स्त्रियों की चरित्रहीनता तथा अविश्वसनीयता आदि दुर्गुणों को उभारने की विशेष प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है।^३ जैन आगमों में उपलब्ध होने वाली इस स्त्रीनिन्दा के सम्बन्ध में डा० जगदीश चन्द्र जैन का यह मन्तव्य भी उल्लेखनीय है—“स्त्रियों के सम्बन्ध में जो निन्दासूचक उल्लेख मिलते हैं वे सामान्यतया साधारण समाज द्वारा मान्य नहीं हैं। इससे यही जान पड़ता है कि स्त्रियों के आकर्षक सौन्दर्य से कामुकतापूर्ण साधुओं की रक्षा करने के लिए स्त्री चरित्र को लाञ्छित करने का यह प्रयत्न है।”^४ बौद्ध संघ व्यवस्था की भांति जैन धर्म संघ में भी साधनारत नारी की स्थिति पुरुष साधक की तुलना में निम्न मानी गई है। व्यवहारसूत्र का कथन है कि तीन वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ तीस वर्ष की पर्यायवाली

१. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २४५ तथा तु०—जाया पतिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।

विहवा पुत्तवसा नारी नग्घि नारी समंवसा ॥

—व्यवहारभाष्य, ३.२३३

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३.६७; उत्तराव्ययन टीका १८, तथा द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६४

३. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २४७-४८

४. वही, पृ० २४६

श्रमणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष का निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की श्रमणी का आचार्य हो सकता है ।^१

जैन आगमों में नारी का महत्त्व तथा उसके प्रशंसापरक तथ्यों के उल्लेख भी खोजे जा सकते हैं। इन में ब्राह्मी, सुदरी, चन्दना, मृगावती आदि ऐसी नारियों की भी चर्चा मिलती है जिन्होंने सांसारिक विरक्ति को प्राप्त कर साधना मार्ग से लोकोपकार किया था। भगवान् महावीर की शिष्या आर्य चन्दना के नेतृत्व में एक विशाल साध्वी वर्ग द्वारा सम्यक् चारित्र्य का पालन किया गया। कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन जयन्ती ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को त्याग कर साध्वी बन गई थी।^२ श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मल्ली कुमारी ने स्त्री होकर भी तीर्थङ्कर की पदवी प्राप्त की^३ परन्तु दिगम्बर परम्परा स्त्री मुक्ति का निषेध करती है तथा मल्ली को मल्ली कुमार के रूप में पुरुष तीर्थङ्कर ही मानती है।^४

वस्तुतः जैन आगमों के युग में नारी दासता के अभिशाप से निम्न वर्ग की स्त्रियाँ अत्यधिक संव्रस्त थीं।^५ पिण्डनिर्युक्ति में आई एक कथा के अनुसार छोटी-मोटी कर्जदारी हो जाने पर स्त्री को दासता स्वीकार करने के लिए विवश हो जाने का उल्लेख भी आया है।^६

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नारी अराजकता की दयनीय स्थिति को सुधारने की अपेक्षा से विवाह संस्था की वैधानिकता पर अधिक बल दिया गया है।^७ निम्नवर्ग की स्त्रियों की आर्थिक दशा को सुधारने की अपेक्षा से उन्हें गुप्तधर विभाग आदि में नियुक्त करने का प्रावधान भी किया गया। सिद्धान्त रूप से कौटिल्य नारी को एक निश्छल प्राणी मानते हैं।^८

१. व्यवहार०, ७.१५-१६; ७.४०७

२. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २५२-५३

३. जातूधर्मकथा, ८ तथा कल्पसूत्र टीका २

४. जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २५०, पा० टि० ४

५. कोमलचन्द जैन, बौद्ध तथा जैन आगमों में नारी, पृ० १८३

६. पिण्डनिर्युक्ति, ३१७-३१८

७. अर्थशास्त्र, ३.१.१

८. कुतो हि साध्वीजनस्य च्छलम्। वही, ३.४.११

स्मृति कालीन नारी

बौद्ध कालीन नारी मूल्यों की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के लगभग मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में नारी स्वतन्त्रता को पूरी तरह प्रतिबन्धित कर दिया गया। सामान्य जन जीवन में सामाजिक विसंगतियों के कारण नारी प्रतिष्ठा को जो भयंकर आघात पहुँचा था तथा जिसके कारण सार्वजनिक रूप से नारी उत्पीड़न एवं नारी व्यभिचार दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था उसको रोकने के लिए स्मृतिकार या तो पुरुषों के प्रभुत्व को चुनौती देते या फिर उनकी स्वच्छन्द वृत्तियों से संरक्षित करते हुए नारी को पुरुषायत्त आचारसंहिता से जकड़ देते। मनु आदि स्मृतिकार तत्कालीन परिस्थितियों में पुरुषायत्त समाज व्यवस्था को बदल सकने की स्थिति में नहीं थे। परम्परागत धर्म चेतनाओं ने तथा आभिजात्य समाजमूल्यों ने मिलजुल कर नारी की अस्मिता पर जो आघात पहुँचाए थे— उनके सन्दर्भ में स्मृतिकारों के पास अब केवल एक ही उपाय बचा था कि वे बचे खुचे नारी सम्मान की, दुर्दान्धों से रक्षा करने हेतु स्त्री की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाएं तथा उसे पारिवारिक पराधीनता की आचार संहिता में बँध दें। सिद्धान्ततः मनु नारी के आदर्श रूप का सम्मान करते थे।^१ परन्तु व्यवहार में उन्होंने धर्म, शिक्षा आदि सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में नारी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित कर दिया। उपनयन आदि संस्कारों के स्थान पर अब केवल 'विवाह विधि' ही उनका वैदिक संस्कार कहलाया जाने लगा तथा पतिसेवा तथा गृहकार्य ही स्त्रियों के क्रमशः गुरुकुलवास तथा अग्निहोत्रादिकर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने लगे।^२ स्मृतिकारों की व्यवस्था के अनुसार नारी को पुरुष के समान शिक्षा प्राप्ति तथा व्यक्तित्व विकास करने की पूरी छूट नहीं थी।^३ केवल पुत्रप्रसवनी एवं आदर्श गृहणी के रूप में ही उसे अपने पतिव्रत्य धर्म का निर्वाह करना होता था।^४

१. पितृभिर्भतृभिश्चैताः पतिभिर्देवैरस्तथा।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणामोप्सुभिः॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ —मनुस्मृति, ३.५५-५६

२. Altekar, Position of Women, p. 345

३. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरो वासो गृहाथोऽग्निपरिक्रियाः॥ —मनु०, २.६७

४. Kane: P. V., History of Dharmasāstras, Vol. II, pt. I pp. 561-62; Wilkins, W. J., Modern Hinduism, Delhi, 1975, p. 186

५. अभिज्ञान०, ४.१८, १९ तथा द्रष्टव्य—

Indra, The Status of Women in Ancient India, Banaras, 1965, p. 71

मनु की आचार संहिता के अनुसार जैश्वकाल में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के आधीन रहना ही नारी की नियति बन गई तथा स्वतन्त्र होकर न रहने के प्रति उसे सचेत कर दिया गया ।^१

उत्तरवर्ती स्मृति युगीन विशेषकर गुप्तकालीन नारी की दशा को यदि कालिदास साहित्य के आलोक में मूल्याङ्कित किया जाए तो हम देखते हैं कि महाकवि कालिदास ने परतन्त्र नारी की वास्तविक दशा के प्रति अपनी हार्दिक संवेदनाएं प्रकट की हैं तथा उसकी इस दशा के लिए उत्तरदायी तत्कालीन समाज व्यवस्था की विसंगतियों को उभारा है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा प्रतिपत्ता शकुन्तला का चित्रण स्मृतिकालीन नारी मूल्यों से पनपी उस तत्कालीन असहाय तथा निर्दोष स्त्री का ही प्रतिरूप है जो सामाजिक अन्धरूढ़ियों के परिणाम-स्वरूप न तो पतिगृह में स्वीकार की जाती है और न ही माता-पिता का पक्ष ही उसे आश्रय दे पाता है। उसके पास केवल एक ही मार्ग बचा है पतिकुल में दासी बन कर रहे।^२ इस अवसर पर कालिदास ने उत्पीडित शकुन्तला के मुख से दुष्यन्त के प्रति जो कठोर शब्दों को कहलवाया है उसमें नारी पीड़ा की युगीन संवेदनाएं मुखरित हुई हैं तथा पुरुष जाति के विरुद्ध अविश्वास एवं अनास्था के भाव अभिव्यक्त हुए हैं।^३ कालिदास ने इस यथार्थ को भी विशेष रूप से उभारा है कि पुरुष की स्वेच्छा से चाहे नारी को गृहलक्ष्मी के पद पर भी आसीन किया जाता होगा अथवा प्रेम के स्वार्थवश उसे सचिव, मित्र आदि का सम्मान भी दिया जाता होगा परन्तु व्यवहार में यह सब कुछ पुरुष की अनुकम्पा पर ही निर्भर करता था न कि स्त्री की स्वेच्छा पर।^४ एक आश्चर्यपूर्ण विदम्बना यह भी रही थी कि पत्नी पर चरित्रहीनता का मिथ्या आरोप लगा दिए जाने पर

१. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ —मनु०, ६.३

२. पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् । —अभि०, ५.२७

उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।—वही, ५.२७ तथा

तु० —दासीवदिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत् ।—व्यासस्मृति, २.२७

३. अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिन-
स्तृणच्छन्नकूपीपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।—अभि०, अङ्क ५

४. अभि०, ४.१६; रघुवंश, ८.६७

पुत्री के माता-पिता उसे लोकापवाद के भय से अपने घर पर रखना अनुचित समझते थे तथा पतिगृह में दासी बनकर रहने के लिए भी बाध्य करते थे।^१ कालिदास की तरह नाटककार भवभूति ने भी नारी सम्बन्धी विसंगत परिस्थितियों को उत्तररामचरित में विशेष रूप से उभारने का प्रयास करते हुए संकेत दिया है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों के चरित्र के प्रति लोग कितना सन्देहालु दृष्टि-कोण अपनाए हुए थे।^२

इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे नारी समर्थक विचारकों की मान्यताओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती जिन्होंने स्त्रियों के विषय में प्रचलित अनंगल एवं भ्रान्त धारणाओं की कटु आलोचना की है। ऐसे विचारकों में छठी शताब्दी में हुए बृहत्संहिताकार बराहमिहिर का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। बराहमिहिर का कथन है कि जो दोष स्त्रियों के बताए जाते हैं वे पुरुषों में भी विद्यमान हैं।^३ अन्तर इतना ही है कि स्त्रियाँ उनसे बचने का प्रयत्न करती हैं जबकि पुरुष उनके प्रति बेहद लापरवाह रहते हैं।^४ कामवासना से कौन अधिक पीड़ित होता है पुरुष या स्त्री? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि 'पुरुष वृद्धावस्था में भी विवाह करते हैं परन्तु स्त्रियाँ वान्यावस्था में भी विधवा हो जाने पर सदाचार का जीवन बिताती हैं।'^५

वस्तुतः भारतीय परिवेश में पुरुष को नारी से उत्कृष्ट मानने की दार्शनिक मनोवृत्तियों एवं पितृमूलक कुलतन्त्र की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों ने प्रत्येक युग में एक दूसरे से मिलजुल कर नारी दासता की विभीषिकाओं को जन्म दिया है। परन्तु आश्चर्यजनक यह है कि विधुद्ध सामाजिक धरातल पर नारी समर्थक

१. अभि०, ५.२७

२. यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।

—उत्तररामचरित, १.५

३. प्रब्रूत सत्यं कतरोऽङ्गनानां दोषोऽस्ति यो नाचरितो मनुष्यैः।

घाष्ट्येन पुम्भिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकारस्ता मनुनात्र चोक्तम् ॥

—बृहत्संहिता, ७४.६

४. दम्पत्योर्व्युत्क्रमे दोषः सभः शास्त्रे प्रतिष्ठितः।

नरा न समवेक्षन्ते तेनात्र वरमङ्गना ॥—बही, ७४.१२

५. बही, ७४.१६ तथा तु०—पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास,

भाग १, पृ० ३२७

विचारक न तो कोई ऐसा आन्दोलन ही दे पाए जिससे नारी जाति पर होने वाले अत्याचारों का प्रतिरोध किया जा सके और न ही नारी समाज संगठित होकर इतना साहस जुटा पाया कि वह छीने हुए अपने मौलिक अधिकारों को पुनः प्राप्त कर सके। शायद नारी समाज की यही सबसे बड़ी कमजोरी रही है कि अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए सबसे पहले उसे अपने पिता, पति या पुत्रों से ही संघर्ष करने की आवश्यकता थी जिसके प्रति वह न तो सचेत थी और न ही ऐसा करना उचित समझती थी। वराहमिहिर, कालिदास, भवभूति आदि अनेक विचारकों ने नारी की इस विवशता को पहचाना है तथा उसकी परवशता और कर्तव्यपरायणता के प्रति हार्दिक संवेदनाएं भी प्रकट की हैं।

आलोच्य युगीन मध्यकालीन नारी

आलोच्य महाकाव्ययुग में सामाजिक दृष्टि से मध्यकालीन नारी की स्थिति स्मृतिकारों की आचारसंहिता से ही प्रभावित जान पड़ती है किन्तु सामन्तवादी भोग विलास की परिस्थितियों ने स्त्री मूल्यों को नया मोड़ भी दे दिया था। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में स्त्री-चेतना बहुत चामत्कारिक रूप से प्रविष्ट हो चुकी थी। इस युग में स्त्री को सौन्दर्यानुभूति के तत्त्वों ने विशेष रूप से अनुप्राणित कर लिया था।^१ फलतः कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनों तथा काम-विलास से सम्बन्धित श्रृङ्गारिक हाव-भावों द्वारा स्त्री आभिजात्य पुरुष वर्ग पर अपनी धाक भी जमाए हुई थी।^२ किन्तु यह प्रभाव सामाजिक संरक्षण

१. सर्वाः स्त्रियः प्रथमयीवचनगर्ववन्त्यः सर्वाः स्वमातृपितृगोत्रविशुद्धवन्त्यः।

सर्वाः कलागुणविधानविशेषदक्षाः सर्वा यथेष्टमुपभोगपरीप्सयिन्यः॥

—वराह्म०, १.५६ तथा

तां तथा समवलोक्य सत्यया चित्यतेस्म किमियं सुराङ्गना।

नागयोषिदथ सिद्धकन्यका रोहिणी किमुत कामवल्लभा।

—प्रद्यु०, ३.६२

२. उरसि प्रगल्भकुचकुम्भभासुरे मणिहारयष्टिमयतोरणावलीम्।

सविधे स्ववल्लभसभागमोत्सवे रमयांचकार चतुरः प्रियाजनः॥

—नेमि०, ६.४३ तथा

सु०—कुचौ सुवृत्तौ धृतहारयष्टी सकञ्चुकौ रेजतुरम्बुजाक्षयाः।

रते स्थिताया हृदि रक्षणाय स्मरप्रयुक्ताविव सौविदल्लो॥

—कीर्ति०, ७.५४

आदि से युक्त न होकर पुरुषों की काम-लोभुपता को शान्त करने की दृष्टि से था ।^१ भोग्या के रूप में नारी की प्रतिष्ठा प्राप्त होने का मुख्य कारण सामन्तवादी भोगविलास ही था । मध्यकालीन साहित्य चेतना में स्त्री-सौन्दर्य को जितना उभारा गया है उससे भी नारी की स्थिति में पर्याप्त अन्तर आया तथा नारी को तत्कालीन समाज की एक ऐश्वर्यपूर्ण आवश्यकता के रूप में महत्व दिया जाने लगा था ।^२ मध्यकालीन ऐश्वर्य भोग के संसाधनों के साथ नारी इतनी घुलमिल गई थी, जिसके कारण एक ओर सामन्ती जन-जीवन को सार्थकता प्रदान करने की दृष्टि से वह संजीवनी शक्ति का काम कर रही थी तो दूसरी ओर समाज के व्यापक सन्दर्भों में भी एक भोग्या के रूप में उसका प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था । आलोच्य महाकाव्यों के अश्लील एवं बीभत्स श्रृङ्गारिक वर्णन समाज के उच्चवर्गीय सामन्तादि राजाओं की सौन्दर्य भोग की लालसाओं को उत्तेजित एवं उद्दीप्त करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं ।^३ मध्यकालीन कवियों ने भी युगीन आवश्यकता के अनुरूप दो प्रमुख चेतनाओं को अपने काव्यों में प्रमुख स्थान दिया इनमें से एक युद्ध-चेतना थी तो दूसरी नारी-चेतना ।^४ कभी-कभी इन दोनों चेतनाओं को उपमेय-उपमान भाव से प्रस्तुत करते हुए युद्ध तथा नारी को आलोच्य युग के एक मुख्य कथ्य रूप में भी स्वीकार किया गया है ।^५ मध्यकालीन भारत के राजनैतिक

१. तासां वधूनां रमणप्रियाणां कीडानुषङ्गक्रमकोविदानाम् ।

आलापसंस्लापविलास भावैः कालो व्यतीतो धरणीन्द्रसूतोः ॥

—वराह्मण, २.६१

२. आश्रमः सर्वशास्त्राणामाकरः सर्वसम्पदाम् ।

अन्योन्यसमयुग्माङ्गव्यञ्जनानामुपाश्रयः ॥

आभिरूप्यस्य नियतिः सीमा सौभाग्यसम्पदः ।

लावण्यस्य पथोराशिः कलानां नित्यचन्द्रिका ॥

आदिप्रजापतिः स्याच्चेन्नूनं तेनान्त्यवेधसाम् ।

स्त्रियः स्रष्टुं प्रतिच्छेदं कृता ग्राम्या वधूरियम् ॥ —द्विस०, ७.७०-७२, ७३

३. धर्म०, सर्ग १५; चन्द्र०, सर्ग १०; नेमि०, सर्ग १०; हम्पीर०, सर्ग १५

४. सपदि चक्रकृपाणशरावलीप्रभृति शस्त्रचयं किमसज्जयन् ॥

—हम्पीर०, ७.३०-३१

५. चक्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशैरतिहारहारैः ।

भूभिश्च चापाकृतिभिर्विरेजुः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः ॥

—नेमि०, १.३६

वातावरण ने नारी की स्थिति को विशेष प्रभावित किया था। भोग्या के रूप में नारी कितनी रामबाण सिद्ध हो गई थी इसका अनुमान लगाना तब और भी सहज हो जाता है जब हम देखते हैं कि नारी युद्ध का कारण थी तथा नारी ही युद्ध शान्ति भी करवा सकती थी। माहित्य संसार में युद्ध पराक्रम वर्णन के समान नारी सौन्दर्य वर्णन को भी मुख्यता दी जाने लगी थी। संक्षेप में मध्यकालीन भारतवर्ष की नारी एक भोग्या की विराट् शक्ति के रूप में समाज पर हावी थी तथा समाज के विभिन्न राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रों में भी उसका यह रूप छा चुका था।

समाज की सर्वव्यापक शक्ति के रूप में स्त्री

राजनैतिक क्षेत्र में स्त्री

आलोच्य काल में स्त्री यद्यपि पुरुषों के समान राजनीति में आमने सामने भाग नहीं ले पाई थी तथापि युगीन राजनैतिक परिस्थितियों को मोड़ देने में तथा तत्कालीन राजनैतिक वातावरण को स्फुरित करने में उसकी अहम् भूमिका देखी जाती है। इसी राजनैतिक नारी चेतना से अनुप्राणित होकर प्रायः राजा अपनी कन्याओं के विवाह सम्बन्धों द्वारा अपनी राजनैतिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे थे।^१ अनेक प्रकार के विवाह-प्रकार अधिकांशतः राजनैतिक प्रयोजनों की दृष्टि से ही सम्पादित होते थे। युद्ध के अनेक कारणों में से स्त्री भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बनी हुई थी।^२ परराष्ट्र नीति-निर्धारण में भी स्त्रियों के प्रयोग द्वारा अनेक दुःसाध्य कार्यों को साधने का प्रयास किया जाता था।^३ सामन्तशाही राजशक्तियाँ नारी का राजनैतिक प्रयोग करके अपनी दूरदर्शिता का प्रदर्शन करने में लगी हुई थीं तो वहाँ दूसरी ओर नारी शक्ति राजशक्तियों को अपने हाथ का खिलौना भी बनाए हुए थी।

वराङ्गचरित महाकाव्य में तो रानी द्वारा प्रत्यक्ष रूप से भी राजनीति में

१. समेत्य तैर्मन्त्रितमन्त्रिभिश्च कन्याप्रदानं प्रतिनिश्चितार्थः।

—वराङ्ग०, २.५१

२. चन्द्र०, ६.८६-८६

३. न सा सुनन्दा परिणीयते चेत्स्यान्मित्रभेदः स हि दोषमूलः।

—वराङ्ग०, २.२४

भाग लेने का उल्लेख आया है।^१ राजा महासेन द्वारा युवराज वराङ्ग के राज्याभिषेक होने के समाचार को जानकर उन्हीं की एक दूसरी रानी तथा मन्त्री द्वारा उत्तराधिकारी राजकुमार को पदच्युत करने का सफल राजनैतिक षड्यन्त्र सम्पादित किया गया था^२ जो इस तथ्य का प्रमाण है कि अन्तःपुर में रहते हुए भी राजघराने की स्त्रियाँ राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने लगी थीं। उधर पुरुष वर्ग भी स्त्री को अपने कार्यों की साधना के लिए प्रयोग में लाते थे। हम्मीर महाकाव्य के एक उल्लेखानुसार यह भी विदित होता है कि हम्मीर अपनी पुत्री का अराउद्दीन के साथ यदि विवाह कर देता तो वह युद्ध से बच सकता था।^३ हम्मीर की पुत्री इसके लिए तैयार थी किन्तु हम्मीर ने ऐसा नहीं होने दिया।^४

धार्मिक क्षेत्र में स्त्री

भालोच्य काल में स्त्री प्रत्यक्षतः धर्म की साधना के लिए पुरुषों के समान योग्य मानी जाती थी।^५ जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में यह भी स्वीकार किया गया है कि स्त्री को आगार तथा अनागार दो धर्मों की दृष्टि से सर्वप्रथम आगार प्रर्थात् गृहस्थ धर्म की ही शिक्षा देनी चाहिए।^६ वैसे स्त्रियाँ आधिकार्यों के रूप में तपस्या कर अनागार धर्म का सम्पादन करने के लिए भी स्वतन्त्र थीं।^७ वराङ्गचरित के उल्लेखानुसार रानियाँ धर्म कार्य में विशेष रुचि लेती थीं तथा व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाओं का आचरण भी करती थीं।^८

१. वराङ्ग०, १२.१-३२

२. वर्यं विमुद्धा यदि च त्वदर्थे अस्मत्सुहृद्भिः सुकृतं यदि स्यात् ।
निवर्त्य तस्याद्य हि यौवराज्यं सुषेणमास्थापय यौवराज्ये ॥

—वराङ्ग०, १२.१५

३. सुतां च दत्वा किरीटी कुरु तो निदेशम् ।
मत्प्रदानेन साम्राज्यं चिरं यत् क्रियते स्थिरम् ।

—हम्मीर०, ११.६०, १३.१०६

४. हम्मीर १३.१०८-२८

५. वराङ्ग०, २३.५६-५७ तथा चन्द्र०, ३.६१

६. विमुक्तिधर्मप्रविहाय तस्यै प्रोवाच सम्यग्गृहिषममेव ॥

—वराङ्ग०, २२.२८

७. वही, ३१.१-७

८. वराङ्ग०, १५.१३२-४३ तथा २३.५५-६०, चन्द्र०, ३.६१

जैन देवशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार व्रताचरण के फलों में स्वर्ग प्राप्ति प्रमुख फल था तथा उसमें भी देव-कन्याओं के साथ रमण करने का सुख सार समझा जाता था ।^१ 'स्वदारसंतोषव्रत' की जैन मान्यता को कभी-कभी चुनौती भी दी जाती रही थी तथा भौतिकवादियों द्वारा यह उपदेश भी दिया जाने लगा था कि जो पुरुष इस संसार में ही उपलब्ध सुन्दर स्त्रियों के भोग की उपेक्षा करता है वह स्वयं को वंचित कर रहा है ।^२ सामन्तवादी मूल्यों से अनुप्रेरित समाज का एक वर्ग धर्म और दर्शन की परलोक सम्बन्धी मान्यताओं का विरोध भी कर रहा था तथा उपभोगवादी जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न प्रकार के भोगों^३ के साथ 'स्त्री उपभोग'^४ को मानव जीवन की सार्थकता के रूप में प्रतिपादित कर रहा था ।

दार्शनिक क्षेत्र में स्त्री

जैन दर्शन की दृष्टि से आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में नारी प्रवेश को पूरी मान्यता प्राप्त थी । वराङ्गचरित महाकाव्य में आर्यिकाओं के रूप में नारियाँ

१. यथालकायां सुरसुन्दरीभिः सहैव रेमे भगवान्महेन्द्रः ।

मदेन विभ्राजितलोचनाभी रेमे चिरं भूमिपतिस्तथैव ॥

—वराङ्ग०, २८.३२

व्रते दिवं यान्ति मनुष्यवर्गा दिवश्च सारोऽप्सरसोवराङ्गघः ॥

—वही, १६.६४

२. वही, १६.६०-६४

३. भोज्यानि भोज्यान्यमृतोपमानि च पेयानि पेयानि यथाश्चि प्रभो ।

—पद्मा०, ३.१३०

४. तन्व्यः सुतन्वाः सुकुमारतागुणैः शिरीषपुष्पाणि कठोरयन्ति याः ।

ताभिः सुखं खेलतु निर्भयं विभुमंरालरोमावलितूलिकाङ्गकः ॥

समागमोत्कण्ठितकामिनीघटा चटूक्तिभिः कर्णरसायनं तव ॥

—वही, ३.१२६, ३३ तथा

अस्मिन्सारे संसारे सारं सारङ्गलोचना ।

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाल भवादृशाः ॥

—पद्मानन्द महाकाव्य, भूमिका, पृ० २१ पर उद्धृत

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्वों को हृदयङ्गम करती थीं।^१ वैराग्य भावना के कारण परिवार के लोगों द्वारा जैन दीक्षा धारण कर लेने के उपरान्त स्त्री को भी दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।^२ पत्नी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण किए हुए पति का अनुसरण करना पतिभक्ति का आदर्श भी माना जाने लगा था।^३

मध्यकालीन दार्शनिक विचारधाराएं भी स्त्री-चेतना से विशेष प्रभावित हुई थीं। प्रायः इस युग के आचार्य दार्शनिक तत्त्वों को विशद करने के लिए घट-पट आदि उदाहरणों के समान स्त्री-भोग-विलास, से सम्बन्धित दृष्टान्तों द्वारा विवेच्य वस्तु को समझाने का प्रयास भी करने लगे थे। जयन्तविजय में पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण के जो विभिन्न दृष्टान्त दिए गए हैं उनमें रमणियों का रूप-दर्शन, अधरामृत आस्वाद, लय एवं मूच्छना श्रवण, सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध तथा विविध अंगों का स्पर्श सुख आदि उदाहरण इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।^४ इसी प्रकार दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थ में स्फोटवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त की चर्चा के प्रसंग में नतकी के हाव-भावों तथा कटाक्षों द्वारा अर्थग्रहण होने की जिस नवीन मान्यता का उल्लेख किया वह भी आलोच्य काल की दार्शनिक मान्यताओं पर पड़ने वाले स्त्री मूल्यों के प्रभाव को ही विशद करता है।^५

आर्थिक क्षेत्र में स्त्री

मध्यकालीन भारत की सामन्तवादी अर्थव्यवस्था में स्त्री तथा उसके सौन्दर्योपभोग की विभिन्न वस्तुओं का विशेष महत्त्व हो गया था। विभिन्न प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों तथा अनेक प्रकार के आभूषणों की स्त्री के सन्दर्भ में विशेष

१. ताश्च प्रकृत्यैव कलाविदग्धा जात्यैव धीरा विनयैर्विनीताः ।

आचारसूत्राङ्गनयप्रभङ्गानाधीयते स्माल्पतमैरहोभिः ॥

—वराङ्ग०, ३१.१, ७

२. नवोढा अपि हि त्यक्ता प्रव्रजिष्यामि निर्ममः ।

—परि० २.१८७ तथा

भ्राता मम प्रव्रजितो भर्ता प्रव्रजितोऽथ मे ।

प्रव्रजिष्यति पुत्रोऽपि प्रव्रज्याम्यहमप्यतः ॥

—वही, १२.१३२

३. प्रव्रज्यामितरद्वापि यच्चज्जम्बूः करिष्यति ।

तदेव पतिभक्तानामस्माकमपि युज्यते ॥

—वही, २.१२६-३०

४. जयन्त०, १५.१८-२२

५. एतेन हस्तपादकरणमात्रिकाङ्गहारादि स्फोटोप्यापादितो द्रष्टव्यः ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, ३.३.१०१, पृ० ४५७

उपयोगिता प्रतीत होने लगी थी ।^१ उच्च वर्ग की स्त्रियाँ सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग करती थीं ।^२ दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी थी कि किसी राजकुमारी के विवाहादि अवसरों पर अत्यधिक मात्रा में दान-दहेज आदि का व्यवहार होता था ।^३ दान के रूप में धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त अनेक शिल्पी, दास-दासियाँ, कलाकार तथा ग्रामादि दान में दिए जाते थे । ग्रामादि तथा शिल्पादि को दहेज के अवसर पर उपहार के रूप में देने के कारण भी मध्यकालीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था में सम्पत्ति के हस्तान्तरण एवं विकेंद्रीकरण की स्थिति सुदृढ़ होती गई थी ।^४ इस प्रकार सम्पत्ति की अवधारणा के साथ नारी मूल्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था । सामन्तवादी अर्थ चेतना की दृष्टि से सम्पत्ति का उपभोग करने वाले आभिजात्य वर्ग एवं उनके लिए श्रम करने वाले श्रमिक वर्ग जैसे दो वर्गों का अस्तित्व बना हुआ था वैसे ही नारी समाज में भी इसी अर्थ चेतना के आग्रह से एक ओर उच्चवर्ग की स्त्रियाँ थीं तो दूसरी ओर दासी और परिचारिकाओं का कार्य करने वाली निम्नवर्गीय नारियों का समाज भी संघटित हो चुका था । आर्थिक व्यवसाय तथा जीवन आपन करने की दृष्टि से निम्न वर्ग की स्त्रियाँ राजप्रासादों में सेविका के रूप में कार्य करती थीं ।^५ वेश्या तथा नर्तकी के रूप में भी स्त्री अपना व्यावसायिक महत्त्व बनाए हुए थी ।

परिवार में स्त्री का स्थान

माता के रूप में स्त्री

माता के रूप में स्त्री प्राचीन काल से ही अपनी महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा बनाए हुए थी ।^६ माता को समाज में गुरु से भी अधिक सम्मान प्राप्त था ।^७ आलोच्य काल में भी इसी रूप में माता पूजनीय तथा सम्माननीय रहती थी ।^८ माता के

१. विशेष द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३००

२. वराह्म०, १५.५७-६१ तथा पद्मा०, ६.५३-६३

३. वराह्म०, १६.२१-२३

४. प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६८

५. ततो वामनिकाः कुब्जा धात्र्यः सपरिचारिकाः । —वराह्म०, १५.३६

६. मातृदेवो भव । —तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११.२

७. आचार्यः श्रेष्ठः गुरुणां मातृत्येके । —गीतमधर्मसूत्र, २.५०

८. परि०, १३.५-६

पुत्र-वात्सल्य-प्रेम का अनेक महाकाव्यों में मार्मिक चित्रण हुआ है। वराह-चरित में पुत्र वराह के अपहरण की सूचना पाकर उसकी माता गुण देवी शोक-विह्वल होकर मूर्च्छित हो जाती है।^१ माता के लिए पुत्र वियोग का दुःख अत्यधिक असह्य हो जाता था।^२ कभी कभी माताएं अपने पुत्र-वात्सल्य-प्रेम के कारण अपने सौतेले पुत्र के साथ दुर्व्यवहार करती हुई भी चित्रित हुई हैं।^३

प्रद्युम्नचरित तथा चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यों में पुत्र-अपहरण की घटना से माता के अत्यधिक वेदनाशील होने का उल्लेख आया है।^४ माता के लिए सन्तान वात्सल्य सर्वोत्कृष्ट सुख था।^५ सन्तानोत्पत्ति के बिना स्त्रियाँ अपना जीवन सार्थक नहीं मानती थीं।^६ समाज में बिना पुत्र वाली स्त्री को प्रायः निन्दा की जाती थी।^७ स्त्री से सन्तान होना ही उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला एक महत्वपूर्ण पहलू था।

कन्या के रूप में स्त्री

परिवार संस्था के सन्दर्भ में कन्या ही सर्वप्रथम पुत्रवधू अथवा पत्नी के रूप में तदनन्तर माता के रूप में अपनी भूमिकाओं का पालन करती है। कन्या के लिए

१. हा पुत्र केन नीतस्त्वमित्युक्त्वा न्यपतद्भुवि ।

—वराह०, १५.२३ तथा १५.२४

२. तवागतात्र या पीडा सा मे किं न भविष्यति ।

वरं मे मरणं वत्स जीवितं किं त्वया विना ॥

—वराह०, १५.२६ तथा

किं जीवितेन मम पुत्र विना त्वयाद्य किं राज्यकोशहरिसामजसदगणेन ।

—प्रद्यु०, ५.११

३. न स्यात्सुतः किं नृपतेः प्रियो वा के वा गुणा मत्तनये न सन्ति ।

ज्येष्ठे सुते राज्यधुरः समर्थे पराभिषेकं तु कथं सहिष्ये ॥

—वराह०, १२.६

४. प्रद्यु०, ५.११-१५ तथा चन्द्र०, ५.५७

५. या स्त्यानर्षामिणि पुरंध्रिजने प्रसिद्धं

स्त्रीशब्दमुद्रहति कारणानिर्व्यपेक्षम् ॥

—चन्द्र०, ३.३२

६. धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहामि ताम्यो-

यासाममीभिरफला तनयैर्न सृष्टिः ॥

—वही, ३.३०

७. ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा

वन्ध्या लता इव भृशं न विभान्ति लोके ॥

—वही, ३.३१

आवश्यक था कि वह सुशील, सर्वगुणसम्पन्न तथा ललित कलाओं में निपुण हो। विवाह की दृष्टि से उसे कुछ स्वतन्त्रता भी मिली हुई थी किन्तु पूर्व-नियोजित विवाह प्रकारों में माता-पिता पर ही इसका दायित्व होता था। कुछ प्रेम-विवाहों के प्रचलन होने का भी उल्लेख आया है फलतः अनुमान किया जा सकता है कि कन्या स्वयं भी विवाह-योग्य वर का चयन करने में पूर्णतः स्वतन्त्र मानी जाने लगी थी। कभी-कभी माता-पिता कन्या के इस प्रेम-भाव को जान कर विवाह में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करते थे।^१

कन्याएँ किसी पराक्रमी एवं रूप-सौन्दर्य की दृष्टि से आकर्षक युवक के साथ गान्धर्व विवाह की इच्छा भी रखती थीं।^२ वराङ्गचरित महाकाव्य में राजकुमार वराङ्ग पर मुग्ध मनोरमा अपनी सखी के माध्यम से प्रेम-विवाह का प्रस्ताव भिजवाती है।^३ इसी प्रकार चन्द्रप्रभ महाकाव्य में राजकुमारी शशिप्रभा भी नगर में आए राजकुमार से प्रेम करने लगी थी।^४ इस प्रकार कन्या के रूप में पूर्णतः पारिवारिक नियन्त्रण में रहने पर भी नारी को प्रेम विवाह प्राप्ति की छूट दी जा सकती थी।

पुत्रवधू के रूप में स्त्री

वराङ्गचरित महाकाव्य में श्वसुर तथा पुत्रवधू के मध्य परस्पर वार्तालापों द्वारा तत्कालीन पुत्रवधू की स्थिति का अनुमान लगाना सहज है।^५ पुत्रवधूएं श्वसुर की कुटुम्ब का मुखिया मानती थीं।^६ पति की अनुपस्थिति में कोई भी कार्य श्वसुर की अनुमति के बिना नहीं किया जाता था। राजकुमार वराङ्ग के लापता हो जाने पर उसकी सभी पत्नियाँ शोकाकुल होकर श्वसुर के पास पहुँचीं तथा अग्नि-प्रवेश द्वारा प्राणान्त करने की अनुमति मांगी।^७ किन्तु श्वसुर ने ऐसा

१. चन्द्र०, ६.७०-७१

२. यथा यथा तं मनसा स्मरामि मुनेन्द्रविक्रान्तमनङ्गरूपम् ।
तथा तथा मां प्रदहत्यनङ्गः कुहूँ तच्छान्तिकरं वयस्ये ॥

—वराङ्ग०, १६.५७

३. वही, १६.५८-६४

४. चन्द्र०, ६.४५-७०

५. वराङ्ग०, १५.४८-७०

६. वराङ्ग०, १५.५१-५२

७. न जीवितुमितः शक्ता विना नाथेन पार्थिव ।

त्वया प्रसादः कर्त्तव्यः पावकं प्रविशाम्यहम् ॥ —वही, १६.६२

करने की अनुमति नहीं दी।^१ वराहचरित में पुत्रवधू तथा स्वसुर राजा महासेन के मध्य जो विचारों का आदान-प्रदान हुआ उससे प्रतीत होता है कि पुत्रवधुएं निःसंकोच होकर बोल सकती थीं तथा अपने निश्चय को बताने का उनमें पर्याप्त साहस भी होता था। किन्तु यह साहस शिष्टाचार से पूर्ण कुलस्त्री की मर्यादाओं के अनुरूप ही था।^२ स्वसुर की आज्ञानुसार सभी पुत्रवधुओं ने अग्निप्रवेश करने के अपने निश्चय को त्याग दिया तथा धर्माचरण में चित्त लगाना प्रारम्भ कर दिया।^३ परिवार में पुत्रवधू अपने विचारोद्घाटन के लिए यद्यपि स्वतन्त्र थी किन्तु वह अपने से बड़े लोगों की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकती थी।

पत्नी के रूप में स्त्री

जैन संस्कृत महाकाव्यों में आदर्श पत्नियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। पति तथा पत्नी के मध्य सौहार्दपूर्ण वातावरण तथा पारस्परिक अनुराग भावना आदि वैशिष्ट्य आदर्श दाम्पत्य जीवन के मूलाधार माने गए हैं।^४ वराहचरित महाकाव्य में राजा वराह तथा उसकी अनेक पत्नियों के मध्य मधुर सम्बन्ध थे।^५ प्रायः रानियाँ राजा के आदेशों का पालन करते हुए ही पतिव्रता के मार्ग का अनुसरण करती थीं।^६ चन्द्रप्रभवचरित के कनकप्रभ तथा सुवर्णमाला^७ एवं अजितसेन तथा शशिप्रभा^८ आदि दम्पतियों के मध्य भी दाम्पत्य जीवन वासनात्मक प्रेम पर आधारित न होकर विशुद्ध प्रेम पर ही आधारित था। प्रद्युम्नचरित महाकाव्य में रुक्मिणी तथा कृष्ण का दाम्पत्य जीवन विलासात्मक क्रीडाओं

१. वराह०, १५.६४-६५

२. वराह०, १५.५१-५२, तथा ६१.६२

३. इत्युक्ता भूभुजा साध्वी स्वसुरं धर्मवत्सलम्।

यस्त्वया शिष्यते धर्मः स एवोपास्यते मया ॥ —वराह०, १५.७०

४. वराह०, २.६०-६३, नेमि०, १०.४५-४६

५. वराह०, २.६०-६३

६. बाक्षिण्यवैर्विविनयोपचारैर्जंहार चेतः सततं स्वभर्तुः।

—वराह०, १६.३५

७. बभूव लक्ष्मी पुरुषोत्तमस्य सा मृगक्षणा तस्य नृपस्य मन्दिरे।

—चन्द्र०, १.५७

८. चन्द्र०, ६.७२

के कारण विशेष रूप से सुखी बना हुआ था।^१ धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में वर्णित शृंगारवती तथा धर्मनाथ के दाम्पत्य जीवन भी आदर्श रूप से अनुकरणीय कहे जा सकते हैं।^२ नरनारायणानन्द के सुभद्रा तथा अर्जुन^३ एवं जयन्त-विजय में जयन्त तथा कनकवती^४ के दाम्पत्य जीवन भी प्रेमभावना के कारण अत्यधिक सुखी थे।

अपवाद रूप से पार्श्वनाथ महाकाव्य में वर्णित वसुन्धरा तथा मरुभूति के दाम्पत्य जीवन में पर्याप्त कटुता के दर्शन भी होते हैं। वसुन्धरा अपने पति मरुभूति के प्रति यद्यपि पूर्णासक्त थी तथा ज्येष्ठ भाई कमठ के अपनी ओर कामासक्त होने पर वह चरित्र भ्रष्ट भी हो जाती है। वह कमठ के समक्ष आत्म-समर्पण कर देती है।^५ यशोधरचरित में भी एक ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है, जहाँ एक रानी महावत से प्रेम करती हुई दाम्पत्य जीवन के आदर्शों की मर्यादाओं का उल्लङ्घन करती है।^६ इसे सम्पूर्ण नारी जाति के कलंक के रूप में निरूपित किया गया है।^७ वर्धमानचरित महाकाव्य में जन सामान्य से सम्बन्धित गौतम तथा कौशिकी के सुखी दाम्पत्य जीवन का वर्णन भी आया है।^८ वर्ध० में ही राजा मयूरकण्ठ तथा रानी कनकमाला भी आदर्श पति-पत्नी के उदाहरण कहे जा सकते हैं।^९ आदर्श पत्नियों के गुणों में रूप सौन्दर्य से युक्त होना, विभिन्न प्रकार की प्रेम क्रीड़ाओं को सम्पादित करने में दक्ष होना, पति पर अनुरक्त रहना, सत्य बोलना, सरल एवं शान्त स्वभाव होना, दया से युक्त होना, छल-प्रपञ्च तथा मिथ्या-भाषण से दूर रहना आदि गुण उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं।^{१०}

१. प्रद्यु०, ४.२४-२७

२. धर्म०, सर्ग १८

३. नर०, सर्ग १५

४. जयन्त०, ८.६६-७४

५. पार्श्व०, २.२६-५०

६. अहो विचित्रं मकरव्यजस्य विडम्बनं स्तम्भितवस्तुबुद्धेः।

देवी तु मर्त्याकृतिरुर्वशी सा यदीदृशं कामयते निष्कृष्टम् ॥

—यशो०, २.३८

७. स्त्रीणामपात्रेऽभिरतिः स्वभावः।

—वही, २.४१

८. कौशिकी कुशला गेहे गेहिनी चास्य बल्लभा।

—वर्ध०, ३.६१

९. वर्ध०, ५.१५-२०

१०. वराङ्ग०, २.६०-६३; चन्द्र०, १.५२ तथा परि०, २.७

इसके विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियों की निन्दा की जाती थी। युगीन कथाओं आदि में राज-पत्नियों द्वारा चोरी छिपे अपने प्रेमियों को आश्रय देने की मान्यताएं भी समाज में प्रचलित थीं।^१ परिशिष्ट पर्व के अनुसार रानियों की नौकरानियां इस प्रकार के कार्यों में विशेष सहायक रहती थीं।^२ संक्षेप में, दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने में नारी की पत्नी के रूप में विशेष भूमिका थी। पति यदि चरित्रहीन हो तो दाम्पत्य जीवन के मध्य कटूता आने की सम्भावनाएं आ जाती थीं।

स्त्री भोगविलास तथा मदिरापान

युगीन सामन्तवादी भोगविलास के मूल्यों ने दम्पतियों की कामविलासात्मक चेष्टाओं को भी विशेष प्रभावित कर लिया था। वराङ्गचरित में उल्लेख आया है कि दम्पति मदिरा-पान कर कामक्रीडाओं में प्रवृत्त होते थे।^३ धर्मशर्माम्युदय महाकाव्य के अनुसार भी दम्पतियों द्वारा पान-मोष्ठी में सम्मिलित होने का उल्लेख आया है।^४ नेमिनिर्वाण^५ तथा वसन्तविलास^६ आदि महाकाव्य भी इसकी पुष्टि करते हैं। नेमिनिर्वाण महाकाव्य के उल्लेखानुसार काम-ज्वर बढ़ाने तथा रमणियों में कामासक्ति को उत्तेजित करने के लिए कामीजन मदिरा का सेवन

१. तदान्यपुंसां सम्भोगविषयो राजपत्न्यपि ।

—परि०, २.२४२ तथा ३.२४७-४८

२. परि०, ३.२४३

३. मदिरामललोललोचनानां वनितानां सुरतोत्सवप्रियाणाम् ।

—वराङ्ग०, २४६

४. सा दम्पत्योरजनि मदनोज्जीविनी कापि गोष्ठी—

स्वस्थाः केऽपि मधुश्रुता इव मधून्यापातुमारेभिरे ॥—धर्म०, १४.८३-८४

५. अम्युदगते शशिनि मन्मथमूलभात्रे

पीत्वा मधूनि मधुराणि यथाभिलाषम् ।

लीलाविनीतवनितासुरतप्रसङ्गैः

क्षोणीभूतः क्षणमिव क्षणदामनैषु ॥

—नेमि०, १०.६६

६. यन्मिथोऽप्यपिबतां प्रियापितं दम्पती मधु तदोष्ठपल्लवः ।

—वसन्त०, ८.५१

करते थे ।^१ सहवास आदि अवसरों पर कामशक्ति को उद्दीप्त करने तथा उसके क्रम को निरन्तर बनाए रखने की अपेक्षा से भी मदिरापान को एक रामबाण औषधि के रूप में प्रयोग करने की मान्यता प्रचलित थी ।^२ धर्मशर्माभ्युदय में रतिक्रीड़ा को देर तक चलाए रखने के लिए मद्यपान की सराहना की गई है ।^३ मद्युपान करने से वनिताएं विशेष रूप से कामविह्वल हो उठती थीं तथा उन्हें अपने शरीर की भी मद्य नहीं रहती थी ।^४ पुरुषों में भी मद्युपान द्वारा बस्त्रों के अस्त व्यस्त होने, लड़खड़ा कर चलने, अस्पष्ट बोलने, पृथ्वी पर पुनः पुनः गिरने जैसी बाल चेष्टाएं वर्णित हैं ।^५ मद्युपान करने के उपरान्त स्त्रियों का रंग लाल हो जाता था तथा वे टूटे फूटे शब्दों में बोलने लगती थीं ।^६ इस प्रकार तत्कालीन समाज में दम्पतियों में परस्पर स्वच्छन्दचारिता तथा निर्लज्ज काम-चेष्टाओं के मूल्य स्त्रियों तथा पुरुषों के यौन सम्बन्धों को प्रभावित किए हुए थे ।^७ तथा इन

१. धर्म मन्मथज्वलनवृद्धिविधाविव सर्पिरपितमनः प्रमदम् ।

विशदं सुगन्धि सरसं शिशिरं मद्यु पातुमारभत कामिजनः ॥

—नेमि०, १०.१ तथा

पीतमात्रमपि मैथुनोद्यमे कस्य कस्य न हि कम्पमातनोत् ।

—वसन्त०, ८.५६

२. इतरेतरं मुखसुराग्रहणक्षणचुम्बनोपचितभावभरः ।

सपदि प्रसारितभुजामिलितमिथुनैरतन्यत रताय मनः ।—नेमि०, १०.१६ तथा

न वितृष्णतामुपययौ मदिरासलिलं पिबन्नपि स कामिजनः ।—वही, १०.१३

३. भूरिमद्यारसपानविनोदगोष्ठ्यन्यहृदयानि तदानीम् ।

कान्यपि स्म मिथुनानि न वेगात्प्राप्नुवन्ति रतिकेलि समाप्तिम् ॥

—धर्म०, १५.६३

४. उत्तरीयमपकर्षति नाथे प्रावरिष्ठ हृदयं स्वकराम्याम् ।

अन्तरीयमपरा पुनराशुभ्रष्टमेव न विवेद नितम्बात् ॥ —धर्म०, १५.३१

सुभ्रुवा दयितया च चुम्बनालिङ्गनैविकसदङ्गसम्पदा ।

अन्तरीयमगलन्ति तम्बतः कञ्चुकस्य गृहकाणि तुष्टुः ॥

—वसन्त०, ८.५७ तथा धर्म०, १५.२०-२६

५. असमप्रवाग्भिरवधूतगलद्वसनैर्धरापतनधूसरितैः ।

मद्युपानलीत्यवशतो विशैरनुभूयते स्म तरुणैः शिशुता ॥ —नेमि०, १०.३

६. अरुणक्षया सपदि । नेमि०, १०.१५; धर्म०, १५.६, तथा

स्वज्यतां पिपिपिप्रिय पात्रं दीयतां मुमुमुसासव एव ।

—धर्म०, १५.२२

७. अयुतलज्जं कामिनां रतपूर्वमिवासीत् ।

—वही, १५.५६

स्वच्छन्द काम-क्रीडाओं के लिए मद्यपान को एक कामोत्तेजक वस्तु के रूप में विशेष लोकप्रियता प्राप्त थी। जैन महाकाव्यों ने एतत्सम्बन्धी वर्णनों को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। वस्तुतः तत्कालीन काव्यप्रवृत्ति का इस ओर विशेष झुकाव हो चुका था।

दाम्पत्य जीवन तथा यौन सम्बन्ध

दाम्पत्य जीवन से सम्बद्ध यौन सम्बन्धों के विषय में भी कतिपय जानकारीयाँ प्राप्त होती हैं। आलोक्य काल में रति क्रीड़ा सम्बन्धी अनेकविध कामशास्त्रीय मान्यताएं समाज में विशेष रूप से प्रचलित थीं।^१ काम कला से सम्बन्धित अनेक गतिविधियों का जैन महाकाव्यों में विस्तार से वर्णन हुआ है।^२ इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि विविध प्रकार की कामोद्दीपक सम्भोग कलाओं में स्त्रियाँ दक्ष होती थीं।^३ एक स्थान पर विपरीत रति करने का उल्लेख भी आया है।^४ रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करना यद्यपि निषिद्ध माना जाता था किन्तु कुछ कामी लोग इस निषेध का भी पालन नहीं करते थे।^५ सामान्यतया स्त्री की सार्यंकता गर्भ धारण करने में ही मानी जाती थी।^६ फलतः समाज में वन्ध्या स्त्री को धूला की दृष्टि से भी देखा जाता था।^७ ऋतुकाल में सहवास करने से

१. धर्म०, १५.५०, ५५

२. विशेष द्रष्टव्य, चन्द्र०, सर्ग० १०; धर्म०, सर्ग १५; नेमि०, सर्ग० १०, वसन्त०, सर्ग ८ तथा हम्मौर०, सर्ग ७।

३. तासां वधूनां रमणप्रियाणां क्रीडानुषङ्गक्रमकोविदानाम्।

—वराह०, २.६१

जघनसङ्गमनोत्सुकमानसं हृदयनाथमवेत्य मृगीदृशः।

स्वयमपसारदेव तदंशुकं किमुचितावरणे गुणिनो बुधाः।

—वही, ७.८०

किमिदमित्यपरा शयनोन्मुखं स्तनघटेन जघान हितं मुहुः।

—वही, ७.८०

४. स्वाभाविकात् सुरततां विपरीतमेतद्रागं विशिष्य सुरतं विलीनोति यूनां।

—वही, ७.१२१

५. रजस्वला अप्यभजत्प्रवन्तीरहो मदान्धस्य कृतो विवेकः। —धर्म०, ७.५३

६. या स्त्यानधमिणि पुरंघ्रिजने प्रसिद्धं।

स्त्रीशब्दमुद्वहति कारणनिर्व्यपेक्षम्॥

—चन्द्र०, ३.३१

७. वही, ३.३१

सन्तानोत्पत्ति होने की मान्यताएं भी प्रचलित थीं ।^१

गर्भवती स्त्री तथा दोहद

गर्भवती स्त्री के शरीर का सफेद हो जाना, स्तन-मुखों का काला एवं स्थूल होना, आदि मुख्य लक्षण माने जाते थे ।^२ गर्भवती स्त्री को 'दोहद' होने की मान्यता का विशेष प्रचलन था ।^३ गर्मस्य शिशु की भावनाओं से दोहद का सम्बन्ध जोड़ने की भी विशेष प्रथा रही थी^४ तथा उसे पूरा करने पर विशेष बल दिया गया है ।^५ दोहद के अपूर्ण रहने पर गर्भनाश होने की शंका विद्यमान रहती थी ।^६ हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व में चन्द्रगुप्त की माता को चन्द्रपान का दुःसाध्य दोहद उत्पन्न हुआ । चाणक्य ने इस दोहद की तृप्ति के लिए जलपात्र में चन्द्रबिम्ब के दर्शन कराकर चन्द्रगुप्त की माता के दोहद को पूर्ण किया ।^७ तीर्थंकरों आदि की माताओं को उत्पन्न होने वाले दोहदों में जिनबिम्ब की पूजा करने आदि की इच्छा जागृत होने का उल्लेख आया है ।^८ इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय में रानी सुत्रता को बन्द पक्षियों को मुक्त करने का दोहद उत्पन्न हुआ था ।^९

वेश्या

समाज में वेश्यावृत्ति का विशेष प्रचलन था । शील आदि बेचकर घनाजित करना वेश्याओं की मुख्य जीविका रही थी ।^{१०} वेश्याओं को प्रायः परांगना,^{११}

१. फलं तथाप्यत्र यद्यर्तुगामिनः ।

मृताह्वयं नोपलभामहे वयम् ॥ —धर्म०, २.६८

२. धर्म०, ६.३-७, तथा चन्द्र०, ३.६५

३. जिनपूजा दोहदानि । —चन्द्र०, ३.६८ तथा हम्मिर०, ४.१४२

४. दोहदाः खलु नारीणां गर्भभावानुसारतः ॥ —परि०, २.६३

५. वित्तेन भूयसा श्रेष्ठी तद्दोहदमपूरयत् । —परि०, २.६२

६. अपूर्णं दोहदे गर्भनाशोऽस्या मा भवत्विति । —वही, ८.२३४

७. वही, ८.२३५-३७

८. चन्द्र०, ३.६८ तथा तृ० —तस्याश्चाभूदेवपूजा गुरुपूजासु दोहदः ।

—परि०, २.६१

९. धर्म०, ६.४

१०. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १८४

११. परि०, १.१८६

गणिका^१ आदि शब्दों से भी व्यवहृत किया जाता था। सैनिक शिविरों में भी वेश्यावृत्ति का विशेष प्रचलन रहा था।^२ जैन महाकाव्यों में वर्णित नगरों में वेश्यालय होने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।^३ राज्य-परिवारों के महत्वपूर्ण व्यक्ति भी वेश्याओं के साथ सम्पर्क रखते थे।^४ सामान्यतया जन साधारण के लिए भी वेश्याओं के पास जाना अनुचित नहीं माना जाता था।^५ वेश्याएं कृत्रिम शृङ्गार तथा विशेष कामोत्तेजक हावभावों से युवकों को आकर्षित करने में विशेष दक्ष होतीं थीं।^६ प्रायः वेश्यालयों के भवन संगीत-गायन आदि से गुंजायमान रहते थे।^७ वेश्यालयों के भीतरी कक्ष प्रायः चमकीले शीशों से निर्मित होते थे।^८ इनमें स्थित चित्रशालिकाओं में कामशास्त्र सम्बन्धी चित्र भी अंकित रहते थे।^९

सामान्यतया वेश्याएं अनुरागहीन किन्तु रूप-लावण्य की दृष्टि से आकर्षक समझी जातीं थीं।^{१०} वेश्या का यौवन ही जीविकोपार्जन का मुख्य आकर्षण था फलतः सन्तानोत्पत्ति होने पर उसके यौवन का ह्रास होना वेश्या समाज में चिन्ता का विषय था। वेश्या यदि कभी गर्भवती हो भी जाती थी तो उसके लिए गर्भपात कराना ही उचित माना जाता था।^{११} हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व में आए एक छटान्त के अनुसार कुबेरसेना नामक वेश्या के गर्भ ठहरने पर उसकी माता उसे

१. परि०, २.२२४ १६०

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६०

३. वही, पृ० २४७

४. परि०, ८.८

५. वेश्याङ्गनाः सुललिताः समदाः युवानः।

—वराङ्ग०, १.४३ तथा धर्म०, १.७५

६. वही

७. धर्म०, १.७६

८. द्विस०, १.३०

९. कोशाभिधायी वेश्याया गृहे या चित्रशालिका।

विचित्रकामशास्त्रोक्तकरणालेखशालिनी ॥

—परि०, ८.११५

१०. स्नेहेन हीनाः स्मरदीपिकास्ताः।

—धर्म०, ४.२४

११. युग्मं स्तनन्धयामिदं भाविद्यौवनहृत्तव।

वेश्याश्च यौवनजीवा जीवद्रक्षयौवनम् ॥

—परि०, २.२३२

गर्भपात कराने की सम्मति देती है,^१ किन्तु कुबेरसेना गर्भस्थ बालक के प्रति अत्यधिक स्नेहभाव होने के कारण ऐसा नहीं करती।^२

नर्तकी तथा वारांगना

हम्मीर महाकाव्य में सैनिकों के मनोरंजनार्थ आयोजित शृङ्गार-गोष्ठी में एक नर्तकी द्वारा श्रृङ्गारिक भावों को उद्दीप्त करने वाले नृत्य का वर्णन मिलता है।^३ वेश्याओं के समान नर्तकियाँ भी नृत्य व्यवसाय करने लगी थीं। हम्मीर महाकाव्य के अनुसार एक राजा दूसरे राजा को प्रसन्न करने के लिए नर्तकियों को भी भेजते थे। गुर्जर नरेश ने हरि राज के पास नर्तकियाँ भेजी थीं।^४ आदिपुराण में वारांगना का भी उल्लेख आया है।^५ नेमिचन्द्र शास्त्री महोदय के अनुसार वारांगना केवल मात्र धार्मिक महोत्सवों के अवसर पर नृत्य करती थी तथा इसका सम्मिलित होना मंगलसूचक माना जाता था। आदिपुराणोक्त वारांगना को मन्दिरों की देवदासियों के तुल्य स्वीकार किया गया है तथा इन्हें वेश्याओं से भिन्न माना गया है।^६

सती प्रथा का विरोध

वरांगचरित महाकाव्य में सती प्रथा की ओर संकेत किया गया है। राजकुमार वरांग के लापता हो जाने पर उसकी अनेक पत्नियों में से एक पत्नी द्वारा अपने स्वसुर से अग्नि-प्रवेश कर प्राणान्त करने की आज्ञा मांगने का स्पष्ट उल्लेख आया है।^७ इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज में पति की

१. सा च प्रथमगर्भेण नितान्तं खेदिता सती ।

माताप्युवाच तां वत्से गर्भं ते पातयाम्यहम् ॥

—परि०, २.२२८

२. वेदयोचे स्वस्ति गर्भाय सहिष्ये क्लेशमप्यहम् ।

—परि०, २.२२९

३. हम्मीर०, १३.१-२५

४. वही, ४.२-५

५. आदि० ७.२४३-४४

६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १८३-८४

७. न जीवितुमितः शक्ता विना नाथेन पार्थिव ।

त्वया प्रसादः कर्तव्यः पावकं प्रविशाम्यहम् ॥

—वराङ्ग०, १५.६२

मृत्यु हो जाने के उपरान्त पति से अत्यधिक स्नेह रखने वाली कुछ स्त्रियाँ पति-वियोगजन्य दुःख के भावावेश में आकर अग्नि में जल कर मर जाना उचित समझती थीं।^१ बाणभट्टकृत हर्षचरित से भी ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी यशोमती अग्नि प्रवेश के लिए सन्नद्ध थी।^२ इतिहासकारों के अनुसार मध्यकाल में हिन्दू समाज के अभिजात वर्ग में सती-प्रथा का विशेष प्रचलन था। राजस्थान के ८१० ई० के उल्लेख से भी राजपूत जाति में सती प्रथा के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।^३ चौदहवीं शताब्दी के हम्मीर महाकाव्य में भी अलाउद्दीन की सेना द्वारा दुर्ग पर पूर्ण अधिकार कर लेने पर राजा हम्मीर के जीवित रहते हुए ही उसकी रानियों ने जब देखा कि अब शत्रु से बचना दुर्लभ है तो अग्नि प्रवेश द्वारा आत्महत्या कर ली।^४ इसके बाद राजा हम्मीर भी शत्रु सेना के साथ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ था।^५ हम्मीर महाकाव्य के इस दृष्टान्त को सतीप्रथा से सम्बद्ध करना उचित जान नहीं पड़ता किन्तु इससे इतना तो स्पष्टित होता है कि प्रायः शत्रु राजाओं के हाथों से अपने चरित्र की रक्षा करने के प्रयत्न से चाहमान आदि वंशों की राजपूत स्त्रियाँ मर जाना भी उचित समझती थीं।

बराह्मचरित महाकाव्य में सिद्धान्त रूप से अग्नि प्रवेश, रज्जु-बन्धन आदि उपायों से आत्म हत्या करने की निन्दा की गई है।^६ बराह्मचरित के सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि जैन समाज में सती प्रथा का विरोध किया जाने लगा था।^७ मध्यकालीन भारत के अन्य कई शास्त्रकारों ने भी सती-प्रथा का घोर विरोध किया जिनमें मेघातिथि तथा देवगुप्त के अनिरिक्त मद्यकार बाण के नाम भी विशेषतः उल्लेखनीय हैं।^८

१. बृहस्पतिस्मृति, ४८३-८४

२. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३६५

३. वही, पृ० ३६७

४. हम्मीर०, १३.१८५

५. वही, १३.२२६

६. शस्त्ररज्ज्वादिघातश्च मण्डलेन च साधनम्।

भूगुप्ततनं चैव जलवह्निप्रवेशनम् ॥ —बराह्म०, १५.६५

७. वही, १५.६४-७०

८. जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३६७

(ख) विवाह संस्था

समाजशास्त्रीय दृष्टि से 'विवाह संस्था' भारतीय समाज व्यवस्था की एक आधारभूत 'संस्था' है। विवाह स्त्री और पुरुष के मध्य सम्पादित होने वाला मात्र एक धार्मिक अनुबन्ध ही नहीं अपितु जाति यह एवं कुल की मर्यादाओं को नियोजित करने वाला सामाजिक सम्बन्ध भी है। धर्मशास्त्रकारों ने वर्णव्यवस्था को आधार मानकर पुरुष द्वारा उच्च अथवा निम्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह करने के कारण प्रतिलोम तथा अनुलोम विवाहों की जो व्यवस्था दी है उसके सन्दर्भ में यद्यपि यह भी धारणा प्रचलित रही है कि ये विधिवत् विवाह न होकर केवल सम्मिलन मात्र थे, परन्तु मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य आदि विचारकों ने स्वजाति विवाह को ही वैधानिक मान्यता नहीं प्रदान की है अपितु वे अनुलोमादि विवाहों को भी वर्जित नहीं मानते।^१

प्राचीन भारतीय विवाह संस्था के सन्दर्भ में ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आर्ष, राक्षस, आसुर, गान्धर्व तथा पैशाच—ये आठ प्रकार के विवाह विशेष रूप से प्रसिद्ध रहे हैं।^२ ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेदों में इन अष्ट-विध विवाहों का उल्लेख नहीं मिलता तथा सर्वप्रथम आश्वलायन गृह्यसूत्र में ही इनकी चर्चा आई है।^३ अन्य धर्मसूत्र ग्रन्थों तथा महाभारत में भी इनकी चर्चा की गई है।^४ परवर्ती स्मृति ग्रन्थों में भी इन अष्ट-विध विवाहों का उल्लेख आया है।^५ वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव विवाह ब्राह्मणों के लिए, राक्षस तथा गान्धर्व क्षत्रियों के लिए, आसुर वैश्यों के लिए तथा पैशाच शूद्रों के लिए विहित थे।^६

१. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ११८-२२

२. Gupta, Nilakshi Sen, Evolution of Hindu Marriage, Bombay, 1965, p. 95

३. वही, पृ० ८७-८८

४. Meyer, J. J., Sexual life In Ancient India, Delhi, 1971, p. 55

५. Pandey, Raj Bali, Hindu Samśkāras, Delhi, 1969, pp. 159-69

६. Gupta, Evolution of Hindu Marriage, p. 96

१. विवाहभेद

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित विवाह-वर्णनों में उपर्युक्त अष्टविध विवाहों का विशेष आग्रह न होकर तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव था। अधिकांश महाकाव्यों के विवाह-वर्णन राजकुलों से सम्बन्धित हैं अतएव इन विवाहों का राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है। तत्कालीन सामन्त पद्धति, राजनैतिक विचारतन्त्र तथा राजाओं की प्रभुत्व शक्ति को प्रभावित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम 'विवाह' भी रहा था। परराष्ट्रनीति को सुदृढ़ करने अथवा अन्य अप्रसन्न राजाओं को सन्तुष्ट करने के लिए प्रायः राजा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। इसी प्रकार राजकुमार द्वारा राजकुमारी पर मुग्ध होने अथवा बलपूर्वक अपहरण कर विवाह करने के उत्प्रेष भी प्राप्त होते हैं। स्वयंवर तथा प्रतिज्ञा विवाह भी समाज में लोकप्रिय रहे थे। विवाह सम्बन्धी इन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित विविध प्रकार के विवाहों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. मन्त्रणा पूर्वक विवाह

राजा अपने मन्त्रिमण्डल में अपने मन्त्रियों के साथ विवाह के सम्बन्ध में मन्त्रणा भी करते थे।^१ इस अवसर पर राजकुमार अथवा राजकुमारी की उचित योग्यताओं पर विशेष विचार विमर्श किया जाता था।^२ वराङ्गचरित में वर्णित इस विवाह-प्रकार का रोचक वर्णन आया है। कुमार वराङ्ग का विवाह करने के लिए विभिन्न मन्त्रियों ने अपनी-अपनी सम्मतियाँ दीं। इन मन्त्रियों द्वारा दिए गए तर्कों का तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा था। प्रथम मन्त्री अनन्त सेन का विचार था कि समृद्धिपुरी के राजा धृतिसेन की पुत्री सुनन्दा शिक्षा, कुलीनता आदि गुणों के कारण राजकुमार वराङ्ग के अनुरूप एवं योग्य थी। इसके अतिरिक्त सुनन्दा मामा की लड़की होने के कारण भी दोनों राज्यों की प्राचीन मैत्री को और भी सुदृढ़ कर सकती थी।^३ दूसरे मन्त्री अजितसेन

१. ते मन्त्रिमुख्या विदितार्थतत्त्वा अनन्तश्चिञ्जितदेवसाह्वः ।

आहूतमात्रा वसुधेश्वरेण यथाविधस्थानमुपोपविष्टाः ॥

—वराङ्ग०, २.१४

२. वही, २.१०-४०

३. वैवाहिकी नः कुलसंततिः सा स्थिरा च मैत्री ननु मातुलत्वात् ।

तस्मादहं योग्यतया तथाशु सुनन्दयेच्छामि विवाहकर्म ॥

—वही, २.२०

की सम्मति के अनुसार राजा को पुराने सम्बन्धियों से सम्बन्ध बनाने की अपेक्षा नए राजाओं से विवाह सम्बन्धों द्वारा मैत्री स्थापित करना अधिक श्रेयस्कर था। पुराना सम्बन्धी तो पहले से मित्र बना ही होता है किन्तु अन्य वैवाहिक सम्बन्ध से नए राजा को भी मित्र बनाने का अवसर नहीं खोना चाहिए।^१ तीसरा मन्त्री चित्रसेन किमी अन्य राजकुमारी के साथ वराङ्ग का विवाह करने के पक्ष में था। उसके विचारानुसार सुनन्दा का मामा देवसेन सर्वाधिक शक्तिशाली राजा था तथा उसके अनुयायी सामन्त राजा भी अन्य राजाओं की अपेक्षा संस्था में अधिक थे।^२ मन्त्री चित्रसेन के अनुसार यदि सुनन्दा के साथ वराङ्ग का विवाह न किया गया तो देवसेन हूट हो सकता था।^३ इस स्थिति में देवसेन अपनी पुत्री का विवाह किसी अन्य शक्तिशाली राजा से कर दे तो एक प्रबल मित्र से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो सकती थी।^४ चौथे मन्त्री द्वारा तीसरे मन्त्री की सम्मतियों को अनीतिसम्मत एवं अव्यावहारिक ठहराया गया।^५ उसके अनुसार सम्बन्धियों के आश्रय में रहने से राजनैतिक स्थिरता की प्राप्ति सम्भव नहीं। राजा को चाहिए कि वह अधिक से अधिक मित्र राजा बनाए जिससे पहले से बने मित्र राजाओं से किसी प्रकार का भय ही न रहे।^६ अतएव चौथे मन्त्री ने राजा को महेन्द्रदत्त आदि आठ राजाओं की पुत्रियों से राजकुमार का विवाह करने की सम्मति दी।^७ परिणामतः आठ राजाओं के साथ मित्रता करने की तुलना में देवसेन के साथ मैत्री अव्यवस्था होना राजनैतिक स्थिरता की दृष्टि से महत्त्वहीन था।^८ मन्त्रियों की मन्त्रणाओं पर विचार करने के बाद राजा ने सभी

१. वराङ्ग०, २.२१-२२

२. को देवसेनादितरः पृथिव्यां नरेश्वरः पक्षबलद्धिमान्स्यात्।

—वही, २.२३

३. न सा सुनन्दा परिणीयते चेत्स्यान्मित्रभेदः स हि दोषमूलः।

—वही, २.२५

४. यस्यापचारेण च यान्ति मित्राण्यमित्रतां वै न तु कार्यवित्सः।

—वही, २.२५

५. दोषा यतस्तेन खलूपदिष्टास्ते दूरनष्टा नयमागंवृत्त्या।

—वही, २.२७

६. वही, २.२८-३०

७. वही, २.३१-३२

८. मित्रं सहस्रचापि हि देवसेनात्किं वाधिकास्ते न भवेयुरीशाः।

—वही, २.३३

मन्त्रियों की सम्मतियों का सम्मान करते हुए दस देशों के राजाओं की कन्याओं से वराङ्ग का विवाह करने का निश्चय किया।^१

तत्कालीन राजनैतिक पृष्ठभूमि में उपर्युक्त विवाह विषयक मन्त्रणाओं से स्पष्ट हो जाता है कि राजकुमारों के विवाह करने से पूर्व सभी प्रकार की सम्भावित राजनैतिक परिस्थितियों की आलोचना-समालोचना करली जाती थी तथा उन सभी पक्षों पर ध्यान दिया जाता था जिनसे परराष्ट्र नीति प्रभावित हो सकती थी और उन वैवाहिक सम्बन्धों को ही वरीयता दी जाती थी जिनसे राजनैतिक सुदृढ़ता बढ़े।^२ बहुविवाह पद्धति इस युग में एक प्रभावशाली राजनैतिक उपाय के रूप में प्रयोगान्वित की जा रही थी। अनेक राजाओं की कन्याओं से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर राजा लोग अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। वराङ्गचरित के एक अन्य उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ राजा विवाह-सम्बन्धों द्वारा राज्य में गुप्त रूप से षड्यन्त्र की गूढ़ योजनाओं के कार्यान्वयन में भी लगे हुए थे। राजा धर्मसेन की एक पत्नी के साथ पितृगृह से आए सुबुद्धि नामक मंत्री ने राज्य में ऐसा ही षड्यन्त्रकारी कुचक्र रच कर कुमार

१. वराङ्ग०, २६६

२. तु० — Some times marriages among the ruling classess were arranged by parents on political grounds. When Raja-
raja Chola was ruling over the southern kingdom, there was confusion in the Vengi Mandala. So he brought that territory under his control and set up Śaktivarman, the Eastern Chalukyan king as the head of Vengi Mandala. In order to strengthen the relation between the two kingdoms he gave his daughter Kunda Devi in marriage to Vimalāditya, the crown prince of the Eastern Chalukyas...Like this we have several instances of marriage arranged on political grounds.

—Krishnamoorthy, A. V., Social and Eeonomic
Conditions in Eastern Deccan, Madras, 1970, pp.
71-72

वराङ्ग को उत्तराधिकार से च्युत करने के लिए पूरे प्रयत्न किए थे ।^१

२. स्वयंवर विवाह

आलोच्य महाकाव्यों में स्वयंवर के भी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं ।^२ स्वयंवर-विवाह पद्धति प्रायः क्षत्रिय कन्याओं में विशेष रूप से प्रचलित थी ।^३ स्वयंवर विवाह के पीछे कन्या द्वारा सर्वाधिक सुन्दर एवं पराक्रमी वर के चयन करने की अभिलाषा निहित थी ।^४ कन्या का पिता स्वयंवर की घोषणा के लिए सभी राजाओं के पास अपना दूत भेजता था और साथ ही कन्या का चित्र भी भेजा जाता था ।^५ राजा कन्या के चित्र को देखकर दूत को स्वयंवर में सम्मिलित होने या न होने का निर्णय देते थे । धर्मशर्माभ्युदय में दूत द्वारा राजकुमारी शृङ्गारवती के स्वयंवर में राजा प्रतापराज द्वारा भेजे गए कन्या के चित्र को देखकर ही धर्मनाथ के पिता ने स्वयंवर में उपस्थित होने की सहमति दे दी थी ।^६ प्रायः स्वयंवर विवाह में कुल, शील तथा वय का की विचार किया जाता था किन्तु वर एवं वधू में परस्पर अनुराग भावना प्रकट होना भी इसकी विशेषता थी ।^७ कन्या

१. यथा पितृभ्यां प्रहितोऽस्मदर्थं तथोपकारो भवता कृतश्च ।

निवर्त्य तस्याद्य हि यौवराज्यं सुषेणमास्थापय यौवराज्ये ।

—वराङ्ग०, १२.१४, १५

२. तस्याभवत् प्रियतमा गुणपक्षपातात्लक्ष्म्याः स्वयंवर कृता प्रथमा सपत्नी ।

—द्वि०, २.३०

नूनं विहायैतमियं स्वयंवरे वरायिनी नापरमर्थंयिष्यति । —धर्म० ६.३६

श्रियो मूर्त्यन्तराणीव, शतशो अथ स्वयंवराः ।

तेन राजा राजकन्या, महर्द्धया पर्यणायत् ॥

—त्रिषष्टि०, २.३, ७४, तथा तु०—वर्च०, सर्ग ६, तथा जयन्त०,

सर्ग १६

३. प्रायः क्षत्रियकन्यानां शस्यते हि स्वयंवरः । —परि०, ८.३२०

४. स्वयंवरकृता स्वयं परोपदेशमन्तरेण त्रियते परिणीयते राजपुत्र्या राजपुत्रो यत्रासौ स्वयंवरः । —द्वि० २.३० पर पद० टीका, पृ० ३४

५. घोषणां कारयामास स्वयंवरविधिं प्रति ।

—उत्तरपुराण, ७५.६४७, तथा धर्म०, ६.३३

६. धर्म०, ६.४२

७. सर्वत्र सम्बन्धविघ्नानकारणं प्रियस्य यत्प्रेम गुणैर्निशिष्यते ।

—धर्म०, ६.४० तथा १७.७८

द्वारा वर चयन की प्रमुख योग्यताओं में पारस्परिक सौन्दर्यकर्षण, भावी दाम्पत्य जीवन के प्रेम व्यवहारों में दक्ष होने की योग्यता तथा वीर एवं पराक्रमी होना प्रत्याशी राजकुमार की उल्लेखनीय विशेषताएं मानी जाती थीं।^१ सभी भ्रामन्वित राजकुमार अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ राजकुमारी के नगर में जाते थे।^२ स्वयंवर में निराश हुए राजकुमार प्रायः विजेता राजकुमार के साथ युद्ध भी करते थे। इस प्रकार स्वयंवर विवाह के पीछे भी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ अपना पूर्ण आविपत्य जमाए हुए थीं। वर चयन के अवसर पर राजकुमारी को भ्रामन्वित सभी राजकुमारों की राज्य शक्ति आदि से भी परिचित कराया जाता था।^३ राजकुमारी भी प्रायः शक्तिसाली तथा अपने पिता के राज्य के लिए अनुकूल एवं उपयोगी राजकुमार का ही चयन करती थी। धर्मशर्माभ्युदय का धर्मनाथ इसी प्रकार का राजकुमार था।^४

३. पूर्वग्रहपूर्ण स्वयंवर विवाह

ऐसा लगता है कि भ्रालोच्य युग में वर चयन के लिए कभी कभी कन्या पक्ष को असमंजसता की स्थिति का सामना भी करना पड़ता था। कन्या यदि सज्जीतादि कला में विशेष दक्ष हो तो उसके लिए वर भी सुयोग्य ही होना चाहिए, इस मान्यता के फलस्वरूप कन्या पक्ष की ओर से किसी शर्त-पूर्ति के पूर्वग्रह द्वारा वर का चयन किया जाता था।^५ क्षत्रचूडामणि में राजकुमार जीवन्धर ने राजकुमारी गन्धर्वदत्ता को वीणावादन में पराजित कर उसके साथ विवाह किया।^६ गोविन्दराज की कन्या लक्ष्मणा का विवाह भी उसी राजकुमार जीवन्धर से हुआ क्योंकि राजकुमार जीवन्धर ने चन्द्रकयन्त्रस्थ तीन झूकरो का भेदन किया जो अन्य राजकुमार नहीं कर पाए थे।^७ इसी प्रकार समस्यापूर्ति करने एवं पहेलियाँ ब्रू करने तथा किसी अन्य आकस्मिक घटना के घटने आदि निमित्तों से सशर्त विवाह करने की विशेष प्रथाएँ भी प्रचलित थीं।^८

१. धर्म०, १७.३३-३५

२. वही, ६.५६

३. वही, १७.३३-८०

४. वही, १७.६५-८०

५. उत्तरपुराण, ७५.४२३, ६४५

६. क्षत्रचूडामणि, ४६-२४३

७. वही, १०.२३-२६

८. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में, पृ० ५४५-४६

पूर्वाग्रह से प्रेरित स्वयंवर विधि में तथा कन्या द्वारा स्वेच्छा से वर के वरण करने की स्वयंवर विधि में प्रमुख अन्तर यह था कि प्रथम प्रकार के पूर्वाग्रह पूर्ण विवाह में किसी योग्यता विशेष की दक्षता को मापदण्ड मानकर सभी देशों से आए वरों में से श्रेष्ठतम तथा अद्वितीय योग्यता वाले व्यक्ति के साथ कन्या का विवाह करना माता-पिता एवं कन्या को अभीष्ट था। जबकि स्वयंवर विवाह में रूप-सौन्दर्य तथा पराक्रम इन तीनों गुणों में श्रेष्ठ व्यक्ति के चयन पर बल दिया जाता था। इस प्रकार के स्वयंवर विवाह में कन्या स्वयं अपने पति का वरण करने हेतु स्वतन्त्र थी।

४. प्रेम विवाह

चन्द्रप्रभवचरित महाकाव्य में राजकुमारी शशिप्रभा तथा राजकुमार अजितसेन के मध्य पारस्परिक प्रेम सम्बन्धों को जान कर कन्या के पिता राजा जयवर्मा ने शशिप्रभा के प्रेमी राजकुमार के साथ सगाई (वाग्दान) कर दी।^१ राजा जयवर्मा द्वारा राजकुमार के पराक्रम से आकर्षित हुई शशिप्रभा का वाग्दान, साम-दान आदि उपायों से अनुप्रेरित एक सुन्दर राजनैतिक प्रयोग भी था। राजकुमार अजितसेन ने चूँकि जयवर्मा के शत्रु का नाश किया था अतः अनुग्रह के रूप में शशिप्रभा का वाग्दान राजनैतिक दृष्टि से भी युक्तिसङ्गत ठहरता था।^२ जयवर्मा द्वारा किए गए शशिप्रभा के वाग्दान से क्रोधित धरणीध्वज नामक एक दूसरे राजा ने इसकी प्रतिक्रिया के रूप में अपना दूत जयवर्मा के पास भेजा तथा शशिप्रभा की अजितसेन से सगाई तोड़ देने की पेशकश की अन्यथा शशिप्रभा का बलपूर्वक अपहरण करने की धमकी भी दी गई।^३ परिणामतः धरणीध्वज एवं भावी दामाद में भयङ्कर युद्ध हुआ जिसमें अजितसेन की ही विजय हुई।^४ वराङ्गचरित में भी कश्चिद्भट तथा मनोरमा का विवाह प्रेम-विवाह ही था। मनोरमा के पिता ने स्वयं कश्चिद्भट से विवाह करने का प्रस्ताव रखा था।^५

१. नरनाथ युवा सदा स दृष्टौ भवतो देहजया महेन्द्रमर्दी ।

विदधाति ततः प्रभृत्यनास्थां स्वशरीरेऽपि विमुक्तगन्धमात्या ॥

विदधे च शुभे शरीरजाया दिवसे तत्प्रतिपादिते प्रदानम् ।

—चन्द्र०, ६.६०, ७१

२. वही, ६.६०

३. वही, ६.६४

४. वही, ६.१००-१०६

५. वराङ्ग०, १६.७२, २०.४१

अधिकांश प्रेम-विवाह भी राजनैतिक प्रयोजनों से ओतप्रोत होते थे। इस प्रकार के विवाहों में कुलीनता आदि की चिन्ता किए बिना वर एवं वधू के मध्य प्रेम भाव होना तथा राजनैतिक दृष्टि से इस सम्बन्ध का उपयोगी होना ही पर्याप्त था।^१ दूसरी ओर सुन्दर राजकुमारी पर कुछ अन्य राजा भी आँख मड़ाए बैठे रहते थे तथा अवसर आने पर अपहरण करने के लिए भी तत्पर थे।

५. अनुबन्धनात्मक प्रेम विवाह

हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व में एक रोचक अनुबन्धनात्मक प्रेम विवाह की चर्चा आई है। उत्तरस्थ मथुरा का वणिक्पुत्र देवदत्त भ्रमण करते हुए दक्षिणस्थ मथुरा के वणिक्पुत्र जयसिंह के घर पहुँचा।^२ दोनों अभिन्न मित्र थे। एक दिन जयसिंह ने देवदत्त को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रित किया वहाँ उसका परिचय जयसिंह की बहिन अन्निका से हुआ।^३ देवदत्त अन्निका के रूप सौन्दर्य से आकृष्ट हो गया।^४ उसके साथ विवाह करने के निश्चय से देवदत्त ने अपने किसी व्यक्ति को बातचीत करने के लिए जयसिंह के घर भेजा।^५ जयसिंह अपनी बहिन अन्निका से बहुत स्नेह रखता था तथा यह नहीं चाहता था कि विवाहोपरान्त वह उससे बहुत दूर चली जाए।^६ इस कारण जयसिंह ने देवदत्त के साथ अनुबन्ध पर अन्निका का विवाह करने का निश्चय किया। इस अनुबन्धनात्मक विवाह में सन्तानोपत्ति तक अन्निका का देवदत्त के घर में रहना आवश्यक शर्त थी।^७ देवदत्त को यह अनुबन्ध स्वीकार था और दोनों का विधि-विधान पूर्वक

१. कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु सोऽस्मै न हि दत्ता तनया भवत्यदत्ता ।

—चन्द्र०, ६.६६

२. अभूदुदङ्मथुरायां देवदत्तो वणिक्पुत्रः ।

दक्षिणस्थां मथुरायां दिग्यात्रार्थमियाय सः । —परि०, १.४३

३. जयसिंहोऽन्यथा जामिमन्निकायादिदन्निजाम् ।

समित्रोऽप्यद्य भोक्ष्येऽहं दिव्यां रसवतीं कुरु । —वही, ६.४६

४. पश्यन्निन्दुमुखीं देवदत्तः कामवशोऽभवत् ।

—वही, ६.५०

५. देवदत्तो द्वितीयेऽह्नि जयसिंहस्य सन्निधौ ।

प्रेषयामास वरकान्नान्निकायाचनाकृते ॥ —वही, ६.५४

६. प्राणप्रियेयं भगिनी मम लक्ष्मीरिवीकसि ।

तदिमां न प्रहेष्यामि दिवोदुरपि वेश्मनि ॥ —वही, ६.५६

७. अपत्यजन्मावधि भो यद्येवं कर्तुमीश्वरः ।

तदुद्वह्तु मे जामि देवदत्तो अन्निकामिमाम् ॥ —वही, ६.६०

विवाह हुआ।^१ ऐसे सशर्त प्रेम विवाहों में भी वर की कुलीनता आदि गुणों को विशेष महत्व दिया जाता था।^२ गान्धर्व विवाह का भी अनेक महाकाव्यों में उल्लेख आया है।^३ इस प्रकार के विवाह सम्बन्धों में कन्या की निकटस्थ सखी आदि की विशेष भूमिका रहती थी।

६. प्रतिज्ञा विवाह

कुछ इस प्रकार के विवाह भी होते थे जिनमें राजा पहले प्रतिज्ञा कर लेता था तदनन्तर प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाने पर कन्या का विवाह सम्पन्न होता था। उदाहरणार्थ वराहचरित में वर्णित राजा देवसेन ने सभासदों के मध्य यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि 'कश्चिद्भट' नामक वराह, मथुराधिप इन्द्रसेन को युद्ध में पराजित कर देगा तो उसके साथ राजकुमारी सुनन्दा का विवाह कर दिया जाएगा तथा साथ में आधा राज्य दहेज के रूप में भी दिया जाएगा।^४ राजकुमार वराह द्वारा मथुराधिप को परास्त कर देने की प्रतिज्ञा पूर्ण करने पर राजा देवसेन तथा उसके मन्त्रिमण्डल के विशेषाग्रह पर सुनन्दा का उससे विवाह कर दिया गया।^५

७. अपहरण विवाह

अपहरण विवाह यद्यपि समाज में प्रशंसित विवाह न थे तथापि इस प्रकार के विवाह बहुत प्रचलित थे। प्रद्युम्नचरित में अपहरण द्वारा विवाह करने के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रथम उल्लेखानुसार रुक्मिणी पर आसक्त कृष्ण ने कामदेव अर्चन के लिए गई हुई रुक्मिणी का पहले अपहरण किया तथा बाद में

१. देवदत्तानुज्ञया तेऽप्यामिति प्रतिपेदिरे ।
देवदत्तोऽपि तां कन्यां परिणिन्ये शुभेऽहनि ॥ —परि०, ६.६१
२. स उवाच कुलीनोऽयं कलाज्ञोऽयं सुधीरयम् ।
युवायं किं बहूवतेन सर्वे वरगुणा इह ॥ —वही ६.५६
३. वराह०, १३.३१-३५, जयन्त०, १२.३४
४. त्वयेन्द्रसेनः समरे जितश्चेत्तुभ्यं प्रदास्ये सुतयार्धराज्यम् ।
इत्येवमाघोष्य सभासमक्षं भूयो विचारस्तव नानुरूपः ॥
—वराह०, १६.८
५. कृत्वाग्निधर्मोदकसाक्षिभूतं कश्चिद्भटाय प्रददौ सुनन्दाय ।
—वही, १६.२०

विवाह कर लिया ।^१ दूसरे उल्लेख के अनुसार सत्यभामा का पुत्र भानु दुर्योधन की पुत्री उदधि के साथ विवाह करना चाहता था ।^२ दूसरी ओर प्रद्युम्न भी उदधि के सौन्दर्य से प्रभावित था । अतएव प्रद्युम्न वनेचर के वेश में उदधि को हर लाया ।^३ बाद में प्रद्युम्न ने अपना वास्तविक रूप दिखा कर उससे विवाह कर लिया ।^४ क्षत्रिय राजाओं में यह प्रथा थी कि वे प्रायः जिस कन्या पर अनुरक्त होते थे उसका अपहरण कर लेते थे । शान्तिनाथ चरित^५ में अनन्तवीर्य द्वारा कनकश्री का तथा चन्द्रप्रभ^६ में राजा धरणीध्वज द्वारा शशिप्रभा का अपहरण करने की घमकी देने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । अपहरण विवाह की मुख्य विशेषता यह थी कि इस विवाह से पूर्व या पश्चात् युद्ध अवश्य होता था क्योंकि अपहरणकर्त्ता प्रायः कन्या के पिता के विरुद्ध होने के कारण ही कन्याओं का अपहरण करते थे । प्रद्युम्नचरित के दोनों अपहरण विवाहों में युद्ध हुआ तथा अपहरणकर्त्ता को विजय भी मिली ।^७ शान्तिनाथचरित के अपहरण विवाह के अवसर पर भी राजकुमार अनन्तवीर्य तथा कनकश्री के पिता दमितारि के मध्य घोर युद्ध हुआ ।^८ चन्द्रप्रभ में युद्ध हुआ किन्तु धरणीध्वज युद्ध में ही मारा गया ।^९

प्रायः विवाहार्थ कन्याओं का अपहरण तो होता ही था कभी-कभी राज-कुमारों का भी अपहरण कर विवाह सम्पादित किए जाते थे । जयन्तविजय में

१. पार्थिवा नृपसुता मया हुता तद्विभोचयत शक्तिरस्ति चेत् ।

—प्रद्युम्न० ३.११

रम्यरैवतकसानुमण्डने देवमन्दननिभे वने तथा ।

पाणिपीडनविधिविधानतः प्रीतयोरभवदग्निसन्निधौ ॥

—वही, ३.२७

२. वृद्धि गतो भानुरपि क्रमेण विवाहयोग्योपि बभूव पुण्यात् ॥

—वही, ६.२५७

सुयोधनस्योपधिनाम कन्यां वोढुं स वाञ्छस्यनुरोगपूर्वम् ।

—वही, ६.२५८

३. नेष्याम्यमुं स्वेष्टपदं च पदवात् स्वेष्टानुसारी न मलिम्लुचोऽहम् ।

—वही, ६.३२४

४. अभवदथ विवाहः कामरस्योस्तदानीम् ।

—वही, १०.७७

५. शान्ति०, सर्ग ६

६. चन्द्र०, सर्ग ६

७. प्रद्युम्न०, सर्ग ३ तथा १०

८. शान्ति०, सर्ग ६

९. चन्द्र०, सर्ग ६

गगनविलासपुर के राजा पवनगति की पुत्री कनकवती के विवाहार्थ सेना के मध्य में से राजकुमार जयन्त का अपहरण होने का उल्लेख आया है ।^१ बाद में जयन्त एवं कनकवती का विवाह सम्पन्न किया गया ।^२

वर एवं वधू के चयन का आधार

प्रायः पूर्व नियोजित विवाह माता-पिता की आज्ञा से होते थे । उचित आयु के प्राप्त होने पर माता-पिता अथवा मन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण लोग वर एवं वधू की योग्यताओं पर पूरी तरह विचार करने के बाद ही अन्तिम निर्णय लेते थे ।^३ वर की सामान्यतया कुलीन होना, विद्याओं अथवा कलाओं में पारंगत होना, बुद्धिमान होना, गुणज्ञ होना, रूप-सौन्दर्य युक्त होना, पराक्रमी होना आदि प्रमुख योग्यताएं थीं ।^४ इन योग्यताओं में भी पराक्रमी होना तथा रूप सौन्दर्य युक्त होना विवाह के लिए आवश्यक योग्यताएं मानी जाती थीं ।^५ कुछ ऐसे भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जहाँ कुल आदि की उपेक्षा कर वीरता एवं सुन्दरता के कारण ही माता-पिता कन्यादान की स्वीकृति दे देते थे ।^६ वधू का चयन करते समय भी उसके कुल, आयु, जाति आदि का विचार किया जाता था । इनके अतिरिक्त वर के अनुरूप रूप-सौन्दर्य शरीराकृति एवं कला दक्षता आदि वधू के गुणों का विशेष महत्त्व था ।^७ कन्या का सुन्दर होना अत्यावश्यक गुण माना जाता

१. कतिपयदिवसश्चतिक्रमेऽस्य श्रवसि विवेश वचो यथात्मसंन्यात् ।

नृप तव तु जयं जहार कश्चिन्निधिमिव भूमितलाददृष्टरूपः ॥

—जयन्त०, १२.३

२. वही, १३.६५-६६

३. वराङ्ग०, २.१७, २०, नेमि०, ११.१०, ५२

४. व्यायामविद्यासु कृतप्रयोगो नीती कृती सर्वकलाविविज्ञः ।

बुद्धोपसेवाभिरतिहितात्मा सुबुद्धिमान् पौरुषवान्कुमारः ॥

—वराङ्ग०, २.१

नानावीरोत्पत्तिलब्धप्रशंसे वंशे तावज्जन्मरम्यं व रूपम् ।

शीलं विश्वप्राणलोकानुकूलं किं तन्नेमेर्यन्न सम्बन्धहेतुः ॥

—नेमि०, ११.५२

५. चन्द्र०, ६.६१.७१, वराङ्ग०, १६.७२, २०.४१

६. चन्द्र०, ६.७१

७. कन्यापि तेनैव समानकल्पा कलागुणैश्चापि वयोवपुर्म्याम् ।

स चापि तस्या यदि युक्तरूपः किन्न्यदिष्यते तयोन्लोके ॥

—वराङ्ग०, २.४६

अष्टौ नः कन्यकाः सन्ति रूपलावण्यबन्धुराः ।

कलाधिपारद्रव्ययो गुणैश्चर्यो अप्सरसमाः ॥

—परि०, २.८५

तथा तु० नेमि०, ११.४८, धर्म० ६.४०, चन्द्र० ६.६३, प्रद्यु० ६.१५६

या ।^१ धर्मशर्माभ्युदय में यह भी कहा गया है कि विवाहार्थ कन्या के कुल, शील और आयु का यद्यपि विशेष विचार किया जाता है तथापि कन्या के प्रति वर का प्रेमाकर्षण रूप गुण ही विवाह सम्बन्ध का मुख्य आधार है ।^२ कन्या के किसी अनुरूप राजकुमार पर आसक्त होने की सूचना पाकर माता-पिता पूर्व नियोजित विवाह की भाँति अपनी कन्या का उस युवक से विवाह करने में कोई संकोच नहीं करते थे ।^३

२. विवाह विधियाँ

विविध प्रकार की क्षेत्रीय विवाहानुष्ठान विधियाँ

विभिन्न जैन महाकाव्यों में कर्नाटक, गुजरात, राजस्थान, आदि विविध प्रान्तों से प्रभावित विवाहवर्णनों का उल्लेख आया है । तत्कालीन एवं तद्देशीय आचार विचार इनमें प्रतिबिम्बित हैं । परिणामतः विवाहमण्डप में होने वाले क्रिया-कलापों तथा धार्मिक अथवा सामाजिक रीतियों के प्रतिपादन की दृष्टि से विविध महाकाव्यों में एकरूपता नहीं पाई जाती । महाकाव्यों में वर्णित विभिन्न प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाली विवाह-विधियों का स्वरूप इस प्रकार है :—

१. वराङ्गचरित—वराङ्गचरित के अनुसार सर्वप्रथम वर एवं वधू को मालाओं आदि से सुसज्जित कर विवाहमण्डप में स्थित स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया जाता था ।^४ सिंहासन के समीप झीतल एवं सुगन्धित तीर्थंजल से परिपूर्ण स्वर्ण-कलश कमलों से ढके होते थे ।^५ कन्या का पिता, मन्त्रिगण, राज्य के प्रधान तथा

१. वराङ्ग०, २.७०, १६.३३, प्रद्यु०, ३.५६

२. यत्कन्यकायामुपवर्ण्यते बुधैः कुलं च शीलं च वयश्च किञ्चन ।
सर्वत्र सम्बन्धविधानकारणं प्रियस्य यत्प्रेमगुणैर्विशिष्यते ॥

—धर्म० ६.४०

३. मनोरमां मन्मथशापवद्धामाश्वासनार्थं मधुरं जगाद ।
परिगृहाण गुणोदयभूषणां प्रियसुतां मम वत्स मनोरमाम् ॥

—वराङ्ग०, १६.७२ तथा २०.४१, चन्द्र०, ६.६१-७१

४. श्रीमण्डपं कामकरण्डकाख्यं सत् कारितं नेत्रमनोऽभिरामम् ।

—वराङ्ग०, २.६४ तथा २.६५-६८

तथा—सिंहासनस्थोपरिसंनिषण्णो । —वही, २.६६ तथा १६.१८

५. हेमैर्धटैर्गन्धविमिश्रतोयैर्ग्रीवाभिसङ्घेष्टितदामलीलैः ।

पद्मोत्पलाच्छादितवक्त्रशोभैर्वसुन्धरेन्द्राः स्नपयाम्बभूवुः ॥ — वही, २.७१

अन्य महत्त्वपूर्ण लोग इन कलशों को उठाकर वर-वधू का अभिषेक करते थे।^१ कभी-कभी विवाहोत्सव के साथ-साथ युवराज का राज्याभिषेक^२ संस्कार भी सम्पन्न होता था^३ इस अवसर पर राजा युवराज एवं वर के मस्तक पर पट्टा बांधता था। वराङ्गचरित के दो स्थलों पर विस्तारपूर्वक राजकुमार वराङ्ग के विवाहोत्सव का वर्णन आया है तथा दोनों ही अवसरों पर राज्याभिषेक की क्रियाएं भी विवाह विधि के साथ अनुष्ठित हुई हैं।^४ अग्नि, धर्म एवं जल को साक्षी मान कर विवाह विधि का समापन होता था।^५

विवाहोत्सव के बाद अभ्यागत अतिथि राजाओं को ससम्मान बिदाई दी जाती थी। बिदाई देने वालों में प्रायः राजा, पटरानी तथा पुत्र आदि होते थे।^६ वराङ्गचरित महाकाव्य के विवाह वर्णन दक्षिण भारत स्थित कर्नाटक देश की प्रान्तीय चेतनाओं से प्रभावित जान पड़ते हैं।

२ पद्मानन्द—पद्मानन्द महाकाव्य में वर्णित विवाह विधि के अनुसार सर्वप्रथम कन्यापक्ष की स्त्रियाँ वधू को वस्त्राभूषण आदि पहनातीं थीं।^७ वर को भी स्नानादि करवा कर वस्त्राभूषण पहनाए जाते थे।^८ उसके बाद वर को यान पर बैठाकर मण्डप तक ले जाया जाता था।^९ मण्डप द्वार के समक्ष स्त्रियाँ अग्नि-युक्त मिट्टी के पात्र (शराब) में लवण डाल कर मङ्गल-सम्पादन करतीं थीं। कवि ने इस अवसर पर अग्नि में लवण के जलने से 'त्रटत्-त्रटत्' की ध्वनि होने का

१. अन्ये च तेषां नृपमन्त्रिमुख्या अनन्तचित्राजितदेवसाह्वः ।
कुम्भैर्ज्वलद्रत्नमयैरनेकैः शुद्धाम्बुपूर्णैश्च समभ्यषिञ्चन् ॥ —वराङ्ग०, २.७२
२. विशेष द्रष्टव्य—वराङ्ग०, सर्ग-२ तथा १६
३. ज्वलत्किरीटं प्रणिधाय मूर्ध्नि स्वयं नरेन्द्रस्तु बबन्ध पट्टम् ।
—वही, १६.२०
४. वही, २.६४ तथा १६.८
५. कृत्वाग्निधर्मोदकसाक्षिभूतं कश्चिद्भटाय प्रददौ सुनन्दाम् ।
—वही, १६.२०
६. श्रीधर्मसेनः सकलत्रपुत्रः सन्मानदानैरभिसंप्रपूज्य ।
लोकोपचारग्रहणानुवृत्त्या विसर्जयामास वसुंधरेन्द्रान् । —वही, २.८७
७. पद्मा०, ६.२६-३५
८. स्वामी स्वयं स्नपितलेपितभूषिताङ्गः । —वही, ६.६६
९. उत्तीर्य यानव्रततो वरतोरणाग्रे । —वही, ६.७०

सजीव चित्रण किया है।^१ इस विवाहानुष्ठान के अवसर पर कोई स्त्री दूब आदि माङ्गलिक वस्तुओं से युक्त चान्दी के थाल को लेकर वर के सामने खड़ी होती थी तो दूसरी स्त्री अर्घ्य देती हुई मन्थन दण्ड से वर के मस्तक का स्पर्श करती थी।^२ वर पादुका पहने हुए बाएं पाँव से अग्नि पात्र का स्पर्श करता था।^३ तदनन्तर वर को मातृगृह में ले जाकर स्वर्णसिन पर बिठा दिया जाता था।^४ वर एवं वधू के हाथ में सूत्र बाँधा जाता था और वधू के हाथों में पिप्पल एवं शमी की त्वचा का लेप भी किया जाता था।^५ लगनावसर पर वर वधू के हाथ को अपने हाथ से ग्रहण करता था।^६ इसी समय 'तारामेलनपर्व' भी सम्पन्न होता था और सभी वधू पक्ष की स्त्रियाँ गीत गाती हुई वर के वस्त्राञ्चल से वधू के वस्त्राञ्चल को बाँध देती थीं।^७ वर वधू का हाथ पकड़ कर अग्निवेदिका की आठ बार प्रदक्षिणा करता था।^८ सबसे अन्त में 'पाणिमोक्षणपर्व' सम्पन्न होता था। 'पाणिमोक्षण

१. माणिक्यमण्डपचरा व्यमुचन् क्षुनार्यो निःशेषमङ्गलमयप्रभुमङ्गलाय ।

द्वारे शराववरसम्पुटमुत्कटाग्नि-क्षिप्तघटत्रटितिकुल्लवणोरुद्यग्भंम् ॥

—पद्या०, ६.७१

२. दूर्वादिमाङ्गलिकवस्तु विराजि रूप्यस्थालं विधृत्य पुरतोऽस्थित काऽपि तत्र ।

—वही, ६.७२

काचिन कुपुम्भदसनाञ्चलनुम्बिताग्रं, वैसाखमुद्धतवती पुरतो वरस्य ।

—वही, ६.७३

तथा साऽयं ददौ ।

—वही, ६.७७

मन्थेन भालमथ सा स्पृशति स्म हृष्टा ।

—वही, ६.७८

३. स्वामी स्ववामचरणेन सपादुकेन, साग्नि शरावरसम्पुटमुद्विभेद ।

—वही, ६.७९

४. कनकविष्टरमध्वपतिष्ठत् ।

—वही, ६.८०

५. सम्पिप्य पिप्पलशमीद्रुमजत्वचौ ।

—वही, ६.८१

६. स्वामी मुचगनानयेऽप तयोः कराब्जे, जग्राह गर्भकरलेपवरे कराम्भ्याम् ।

—वही, ६.८२

७. अभ्यागतन्तश्च मिरोऽभिमुखानि तारामेलाख्यपर्वणि ।

—वही ६.८४

वडशंशुकाञ्चलयुगं वसनाञ्चलेन, विस्वाधिपस्य विबुधाधिपतिबन्ध ।

—वही, ६.८४

८. तत्रैव कौतुकगृहादवियुक्तहस्तं, नाथस्तथैव परितःस्फुरितं हुताशम् ।

अष्टातिपुष्टधवलान्यथ मङ्गलानि, पत्नीद्वयेन सममभ्रमदभ्रश्रीः ।

—वही, ६.९६

पर्व' के साथ ही वर मण्डप से यान द्वारा अपने स्थान पर चला जाता था ।^१ पद्मानन्द महाकाव्य के विवाह वर्णनों का सम्बन्ध गुजरात आदि प्रदेशों से जोड़ा जा सकता है ।

३. सनत्कुमारचक्रिचरित—सनत्कुमारचक्रिचरित में प्रतिपादित विवाह विधि के अवसर पर सनत्कुमार ने हाथी पर बैठकर मण्डप में प्रवेश किया ।^२ कन्याओं को मङ्गल स्नान कराने के बाद चार सधवा स्त्रियों ने वर को वस्त्रादि पहनाए ।^३ गुरुजनों ने लाजा-वृष्टि की ।^४ कन्या पक्ष की स्त्रियों ने वर के शरीर का संस्कार भी किया ।^५ तदनन्तर मधु, धृत, अक्षतादि द्वारा वेदी को प्रदीप्त किया गया ।^६ वर एवं वधुओं द्वारा अग्नि की सप्तशिखाओं की प्रदक्षिणा की गई थी ।^७ इस अवसर पर स्वर्णदान^८ के अतिरिक्त पात्र, वस्त्राभूषण आदि भी प्रदान किए गए थे ।^९ सनत्कुमारचक्रिचरित में चित्रित विवाह विधियां राजस्थान आदि प्रदेशों से सम्बद्ध मानी जा सकती हैं ।

४. प्रद्युम्नचरित—प्रद्युम्नचरित में विवाह वर्णनावसर पर 'जिनपतिपद-

१. मोक्षं शचीपतिरचीकरदञ्चलानाम् । —पद्मा०, ६.१०० तथा ६.१०५

२. आसह्य मङ्गलसितद्विरदं कुमारः । —सन०, १५५२

३. आदधुः स्नपनमासान् ।

सधवाश्चतस्र इह चक्रुस्तन्नुसरैर्मृदावमनानि । —वही, १५.३७, ३६

४. गुरवो निचिक्षिपुरभूषां, लाजकणान् । —वही, १५.४

५. कन्यकावत्कुमारं कुलस्त्रीकुलान्यादधुश्चारुसंस्कारभाजं तनी ।

—वही, १५.४७

६. वेद्यां मधुग्राज्यधुनाक्षतादिभिः, प्रदीपिते मङ्गलजातवेदसि ।

—वही, १६.१४

७. तत्पुण्यसर्वस्व इव प्रजृम्भिते, हृद्ये शिखाभिश्च तदैव सप्तभिः ।

प्रदक्षिणावर्त्तमथाभ्रमन्वधुवराः सुमेराविव तारकेन्दवः ॥

—वही, १६.१५

८. कन्यापिताऽऽद्ये परिवर्तने ददौ, वराय भारायुतकोटिकाञ्चनम् ।

—वही, १६.१६

९. हाराद्धंहारादिविभूषणं बहु, पात्रञ्च कच्चोलकटाहकादिकं,

अदात् तुरीये वसनानि भूरिशः ।

—वही, १६.१७; १८, १९

पूजा' भी सम्पन्न होती थी।^१ कन्या को वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित कर मणिवापिका जल से स्नान कराया जाता था।^२ तदनन्तर पुष्पो तथा सुगन्धित पदार्थों से मणिवापिका जल की पूजा की जाती थी।^३ पुरोहितादि देवता स्तुति सम्बन्धी मन्त्रों का उच्च कण्ठ से उच्चारण करते थे।^४ इस प्रकार विवाह विधि सम्पन्न हो जाती थी। गुजरात एवं राजस्थान से सम्बद्ध प्रान्तों से प्रच्युम्न चरित के विवाह वर्णन विशेष प्रभावित रहे हैं।

५. **द्वयाश्रय**—द्वयाश्रय महाकाव्य के अनुसार वधू के घर पहुँचने पर वर के माथे पर दही का तिलक लगाया जाता था।^५ कन्या वर के गले में माल्यार्पण करती थी।^६ तदनन्तर वर लवण युक्त अग्नि के पात्र (शराव) को तोड़ कर अन्दर प्रविष्ट होता था।^७ वर एवं वधू मातृगृह (मातृवेश्म) में भी प्रवेश करते थे।^८ ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण द्वारा विवाह संस्कार करवाते थे।^९ इस अवसर पर 'सूत्रबन्धन' की क्रिया भी होती थी।^{१०} विवाहावसर पर लवण युक्त अग्नि शराव का उल्लेख द्वयाश्रय तथा पद्मानन्द महाकाव्यों^{११} में समान रूप से होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात आदि प्रदेशों की विवाह विधियों में इस कर्मकाण्ड का विशेष प्रचलन रहा होगा।

६. **शान्तिनाथचरित**—शान्तिनाथचरित महाकाव्य के अनुसार वर हाथी में चढ़ कर मण्डप द्वार की ओर आता था तथा उसके पीछे स्त्रियों का समूह भी मंगल गीत गाते हुआ आता था। वर के मण्डप द्वार पर पहुँचने पर स्त्रियाँ अर्घ्य देकर उसे घर के भीतर ले जाती थीं। वर मण्डप पर स्थित सिंहासन पर बैठा दिया जाता

१. जिनपतिपदपूजां संविधामादरेण अभवदथ विवाहः कामरस्योस्तदानीम् ॥

—प्रद्युम्न, १०.७७

२. वस्त्रभूषणसमन्विता ततः सा समञ्ज मणिवापिकाजले ।

—वही, ३.६४

३. सा विगाह्य मणिवापिकाजलं सम्प्रपूज्य कुसुमैः सुगन्धिभिः ।

—वही, ३.६५

४. देवतास्तुतिविधायकं वचः संनिशम्य विपुलो रसोन्नतः —वही, ३.६७

५. द्वया० १६.५६

६. वही, ८.१०८

७. वही, १६.५८

८. वही, १६.५६

९. द्वया०, १६.६३

१०. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 188

११. पद्मा०, ६.७१

था।^१ वधू वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अवगुण्डन डाल कर, मातृगृह में माताओं की पूजा कर वर के साथ आसन में बैठ जाती थी। तदनन्तर वर-वधू का 'हस्तमेलन' होता था। प्रायः वर द्वारा स्वसुर से इच्छित वस्तु माँगने का भी रिवाज था तथा इच्छापूर्ति हो जाने पर ही वधू का हाथ छोड़ने की परिपाटी प्रचलित थी। इस अवसर पर मंगल कुम्भ ने पाँच अश्व लेने के बाद ही कन्या का हाथ छोड़ा था।^२

विवाह सम्बन्धी अन्य रीति-रिवाज

विवाहावसर पर होने वाले विविध प्रकार के हर्षोल्लासपूर्ण रीति रिवाजों का भी जैन महाकाव्यों में उल्लेख आया है। सामान्यतया नागरिकों, विशेषकर स्त्रियों के लिए यह अवसर विशेष हर्षोल्लास का होता था।^३ स्त्रियाँ विविध प्रकार के नृत्य करती थी।^४ भाण्ड आदि जोर-जोर से तालियाँ बजाकर विभिन्न प्रकार की हास्यपूर्ण मुद्राओं से उपस्थित लोगों का मनोरंजन करते थे।^५ वर पक्ष के लोग रंग भरी पिचकारियों से वर को भिगो भी देते थे तथा एक दूसरे पर भी रंग डाल कर अपना हर्षोल्लास प्रकट करते थे।^६ पद्मानन्द में भी स्त्रियों द्वारा हल्लीसक आदि नृत्य करने तथा गीत-संगीत का आयोजन करने का उल्लेख आया है।^७ सनत्कुमारचरित्र में राज्ञि में 'विदग्धगोष्ठी' के आयोजन होने का उल्लेख प्राप्त होता है।^८ आज भी कई प्रान्तों में वधू पक्ष की स्त्रियाँ वर से कई प्रहेलिकाएँ पूछती हैं।^९ सनत्कुमार में भी 'विदग्ध गोष्ठी' का आयोजन तत्कालीन राजस्थान आदि प्रदेशों के रीति रिवाजों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। विवाह के अवसर पर प्रहेलियाँ बूझने का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. शान्ति०, ४.११५-१८

२. वही, ४.११६-२०

३. वराह०, १६.१२-१८, तथा पद्मा०, ६.१०२

४. वचचिद्विचित्रं ननृतुस्तरुण्यः वचचिच्च गीतं मधुरं जगुश्च ।

—वराह०, १६.१७ तथा पद्मा०, ६.१०२

५. आस्फोट्य भाण्डाः करतालशब्दान्विडम्बनां चक्रुरितोऽमुतश्च ।

—वराह०, १६.१७

६. वही, २.७४

७. पद्मा०, ६.१०१-१०२

८. विदग्धगोष्ठीमुखलामलालसः प्रश्नोत्तराण्याशु स पृच्छति स्म ताः ।

—सन०, १६.२८

९. सनत्कुमारचरित्र, भूमिका, पृ० ७६

प्रश्न—

का प्रार्थ्यते विश्वजनेन सादरं ? का वा विजेया बत चक्रवर्तिनाम् ?
कीदृग् नृपः स्यान्नः परामवास्पदं ? भात्यम्बरे वन्दनमालिकेन का ?^१

उत्तर संकेत—

अथोक्त्वा तातताततीरूपां काचित् ततावलीम् ।
दयितालोकयामास, सम्मेरं बल्लभाननम् ॥^२

उत्तर—

प्रिये किमत्र वक्तव्यं प्रसिद्धा सारसावली ।^३

यहाँ कन्या द्वारा चार प्रश्न पूछे गए हैं—(१) संसार में पुरुषों द्वारा किसकी याचना की जाती है ? (२) चक्रवर्ती राजाओं के लिए जीतने योग्य वस्तु क्या है ? (३) कौन राजा पराभूत नहीं होता ? तथा (४) आकाश में वन्दनमालिका के समान क्या सुशोभित होती है ? संकेत चिह्न के रूप में कन्या द्वारा अव्यक्त रूप से 'ततावली' को 'ताततातती' के रूप में बता दिया गया । इस अस्पष्ट संकेत को समझकर सनत्कुमार ने 'सारसावली' उत्तर दिया जो ठीक था । प्रश्न कर्त्ता के चारों प्रश्नों के उत्तर इसमें आ जाते हैं, यथा (१) सा (स्त्री), (२) रसा (पृथ्वी), (३) वली अर्थात् बली (बलवान) तथा (४) सारसावली (सारसों की पंक्ति) ।

स्वयंवर विवाह विधि

स्वयंवर के लिए विभिन्न देशों के राजाओं की दूत भेजकर आमन्त्रित किया जाता था ।^४ दूत विवाहशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ राजनैतिक नीतियों के भी विशेषज्ञ होते थे ।^५ दूतों को अपने सद्-असद् विवेक द्वारा विवाह-सम्बन्ध स्वीकार करने या न करने का पूरा अधिकार प्राप्त था ।^६ स्वयंवर विवाह विधि के अनुसार कन्या पक्ष के दूत विभिन्न देशों में जाकर योग्य राज-कुमारों के पिताओं को स्वयंवर में सम्मिलित होने की सूचना व निमन्त्रण भेजते

१. सन०, १६.३०

२. वही, १६.३१

३. वही, १६.३२

४. शृङ्गारवत्या दुहितुः स्वयंवरे प्रतापराजेन विदभंभूभुजा ।

दूतः कुमारानयनार्थमीरितः समाययौ रत्नपुरप्रभोगृहम् ॥ — धर्म०, ६.३१

५. विवाहतन्त्राविकृतान्सलेखान्प्रत्येकशो दूतवरान्ससर्ज । — वरांग०, २.३५

ततो नृपेणाप्रतिपौरुषेण वचोहरः सामयुतैर्वचोभिः । — वही, २.३८

६. वही, २.३६

थे ।^१ दूत पत्र तथा कन्या के चित्र को भी साथ रखते थे ।^२ चित्र-पट में कन्या के चित्र के साथ उसके रूप सौन्दर्य का भी वर्णन किया गया होता था ।^३ धर्मशर्मा-भ्युदय महाकाव्य के अनुसार राजा धर्मनाथ के राज-दरबार में गए दूत ने राजकुमारी शृङ्गारवती का जो चित्रपट दिखाया उसके नीचे राजकुमारी के अप्रतिम सौन्दर्य को विज्ञापित करने वाला एक पद्य भी लिखा गया था ।^४ स्वयंवर के दिन सभी राजकुमार सभा-मण्डप में विराजमान हो जाते थे ।^५ तदनन्तर राजकुमारी हथिनी पर बैठकर प्रतिहारी के साथ सभा मण्डप में प्रवेश करती थी ।^६ प्रत्याशी राजकुमार कन्या को आकर्षित करने के लिए विविध प्रकार के शृङ्गारिक हाव-भावों का भी प्रदर्शन करते थे ।^७

स्वयंवर में आए राजाओं की चयन योग्यताएं

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में वर्णित स्वयंवर विवाह में उपस्थित अनेक राजाओं का जो वर्णन आया है उससे तत्कालीन स्वयंवर विवाह की उल्लेखनीय विशेषताओं की जानकारी प्राप्त होती है । इस प्रसंग में प्रत्याशी राजाओं का परिचय और उनकी शक्ति, पराक्रम आदि का भी उल्लेख आया है । मालवनरेश अवन्ति राज्य का राजा था तथा उसके अधीन अनेक सामन्त राजा भी थे ।^८ मालव नरेश की रण कौशलता भी अद्वितीय थी ।^९ भगधराज निष्कण्टक राज्य का उपभोग

१. दूतः कुमारानयनार्थमीरितः ।

—धर्म०, ६.३१

२. वराङ्ग०, २.३७, ४० तथा धर्म०, ६.३३

३. धर्म०, ६.३४-३५

४. अस्याः स्वरूपं कथमेणचक्षुषो यथावदन्यो लिखितुं प्रगल्भताम् ।

घातापि यस्याः प्रतिरूपनिर्मितौ धुराक्षरन्यायकृतेज्जडः ॥

—वही, ६.३५

५. देशान्तरायातनरेन्द्रपूर्णा स्वयंवरारम्भभुवं प्रपेदे । —वही, ७७.१

६. करेणुमारुह्य पतिवरा सा विवेश चामीकरचारुकान्तिः ।

—वही, १७.११

७. शृङ्गारलीलामुकरायमाणान्यासन्तृषाणां विविधेज्जितानि ।

—वही, १७.२५ तथा १७.२३-३०

८. वही, १७.३३

९. वही, १७.३४-३५

करता था तथा सन्धि विग्रह आदि गुणों के प्रयोग से राज्य को सुदृढ़ कर चुका था ।^१ अङ्गराज भी शत्रुमर्दन में विशेष दक्ष था तथा रूप सौन्दर्य में चन्द्रमा एवं कामदेव तुल्य था ।^२ कलिङ्गराज के पास उत्तम हाथी थे तथा वह स्वयं सदाचारी था ।^३ दक्षिण देश का पाण्ड्यराजा सुडील शरीराकृति वाला था तथा युद्ध में अपना पराक्रम दिखाकर दक्षिण देश पर एकछत्र राज्य कर रहा था ।^४ इन राजाओं के रूप सौन्दर्य तथा पराक्रम से राजकुमारी शृङ्गारवती तनिक भी प्रभावित नहीं हुई । बाद में प्रतिहारी ने धर्मनाथ ने गुणों का वर्णन किया । कुलीन होना, देवी गुणों से युक्त होना रूप-सौन्दर्य युक्त होना, गुणशाली एवं पराक्रमी होना आदि धर्मनाथ की उल्लेखनीय योग्यताएँ थीं ।^५ इन योग्यताओं के अतिरिक्त धर्मनाथ के प्रति राजकुमारी के आकर्षण का मुख्य कारण यह रहा था कि वह धर्मनाथ के दर्शन मात्र से प्रेम-भाव के कारण रोमाञ्चित हो उठी थी ।^६ इसीलिए अन्य राजाओं की तुलना में धर्मनाथ को श्रेष्ठ मानकर राजकुमारी ने उसके गले में वरमाला डाल दी ।^७

स्वयंवर विवाह के अवसर पर धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में जिन कर्मकाण्ड परक विवाह विधियों का उल्लेख आया है उनमें वर एवं वधू को नगर में घुमाना, माङ्गलिक गीतों से वर का स्वागत करना आदि सामान्य विवाह विधियों के समान ही थीं ।^८

३. विवाहसंस्था सम्बन्धी अन्य प्रथाएं

दहेज प्रथा

जैन संस्कृत महाकाव्यों के विवाहावसर पर दहेज देने व लेने के अनेक उल्लेख आए हैं । वराहचरित के अनुसार सुनन्दा के विवाहावसर पर आधे राज्य के अतिरिक्त एक हजार हाथी, बारह हजार घोड़े, एक लाख ग्राम, चौदह कोटि प्रमाण की स्वर्ण मुद्राएं, बत्तीस नाटक-विशेषज्ञ, अन्तःपुर में सेवा करने वाले वृद्ध पुरुष, किरात, दासियाँ आदि परिचारक, कुशल शिल्पी तथा अन्य राज कर्मचारियों

१. धर्म०, १७.३६-४१

२. वही, १७.४५-४८

३. वही, १७.५३-५६

४. वही, १७.५८-५९

५. वही, १७.७०-७५

६. वही, १७.७८

७. वही, १७.८०

८. वही, १७.८३-१०५

को कन्या के पिता द्वारा वराङ्ग को दहेज के रूप में दिया गया ।^१ राजनैतिक दृष्टि से कुछ राजा दहेज देने का प्रयोग साम नीति के उपाय के रूप में भी करते थे ।^२ वराङ्ग को प्रसन्न करने के लिए बकुलेश द्वारा अपनी कन्या मनोहरा के विवाहावसर पर एक हजार घोड़े, सौ हाथी, कोटिप्रमाण युक्त स्वर्ण तथा सौ वरलम्बिकाएं भी दहेज स्वरूप प्रदान की गईं ।^३ राजाओं के विवाहावसर पर रथ, हाथी, घोड़े आदि दहेज के रूप में देना सामान्यतया प्रचलित था ।^४ चन्द्रप्रभचरित,^५ जयन्त विजय,^६ शान्तिनाथचरित,^७ द्रयाश्रयकाव्य^८ आदि महाकाव्यों से भी दहेजप्रथा के अस्तित्व की विशेष पुष्टि होती है । द्रयाश्रय में एक स्थान पर कन्या के पिता को दहेज न दे सकने के कारण चिन्तित वर्णित किया गया है ।^९ विवाह सम्बन्धी कर्मकाण्ड भी दहेज चेतना से अनुप्राणित थे । वर को पात्र-वस्त्र दान आदि की प्रथाएं तथा वर द्वारा कन्या के पिता से मनोवाञ्छित वस्तु के प्राप्त होने पर ही कन्या का हाथ छोड़ने जैसी प्रथाएं दहेज प्रथा का ही प्रच्छन्न रूप से पोषण कर रहीं थीं ।^{१०}

१. मत्तद्विपानां तु सहस्रसंख्या द्विषट्सहस्राणि तुरङ्गमानाम् ।
ग्रामाः शतेन प्रहताः सहस्रा हिरण्यकोटयश्च चतुर्दशैव ॥
द्वात्रिंशदायोजितनाटकानि वृद्धाः किराता विविधाश्च दास्यः ।
मुशिल्पिनः कर्मकरा विनीता दत्तानि पित्रा विधिवदुद्दिष्टे ॥

— वराङ्ग०, १६.२१-२२

२. वही, २१.६७
३. वही, २१.७४
४. Narang, Dvyāśrayakāvya, p. 189
५. श्रुत्वा तं सकलत्रमुदधृतरिपुं भृत्या महत्यागतम् । — चन्द्र०, ६.१११
६. जयन्त०, १३.६४
७. शान्ति०, ४.११६-२०
८. द्रया०, ७.७४, १०६, ११२, ६.१७१, १६.२४
९. वही, १८.६२ तथा Narang Dvyāśrayakāvya, p. 189
१०. सन०, १६, १६-१६, शान्ति०, ४.११६-२० तथा तु०—

It was customary among all classes of people to give dowry to the daughter at the time of her marriage. It was known as 'Araṇamu'. It should not be taken to mean that 'Araṇamu' was the price paid for the bride or the bridegroom. It was merely the gift given by the father at the time of the marriage of his daughter.

—Krishnamoorthy, Soc. & Eco. Conditions in E. Deccan, p. 72

दहेज प्रथा का विरोध

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि प्रायः कन्या विवाह के अवसर पर दान स्वरूप दहेज देने की प्रथा प्रचलित थी। वराङ्गचरित में प्राप्त एक मान्यता के अनुसार कन्या को भूमि, गृह, स्वर्ण, गाय, मँस, घोड़ा आदि वस्तुओं को देना प्रशंसनीय भी माना जाता था।^१

वराङ्गचरितकार जटासिंह नन्दि ने दार्शनिक दृष्टि से दहेज प्रथा का विरोध भी किया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि विवाह के समय कन्या को दिए गए दहेज में खज्ज आदि सस्य तथा धन सम्पत्ति दूसरों के दुःख का कारण होती हैं।^२ इसी प्रकार गाय, बैल आदि पशुओं को दहेज के रूप में देना भी राग-द्वेष का कारण बनता है।^३ सिद्धान्ततः प्रजनन शक्ति तथा अनेक प्राणियों की संहारस्थली माने जाने के कारण कन्यादान तथा भूमिदान घासिक दृष्टि से पुण्य के कारण नहीं बन सकते।^४ जैन दार्शनिकों की मान्यता थी कि जब स्वयं ही स्त्री मोहनीय कर्मों का कारण है तब उसके साथ दहेज में दी जाने वाली वस्तुएं इन मोहनीय कर्मों में और अधिक वृद्धि ही करती हैं।^५ इस प्रकार समाज में यद्यपि व्यावहारिक रूप से दहेज प्रथा का प्रचलन था तथापि जैन मुनिवर्ग दार्शनिक दृष्टियों से दहेज प्रथा का विरोध भी कर रहा था।

बहुविवाहप्रथा

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वर्णित राजा-महाराजाओं तथा धनिक वर्ग की विवाह र्था में बहुविवाह का सामान्यतया प्रचलन रहा था। वराङ्गचरित में कुमार

१. कन्यासु भूहेमगवादिकानि केचित्प्रशंसन्त्यनुदारवृत्ताः । —वराङ्ग०, ७.३४

२. दुःखाय सस्त्रानिविषं परेषां भयावहं हेममुदाहरन्ति । —वही, ७.३६

३. संताडनोद्बन्धनदाहनैश्च दुःखान्यवाप्नोति गवादिदेयम् ।

—वही, ७.३६

४. भूमिः पुनर्गर्भवती च नारी कृष्यादिभिर्याति वधं महान्तम् ।

—वही, ७.३७

५. कन्याप्रदानादिह रागवृद्धिर्द्वेषश्च रागाद् भवति क्रमेण ।

ताभ्यां तु मोहः परिवृद्धिमेति मोहप्रवृत्तौ नियतो विनाशः ॥

—वही, ७.३५

वराङ्ग का एक साथ दस कन्याओं से विवाह हुआ था ।^१ तदनन्तर उसने ग्यारहवीं कन्या सुनन्दा से भी विवाह किया ।^२ प्रद्युम्नचरित में श्री कृष्ण की सत्यभामा महिषी थी उसके बाद रुक्मणी के साथ भी उनका प्रेम विवाह हुआ था ।^३ शान्तिनाथ की ६६ हजार रानियाँ होने के उल्लेख मिलते हैं ।^४ पद्मानन्द० में ऋषभ नाथ का विवाह सुनन्दा एवं सुमङ्गला नामक दो कन्याओं से होता है ।^५ जयन्त-विजय के उल्लेखानुसार कुमार जयन्त का कनकवती तथा दत्तिसुन्दरी दो राजकुमारियों से विवाह हुआ था ।^६ चन्द्रप्रभ महाकाव्य में राजा कनकप्रभ तथा पद्मनाभ की एक-एक पत्नी होने के भी उल्लेख मिलते हैं । इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के अनुसार राजा धर्मसेन ने स्वयंवर विवाह द्वारा केवल मात्र कन्या शृङ्गारवती से ही विवाह किया था ।^७ सांस्कृतिक कथानकों से अनुप्रेरित होने के कारण भी जैन महाकाव्य बहु विवाह प्रथा का उल्लेख करते हैं । राजा-महाराजाओं का बहुविवाह होना तत्कालीन राजनैतिक सुदृढ़ता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कहा जा सकता है । अनेक शक्तिशाली राजाओं से राजकुमारी अथवा राजकुमार का सम्बन्ध बनाकर सामन्त राजा या तो राजनैतिक जोड़-तोड़ में लगे हुए थे अथवा अपनी राजनैतिक शक्ति को संतुलित बनाने की ओर अग्रसर थे ।^८ इन राजनैतिक परिस्थितियों में भी बहुविवाह का समाजशास्त्र लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था ।

सम्भवतः सामान्य जनसाधारण में बहु-विवाह की प्रथा न थी केवल मात्र राजा-महाराजाओं, सेठ-साहुकारों आदि के परिवारों में ही बहु विवाह प्रचलित थे ।^९ सम्भवतः बहु-विवाह से उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक दायित्वों का भार सामान्य व्यक्ति नहीं उठा पाता था किन्तु धनी व्यक्ति इसके लिए पूर्णतः समर्थ थे । सामन्तवाद की विलासपूर्ण जीवन पद्धति के कारण भी राजाओं का वर्ग एवं धनी मानी लोग सुन्दर से सुन्दर तथा अधिकाधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने की लालसाओं से ग्रस्त थे ।

-
१. वराङ्ग०, २.६६
 २. वही, १६.२०
 ३. प्रद्यु०, ३.२७
 ४. शान्ति०, १४.२००-३३६
 ५. पद्मा०, ६.६६
 ६. जयन्त०, १२.६३-६४ तथा १७.८७
 ७. चन्द्र०, १.५४, १.८५
 ८. धर्म०, १७.८३-१०५
 ९. वराङ्ग०, २.१४-३३
 १०. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में; पृ० ५४७

निष्कर्ष

इस प्रकार वैदिककाल से उत्तरीतर ह्रासोन्मुखी नारी की स्थिति आलोच्य काल में कुछ सुधरती दिखाई देती है। यद्यपि स्मृतिकालीन पुरुषायत्त आचार-संहिता से वह इस काल में भी जकड़ी हुई थी तथापि सामन्तवादी समाज व्यवस्था से अनुप्रेरित ऐश्वर्य भोग एवं सौन्दर्य विलास की मनोवृत्तियों के परिणाम स्वरूप नारी चेतना समाज की एक प्रमुख चेतना बनकर उभरने लगी थी। युद्ध चेतना से उद्दीप्त वीरभावना शृङ्गारभावना के बिना अधूरी सी दिखाई देती है। सामन्तवादी भोगविलास के मूल्यों से उत्प्रेरित होने वाले जीवन दर्शन की एक मुख्य आवश्यकता नारी बन चुकी थी। फलतः आलोच्य युग के काव्यों का मुख्य स्वर भी नारी सौन्दर्य के शृङ्गारिक एवं अश्लील वर्णनों से मुखरित हुआ है। यहाँ तक कि शौर्य और पराक्रम को उत्तेजित करने वाली संजोवनी शक्ति के रूप में नारी की भोग्या शक्तियों को उभारने की अधिकाधिक चेष्टाएं हुई हैं। भोग्या के इसी विराट् स्वरूप को धारण कर नारी समाज के व्यापक घरातल पर अपना प्रभुत्व जमाए दृष्टिगत होती है। वह युद्धों का एक प्रमुख कारण बनकर उभरी है तो युद्धशान्ति की साधिका भी वही है। परराष्ट्र नीति के निर्धारण का प्रश्न हो या फिर स्वराज्य सुदृढ़ता का, सामन्तशाही राजशक्तियाँ विवाह प्रयोगों द्वारा नारी का राजनैतिक प्रयोग कर अपनी नीति कुशलता का प्रदर्शन करने में लगी हुई थीं तो वहाँ दूसरी ओर नारी शक्ति भी राजशक्ति को अपने हाथ का खिलौना बनाने में किसी से कम पीछे नहीं थी।

धार्मिक जगत् में नारी सुख के प्रलोभनों से स्वर्ग सुख की अवधारणाओं को समझाया जा रहा था। दार्शनिक चर्चा के क्षेत्र में स्त्री-भोग-विलास सम्बन्धी उपमानों की सहायता से गूढ़ सिद्धान्तों तथा वादों को विशद करने की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो चुकी थीं जो इस तथ्य की ओर संकेत है कि समग्र मध्यकालीन मानव चेतना नारी मूल्यों से किस तरह आकर्षित होती जा रही थी। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को विकसित एवं पल्लवित करने की दृष्टि से भी नारी संस्था की विशेष भूमिका दिखाई देती है। प्रायः सामन्तवादी राजा विवाह के अवसर पर अनेक ग्राम तथा अन्य भूमि सम्पत्तियाँ दहेज के रूप में प्राप्त करते थे जिसके परिणामस्वरूप भूसम्पत्ति के हस्तान्तरण एवं विकेन्द्रीकरण की सामन्ती प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर प्रोत्साहन प्राप्त कर रही थीं। हम यह भी देखते हैं कि स्त्री सौन्दर्य प्रसाधनों के कारण ही आर्थिक क्षेत्र में अनेक व्यवसाय अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुके थे जिनमें वृक्ष उद्योगों द्वारा सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएं तैयार करता तथा नाना प्रकार के आभूषण आदि बनाने से सम्बद्ध व्यवसाय विशेष प्रगति पर थे।

कुल स्त्री के विविध रूपों में नारी की स्थिति स्मृतिकालीन पुरुषायत्त

आचार संहिता से अनुप्रेरित थी। पुरुष का वर्चस्व नारी समाज पर पूरी तरह से हावी था। उच्चवर्ग की कन्याओं को नृत्यादि कलाओं की शिक्षा दी जाती थी तथा विवाह आदि अवसरों पर उन्हें मनोवांछित वर के चयन की स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी। राजकुलों से सम्बद्ध आलोच्य युग की विवाह संस्था पूर्णतः युगीन राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित जान पड़ती है। राज दरबारों में तथा मंत्रिपरिषदों में गम्भीरता से विचार विमर्श करने के उपरान्त ही विवाह सम्बन्धों को स्वीकृति देने का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। इन सभी विवाह सम्बन्धों में वर एवं वधू की योग्यताओं के साथ साथ राजनैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न परराष्ट्र नीति पर भी ध्यान दिया जाना था। स्वयंवर विवाहों का स्वरूप विकसित होता जा रहा था तथा प्रेम विवाह भी प्रोत्साहित किए जा रहे थे। अनेक प्रकार के अनुबन्धात्मक विवाहों की स्थिति का भी पता चलता है।

जैन महाकाव्यों में उपलब्ध होने वाले विवाह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त उपादेय कहे जा सकते हैं। दक्षिण भारत, गुजरात, राजस्थान, आदि विभिन्न देशों की प्रान्तीय रीति-रिवाजों की इन विवाह प्रसङ्गों में चर्चा आई है। अनेक प्रान्तों में विवाहावसरों पर विविध प्रकार के सांस्कृतिक मनोरञ्जनों तथा हर्षोल्लास सम्बन्धी गतिविधियों का विशेष प्रचलन रहा था। उच्च वर्ग के लोगों में विवाह के अवसर पर देहेज देने की प्रथा प्रचलित रही थी जबकि दूसरी ओर सामान्य व्यक्ति के लिए धनाभाव के कारण कन्या का विवाह करना चिन्ता का विषय भी बना हुआ था। स्त्रियाँ बहुविवाह से प्रभावित थी परिणामतः सपत्नियों की प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने के लिए उसे कृत्रिम सौन्दर्य विन्यास तथा कामशास्त्रीय विलास चेष्टाओं में दक्ष होने की विशेष आवश्यकता थी।

मध्यकालीन भारत में वेश्यावृत्ति को एक मुख्य सामाजिक अभिशाप के रूप में देखा जा सकता है। सामन्तवादी मूल्यों के कारण स्त्री का सौन्दर्यात्मक तथा वासनात्मक पक्ष विशेष रूप से उद्घाटित हो चुका था। फलतः वेश्यावृत्ति एक प्रमुख व्यवसाय का रूप धारण कर चुकी थी। मानवीय दुर्बलताओं के कारण चरित्र भ्रष्ट स्त्री के पास जीविकोपार्जन का व्यवसाय वेश्यावृत्ति ही था। एक स्त्री यदि वेश्यावृत्ति स्वीकार कर ले तो उसकी भावी पुष्टियाँ भी वेश्यावृत्ति का व्यवसाय करने के लिए बाध्य थीं। वेश्या का समाज में घृणास्पद स्थान होने के कारण वेश्यावृत्ति कुल परम्परा से भी चलने लगी थी। अन्य कुलीन स्त्रियों के समान वेश्याएँ भी अनुरागात्मक दाम्पत्य जीवन बिताने की लालसाएं रखती थीं किन्तु समाज उन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। पुरुषायत्त समाज व्यवस्था के कारण व्यक्ति अपनी वासना पूर्ति तथा मनोरञ्जन के लिए वेश्याओं के पास जाना तो उचित समझते थे किन्तु कुल स्त्री के पद पर प्रतिष्ठित करने का साहस उनमें नहीं था। सती प्रथा का कहीं कहीं प्रचलन था किन्तु एक कूप्रथा के रूप में इसका विरोध भी किया जा रहा था।

नवम अध्याय

भौगोलिक स्थिति

भूगोल शास्त्र सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएं

रामायण, महाभारत, पुराण एवं धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय भूगोल की शास्त्रीय मान्यताएं प्राप्त होती हैं। वैदिक पुराणों तथा जैन पुराणों में भी भौगोलिक प्रकृति की विशाल सामग्री संकलित है। ब्राह्मण और जैन साहित्य के भौगोलिक स्रोत अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी भारत के प्राचीन भूगोल पर प्रकाश डालता है। पालि पिटक विशेषकर विनय एवं सुत्त नगरों एवं ऐतिहासिक स्थानों के प्रासङ्गिक उल्लेख प्रस्तुत करते हैं। दीपवंस एवं महावंस भी बौद्धों के भौगोलिक ज्ञान से अवगत कराते हैं। कुल मिलाकर बौद्ध साहित्य की भौगोलिक सामग्री अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के बाद भी प्राचीन भूगोल शास्त्र पर उस तरह से व्यवस्थित प्रकाश नहीं डाल पाती जितना कि वैदिक एवं जैन पुराणों की भौगोलिक सामग्री।^१

वैदिक पुराणों में भौगोलिक मान्यताएं

पुराणों में भूगोल विषयक प्राचीन 'सप्तद्वीप' सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। विष्णु पुराण के अनुसार ये सात द्वीप हैं—(१) जम्बू (२) प्लक्ष (३) शाल्मल (४) कुश (५) कौञ्च (६) शाक तथा (७) पुष्कर। इन्हीं सातों द्वीपों में से जम्बू द्वीप में भारतवर्ष स्थित है।^२ परिमाण की दृष्टि से जम्बू द्वीप सबसे छोटा द्वीप है। विष्णु पुराण के अनुसार जम्बू द्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत, दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट तथा निषध एवं उत्तर में नील, श्वेत तथा शृङ्गी पर्वतों की स्थिति मानी जाती है।^३ 'सप्तद्वीप' सिद्धान्त के अतिरिक्त पुराणों में ही 'नवद्वीप'

१. विमल चरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, अनु० रामकृष्ण द्विवेदी, लखनऊ, १९७२, पृ० ४

२. Gupta, Anand Swarup Pauranic Heritage, (article), Purāṇam, Vol. XVIII, No. 1, Jan. 1976, p. 47

३. विष्णु पुराण, २.२.१०, तथा सर्वानन्द पाठक, विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, १९६७, पृ० २२

सिद्धान्त का भी उल्लेख आया है, ये नव द्वीप हैं—(१) इन्द्रद्युम्न (२) सौम्य (३) गान्धर्व, (४) वरुण (५) कुमार (६) कसेरुमान् (७) ताअपण (८) गभस्तिमान् तथा (९) नागद्वीप। इन भौगोलिक अवस्थिति में भारतवर्ष 'कुमारद्वीप' में अवस्थित है।^१ महाभारत में तेरह द्वीपों का भी उल्लेख आया है किन्तु इनकी स्थिति अस्पष्ट है।^२

जैन भौगोलिक मान्यताएं

जैन परम्परा के अनुसार लोक तीन हैं—अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक।^३ मध्य लोक मनुष्य लोक है तथा इसमें जम्बू द्वीप, धातकी खण्ड, पुष्कराब्द ढाई द्वीप आते हैं।^४ जम्बू द्वीप मध्यलोक के ठीक मध्य-भाग में स्थित है। जम्बू द्वीप के अन्तर्गत सात क्षेत्र (भरत, हैमवत, हरि रम्यक, हैरण्यक, हैरण्यवत, विदेह तथा ऐरावत), छह कुलाचल (हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी तथा शिखरी) एवं चौदह नदियाँ (गंगा, सिन्धु, रोहितास्या, रोहितनवी, हरिकान्ता, हरित, सीतोदा, सीता, नरकान्ता, नारी, रूप्यकूला, सुवर्णकूला, रक्ता तथा रक्तोदा) आती हैं। जम्बू निषध पर्वत के उत्तर में 'देवकुरु' तथा सुमेरु के उत्तर और नील पर्वत के दक्षिण दिशा की ओर 'उत्तरकुरु' नामक दो 'भोगभूमियाँ' स्थित हैं।^५

जम्बू द्वीप का भरत क्षेत्र महत्वपूर्ण क्षेत्र है। आदिपुराण के अनुसार इसकी स्थिति हिमवन्त के दक्षिण तथा पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों के मध्य मानी गई है।^६ भरत क्षेत्र में भी आर्य एवं अनाय क्षेत्रों का भेद भी किया गया है।^७ प्राचीन जैन आगम ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में २५^१ आर्य देशों तक ही जैन साधुओं का आवागमन होना था किन्तु बाद में आन्ध्र, द्रविड़ महाराष्ट्र, द्रविड़, कुर्ग आदि कुछ अनाय देशों में भी जैन साधुओं का प्रसार बढ़ने लगा।^८ प्राचीन ग्रन्थ 'बृहत्कल्पसूत्र भाष्य'^९ में निर्दिष्ट २५^१ आर्य देशों की नवीं शताब्दी में रचित आदिपुराणोक्त^{१०}

१. Gupta, Paurānic Heritage, p. 47

२. त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपान्। आदिपर्व, ७४.१६

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, वाराणसी, १९७२, पृ० ४४६-६०

४. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३७

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ४६२-७२

६. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ४३

७. वही, पृ० ४३-४४

८. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४५८-५६

९. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, १.३२७५-८६

१०. आदिपुराण, १६, १५२-५६

भरत क्षेत्र के देशों से तुलना की जाए तो ज्ञात होता है कि कुरु, काशी, कलिंग, बंग, अंग, वत्स, पांचाल, दशार्ण, मगध, कुरुजांगल, कोशल, सिन्धु-सौवीर, शूरसेन, विदेह, चेदि तथा केकय—बृहत्कल्पसूत्र भाष्य प्रतिपादित १६ आर्य देश ही आदिपुराण में भी निदिष्ट हैं।

प्राचीन ऐतिहासिक देश विभाजन

बौद्ध युगीन भारत राजनैतिक दृष्टि से सोलह महाजनपदों में विभक्त था।^१ छठी शताब्दी ई० पूर्व के बौद्ध ग्रन्थ 'अङ्गुत्तरनिकाय'^२ तथा प्राचीन जैन आगम ग्रन्थ 'भगवती सूत्र'^३ में सोलह महाजन-पदों का उल्लेख आया है। किन्तु 'अङ्गुत्तरनिकाय' तथा 'भगवती सूत्र' में वर्णित १६ महाजनपदों में से केवल काशी, कोशल, अंग, मगध, वृजि, मालव तथा चेदि सात महाजनपदों में ही साम्प्रता है शेष नौ महाजनपद दोनों ग्रन्थों में पृथक् हैं।^४ संभवतः 'अङ्गुत्तरनिकाय' की अपेक्षा परवर्ती 'भगवतीसूत्र' के समय तक बौद्धयुगीन १६ महाजनपदों की भौगोलिक स्थिति में कुछ परिवर्तन अथवा संशोधन हो चुका था परिणामतः 'भगवतीसूत्र' का लेखक कुछ नवीन महाजनपदों के अस्तित्व की सूचना देता है।^५ मौर्य साम्राज्य के काल में राजनैतिक दृष्टि से भारत उत्तरापथ, पश्चिम चक्र, दक्षिणापथ, मध्य देश तथा कलिंग पांच चक्रों में विभक्त था तथा इन चक्रों के उप विभाग मण्डलों का पुनः जनपदों में विभाजन किया गया था।^६ मौर्य युग के पतन के उपरान्त भारतीय राज्य व्यवस्था में अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे जिनमें गए राज्यों की स्थिति प्रधान थी।^७ गुप्त राजाओं ने पुनः एक बार विशाल साम्राज्य की स्थापना की और विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों को एक सूत्र में संगठित किया किन्तु इस युग में सामन्त पद्धति के उदित हो जाने के कारण गुप्त राजाओं

१. Basak, Radha Govind, Mahāvastu Avadāna, Vol. I, Calcutta, 1963, Introduction, p. XXIII

२. अङ्गुत्तरनिकाय, १.२१३, ४.२५२, ५६६०

३. भगवतीसूत्र, १५.१

४. Jain, K.C., Lord Mahāvira and his Times, p. 197

५. Thomas, E. J., History of Buddhist thought, Delhi, 1953, p. 6

६. Altekar, A.S., State and Government in Ancient India, Delhi, 1972, p. 209

७. सत्यकेतु विशालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० २२१

का सम्पूर्ण भारत पर सीधा शासन नहीं था।^१ उनके अधीन अनेक महाराजा, तथा गणराज्य थे जो राज्य के आन्तरिक शासन की दृष्टि से पूर्णतः स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे। गुप्त राज्य की शासन व्यवस्था में छह प्रकार के राज्यों का अस्तित्व था (१) गुप्त सम्राटों के अधीन निजी राज्य जिनके उपविभाग 'भुक्ति' तथा 'विषय' थे। (२) आर्यावर्त व मध्यदेश के सामन्त राज्य (३) यौधेय, मालव, आभीर, आदि गणराज्य जो गुप्त राजाओं के आधिपत्य को स्वीकार कर चुके थे। (४) कुछ पृथक् राज्य (५) सीमावर्ती आसाम, नेपाल आदि राज्य तथा (६) सिंहल द्वीप तथा भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमा के कुशाण आदि मित्र राज्य।^२

आलोच्य युग की भौगोलिक परिस्थितियाँ

गुप्त काल के बाद हर्षवर्धन के समय में ही भारत में छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व आ चुका था। यद्यपि कुछ बड़े राजाओं के अधीन इन स्वतंत्र राज्यों का शासन था किन्तु आन्तरिक शासन व्यवस्था की दृष्टि से इनकी स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार की जाने लगी थी।^३ मध्यकालीन भारत के राज्यों के विभाजन की तुलना बौद्ध युग अथवा मौर्य साम्राज्य से की जाए तो मालूम पड़ता है कि मध्यकालीन शासन में राज्य की कल्पना एक छोटे से भूभाग तक सीमित रह चुकी थी। पूर्वनिर्दिष्ट बौद्धकालीन १६ महाजनपदों के नाम इस युग में लोकप्रिय थे किन्तु उनकी क्षेत्रसीमा संशोधित एवं संकुचित हो गई थी।^४ इन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों की प्रतिच्छाया में जैन संस्कृत महाकाव्यों की रचना हुई थी। यद्यपि अधिकांश जैन महाकाव्यों के राजाओं के कथानक पौराणिक एवं सांस्कृतिक कलेवर से युक्त हैं किन्तु इनसे सम्बद्ध देशविभाजन सम्बन्धी वर्णनों में तत्कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव भी देखा जा सकता है। तत्कालीन राष्ट्रकूट, वाकाटक, पल्लव, गुर्जर आदि राजवंशों में प्रान्तीय विभाजन की मुख्य इकाइयाँ देश, विषय, राष्ट्र तथा जनपद आदि थीं। वास्तव में यह प्रान्तीय विभाजन ही मध्यकालीन सामन्त राज्यों की एक प्रमुख भौगोलिक चेतना रही थी। इन्हीं राजनैतिक एवं भौगोलिक सन्दर्भों में जैन महाकाव्यों के 'देश', 'राष्ट्र', 'विषय', का

१. सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० २५८, ५९

२. वही, पृ० २६१, ६२

३. Altekar, A.S., State and Government in Ancient India, Delhi. 1972, p. 208

४. वही, पृ० २०८

औचित्य समझा जाना चाहिए।^१ जैन महाकाव्यों में उपलब्ध भौगोलिक सामग्री का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. पर्वत

१. उज्जयन्त (रैवतक)^२—वसन्तविलास में अम्बिकासानु, आलोकसानु, साम्बुसानु तथा 'प्रद्युम्न' रैवतक पर्वत के विभिन्न शिखरों के उल्लेख भी आए हैं।^३ जूनागढ़ शिलालेख के अनुसार उज्जयन्त पर्वत पलाशिनी तथा सुवर्णसिक्ता दो नदियों का स्रोत था। गिरनार पर्वत जोकि जूनागढ़ से एक मील दूर पूर्व की ओर स्थित है, उज्जयन्त पर्वत कहलाता था।^४

२. अर्बुदाचल^५—(माउण्ट आबु)—अर्बुदाचल को माउण्ट आबु से अभिन्न माना जाता है। इसकी स्थिति अरावलि के दक्षिणान्त में थी।^६

३. शशुंजय^७—(विमलगिरि)—काठियावाड़ में सूरत से ७० मील उत्तरपश्चिम तथा भावनगर से ३४ मील दूर पूर्ववर्ती पलिताना नगर के समीप अवस्थित है।^८

४. विन्ध्याचल^९—नर्मदा एवं ताप्ती नदियों के उद्गम स्थान विन्ध्याचल पर्वत की स्थिति पश्चिमी मध्य भारत में विद्यमान है। नागार्जुन पर्वत का कुछ

१. देशानामध्विपतिरस्ति पूर्वदेशः । —चन्द्र० १६.१ तथा खर्म १.४३; नाम्ना विनीत-विषयः ककुदं पृथिव्याम् ।

—वराह० १.२३ तथा वर्ध० ५.३२, देशानां जनपदानाम् । अध्विपतिः प्रभुः । पूर्वदेशः पूर्व इति देशः अस्ति ।

—चन्द्र० १६.१ पर विद्वन्मनो टीका, पृ० ३८४ तथा द्रष्टव्य Altekar, State and Government, p. 208-9

२. वराह०; २५.५६, कीर्ति०, ६.३७, ३८, वसन्त०, ३.५६, १३.१, द्वया० १५.६१

३. वसन्त०, १३.२१

४. Gupta, Geography in Ancient Inscriptions, pp. 251-52

५. कीर्ति० २.५८, द्वया० ५.४२

६. Gupta, Geography in Ancient Indian Inscriptions; p. 251

७. कीर्ति०, ६.२१, वसन्त०, १०.५५

८. Dey, N.L., The Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India, Delhi, 1971 p. 182

९. द्वया०, १.६५

भाग भी विन्ध्याचल की क्षेत्र सीमा में आता है।^१ 'रीप्यगिरि'^२ इसकी अपर संज्ञा है।^३

५. हिमालय^४—इसके 'हिमवत्', 'हिमवान्' आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं। हिमालय पर्वत का क्षेत्र मानसरोवर के दक्षिण की ओर पड़ता है।^५

६. कैलाश^६—यह पर्वत मानसरोवर के २५ मील उत्तर की ओर स्थित है। तिब्बत की कुछ सीमा इससे मिलती है।^७

७. पारिजात^८—संभवतः पारियात्र पर्वत से इसका अभिप्राय रहा हो। इसका दूसरा नाम पारिपात्र भी है। यह विन्ध्याचल पर्वतमाला का पश्चिमी भाग है। मण्डारकर के अनुसार यह पर्वत विन्ध्याचल का वह भाग है जिसमें से वेतवा तथा चम्बल नदियों का उद्गम होता है।^९

८. ऋक्ष पर्वत^{१०}—गीतमी पुत्र शातकर्णी के नासिक शिलालेख में इस पर्वत का उल्लेख आया है। राय चौधरी के अनुसार मध्य विन्ध्याचल के क्षेत्र में इसकी स्थिति रही होगी।^{११}

९. माहेन्द्र^{१२}—विन्ध्याचल की पर्वत-मालाओं से इसकी शृङ्खलाएं मिली हुई हैं तथा इसका निकटवर्ती पर्वत गौण्डवन भी है।^{१३}

१०. सह्या^{१४}—इस पर्वत की स्थिति कावेरी नदी के उत्तरस्थ पश्चिमी घाट के उत्तरी भाग में स्वीकार की गई है।^{१५}

१. Gupta, Geog. in Indian Ins., p. 249

२. वर्ष० १२.२

३. पन्नालाल जैन, वर्धमानचरित, पृ० ३०१

४. चन्द्र०, १६.५२, कीर्ति०, १.६१, द्वया० १.६५

५. Dey, Geog. Dic., p. 75

६. वराह्म०, २५.५८, वसन्त०, १२.१५, द्वया० ५.२३

७. Dey, Geog. Dic., p. 82

८. द्वया०, १.६५

९. Dey, Geog. Dic., p. 149

१०. द्वया०, १.६५

११. Gupta, Geog. in Indian Ins. p. 248

१२. द्वया०, १.६५

१३. Dey, Geog. Dic., p. 119

१४. द्वया०, १.६५

१५. Gupta, Geog., in Indian Ins., p. 246

११. शक्तिमत्^१—शुक्तिमान् के नाम से भी प्रसिद्ध यह पर्वत भल्लाट नामक देश के अन्तर्गत है। विन्ध्य पर्वत माला का भी यह भाग है।^२

१२. भल्लय^३—कावेरी नदी के पश्चिम की ओर, ट्रावनकोर की पहाड़ियों के समीप इसकी क्षेत्र सीमा है।^४

१३. अन्ध^५—दो अन्धों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है जिनमें से एक का सम्बन्ध 'अन्ध्र' देश है तो दूसरे को 'अन्धेला' नदी से अभिन्न माना गया है। सम्भवतः 'अन्ध' पर्वत से यहाँ अभिप्राय अन्धकार पर्वत से रहा हो। महाभारत के अनुसार इसकी स्थिति कौञ्च द्वीप में थी।^६

१४. उशीनर^७—हरिद्वार में स्थित है। यहाँ से गंगा नदी मैदानी प्रदेशों की ओर बहना प्रारम्भ करती है।^८

१५. नीलाद्रि^९—'वर्षपर्वत' कहलाता है जोकि मेरु के उत्तर में स्थित है। डे महीदय के अनुसार इसकी स्थिति उड़ीसा स्थित पुरी में होनी चाहिए। जयन्माथ मन्दिर भी इसी में स्थापित था।^{१०}

१६. शैलप्रस्थ^{११}—सम्भवतः इस पर्वत की स्थिति लाट देश में रही होगी।^{१२}

१७. शाल्व^{१३}—अल्वर (राजस्थान) के पर्वतीय परिवर्ती प्रदेश की प्राचीन संज्ञा जिसका उल्लेख महाभारत में भी आया है।^{१४}

१. द्वया०, १.६५

२. Dey, Geog. Dic., p. 196

३. द्वया०, १.६५, चन्द्र० १६.३७

४. Dey, Geog. Dic., p. 122

५. द्वया०, १३.६६

६. Bajpai, K.D., The Geographical Encyclopaedia of Ancient and Medieval India, pt 1, Varanasi, 1967: p. 22

७. द्वया०, १५.२७

८. Dey, Geog. Dic., p. 213

९. द्वया०, ४.४७

१०. Gupta, Geog. in Ind. Ins., p. 240 & Dey, Geog. Dic., p. 140

११. द्वया०, ५.१

१२. Narang, Dvyāśrayakāvya., p. 155

१३. द्वया०, ६.६१

१४. विजयेन्द्र कुमार माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० ८६६

१८. मणिचूड^१—डे महोदय द्वारा प्रतिपादित 'मणिचूड' पर्वत । यह पर्वत पूना से पूर्व की ओर ३० मील दूर 'जुजुरी' के निकट पड़ता है ।^२

१९. मेरु^३—मध्य एशिया के अल्ताई पर्वत से इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है । अल्ताई मंगोलिया में 'अल्तेन-उल' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ होता है—'स्वर्ण पर्वत' । कालिका पुराण के अनुसार इसी पर्वत से जम्बू नदी बहती है ।^४

२०. पूर्व मन्दर^५—धातकी खण्ड द्वीप के पूर्वभाग का पर्वत, जो पांच मेरु पर्वतों में परिगणित है ।^६

२१. इषुकार गिरि^७—धातकी खण्ड द्वीप के दक्षिणवर्ती दिशा की ओर स्थित पर्वत, जिसका आकार बाण सदृश है ।^८

२२. विजयार्थ पर्वत^९—हिमालय तथा दक्षिण समुद्र के मध्य में स्थित, धातकी खण्ड के भरत क्षेत्र का पर्वत । इस पर्वत में विद्याधरों का निवास माना जाता है ।^{१०}

२३. वेलाद्रि^{११}—चन्द्रप्रभवचरित महाकाव्य के अनुसार यह पर्वत भारत वर्ष के पूर्व समुद्र का निकटस्थ पर्वत है ।^{१२}

२४. सम्मेदाचल^{१३}—बिहार में स्थित 'पार्श्वनाथ' पर्वत से इसे अभिन्न माना गया है ।^{१४}

१. चन्द्र०, १४.१
२. Narang, Dvayāśrayakāvya, p. 155
३. द्वया०, १.१२७, धर्म० ४.३
४. Dey, Geog. Dic., p. 125
५. चन्द्र०, १.११
६. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
७. चन्द्र०, ५.१
८. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
९. चन्द्र०, ६.७३, धर्म०, १.४२
१०. पन्नालाल जैन, धर्म०, पृ० ३८०
११. चन्द्र०, १६.३२
१२. वही, १६.३२
१३. धर्म०, २१.१८३
१४. पन्नालाल जैन, धर्म०, पृ० ३८०

२५. श्रीपर्वत^१—वररंग चरित के अनुसार इस पर्वत में 'श्री' मुनि ने सहस्रों वर्ष तक तपस्या की थी।^२ डे महोदय के द्वारा प्रतिपादित 'श्री शैल' से यदि इसे अभिन्न माना जाए तो इसकी स्थिति करनाल देश की कुण्ठा नदी के दक्षिण की ओर पड़ती है।^३

२. नदियाँ

१. गंगा^४—(भागीरथी)—गंगा का उद्गम स्थान हिमालय पर्वत है। भारत के प्रसिद्ध नगर हरिद्वार, प्रयाग, काशी, पटना, भागलपुर, कलकत्ता आदि गङ्गा के तट पर ही बसे हुए हैं।^५

२. यमुना^६—हिमालय के यमुनोत्री पर्वत से यमुना प्रवाहित होती है तथा प्रयाग के समीप गङ्गा से इसका संगम होता है। कालिन्दगिरि से उद्गम होने के कारण इसे कालिन्दी भी कहा जाता है।^७

३. ताप्ती^८—ताप्ती नदी 'विन्ध्यापाद' (आधुनिक सतपुड़ा की पर्वत-श्रेणियों से निकलती हुई अरब सागर में मिलती है। सूरत इसके तीर पर स्थित है।^९

४. सरयू^{१०}—अवध में घाघरा अथवा घग्घर नदी से इसे अभिन्न माना गया है। अयोध्या इसी के तट पर बसा है। कुमाऊँ की पहाड़ियों से उद्भूत होती हुई काली नदी से मिलने पर इसे सरयू अथवा घाघरा नदी कहा जाता है।^{११}

५. मही^{१२}—महती अथवा मही नदी मालवा की चम्बल नदी की एक शाखा नदी है। इसी नदी को 'महिता' भी कहते हैं।^{१३}

१. वराह, २५.५८

२. वही. २५.५८

३. Dey, Geog. Dic., p. 193

४. कीर्ति०, १.६०, द्वया०, ३.४

५. सर्वानन्द पाठक, विष्णुपुराण का भारत, पृ० ३५

६. कीर्ति०, १.६०, द्वया०, ७.४३

७. Dey, Geog. Dic., p. 215

८. कीर्ति०, ४.५०

९. Dey, Geog. Dic., p. 204

१०. कीर्ति०, १.६०

११. Dey, Geog. Dic., pp. 181-82

१२. कीर्ति०, ४.५०

१३. Dey, Geog. Dic., pp. 119, 245

६. सरस्वती^१—हिमालय पर्वत की 'सरमर' पहाड़ियों से निकलती हुई सरस्वती नदी आद-बादरी (अम्बाला) में समाप्त हो जाती है। प्लक्षावतरण तीर्थ स्थान से इस नदी का वेग बढ़ना प्रारम्भ होता है। छालौर नामक ग्राम से यह गुप्त हो जाती है तथा भवानीपुर से प्रकट हो जाती है। 'बालछप्पर' के पास से पुनः अदृश्य होते हुए पहोघ्रा के निकट 'बरखेरा' से पुनः प्रकट हो जाती है। अन्त में यह घग्घर नदी में विलीन होती है।^२

७. अजीर्णवती^३—बाजपेयी महोदय ने अजिरवती अथवा अचिरवती नदियों को अभिन्न माना है। प्रस्तुत नदी का भी इन्हीं से सम्बन्ध रहा होगा। अचिरवती सरस्वती नदी मानी गई है। कनिधम ने इसे आधुनिक राप्ती नदी के रूप में स्वीकार किया है।^४

८. कुण्ड्या^५—आन्ध्र प्रदेश की एक नदी।^६

९. गोदावरी^७—दक्षिण भारत की यह सर्वाधिक लम्बी-चौड़ी नदी है तथा त्रयम्बकस्थ ब्रह्मगिरि का मूल स्रोत है। त्रयम्बक तीर्थस्थल है तथा नासिक से २० मील दूर पड़ता है।^८

१०. चर्मण्वती^९—मध्यप्रदेश की आधुनिक चम्बल नदी। विन्ध्याचल पर्वत के 'जनपव' पर्वतमाला से इसकी तीन धाराएं फूटती हैं। इन धाराओं के नाम हैं—चम्बल, चम्बेल तथा गम्भीरा।^{१०}

११. जम्बूमाली^{११}—इसे 'भोगवती' अथवा 'भोगाओ' से अभिन्न माना जाता है। डे के अनुसार भोगवती नदी 'बल्ल' से सम्बद्ध है।^{१२} 'जम्बूमाली' को

१. कीर्ति०, १.६०, वसन्त०, ११.३३, द्वया०, ११.४५

२. Dey, Geog. Dic., p. 180

३. द्वया०, ६.६२

४. Bajpai, Geog. Ency, Pt. 1, p. 4

५. द्वया० १६.६

६. Narang, Dvayāśrakāvyā, p. 165

७. द्वया० १६.११२

८. Dey, Geog. Dic., p. 69; Gupta, Geog. in Ind. Ins., p. 261

९. द्वया० २.६३

१०. Bajpai, Geog. Ency., p. 91; Dey, Geog. Dic., Pt. I, p. 48

११. द्वया० ५.३७

१२. Narang, Dvayāśrayakāvyā, p. 167; Bajpai, Geog. Ency, p. 68

कभी-कभी शिलालेखों में आई 'जम्बूनदी' से अभिन्न माना जाता है। इस नदी का क्षेत्र दीनाजपुर जिले का दामोदरपुर नामक स्थान है।^१

१२. द्रुमती^२—मत्स्यपुराणोक्त 'द्रोणी' अथवा वायुपुराणोक्त 'द्रुमा' नदियों से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। वाजपेयी महोदय के अनुसार 'द्रुमा' नदी की स्थिति अस्पष्ट ही है।^३

१३. ऋजुकूला^४—वर्धमान महावीर के केवल ज्ञान प्राप्त करने से कुछ समय पूर्व जूम्भक नामक ग्राम के समीप बहने वाली इस 'ऋजुकूला' नामक नदी को पार किया था।^५

१४. सीता^६—जैन भूगोल के अनुसार विदेह क्षेत्र की एक नदी है।^७ आधुनिक इतिहासकार महाभारत के शक द्वीप को मध्य एशिया तथा तुकिस्तान से अभिन्न मानते हैं। इसी क्षेत्र की 'Syr-daria' अथवा 'Jaxartes' नदी को सीता नदी से अभिन्न माना गया है।^८ वाल्मीकि रामायण के अनुसार सुचक्षु, सीता और सिन्धु को गङ्गा की ही तीन पश्चिम-गामिनी शाखाएं मानी गई हैं।^९ महाभारत, पुराण आदि भी सीता नदी को गङ्गा की ही एक धारा मानते हैं।^{१०}

१५. नर्मदा^{११}—'अमरकण्ठक' पर्वत माला से निकलती हुई यह नदी अरब सागर में जा मिलती है। सागर तथा नर्मदा का संगम स्थल 'नर्मदा-उदधि-संगम' के नाम से प्रसिद्ध है।^{१२}

१६. रेवा^{१३}—रेवा नदी के स्रोत अमरकण्ठक पर्वत मालाएं ही हैं।

१. Gupta, Geog. in Ind. Ins., p. 262

२. द्रुमा० १५.६०

३. Bajpai, Geog. Ency, Pt. I, p. 117

४. वर्ध०, १७.१२८

५. वही, १७.१२८, २६

६. वर्ध०, १२.१; घर्म०, ४.४

७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ४७२

८. Dey, Geog. Dic., pp. 172-73

९. रामायण, बालकाण्ड, ४३.१३

१०. विजयेन्द्रकुमार माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० ६६८

११. नेमि०, १३.३१; वसन्त०, ५.४२; द्रुमा०, ७.५८

१२. Gupta, Geog. in Ind. Ins. p. 264 ; Dey, Geog. Dic., p. 138

१३. वसन्त०, ५.१०७

‘मण्डल’ से रेवा तथा नर्मदा दोनों नदियाँ नीचे की ओर एक होकर बहती हैं। डे महोदय ने नर्मदा और रेवा को एक ही माना है।^१

१७. पारा^२—पारा, अवन्ती, कुन्ती तीन नदियाँ चर्मण्वती की ही उप-नदियाँ हैं। हेमचन्द्र के अनुसार यह सिन्धु नदी में मिलती है।^३

१८. भोगावती^४—बाजवेयी के अनुसार यह गंगा की ही एक उप-नदी है। किन्तु डे ने इसे बलख से सम्बद्ध किया है।^५

१९. शारावती^६—सरकार के अनुसार यह नदी भारत के पूर्वी तथा उत्तरी प्रान्तों को विभक्त करती है।^७

२०. शोरा^८—इसे ‘स्वर्णनदी’ भी कहते हैं। अमरकण्टक पर्वत मालाओं से निकल कर यह पटना के समीप गंगा में मिल जाती। ‘हिरण्यवाह’, ‘हिरण्यवाहिन’ आदि इसकी अपर संज्ञाएँ हैं।^९

२१. सिन्धु^{१०}—‘इन्डस’ नदी के नाम से प्रसिद्ध सिन्धु नदी चिनाब के साथ संगम होने पर सिन्धु कहलाती है। ‘पञ्चनद’ तथा ‘मिहरान’ इसके अपर नाम हैं। इसके तीरस्थ आभीर तथा मुषिक देश ‘सिन्ध’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। ‘सिन्धोः सप्तमुखानि’ से सिन्धु की सात उपनदियों अथवा इसकी सात धाराओं का भी अर्थ लिया जाता है।^{११}

२२. सिन्ध्रा^{१२}—मालवा में स्थित उज्जयिनी से होकर बहती है।^{१३}

१. Gupta, Geog. in Ind. Ins., p. 265; Dey, Geog. Dic., p. 168

२. द्रया०, ७.३५

३. Narang, Dvayāśrayakāvya, p. 167

४. द्रया०, ६.६२

५. Bajpai, Geog. Ency., Pt. I, p. 68

६. द्रया०, ६.६२

७. Sircar, D.C., Studies in the Geog., p. 55

८. द्रया०, ५.१२१

९. Gupta, Geog. Ind. Ins., p. 266

१०. द्रया०, १.६८

११. Dey, Geog. Dic., p. 186; Gupta, Geog. in Ind. Ins., p. 266

१२. द्रया०, १४.२७, धर्म० १७.३७

१३. Dey, Geog. Dic., p. 187

२३. इवभ्रवती^१—सरकार के अनुसार 'साबरमती' से अभिन्न है। नन्दि-कुण्ड से निकलती हुई यह अरब सागर में गिरती है।^२

२४. शीतोदा^३—जैन भूगोल के अनुसार पुष्करार्धद्वीप के अपर विदेह क्षेत्र की एक नदी।^४

२५. जलवाहिनी^५—घातकी खण्ड द्वीपस्थनदी।^६

२६. वरवा^७—बिदर्भ देश की एक प्रसिद्ध नदी।^८

३. देश-प्रदेश

जैन महाकाव्यों में विभिन्न देशों का वर्णन या तो किसी राजा के दिग्विजय आदि के सन्दर्भ में अथवा किसी देश के नगरों अथवा ग्रामों के विस्तृत वर्णन के अवसर पर आया है।^९ पौराणिक शैली के महाकाव्यों के देश-वर्णन जैन भौगोलिक मान्यताओं के अनुरूप हुए हैं। किसी देश विशेष की वास्तविक भौगोलिक परिस्थिति का किसी निश्चित कालावधि में सीमानिर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। यह कार्य तब और भी कठिन हो जाता है जब किसी एक देश की स्थिति को स्पष्ट करने में आधुनिक इतिहासकार एकमत नहीं दिखाई देते। जैन महाकाव्यों में वर्णित देश-प्रदेशों की स्थिति इस प्रकार है :—

१. कोशल^{१०}—कोशल अथवा कोसल देश दो मार्गों में विभक्त था, उत्तर

१. द्वया०, ६.४५

२. Dey, Geog. Dic., p. 171

३. चन्द्र०, २.११४

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ५०७

५. चन्द्र०, १३.५३

६. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३

७. धर्म०, १६.८३

८. पन्नालाल, धर्म०, पृ० ३८०

९. अङ्गाश्च वङ्गा मगधाः कलिङ्गाः सुह्याश्च पुण्ड्राः कुरवो ऽश्मकाश्च ।

आभीरकावन्तिककोशलाश्च मत्स्याश्च सौराष्ट्रकविन्ध्यपालाः ॥

महेन्द्रसीवीरकसैन्धवाश्च काश्मीर-कुन्ताश्चरकासिताह्वाः ॥

ओद्राश्च वैदर्भवैदिशाश्च पञ्चालकाद्याः पतयः पृथिव्याम् ।

वराङ्ग०, १६.३२-३३ तथा चन्द्र०, १६.२५-५१, धर्म०, १.४३

१०. वराङ्ग०, १६.३२; धर्म०, १.४३; द्वया०, ५.७६

कोशल एवं कौशल। दूसरे कोशल की राजधानी कुशवती थी जिसकी स्थापना कुश द्वारा की गई थी।^१ बुद्ध के समय में कोशल एक शक्तिशाली राज्य रहा था किन्तु तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व में कोशल मगध के अन्तर्गत आ चुका था। कोशल का दूसरा नाम अवध भी है। दक्षिण में कोशल-नाडु की अवस्थिति भी रही थी। दक्षिणस्थ कोशल बरार से उड़ीसा तक और अमरकण्टक से बस्तर तक फैला हुआ था।^२ जाजल्लदेव के रतनपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि कलिङ्गराज ने दक्षिणकोशल पर विजय प्राप्त की थी और तुम्माण को अपनी राजधानी बनाया था।^३

२. अवन्ती^४—मालवा का प्राचीन नाम है। इसे उज्जयिनी के नाम से भी माना जाता है। रायस डेविड्स के अनुसार लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० के बाद अवन्ती को मालवा कहा जाने लगा था।^५ बाजपेयी महोदय ने उत्तरी विन्ध्य-पर्वतों तथा उत्तर-पूर्वी बम्बई से अवन्ती की पहचान की है।^६ धर्मशर्माम्युदय महाकाव्य के अनुसार अवन्ती की स्थिति भारत के ठीक मध्य भाग में मानी गई है।^७ ६वीं-१०वीं शताब्दियों में उज्जयिनी परमार राजाओं के अधीन रही थी।^८

३. पुण्ड्र^९—पॉजिटर 'पुण्ड्र' तथा 'पौण्ड्र' दो भिन्न भिन्न देश मानते हैं।^{१०} पुण्ड्र के अन्तर्गत मालदा तथा दिनाजपुर के कुछ भाग सम्मिलित हैं। 'पुण्ड्र' अंग तथा बङ्ग के उत्तरी भाग में जबकि 'पौण्ड्र' गङ्गा के दक्षिण भाग में अवस्थित था।

-
१. Dey, Geog. Dic., p. 103
 २. Epigraphia Indica, X, No. 4
 ३. बिमल चरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० २८२
 ४. वराह्मण, १६.३२; धर्म०, १७.३३; वर्ध० १३.१, द्वया०; ६.१६, वसन्त १०.२५
 ५. Rhys Davids, T. W., Buddhist India, Delhi, 1971, p. 28
 ६. Bajpai, Geog. Ency. Pt. I. p. 41
 ७. अवन्तिनाथोऽयमग्निन्दमूर्तिरमध्यमो मध्यमभूमिपालः।—धर्म० १७.३३
 ८. विजयेन्द्रकुमार माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, दिल्ली, १९६७, पृ० ४६
 ९. वराह्मण, १६.३२, द्वया०, ८.४१
 १०. Dey, Geog. Dic., p. 154

‘पौण्ड्र’ के अन्तर्गत आधुनिक सन्तल परगना, बीरभूम तथा हजारी बाग के उत्तरी भाग आते हैं ।^१

४. कुरुदेश^२—हेमचन्द्र ने कुरुदेश तथा कुरुजांगल दोनों का वर्णन किया है ।^३ कुरुजाङ्गल का वनदेश हस्तिनापुर के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त पर स्थित था । बौद्ध युग में इसे ‘श्रीकण्ठदेश’ के रूप में ख्याति प्राप्त थी । ६ठी शताब्दी ई० में कुरुदेश अथवा कुरुजांगल की राजधानी थानेश्वर थी । इस प्रकार कुरुजांगल की स्थिति कुरुदेश के रूप में स्वीकार की गई है । कुरुक्षेत्र में ही कुरुदेश भी सम्मिलित माना जाता है ।^४ वसन्तविलास में आए ‘जांगलदेश’ का सम्बन्ध भी कुरुजांगल से ही प्रतीत होता है ।^५

५. काशी^६—प्राचीन काल में इसकी राजधानी बनारस थी । बुद्ध के समय में काशी-राज्य कोशल राज्यों में अन्तर्भूत थे ।^७ आज काशी ही बनारस के रूप में प्रसिद्ध है । यह उत्तर पूर्व में वरना नदी एवं दक्षिण पश्चिम में असी नाला के मध्य गङ्गा नदी के बाएं तट पर अवस्थित है ।^८

६. अङ्ग^९—भागलपुर से मुंगेर तक फैला प्रदेश ।^{१०} बौद्ध युगीन १६ महाजनपदों में अङ्ग भी एक था । जार्ज बर्डबुड के मतानुसार अङ्ग देश में बीरभूम तथा मुर्शिदाबाद के क्षेत्र भी सम्मिलित थे । चम्पा अथवा चम्पापुरी इसकी राजधानी थी । ‘अङ्ग’ की पश्चिमी सीमा गङ्गा तथा सरयू नदी तक फैली हुई थी ।^{११}

७. बङ्ग^{१२}—बंगाल । गङ्गा नदी के पूर्वी मुहाने से लेकर पश्चिम में अङ्ग

१. Dey, Geog. Dic., pp. 154-55
२. द्वया० ८.४६, २०.४४; वसन्त ३.४४, ३.२६
३. द्वया०, ८.४६, तथा २०.४४
४. Dey, Geog. Dic., p. 110
५. वसन्त०, ३.४४; कीर्ति०, २.४६
६. वराङ्ग०, २१.५६; द्वया०, ५.३३
७. Dey, Geog. Dic., p. 95
८. कनिष्क, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० २६२-६३
९. चन्द्र०, १६.२५; द्वया०, ६.१६; हम्मीर०, १.६७, ११.१
१०. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
११. Dey, Geog. Dic., p. 7
१२. वराङ्ग०, १६.३२; द्वया० १५.८६; वसन्त०; १०.२५; हम्मीर०, ११.१

देश तक इसकी सीमा पड़ती है। बङ्ग देश को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पुण्ड्र अथवा उत्तरी बंगाल (२) समतट अथवा पूर्वी बंगाल (३) कर्ण-सुवर्ण अथवा पश्चिमी बंगाल (४) ताम्रलिप्त अथवा दक्षिणी बंगाल तथा (५) कामरूप अथवा आसाम। ब्रह्मपुत्र तथा पद्मा नदी के बीच में बङ्ग देश था।^१

८. शूरसेन^२—शूरसेन देश की राजधानी मथुरा थी। वसुदेव तथा कुन्ती के पिता 'शूर' राजा के नाम से इस देश का नामकरण हुआ।^३ रघुनाथ भास्कर गोडबोले ने गुजराती कोश में मगध तथा राजा शूर के शूरसेन देश को अभिन्न माना है।^४

९. काश्मीर^५—विट्सन के अनुसार पहले पहल काश्मीर ऋषि कश्यप का क्षेत्र होने के कारण 'काश्यपपुर' कहलाता था।^६ इसके विपरीत स्टेन महोदय का विचार है कि इस देश का सदैव 'काश्मीर' ही नाम रहा है।^७ वैसे कश्यप ऋषि का आश्रम अब भी श्रीनगर में हरि नामक पर्वत पर स्थित है।^८ प्रो० वेदकुमारी ने 'काश्मीर' नामक घाटी से 'काश्मीर' देश के नामकरण का श्रौचित्य नीलमत-पुराण के आधार पर पुष्ट किया है।^९ प्राचीन काश्मीर कामराज तथा मेराज नामक दो विशाल जिलों में विभक्त था। प्रथम जिला सिन्धु तथा बिहात नदियों के संगम स्थान से नीचे की घाटी का उत्तरी भाग था तथा दूसरा जिला इसी घाटी के दक्षिणी भाग स्थित संगम स्थान से ऊपर अवस्थित था।^{१०}

१. Dey, Geog. Dic., p. 22

२. वराङ्ग०, १६.३३

३. Dey, Geog. Dic., p. 197

४. रघुनाथ भास्कर गोडबोले, श्री भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश, पूना, १९२८, पृ० ३७६

५. चन्द्र०, १६.५०; वराङ्ग०, ८.३; द्वया० १२.८८; हम्मरी०, १०.२३

६. Dey, Geog. Dic., p. 96

७. वही, पृ० ६६

८. वही, पृ० ६५

९. Ved Kumari, The Nilamata Purāṇa, Vol. I. Jammu, 1968, pp. 21-22

१०. कनिष्क, प्राचीन ऐतिहासिक भूगोल, पृ० ७६

१०. वत्स^१—धर्मशर्माभ्युदय के अनुसार घातकीखण्ड द्वीप के पूर्वमेरु के पूर्व विदेह की ओर सीता नदी के तट पर वत्स देश स्थित था।^२ अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर वत्स देश की पहचान प्रयाग के निकटवर्ती प्रदेशों से की जाती है। यह देश यमुना नदी के तट पर अवस्थित था तथा इसकी राजधानी कौशाम्बी मानी गई है।^३

११. पाञ्चाल^४—पाञ्चाल अथवा पञ्चाल इन्द्रप्रस्थ से ३० योजन दूर कुरुक्षेत्र के पश्चिमी-उत्तर में अवस्थित है। पाञ्चाल देश तीन भागों में विभक्त है (१) पूर्व पाञ्चाल (२) उत्तर पाञ्चाल तथा (३) दक्षिण पाञ्चाल। दक्षिण तथा उत्तर के मध्य गङ्गा नदी पड़ती है तथा एटा तथा फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पाञ्चाल में ही हैं।^५ डे के अनुसार पाञ्चाल की रोहिलखण्ड क्षेत्र से पहचान की जा सकती है।^६ यह दिल्ली के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है।^७

१२. कच्छ^८—कच्छ अथवा मरुकच्छ। गुजरात खेडा जो कि अहमदाबाद तथा खंभात तक व्याप्त है तथा बेडवती नदी पर स्थित है, 'कच्छ' की ही प्राचीन सीमा रही होगी।^९

१३. मगध^{१०}—बिहार, विशेषकर दक्षिण बिहार का प्रान्त जिसकी पश्चिमी सीमा सोन नदी है। अभी भी पटना तथा गया जिलों में 'मगध' कहा जाता है सम्भवतः यह मगध का ही विकृत रूप रहा है। मगध का विस्तार

१. धर्म० ४.४

२. स घातकीखण्ड इति प्रसिद्धे द्वीपेऽस्ति विस्तारिणि पूर्वमेरुः।

विभूषयन्पूर्वविदेहमस्य सीतासरिदक्षिणकूलवर्ती...

वत्साभिधानो विषयोऽस्ति रम्यः।

—वही, ४.३, ४

३. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ६५-६६

४. वराह०, १६.३३; चन्द्र०, १६.२७; द्वया०, १५.२८; हम्मीर०, ११.१

५. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ५६-६०

६. Dey, Geog. Dic., p. 145

७. Narang, Dvyāśrayakāvya; p. 159

८. वर्ध०, १२.१; द्वया०, २.१०६; वसन्त०, १०.२५

९. Dey, Geog. Dic., p. 82

१०. वराह०, १६.३२; धर्म०, १७.३६, जयन्त०, १.२६; वर्ध०, ४.१, द्वया०, १५.२७; परि०, १.७; हम्मीर०, ११.१

गङ्गा के दक्षिण भाग बनारस से मीरथा तक तथा दक्षिणस्थ सिन्धभूम तक भी हुआ था ।^१ हेमचन्द्र के अनुसार मगधदेश जम्बूद्वीप के भरतार्ध क्षेत्र के दक्षिण दिशा की ओर स्थित था ।^२ 'राजगृह' पत्तन की स्थिति भी मगध में ही थी ।^३

१४. विदर्भ^४—पुराणों के भोज विदर्भवासी कहलाते थे । इसकी प्राचीन सीमा में भोपाल, भित्ता तथा उत्तरी नर्मदा के क्षेत्र आते हैं । एक अन्य विभाजन के अनुसार बरार, खानदेश तथा मध्य प्रदेश का कुछ भाग विदर्भ की सीमाओं को स्पष्ट करता है तथा इसके प्रमुख नगर कुण्डिननगर, भोजकटकपुर आदि हैं ।^५

१५. कोंकण^६—(कुंकण) यह प्रदेश परशुराम क्षेत्र के नाम से भी प्रसिद्ध है तथा इसकी राजधानी तान थी । भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी घाट तथा अरब सागर के निकटवर्ती सीमाओं के मध्य में यह देश स्थित था । बाजपेयी महोदय के अनुसार इसकी अपरान्तक, तथा मालावार तक स्थिति रही थी ।^७

१६. आन्ध्र^८—चन्द्रप्रभ के टीकाकार के अनुसार आन्ध्र देश को तेलुगु देश की संज्ञा दी गई है ।^९ गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मध्य इसकी स्थिति मानी गई है । तथा इसकी राजधानी अमरावती अथवा धनकटक रही थी । हैदराबाद का दक्षिण भाग तेलङ्गाना इस देश की भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता है ।^{१०}

१७. कर्णाटक^{११}—मैसूर तथा कुर्ग का सम्मिलित रूप कर्णाटक कहलाता है । कुन्तल देश इसकी अपर संज्ञा थी । तारातन्त्र के अनुसार यह महाराष्ट्र के

१. Dey, Geog. Dic., pp. 116-17

२. अस्यैव जम्बूद्वीपस्य भरतार्धेऽत्र दक्षिणे देशोऽस्ति मगधाभिरुयो वसुधामुख-
मण्डनम् । —परि०, १.७

३. वही, १.१३

४. वराह्म०, १६.३३

५. Dey, Geog. Dic., p. 34

६. बसन्त०, ३.४४, ३.२६; कीर्ति०, २.४७

७. Dey, Geog. Dic., pp. 103, 242

८. धर्म०, १७.६५; चन्द्र०, १६.३४; द्वया०, ७.१०५; वसन्त०, ३.४३

९. आन्ध्रीणां तेलुगु-देश-स्त्रीणाम् । —चन्द्र०, १६.३४ पर

विद्वन्मनोवत्सभा टीका, पृ० ३६४

१०. Dey, Geog. Dic., p. 7

११. धर्म०, १७.६५; चन्द्र०, १६.३५; जयन्त०, ११.५५; हम्मीर०, १.६७

समान था तथा बामनाथ से श्रीरङ्गम तक फैला हुआ था। विजय नगर की राजधानी भी कर्णाटक कहलाती थी।^१

१८. विवेह^२—चन्द्रप्रभवचित में पूर्वविवेह तथा अपरविवेह दो क्षेत्रों का नाम आया है। पूर्वविवेह घातकी खण्ड द्वीप के पूर्वभाग का पूर्वमन्दर क्षेत्र है तो अपरविवेह पुष्करद्वीपवर्ती पूर्वमन्दरगिरि की पश्चिम दिशा का क्षेत्र है।^३ कुशि तथा गण्डक विवेह की पूर्वी एवं पश्चिमी सीमाएं थीं। इसके उत्तरी भाग में हिमालय तथा दक्षिण भाग में गङ्गा नदी पड़ती है।^४

१९. सिन्धु^५—सिन्धु नदी के तटवर्ती भागों में स्थित था। सिन्धु देश के दक्षिण भाग में 'आभीर' तथा उत्तरी भाग में 'मुषिक' रहते थे।^६

२०. गान्धार^७—काबुल-नदी तथा सिन्धु नदी का समीपवर्ती स्थान गान्धार कहलाता था, जिसमें पेशावर, रावलपिण्डी आदि प्रान्त भी सम्मिलित थे। चन्द्र-गुप्त मौर्य तथा अशोक के साम्राज्यों में गान्धार भी सम्मिलित था। रावलपिण्डन के अनुसार सिन्धु-निवासी गान्धार समुदाय कन्दहर में ५वीं शताब्दी ई० में प्रवासित हुए थे।^८

२१. आभीर^९—अभीर अथवा आभीर सिन्धु के पूर्व में स्थित है। अभिलेख ग्रन्थों के साक्ष्यों के आधार पर सिन्धु के पश्चिम में तथा पुराणों के आधार पर उत्तर में आभीर की स्थिति स्वीकार की गई है। इस प्रदेश की स्थिति दक्षिण-पूर्वी गुजरात के रूप में भी स्वीकार की गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से आभीर देश में पश्चिमी क्षत्रपों ने राज्य किया था।^{१०}

१. Dey, Geog. Dic., p. 94

२. चन्द्र०, १.१२, २.११४, वर्ष०, १७.१

३. चन्द्र०, १.१२, २.११४

४. Dey, Geog. Dic., p. 35

५. वराङ्ग०, १६.३३; चन्द्र०, १६.४१; जयन्त०, ११.६२; कीर्ति०, २.२६

६. Dey, Geog. Dic., p. 186

७. द्रया०, १५.२४

८. Dey, Geog. Dic., pp. 70-71

९. वराङ्ग०, १६.३२

१०. Bajpai, Geog. Ency., Pt. I, p. 1

२२. चेदि^१—वर्तमान बुन्देलखण्ड का अधिकांश भाग सम्मिलित है। अनर्घराघव नाटक के अनुसार चेदि मण्डल की राजधानी माहिष्मती थी। कुछ विद्वान् इसे मध्यप्रदेश के चन्देरी के निकट का प्रदेश भी मानते हैं।^२

२३. टक्क^३—भेलम तथा सिन्धु नदियों के बीच का प्रदेश 'टक्क' कहलाता है। इसका दूसरा नाम 'बाल्लीक' भी प्रसिद्ध है।^४

२४. काम्बोज^५—अफगानिस्तान का उत्तरीभाग। गिरनार तथा धौली अभिलेखों में इसका कम्बोज रूप भी मिलता है।^६ यह प्रदेश हिन्दुकुश पर्वत तक फैला हुआ माना जाता है। कनिंघम तथा राय चौधरी के अनुसार वर्तमान रामपुर-राजौरी काम्बोज की राजधानी थी।^७

२५. बाल्लीक (वाहो)क^८—वर्तमान पंजाब के पश्चिमी भाग के लिए बाल्लीक का प्रयोग होता था जो कि सिन्धु के उस पार था। यही स्थिति आदिपुराण में भी वर्णित है। इसका अपर नाम 'बाहूलिक' भी प्रचलित है।^९

२६. तुरुष्क^{१०}—इस प्रदेश को कुछ विद्वान् पूर्वी तुर्किस्तान मानते हैं। आदिपुराण के अनुसार यह प्रदेश सुसंस्कृत था। तुर्क लोग भारतीय संस्कृति एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी भी रहे हैं। इन्हीं लोगों का निवास प्रदेश 'तुरुष्क' कहलाता था।^{११}

२७. शक^{१२}—इसका आधुनिक नाम बैक्ट्रिया है। शक लोक दरद देश से बंशु (आक्सस) नदी के तट पर आकर बसे। इसी शक-प्रदेश को पुराणों में शक-

१. चन्द्र०, १६.२८, द्वया०, ६.८५
२. Dey, Geog. Dic., p. 48, तथा अमृत लाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
३. चन्द्र०, १६.४६
४. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
५. वराह्म०, ८.३, हम्मीर०, ३.४८
६. Dey, Geog. Dic., p. 87
७. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५२
८. वराह्म०, ८.३, द्वया०, १६.१५
९. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ६७
१०. आदि०, १६.१५६, कीर्ति०, २.५७, हम्मीर०, ३.३७
११. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५८
१२. हम्मीर०, १.८२

द्वीप भी कहा गया है। इस प्रकार शक देश भारत के उत्तर-पश्चिम में पंजाब के आसपास स्थित था।^१

२८. कलिङ्ग^२—प्राचीन समय में उड़ीसा से आन्ध्र तक फैला प्रदेश।^३ कनिष्कम दक्षिण-पश्चिमी गोदावरी तथा उत्तर-पूर्वी हन्द्वावती नदियों के मध्य इसकी सीमाएं निर्धारित करते हैं। मणिपुर, राजपुर तथा राजमहेन्द्री इसके प्रमुख नगर हैं। महाभारत के समय में उड़ीसा का अधिकांश भाग कलिङ्ग में समाहित था तथा इसकी उत्तरी सीमा वैतरणी नदी पर्यन्त थी।^४

२९. द्रविड़^५—चन्द्रप्रभ के टीकाकार के अनुसार द्रविड़ तथा द्रमिल एक ही हैं।^६ कृष्णा तथा पोलाय नदियों के बीच में इसकी स्थिति थी।^७ डा० फ्लीट की धारणा के अनुसार पूर्वी द्रविड़ के पल्ल-निवासियों के देश का नाम द्रमिल था। कांची इसकी राजधानी थी।^८

३०. लाट^९—खानदेश तथा दक्षिण गुजरात के प्रान्त लाट देश कहलाते थे। बरगस में अनुसार लाट के अन्तर्गत सूरत, भरुच, खेड़ा तथा बड़ौदरा के कुछ प्रान्त सम्मिलित थे। गुजरात तथा उत्तरी कोकण का प्राचीन नाम लाट देश था।^{१०}

३१. अलका^{११}—उत्तर कुरु का एक शहर। भौगोलिक दृष्टि से यह

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ६८
२. वराह्मण, १७.३२; चन्द्र०, १६.२६; धर्म०, १७.५१; जयन्त०, ११.१८; बसन्त०, ३.४५; हम्मीर०, ११.१
३. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
४. Dey, Geog. Dic., p. 85
५. चन्द्र०, १६.३६; धर्म०, १७.६५; जयन्त०, ११.५१
६. द्रमिलबधू०—द्रविड़देशस्य बधूनाम्। —चन्द्र० १६.३६ पर विद्वन्मनोवल्लभा टीका, पृ० ३६४
७. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
८. Dey, Geog. Dic., p. 57
९. चन्द्र०, १६.४०; धर्म०, १७.६५; द्वया०, ६.२७; वयन्त०, १०.२५; कीर्ति०, २.३; हम्मीर०, १.६७
१०. Dey, Geog. Dic., p. 114
११. चन्द्र०, ५.८

भागीरथी तथा सहोपन्य का निकटस्थ प्रदेश है तथा १२८६० फुट ऊंचा स्थित है ।^१ चन्द्रप्रभचरित के अनुसार यह घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व भरत का एक देश है ।^२

३२. उड्र^३—यह देश कभी उड़ीसा के भूभाग में विद्यमान था ।^४ बाजपेयी महोदय ने इसे 'उड्र' के रूप में उड़ीसा के नाम से स्पष्ट किया है ।^५ चन्द्रप्रभ० के टीकाकार ने 'ओड्र' के रूप में इसकी व्याख्या की है ।^६ वराह-चरित महाकाव्य में भी सम्भवतः 'ओड्र' का प्रयोग 'उड्र' अथवा 'ओड्र' देश के लिए ही आया है ।^७

३३. अरिजय^८—घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व भरत का एक देश ।^९ चन्द्रप्रभचरित में इस देश की धन-धान्य समृद्धि का विशेष वर्णन हुआ है ।^{१०}

३४. कीर^{११}—वर्तमान कांगड़ा (पूर्व पंजाब) का कीर ग्राम अथवा बैजनाथ^{१२} । बैजनाथ का इसमें मन्दिर होने के कारण इसे बैजनाथ कहा जाने लगा है । कोट कांगड़ा के ३० मील पूर्व में इसकी स्थिति है ।^{१३} कलचुरि नरेश कर्णदेव (१०४०-१०७३ ई०) ने इस देश को जीता था ।

३५. लक्ष^{१४}—काश्मीर के दक्षिण भाग में स्थित ।^{१५} दक्षिण पूर्वी कस्तवर

१. Bajpai, Geog. Ency., Pt. I, p. 13

२. अमृत लाल, चन्द्रप्रभ महाकाव्य, पृ० ५५३, तथा चन्द्र०, ५.२

३. चन्द्र०, १६.२८

४. अमृत लाल, चन्द्रप्रभ महाकाव्य, पृ० ५५३

५. Dey, Geog. Dic. p. 209

६. ओड्रदेशभूयान् । —चन्द्र०, १६.२८ पर विद्वन्मनो०, पृ० ३६२

७. ओद्राश्च वैदर्भर्वदिशाश्च० । —वराह०, १६.३३

८. चन्द्र०, ६.४१

९. अमृतलाल, चन्द्रप्रभ महाकाव्य, पृ० ५५३

१०. प्रयितोऽयमरिजयाभिधानो घनधान्याढ्यजनाकुलो जनान्तः ।

—चन्द्र०, ६.४१

११. चन्द्र० १६.५०

१२. अमृतलाल, चन्द्रप्रभ महाकाव्य, पृ० ५५३

१३. Dey, Geog. Dic., p. 100

१४. चन्द्र०, १६.५१

१५. अमृतलाल, चन्द्रप्रभ महाकाव्य, पृ० ५५३

तथा पश्चिमी विस्तार तक इसका विस्तार था। इसमें राजपुरी तथा लौहार आदि पर्वतीय प्रान्त भी सम्मिलित थे।^१

३६. पारस^२—‘फर्सिया’ या ‘फारस’ देश के नाम से प्रसिद्ध है।^३ इसकी ‘पारसीक’ ‘परसिया’ आदि अन्य संज्ञाएं भी प्रचलित हैं। वैदिक साहित्य में मध्य प्रदेश के दक्षिण पश्चिम के निवासी ‘पारशव गण’ के नाम से प्रसिद्ध थे।^४

३७. पूर्वदेश^५—वाराणसी से आसाम और बर्मा तक पूर्वी भारत पूर्व देश के नाम से प्रसिद्ध था।^६

३८. मङ्गलावती^७—घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व भाग में विदेह क्षेत्र का एक देश।^८

३९. सुगन्धि^९—पुष्करार्थ द्वीपस्थ पूर्व मन्दर के अपर विदेह का एक देश।^{१०}

४०. हूण^{११}—मानसरोवर से आवृत हूण देश प्राचीन पंजाब के सियालकोट क्षेत्र का समीपवर्ती क्षेत्र है।^{१२} इसकी दक्षिणी तथा उत्तरी सीमाएं क्रमशः कामगिरि पर्वत तथा मरुदेश हैं।^{१३}

१. Dey, Geog. Dic., p. 99
२. चन्द्र०, १६.४२
३. अमृत लाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
४. Vedix Index—I.574-75
५. चन्द्र०, १६.१; वर्ध०, १.७
६. अमृतलाल, चन्द्र०, पृ० २५३
७. चन्द्र०, १.११२
८. अमृत लाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
९. चन्द्र०, २.११४
१०. अमृत लाल, चन्द्र०, पृ० ५५३
११. जयन्त०, ११.८०
१२. Dey, Geog. Dic., p. 78
१३. सर्वानन्द पाठक, विष्णुपुराण का भारत, पृ० ४२

४१. कामरूप^१—प्राधुनिक आसाम, जिसकी उत्तरी सीमाओं में भूटान के कुछ प्रदेश, दक्षिण की ओर ब्रह्मपुत्र, लाख्य, बङ्ग एवं मणिपुर पड़ते हैं। दल्पनी नदी के तट पर स्थित ताम्रेश्वरी देवी का मन्दिर (पूर्वी कामरूप) इस देश की पूर्वी सीमा है।^२

४२. सिंहल^३—प्राधुनिक लङ्का।^४

४३. सौराष्ट्र^५—गुजरात, कच्छ, काठियावाड़ आदि के प्रान्त सौराष्ट्र में स्थित थे। इसकी राजधानी वलभी कहलाती थी।^६

४४. सुरमा^७—भारत क्षेत्र का एक देश।^८

४५. डाहल^९—शक संवत् ११८३ के मल्लपुरम् अभिलेख में 'डाहल मण्डल' का उल्लेख आया है तथा इस स्थान की विस्तार सीमा भागीरथी तथा नर्मदा के मध्य मानी गई है—'भागीरथीनर्मदयोर्मध्यं डाहलमण्डलम्'। इसी अभिलेख के अनुसार इस मण्डल में लगभग तीन लाख गांव विद्यमान थे।^{१०} बुह्लर ने 'डाहलमण्डल' को बुन्देलखण्ड के रूप से स्पष्ट किया है जिसे प्राचीन काल में चेदि के रूप में जाना जाता था।^{११}

४६. भृगुकच्छ^{१२}—'भृगु आश्रम' का विकृत नाम जिसे भरुकच्छ भी कहा जाता है। यह स्थान उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में था। एक दूसरा भृगु आश्रम गोमती कुण्ड के समीप पड़ता है, जो माउण्ट आबु के पास स्थित है। पौराणिक मान्यता के अनुसार भृगुकच्छ भृगु ऋषि का निवास स्थान था तथा यह राजा बलि की राजधानी भी रही है।^{१३}

१. जयन्त, ११.६०; वर्ष०, ४.४६; वराङ्ग०, ८.३

२. Dey, Geog. Dic. p. 87

३. जयन्त०, ६.१३, १०.५२

४. Dey, Geog. Dic., p. 185

५. वराङ्ग०, १६.३२; वसन्त०, ११.३१; कीर्ति०, २.२५

६. Dey, Geog. Dic., p. 183

७. वर्ष०, ५.३२

८. वही, ५.३२

९. वसन्त०, १०.२५

१०. Sircar, D. C., Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p. 201.

११. Dey, Geog. Dic., p. 48

१२. वसन्त०, ५.१६; कीर्ति० ४.४३

१३. Bajpai, Geog. Ency., Pt. I, p. 70

४७. कुन्तल^२ — बालुक्य-काल में कुन्तल देश की पूर्वी सीमा गोदावरी, पश्चिमी सीमा अरब सागर, दक्षिणी तथा उत्तरी सीमा क्रमशः तुंगभद्रा एवं नर्मदा नदी थी। विभिन्न समयों में कुन्तल देश की राजधानियाँ नासिक तथा कल्याण रही थीं। मार्कण्डेयपुराण दो कुन्तल देशों का उल्लेख करता है जिनमें से एक मध्यदेश में तो दूसरा दक्षिण में स्थित था।^३

४८. मालवा^३ — सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० के पूर्व मालवा की राजधानी अवन्ती थी। मल्लों अथवा मालवों का देश मालवा कहलाया। हर्षचरित में उल्लिखित मालवराज सम्भवतः मुल्ताम के मल्लों का राजा रहा होगा।^४ मालव देश की सीमा अवन्ती के पूर्व तथा गोदावरी के उत्तर में बताई जाती है।^५

४९. गौड^६ — सम्पूर्ण बंगाल पूर्वी गौड का भाग है। यह गङ्गा के बाएं किनारे पर अवस्थित है; उत्तर कोशल भी गौड कहलाता है जिसे उत्तरी गौड कह सकते हैं। पश्चिमी तथा दक्षिणी गौड क्रमशः गोण्डवन तथा कावेरी नदी के तटवर्ती क्षेत्र के रूप में स्पष्ट किए जा सकते हैं।^७

५०. केरल^८ — त्रावनकोर, मालाबार तथा कनारा के सम्मिलित प्रदेश केरल में आते हैं। इसकी उत्तरी सीमा गोआ तक मानी जाती है।^९

५१. मलय^{१०} — मलयालम से इसका सम्बन्ध रहा है। 'मलयखण्ड', 'मालाबार' आदि इसकी अपर संज्ञाएं भी प्रचलित हैं। मालाबार, कोचिन, त्रावनकोर आदि प्रदेश इसके अन्तर्गत आते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तुल्व, मुषिक, केरल तथा कुव आदि प्रदेश इसमें सम्मिलित हैं।^{११}

१. वसन्त०, ३.४४; हम्मौर०, १०.१६
२. Dey, Geog. Dic., p. 109
३. वसन्त०, ३.४२; कीर्ति०, २.३०; हम्मौर०, २.३७
४. Dey, Geog. Dic., p. 122
५. सर्वामन्द पाठक, विष्णु पुराण का भारत, पृ० ४१
६. जयन्त०, ११.१०; वसन्त०, १०.२५; कीर्ति०, २.३६
७. Dey, Geog. Dic., p. 63
८. जयन्त०, ११.३२; वसन्त०, ३.४२
९. Dey, Geog. Dic., p. 98
१०. जयन्त०, ११.३७
११. Dey, Geog. Dic., p. 122

५२. पाण्ड्य^१—उत्तरी भारत की 'पाण्डु' जाति के राज्य की पाण्ड्य संज्ञा थी। आधुनिक मदुरा आदि के क्षेत्र इस प्रदेश में आते हैं। विभिन्न समयों में उरगपुर (आधुनिक त्रिचिनोपली), मथुरा (आधुनिक मदुरा), कोल्कई आदि इसकी राजधानियाँ रही हैं।^२

५३. कांची^३—डे महोदय ने 'कांचीपुर' को स्पष्ट करते हुए इसे पोलार नदी के दक्षिण-पश्चिमी मद्रास में इसकी स्थिति मानी है तथा 'वाजिवरम्' से अभिन्न माना है।^४

५४. मरु^५—राजपूताना अथवा रेतीले प्रदेश मारवाड़ को प्रायः 'मरुस्थल' की संज्ञा दी जाती है।^६ कीर्तिकौमुदी महाकाव्य में निर्दिष्ट 'मरु' देशवाचक शब्द है तथा 'मरुभूष' एवं 'मरुभूज' आदि प्रयोग इसी अभिप्राय की पुष्टि करते हैं।^७ वसन्तविलास महाकाव्य से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि 'मरुकच्छ' प्रयोग दो स्वतन्त्र प्रदेशों के लिए आया है अथवा मरुकच्छ का पाठान्तर है।^८

५५. गोद्रह^९—यह देश भौगोलिक कोशों में अनुपलब्ध है। कीर्तिकौमुदी महाकाव्य में 'लाट' तथा 'मरु' देश के साथ इसका भी प्रयोग हुआ है।^{१०}

५६. शाकम्भरी^{११}—पश्चिमी राजपुताने में अवस्थित सम्भार देश। 'सपादलक्ष' देश की राजधानी भी शाकम्भरी रही है। कभी-कभी इसे शाकम्भारी से अभिन्न माना जाता है। इसमें पूर्वी राजपुताने के प्रदेश भी सम्मिलित थे।^{१२}

१. जयन्त०, ११.४६; व.न्त०, ३.४४

२. Dey, Geog. Dic., p. 147

३. जयन्त०, ११.५३; वसन्त०, ३.४३; हम्मौर०, १०.१६

४. Dey, Geog. Dic., p. 88

५. कीर्ति०, ४.५७; वसन्त०, १०.२५

६. Dey, Geog. Dic., p. 127

७. कीर्ति०, ४.५५, ५६

८. लाटगोडमरुकच्छडाहलावन्तिवङ्गविषयः।

—वसन्त०, १०.२५

९. कीर्ति०, ४.५७

१०. अथ गोद्रहलादेशनाथी मरुनाथी निमृतं निबद्धसन्धी।

—वही, ४.५७

११. कीर्ति०, २.२६; हम्मौर०, १.८१

१२. Dey, Geog. Dic., pp. 174, 78

५७. गुर्जरदेश^१—ह्वेनत्सांग ने गुर्जर देश को वलभी से ३०० मील उत्तर में तथा उज्जैन से ४६७ मील उत्तर पश्चिम में बताया है। इस राज्य की परिधि ८३३ मील थी तथा इसमें वर्तमान बीकानेर, जैसलमेर तथा जोधपुर के कुछ भाग भी सम्मिलित थे।^२ यहाँ के निवासी किसी समय पंजाब में रहते थे और बाद में काठियावाड़ द्वीपकल्प में आए जिसके कारण इसे गुजरात भी कहा जाता है।

५८. तिलंग^३—यह देश गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मध्य स्थित था। तिलंग देश की राजधानी 'कोलोकोन्दै' अथवा 'गोलकुण्डा' रही थी। 'तेलिगु' 'तेलुगु' आदि इसके अन्य पर्यायवाची नाम प्रचलित हैं।^४

५९. चाहमान देश^५—यह देश चाहमान (चौहान) वंश के राजाओं के साम्राज्य क्षेत्र का द्योतक है। 'चाहमान देश' नामक किसी ऐतिहासिक प्रदेश की सूचना नहीं मिलती। हम्मीर महाकाव्य में राजस्थान में चाहमान वंश का राज्य था जिसकी राजधानी रणथम्भौर थी।^६

६०. महाराष्ट्र^७—गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मध्यवर्ती प्रदेश में स्थित महाराष्ट्र किसी समय में दक्षिण का भी द्योतक बन गया था। अशोक के समय में भी इसे 'महाराष्ट्र' संज्ञा प्राप्त थी।^८

६१. मध्यदेश^९—सरस्वती नदी के तटवर्ती नगरों कुरुक्षेत्र, इलाहाबाद तथा हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत से आवृत मध्यदेश के अन्तर्गत ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्मवर्त्त क्षेत्र सम्मिलित थे। काम्पिल्य मध्य देश की पूर्वी सीमा थी तथा इसके अन्तर्गत पांचाल, कुरु, मत्स्य, योधेय, कुन्ती, शूरसेन, पटञ्चर आदि देश आते हैं।^{१०}

६२. नेपाल^{११}—नेपाल घाटी की नाग-बास, अथवा कालिहृद श्रील नेपाल

१. कीर्ति०, ४.४९; ७५, हम्मीर०, १.६७

२. कनिधम, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० २१५

३. हम्मीर०, ११.१

४. Dey, Geog. Dic., p. 204

५. हम्मीर०, १०.३१

६. हम्मीर०, ४.८४

७. वही, ६.४६

८. Dey, Geog. Dic., p. 118

९. हम्मीर०, १०.१६

१०. Dey, Geog., Dic., p. 116

११. हम्मीर०, ११.१

देश के नाम से प्रसिद्ध है। पहले इस देश में महाचीन तदुपरान्त गौड देश के लोग रहने लगे थे। पश्चिमी काठमाण्डु से भी इसकी सीमा लगती थी।^१

६३. मूलस्थान^२—हस्तिनापुर के पश्चिम की ओर स्थित रामायण की मालभूमि तथा महाभारत तथा हर्षचरित के मालव को 'मूलस्थान' से अभिन्न माना गया है। आजकल इसे मुल्तान संज्ञा दी जाती है। रावी नदी के तट पर यह देश स्थित था। सिकन्दर कालीन इतिहासकारों के अनुसार 'मूलस्थान' मल्लदेश की राजधानी थी।^३

६४. अश्वमेध^४—ब्रह्मपुराण के अनुसार दाक्षिणात्य देश है। किन्तु कूर्म पुराण के अनुसार इसे पंजाब से सम्बद्ध माना जाता है। डे महोदय के अनुसार इसकी स्थिति गोदावरी तथा महिष्मती नदियों के मध्य मानी गई है।^५

६५. सौवीर^६—वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे सिन्धु प्रान्त अथवा सिन्ध नदी के नीचे वाला प्रदेश माना है।^७ पाणिनि ने भी सौवीर देश का उल्लेख किया है।^८ संभवतः इस प्रदेश में मुल्तान तथा गुजरावर के प्रदेश सम्मिलित थे।^९

६६. दिल्ली^{१०} (दिल्ली)—महाभारत के अनुसार पाण्डवों ने इसे 'इन्द्रप्रस्थ' के रूप में बसाया था। १२वीं शती में पृथ्वीराज चौहान की रियासत की राजधानी दिल्ली थी। १३२७ ईस्वी के अभिलेखानुसार चौहानों ने दिल्ली को तोमरों से लिया था। हरियाना देश की सुन्दरनगरी 'दिल्ली' की स्थापना चौथी शती ई० में अनंगपाल तोमर ने की थी।^{११}

१. Dey, Geog. Dic., p. 140

२. हम्मीर० ३.१२

३. Dey, Geog. Dic., p. 133

४. वराह्म०, १६.३२

५. Dey, Geog. Dic., p. 13

६. वराह्म०, १६.३३

७. वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, काशी, संवत् २०१२, पृ० ६४

८. अष्टाध्यायी, ४.१.१४८

९. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ७१

१०. हम्मीर०, ३.५०, ४.१६

११. विजयेन्द्र कुमार माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० ४३४

४. नगर-पुर तालिका

जैन संस्कृत महाकाव्यों के देश वर्णनों तथा अन्य अवान्तर कथा प्रसङ्गों में अनेक नगरों, पुरों एवं आवासीय बस्तियों का उल्लेख आया है। इन नगरों में कुछ आधुनिक काल में भी प्रसिद्ध हैं तो कुछ आधुनिक नगरों की प्राचीन संज्ञाएं हैं। अनेक नगर तथा ऐतिहासिक स्थान जैन धर्म के विशिष्ट पुरुषों की जन्मस्थली तपोभूमि अथवा निर्वाण भूमि आदि होने के कारण प्रसिद्ध रहे हैं। आधुनिक काल के भौगोलिक कोशों से इन ऐतिहासिक नगरों की स्थिति को जाना जा सकता है किन्तु अनेक ऐसे सांस्कृतिक नगर एवं पुर भी हैं जिनकी भौगोलिक सीमाओं आदि का निर्धारण कर सकना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। विभिन्न महाकाव्यों में वर्णित इन नगरों तथा पुरों की तालिका इस प्रकार है :—

१. अचलपुर (द्वया० ३.६०) २. अजयमेरुपुर (हम्मीर० ४.२७) ३. अणहिलपत्तन (कीर्ति० १.१८) ४. अमूमक (द्वया० १५.१०१) ५. अमरावती (द्वया० ६.६२) ६. अलंका (वर्ध० ५.४७) ७. अश्वत्थिक (द्वया० १५.१०२) ८. आननक (द्वया० १६.२६) ९. आदित्यपुर (चन्द्र० ६.७५) १०. आनर्तपुर (वराह० २१.२८) ११. आन्नपुरी (हम्मीर० ४.४८) १२. आरिष्टिथ (द्वया० १३.१००) १३. इन्द्रवक्त्र (द्वया० १६.२६) १४. उपसेनपुरी (नेमि० १२.१) १५. उज्जयिनी (वसन्त० ३.२३) १६. उत्तमपुर (वराह० १.३३) १७. ऋष्यक (द्वया० १५.१०१) १८. श्रीदुम्बर (द्वया० १५.६०) १९. कच्छक (द्वया० १६.२६) २०. कटिक (द्वया० १५.१०२) २१. कल्लपुरी (द्वया० ६.२२) २२. कान्ति (वराह० २७.८३) २३. काण्ड (द्वया० १६.२६) २४. काम्यकुञ्ज (जयन्त० १६.७०) २५. काम्पल्य (वराह० २७.८४) २६. कार्णायनी (द्वया० १५.६६) २७. काशी (हम्मीर० १.८५) २८. कुचवार (द्वया० १७.२) २९. कुण्डपुर (वराह० २७.८५) ३०. कुण्डिनपुर (धर्म० १६.८४) ३१. कूलपुर (वर्ध० १७.१२०) ३२. कोशला (चन्द्र० ५.१२) ३३. कौण्डेयक (द्वया० १६.६) ३४. कौमुदिक (द्वया० १५.१०१) ३५. कौलेयकपुर (वर्ध० ५.७२) ३६. कौशाम्बी (द्वया० १५.६०) ३७. कृकणीय (द्वया० १६.३४) ३८. गगनविलासपुर (जयन्त० १२.७) ३९. गजाद्वय (कीर्ति० १.१६०) ४०. गर्भरूक (हम्मीर० १०.३२) ४१. गहीय (द्वया० १६.३४) ४२. गोपाचल (हम्मीर० ३.२) ४३. चक्रपुर (वराह० २.६१) ४४. चङ्गा (हम्मीर० ६.४०) ४५. चन्द्रपुर (वराह० २७.८२) ४६. चन्द्रपुरी (चन्द्र० १६.६) ४७. चम्पा (कीर्ति० १५.७) ४८. चम्पापुर (वराह० २७.८३) ४९. चित्रकूट (हम्मीर० ६.२६) ५०. जगरा (हम्मीर० १.१०) ५१. दिल्ली (हम्मीर० ३.५०) ५२. त्रिपुरी (कीर्ति० १.५७) ५३. दाक्षिणपदनगर (द्वया० १५.३३) ५४. द्वारावती (नेमि० १.३४) ५५. देवपत्तन (द्वया० १५.३७) ५६. धारा (हम्मीर० ६.११७) ५७. नडकीय (द्वया० १५.१००) ५८. नागपुर (वराह० २७.८५) ५९. नान्दीपुर (द्वया०

१६.२३) ६०. परलीय (द्वया० १६.३४) ६१. परलीपुर (हम्मीर० ८.११५) ६२. प्लक्षीय (द्वया० १५.१००) ६३. पाटपाटन (हम्मीर० ६.२७) ६४. पाटलिपुत्र (वसन्त० १६.२२) ६५. पादलिप्तनगर (वसन्त० १०.५८) ६६. पान्थायन (द्वया० १५.६६) ६७. पालाशक (द्वया० १५.१०१) ६८. पाक्षायण (द्वया० १५.६६) ६९. प्राक्षलि (द्वया० १५.६५) ७०. पुण्डरीकिली (वर्ध० ३.३५) ७१. पुष्कर (हम्मीर० ६.४१) ७२. पेंपल (द्वया० १६.२६) ७३. पोवनपुर (वर्ध० ५.३७) ७४. फलारक (द्वया० १५.६५) ७५. वक पाटक (कीर्ति० ४.८६) ७६. मोभरसपुर (हम्मीर० ६.१५) ७७. भुगुपुर (वसन्त० ५.१०६) ७८. मथुरा (वर्ध० ४.८८) ७९. मधुमत (द्वया० १५.६०) ८०. मधुरा (वराङ्ग० १६.५) ८१. मधूपन्न (कीर्ति० १.६०) ८२. मन्दिर (वर्ध० १.४३) ८३. मल्ल (द्वया० १६.२२) ८४. माण्डलिपत्तन (वसन्त० ६.३०) ८५. मिथिला (वराङ्ग० २७.८४) ८६. मुग्धपुर (हम्मीर० १०.८२) ८७. मेदपाटपाटन (हम्मीर० ६.२७) ८८. मोढेरक (वसन्त० २.४२) ८९. योगिनीपुर (हम्मीर० ४.१०१) ९०. रत्नपुर (वर्ध० १.५६) ९१. रत्नसंचयपुर (चन्द्र० १.२१) ९२. रत्नावती (जयन्त० ५.१५) ९३. राजगृह (वर्ध० ३.१११) ९४. ललितपुर (वराङ्ग० १४.८५) ९५. लूणसाकनगर (वसन्त० १६.२२) ९६. लौम (द्वया० १५.६८) ९७. लंका (कीर्ति० १.५७) ९८. वर्धनपुर (हम्मीर० ६.४०) ९९. वलमिपत्तन (वसन्त० १०.४२) १००. वक्षस्थलपुर (हम्मीर० ४.६१) १०१. वाटानुग्रथ (द्वया० १६.२३) १०२. वाराणसी (वराङ्ग० २७.८३) १०३. वाराहक (द्वया० १५.१०१) १०४. वाशिल (द्वया० १५.६६) १०५. वासिष्ठायनी (द्वया० १५.६६) १०६. वास्त (द्वया० १६.२२) १०७. विविशा (कीर्ति० १.५७) १०८. विनीता (वर्ध० ३.४३) १०९. विन्ध्यपुर (वराङ्ग० २.५६) ११०. विपुलपुर (चन्द्र० ६.४२) १११. शाख्य (द्वया० १५.६६) ११२. शाण्डिवय (द्वया० १७.२) ११३. शालासुरीय (द्वया० १७.३) ११४. शिखावल (द्वया० १५.६२) ११५. शोणितपुर (द्वया० ७.४२) ११६. शौर्यपुरी (वराङ्ग० २७.८५) ११७. श्रावस्ती (वराङ्ग० २७.८२) ११८. श्रीश्राश्रमपत्तन (हम्मीर० १.८२) ११९. श्रीपुर (चन्द्र० २.१२५) १२०. श्रीविशाल (हम्मीर० ६.२५) १२१. श्वेतपत्रा (वर्ध० १.१४) १२२. श्वेतविका (वर्ध० ३.८६) १२३. समुद्रपुरी (वराङ्ग० २.१०) १२४. साकेत (चन्द्र० ७.८०) १२५. सिद्धपुर (द्वया० १५.१५) १२६. सिंहपुर (वराङ्ग० २.५६) १२७. सुधन (द्वया० १६.७६) १२८. सुवर्णवलयपुर (द्वया० २०.४४) १२९. सुसीमा (वर्ध० ४.१३) १३०. सुह्य (द्वया० २०.४६) १३१. सोमनाथपुर (वसन्त० ११.३२) १३२. स्तम्भतीर्थ (वसन्त० ५.७) १३३. स्वस्तिमती (जयन्त० १७.६) १३४. हस्तिनापुर (जयन्त० १६.२) १३५. हिन्दूबाट (हम्मीर० १०.३२) १३६. हेमचुति (वर्ध० १४.३) ।

निष्कर्ष

इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्राचीन भारतीय भौगोलिक स्थिति का विशद वर्णन हुआ है। प्राचीन भारतीय जनजातियों तथा विदेशी जातियों के नाम से प्रसिद्ध कतिपय प्रदेशों तथा बौद्धकाल में प्रचलित महाजनपदों की संज्ञाएं जैन महाकाव्यों के समय तक भी प्रसिद्ध थीं। अनेक राजाओं के दिग्विजय वर्णनों के अवसर पर वर्णित कुछ प्रदेश तत्कालीन राज्यों के प्रदेशों की संज्ञाओं की ओर संकेत करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो यद्यपि प्राचीनकाल में प्रचलित देशों के नाम से प्रसिद्ध थे किन्तु आलोच्यकाल में इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति में अनेक परिवर्तन तथा संशोधन भी हो चुके थे। सातवीं शताब्दी ई० में ह्वेन्त्सांग के अनुसार भारतवर्ष में प्रदेशों की संख्या लगभग अस्सी बताई गई है। ह्वेन्त्सांग के द्वारा विहित संख्या की तथा जैन संस्कृत महाकाव्यों में निर्दिष्ट विभिन्न देश-प्रदेशों की संख्या से तुलना की जाए तो अधिक अन्तर द्रष्टिगत नहीं होता। मध्यकालीन भारतवर्ष में 'कलिंग', 'बंग', 'अंग', 'कर्णाट' आदि का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है। प्रायः किसी देश के राजा को या उस देश की सेना आदि को भी तद्देशीय संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। जैन महाकाव्यों में वर्णित भौगोलिक सामग्री भारतवर्ष की समय राष्ट्रीय संचेतना का एक ऐतिहासिक मानचित्र प्रस्तुत कर देती है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में विद्यमान महत्त्वपूर्ण पर्वतमालाओं तथा नदी-स्रोतों से संवलिता जैन महाकाव्यों का भारत सामासिक एवं राष्ट्रीय लोक-चेतना से विशेष अनुप्राणित रहा था।

सिंहावलोकन

१. मध्यकालीन इतिहास के सन्दर्भ में सातवीं शताब्दी एक संक्रमणशील एवं परिवर्तनमूलक शताब्दी होने के कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी शताब्दी के आस पास साम्राज्यवादी युग प्रवृत्तियाँ हतोत्साहित होते हुए सामन्त-वादी युग दर्शन की ओर उन्मुख होने लगीं थीं। धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों के संस्थागत मूल्यों में भारी परिवर्तन हुए तथा ध्रुवीकरण एवं नवीनीकरण की समाजप्रवृत्तियों का उदय हुआ। जैन संस्कृत महाकाव्यों के निर्माण की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि भी इसी युग में तैयार हुई तथा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी पर्यन्त असंख्य जैन संस्कृत महाकाव्यों के प्रणयन को निरन्तर रूप से प्रोत्साहन मिला। इसी युग में जैन मनीषियों द्वारा जैन धर्म को एक उदार एवं लोकप्रिय धर्म के रूप के प्रतिष्ठित करने के जो अनेक उपाय किए गए उनमें पौराणिक वृत्त से अतिरंजित महाकाव्यों के माध्यम से जैन धर्म और संस्कृति का प्रचार करना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रारम्भ में जैन लेखक प्राकृत भाषा में ही साहित्य सृजन किया करते थे परन्तु सातवीं शताब्दी के उपरान्त जैन कवियों ने संस्कृत के माध्यम से साहित्य सृजन की गतिविधियों को विशेष प्रोत्साहित किया।

अधिकांश जैन महाकाव्यों के लेखक कवि होने के साथ-साथ अपने युग के महान् दार्शनिक तथा प्रभावशाली धर्माचार्य भी होते थे। परन्तु इन महाकाव्यों की रचना किसी राज्याश्रय से प्रेरित न होकर जनसामान्य की अनुप्रेरणा पर हुई है। प्रायः जैनाचार्य विभिन्न प्रान्तों, नगरों, गाँवों आदि में भ्रमण करते रहते थे। लोकचेतना से जुड़ी इन्हीं अनुभूतियों से प्रेरणा पाकर जैन संस्कृत महाकाव्यों के साहित्यिक कलेवर का सृजन हुआ है। परम्परागत मूल्यों एवं समसामयिक युग परिस्थितियों के सामञ्जस्य से ग्रथित इन महाकाव्यों के इतिहास-सत्य मध्यकालीन मानव तथा उसके पर्यावरण का सफल अंकन करते हैं। किसी राजवंश की कीर्ति-पताका को फहराने तथा किसी राजा विशेष की वीरता आदि का गुणानुवाद करने के प्रयोजन से रचित किन्तु इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाने वाली अभिलेखादि सामग्री की तुलना में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के मूल्यों से अनुप्रेरित जैन संस्कृत महाकाव्यों की समाज-सापेक्ष सामग्री सामाजिक इतिहास लेखन के लिए कहीं अधिक सार्थक एवं प्रामाणिक कही जा सकती है। साहित्यिक स्रोतों के याधार

पर प्राचीन भारतीय जनजीवन के इतिहास लेखन की जिस नवीन प्रवृत्ति का हाल के दशकों में जो सूत्रपात हुआ है उस दिशा में भी निःसन्देह जैन संस्कृत महाकाव्यों के साक्ष्य दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेजों के रूप में मध्यकालीन भारतीय समाज पर बहुमुखी प्रकाश डालते हैं।

२. गुप्त साम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्यों के पतन के बाद सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० में समस्त भारत छोटे-बड़े असंख्य राज्यों में विभक्त होने लगा था। 'मात्स्यन्याय' की प्रवृत्ति से अनेक शक्तिशाली राजा छोटे और निर्बल राजाओं को आतंकित करने में लगे हुए थे। आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से राजनैतिक वातावरण अशान्त एवं अराजक बना हुआ था। राज्य के अन्तःपुर ही राजनैतिक षड्यन्त्रों के अड्डे बन गए थे। किसी भावी राजकुमार को राज्य का उत्तराधिकारी न बनाने की तनावपूर्ण स्थिति में राजपरिवारों की रानियां तथा मंत्री तक राजा के विरुद्ध षडयंत्र रचने में भी नहीं चूकते थे। सामान्यतया अर्थशास्त्र, महाभारत स्मृति ग्रन्थों के राजनैतिक विचारों को इस युग में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है तथा साथ ही युगीन परिस्थितियों में परम्परागत राजनैतिक विचारों की नवीन व्याख्याएं भी की जाने लगी थीं। सिद्धान्त रूप से राजा द्वारा मंत्रिपरिषद् में मंत्रणा करना आवश्यक माना जाता था तथा किसी भी राजनैतिक पहलू पर पक्ष-विपक्ष के विभिन्न तर्कों पर गम्भीरता से विचार किया जाता था। साम्राज्य-विस्तार में लगे हुए शक्तिशाली राजा राजधर्म के मूल्यों का उल्लंघन करते हुए निर्बल राजाओं की धन-सम्पत्ति को ऐंठने के लिए भी विशेष सक्रिय थे। ऐसे कुटिल राजाओं के व्यवहार से भयभीत होकर अनेक शान्तिप्रिय एवं निर्बल राजाओं के पास केवल एक ही उपाय बचा हुआ था कि वे शक्तिशाली राजा को अपार धन सम्पत्ति उपहार के रूप में देकर उसकी प्रभुता को स्वीकार करें। आलोच्य युग की इन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों में साम-दान-दण्ड-भेद की नीतियों का औचित्य सिद्ध किया जाता था। शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं प्रान्तीय स्तर पर यद्यपि अनेक प्रशासनिक पदों का अस्तित्व था परन्तु प्रान्तीय प्रशासक के रूप में सामन्त राजा कभी भी अपनी शक्ति का विस्तार कर स्वतन्त्र राजा बन सकने की स्थिति में भी बने हुए थे। ग्रामप्रशासन में ग्राम के शक्तिशाली एवं मुखिया आदि प्रतिष्ठित लोगों को राज्य प्रशासन से सम्बद्ध कर दिया गया था जिसके परिणाम स्वरूप सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की जड़ें मजबूत होती गईं।

३. सैन्य व्यवस्था की दृष्टि से भारतीय सेना प्रत्येक दृष्टि से एक समृद्ध एवं शक्तिशाली सेना जान पड़ती है। विविध प्रकार के आक्रमणात्मक तथा सुरक्षात्मक आयुधों के निर्माण की गतिविधियाँ उत्तरोत्तर प्रगति पर थीं। आग्नेयास्त्र, गोला, बारूद तथा भारी टैंक सहस्र वर्षों का भी युद्ध में उपयोग किया जाता था। इसके

अतिरिक्त दुर्ग युद्ध, गुरिल्ला युद्ध आदि अनेक प्रकार की युद्ध कलाओं एवं सामरिक तकनीकों में भारतीय सैनिक सिद्धहस्त थे। युद्धविद्या क्षत्रिय राजकुमारों की अनिवार्य शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग बनी हुई थी। परन्तु युद्धों की भरमार तथा सामन्तवादी भोग-विलास की प्रवृत्तियों ने भारतीय सैनिकों को विलासी एवं आलसी बना दिया था। राजा अपनी रानियों को युद्ध क्षेत्र में साथ ले जाते थे तथा उनकी देखादेखी सैनिक भी अपनी पत्नियों को युद्ध में साथ ले जाने लगे। सैनिक शिविरों में वेश्याओं के पड़ाव डालने की परम्परा भी चल पड़ी थी। युद्ध के पूर्व सैनिकों की स्त्रियों के साथ भोगविलास में रत रहने आदि की श्रृङ्गारिक गतिविधियाँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि मध्यकालीन सेना किस स्तर तक विलासितापूर्ण जीवन जी रही थी। इसी विलासिता पूर्ण वातावरण ने भारतीय सेना को कमजोर बनाने में एक मुख्य भूमिका निभाई है। इसके अतिरिक्त युद्धावसर पर मदिरापान करना, अन्ध-विश्वासी होना, युद्ध को एक व्यवसायमात्र मानना, सेनाओं में परस्पर फूट होना, राष्ट्रीय चेतना तथा नैतिक बल का अभाव होना आदि अन्य ऐसे भी कारण हैं जिनसे मध्यकालीन भारतीय सेना एक समृद्ध सेना होने के बाद भी विदेशी आक्रमणकारियों के सामने कमजोर सिद्ध हुई है। हालांकि राजस्थान आदि की राजपूत सेनाएं मातृभूमि की रक्षा के लिए मरमिटने की वीरोचित गरिमाओं से ओतप्रोत रहने के कारण अपना चरित्र बहुत ऊँचा भी उठाए हुए थी।

४. मध्यकालीन अर्थ व्यवस्था भूमि सम्पत्ति के हस्तान्तरण, कृषि-ग्रामों एवं शिल्प व्यवसायियों पर मध्यवर्ती लोगो द्वारा नियंत्रण से सामन्तवादी ढाँचे को प्राप्त कर चुकी थी। राजसत्ता 'वसुधा उपभोग' के मूल्य से केन्द्रित रहती हुई आर्थिक उत्पादन के मुख्य स्रोत कृषि-ग्रामों को ग्राम मुखियाओं, 'महत्तर'- 'महत्तम' तथा 'कुटुम्बी' जनों के माध्यम से हथियाए हुई थी। ग्रामों पर अपने प्रशासकीय और राजकीय प्रभुत्व को बनाए रखने की हेसियत रखने वाले इन ग्राम-मुखियाओं कि स्थिति सामन्त राजाओं के समान बन गई थी। कृषि उत्पादन की भाँति शिल्प व्यवसाय को भी श्रेणि-गण-प्रधानों की सहायता से नियन्त्रित किया जा चुका था। शिल्प-श्रेणियों के प्रधानों को राज-दरबारों में प्रतिष्ठित स्थान दिया गया था। प्रमुख उद्योग कृषि के अतिरिक्त पशु-पालन, वृक्ष-उद्योग आदि लगभग पचास उद्योग-व्यवसाय जीविकोपार्जन के साधन बने हुए थे। व्यापार सम्बन्धी गतिविधियाँ भी उन्नत अवस्था में थीं। वर्णव्यवस्था के आधार पर व्यवसाय चयन को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त था तथा साथ ही कुल परम्परा से प्राप्त व्यवसाय को विशेष वरीयता दी जाती थी। ब्राह्मण 'शास्त्रजीवी' के रूप में पौरोहित्य, देवज्ञ आदि का व्यवसाय करते थे। 'शास्त्रजीवी' क्षत्रियों का मुख्य व्यवसाय था युद्ध करना। वैश्य तथा शूद्र 'कलाकौशलजीवी' के रूप में रुढ़ हो चुके थे जिसके अन्तर्गत व्यापार, कृषि, शिल्प आदि व्यवसाय समाविष्ट थे। वर्ण-

व्यवस्था के अनुरूप व्यवसायपरक जो चार संघटन प्राचीन काल से चले आ रहे थे उनकी संख्या मध्यकाल में तीन ही रह गई थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग का अपना पृथक्-पृथक् संघटन था जबकि वैश्य एवं शूद्र एक ही श्रेणी में आ चुके थे। 'कलाकोशलजीवी' के रूप में वैश्यों एवं शूद्रों का एक ही श्रेणी में संघटित हो जाना मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था का ही परिणाम था। राजसत्ता कृषि-उत्पादन तथा उसके वितरण जैसी महत्त्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियों को शूद्रों एवं वैश्यों के एकीकृत संघटन द्वारा प्रोत्साहित किए हुए थी ताकि आर्थिक उत्पादन का उसे अधिकाधिक लाभ मिल सके।

५. आवास व्यवस्था की दृष्टि से लगभग १२ प्रकार की आवासीय संस्थितियों का विशेष प्रचलन था। भौगोलिक परिस्थितियों तथा आर्थिक वर्गविभाजन की अपेक्षा से संस्थापित इन आवासीय संस्थितियों की संज्ञाएँ थीं—ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, आकर, खेट, द्रोणमुख, मडम्ब, पत्तन, कर्वट, सम्बाध तथा घोष। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप इन आवासीय संस्थितियों के स्वरूप में परिवर्तन भी होता रहा था। ग्राम नगरों का रूप धारण कर रहे थे तो खेट, मडम्ब, द्रोणमुख आदि भी देशकाल की परिस्थितियों के अनुरूप अपना स्वरूप बदल रहे थे। कुल मिलाकर मध्यकालीन आवास व्यवस्था नगर एवं ग्राम चेतना से अनुप्राणित रही थी परन्तु कृषि-ग्रामों को आर्थिक महत्त्व मिलने के कारण निगम चेतना को भी विशेष प्रोत्साहन मिल रहा था। 'निगम' के रूप में संघटित कृषि ग्राम 'भक्तग्राम' के रूप में निर्दिष्ट हुए हैं जिनमें उत्पादित फसलों का भण्डार संरक्षित किया जाता था तथा व्यापारिक ग्राम के रूप में इनकी स्थिति बनी हुई थी। आर्थिक रूप से समृद्ध होने के कारण इन 'निगम' ग्रामों की वास्तुशास्त्रीय संरचना नगरों से भी मिलती जुलती थी। इतिहासकारों ने 'निगम' को व्यापारियों के संघटित समूह के रूप में निरूपित करने की जो चेष्टा की है जैन महाकाव्यों के 'निगम' सम्बन्धी तथ्य उसको भ्रामक तथा अयुक्तिसंगत सिद्ध कर देते हैं। वास्तुतः प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक 'निगम' सम्बन्धी जितने भी साहित्यिक एवं ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं उनसे यह सिद्ध नहीं होता है कि 'निगम' का अर्थ कभी भी 'व्यापारियों का संघटित समूह' रहा होगा। बौद्धकाल से लेकर आलोच्य काल तक 'निगम' आर्थिक दृष्टि से सदैव विकासोन्मुखी आवासीय संस्थिति के रूप में ही अपना चरित्र बनाए हुए थे। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के दौर में इनकी स्थिति विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी तथा कृषिमूलक अर्थव्यवस्था के ये प्रधान नियामक केन्द्र भी बन गये थे। समय अर्थव्यवस्था को केन्द्रित एवं नियोजित करने के कारण ही इन्हें 'भक्तग्राम' की संज्ञा दी गई है।

रहन सहन एवं वेशभूषा की दृष्टि से मध्यकालीन समाज के जिस आर्थिक स्तर की परिकल्पना साकार हुई है उससे प्रतीत होता है कि ऐश्वर्य सम्पन्न उच्च

वर्ग का रहन सहन पर्याप्त ऊँचा था। जनसामान्य में प्रचलित वेशभूषा सम्बन्धी गतिविधियों के भी उपयोगी विवरण प्राप्त होते हैं। स्त्रियाँ अङ्ग-प्रत्यंग में आभूषण धारण करती थीं। लगभग ३५ प्रकार के स्त्री-आभूषणों का पता चलता है। स्वर्ण, रजत आदि धातुओं से निर्मित आभूषणों के अतिरिक्त उच्चवर्ग की स्त्रियाँ बहुमूल्य, मणि, रत्न आदि से जटित आभूषणों को पहनने की भी विशेष शीकीन थीं। स्नानपान सम्बन्धी भोज्य वस्तुओं में भात, सत्तु, चपाती, खाना, मालपूआ, पापड़, बड़ा, कढ़ी, पूरी, लड्डू आदि को विशेष लोकप्रियता प्राप्त थी। मांसभक्षण एवं मदिरापान का भी प्रचलन था परन्तु जैन धर्मावलम्बी इनसे परहेज रखते थे।

६. समाजशास्त्रीय दृष्टि से सातवीं शताब्दी जैन धर्म के नवीनीकरण की एक महत्वपूर्ण शताब्दी रही है। बौद्ध युग से लेकर गुप्तकाल तक ऐसा लगता है कि जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के एक कट्टरविरोधी धर्म के रूप में अपनी पृथक् सत्ता बनाना चाहता था। प्राकृत भाषा के प्रति विशेषाग्रह, वर्णाश्रमव्यवस्था का विरोध, वेदों के प्रामाण्य का खण्डन, धार्मिक कर्मकाण्डों के प्रति अनास्था तथा पौरोहित्यवाद की भर्त्सना आदि जैन धर्म की विशेष प्रवृत्तियाँ रही थीं जिनके कारण जैन धर्म तथा हिन्दू धर्म में पारस्परिक बैमनस्य की परिस्थितियाँ उभर कर आईं। परन्तु सातवीं शताब्दी के उपरान्त रविषेण, जिनसेन, सोमदेव, आदि ऐसे समन्वयवादी जैनाचार्य हुए जिन्होंने ब्राह्मण संस्कृति के विरुद्ध जाने वाले धर्ममूल्यों की पुनर्स्थापना की और जैन धर्म को एक सहिष्णु एवं उदार धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन समन्वयवादी युग चिन्तकों के अतिरिक्त जटासिंह नन्दि जैसे धर्माचार्यों का नाम उल्लेखनीय है जो कट्टर विरोध के स्वर में ब्राह्मण संस्कृति के मूल्यों का जमकर विरोध करते रहे परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से इनका विरोध प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म के मध्य पारस्परिक सौहार्द तथा एक दूसरे से आदान-प्रदान करने की धार्मिक गतिविधियों के परिणाम स्वरूप आलोच्य युग में हिन्दू धर्म में जहाँ अहिंसा एवं कर्मकाण्डपरक सहज अनुष्ठान विधियों का प्रचलन बढ़ा वहाँ दूसरी ओर जैन धर्म के धार्मिक क्रिया कलाप हिन्दू धर्म के बहुत नजदीक आते गए। हिन्दू धर्म में प्रचलित 'पुरोहित' की अवधारणा जैन धर्म के 'स्नपनाचार्य' के रूप में रूपान्तरित हो गई थी। मन्दिरों तथा आराध्य देवों की प्रतिमा पर चढ़ाए जाने वाली मांगलिक वस्तुएँ भी दोनों धर्मों में लगभग समान सी थीं। वैदिक व्यवस्था में प्रचलित देवोपासना आदि धार्मिक क्रियाकलाप जैन कर्मकाण्डों में प्रतिमाभिषेक आदि के रूप में व्यवहृत होने लगे थे। दोनों धर्मों में कर्मों के अनुसार ३ण्ड भोगने तथा नरक एवं स्वर्ग सम्बन्धी परिकल्पनाएँ भी पर्याप्त साम्यता लिए हुए थीं। जैनाचार्य हेमचन्द्र की धर्मप्रभावनाओं

से प्रभावित होकर राजा कुमारपाल द्वारा जैन धर्म को अङ्गीकार करना इस युग की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। वैसे ही जैन धर्मानुयायी राजा ब्राह्मण धर्म के मन्दिरों का भी दर्शन करते थे। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ की स्तुति में एक स्तोत्र की रचना भी की थी। इन सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण एवं जैन धर्म मध्यकाल में एक दूसरे के पर्याप्त निकट आ गए थे तथा राजकीय स्तर पर भी दोनों धर्मों की धार्मिक सहिष्णुता को बनाए रखने का विशेष प्रयास किया जाता था।

राजनैतिक दृष्टि से अनेक राज्यों में जैन धर्म एक लोकप्रिय धर्म के रूप में उभर कर आया है। कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग आदि अनेक राजवंशों ने जैन धर्म को अपने राज्यकाल में विशेष राजनैतिक संरक्षण भी प्रदान किया। सातवीं शताब्दी ईस्वी के लगभग बादामी के चालुक्य राजाओं के काल में दक्षिण भारत में जैनधर्म राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। जैनधर्म के आचार्यों ने इस काल में भी धार्मिक अवसरों पर की जाने वाली पशुहिंसा का घोर विरोध किया। गुजरात के इतिहास में राजा कुमारपाल के समय में तो एक ऐसा समय भी आया जब जैन धर्म के ग्रंथ सिद्धान्त को राजकीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हुई तथा राज्य की सभी कसाइयों की दुकानों को बन्द करवा दिया गया और उनकी आजीविका का व्यय राज्य की ओर से उठाया जाने लगा। जैन महाकाव्यों में जैनतर धार्मिक सम्प्रदायों की गतिविधियां भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। इस काल में हिन्दू धर्म पूर्णतया पौराणिक मान्यताओं से प्रभावित हो चुका था। गुजरात आदि प्रदेशों में वैदिक यज्ञों आदि के अनुष्ठान अत्यन्त लोकप्रिय थे। देवी पूजा के अवसर पर बलि प्रथा की परम्परा भी प्रचलित थी। हिन्दू धर्म के आराध्य देवों में शिव, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, कार्तिकेय आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शैव, वैष्णव, सौर आदि सम्प्रदायों का भी विशेष प्रचलन था। इस काल में सोमनाथ, बैजनाथ, कुरुक्षेत्र, पुष्कर आदि हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान रहे थे।

दार्शनिक विचारों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महाकाव्यों के युग का जैन दर्शन 'अनेकान्त व्यवस्था' युग से विचरण कर रहा था। जटासिंह नन्दि आदि दार्शनिकों ने अनेकान्त दर्शन की तार्किक प्रणालियों को नवीन आश्रय प्रदान किए हैं। महाकाव्य युग के जैन दार्शनिकों ने अपनी तत्त्वमीमांसा को 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' की अवधारणाओं से पर्याप्त पैना बना लिया था। इनकी सहायता से बौद्ध, सांख्य, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दार्शनिक सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा का आसानी से खण्डन किया जा सकता था। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित महाकाव्य युग का जैन दर्शन भारतीय दर्शन की समग्र चेतना से पूर्णतया प्रभावित था। मध्यकालीन अन्य दार्शनिक विचारों के विकास की दृष्टि से भौतिकवादी एवं लोकायतिक दर्शनों की तर्क प्रणाली युगीन सामन्तवादी भोगविलास के

मूल्यों से अनुप्रेरित होकर दिन-प्रतिदिन लोकप्रियता को प्राप्त कर रही थी। चार्वाक तथा अन्य प्राचीन लोकायतिक दार्शनिक परम्पराओं से प्रभावित मायावाद, भूतवाद, तत्त्वोपप्लववाद के नाम से प्रचलित इन दर्शनों ने भौतिकवाद को आधार बनाकर इतने तीक्ष्ण तर्क जुटा लिए थे कि जिनके आक्रमणों से आध्यात्मिक मूल्यों पर टिके सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं को छिन्नभिन्न कर सकना अत्यन्त सहज हो गया था।

७. प्रारम्भ से ही भारतीय शिक्षा जगत् में वैदिक, बौद्ध तथा जैन विद्याओं के परम्परागत शिक्षा मूल्यों का अस्तित्व रहता आया है। मध्यकाल में वैदिक शिक्षा व्यवस्था ही सर्वाधिक लोकप्रिय बनी हुई थी। वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत चतुर्दश विद्याओं के परम्परागत अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। समसामयिक परिस्थितियों में क्षत्रिय-विद्याओं के अन्तर्गत राजनीति, प्रशासन, मनोविज्ञान, युद्ध आदि से सम्बद्ध विद्याओं का ज्ञान समाविष्ट था। इनमें भी युद्धकला, शस्त्र-संचालन, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र जैसे सामरिक महत्त्व के अध्ययन विषय विशेष लोकप्रिय थे। मध्यकालीन शिक्षा संस्था चूँकि युगीन राजनैतिक वातावरण से विशेष आक्रान्त हो चुकी थी उसके परिणामस्वरूप राजकुल के परिवारों में विशिष्टातिविशिष्ट विद्याओं के अध्ययन-अभ्यापन की सुविधाएं पर्याप्त रूप से सुलभ थीं परन्तु जनसाधारण की शिक्षा पर विशेष प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से मध्यकालीन शैक्षिक उपलब्धियों का यदि मूल्याङ्कन किया जाए तो हम देखते हैं कि एक विशिष्ट एवं बैज्ञानिक शिक्षा प्रणाली के माध्यम से समाज लाभान्वित हो रहा था। शिक्षा के व्यवसायीन्मुखी होने से जीविकोपार्जन की समस्याएं हल की जा चुकी थीं। अधिकांश शिक्षा के पाठ्यक्रम सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाले गए थे जिनके परिणामस्वरूप पीरोहित्य व्यवसाय, सैन्य व्यवसाय, शिल्प व्यवसाय के क्षेत्र में शैक्षिक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध हो रही थीं।

भारतीय स्थापत्य तथा कला के क्षेत्र में मध्यकालीन भारत ने जो विश्व-कीर्तिमान स्थापित किया है उसका अधिकांश श्रेय इस युग की शिल्प तथा कला शिक्षा को ही दिया जा सकता है। लोकोपयोगी शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाएं समाज को लाभान्वित कर रही थीं जिनमें ज्योतिष विद्या, आयुर्वेद, शकुनशास्त्र, स्वप्नशास्त्र आदि मुख्य हैं। मध्यकालीन शिक्षा जगत् में संस्कृत भाषा राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक आदान-प्रदान की एक सम्पर्क भाषा के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही थी। इसके साथ ही प्रादेशिक लोकभाषाओं का प्रचार प्रसार भी विशेष प्रगति पर था। कुल मिलाकर मध्यकालीन शिक्षा व्यवस्था

राष्ट्रीयता एवं गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से एक गौरवशाली संस्था के रूप में प्राचीन भारतीय विद्याओं के जानार्जन तथा उनके विकास की गतिविधियों को विशेष प्रोत्साहित कर रही थी ।

८. प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक की नारी की स्थिति का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि बौद्ध कालीन नारी मूल्यों में अत्यधिक गिरावट आने के कारण ही स्मृतिकालीन नारीदासता की पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसके परिणामस्वरूप नारी को पुरुषाधीन बना दिया गया और उसके कई मौलिक अधिकारों को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया । मध्यकालीन नारी इसी स्मृतिकालीन आचार संहिता से आबद्ध रही थी किन्तु आलोच्य युग में स्त्रीभोगविलास तथा सामन्तवादी जीवन के मूल्यों से प्रभावित होने के कारण नारी चेतना युग की एक प्रमुख चेतना बनकर उभरी है । नारी सौन्दर्य की देवी के रूप में सामन्ती जीवन पद्धति पर हावी थी । धर्म, दर्शन, अर्थव्यवस्था, राजनीति सभी क्षेत्रों में उसकी इस प्रभुता का सिक्का जमा हुआ था किन्तु किसी सामाजिक चेतना या नारी जागरण के कारण यह परिवर्तन प्रभावित नहीं था अपितु नारी की भोग्य शक्ति के विराट् रूप ने इस परिवर्तन को जन्म दिया । मध्ययुगीन साहित्यकारों को भी यह श्रेय जाता है कि उन्होंने प्रधान रूप से दो ही युगचेतनाओं के प्रतिपादन में विशेष रुचि ली उनमें एक थी युद्धचेतना तो दूसरी थी नारीचेतना । ये दोनों चेतनाएं एक दूसरे को भी प्रभावित किए हुए थीं । युद्धचेतना नारी मूल्यों से प्रेरित थी तो नारीचेतना से अनुप्राणित होकर युद्ध लड़े जाते थे । नारी युद्धों का कारण बनी हुई थी तो युद्ध शान्ति के उपाय भी उसी से साधे जा सकते थे ।

आलोच्य युग की विवाह संस्था अत्याधुनिक एवं राजनैतिक मूल्यों से विशेष प्रभावित जान पड़ती है । राजपरिवारों के विवाह सम्बन्ध तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित थे । सामन्त राजा प्रायः अपने साम्राज्य विस्तार की अपेक्षा से बड़े और शक्तिशाली राजपरिवारों से विवाह सम्बन्ध रखने की लालसा से ग्रस्त थे । विवाह सम्बन्धों के अवसर पर विशाल धन-सम्पत्ति तथा ग्राम-नगरों को दहेज के रूप में दिए जाने के कारण सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की जड़ें मजबूत हुईं तथा भूमि सम्पत्ति के हस्तान्तरण को विशेष प्रोत्साहन मिला । राजपरिवारों में स्वयंवर विवाह, प्रेम विवाह आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा था जो इस तथ्य का प्रमाण है कि राजकुलों में नारी को अपने मनोवांछित वर के चयन की स्वतंत्रता मिली हुई थी । अनेक जैन महाकाव्यों से कर्नाटक, गुजरात, राजस्थान आदि प्रदेशों की तात्कालिक विवाह विधियों तथा अनेक मनोरंजक रीति-रिवाजों की भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है ।

६. मध्यकालीन भारत की भौगोलिक चेतना पूर्णतया राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित रहे बिना न रह सकी। जैन महाकाव्यों में वर्णित राष्ट्र, विषय, देश, आदि जिन प्रशासकीय संज्ञाओं का व्यवहार हुआ है राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव आदि राजवंशों की शासनप्रणालियों में भी इनकी स्थिति रही थी। बौद्धकालीन 'जनपदों' तथा 'महाजनपदों' की सीमाएं आलोच्य युग में अत्यन्त संकुचित हो चुकी थीं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी क्षेत्रों के पर्वतों तथा नदियों का जैन संस्कृत महाकाव्यों में उल्लेख आया है। भारतवर्ष के विभिन्न देशों, प्रदेशों, जनपदों तथा अन्य ऐतिहासिक स्थानों से सम्बद्ध अनेक भौगोलिक वर्णन भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार देश-काल की कुछ स्वाभाविक सीमाओं में परिवर्द्ध रहने के बाद भी जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिबिम्बित सामाजिक चेतना समग्र राष्ट्रीय स्तर पर जनमानस की आकांक्षाओं एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। जैन संस्कृति के पौराणिक इतिवृत्त से अतिरञ्जित रहने के बाद भी जैन महाकाव्यों ने महाकाव्य साहित्य के राष्ट्रीय गौरव को रेखाङ्कित करते हुए एक तटस्थ एवं जागरूक युगद्रष्टा के रूप में मध्यकालीन भारत के इतिहास मूल्यों में जी रहे विविध वर्गों, समुदायों, मानव व्यवहारों एवं सामाजिक परिस्थितियों का यथावत् रूप प्रस्तुत किया है। मध्यकालीन भारतीय समाजव्यवस्था के विविध पक्षों पर उपयोगी एवं नवीन प्रकाश डालने वाले जैन संस्कृत महाकाव्यों के साक्ष्य निःसन्देह इतिहास लेखन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण दस्तावेज सिद्ध होते हैं तथा सामाजिक जन-जीवन की अनेक टूटी हुई कड़ियों को भी जोड़ते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

- अग्निपुराण, सम्पा० राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८७३-७६
अंगविज्ञा, सम्पा० मुनि पुण्य विजय, वाराणसी, १९५७
अंगुत्तरनिकाय, भाग १-४, बनारस, १९६०
अनुयोगद्वारसूत्र, जिनदास गण्ण, रतलाम, १९२८
अभिज्ञानशाकुन्तल, सम्पा० कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद, १९६६
अभिधानचिन्तामणिकोश, (चन्द्रोदया टीका सहित), सम्पा० विजय कस्तूर सूरि
ग्रहमदाबाद, वि०, सं० २०१३
अभिधानरत्नमाला, लन्दन, १८६१
अभिधानराजेन्द्रकोश, विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम, १९१४
अमरकोश, सम्पा० विश्वनाथ भा, वाराणसी, १९६६
अर्थशास्त्र, सम्पा० ए० डी० शर्मा, पूना, १९४१; टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम्
१९२४; रामतेज शास्त्री, काशी १९६४; शामशास्त्री, मैसूर, १९८१
अष्टाध्यायी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३०
आचारांगचूर्ण, जिनदास गण्ण, रतलाम, १९४१
आचारांगवृत्ति, बम्बई, १९३५
आचारांगसूत्र, सम्पा० मुनि नथमल, कलकत्ता, १९६७, अनु० एच० जैकोबी,
लन्दन, १८८२
आदिपुराण, भाग १-२, सम्पा० पन्ना लाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
१९६३, १९६५
ईशावास्योपनिषद्, (शङ्कराचार्यकृत टीका सहित), दिल्ली १९६४
उत्कर्णलेखांजलि, सम्पा० जयचन्द्र विद्यालंकार, वाराणसी, वि० सं० १०२०
उत्तरपुराण, सम्पा० पन्ना लाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६८
उत्तरामचरित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०
उत्तराध्ययनसूत्र, बम्बई, १९३७, अंग्रेजी अनु० हर्मन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ
द ईस्ट-४५, १८९५
ऋग्वेद (सायण-टीका सहित), सम्पा० एफ० मैक्समूलर, १८९०-९२

- ऋतुसंहार, सम्पा० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, १९२२
 श्रौतपातिसूत्र, सम्पा० ई० लेउमन, लिपजिग, १८८३
 कण्वेरजातक, सम्पा० बी० फाउसबल, लन्दन, १८७७-८७
 कल्पद्रुकोश, भाग १, सम्पा० रामावतार शर्मा, बड़ौदा, १९२८
 कल्पसूत्र, सम्पा० डब्ल्यू स्कर्वरिंग, लिपजिग, १९०५
 अनु० हर्मेन जैकोबी, लिपजिग, १८७९
 कषायपाण्डु, सम्पा० फूलचन्द्र, महेन्द्रकुमार तथा कैलाशचन्द्र, मथुरा, १९४४
 कामन्दकनीतिसार, सम्पा० टी गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९१२; वेंकटेश्वर
 प्रेस, बम्बई, शक संवत् १८२९
 कामसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२९
 काव्यप्रकाश (मम्मट), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५५
 काव्यावर्ण (दण्डी), सम्पा० विद्याभूषण पं० रङ्गाचार्य रेड्डी शास्त्री, पूना, १९६८
 काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), सम्पा० आर० सी० पारिख तथा बी० एम० कुलकर्णी,
 बम्बई, १९६४
 काव्यालंकार (भामह), सम्पा० पं० बटुक नाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय,
 चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९८५
 काव्यालंकार (रुद्रट), सम्पा० पं० दुर्गा प्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंशीकर
 बम्बई, १९२८
 काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वामन), परिशोधक श्रीवाणी कृष्ण सूरि, श्रीरंग नगर,
 १९०९
 कीर्तिकौमुदीमहाकाव्य, सम्पा० मुनि पुण्यविजय, सिंधी जैन ग्रन्थमाला—३२,
 बम्बई, १९६१
 कुमारपालचरित (हेमचन्द्र), सम्पा० एस० पी० पण्डित, पूना, १९३६
 कुमारपालप्रतिबोध, सम्पा० मुनि जिन विजय, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज,
 बड़ौदा, १९२०
 कृत्यकल्पतरु (राजधर्मकाण्ड), सम्पा०, जगदीशलाल शास्त्री, लाहौर, १९४२
 कोषकल्पतरु, सम्पा० एम० एन० पाटकर तथा के० बी० कृष्णमूर्ति, पूना, १९५७
 क्षत्रचूडामणि, सम्पा० टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, तंजोर, १९०२
 गौतमधर्मसूत्र, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, १९१०
 चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्य (विद्वन्मनोवल्लभा टीका सहित), सम्पा० अमृत लाल
 शास्त्री, सोलापुर, १९७१, दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंशीकर,
 (काव्यमाला-३०), बम्बई, १९२६
 चुलवर्ग, नालन्दा देवनागरी पाली ग्रन्थमाला, बनारस, १९५६
 छान्दोग्योपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०११

जयन्तविजयमहाकाव्य, सम्पा० भावदत्त शास्त्री, (काव्यमाला-७५), बम्बई, १९०२
जसहरचरित (पुष्पदन्तकृत) सम्पा० हीरालाल, दिल्ली, १९७२

जैनकुमारसंभव, जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९५६

जातक, सम्पा० फाउसबल, १८७७-९७; कैम्ब्रिज अनुवाद १८९५-१९१३

जातकमाला, सम्पा० आर० सी० द्विवेदी तथा एम० आर० भट्ट, दिल्ली, १९६६

ज्ञातृधर्मकथा, सम्पा० एन० वी० वैद्य, पूना, १९४०

तत्त्वार्थसूत्र, सम्पा० पं० सुखलाल, बनारस, १९५२

तैत्तिरीयसंहिता, सम्पा० श्रीपाद शर्मा, ग्रौध नगर, १९४५

तैत्तिरीयोपनिषद्, (ईशादिदशोपनिषद् शांकरभाष्य सहित), दिल्ली, १९६४

त्रिकाण्डशेष, सम्पा० सी० ए० शीलखण्ड महाधेरा, बम्बई, १९१६

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्य (छह भाग),

भावनगर, १९०५-६, अंग्रेजी अनु० जोन्सन, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज
भाग १-४ बड़ौदा, १९३१-५४

दशकुमारचरित, सम्पा० एम० आर० काले, बम्बई, १९१७

दशवैकालिकचरित, जिनदास गणि, रतलाम, १९३३

दशवैकालिकटीका, बम्बई, १९१८

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अनुवादक आत्माराम, लाहौर, १९२६

दीर्घनिकाय, भाग २, सम्पा० भिक्षु जे० कश्यप, बिहार, १९५८

देशीनाभमाला, पूना, १९३८

द्वयाश्रयकाव्य, (अभयतिलक गणि कृत टीका सहित), भाग १-२, सम्पा० ए०
वी० कथवाटे, बम्बई १९१५, १९२१

द्विसन्धानमहाकाव्य (नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदीटीका सहित), सम्पा० खुशाल चन्द
गौरावाला, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७०

धर्मशमभ्युदयमहाकाव्य (सन्देहध्वान्तदीपिकाटीका सहित), सम्पा० पं० पन्नालाल
जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१

धवला टीका, सम्पा० हीरालाल जैन, अमरावती संस्करण, १९५१

ध्वन्यालोक, भाग-१-२, सम्पा० विष्णुपाद भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९५६, १९५७

नरनारायणानन्दमहाकाव्य, सम्पा० सी० डी० दलाल, गायकवाड ओरियन्टल
सीरीज), बड़ौदा, १९१६

नाट्यदर्पण, सम्पा० डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९६६

नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२६; गायकवाड ओरियन्टल
सीरीज, बड़ौदा, १९२४, १९३६

- नानार्थमञ्जरी, सम्पा० के० पी० कृष्णमूर्ति शर्मा, पूना, १९५४
- नार्मलिंगानुशासन (श्रीरस्वामीकृतटीका सहित), सम्पा० कृष्ण जी गोविन्द
ओक, पूना, १९१३
- नारदस्मृति, सम्पा० जौली, कलकत्ता, १८८५
- निशीथ, सम्पत्ति ज्ञान पीठ, आगरा, १९५७-६०
- नीतिप्रकाशिका, सम्पा० गुस्टाव ओपर्ट, दिल्ली, १९८५; सम्पा० टी० चन्द्रशेखर
मद्रास, १९६५
- नीतिशतक, सम्पा० एस० एन० शास्त्रीयर, मद्रास, १९५७
- नेमिनिर्वाणमहाकाव्य, सम्पा० पं० शिवदत्त तथा काशीनाथ पाण्डुरंग परब,
(काव्यमाला-५६), बम्बई, १९३६
- न्यायविनिश्चय, सिद्धी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३६
- पञ्चास्तिकाय, बम्बई, वि० सं० १९७२
- पदचन्द्रिकाकोश, सम्पा० के० के० दत्त शास्त्री, कलकत्ता, १९६६
- पद्मपुराण, भाग १-३, सम्पा० पन्ना लाल जैन, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी,
१९५८, १९५९
- पद्मानन्दमहाकाव्य, (प्रमेयरत्नमञ्जूषाटीका सहित) सम्पा० एच० आर० कापडिया,
बड़ौदा, १९३२
- परिशिष्टपर्व (स्थविरावलचरित), सम्पा० हर्षन जैकोबी, कलकत्ता, १९३२
- पादवर्नायचरित, भाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१६
- पिण्डनिर्गुणित, मलयगिरि, सूरत, १९१८
- प्रबुधनचरित, सम्पा० मनोहर लाल शास्त्री तथा राम प्रसाद शास्त्री, भाणिकचन्द्र
दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, विक्रमानन्द १९७३
- प्रबन्धचिन्तामणि, बम्बई, १९३२; अनु० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिद्धी जैन ग्रन्थ-
माला ३, बम्बई, १९४०; सम्पा० मुनि जिन विजय, शान्तिनिकेतन; १९३३
- प्रभावकचरित, सम्पा० मुनि जिन विजय, सिद्धी जैन ग्रन्थमाला-१३, अहमदाबाद,
१९४०
- प्रमाणनयतत्त्वालोकार्त्तकार, काशी, वीर संवत्, २४३१
- प्रमेयकमलमार्तन्ड, सम्पा० महेन्द्र कुमार शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,
१९४१
- बुधभूषण, सम्पा० एच० डी० वेलणकर, पूना, १९२३
- बृहत्कथाकोष, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई
- बृहत्कल्पसाध्य, भावनगर, १९३३-३८
- बृहत्कल्पसूत्र, सम्पा० मुनि० पुण्य विजय, भाव नगर, १९३३-३९
- बृहत्संहिता, बाराणसी, १८६५

- बृहस्पतिस्मृति, सम्पा० के० वी० रङ्गास्वामी अयङ्गर, गायकवाड़ ओरियन्टल
सीरीज, बड़ौदा, १९४१
- मज्झिमनिकाय, सम्पा० राहुल सांकृत्यायन, बिहार, १९५८; अनु० राहुल
सांकृत्यायन, बनारस, १९३३
- मत्स्यपुराण, सम्पा० आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०७
- मनुस्मृति, संशोधक वासुदेव शर्मा, बम्बई, १९२०
- मयमत, सम्पा० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९१९
- महापुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१
- महाभारत, (नीलकण्ठटीका सहित), सम्पा० आर० किजवाडेकर, पूना, १९२९-
३३, तथा गीता-प्रेस गोरखपुर संस्करण, १९४६-४८
- महावस्तु अथर्वान, भाग १, सम्पा० राधा गोविन्द बसक, कलकत्ता, १९६३
- मानसार, सम्पा० पी० के० आचार्य, आक्सफोर्ड, १९३३
- मीमांसासूत्र (शबरभाष्य सहित), आनन्दाश्रम, पूना, १९७०
- मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् २०१९
- मेदिनीकोष, सम्पा० सोमनाथ मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १८६९
- यशस्तिलकचम्पू, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०३
- यशोधरचरित (लक्ष्मण कृत टीका सहित), कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़,
१९६३
- याज्ञवल्क्यस्मृति, सम्पा० पं० नारायण शास्त्री तथा जगन्नाथ शास्त्री, बनारस,
१९३०
- रघुवंश, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६
- राजतरङ्गिणी, (दो भाग), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१-७९
- राजधर्मकौस्तुभ, सम्पा० महा कमल कृष्ण स्मृति तीर्थ, बड़ौदा, १९३५
- राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, १९५३-५७
- बक्रोक्तिजीवित, सम्पा० सुशील कुमार डे, कलकत्ता, १९२८
- वराङ्गचरितमहाकाव्य, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन
ग्रन्थ माला, बम्बई, १९३३; अनु० खूशाल चन्द्र गोरवाला, मथुरा, १९५३
- वराङ्गचरितमहाकाव्य (वर्धमान कवि कृत) सम्पा० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले,
सोलापुर, १९२७
- वर्धमानचरितमहाकाव्य, सम्पा० पन्नालाल, जैन, सोलापुर, १९७४
- वसुनन्दिध्यावकाचार, सम्पा० हीरालाल जैन, काशी, १९५२
- वस्तुपालचरित, सम्पा० मुनि कीर्ति विजय, अहमदाबाद, १९४१

- वाङ्मयार्णवकोश, महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्मा, वाराणसी, संवत् २०२४
वायुपुराण, पूना, १९०५
विक्रमांकदेवचरित, सम्पा० बहूलर, बम्बई, १८७५
विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, सम्पा० के० वी० शास्त्री, तंजोर, १९५८
विश्वकोश, सम्पा० रतन गोपाल भट्ट, शीलस्कन्ध महास्थविर, वाराणसी, १९११
विश्वप्रकाश, सम्पा० श्री शीलस्कन्ध महास्थविर, बनारस, १९११
विष्णुपुराण, सम्पा० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, वि० सं० १३३१
वीरभित्रोदय, सम्पा० जीवनानन्द, कलकत्ता १८७५, तथा चौखम्बा संस्कृत सिरीज,
वाराणसी, १९०६
व्यवहारप्रकाश, सम्पा० जयकृष्ण शर्मा, बम्बई, १९६२
व्यवहारसूत्र, भाव नगर, १९२६
व्यासस्मृति, धर्मशास्त्र संग्रह, खण्ड २, कलकत्ता १८७६
शतपथब्राह्मण, सम्पा० विद्याधर शर्मा, वाराणसी १९३६
शब्दकल्पद्रुम, मोतीलाल बमारसीदास, दिल्ली, १९६१
शब्दरत्नसमन्वयकोश, सम्पा० बी० भट्टाचार्य, बड़ीदा, १९३२
शान्तिनाथचरितमहाकाव्य, संशो० पं० हरगोविन्द बेचरदास, वाराणसी, वीर
नि० संवत् २४३७
शास्त्रसारसमुच्चय, हिन्दी टीकाकार, आचार्य श्री देशभूषण, दिल्ली, १९५७
शिल्परत्न, सम्पा० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२२
शुकनोतिसार, सम्पा० बी० डी० बसु, प्रयाग, १९१४
श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२५
श्रीमद्भगवत्पुराण, सम्पा० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, वि० सं० १३१५
श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, सम्पा० पं० चिन्न स्वामी शास्त्रीगल तथा वी० एच०
सुब्रह्मण्य शास्त्री, द्वितीय संशोधित संस्करण, मद्रास, १९५८
सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्य, सम्पा० महोपाध्याय विनय सागर, राजस्थान
पुरातन ग्रन्थ माला, जोधपुर, १९६९
समरांगणसूत्रधार, सम्पा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, लखनऊ, १९५५
सरस्वतीकण्ठाभरण, सम्पा० बी० एल० पंसीकर शास्त्री तथा केदार नाथ, बम्बई
१९३४
सागरधर्माभूत, सम्पा० कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,
१९७८
सांख्यकारिका, बम्बई, १९४०
साहित्यदर्पण, सम्पा० शालिग्राम शास्त्री, वाराणसी, १९५६
सिद्धान्तकौमुदी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९

सुकृतसंकीर्तन, सम्पा० मुनि पुण्य विजय सूरि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला-३२, बम्बई,

१९६१

सुभाषितरत्नभाण्डागार, सम्पा० नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर प्रैस बम्बई,

१९५२

सूत्रकृतांगसूत्र, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, १८८०

सूर्यशतक, सम्पा० रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी, १९६४

संयुक्तनिकाय, सम्पा० भिक्षु जे० करवप, बिहार, १९५६

स्मृतिचन्द्रिका, (भाग १-५) सम्पा० जे० आर० घरपुरे, मैसूर १९१४-२१

षड्वर्णनसमुच्चय (गुणरत्नटीका सहित), कलकत्ता, १९७०

हम्मोरमहाकाव्य, सम्पा० मुनि जिन विजय, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला,

राजस्थान, १९६८

हरिवंशपुराण (जिनसेन), सम्पा० पन्ता लाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,

काशी, १९६२

हर्षचरित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, १९१२

हिन्दी सहायक ग्रन्थ

अच्युतानन्द धिल्डियाल, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक, वाराणसी, १९७३

अल्लामाअबदुल्लाह यूसुफ अली, मध्यकालीन भारत की सामाजिक और आर्थिक

अवस्था, प्रयाग, १९२६

आग्नेलाल, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, लखनऊ, १९६८

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, जैन तत्त्व कलिका, सम्पा० अमरमुनि, पंजाब

१९८२

उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद,

१९६५

ए० एस० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, १९६८

— — — गुप्तकालीन मुद्राएं, पटना, १९५४

कनिधम अलैकजैन्डर, भरहुत स्तूप, अनु० तुलसीराम शर्मा, दिल्ली, १९७५

किम्सले डेविस, मानव समाज, अनु० गोपाल कृष्ण अग्रवाल, इलाहाबाद, १९७३

केशवराव मुसलगांवकर, संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, वाराणसी, १९६६

कैलाश चन्द्र सिद्धान्ताचार्य, दक्षिण भारत में जैन धर्म, दिल्ली, १९६७

कोमल चन्द्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, १९६७

गुहदत्त, धर्म तथा समाजवाद, दिल्ली, १९७२

- गोकुल चन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, १९६७
- जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५
- जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, १९६८
- — —, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, १९७४
- जिनेन्द्र वर्मा, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग १-४), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७०-७३
- तेजमल दक, सामाजिक विचार एवं विचारक, अजमेर, १९६१
- दलसुख मालवाणिया, जैन दार्शनिक साहित्य के विकास 'की रूपरेखा, बनारस, १९५२
- नगेन्द्र, सम्पा० मानविकी पारिभाषिक कोश, (साहित्य खण्ड) दिल्ली, १९६६
- — —, सम्पा० हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, काशी, संवत् २०१५
- द्वारका प्रसाद शर्मा चतुर्वेदी, तारणीश भा; सम्पा०, संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ, इलाहाबाद, १९६७
- द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, भारतीय वास्तु शास्त्र, लखनऊ, १९५५
- धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान सम्पा० हिन्दी साहित्य कोश, वाराणसी संवत् २०२०
- नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, १९६८
- — —, संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली १९७१
- पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १-२, अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, १९६५
- — —, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, दिल्ली, १९६६
- प्रबोध कुमार मजूमदार, भारतीय सेना का इतिहास, प्रथम खण्ड, लखनऊ, १९६४
- फादर कामिल बुल्के, रामकथा—उत्पत्ति तथा विकास, प्रयाग, १९७१
- बिमलचरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, अनु० रामकृष्ण द्विवेदी लखनऊ, १९७२
- भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, दिल्ली, १९७३
- भोलानाथ शर्मा 'हरिस्तू की राजनीति, लखनऊ, १९६६
- भोलालंकर व्यास, संस्कृत कवि वर्शन, वाराणसी, वि० सं० २०१२
- मण्डन मिश्र, सम्पा० श्री महाबोर परिनिर्वाण स्मृतिग्रन्थ, दिल्ली, १९७५
- महादेव प्रसाद, समाज वर्शन, काशी, १९६८
- महेन्द्र कुमार, जैन वर्शन, वाराणसी, १९६६
- मुनि जिनविजय, राजर्षि कुमारपाल, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, १९३६
- मुनि देवेन्द्र, साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, १९७०

- मुनि नयमल, जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, राजस्थान, १९७३
- मुनि सुशील कुमार, प्राचीन जनाचार्यों का संस्कृत साहित्य को योगदान, (विश्व संस्कृत सम्मेलन के अवसर पर दिया गया भाषण), दिल्ली, १९७२
- मोती चन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं० २००७
- मोहनलाल महतो वियोगी, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना १९५८
- रघुनाथ भास्कर गोडबोले, श्री भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश, पूना १९२८
- रमेश चन्द्र गुप्त, प्रधान सम्पा० आस्था और चिन्तन, (आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ) दिल्ली, १९८७
- रमेशचन्द्र मजूमदार, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, सागर, १९६८
- राज नारायण पाण्डेय, महाकवि पुष्प दन्त, जयपुर, १९६८
- राजवंश सहाय हीरा, भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पटना, १९७३
- रामनाथ शर्मा, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, भाग २, मेरठ, १९६८
- रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, अनु० आदित्य नारायण सिंह, दिल्ली, १९७३
- लक्ष्मी शंकर व्यास, महान् चौलुक्य कुमारपाल, काशी, १९६२
- वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६०
- वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, (द्वितीय खण्ड), इलाहाबाद, १९५२
- वासुदेव शरण अग्रवाल, पारिणिकालीन भारतवर्ष, काशी, सं० २०१२
- — —, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९६४
- विजयेन्द्र कुमार माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली, १९६६
- विश्वनाथ वर्मा, राजनीति और दर्शन पटना, १९५६
- विश्वबन्धु, सम्पा०, चतुर्वेद व्याकरण पदसूची, दो भाग, होशियारपुर, १९६०-६३
- शम्भूरत्न त्रिपाठी, समाजशास्त्रीय विश्वकोष, कानपुर, १९६०
- श्यामलाल पाण्डेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, लखनऊ, १९६४
- श्यामशंकर दीक्षित, तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, जयपुर, १९६६
- सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, १९६८
- — —, राजनीतिशास्त्र, मसूरी, १९६८
- सत्यनारायण मोटूरि, प्रधान सम्पा०, विश्वज्ञान संहिता, भाग १, (सामाजिक विज्ञान), मद्रास,
- सर्वानन्द पाठक, विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, १९६७
- सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र, बनारस, १९५२
- सुषमा कुलश्रेष्ठ, कालिदास साहित्य एवं वादनकला, दिल्ली, १९८६
- हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और चिन्तक, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५४

अंग्रेजी सहायक ग्रन्थ

- Agrawala, V.S., *India as Known to Pāṇini*, Lucknow, 1953
- Aiyangar, K.V.R., *Some Aspects of Ancient Indian Polity*, Madras, 1938
- Altekar, A.S., *Rāṣṭrakūṭas and their Times*, Poona, 1967
- , *State and Government in Ancient India*, Banaras, 1972
- , *The Position of Women in Hindu Civilisation*, 1965
- Apte, V.S., *The Student's Sanskrit English Dictionary*, Delhi, 1970
- Arora, Raj Kumar, *Historical and Cultural Data from the Bhaviṣya Purāṇa*, Delhi, 1972
- Ayyangar, M.S.R., & Rao, B.S., *Studies in South Indian Jainism*, Madras, 1922
- Bajpai, K.D., *The Geographical Encyclopaedia of Ancient and Medieval India*, Pt. I, Varanasi, 1967
- Barnes, H.E., *An Introduction to the Sociology*, New York,
- Benerji, S.C., *Aspects of Ancient Indian Life*, Calcutta, 1972
- Bhandarkar, D.R., *Carmichael Lectures*, Calcutta, 1918
- Bhargava, D.N., *Jain Ethics*, Delhi, 1968
- Bogardus, E.S., *Sociology*, New York, 1954
- Bonquet, A.C., *Comparative Religion*, 1951
- Bosanquet, *Philosophical Theory of the State*, London, 1951
- Buhlar, J.G., *The Indian Sect of the Jainas*, Calcutta, 1963
- , *The Life of Hemacandrācārya*, Tr. Manilal Patel, Santiniketan, 1936
- Chakravarti, P.C., *The Art of War in Ancient India*, Calcutta, 1943
- Chatterji, S.K.; Atreya, B.L.; Danielov, A; *Indian Culture*, Delhi, 1966
- Chaudhury, Abhay Kant, *Early Medieval Villages in North-Eastern India (AD 600-1200)*, Calcutta, 1971
- Cole, G.D.H., *Social Theory*, London, 1920
- Colley, C.H., *Life and the Students*, New York, 1927
- Cunningham, A., *Coins of Ancient India*, London, 1891
- Coupland, R., *India (a Re-statement)*, New York, 1945
- Das, A.C., *An Introduction to the Study of Society*, Delhi, 1972
- De, G.D., *Significance and Importance Jātakas*, Calcutta, 1951
- Dey, N.L., *The Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India*, Delhi, 1971
- Dharma, P.C., *Rāmāyaṇa Polity*, Madras, 1941

- Dixitar, V.R., Ramchandra, *Purāṇa Index*, Vol. I-III, Madras, 1948-52
- , *War in Ancient India*, Madras, 1948
- Dixon, M., *English Epic and Heroic Poetry*, London, 1912
- Fleet, J.F., *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, Varanasi, 1970
- Gavin, R.W., etc., *Our Changing Social Order*, Boston, 1953
- Ghosh, J., *Epic Sources of Sanskrit Literature*, Calcutta, 1963
- Ghurye, G.S., *Caste, Class and Occupation*, Bombay, 1961
- Ginsberg, *Psychology of Society*, London, 1933
- Green, A.W., *Sociology*, 1964
- Gummere, F.B., *Introduction to old English Ballads*, London.
- Gupta, D.K., *Society and Culture in the Time of Dandin*, Delhi, 1972
- Gupta, Nilakshi Sen, *Evolution of Hindu Marriage*, Bombay, 1965
- Gupta Parmanand, *Geography in Ancient Indian Inscriptions*, Delhi, 1973
- Haas, F.J., *Man & Society*, New York, 1952
- Hiriyanna. M., *Outlines of Indian Philosophy*, London, 1951
- Indra, *The Status of Women in Ancient India*, Banaras, 1955
- Jacobi, H.G. *Gaina Sutras*, Sacred Books of the East, Vol. XXII, Oxford, 1884
- Jain, K.C., *Lord Mahavir and his Times*, Delhi, 1974
- Jani, A.N., *A Critical Study of Śrīhaṛṣa's Naiṣadhiya Carita*, Baroda, 1957
- Jauhari, Manorama, *Politics and Ethics in Ancient India*, Varanasi, 1968
- Jayaswal, K.P., *Hindu Polity*, Pt. I & II, Bangalore, 1943
- Katre, S.M., *Dictionary of Pāṇini*, Pt. I, Poona, 1968
- Keith, A.B., *A History of Sanskrit Literature*, Vol. I, pt. I, London, 1941
- Krishnamoorthy, A.V., *Social and Economic Conditions in Eastern Deccan*, Andhra Pradesh, 1970
- Kunduri, Iswar Datt, *Inscriptional Glossary of Andhra Pradesh*, Hyderabad, 1967
- Lowie, Robert, M., *Primitive Society*, New York, 1920
- Lunia, B.N., *Evolution of Indian Culture*, Agra, 1960
- Macdonell, A.A., and Keith, A.B., *Vedic Index*, London, 1912
- Macdougall, W., *The Group Mind*, Cambridge, 1920
- Maity, S.K., *Economic Life of Northern India*, Calcutta, 1957

- Major, Gautam Sharma, *Indian Army through the Ages*, Madras, 1966
- Majumdar, A.K., *Chalukyas of Gujrat*, Bombay, 1956
- Majumdar, Bimal Kanti, *The Military System in Ancient India*, Calcutta, 1960
- Majumdar, N.G., (ed.) *Inscriptions of Bengal*, Vol. 3, Rajshai : Varendra Research Society, 1929
- Majumdar, R. C., *Corporate Life In Ancient India*, Calcutta, 1969
- Mallinowski, *Crime and Custom in Savage Society*, 1926
- Meenakshi, C., *Administration and Social Life under the Pallavas*, Madras, 1938
- Meyer, J.J., *Sexual Life in Ancient India*, Delhi, 1971
- Mitra Priti, *Life and Society in the Vedic Age*, Calcutta, 1966
- Mohan Chand, (ed) *Yogasūtra with Manīprabhā*, Delhi, 1937
- — —, (ed) *Ancient Indian Culture & Literature* (Pt. Gangaram Commemoration Volume) Delhi, 1980
- Mookerji, Radha Kumud, *Ancient Indian Education*, Delhi, 1947
- — —, *Local Government in Ancient India*, Oxford, 1920
- Moraes, G.M., *The Kadamba Kula*, Bombay, 1931
- Munshi, K.M., *Glory that was Gurjara Desa*, Bombay, 1954
- Narang, S.P., *Hemacandra's Dvyāśrayakāvya—A Literary and Cultural Study*, Delhi, 1972
- Ogburn, William F., & Nimkolf, Meyer F., *A Hand Book of Sociology*, London, 1960
- Pandey, Raj Bali, *Hindu Samskāras*, Delhi, 1959
- Panikkar, K.M., *Shri Harsha of Kannauj*, Bombay, 1962
- Prabhu, P.H., *Hindu Social Organization*, Bombay, 1961
- Puri, B. N., *History of Indian Administration*, Vol. I, Bombay, 1968
- Radhakrishnan, S., *Religion and Society*, London, 1947
- Reutar and Hart, *Introduction to Sociology*, New York, 1935
- Rhys Davids. F.W., *Buddhist India*, Delhi, 1971
- Rice, B.L., *Mysore and Coorg from Inscriptions*, London, 1909
- Roucek, J.S., *Social Control*, New York, 1965
- Sanyal, B.S., *Culture An Introduction*, Bombay, 1962

- Satya Vrat, *The Rāmāyana—A Linguistic Study*, Delhi, 1964
- Seletore, B.A., *Ancient Karanataka*, Poona, 1936
- Sharma, Dashratha, *Rajasthan Through the Ages*, Bikaner, 1966
- Sharma, Ramashraya, *A Socio-Political Study of the Vālmiki Rāmāyana*, Delhi, 1971
- Sharma, R.S., *Social Changes in Early Medieval India* (The first Devaraja Chanana Memorial Lecture), Delhi, 1969
- Shastri, Ajay Mitra, *India as Seen in the Kuttani-Mata of Damodar Gupta*, Delhi, 1975
- Shastri Nilkanth, K.A., *Pandyan Kingdom from the Earliest Times to the Sixteenth Century*, London, 1929
- Sheth, C.B., *Jainism in Gujrat*, Bombay, 1953
- Shipley, J.T., *Dictionary of World Literature*, London, 1929
- Sircar, D.C. (ed) *Śakti Cult and Tara*, Calcutta, 1967.
- , (ed) *Select Inscriptions bearing on Indian History & Civilization*, Vol. I, Calcutta, 1942
- , *Studies in the Geography of Ancient and Medieval India* Delhi, 1963
- Sogani, K.C., *Ethical Doctrine in Jainism*, Sholapur, 1967
- Sorokin, P. A., *Contemporary Sociological Theories*, New York, 1928
- , *Society and Cultural Dynamics*, New York, 1937
- , *Society, Culture and Personality*, New York, 1948
- , *The Sociology of Revolution*, New York, 1925
- Stien, Otto, *The Jinist Studies*, Ed. Muni Jina Vijay, Ahmedabad, 1948
- Steinberg, S.H., *Cassel's Encyclopaedia of Literature*, Vol. I, London 1953
- Sternbach, L., *Juridical Studies in Ancient Indian Law*, Pt. I, Delhi, 1965
- Thapar, Romila, *A History of India*, Vol. I, Great Britain, 1974
- Thomas, E.J., *History of Buddhist Thought*, Delhi, 1953
- Turner, R.L., *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan*, London, 1912
- Upadhyay, Ramji, *Sanskrit and Prakrit Mahākāvya*, Saugar, 1962
- Vaidya, C.V., *Down fall of Hindu India*, Poona, 1926
- Valavalkar, P.H., *Hindu Social Institutions*, Mangalore, 1939,

- Ved Kumari, *The Nilamata Purāṇa*, Vol. I, Jammu, 1968
 Watt, H.A., and Watt, W.W., *A Dictionary of English Literature*,
 New York, 1952
 Wilkins, W.J., *Modern Hinduism*, Delhi, 1975
 Williams, Monier, *Sanskrit-English Dictionary*, Oxford, 1899
 Williams, R. *Jain Yoga*, London, 1963

पत्र-पत्रिकाएं

- अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११, दिल्ली
 जनसत्ता, नई दिल्ली, सितम्बर, १९८६
 जैन सन्देश, शोधक ७, मथुरा, १९६०
 दार्शनिक (त्रैमासिक), भद्र १, कानपुर, जनवरी, १९६६
 नवभारत टाइम्स (दैनिक), नई दिल्ली, २७ मार्च, १९७६
 नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ६४

Archaeological Survey of India, (Annual Reports), 1903-4, 1911-12,
 1913-14
Archeological Survey of Western India, Vol. II
Epigraphia Indica, Vol. I-11XIII.
Historical Quarterly, Vol. 2, Nos. 2-3, 1926
 • *Indian Antiquary*, Vols. I-XLIII, 1872-1933
Indian Culture, Vol. I, Calcutta, 1934
Indian Historical Quarterly, Vol. 19
Indological Studies : (A.D. Pushalkar, Commemoration Volume).
 Vol. III, Nos. 1-2, Delhi, 1974
Journal of the American Oriental Series, Vol. 13, 1889
Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (New
 Series)
Memoirs of the Archaeological Survey of India, Vol. 66
Purāṇam, Vol. XVIII. No. 1, Jan. 1976
The Indian Historical Review, Vol. I, No. 2, Delhi, 1974.
Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, Vol. XI.
 Leipzig, 1886

नामानुक्रमणिका

(ग्रन्थ, ग्रन्थकार, आधुनिक एवं प्राचीन विचारक, ऐतिहासिक
एवं पौराणिक व्यक्ति/पात्र, ऋषि-मुनि एवं महापुरुष)

अकलंक ३२२, ३७६	अभयदेव ४६, ४८, ५८
अगरचन्द नाहटा ६३	अभयनन्दि (प्राचार्य) ५४
अग्निपुराण १६८, १६९, १७२	अभिज्ञानशाकुन्तल ४६५
अग्निभूति २०४	अभिधानचिन्तामणिकोश ११०, १४०, २०८, २६४, २८३, २८४, २८५
अङ्गविज्जा २८१	अमरकोश १३६, २८२, ३०७, ३०९, ४१८
अङ्गविद्या (ग्रन्थ) २८१	अमर गंगेय १४४
अङ्गुत्तरनिकाय ५१२	अमरचन्द्र सूरि ४७, ४८, ५९, ६०, २०३, ४००)
अजयपाल १४४, १४५	अमृतचन्द्र ३२५
अजितसेन (राजकुमार) ७३, ९१, ४७६, ४९१	अमरस्तू ६५
अजितसेन (मन्त्री) ४८६	अरि सिंह ६२
अथर्ववेद ३१, ३७, १६८	अर्जुन ४७७
अनङ्गपाल तोमर ५३७	अर्णोराज १४४
अनन्त देव २८७	अर्थशास्त्र ६५, ६८, ८९, १२४, १२७, १३५, १६८, १७२, १८२, १९१, २४९, २५०, २६६, २६९, २७१, २७२, २८०, १२८, २९०, ४६३
अनन्तवीर्य (राजा) ४९४	अलवेदनी १४०, २०७, २०८
अनुशासनपर्व १९५	
अनेकार्थनाममाला ५२	
अन्निका (वणिक्पुत्री) ४९२	
अपराध (टीकाकार) २८८	
अप्पय दीक्षित ४७	
अभयकान्त चौधुरी १२९	
अभयकुमारचरित १०५	
अभयतिलक गणि ११५, ११७, २३०, २३१	

अलाउद्दीन ८०, ८१, ८३, ८८,
१५६, १६२, १६४, १६५,
१८४, १८६, २२६, २६६,
४७०, ४८४

अशोक २६८, २६९, ५२८, ५३६

अशोक (महत्तर) १३१

अश्वघोष २७, ३०, ४४, ५१, ५३,
६३, ८५

अश्वराज १४५

असग ४५, ४८, ५३, ५५, २०४,
२५४, ३२२

अष्टाध्यायी १३४, २६६, २७१,
२७२, २८०

आगस्ट कास्टे ३, ४, ५, २०

आचाराङ्गचूर्णी २८२

आचाराङ्गवृत्ति २८२

आचाराङ्गसूत्र २८०, २८१

आचार्य आत्माराम ३६३

आचार्य देशभूषण ३५१, ३५८

आर्टो स्टैन २६५, २७३,

आर्टेसी ३८

आदिपुराण ४२, ४६, १२०, १२६,
१५४, १५५, १६८, २०२,
२०७, २२४, २४४, २४६, २५०,
२५७, २५८, २६१-२६३,
३०३, ३०५, ३१६, ४१६,
४२२, ४३०, ४३३, ४३५,
४८३, ५११, ५१२, ५२६

आदि सिंह (राजा) १३६

आनन्द (बुद्धशिष्य) ४६०

आनन्ददेव १४३

आपस्तम्बधर्मसूत्र १३

आम्रदेव ३४७

आर. एम. मेकाडवर ७, ८, ६५

आर. एल. टर्नर १४१

आर. एस. शर्मा १२७, १४०, २०१,
२०८, २५३

आर. कुपलैण्ड १८५

आर. जी. भण्डारकर ५१५

आर. सी. भजूमदार २३२, २६४-
२६६, २७३

आर्यसूर २७८

आल्हान्देव १४३

आशाधर ३४८, ३४९, ३५६

आशाधरभट्ट ४७

आश्वलायनगृह्यसूत्र ४८५

इण्डो आर्यन डिक्शनरी १४१

इनीड ३८

इन्द्रसेन (राजा) ७५, ८५, १५१,
४६३

इलियड ३८

ई. एस० बोगार्डस ८

ई. डब्ल्यु. हॉपकिन्स १७२, १७३
१८३

ईश्वरय्य ११६

ईशावास्योपनिषद् ३५६

उत्तरपुराण ४२, ४६

उत्तररामचरित ४१५, ४६६

उत्तराध्ययनसूत्र २३१, २८०

उत्तराध्ययनसूत्रटीका २६०, २६१
२६३, २८२

उदधि (राजकुमारी) ४६४

उपेन्द्रसेन ८५

उमास्वाति ३५, ३७६

उशनस् नीतिशास्त्र ४३४	कण्वेर जातक २७८
उशना ६८	कथासरित्सागर १३३
उषवदन्त २७४	कनकप्रभ (राजकुमार) ४७६, ५०७
ऋग्वेद १८, ३१, ३७, १६६, १६१, ४२६, ४५६	कनकमाला (रानी) ४७७
ऋषभदेव/वृषभदेव ४७, ६०, ४२२, ४३०, ४५१	कनकवती (राजकुमारी) ४७७, ४६५, ५०७
ए. ए. गोरबोवस्की १८३	कनकश्री (राजकुमारी) ४६४
ए. एन. उपाध्ये ३६, ५०, ५२, ३२२	कपिल (मुनि) ३६५
ए. एस. अल्लेकर, २६४, २६८, २७४, ४१६, ४२२, ४३२, ४३३, ४५५	कमठ ४७७
एच. एच. विल्सन ५२५	कर्णदेव ५७, १४५
एच. जी. रावलिनसन ५२८	कल्पक १०७
एच. सी. रायचौधरी ५१५, ५२६	कल्पद्रुकोश २८३, २८४
ए. डब्ल्यू. ग्रीन ८, १००	कल्पसूत्र १२६, १३५, १३६, २८०
एन. एन. ला २६४, २६८	कल्पसूत्रटीका २६३
एन. एल. डे ५१६, ५१७-५१६, ५२६, ५३५, ५३७	कल्हण ४७
एपिग्रैफिया इन्डिका २७४	कश्यप ऋषि ५२५
एफ. आई. पार्जिटर ५२३	कात्यायन १३८, २७६
एम. एफ. निमकॉफ १८६	कादम्बरी ४३
एम. विन्टरनिट्ज ४०	कामन्दक ७३
एम. हिरियिन्ना २५	कामन्दक नीतिसार १६१
एलैक्जेंडर कनिंघम २१३, ५१६, ५२६, ५३०	कामसूत्र ४६, २८१, ४२३, ४२४
ए वी. काठवाटे ६०	कारायण २७८
ए. वी. कृष्णभूति ३७२	कार्लमाक्स १०
एस. पी. नारङ्ग ११५, २१७, २३०	कालसंवर ६१
श्रीपपात्तिकसूत्र १३६, २८०	कालिकापुराण ५१७
श्रीपपात्तिकसूत्रटीका २६३	कालिदास २७, ४०, ४१, ५६, ६३, ८५, १३०, १७८, ३०७, ३६४, ३६५, ४२८, ४३५, ४५७, ४६५, ४६६, ४६७
	काव्यपञ्चिकाटीका, १३०
	किरातार्जुनीय ३०, ३१, ३६, ४१, ५३, ५६, १८५

कीर्तिकौमुदी ४७, ४८, ६०-६२,
१०४, ११४, १४५, १४७
१८६, ३०६, ३३६, ३३८,
३३९, ३४३, ३५०, ४५१,
५३५

कुन्तक, १९

कुन्ती ५२५

कुबेर सेना (वेद्या) ४८२, ४८३

कुमारगुप्त २२९

कुमारदेवी १४५

कुमारपाल (चालुक्य) ४७, ५८, ८४,

८७, ९१ ११५, १४५, २०५,

२९५, ३२२, ३२४, ३३०,

३३१, ३४२, ३४३, ३०६,

३४७, ३६६, ३७२, ४०३,

४०४, ४०५, ४३४

कुमारपालचरित ५७, ३३६

कुमारसंभव ३१, ४०, ५३, ३६४

कुश (महारमा), ३७४

कुवलयानन्द ४७

कूर्मपुराण ५३७

कृष्ण ३९, ४७, ५९, २५१, ३७५,

४७६, ४९३, ५०७

कृष्णक (सामन्त) ८७

कृष्णदेव (राजा) ८७

के. एम. मुन्शी ३३५

के. डी. बाजपेयी ५१९-५२१, ५२३,

५२७, ५३१

के. पी. जायसवाल २५३, २६४,

२६५, २६८, २६९, २७०,

२९१

केशव (कोशकार) १७८

कोविदानन्द ४७

कोशा (वेद्या) २२६

कोषकल्पतरु २८३, २८५

कौटिल्य ६५, ६८, ८९, १२४,

१२७, १३५, १५०, १६८,

१७०, १७२, १७३, १७६,

१८२, १९१, ४६३

कौमुदीमित्रानन्द ४७

कौशाम्बी ४६३

कौशिकी (राजकुमारी) ४७७

क्रूर (राजा), ३७०

क्षत्रचूडामणि ४१०, ४९०

खेलादित्य ११५

गङ्गादेव १४३

गार्गी ४५८

ग्राहिरिपु १६६

गिन्सबर्ग ७

गुणभद्र ४२, ४९

गुणरत्नटीका ३७९, ३८०

गुणरत्न सूरि ३७९, ३८१, ३९४

गुंददेव १४३

गुस्ताव ओपर्ट १८२

गूयक १४३

गूयक (प्रथम) १४४

गूयक (द्वितीय) १४४

गोकुलचन्द्र जैन ३२१

गोमटसार ५४

गोविन्द १४३

गोविन्दचन्द्र १२८

गोविन्दराज १४४, ४९०

गोविन्दराज (प्रथम) १४४

गोविन्दराज (द्वितीय) १४४

गोविन्दराज (तृतीय) १४४	चन्द्रराज १४३, १४४
गीतम (धर्मशास्त्री) ४८५	चन्द्रोदयाटीका २८४
गीतम (राजकुमार) ४७७	चरित्रमुन्दर गरिण ३४७
गीतमधर्मसूत्र १३, ४५६	चाणक्य ४८१
गीतम (गणधर) ५२	चामुण्डराज १४३-१४५
गीतम बुद्ध २५, २६, २३१, ४६०, ५२३	चामुण्डराय ५४
गीतमी ४६०	चार्ल्स हर्टन कूले ४, ८
गीतमीपुत्र शातकर्णी ५१५	चालुक्यवंशोत्कीर्तन ५७
घोषा ४५	चित्रसेन (मंत्री) ४८७
चक्री जयपाल १४३	चुल्लवग्ग ४६०
चण्डप १४५	छान्दोग्योपनिषद् १३४, ४२०
चण्डप्रसाद १४५	जगदीशचन्द्र जैन १२६, २२६, २३१, ४६२
चत्तारि अट्ठ गाथा ४६	जगदेव १४३
चन्दनराज (प्रथम) १४४	जगद् देव १४४
चन्दनराज (द्वितीय) १४४	जटासिंह नन्दि/जटाचार्य/जटिलमुनि
चन्दना (साध्वी) ४६३	१२, ३६ ४४, ४५, ४८, ५०, ५१, ३१५-३१८, ३२२, ३४०, ३७०, ३७६-३७८, ३८२, ३८३, ३८६, ३८३-३८५, ३८७, ३८६, ४०४, ५०६
चन्द्रगुप्तमौर्य ४८१, ५२८	
चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ८६	
चन्द्रप्रभचरित ४५, ४८, ५४, ७१, ७३, ७६, ७७, ८०, ८३, ८५-८७, ८६, ८१, ८५-८७, ८६, ११८, १३०, १५२, १५६, १६१, १६२, १६४, १६६, २१३, २२७, २४८, २४६, २५४, २५५, २६४, २६७, २६८, ३०२, ३४८, ३४६, ३६१, ३६२, ३८४, ३८७, ३६०, ३६५, ३६६, ४०२, ४२४, ४३८, ४५५, ४७४, ४७५, ४६०, ४६४, ५०५, ५०७, ५१७, ५२७, ५२८, ५३०, ५३१	
	जयन्त (राजकुमार) ४७७, ४६५, ५०७
	जयन्तविजय ४२, ४६, ४८, ५८, ५६, ६६, १६५, २०४, ३०५, ३६६, ४७२, ४७७, ४६४, ५०५, ५०७
	जयपाल १४३
	जयभट्ट १२८
	जयराज १४३, १४४
	जयराशि ४०२

जयवर्मा (राजा) ४६१
जयशेखर सूरि ४४०
जयसिंह (देव) ५७, ६१, १४५,
३६८, ३७२
जयसिंह (प्रथम) ५६
जसभरचरित १३०
जाजल्लदेव ५२३
जॉन मार्शल २७२
जार्ज वर्डवुड ५२४
जाहङ्ग ८३, ११५, ११६
जिनसेन ४२, ४६, १२६, ३१५,
३२१, ४०४, ४१६
जिनसेन (हरिवंशपुराणकार) ५१
जीवन्धर (राजकुमार) ४६०
जीवानन्द (जैष्ठ) ४४८, ४५०
जे. एफ. फ्लीट ५३०
जे. जी. बुल्लर, ५७, २७२, ५३३,
जे. ब्लॉस २६४, २७५
जैतसिंह १४३, १४४
जैनकुमारसंभव ४३३, ४४०
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश ३३२
टी. डब्ल्यु. रायस डेविड्स ५२३
टोडरानन्द ४७
डब्ल्यु. एफ. भागवर्त १०, १८६
डब्ल्यु. भक्कगल २२
डी. भार. भण्डारकर ५२, २६४,
२६५, २७२
डी. एन. शुक्ल २८६, २६१
डी. सी. सरकार १४०, २६१,
५२१, ५२२
तत्त्वार्थसूत्र ३५, ३७६, ३८३,
४०५

तत्त्वोपप्लवसिंह (ग्रन्थ) ४०२
तारातन्त्र ५२७
तिलोयपण्णति ४२
तेजपाल १४५, १४६, ३२२, ३४५
तैलप ३२२
तैलप (द्वितीय) ३२२
त्रिकाण्डशेष १८७, २८३
त्रिलोचनपाल १२८
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ४६, ८७,
११४, ११६, १३६, १४०;
१६२, २०८, २६३, २६६,
४१७, ४२६, ४३६, ४३७, ४४५
दण्डी २, २७, ३२, ३३, ४१, २२२,
२८६
दत्तिसुन्दरी (राजकुमारी) ५०७
दद २५६
दधीचि (ऋषि) १७५
दमितारि (राजा) ४६४
दयानन्द भागव ३२६
दलसुख मालवगिया ३७५
दशकुमारचरित २२२, २८६
दशरथ शर्मा ११७
दशवैकालिकचूर्णी २३१
दशामृतस्कन्ध २८१
दिङ्गनाय ३७५
दिव्यावदान २६६
दीधनिकाय २७७
दीपवंश ५१०
दीपिकाटीका २५४, २५८
दुर्लभराज १४३, १४४, १४५
दुर्लभराज (प्रथम) १४४
दुर्लभराज (द्वितीय) १४४

दुर्लभराज (तृतीय) १४४
 दुःशालदेव १४३
 दुष्यन्त ४६५
 देवगुप्तभट्ट २८८, ४८४
 देवदत्त (वाणिकपुत्र) ४६२
 देवपाल १२८
 देवसेन (राजा) ६५, १५१, ४८७,
 ४६३
 देवानन्दमहाकाव्य ४३५
 देवीनाममाला १२७, १३७, १३८,
 १४०
 द्वयाश्रय ४७, ४८, ५७, ५८, ८७,
 ६६, ११५, ११७, १४५, १४७
 १६६, २११, २३०, २६४,
 २६७, ३३८, ३४३, ३६७,
 ३६८, ४२६, ४३१, ४३४,
 ४३५, ४४५, ५००, ५०५
 द्विसप्तशत ४०, ४२, ४६, ४८, ५२,
 ५३, ७०, ७१, ७४, ७६, ७७,
 ८७, ६७, ११५, १५५, १६१,
 १६२, २०६, २११, २२८,
 २५३, २५५, २६०, ३०४,
 ३०५, ३०७, ३१०, ४०६,
 ४१०, ४१८, ४१६ ४२६,
 ४३४, ४३५, ४४६
 धनञ्जय ४६, ४८, ५२, २५३
 धम्मपदटीका २७३
 धरणीध्वज (राजा) ४६१
 धर्मनाथ (राजा) ८२, ८२, ४७७,
 ४८६, ४६०, ५०३, ५०४
 धर्मशार्माभ्युदय ४६, ४८, ५४, ५७
 ८१, ११८, २१३, २३६,

२५४, २६५, २६८, ३००,
 ३०६, ३८४, ३६०, ३६१,
 ४७७, ४७८, ४७६, ४८१,
 ४८६, ४६०, ४६०, ४६६,
 ५०३, ५०४, ५०७, ५२३, ५२६
 धर्मसेन (राजा) ८१, ८६-६१,
 ३४०, ५०७
 धवलाटीका ५२
 धृतिसेन (राजा) ४८६
 नन्द १०७
 नन्दन १४३
 नन्न (महत्तर) १३१
 नयचन्द्र सूरि ४६, ४८, ६३, ६४,
 ४०३
 नरदेव १४३, १४४
 नरनारायणानन्द ३२, ४६, ४८,
 ५६, ४३५, ४७७
 नरेन्द्र (राजा) १३१
 नवसाहसालुचरित ४७
 नागार्जुन ३७५
 नानार्थमंजरीकोष, २८३
 नारदस्मृति २८७, २८८
 निबेसुगेनलीड ३८
 निशीथसूत्र २३०
 निशीथसूत्रभाष्य १२६, २२६
 नीतिप्रकाशिका ७१, १५५, १६८,
 १६६, १७१-१७८
 नीतिवाक्यामृत ६७, १३६
 नीलमतपुराण ५२५
 नेपाली कवि १७७
 नेमिचन्द्र (टीकाकार) ७१, ७२,
 ६७, १५५, २०६, २५५

नेमिचन्द्र शास्त्री ४५, ५०, ५२-५४,
५७, ११७ १५५, ४५७,
४८२
नेमिनिर्वाण ४६, ४८, ५६, ५७,
११७, २४७, २५०, ३०७, ३०८,
३८४, ३८६, ४७८
नैषध महाकाव्य ४१
न्यायकुमुदचन्द्र ५६
पञ्चमचरित ४४
पञ्चसंग्रह ३५४
पतञ्जलि ४७
पदचन्द्रिकाकोष २८४, २८५
पदमगुप्त ४७
पदमचरित २७, ३६, ४४, ३१६,
३२०
पदमनाम ८५, ६६, १३०, १५२,
१५३, ५०७
पदमपुराण ४२
पदमानन्द ४७, ४७, ५६, ६०, १०२,
११२, १६५, १६८, २००,
२०२, २०३, २०६, २०६,
२१४, २२६, २२८, २२६,
२३३, २५७, २६३, ३००,
३०३, ३०६, ३०८, ३३२,
३४१, ३५६, ३८१ ३६८,
४०१, ४२८, ४११, ४४१,
४४३, ४४५, ४४६, ४४७,
४५०, ४५१, ४६७, ४६६
पन्नालाल जैन २५७
परिशिष्टपर्व ४६, ६०, १०४,
१०७, १२३, २२६, ३६०,
४१३, ४७८, ४८१, ४८२, ४६२

पर्यट (महामात्य) ५३
पवनवति (राजा) ४६५
पाणिनि १३४, २७१, २७२, २६०,
४३०, ५३७
पार्वती ३६४, ३६५,
पार्वनाथचरित ४५, ४८, ५४,
५६, १०६, १०८, ४०६, ४१०,
४५२, ४७७
पी. ए. सोरोकिन ४, ५, ८, १०,
११
पी. के. मजूमदार १५५, १७६-१७८,
१८४, १८६
पी. वी. काणे १४, ६५, ७२, १२८
पी. सी. चक्रवर्ती १५५
पी. सी. बर्मा २६७
पुरुभूति (मंत्री), ८३
पुरुषार्थसिद्धयुपाय ३२५
पुलकेशी (द्वितीय) १५५, ३२२
पुष्पदन्त १३०, १३१
पृथ्वीराज (प्रथम) १४३, १४४
पृथ्वीराज (द्वितीय) १४३, १४४
पृथ्वीराज (तृतीय) १४४
पृथ्वीराज चौहान ५३७
पृथ्वीराजविजय १४२, १४३
पैराडाइज लॉस्ट ३८
प्रतापराज (राजा) ४८६
प्रद्युम्न (राजकुमार) ५३, ६१,
४६४
प्रद्युम्नचरित ४५, ४८, ५३, ८६,
६१, १८७, २४७, ३२३,
३६२, ४७४, ४७६, ४६३,
४६४, ४६६, ५०७

प्रद्युम्नानन्द ४७	बृहत्संहिता ४६६
प्रबन्धचिन्तामणि ३४७	बृहस्पति ६८
प्रभव १०४	बृहस्पतिसृति १३, २७६, २८७
प्रभाकरवर्धन ४८४	बोसांक्वेट ६६
प्रभाचन्द्र ५६, ४७२	बोधायनधर्मसूत्र १३, ४५६
प्रसाधकचरित ६१	ब्रह्मपुराण ५३७
प्रमेयकमलमार्तण्ड ५६, ४७२	ब्रह्मसूत्र ३७६
प्रमेयरत्नमञ्जूषा २६१, २६३	ब्राह्मी ४६३
प्रवरसेन (द्वितीय) २५६	भगवत्तथारण उपाध्याय २५
प्रसेनजित २७८	भगवतीसूत्र ५१२
प्रह्लाद १४३, १४४	भगीरथ (राजा) ३७४
फाह्यान ४१८	मट्टि ४२८, ४३५
फिरोजशाह तुगलक ६३	भरत चक्रवर्ती १५५, १६६
बकुलेश (राजा) ५०५	भरत (मंत्री) १३१
बलि (राजा) ३७२, ५३३	भरत मुनि १६
बाजबहादुर २८७	भवभूति २७, ४१५, ४६७
बाणमट्ट २७, ४३, ४६, ८५, १३८, १५५, ४२८, ४८४	भानु (राजकुमार) ४६४
बाबर १८२	भानुमुप्त २२६
बालचन्द्र सूरि ४७, ४८, ६१, ६२	भामह २६, ३२, ४१
बाल्लण १४३	भामतीटीका ३७८
बाल्हण १४४	भारतानन्द ४७
बिम्बसार २३१	भारवि २७, २८, ४१, ५३, ५६, ६३, १८५, ४२८, ४३५, ४५७
बियोवुल्फ ३८	भास २७
बिलहण ४७	भीम १४३, १४५
बुक ग्रॉफ हाइपोथीसिस १८३	भीम (द्वितीय) १४४
बुद्धचरित २७, २६, ३६, ४४, ५१, ५३	भीमदेव ६०, १४४
बुधभूषण ७१	भृगु ऋषि ५३४
बृहत्कथाकोश १३१, १३२	भोज ५२
बृहत्कल्पसूत्रभाष्य १२६, ५११, ५१२	भोजदेव ३२, ३३
	मंगलकुम्भ (राजकुमार) ५०१

मज्झिमनिकाय २७७, २७८
 मत्स्यपुराण १३४, २८५, ५२०
 मदनपास १२८
 मनु १२, ६८, १६१, १६२, ४६४,
 ४६५, ४८५
 मनुस्मृति १३, ७४, २०२, ३१८,
 ४१८, ४६२, ४६४
 मनोरमा (राजकुमारी) १०६, ४७५
 ४६१
 मयमत २४६, २५६, २८६, २-७
 मयूरकण्ठ (राजा) ४७७
 मरुभूति (राजकुमार) १०८, ४७७
 मल्लदेव १४६
 मल्लवादी ३७६
 मल्ली कुमार ४६३
 मल्ली कुमारी, ४६३
 मल्लिनाथ (टीकाकार) १७८
 महात्मा गांधी ६७
 महानन्द ४७
 महापुराण ३५८
 महाभारत १२, २७, २६, ३०-३२,
 ३८, ३९, ४२, ५३, ६८, ७३,
 ७४, १२४, १८०, १८३, १६१,
 १६५, २४६, २६६, २७१,
 २७२, २८१, २६०, ३६४,
 ४२८, ५१०, ५११, ५१६,
 ५२०, ५३७
 महावंश ५१०
 महावस्तु भवदान २७७
 महासेन ४५, ४८, ५३, ८७, ४७०,
 ४७५
 महावीरचरित ३३०, ३४१

महेन्द्रवत्त (राजा) ४८७
 माघ २७, ५३, ६३, ४२८, ४३५
 मानसार १४६, २८६
 मार्कण्डेयपुराण ५३४
 मिताक्षराटीका २८८
 मित्रमित्र २८८
 मिल्टन ३८
 मूंज ५३
 मुनिचन्द्र (टीकाकार) २५५
 मुनि जिनविजय ५८
 मुनि नथमल ३२५
 मुनिभद्र ४५, ४८, ६३
 मूलराज ८७
 मूलराज (द्वितीय) १४५
 मूलराज चावड़ १४५
 मृगावती ४६३
 मेघदूत ५३
 मेघविजय ४७
 मेदिनीकोष २८३
 मेरुतुल्ल ३४७
 मैत्रेयी ४५६
 मोनिबर विलियम्स २६३
 यजुर्वेद १८७, ४२६
 यज्ञजातक २७८
 यशस्कीर्ति ४४२
 यशस्तिलकचम्पू १३०, २६६, ३०८
 ३०६, ३१७, ३२०, ३२१,
 ३२४, ३६६
 यशोधर (राजा) १०६, ३६६
 यशोधरचरित ५६, १०४-१०७,
 १३०, ३६८-३७०
 याज्ञवल्क्य १२, २८७, ४८५

याज्ञवल्क्यस्मृति १३, २८८
 युक्तिकल्पतरु १२४
 युद्धकाण्ड (रामायण) ७१
 युवाङ्ग-व्यांग १५५
 रघुनाथ भास्कर मोडबोले ५२५
 रघुवंश ३०, ३१, ३६, ४०, ५३,
 ८५, १३०, १७८, ३०७
 रत्न (जैन कवि) ३२३
 रतिपाल ८१, ११८
 रविवेण २७, ३६, ४४, ३१५,
 ३१६-३२१
 राघवपाण्डवीय ५२
 राजतरंगिणी ४७
 राजर्षर्मकोस्तुभ २८७
 राधाकुमुद मुकर्जी २७४, ४५५
 राम ३६, ४७
 राम (राजा) १४३
 रामचन्द्र (कवि) ४७
 रामकृत ५४
 रामायण (वाल्मीकि) १२, २७, २६-
 ३२, ३८, ३६, ५३, १८०,
 १८३, २६४, २६६-२७०,
 २७२, २६०, ४१८, ५१०,
 ५२०, ५३७
 रामाश्रय शर्मा २६६
 राहुल सांकृत्यायन २७८
 रविमणी (राजकुमारी) ४७६, ४६३
 ५०७
 रघुट ३२-३४, ४१, ४२
 रघुवामन् २५७, २६८, २६६
 लक्षणप्रकाश १७४, १७५
 लक्ष्मणा (राजकुमारी) ४६०

ललिता देवी (रानी) ३४६
 ललितेश्वर (राजा) ६८
 लावण्यप्रसाद (राजा) १०४
 लीलावती १४५
 लेखपद्धति २६१
 लोपामुद्रा ४६४
 ल्यूडर्स २६१
 वर्णराज १४४
 वप्रराज १४३
 वरदत्त (मुनि) ३६२
 वराङ्ग (रामकुमार) ५१, ८६-६१,
 १०६, २५१, ३६२, ३६६,
 ३६७, ४७०, ४७५, ४८३,
 ४८६, ४८७-४८६, ४६३,
 ५०४, ५०७
 वराङ्गचरित ३६, ४१, ४४, ४५,
 ५०, ५१, ७४-७७, ८३, ८५,
 ८६-६१, ६५, ६६, १०१,
 १०४, १०६, १०७, ११४,
 ११८, १४६, १५१, १५८,
 १५६, १६५-१६७, १७२-१७४
 १८०, १६६, १६८, २००,
 २०१, २०५, २२५, २२८,
 २३१, २३३, २४५, २५१,
 २५२, २६४, ३००, ३०३,
 ३१०, ३१५, ३१६-३१८,
 ३२१, ३२४, ३३७, ३३६,
 ३४०, ३४१, ३४८, ३४६,
 ३५२, ३५५, ३५८-३६४,
 ३६६, ३६८-३७१, ३७४, ३७६,
 ३८१-३८३, ३८७, ३८८, ३९५,
 ३९६, ३९६, ४१२, ४१५-

४१७, ४२७, ४३१, ४३५,
४३७, ४४३, ४५२, ४६६-
४७१, ४७४-४७६, ४७८,
४८३, ४८४, ४८६, ४८७,
४९१, ४९३, ४९६, ४९७,
५०४, ५०६, ५१८, ५३१
वराहमिहिर ४६६, ४६७
वज्रिल ३८
वर्धमानचरित ४५, ४८, ५४, १६२,
२०४, २११, २५४, ३२२,
३६२, ४१०, ४४१, ४५१,
४५२, ४७७
वर्धमान महावीर २५, ४७, १३५,
४२४, ३६३, ५२०
बल्लभराज १४३, १४५
वसन्तविश्रास ४७, ४८, ६१, ६२,
१४५, १४७, २६८, २६९,
३०८, ३४४, ४७८, ५१४,
५२४, ५३५
वसिष्ठसुत १३६
वशिष्ठ १४४
वशिष्ठधर्मसूत्र १३, ४५६
वसुदेवद्विण्डी, ४६
वसुनन्दिभावकाचार ३३७
वसुन्धरा (राजकुमारी) ४७७
वस्तुपाल ४२, ४७, ४८, ५६-६२,
१४५, १४६, २०५, ३२२
३३६, ३३८, ३४०, ३७२,
३४२-४४७, ३५०, ४०४, ४३५
वस्तुपालचरित ६२, ३४६, ३४७
वाक्पति ४२८, ४३५
वाक्पतिराज (प्रथम) १४४
वाक्पति राज (द्वितीय) १४४

वाग्भट (कवि) ४६, ४८, ५६, ५७
वाग्भट (काव्यशास्त्री) ३३, ३४
वाग्भट (मन्त्री) ३३०, ३४७
वाग्भट (राजा) १४३, १४४
वाग्भट (प्रथम) ५६
वाग्भट (द्वितीय) ५६
वाग्भटालंकार ५६
वाङ्मयार्णवकोष २८३
वाचस्पति (कोषकार) २८४
वाचस्पतिकोष २६२
वाचस्पतिमिश्र ३७८
वात्स्यायन ४६, २८१, ४२३, ४२४
वात्स्यायन (दार्शनिक) ३७६
वादिराजसूरी ४५, ४८, ५४, ५६
वादीभ सिंह ४१०
वामन १६
वायुपुराण १३४, १३५, ५२०
वात्मीकि ५२०
वासुदेव (राजा) १४३, १४४
वासुदेवशरण भगवान् १, १४०,
२३०, २७१, २७२, ५३७
विक्रमाङ्कदेवचरित ४७
विक्रमादित्य १४४, ३२२
विग्रहराज १४३
विग्रहराज (प्रथम) १४४
विग्रहराज (द्वितीय) १४४
विग्रहराज (तृतीय) १४४
विग्रहराज (चतुर्थ) १४४
विजय (सामन्त) ८७
विजयकस्तूर सूरि २८४
विजयादित्य ३२२
विज्ञानेश्वर (टीकाकार) २८८

विद्वन्मनोवल्लभाटीका २५५, ४२४	व्यवहारसूत्र ४६२
विनयपिटक ५१०	सकुन्तला ४६५
विनयादित्य ३२२	शंकराचार्य ५०१
विवादरत्न २६८	शतपथब्राह्मण ३१, ३७, ४२०, ४५६
विज्ञासदस्य २७	शतानीक (राजा) ४६३
विश्वकर्मप्रकाश २८५	शत्रुंजय महाकाव्य २०४
विश्वकर्मवास्तुशास्त्र २५८, २६२, २६४, २७६	शबर (दार्शनिक) ३७६
विश्वकोष २८३	शब्दरत्नसमन्वयकोष २८३
विश्वनाथ २४	शम्भु (राजा) ११
विश्वप्रकाश २८३	शशिप्रभा (राजकुमारी) ४७६, ४६१ ४६३
विश्वरूप (टीकाकार) २८८	शान्तिनाथ (तीर्थङ्कर) ४७, ६३
विश्वलदेव (प्रथम) १४३	शान्तिनाथचरित ४५, ४८, ६३, ३२४, ४१३, ४३५, ४५१, ४६४, ५००, ५०५, ५०७
विश्वलदेव (द्वितीय) १४३	शान्तिपर्व (महामारत) १६१
विष्णुधर्मोत्तरपुराण १६८	शास्त्रसारसमुच्चय ३५१, ३५५
विष्णुपुराण ५१०	शिल्परत्न २६०, २८६, २८७ पा०
वी. भार. भार. दीक्षितार १३४, १७२, १७३, १७४, १७७, १७८, १८३	शिघुपालवध ४१, ५३
वीरधर्म ६१, १४६, ३२२, ३४५	शीलाङ्गाचार्य २८२
वीरनन्द ४५, ४८, ५४, १३०, २५४, ३६५, ४०२	शुकनीतिसार ७४, १११, १५५, १८३, १६१
वीरनारायण १४३, १४४	शूर (राजा) ५२५
वीरभिमोदय २६८, २८८, २६१	श्रीनाथ ५४
वीर्यराम १४४	श्रीपति ४७
वीरलदेव ५६	श्रीमद्भगवद्गीता १८७
वेण्कटाक्षरी ४७	श्रीमद्भगवत् पुराण २८१
वेद कुमारी ५२५	श्रीवर्मा (राजकुमार) ८६
वैजयन्ती कोष १७८	श्रीवेण ३६२
वैशम्पायन ७१, १५५, १६८	शृङ्गारवती (राजकुमारी) ४८६, ५०३, ५०४, ५०७
व्यवहारप्रकाश २८७	

श्रेणिक ५२
 षड्दर्शनसमुच्चय ३७६
 संयुतनिकाय २७७
 संस्कृतशब्दार्थकोस्तुभ १७३, ३०७
 सगर (राजा) ३७४
 सचीन्द्र कुमार भेंटी २७५
 सत्यकेतु विद्यालङ्कार ६८, २६८
 सत्यभामा (रानी) ४६४, ५०७
 सनत्कुमार (राजकुमार) ५०१,
 ५०२
 सनत्कुमारचक्रिचरित ४६६, ५०१
 सन्देहध्वान्त टीका ४४२
 सप्तसन्धानकाव्य ४२, ४४, ४६,
 ४७, ४३५
 सभापर्व (महाभारत) ७१
 समन्तभद्र २७, ३२२, ३७६
 समराज्यसूत्रधार २५८, २८६
 समुद्रगुप्त ८६, २०१
 सांग ग्रॉफ द रोलॉ ३८
 सागरवृद्धि १६६, ३२५
 सागरवर्धामृत ३३७, २४८
 सामन्त सिंह १४३, १४४
 सिंहराज १४३, १४४
 सिंहल १४४
 सिंह वर्धन ३२२
 सिकन्दर ५३७
 सिद्धराज ३३६
 सिद्धसेन ३७६
 सिन्धुल ५३
 सीताराम (व्याख्याकार) १७८
 सी. बी. वैद्य १८५
 सुकृतसंकीर्तन ६२, ३४४

सुतपिटक ५१०
 सुनन्दा (राजकुमारी) ४८६, ४८७,
 ५०७
 सुन्दरी ४६३
 सुबन्धु २७
 सुदुद्धि (मंत्री) ४८८
 सुभद्रा (राजकुमारी) ५६, ४७७
 सुभाषितरत्नभाण्डागार ४१५
 सुमङ्गला (राजकुमारी) ५०७
 सुवर्णनाभ (राजकुमार) ७७, ११८,
 १५२
 सुवर्णमाला (राजकुमारी) ४७६
 सुषेण (राजकुमार) ६०
 सुषेण (सेनापति) ८१, ८२
 सूत्रकृताङ्ग २८०
 सूत्रकृताङ्गटीका २४४, २५८, २६०
 सोमदेव १३०, १३६, ३१५, ३१८,
 ३२१, ४०४
 सोमप्रभ सूरि ३४७
 सोमेश्वर (देव) ४७, ४८, ६०, ६२
 १०४, ११४, १४३, १४४,
 १८६, ३५०, ४०३
 सौख्यालता (रानी) ३४६
 सौन्दरनन्द २७, २६, ३६, ५१, ५३
 ८५
 स्कन्दगुप्त २२६
 स्कन्दपुराण २०८
 स्मृतिचन्द्रिका २८८
 स्वयंभूस्तोत्र २७
 हम्मीर (राजा) ६३, ६४, ८१,
 ८६, ८८, १४३, १४४, १५६,
 १६२, १६४, १६५, १८४,

१८५, २२६, ३६८, ४७०,
४८४

हम्मौरमहाकाव्य ४६, ४८, ६३,
७६, ८०, ८३, ८६, ९१, ९८,
१०६, ११५, ११६, ११७,
११८, ११९, १४२, १४३,
१५६, १६२, १६४, १८४,
१८५, १८८, १९६, २०६,
२०७, २२६, २६६, ३००,
३६८, ४०३, ४३८, ४४२,
४४७, ४७०, ४८३, ४८४,
५३६

हरबटं स्पेन्सर ५, ६७

हरिषन्द्र ४६, ४८, ५४, ५५, २६६,
४४५

हरिभद्र सूरि ३७६, ३७९

हरिराज १४३, १४४, ४८३

हरिवंशपुराण ४२, ५१, ४२४

हरिषेण १३१

हर्ष (कवि) ४२८, ४३५

हर्षचरित, ४६, ८५, १३८, १५५,
१५८, १८४, ४८४, ५३४, ५३७

हर्षनाथ १४२

हर्षवर्धन २८, ७८, ९५, १३९,
१४८, १५५, १५८, १६०,
५१३

हलायुधकोश १३६

हीरालाल जैन ५२

हेमचन्द्र १६, ३२-३४, ४०, ४१,
४७-४९, ५७, ५८, ८७, १०३,
१०४, १०७, ११०, १२७,
१२८, १३७-१४०, १४४,
१६७, १६९, २०४, २०६,
२०८, २२६, २५८, २६४,
२८३, २८४, २९२, २९३,
३२२, ३२४, ३३०, ३३१,
३३३, ३४१, ३४३, ३४७,
३६०, ३६६, ३६७, ४०३,
४०४, ४१३, ४१४, ४२१,
४२६, ४३०, ४३४, ४८१,
४८२, ४९२, ५२१, ५२४, ५२७
ह्वेन्त्सांग १४०, ४०८, ५३६

स्थानानुक्रमणिका

(खेट, ग्राम, निगम, पुर, नगर, देश, प्रदेश, पर्वत, नदी, धार्मिक तीर्थस्थान, आदि की भौगोलिक एवं प्रशासकीय संज्ञाएँ। इनमें से काले अक्षरों वाली भौगोलिक संज्ञाएँ आलोच्य जैन महाकाव्यों में निर्दिष्ट हैं।

अंकवासिय ग्राम (तीर्थ) ३४६
 अङ्गुवेश ५०४, ५१२, ५२३, ५२४
 अङ्गुत्तराप जनपद २७८
 अचलपुर ५३८
 अजन्ता २८
 अजमेर १४३
 अजयमेरुपुर ५३८
 अजिरवती/अचिरवती नदी ५१६
 अजीर्णवती नदी ५१६
 अणहिलपत्तन ५३८
 अणहिलवाडपाटण (जैन तीर्थ) ६०,
 ३४२-३४६, ३७१
 अनुपिय निगम २७३
 अन्ध पर्वत ५१६
 अन्धेला नदी ५१६
 अपरविदेह क्षेत्र ५२२, ५२८, ५३२
 अपरान्तक ५२७
 अफगानिस्तान ५२६
 असूमक ५३८
 अमरकण्टक (पर्वतमाला) ५२०,
 ५२१, ५२३
 अमरावती २५६, २७३, ५२७,
 ५३८
 अमेरिका १६०, २४०
 अम्भोरा नदी २५६
 अयोध्या ५१८
 अरबसागर ५१८, ५२०, ५२२,
 ५३४
 अरावलि (पर्वतमाला) ५१४

अरिऊजय ५३१
 अर्कपालितग्राम (तीर्थ) ३४६
 अर्बुदाचल (जैन तीर्थ) ३४७, ३४६
 ५१५
 अर्लंका ५३८
 अल्मोडा २८७, ३०३
 अरघ ५१८, ५२३
 अवन्तिमण्डल १०६ पा०
 अवन्ती ५२३, ५३४
 अवन्ती नदी ५२१
 अलका ५३०
 अलङ्का ५३८
 अल्ताई पर्वत ५१७
 अल्वर ५१६
 अश्मक ५३७
 अश्वत्य खेटक २५६
 अश्वत्थिक ५३८
 अष्टादशशतमण्डल १०६ पा०
 असीनाला ५२४
 अहमदाबाद ५२६
 आगमक ५३८
 आदबदरी (अम्बाला) ५१६
 आनर्तपुर १६८, २५१, ५३८
 आन्ध्र/आन्ध्रप्रदेश २५५, ५११,
 ५१७, ५१६, ५२७, ५३०
 आबुप्रान्त १०६ पा०
 आभीर देश ५२१, ५२८
 आन्नपुरी ५३८

आधरलण्ड ३६, ३७	ऐहोल ३२२
आरिण्डिय ५३८	औदुम्बर ५३८
आर्यावर्त ५१२	कच्छ ५२६, ५३३
आसाम ५१३, ५२५, ५३२, ५३३	कच्छक ५३८
इंग्लैण्ड ३६, ३८	कच्छप्रान्त १०६ पा०
इन्डस नदी ५२१	कच्छमण्डल १०६ पा०
इन्द्रप्रस्थ ५२६, ५३७	कटिक ५३८
इन्द्रवज्र ५३८	कणहेरी (निगम) २८६
इन्द्रावती नदी ५३०	कनारा ५३८
इलाहाबाद २७२, ५२६	कन्दहर ५२८
इषुकार गिरि ५१७	कन्या कुमारी/कुमारी तीर्थ ३७३, ३७४
उग्रसेन पुरी ५३८	करगुदरि ११६
उज्जयन्तपर्वत (जैन तीर्थ) ३३६, ३४३, ३४४, ३४६, ३७३, ३७५, ५१४	करनाल ५१८
उज्जयिनी/उज्जैन ३२२, ५२१, ५२३, ५३६, ५३८	करनूल जिला ३७५
उड़ीसा ५१६, ५२३, ५३०, ५३१	करहाटक निगम २७३
उडू (उडू/औडू) ५३१	ककोटक ६६
उत्तमपुर ५३८	कर्णसुवर्ण (प० बंगाल) ५२५
उत्तरकुरु ५११, ५३०	कर्णाटक (कर्नाटक) ४६-५१, १०६, २०५, २१२, ३१५, ३२२, ३३४, ३७०, ४३१, ४६६, ५२७, ५२८
उत्तरकोशल ५२२, ५२३	कलकत्ता ५१८
उत्तरप्रदेश १४०, २०८, ५३३	कलिङ्ग ५०४, ५१२, ५३०
उत्तरापथ २३०, ५१२	कल्याण (राजधानी) ५३४
उत्तरी भारत २७७	कल्याण (निगम) २८६
उरगपुर (राजधानी) ५३५	कल्ता पुरी ५३८
उशीनरपर्वत ५१६	कस्तवर ५३२
ऋक्षपर्वत ५१५	काकन्द ५३८
ऋजुकुला नदी ५२०	कांगडा ५३१
ऋष्यक ५३८	कांची २३०, ३२२, ५३०, ५३५
एटा जिला ५२६	कांजिवरम् ५३५
एलोरा, २८	काठमाण्डू ५३७

- काठियावाड़ ५१४, ५३३, ५३६
 काण्ड ५३८
 कान्यकुब्ज ५३८
 काबुल नदी ५२८
 कामगिरि पर्वत ५३२
 कामराज जिला ५२५
 कामरूप ५२५, ५३३
 काम्पिल्य ५३६, ५३८
 काम्बोज (कम्बोज) ५२६
 कारणयिनी ५३८
 कालिन्दगिरि ५१८
 कालिन्दी ५१८
 कालिह्वद भील ५३६
 काली नदी ५१८
 कावेरी नदी ५१५, ५१६, ५३४
 काशी ५१२, ५१८, ५२४, ५३८
 काश्मीर १३३, ५२५, ५३१
 काश्यपपुर ५२५
 कीर देश ५३१
 किराडू ११५
 कुचवार ५३८
 कुण्डपुर ५३८
 कुण्डिन नगर ५२७
 कुण्डिन पुर ५३८
 कुण्ड्या नदी ५१६
 कुन्तल देश ५२७, ५३८
 कुन्ती देश ५३६
 कुन्ती नदी ५२१
 कुमाऊं ५१८
 कुवदेश ५२६, ५३६, ३७३, ३७४
 कुवडांगल ५१२, ५२४
 कुवदेश ५१२, ५२४, ५३६
 कुर्ग ५११, ५२७
 कुवदेश ५३४
 कुशवती ५२३
 कुणि ५२८
 कूमां खेड़ा २५६
 कूलपुर ५३८
 कुकणीय ५३८
 कृष्णा नदी ५१८, ५२७, ५३०, ५३६
 केकय ५१२
 केदारनाथ (तीर्थ) ३४४, ३७३
 केरल ५३४
 केलाश पर्वत (तीर्थ) ५१५
 कोंकण (कुंकण) ५२७, ५३०
 कोचिन ५३४
 कोट कांगड़ा ५३१
 कोलोकोन्द ५३६
 कोल्कई (राजधानी) ५३५
 कोशल (कोसल) ५१२, ५२२, ५२४
 कोशलनाडु ५२३
 कोशला ५४८
 क्रीञ्च द्वीप ५१६
 कोण्डेयक ५३८
 कोमुविक ५३८
 कोलेयकपुर ५३८
 कौशाम्बी ५२६, ५३८
 खम्भात ३४७ ५२६
 खलीमपुर १२६
 खलवेश ५३१
 खानदेश ५२७, ५३०
 खेड़ जिला १०६ पा०

खेड़ा ५३०	गोवर्धन (निगम) २८६
खेड़ाकलां २५६	गौड देश ५३४, ५३७
खेड़ाखुर्द २५६	गोण्डवन/गोण्ड ५१५, ५३४
गगनविलासपुर ४६५, ५३८	घाघर (घाघरा) नदी २५६
गंगा (भागीरथी) नदी ३७४, ५१६, ५१८, ५२०, ५२३, ५२४, ५२६, ५२८, ५३१, ५३३, ५३४	घुइ खेड/खेट २५६
गजान्धय ५३८	चक्रपुर ५३८
गण्डक नदी ५२८	चक्रगा ५३८
गया ५२६	चन्देरी ५२६
गर्भरूक ५३८	चन्द्रपुर ५३८
गङ्गीय ५३८	चन्द्रपुरी ५३८
गान्धार ५२८	चम्पा ५२४, ५३८
गिरनार पर्वत (जैन तीर्थ) ५६, ३४४, ३४६, ५१४, ५२६	चम्पापुर ५३८
गुजरात ४७, ४६, ५०, १०६ पा० १३३, १४५, २२७, २५६, ३२३, ३३०, ३३१, ३३७, ४०५, ४६६, ४६६, ५००, ५०६, ५२६, ५२८, ५३०, ५३३	चम्पापुरी ५२४
गुर्जरदेश १०६, ५२६, ५३६	चर्मण्वती (चम्बल) नदी ३७३, ५१८, ५१६, ५२१
गुर्जरमण्डल १०६ पा०	चाहमान देश ५३६
ग्रेट ब्रिटन २६६	चित्रकूट ५३८
गोम्रा ५३४	चिनाव नदी ५२१
गोदावरी नदी ५१६, ५२७, ५३०, ५३४, ५३६	चीन २२४, २२७
गोव्रह्म ५३५	खेवि ५१२, ५३३, ५३६
गोपाचल ५३८	छालौरग्राम ५१६
गोमती कुण्ड (भाकु) ५३३	जगरा ५३८
गोलकुण्डा ५३६	जम्बू द्वीप ३५६, ५१०, ५११, ५२७
	जम्बू नदी ५१७, ५२०
	जम्बूमाली नदी ५१६
	जर्मनी ३६, ३८
	जलवाहिनी नदी ५२२
	जहुरावर ५३७
	जाङ्गलदेश ५२४
	जिन कांची ३२२
	जुजुरी ५१७
	जुनागढ़ २५६

जुम्मक ग्राम ५२०
 जैसलमेर ५३६
 जोधपुर १०६ पा० ५३६
 झुझा १०६ पा०
 झेलम नदी ५२६
 टक्क देश ५२६
 टनडुका (घंघूका) ३४७
 टांगदियावाड़ा ५६
 ट्रावनकोर ५१६
 डाह्लसदेश (बुन्देलखण्ड) ५३३
 डाह्लमण्डल ५३३
 दिल्ली (दिल्ली) ५३७, ५३८
 तक्षशिला २६६, २७३, २७६, ४२६
 तान (राजधानी) ५२७
 तापी (ताप्ती) नदी ५१४, ५१८
 ताम्रलिप्त ५२५
 तिब्बत ५१५
 तिम्वनकमण्डल १०६ पा०
 तिलङ्ग (तेलुगू देश) ५३६
 तिवरखेट २५६
 तुकिस्तान ५२०, ५२६
 तुङ्गभद्रा नदी ५३४
 तुम्माण ५२३
 तुक्क ५२६
 तुल्य देश ५३४
 तेलङ्गाना ५२७
 तेलिङ्ग ५३६
 तेलुगू देश ५२७
 त्रयम्बकतीर्थ ५१६
 त्रावनकोर ५३४
 त्रिचिनोपली ५३५
 त्रिपुरी ५३८

थाना १०६ पा०
 थानेश्वर ५२४
 दक्षिण देश ५०४
 दक्षिण भारत ५१, ५६, ६६, १०६,
 १२७, १२६, १३३, १४१-
 १४३, १४८, १६५, २५५,
 २७०, २८१, २८८-२९१,
 ३२२, ३२३, ३४४, ३६६,
 ३६६, ३७१, ३७४, ५०६
 दक्षिणापथ २३०, ५१२
 दक्षिणमण्डल १०६ पा०
 दमोई ३४७
 दरद देश ५२६
 धर्मवती (तीर्थ) ३०७
 दक्षिणी नदी ५३३
 दशाणं ५१२
 दक्षिणदक्षिणनगर ५३८
 दामोदरपुर ५२०
 दिनाजपुर जिला ५२०, ५२३
 दिल्ली (राजधानी) ५२६, ५३७
 दुधपनि १३६
 देवकुश ५११
 देवपत्तन ३४३, ३४७, ५३८
 द्युतविमण्डल १०६ पा०
 द्रविड (द्रमिल) ५११, ५३०
 द्रुमती (द्रुमा) नदी ५२०
 द्रोणी नदी ५२०
 द्वारावती नगरी ५६, २४७, ५३८
 घनकटक (निगम) २७३, २८६,
 ५२७
 घनकटक ६०
 घातकीखण्ड द्वीप ५११, ५१७,
 ५२२, ५२६, ५२८, ५३१, ५३२

धारा ५३८	पल्लीपुर ५३६
घोलका (जैन तीर्थ) ६०, ६१, २४३, ३४५	पश्चिमचक्र ५१२
घोली ५२६	पहोआ ५१६
नङ्कीय ५३८	पाषाणयण ५३६
नर्मदा-उदधिसंगम ५२०	पाञ्चालदेश ५१२, ५२६, ५३६
नर्मदातटमण्डल १०६ पा०	पाटण ५६
नर्मदा नदी ५१४, ५२०, ५२७, ५३३, ५३४	पाटलिपुत्र २३०, २७५, ५३६
नासपुर ५३८	पाण्ड्यदेश ५३५
नाग-बास ५३६	पावलिप्तनगर ५३६
नागार्जुन पर्वत ५१४	पावलिप्तपुर ३४६
नाम्दोपुर ५३८	पाग्यायन ५३६
नालन्दा १२८, २७६, ४२१	पालनपुर १०६ पा०
नासिक २५८, २७४, ५१६, ५३४	पालाशक ५३६
निरुपकृति कुन्तुम् ३२२	पालिताना ३४६, ५१४
नीलात्रिपर्वत ५१६	पारस देश ५३२
नेपाल २२४, २२६, २६७, ५१३, ५३६	पारा नदी ५२१
पञ्चनद ५२१	पारिजात (पारियात्र) पर्वत ५१५
पंचमहल जिला १०६ पा०	पारिपात्र ५१५
पञ्चाक्षर तीर्थ ३७३	पादवनाथपर्वत ५१७
पंजाब ५३१, ५३२, ५३६, ५३७	पुण्डरीकिली ५३६
पटञ्चरदेश ५३६	पुण्ड्र ५२३, ५२५
पटना ५१८, ५२६	पुरी ५१६
पद्मा नदी ५२५	पुष्कर (तीर्थ) १४३, ३७३, ५३८
परसीय ५३८	पुष्कराक्षं द्वीप ५२२, ५३२
परशुराम क्षेत्र ५२७	पूजनवन ३४५
पर्वतीय प्रान्त १०६, पा० ५१६	पूर्वदेश ५३२
पलाशिनी नदी ५१४	पूर्वभरत क्षेत्र ५३१
पल्ली ग्राम १३६, १३७	पूर्वमन्दर पर्वत ५१७, ५२८, ५३२
	पूर्वविदेह क्षेत्र ५२६, ५२८, ५३२
	पूना ५१७
	पेठन (निगम) २८६

पेशावर ५२८
 पेंपल ५३६
 पोदनपुर ५३६
 पोलार नदी ५३०, ५३५
 पोण्ड्र ५२३, ५२४
 प्रभास तीर्थ ३४४, ३७३
 प्रयाग ५१८
 प्रियमेल तीर्थ ३७३
 प्लक्षावतरणतीर्थ ५१६
 प्लक्षीय ५३६
 फर्हलाबाद ५२६
 फलारक ५३६
 फ्रांस ३६
 फारस/फार्सिया ५३२
 बकपाटक ५३६
 बङ्गदेश ५१२, ५२३-५२५, ५३३
 बंगाल १३६, १५६, २०७, ५१५,
 ५३४
 बड़ोदरा ५३०
 बनारस १२८, ३४४, ५२४
 बम्बई ५२३
 बरखेरा ५१६
 बरना नदी ५२४
 बरार ५२३, ५२७
 बर्मा ५३२
 बलिया जिला ५३३
 बल्ल ५१६
 बसई १२८
 बसाढ़ २६४, २७५
 बस्तर ५२३
 बालछप्पर ५१६
 बाहुलिक ५२६

बिजोल्या १४२
 बिहात नदी ५२५
 बिहार १४०, २०८, ५१७, ५२६
 बीकानेर ५३६
 बीरभूम ५२८
 बुन्देलखण्ड ५२६, ५३३
 बैक्ट्रिया ५२६
 बंजनाथ (तीर्थ) ३७३, ५३१
 ब्रह्मगिरि ५१६
 ब्रह्मपुत्र नदी ५२५, ५३३
 ब्रह्मविश्वेष्ट ५३६
 ब्रह्मवर्त क्षेत्र ५५६
 मडिटप्रोलु (कृष्णा जिला) २७४
 भड़ोच १०६ पा० २८६
 भरतक्षेत्र ८५, ३५७, ५१०, ५१७,
 ५२७, ५३३
 भरुकच्छ ५३३, ५३५
 भरुकच्छ (निगम) २८६
 भरुच (मृगपुर) ३४६, ५३०
 भल्लाट देश ५१६
 भवानीपुर ५१६
 भागलपुर ५१८, ५२४
 भागीरथी तीर्थ ३७३, ३७४
 भावनगर १०६ पा०
 भिलसा ५२७
 भीटा २७२, २७४
 भीमरसपुर ५३६
 भूटान ५३३
 भृगु आश्रम ५३३
 भृगुकच्छ (भरुच) २६०, ५३३
 भृगुपुर ५३६
 भोगामो नदी ५१६

मोगावती नदी ५२१	मल्लवेश ५३७
मोजकटकपुर ५२७	महाकाल तीर्थ ३७३
मोपाल ५२७	महाचीन ५३७
भ्रमरशात्मलि ग्राम १३६	महाराष्ट्र १४०, २०८, २५६, ५११,
मगध ५०३, ५१२, ५२३, ५२५,	५२७ ५३६
५२६, ५२७	महिष्मती नदी ५३७
मगा ५२६	मही (महती) नदी ५१८
मङ्गलावती ५३२	माउण्ट घावु (जैन तीर्थ) ६०,
मङ्गोलिया ५१७	१४४, ३४४, ३४७, ३७३,
मणिक्कट पर्वत (मणिचूड) १६१,	५१५, ५३३
५१७	माण्डलिपत्तन ५३६
मणिपुर ५३०, ५३३	मानसरोवर ५१५, ५३२
मत्स्यदेश ५३६	मारवाड़ ५३५
मथुरा ३६२, ४६३, ५२५, ५३५,	मालदेश २७३
५३६	मालभूमि ५३७
मथुरा (उत्तरस्थ) ४६२	मालव/मालवा ५०३, ५१२, ५१८,
मथुरा (दक्षिणास्थ) ४६२	५२१, ५२३, ५३४, ५३७
मदुरा ५३५	मालवप्रान्त १०६ पा०
मद्रास ५३५	मालाबार ५२७, ५३४
मधुमत ५३६	मालदा ५२३
मधुरा ५३६	माहिष्मती (राजधानी) ५२६
मधुपट्न ५३६	माहेन्द्र पर्वत ५१५
मध्य एशिया ५१७, ५२६	मिथिला ५३६
मध्यदेश ५१२, ५१३, ५३६	मिहूरान ५२१
मध्यप्रदेश ५२७, ५२६	मुखपुर ५३६
मन्दिर ५३६	मुंगेर ५२४
मसकण्ड ५२६, ५३५	मुल्तान ५३४
मसवेश ५३२, ५३५	मुशिदाबाद ५२४
मलय (मलयालम) ५३४	मुषिक देश ५२१, ५३४
मलयखण्ड ५३४	मुलस्थान (मुल्तान) ५३७
मलयपर्वत ५१६	मेघपाटपाटन ५३६
मल्लपुरम् ५३३	मेदातटमण्डल १०६ पा०

भेराज जिला ५२५
 मेहसन १०६ पा०
 मंसूर ५२७
 मोंग्यार १२८, ५२७
 मौढेरक ५२६
 यमुना नदी २५६, ५१८, ५२६
 यमुनोत्री पर्वत ५१८
 यूरोप २६, ३८, ६६, ६६, १६०
 योगिनीपुर ५३६
 योषेय देश ५३६
 रणथम्भीर (राजधानी) ८१, १४३,
 १४४, ५३६
 रतलाम १०६ पा०
 रत्नपुर ५२३, ५३६
 रत्नसंचयपुर ५३६
 रत्नावती ५३६
 रघनपुर १०६ पा०
 राजगृह ५३६
 राजगृहपत्तन ५२७
 राजपिपला १०६ पा०
 राजपुर ५३०
 राजपुरी ५३२
 राजपूताना ५३५
 राजमहेन्दी ५३०
 राजस्थान ४६, ५०, ८४, १०६,
 ११८, १४४, २०६, ३२३,
 ४२५, ४३५, ४८४, ४८६,
 ४८६, ५००, ५०१, ५१६,
 ५३६
 राप्ती नदी ५१६
 रामपुर राजौरी ५२६
 रावलपिण्डी ५२८

रावी नदी ५३७
 रेवानवी ५२०, ५२१
 रंजतक पर्वत (उज्जयन्त) ५१४
 रोम २३०
 रोहिल खण्ड क्षेत्र ५२६
 रोप्य गिरि (विन्ध्याचल) ५१५
 रलितपुर १५१, ५३६
 लङ्का ५३३, ५३६
 लखणप्रसाद ६०
 लाट देश ५१६, ५३०, ५३५
 लाटमण्डल १०६ पा०
 लूणसाक नगर ५३६
 लोह नगर २५६
 लोम ५३६
 लोहार ५३२
 लक्ष्मणपुर ५३६
 वंक्षु (घाक्सत) नदी ५२६
 वत्स देश ५१५, ५२६
 वरदखेट २५६
 वरदा नदी ५२२
 वर्धनपुर ५३६
 वलनपत्तन ५३६
 बलमी (राजधानी) २५१, ३२८,
 ५३३, ५३६
 बहक मट्टाई ३४५
 बाटानुप्रस्थ ५३६
 बारानसी ५३२, ५३६
 बाराहक ५३६
 बागिल ५३६
 बागिष्ठायिनी ५३६
 बास्त ५३६
 बाझीक (बाहीक) ५२६

विजय नगर ५२८
 विजयाश्वपर्वत ५१७
 वितस्ता ५३२
 विदर्भ ५२२, ५२७
 विविक्षा ५३६
 विवेह क्षेत्र ५१२, ५२०, ५२८
 विनीता ५३६
 विन्ध्यपुर ५३६
 विन्ध्याचल पर्वत ५१४-५१६,
 ५१६, ५२३, ५२६
 विपुलपुर ५३६
 विमलगिरि ५१४
 विष्णु कांची ३२२
 वृजि ५१२
 वेप्रवती नदी ५२६
 वेलात्रि (पर्वत) ५१७
 वंतराणी नदी ५३०
 वैद्यनाथ ३४५, ३४७
 शकवेश ५२६, ५३०
 शकद्वीप ५२०, ५३०
 शक्तिमत (शुक्तिमान्) पर्वत ५१६
 शंखोद्धा तीर्थ ३७३
 शत्रुञ्जय पर्वत (जैन तीर्थ) ३४२-
 ३४५, ३४७, ३७३, ५५४
 शाकम्भारी (शाकम्भरी) १४३,
 ५३५
 शाक्य ५३६
 शाण्डिक्य ५३६
 शारावती नदी ५२१
 शास्त्रातुरीय ५३६
 शात्वपर्वत ५१६
 शिखावल ५३६

शिव कांची ३२२
 शीतोदा नदी ५२२
 शूरसेन वेश ५१२, ५२५, ५३६
 शालग्राम पर्वत ५१६
 शोण (स्वर्णवती) नदी ५२१
 शोणितपुर ५३६
 शौर्य पुरी ५३६
 श्रवणबेलगोला ५४
 श्रावस्ती ५३६
 श्री आश्रम पत्तन ५३६
 श्रीकण्ठ देश ५२४
 श्रीनगर ५२५
 श्रीपर्वत तीर्थ ३७३, ३७५, ५१८
 श्रीपुर ५३६
 श्रीरङ्गम् ५२८
 श्रीविशाल ५३६
 श्रीशैल पर्वत ३४४, ५१८
 स्वध्रुवती नदी ५२२
 स्वेतपत्रा ५३६
 स्वेतविका ५३६
 सङ्गमखेटक २५६
 सतपूडा (पर्वतश्रेणी) ५१८
 सत्यपुर ३४६
 सत्यपुरमण्डल १०६ पा०
 सन्तुङ्गा २५६
 सन्तल परगना ५२४
 सपावलक्षदेश ५३५
 समतट (पूर्वी बंगाल) ५२५
 समुद्रिपुरी ४८६, ५३६
 सम्भारदेश ५३५
 सम्भेबाबल (पर्वत) ५१७
 सरयू नदी ५१८, ५२४

सरस्वती नदी ५१६, ५३६
 सहारनपुर २५६
 सहोपन्य ५३१
 सह्यपर्वत ५१५
 साकेत ५३६
 साचोर (सत्यपुर) ३४६
 साबरमती ५२२
 सारस्वतमण्डल १०६ पा०
 सारावती तीर्थ ३७३
 सिहपुर ५३६
 सिंहल देश ५३३
 सिंहल द्वीप ५१३
 सिद्धपुर ५३६
 सिद्धेश्वरतीर्थ ३७३
 सिन्धभूम ५२७
 सिन्धु (सिन्ध) ५१२, ५२८
 सिन्धु नदी ५२१, ५२५, ५३७
 सिन्धु प्रान्त ५३७
 सिन्धु नदी ५२१
 सियालकोट ५३२
 सीता नदी ५२०, ५२६
 सुगन्धि ५३२
 सुघ्न देश २६७, ५३६
 सुमेरु पर्वत (नेरु) ३५३, ५१०,
 ५११, ५१६, ५१७, ५२६
 सुरमा देश ५३३
 सुवर्णबलयपुर ५३६
 सुवर्णसिक्ता ५१४
 सुसीमा ५३६
 सुह्य ५३६

सूरत १०६ पा० ५१४, ५१८,
 ५३०
 सोन नदी ५२६
 सोपारा (निगम) २८६
 सोमनाथ तीर्थ ३३६, ४०४
 सोमनाथपुर ५३६
 सौराष्ट्र १०६ पा० २३०, २६७,
 ३४७, ५३३, ५३७
 सौराष्ट्रमण्डल १०६ पा०
 सौवीर ५१२, ५३७
 स्तम्भ तीर्थ (जैन तीर्थ) ३४३,
 ३४४, ३४६, ३७३, ५३६
 स्वर्णपर्वत (अल्तेन-उल) ५१७
 स्वास्तिमती ५३६
 स्वामिगृह/सामिगृह तीर्थ ३७३,
 ७४
 हजारी बाग १३६, ५२४
 हरिद्वार ५१६, ५१८
 हरि पर्वत ५२५
 हरियाणा देश (हरियाणा) ५३७
 हस्तिनापुर ५२८, ५३७, ५३६
 हिन्दूकुशपर्वत ५२६
 हिन्दूवाट ५३६
 हिमालय पर्वत (हिमवान्/हिमवत्)
 ५१०, ५११, ५१५, ५१७-
 ५१६, ५२८, ५३६
 हिरण्यवाह नदी ५२१
 हृष्यदेश ५३२
 हेम क्षुति ५३६
 हैदराबाद ५२७

विषयानुक्रमणिका

अकर्ता (जीव) ३६५	अङ्गुरक्षक १२२, १५६
अकारु शूद्र २०७	अचक्षुर्ग्राह्य ३८८
अकालमृत्यु ३६३	अचेतन (प्रकृति) ३६५, ३६६
अकषाय जीव २८६	अजीव (तत्त्व) ३८२-३८६, ३८६,
अकाम निर्जरा ३६१	४०२
अक्षरस्वीकरण संस्कार ४११	जीव का प्रतिपक्षी, ३८६,
अक्षरारम्भ संस्कार ४१०	उपयोगमयता से रहित ३८६,
अग्नि (देव) १४४, १७६, ३१६,	इसकी जीवविरोधी प्रवृत्तियाँ
३२७, ३६३, ३७०, ३७१,	३८६, इसके पांच भेद—धर्म,
३६६, ४००	अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल
अग्निजीविका (व्यवसाय) २३६	तथा अणु ३८६
अग्निधारण विधि १८२	अजीव के पांच भेद ३८६
अग्निप्रवेश ४७५, ४७६, ४८३,	अणु ३८६, ३८७
४८४	अट्टाल/अट्टालक २४६, २५०,
अग्निप्रवेश का विरोध ४८४	२५१
अग्निष्टोम यज्ञ ३६८, ४२६	अट्टालिका २५०
अग्निहोत्रादि कर्म ४६४	अणिमादि घाट गुण ३५४
अग्निहोत्री २०४	अतिचार २३८
अग्न्यागार २४८	अतिथिसत्कार ३२६, ३२८
अग्रशिष्य प्रणाली ४१३, ४१४	अतिदुःखमा (काल) ३५६, ३५७
अग्रहार ग्राम १३८, १६७, २०१,	अदृष्ट प्रयोजन (काव्य) १६
२४४, २८८, २८९, ४०६,	अद्वैतवाद ३७६
४२०	अधर्म ३८३, ३८६, ३८८, ३८९
ब्राह्मण वर्ग का निवास २८६;	अधिराज ८३
शिक्षा के केन्द्र २८६, ४०६,	अध्यापक २३६, ४१२
४२०	अध्यापन (व्यवसाय) २०२, २३६
	अध्यापन शैली ४१३

अनन्तकाय ३३१
 अनर्थकारी अर्थ ६७
 अनर्थकारी अनर्थ ६७
 अनवस्था दोष ४०३
 अनागारधर्म १४, ३२४-३२६, ३५६,
 ३६०, ४७०
 अनाज वितरण केन्द्र २४५, २५५,
 ३११
 अनार्य देश ५११
 अनार्य संस्कृति २५
 अनिवृत्तिकरण ३६२
 अनिश्चयात्मक ज्ञान ३७८
 अनुप्रेक्षा ३६०
 अनुबन्धानात्मक प्रेमविवाह ४६२,
 ४६३
 अनुभावबन्ध ३६०
 अनुमहत्तर १२६
 अनुमान प्रमाण ३६६
 अनुयोग (आठ) ३६३
 अनुलोम विवाह ४८५
 अनेकक्षेत्रावगाही ३८८
 अनेकच्छत्रराज्य ७८
 अनेकान्तवाद ३२०, ३७६-३७६

इसमें विविध मतों का समन्वय
 ३७६; इसकी तर्कवैज्ञानिक
 प्रणाली का विकास ३७६;
 जटासिंह नन्दि की अवधारणा
 ३७६-३७८; प्रमाणव्यवस्था
 युग की ओर विकास ३७७;
 इसके द्वारा विरोधी मतों का
 खण्डन ३८७, इस पर विरोधी
 दार्शनिकों का प्रहार ३७८-
 ३७९

अनेकान्तवाद का खण्डन ३७०,
 ३७१
 अनेकान्तवाद की तर्कप्रणाली ३७६,
 ३७७, ४०३
 अनेकान्तवाद पर प्रहार ३७८
 अनेकान्तव्यवस्थायुग ३७५, ४०५
 अनोजीविका (व्यवसाय) २३८
 अन्तःपुर ८१, १२१, १२२, १२४,
 १५६
 अन्तःपुर का रक्षक १३३
 अन्तराय ३६०
 अन्त्येष्टि १३
 अन्नभण्डार ११६
 अन्योन्याश्रय दोष ३६७
 अन्वयव्यतिरेक बुद्धि ४१७
 अपराध १३, १००, १०७
 अपराधपुष्टि १०८
 अपराधवृत्ति १०३, १०५
 अपराधी १०३
 अपराधकुल ११४, १५७, १५८, ४५३
 ४५४
 अपहरण विवाह ४८६, ४६३,
 ४६४
 अपहरण विवाह और युद्ध ४६४
 अपाणिनीय प्रयोग १३४
 अपूर्वकरण ३६२
 अप्रमत्त संबन्ध ३७२
 अप्रमाणभूत ज्ञान ३७८
 अप्सरा १०६, ३३०, ३५५
 अभव्य (शास्त्र प्रकार के) ३३१
 अभव्य शीव ३८५

अभिलेख/मुद्राभिलेख/दानपत्र :—

अमरावती स्तूप अभिलेख २७३;
अशोक के शिलालेख २६८;
ऐहोल शिलालेख ३२२; कर-
गुदरि शिलालेख ११६; किराडू
शिलालेख ११५; कुषाणकालीन
मुद्राभिलेख २७४; खलीमपुर
दानपत्र १२६; गिरनार [शिला-
लेख ३४६; गुप्त अभिलेख,
१२८; गुप्त-मुद्राभिलेख २७४,
२७५; गुप्तदानपत्र १२८;
जाजलदेव का रत्नपुर अभि-
लेख ५२३; जूनागढ़ शिलालेख
२५७; ५१४; दक्षिण भारत के
शिलालेख २८६; नालन्दा दानपत्र
१२८; नासिक प्रशस्ति २५८;
नासिक शिलालेख २७४, ५१५;
पत्तन अभिलेख २५६; पालवंश
के दानपत्र १२८, १३२;
बनारस दानपत्र १२८; बसाई
दानपत्र १२८; बसाड़ के
मुद्राभिलेख २६४, २६५;
बिजोल्या शिलालेख १४२; भट्टि-
प्रोलु शिलालेख २७२; भीटा
मुद्राभिलेख २७२, २७४; मल्क-
पुरम् अभिलेख ५३३; माउण्ट-
आबू प्रशस्ति ३४४; मोग्यार
दानपत्र १२८; रुद्रदामन् शिला
लेख २६८, २६९ २७४;
वसिष्ठिपुत्र-अभिलेख १३६;
विक्रमादित्य के शिलालेख १४४
सन्खेडा दानपत्र २६५; हर्षनाथ
का शिलालेख १४२

अभिवेकशाला (मन्दिर) ३३४,
३४१

अभौतिक संस्कृति १०

अमात्य (पद) २२, ७०, ७२, १०६,
११०, ११२ पा० १४५, १५०,
१५६, १५८

अमारि ३३०

अमुक्त वर्ग के प्रायुष १६८, १७४,
१७५, १७८

अयोगकेवली ३६२

अरिहन्त (पद) ३६०

अर्थ १६, ३२, ६५, ८८, ६३

अर्थप्रधान राजनीति ६८

अर्थबाधक अर्थ ६७

अर्थव्यवस्था २१, ३१, १२५, १२७,
१३७, १४१, १८६-२०२,
२०६, २३६, २४०

का संस्थागत स्वरूप, १८६,
आर्थिक संस्था तथा भारतीय
आर्थिक विचारक १६०-१६१,
सम्पत्ति उपभोग तथा जैन
नवनिधियां १६२, मध्यकालीन
अर्थव्यवस्था का स्वरूप १६४-
१६५, मध्यकालीन अर्थचेतना
१६७, भूस्वामित्व का
हस्तान्तरण तथा विकेन्द्रीकरण
१६७-१६६; सामन्ती ढांचा
१६०-२०१

अर्थसाधक अर्थ ६७

अर्थापत्ति प्रमाण ३६६, ३६७

अर्थचक्रवर्ती ८३, ८४

अर्थचण्डाकार शस्त्र १७६

अर्थमण्डलेस्वर ८३

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था १८६
 अलंकार १६, २३, २६, २८, ५८
 अलूपीय १०६
 अवकाश योगमुद्रा ३६५
 अवधिज्ञान ३८१
 अवधिज्ञानी ३५७
 अवलगक १२६, १३६, १३७
 अवलगन १३७
 अवसर्पिणीकाल ३५६
 अविद्याजनित संस्कार ३५६
 अविनाभाव सम्बन्ध ३६७
 अविपाक निर्जरा ३६३, ३६१
 अद्विरति ३६२, ३६०
 अवैदिक प्रयोग १३४
 अवैध सम्बन्ध १०६
 अव्यक्त प्रकृति ३६५
 अशुभ कर्म ३६५, ३६८
 अशुभ योग ३६३, ३८६
 अशोक साम्राज्य ५२८
 अश्व (रत्न) १६४
 अश्वचिकित्सा ४४५
 अश्वसेना ७२, १५४, १५६, १६२
 अश्वारोही १५६, १८५, १८६
 अष्टगुण ऐश्वर्य ३२६
 अष्टमी ३२७, ३४८, ३४६
 अष्टविध विवाह ४८५, ४८६
 अष्टाकपाल (पुरोडाश) ३६८
 असंख्यात आबलिकाएं ३५६
 असतीपोष (व्यवसाय) २३६
 असत् वस्तु ४०१
 असमाजिक व्यवहार १७
 असि-मसि-कृषि-शिक्षा ४२२

अस्तबल १६३
 अस्त्र १०७, १५४, १५८, १६४,
 १६६, १७५, १७६, १८०,
 १८८, १६४, २०६
 अस्त्र प्रक्षेपक यन्त्र १७६
 अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा ४१८
 अस्नानयोगव्रत ३६५
 अस्पर्शयोगमुद्रा ३६५
 अस्पृश्य शूद्र २०८
 अहिंसक समाज ६७
 अहिंसा ३२८, ३२६, ३५२
 अहिंसा सिद्धान्त १८६, ३१४, ४०५
 अहीर (गोप) १३०, २२१, २४३,
 २५५, २५६, २६४
 अहीर बालिका २१०
 अहीरों की बस्तियां २६४
 अहीरों के ग्राम १३०
 अहीरों के स्वामी १३०
 अहेतुवादी ३६५
 आकर २४२, २४३, २५२, २५७,
 २५८, २८०, २८१, ३६६
 परिभाषा २५७, नगर के रूप
 में २५८, खानों के निकटस्थ
 ग्राम, २५७ घातुओं के उत्पत्ति
 स्थान २५७
 आकर अवन्ति २५७
 आकाश ३८३, ३८६-३८६ सर्व-
 व्यापकता-अवगाहनता वैशिष्ट्य
 ३८६, अनश्वर स्वभाव ३८६
 आक्रमणात्मक आयुष १६६
 आखेट (शिकार) १८, १८६, ३३०
 आखेटक २२३

आख्यान ३६

आख्यायिका २७, ५६

आगम ग्रन्थ १२, २६

आगम प्रमाण ३६६, ३६७

आगमयुग का जैनदर्शन ३७५

आस्था प्रधान ३७५, उपदेश-

परक शैली से प्रतिपादन ३७५,

प्रकीर्ण एवं अव्यवस्थित ३७५,

पं० दलसुख मालवाणिया का

मन्तव्य ३७५

आगमाश्रित धर्म ३२१

आगर २४२, २८२

आगर धर्म ४७०

आग्नेयास्त्र १७६, १८१-१८४

इसके विषय में ऐतिहासिक

अवधारणा १८२; ओप्पर्ट का

मत १८२, कौटिल्य-अर्थशास्त्र

में इसके निर्माण की तीन

रासायनिक विधियाँ :—१

अग्निधारण विधि १८२, २.

क्षेप्यो अग्नियोग विधि १८२-

१८३, ३. विश्वासघाती विधि

१८३ महाभारत में ब्रह्मास्त्र

प्रयोग के बारे में सोवियत

विद्वान् गोरबोवस्की की धारणा

१८३

आग्नेयास्त्र-अवधारणा १८२-१८४

आग्नेयास्त्र सम्बन्धी आयुध १८२

आंगन (आयताकार) २४८

आङ्गिरस, (गोत्र) ३१७

आचार-शील ३२४, ३५२

आचार्य ३६०, ४१२

आत्मा ३६३, ३७६, ३८६-३६१,

३६५, ३६८, ३६६

आत्मा का निराकरण ३६८, ४००

आत्मोत्थान ३५६, ३६०

आत्रेय (गोत्र) ३१७

आर्थेन्टिक एपिक ३७

आदर्श गृहणी ४६४

आदर्शनगर—आनन्तपुर २५१, २५२

आदर्श राजा ८८, १६२

आदर्श शिष्य के गुण ४१४-४१६

आदान-निक्षेप ३६३

आन्तरिक वर्गणा ३८८

आन्ध्रसातवाहन २८६, २६१

आन्ध्रसातवाहन राज्यव्यवस्था २८६

आपण (दुकान) १६१, २२७, २७१,

३३१

आभिजात्य पुरुषवर्ग ४६७

आभिजात्य समाज मूल्य ४६४

आभीर २६४, ५२८

आभीर पत्निका २६४

आभूषण १०२, १६२-१६३, २२६,

३०१-३१२, ४७२

सम्पत्ति उपभोग के प्रतीक १६२,

पिगलनिधि में समाविष्ट १६३,

स्त्रियों के आभूषण, ३०१,

३०४, ३०८, बच्चों के आभूषण

३०२, ३०६, आभूषणों की

संख्या ३०२, ३१२, सिर के

आभूषण ३०३-३०४, कर्णा-

भूषण ३०४, ३०५, कण्ठाभूषण

३०५-३०७, कराभूषण ३०७,

३०६, कटिप्रदेश के आभूषण

३०६, पादाभूषण ३१०, स्वर्णा-
भूषण ३०२, ३०३, ३१२,
रजताभूषण ३०२, ३१२,
मुक्ताभूषण ३०२, ३०५, ३०७
मणि-आभूषण ३०२, ३१०,
३३७ रत्नाभूषण ३०२-३०३,
३०८, ३३७, माणिक्याभूषण
३१० शंखाभूषण ३०३, ३०८
शृङ्गाभूषण ३०८, पुष्पाभूषण
३०२, ३०५, पल्लवाभूषण
३०५ औषधिमूल से निर्मित
आभूषण ३०६

आभूषण संज्ञा :—

अङ्गद (बाजूबन्द) ३०२, ३०७,
पावों का अङ्गद ३१०

अवतंस (कर्णाभरण) ३०५

उरुजाल (मेखला) ३१०

एकावली ३०६, ३०७

कंकण (हस्ताभूषण) ३०८,

मणिकङ्कण, ३०८ रत्न

कंकण ३०८

कटक (कड़ा) ३०२, ३०८

कटिसूत्र (कमरबन्द) ३०६

कण्ठहार ३०७

कण्ठिका (माला) ३०६, तीन

लङ्घियों वाली कण्ठिका ३०६,

रत्न-निर्मित कण्ठिका ३०६

कर्णपूर (कनफूल) ३०४, मणि-

कर्णपूर ३०४; पुष्प-कर्णपूर

३०४

कर्णमुद्रिका ३०५

कर्णावतंस (कनफूल) ३०४

कर्णिका (कान की बालियाँ)

३०४, ३०५

कांची (मेखला) ३०६

कांचिका ३०६

किरीट (मस्तकाभरण) ३०२-
३०३

किरीटी ३०३, मणि-स्वर्ण
निर्मित ३०३

कुण्डल १०३, ३०२, ३०४

मणिकुण्डल ३०२, ३०४,

मकराकृति कुण्डल ३०४

केयूर ३०७, ३०८

चन्द्रहार १६३

निष्क कण्ठाभूषण ३०६

नूपुर (पायल) ३१०, ३५५

कल-नूपुर ३१० भास्वतकल-

नूपुर ३१०, मणिनूपुर ३१०,

माणिक्य नूपुर ३१०, शिजित

नूपुर ३१०

पट्ट (मस्तकाभूषण) ३०४,

स्वर्ण-निर्मित पट्ट ३०४,

त्रिशिखा पट्ट ३०४, पंच-

विध पट्ट—राज पट्ट,

पट्ट ३०४

महिषीपट्ट, युवराजपट्ट

सेनापतिपट्ट तथा प्रसाद

प्रलम्बसूत्र (माला) ३०७

पादवेष्टक (पादाभूषण) ३१०

मणिमेखला १६३

मस्तकाभरण (सीसफूल) ३०३

माला (हार) ३०५, ३०६,

३४२ इकहरी माला, ३०६

भोतियों की माला ३०६,

३४२, मणि माला ३०५

जूड़े की माला ३०४, रत्नों

कौ माला ३४२ मूंगे की
 माला ३४२
 मुकुट ३०३, रत्नमणिजटित
 मुकुट ३३७
 मुक्तावली ३०७, केशबन्ध
 मुक्तावलि ३०४
 मुद्रिका (अंगूठी) ३०५, ३०६
 मणि मुद्रिका ३०६
 मेखला (नीवीबन्ध) १६३,
 ३०६, मणिमेखला १६३
 मोक्तिक दाम (माला) ३०६
 यष्टि (हार) ३०५, २०६,
 हारयष्टि ३०६, ग्यारह
 प्रकार के भेद ३०५
 रत्नावली ३७७
 रसना (कटिप्रदेशाभूषण) ३०२,
 ३०६, ३१०
 वत्सदाम (माला) ३०७, श्रीवत्स
 मणि युक्त ३०७
 वलय (कलाई का आभूषण)
 ३०३, ३०८, शंखवलय ३०८,
 सौंगों से निर्मित वलय ३०८
 शिखाबन्ध ३०३
 शीर्षफल (सीसफूल) ३०३
 शेखर (जूड़े की माला) ३०४
 हार १६३, ३०५, ३७७,
 मुक्ताहार ३०५, मणिहार
 ३०५, रत्नहार ३०५, चन्द्र-
 हार १६३, हारों के ५५
 प्रकार ३०५ हारयष्टि
 (इकहरी माला) ३०६
 हारलता ३०५, ३०६,
 मोक्तिक हारलता ३०५
 हारलतिका (छोटी माला) ३०६

आयन (काल खण्ड) ३५६
 आयात-निर्यात २२४, २६१
 आयु (बन्ध) ३६०
 आयुष १५७, १६३, १६७,
 १६८-१८४, १६४, २०६, २२६,
 २३७, ३२७

आयुष संज्ञा :—

अग्निबाण १७१
 अंकुश १६८, २२३
 अधोमुख (बाण) १७०
 अमोघ (बाण) १७०
 अगला १८०
 अर्धचन्द्र (बाण) १७१
 असि १७५, ४३७
 असिधेनु १७४
 असिपुत्रिका १७५
 आरा १७६
 आस्तर १७४
 ईलो १७४, १७६
 उद्यमास्त्र १८१
 ऊर्ध्वमुख (बाण) १७०
 ऋष्टि १६८
 एटमवम १८२, १८३
 कटारी १७५
 कणाय १६६, १८६, ४३७
 कम्पन १६६, ४३७
 करपत्र १६६
 कर्तारि १६६
 कवच १६४, १८०, ३२३
 काण्ड (बाण) १७१
 कुदाल १६६
 कुम्त १६६, १७४, १७६, ४३७

कुलिश १७६
कुल्हाड़ी १७६
कुश (आयुध) १७४
कृपाण १६८, १७५
क्षपण १७४
क्षुरप्र (बाण) १७१
क्षुरि/छुरी १७५, ४३७
क्षुरिका १६६, १७५
खड्ग १६८, १६६, १७५,
१७६, १७७, ३७०, ४३७
तीक्ष्णधर्मा १७५, विजय
१७५ विशसन १७५
गदा १६६, १७४, १७७, १७६,
३७०, ४३७
गरुडास्त्र १८१
गुलिका १६६
गोफनि/गोफणि १६६, ४३७
गोलक/गोला १७४, १७६,
१८४
घन १६६
चक्र १६६, १७३, १६४, ३७०,
चार आरों वाला १७३, छह
आरों वाला १७३, आठ
आरों वाला १७३
चक्रयुष्मास्त्र १८१
चाप (धनुष) १७०, ४३६
टंक १७६
टंक १५५
डचकूस १६६
डाह १६६
डाल १८०, ४३७
सन्द्रास्त्र १८१

तरवारी १६६
तलवार ७२, १३६, १६७,
१७५, १७६, २३७, ४३७
तापनास्त्र १८१
तामसास्त्र १८०
ताल (धनुष) १७०
तिमिरास्त्र १८०
तूणीर १६८, १८०
तोप १७८, १८२, १८४
तोमर १३६, १६६, १७२,
३७० उत्तम तोमर, १७२,
मध्यम तोमर १७२, काष्ठ-
दण्ड युक्त तोमर १७२,
कुन्तसदृश तोमर १७२
त्रिपुरान्तकास्त्र १८१
त्रिशूल १६६, १७२, १७७,
१७८, ३७०, ४३७
दण्ड/डण्डा १६६, १७३, १७४,
२२३, ३२७, ४३७
दण्डसार १७७
दन्तकण्टक १६६
दल्मि १७६
दारव (धनुष) १७०
दुरासद (खड्ग) १७५
डुफोट १३६, ४३७
द्रुघणा १६६
धनुष १६६, १६८, १६६, १७०
२३६, ३७०, ४३६, ४३७
धर्मपाल (खड्ग) १७५
नलिका १६६
नाराच (बाण) १७०
निस्त्रिश (खड्ग) १७५

पट्टिश १६६, १७४, १७७, ४३७	भैरव यंत्र १७६, १८४
परशु १६८, १६६, १७४, १७६, ४३७	मयूखी १७५
परिघ १७५, १७७, १८०	महा असि १७५
पर्वतास्त्र १८१	मुद्गर १६६, १७४, १७७, १६४
पवननाशनास्त्र १८१	मुसल १६६, १७४, ४३७
पवनास्त्र १८१	मुष्टि १६६
पाश १६६, १७२, १७३, १६४	मेघास्त्र १८१
पिनाक १७४	मौष्टिक १७४
प्रद्योतनास्त्र १८१	यष्टि १७४, १७६, १७८, ४३७
प्रास १७४, १७६	रिष्टि १६६
फलक (ढाल) ४३७	लगुड १६६, १७२
बन्दूक १८३, १८४	लवित्र १७४
बम १८३	लुण्ठि १६६
बाण १६६, १६८, १७०, १८०, १६४, २३७, सुचीमुख १७१, ऊर्ध्वमुखबाण १७०, वत्सदन्तबाण १७१, शिली- मुखबाण १७०, शलाका १७०	लोह कण्टक १७८
बारूद के गोले १८४, १८८	लोह गोलक १७४
बृहदाकार यन्त्र १७६	लोह दण्ड १७४
बृहद् साङ्कु १७७	लोह वृत्त १७४
ब्रह्मास्त्र १८३	लोह शंकु १७७
भल्ली १६६	लोह शीर्ष (प्रास) १७६
भाला १७६	वज्र १६८, १६६, १७४, १७५, १७६, १७६, २२८, ३७०, ३७१
भिन्दिपाल/भिण्डिवाल १६६, १७०, १७२, ४३७	वज्रास्त्र १८१
भुजगास्त्र १८१	वत्सदन्त (बाण) १७१
भुशुण्डी/भुसुन्डी १६६, १७३, ४३७	वह्निगोलक/अग्नि गोला १६५, १७४, १८४, १८८
	वायव्यास्त्र १८१
	विघ्नविनायकास्त्र १८१
	विजय (खड्ग) १७५
	विघ्नतुदास्त्र १८१

विशसन (खड्ग) १७५
 शक्ति (शस्त्र) १६६, १७०,
 १६४, ३७०, ४३७
 शङ्कु १६६, १७७, १७८, १७९
 ४३७
 शतघ्नी १६८, १७५, १७८,
 १८२
 श्वर १७०
 शर्वला ४३७
 शलाका (बाण) १७०
 शल्य १७६, ४३७
 शस्त्री १७५
 शान १८०
 शाङ्ग (घनुष) १७०
 शिरत्र १८०
 शिलीमुख (बाण) १७०
 शूल १७७, १७८, ४३७
 श्रीगर्भ (खड्ग) १७५
 संनाह १८०
 सहस्रकोटी १७६
 सिद्धघस्त्र १८१
 सीर १७४
 सीसगुलिका १७२
 सुचीमुख (बाण) १७१
 सूर्मो १८२
 स्तम्भपरक १७६
 स्थूण १७४
 हल १६६, १७६, ४३७
 आयुष्यगति :—
 अग्नि वर्षण १८३
 अवधीन १७६
 उद्धीन १७६

उत्थान १७२
 उद्धान १७२
 कर्तन १७२, १७३
 क्षेपण १७२
 ग्रथन १७३
 घूर्णन १७३
 चालन १७६
 छेदन १७६
 ताडन १०३
 तिर्यग्लीन १७६
 तोलन १७१
 दलन १७३
 घूनन १७६
 घूमाच्छादन १८३
 नापन १७१
 निखात १७६
 निग्रह १७६
 निडीन १७६
 निद्रा प्रसार १८३
 पतन १७२
 पातन १७६, १७७
 पेषण १७२
 पोषन १७२, १७६
 प्रग्रह १७६
 प्रसारण १७२
 बन्धन १०३
 भेदन १७१, १७६
 भूमिलीन १७६
 भ्रामण १७१, १७३, १७७
 मोचन १७१
 वल्गन १७१
 वेधन १७२

वेष्टन १७२

समुदीर्ण १७६

सम्पात १७६

आयुष निर्माण (व्यवसाय)

२३७

आयुषविभाग १५४, १६८-१८४,

कौटिल्यानुसारी आठ विभाग

१६८, पुराणानुसारी पाँच

विभाग १६८, वैशम्पायनकृत

चार विभाग १६८, जैन

महाकाव्यानुसारी छत्तीस प्रकार

१६९, दो मुख्य विभाग—

आक्रमणात्मक आयुष तथा

सुरक्षात्मक आयुष १६९, स्व-

रूपगत विभागः—खड्ग-सदृश

आयुष १७५, गदा-सदृश आयुष

१७८, चक्र-सदृश आयुष १७७,

ज्वलनशील आयुष १८२, दण्ड-

सदृश आयुष १७४, दुर्गभेदक

आयुष १७४, प्रक्षेपणात्मक

आयुष १७४, बम-सदृश आयुष

१८३, बाण-सदृश आयुष

१६८, १७०, १७२

मुद्गर-सदृश आयुष १७८,

मन्त्रमुक्त आयुष १७९, शंकु-

सदृश आयुष १७९, स्थिरयंत्र

आयुष १६८, हलमुख आयुष

१६८, १७९

आयुषागार २५२

आयुषागारिक (पद) ११०, ११५

आयुर्वेद के आठ अङ्ग ४४५ :—

शल्यतंत्र, शालाक्य, काय-

चिकित्सा, भूतविद्या, कौमार-

भृत्य, अगद तंत्र, रसायन तंत्र,

वाजीकरण तंत्र ४४५

आयुर्वेदीय शैशुकन्द ४४५

आरण्यक (ग्रन्थ) २५

आधिक उत्पादन १९०, १९१, १९४,

१९५, २०२, २०९, २१५

आधिक उपभोग १९१-१९४, ३२७

उपभोग प्रवृत्ति १९२, उपभोग

मूल्य १९३-१९४ उपभोग-

वस्तुएं ३२७

आधिक विचार १९१

आधिक विचारक १९०

आधिक संस्था ८, १८९, १९०

आर्यदेश ५११, ५१२

सोलह आर्य देश ५१२, साढ़े

पच्चीस आर्य देश ५११

आर्य संस्कृति २५

आयिका/साठवी ३२६, ३६६, ४७०

४७१

आयिकाओं की धार्मिक शिक्षा ३६६

आयिका दीक्षा ३६७

आयिका प्रधान ३६६

आयिका संध ३६६

आवलिका (काल खण्ड) ३५६,

३८६

आवश्यक (छह) ३६३

आवास व्यवस्था २४२, २३२, ३१०

३११

आवासीय संस्थिति २४२, २४३,

२५२, २५९, २८२, ३६६

- आगम ग्रन्थों में २४२, २४३,
जैन संस्कृत महाकाव्यों में २४३,
तीन प्रमुख आवास चेतनाएं
२४३, बारह प्रकार के भेद
२४४-२६४, आवासीय संस्थिति
के रूप में निगम २५३-२५६,
२६४-२६१, द्रष्टव्य—आकर,
कवट, खेट, ग्राम, घोष, द्रोण-
मुख, नगर, निगम, पत्तन,
मडम्ब, राजधानी, सम्बाध
आश्रम (शिक्षा केन्द्र) २५१, ४१६-
४२०
आश्रव (तत्त्व) ३८४, ३८६, ३६०
परिभाषा ३८६, कार्माण वर्ग-
णाश्रों का आत्मा में संसूचन,
३८६, 'पुण्याश्रव' तथा 'पापा-
श्रव' ३८६, आश्रव के स्वामी
३८६, यह संसार का मूल
कारण ३८६
आषाढ ३४८, ३४६
आसन ७५, १५०, १६२
आसम २४२, २८०
आस्तिक दर्शन ३७६, ३८०, ३६२
आस्थाप्रधान दर्शन ३७५
आहत योद्धा १६७
आहार चार प्रकार के ३२८
इक्षुयन्त्र २१२, २५४, ३८६
इन्द्र (देव) ३१, ३७, ३१६, ३७०
३७१
इन्द्रिय सन्निकर्ष ३८१
इमिटेटिव एपिक ३७
ईम्पोर्टिंग एण्ड एक्सपोर्टिंग २६१
इहलौकिक सुख ४०२
ईख उत्पादन २१२
एक स्वतंत्र व्यवसाय २१२,
वनो-उद्यानों में ईख उत्पादन
२१२, लाल ईख की विशेष
पंदावार ईख का नगरों में
आयात २१२ इक्षु यंत्रों द्वारा
गुड़ उत्पादन २१२
ईखों के वन २१२
ईश्वर (तत्त्व) ६६, ३१४, ३६८
ईश्वर (वाद) ३७६, ३८०
उच्च विद्या २०२
उत्तम (पद) १३२, १३३
उत्तराधिकार ८८, ६१, ६५, १०७,
१४६
उत्तरायण ३५६
उत्तरी भारत ६६, ३४४
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ३८०, ३८२,
३८४, ३८५
उत्सर्ग ३६३
उत्सर्पिणीकाल ३५६, ३५७
उत्सव-महोत्सव १६६, २००, २४६,
३१४
उत्साह (शक्ति) ७३, ७४, १५०
उद्दण्ड राजा १५१, १५२
उद्यान ३२, ३३, १२१, २१२-२१५,
२३८, २५६, ३४१, ३६४
उद्यानपाल (बनारक्षी) १२१, २१४,
२३३ पा० २३४
उद्यान (व्यवसाय) २१३-२१५
सामाजिक उपादेयता २१४,
धार्मिक प्रवचन स्थल २१४,

- सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र २१४, प्रेमियों के संकेत स्थल २१४, इनका राजकीय संरक्षण २१४, इनका व्यक्तिगत स्वामित्व २१४, उद्यानों में वृक्षारोपण २१४, २१५, इनके द्वारा आर्थिक उत्पादन २१५, द्रष्टव्य 'वृक्ष उद्योग' उद्योग १८६, १९०. २०२-२०४, २०६, २१५, २२१, २३२, २४०
- उन्मादिका शक्ति ३६६
- उपकरणात्मक आयुध १८०
- उपकर्म (निर्जरा) ३६३
- उपक्रम विधि ४१६
- उपदेश विधि ४१६
- उपदेश श्रवण २१४, ३२५, ३६१, ३६२, ३६६
- उपनयन संस्कार ४०६-४११, ४६४
- इसकी आयु सीमा ४१०, वैदिक शिक्षार्थियों के लिए इसकी उपादेयता ४११, जैन-बौद्ध परिवारों में इसकी उपेक्षा ४११
- उपनिषद् १२, २५, ३४, ४२०
- उपमान प्रमाण ३६६, ३६७
- उपमेय-उपमान भाव ४६८
- उपयोगमयता ३८४
- उपयोगी ललित कलाएं ४२३
- उपवास ३२८, ३३२, ३४८, ३५२, ३६५
- उपविद्या ६४, ४२१, ४२३, ४२४
- उपशान्तकथाय ३६२
- उपाध्याय (पद) ३६०, ४१२
- उपाय (राजनैतिक) ७५-७८, ८२, १५०
- उपाश्रय ३४५, ३४६
- उबालकर पानी पीना ३३१
- उमा ३७१
- उमापतिवरलब्ध ८५
- उर्वीपति ८३
- ऊर्ध्वगामी ३८४, ३६२
- ऊंट विभाग १५४
- ऊंट सेना १५६
- ऋग्यनादि गणपाठ २७१
- ऋजुसूत्रनय ३७६, ३८२
- ऋतु (काल खण्ड) ३५६, ३८६
- ऋतु वर्णन ३३, ५५, ५८, ५९, ६०, ६२, ६४
- एकक्षेत्रावगाही ३८८
- एकच्छत्र राज्य ७८
- एक पत्नीव्रत ४६०
- एकल्लवीरा देवी ३३६-३३९, ४०४
- एकल्लवीरा देवी की पूजा ३३६, ४०४
- एकान्तिक नय ३७६
- एपिक भॉफ़ मार्टे ३७
- एपिक भॉफ़ ग्रोय ३७
- एवंभूत नय ३८२
- ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति ५
- ऐन्द्रिक संस्कृति ८, ९
- श्रीदयंत्रिक (पनचक्की वाले) २३२
- पा०
- श्रीदारिक शरीर ३८८

औपनिषदिक समाज २५
 औषधालय २५२, ३४५
 औषधालय निर्माण ३४५
 औषधि ३२३, ३२६
 कक्षा ४१३, ४१६
 कक्षा में छात्र ४१६
 कंचुकबी (दर्जी) २३४
 कंचुकी १२१
 कटाह (कड़ाहा) १८०
 कटारपिङ्गकथानक १३२
 कणज (घान्यपात्र) १०५
 कण्टकयुक्त आयुध १७८
 कण्ठस्थविधि ४१४, ४१८
 कथा २७, ५६
 कदम्ब शासनव्यवस्था १०६
 कन्द (हलवाई) २३४
 कन्वी १४१
 कब्बड २४२, २८०
 कमठ १०६-१०८
 कर छाठारह प्रकार के १४२, २४४
 कर प्राप्ति स्थान ३३२
 कर वापसी ३३२
 करण (पांच) ३६३
 करद-कुटुम्बी १४२
 कर्णधार (नाविक) २३३ पा० २३४
 कर्त्ता-३८६, ३६४
 कर्त्ता-भोक्ता ३८३, ३८४, ३८६
 कर्तृत्ववान् ३८६
 कर्नाटक/कन्नड भाषा १०५, २५५, ३२२
 कर्म १६०, ३८४, ३८६
 छाठ प्रकार के ३८६
 कर्मकाण्ड (अथर्वसाय) २३६

कर्मकार (मजदूर) १३५, १६६, २४६, २५७
 कर्मक्षय ३६१, ३६२
 कर्मचारी (सेवक) २०४, ३२७
 कर्मफल ३१७, ३६३, ३६१
 कर्मबन्ध ३६५, ३६२
 कर्मबन्ध का अभाव ३६५
 कर्मबन्ध के पांच कारण ३६० :—
 मिथ्यादर्शन, प्रमाद, योग, अविरति, तथा कषाय ३६०
 कर्मभूमि ३५७, ३५८
 कर्मयोग्य पुद्गल ३६०
 कर्मवाद ३७६
 कर्मविपाक ३६०
 कर्मसिद्धान्त २२, ४३, ३६६
 कर्मगमन द्वारा २८६
 कर्माश्रय द्वार ३६०
 कर्मोपदेश ३६१
 कर्बट २४२, २४३, २६२, २८०, २८४
 छाठ सौ ग्रामों का आधा भाग २८४, प्राकारों तथा पर्वतों से वेष्टित २६२, इसके तीन भेद, २६२
 कर्बुटिक २६२, २८४
 कर्बट का आधा भाग २८४
 कर्षक १३७
 कलम (धान की पौध) २११
 कलम्बी १४१
 कलश (पूजा द्रव्य) ३३३, ३३४, ३६६, ३३७
 सोने-चांदी के ३३३; दूध, दही,

घी, जल से भरे ३३३, ३३४;
 फल-फूल-सवेतवस्त्र से आवृत
 मुख ३३४; इनका अलंकरण
 ३३४
 कलशयात्रा, ३४६
 कला १, ४, ८, ६४, २३६, ४०७,
 ४३७-४४५, ४४५
 कलाकौशल (व्यवसाय) २०२,
 २०३, २०६, २४१, ५४३
 कलाकौशलजीवी (वैश्य-शूद्र) २०२,
 २४१, ५४३
 कलावी १४१
 कल्पवासी देव ३५१
 कल्पातीत देव ३५१
 कल्मी १४१
 कषाय ३६०
 कषाय क्षय (चतुर्विध) ३६३
 कषाय वस्त्र
 कसकर (ठठरे) २३२ पा०
 कसाइयों की दुकानें ४०५
 कस्बा २८६, २६०
 काकतीय शासनव्यवस्था १०६
 कापालिक ३७६
 कापोत (लेख्या) ३६३
 काफिला २२५, २२६
 कामदेव ३७१
 कामशास्त्रीय चित्र ४८२
 काय-प्रविचार ३५५
 कायस्थ १२७
 कायिक क्लेश ३६४
 कायोत्सर्ग ३६३
 कारपोरेट बीडी ऑफ मर्चेन्ट्स २६४,
 २६१

कारपोरेशन २६५, २७३, २६१
 कारुशूद्र २०७, २०८
 कार्तिक ३४८, ३४६
 कार्तिकेय ३१६, ३७०, ३७१, ३७४
 कार्मारण वर्गणा ३८६
 कार्यलिङ्ग ३६६
 कार्वट २६२, २८४
 काल (तत्त्व) ३८३, ३८६-३८६, ३८७
 इसका लक्षण, ३८७, व्यापकत्व
 वैशिष्ट्य ३८७, अनश्वर स्वभाव
 ३८७, वराङ्गचरित में इसे
 अमर्य एवं अव्यापी मानना
 ३८७, इसके सूक्ष्म भेद एवं
 उपभेद ३८६-३८७

कालखण्ड (ऐतिहासिक) :—

अन्धकार युग ६६, आदिम युग १८६,
 वैदिक काल, २६८, उत्तर
 वैदिक काल ३१, ६८, उत्तर
 सामन्त युग ३०, ३१, कबीला
 युग ३०, ३१, गुप्त युग, ८६,
 २६०, २६६, ३१४, ३१८,
 चालुक्य काल १५३, २२७,
 ५१४ जनसमूह युग ३०, ३१,
 पल्लवकाल २६१, ३२२,
 पाणिनि-काल २७१, पूर्व
 सामन्त युग ३०, ३१, बौद्ध
 युग २६०, २७७, २७६, मध्य
 युग ६८, ६६, मध्यसामन्त युग
 ३१, रामायण काल २६६,
 २६८, २७०, राष्ट्रयुग ३१,
 साम्राज्यकाल ६८, ६६, सूत्रकाल
 १६५, हर्षवर्धनकाल १३८,
 १६०

कालवाद ३७६, ३८०

काल सृष्टि का कारण ३६३

कालवादी ३६३

कालिदासकालीन नारी ४६५

पराधीन नारी का चित्रण ४६५,

४६६, नारी विषयक ग्रन्थरूढ़ियों

पर आक्रमण ४६५, नारी

उत्पीडन के प्रति संवेदनाएं

४६५

काव्यकार २३६

काव्यभेद :— २३, २७, २८, ४४-

४७, ५६ :—

अनेकार्थक काव्य ४६, आनन्द

काव्य ४७, कृत्रिम काव्य २८,

खण्डकाव्य, २३ गद्य काव्य २३,

२७, २८, चरित काव्य ४४,

चरितेतर काव्य ४५, ४६,

चित्रकाव्य २८, ५६, दृश्य काव्य

२७, लघु काव्य २३, सन्धान

काव्य ४६, स्तोत्र काव्य २३,

श्रव्य काव्य २३

काश्यप (गोत्र) ३१७

किसानों के मुखिया १६६

कुक्कुट बलि ३६६

कुटुम्ब १२४, १२६, १३४, १३५,

१३६, १८६

कुटुम्ब व्यापृत १३७

कुटुम्बियों का सीमानिर्धारण १३५

कुटुम्बिनी १३७

कुटुम्बी १२०, १२५, १२६, १३२-

४२१

कुटुम्बों के मुखिया १३६

कुट्ट १३४

कुट्टुचिधम् १३७

कुट्टुम्बनी १४२

कुट्टुम्बी १३४

कुन्ताप मंत्र ३१, ३७

कुन्वी १३३, १४०-१४२, २०६

कुब्ज नगर २८५

कुमारपाल की तीर्थयात्राएं ३४२-

३४३, ३४७

कुमारामात्य (पद) ११८

कुमारी की तपस्या ३७४

कुरु (जाति) २७७, २७८, २६०

कुरु जाति का निगम २७८

कुरुनं निशमो २७८

कुर्मि १३३, १४०-१४२, २०८

कुल १२४, १२५, १२६, १३३,

१३६, १४२, ३५७

कुलपरम्परागत व्यवसाय २०४,

२४१

कुलम्बी १४०

कुलविद्या ४२३

कुल स्त्री ४७६, ५०८

कुलाचल (छह) ५११

कुलाल (कुम्हार) २००, २०४,

२३२ पा०, २३४

कुलिक (पद) २७५

कुलिक निगम २७५

कुलेतर व्यवसाय २०३, २४१

कुलों के मुखिया १३३

कुविन्द (जूलाहा) २००, २०४,

२३२ पा०, २३४

कुशिक्य ४१५

कुषाणकाल २३०

कुषाण राज्य ५१३

कुसूलक (धान्यपात्र) १०५

कूप ३३३, ३४४, ३४५

कृतकर्म ३६३

कृषक/किसान १२५, १३२, १३७-

१४१, १६०, १६५, १६७,

१६६, २०१, २०४, २०६,

२३६, २४१

कृषक जाति १३३, १४०-१४२

कृषक वर्ग २०६, २१५, २४०

कृषकों के ग्राम २५२

कृषि (उद्योग) ३०, ३१, १४०,

२०७-१६०, १६१, २०१-२०४,

२१३-२१६, २२१, २३६, २३८,

२४०, २४४, २६१, ३२१

प्रमुख उद्योग के रूप में

२०६-२१०, धूर्त वर्ग का मुख्य

व्यवसाय २०६-२१०, कला-

कौशल के अन्तर्गत कृषि २०४,

कृषि गतिविधियाँ २१०, सिचाई

के साधन २११, कृषि उत्पादन

२११-२१२, पाण्डुकनिधि और

कृषि उत्पादन १६३, इसका

सामन्तवादी ढाँचा १६७-१६६,

इस पर सामन्त राजाओं का

नियंत्रण २४०, २४१, गन्ना

उत्पादन २१२, शाक-सब्जी

उत्पादन २१२

कृषि उत्पादन १६०, १६३, १६५,

२१०-२१३, २४०, २६१, २६२,

अनाज उत्पादन २१०-२१२,

२१५, २३८, २५६, २६१,

दालें, २११-२१३, गन्ना २१२,

शाक सब्जियाँ २१२, २१३

कृषि/वृक्ष उत्पादन :—

अनाज/अन्न १६३, १६५, २१०

२११, २१२, २१५, २५६,

२६१, ३६६

अलसी २११

आर्द्रकन्द (अदरक) २१३

इलायची २१५, २१६, २१७

ईख २१२, २१५, २३७, २५६,

२६०, २८६

ईख का रस २१२

उड़द २१२, २१३

कपूर २१६

कलिङ्ग (कलिदा/तरबूज) २१३

कालागरु (घूप) २१६, २३७

केशर २१६

कूष्माण्ड (कद्व) २१३

कोद्रव (कोदों) २१२

गोधूम (गेहूँ) १६३, २११,

२३८

गोशीर्ष चन्दन १७४, २१५,

२२६, ४४६

चना १६३, २११, २१३

चन्दन २१४, २१५

चावल १६३, २१२

चिभंट. (कचरिया) २१३

जौ १६३, २१२, २६४

ताम्बूल २१६, २५६

तिल २११, २१२, २३७, २३६

दालें २१३

धान २१०, २६०, ३११
 धान की पौध (कलम) २११,
 धानों के प्रकार २११
 धूप २१६
 नारियल २१६
 पुण्ड्रेक्षु (लाल ईख) २१२,
 २५६
 पुष्प पराग २१६, २२८
 प्रियाल चूर्ण १८२
 फल १६४, २१५-२१७, २३७
 फल-फूलों का रस २१६
 फूल १६४, २१५-११७, २२८,
 २३७
 मटर २६३
 मसाले २१६
 माष २६४
 मिर्च २१३
 मुद्ग (भूंग) २११, २६३
 मूलक (मूली) २१३
 मेवे २१७-२१८
 यव २६४
 लावुक (लोकी) २१३
 लेप २१४
 लोंग (लवङ्ग) २१६, २१७
 बास्तुक (बथुआ) २१३
 ब्रीहि २११
 वृन्ताक (बींगन) २१३
 शालि २११
 शण्डिक २११
 सरसों २१२, २१३
 सुगन्धित द्रव्य २१४-२१७,
 ३०० ३२६
 सुपारी २१६, २१८, २५६

कृषि-गतिविधियां २१०, २११,
 २४२, २५४, २५६, २६४
 कृत्रिम तथा अकृत्रिम साधनों से
 खेतों की सिंचाई २११, अनाज
 बोना २३६, फसल की जुताई-
 रपाई-कटाई २१०, चुटाई द्वारा
 अनाज का भूसा अलग करना
 २१०, २२१, २५६, अहीर
 बालाओं द्वारा फसल की रक्षा
 २१०, गाड़ियों द्वारा अनाज की
 ढुलाई २१०, २४५, खलिहानों
 में अनाज संग्रहण २१०, २५४,
 बड़े कुम्भों में अनाज का संभरण
 २१०, भक्त ग्रामों/निगमों में
 अनाज का संरक्षण और वितरण
 २४५, २५५, २५६, सम्बाधों में
 अनाज का स्थायी रूप से
 भण्डारण २६४
 कृषि ग्राम १२७, १६८, २००,
 २१०
 कृषिदास प्रथा १६५, १६७
 कृष्ण ३६, ४८, ५६, २५१, ३७५
 कृष्ण की रासलीलाएं ३७५
 कृष्णपक्ष ३४६, ३५६
 कृष्णा लेख्या ३६३
 केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल १११
 केन्द्रीय शासनव्यवस्था १०८, १०६,
 ११८, १४६, १६०
 केवल ज्ञान ३८१, ३८२
 केशवाणिज्य (व्यवसाय) २३६
 केश लुंचन ३६२
 कोटिक (गण) १३५, १३६

- कोटिमहायज्ञ ३६८
 कोडिय १३४, १३८, १४२
 कोडिय (गण) १३५, १३६
 कोडियो/कोडिओ १३४, १३८, १४०
 कोडी १३४
 कोडुक्कपिल्लं (पद) १४१, १४२
 कोडुम्बियो १३४
 कोल्हू २३६
 कोशशास्त्र १३७
 कोश ग्रन्थ २६६, २८२, २८३, ३११
 कोष ७०, ८५, ६७, ६८, ६९, ११४, १६१
 कोषगृह २५२
 कोषबल ७३
 कोषसंचय ६६, ७७, ६७-६६, १४६, १५१
 कोषागारिक (पद) ७२, ८३
 कोषाध्यक्ष (पद) ११४
 कौटिल्य कालीन नारी ४६३, निम्न विवाह संस्था की वैधानिकता पर बल ४६३, गुप्तचर विभाग में स्त्री कर्मचारी ४६३, वर्ग की स्त्रियों का आर्थिक उत्थान ४६३
 कौटुम्बिक/कौटुम्बिका १३६, १२६
 कौटुम्बिया १२६
 कौटुम्बिय १३६, १३८
 कौण्डिन्य (गोत्र) ३१७
 कौत्स (गोत्र) ३१७
 कौलिक (जाति) २७७
 कौशिक (गोत्र) ३६७
 क्रय-विक्रय २२४, २२७, २२६, २४७
 क्षणिकवाद ३७६, ३६७, ३१८
 भावों तथा पदार्थों की क्षणिकता ३६७, जटासिंह द्वारा आलोचना ३६८, लोक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाने का आक्षेप ३६८, चित्त-सन्तान-ज्ञानधारा की अनुपपन्नता ३६८
 क्षत्रिय १३, २५, २६, ७२, १५६, २०२, २०४, २०६, २०७, २४१, ३१६, ३१८, ३२१
 इनका मुख्य व्यवसाय युद्धकर्म २०६, छह प्रकार की सेनाओं में 'मोल' सेना के अन्तर्गत स्थान १५६, २०६
 क्षत्रिय युद्ध २०६
 क्षत्रिय वर्ग २०६, २४१, ४०७, ४०८
 क्षत्रियों की शिक्षा ४२५, ४२६
 क्षत्रियों के व्यवसाय २०६-२०७, २४१; ४२६
 क्षितिपति ८४
 क्षितिभुज ८४
 क्षितीन्द्र ८३
 क्षीणकषाय ३६२
 क्षीर-नीर-न्याय ४१६
 क्षेत्रकर १३२, १३३
 क्षेत्राजीवः १३७
 क्षेत्र्यो अग्नियोग विधि १८२, १८३
 खड्ग-सदृश आयुध १६८; १७५, १७६

खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति ४०६

खनिक (खान-मजदूर) २३४, २५७

खनिज उत्पादन १६२, २२४

खरकर्म २३८

खरोष्ठी लिपि २७३

खर्बंट २६२, २८१

नदी के तीरस्थग्राम २६२, इसमें

दो सौ ग्रामों की स्थिति २६२,

आखेटकों/भृत्यों का निवास

२६२

खर्बंड २६२

खलिहान २१०, २५४

खाद्य-पेय पदार्थ १५६; १८६, १६२,

२३४, २४२, २६२-२६६, ३२१

३८७

अन्धस् (भात) २६२

अपूप-मुद्ग (मूंग का मालपूआ)

२६३

अपूपिका (मालपूआ) २६३,

३११

अरिष्ट (मदिरा) २१६, २६५

इड्डुरिका (पूरी) १६१, २३४,

२६४, ३११

इक्षुरस ३३६, ३६८

ओदन (भात) २६२, ३११

ओदक्षित्क (मिष्टान्न) २६४

मक्खन-दूध से बनी मिठाइयाँ

२६४

करम्भक (दही वाला सत्तु)

२६२, ३११

कादम्बरी (मदिरा) २१६, २६५

कीलाट (मिष्टान्न) २६४

फटे दूध से बनी मिठाइयाँ २६४,

कीद्वोदन (कीदो का भात)

२६२

कवधिका (कढ़ी) २६३, ३११

क्षीरेय (मिष्टान्न) २६४

दूध से बनी मिठाइयाँ २६४

खाण्ड २१२, २६२, २६३,

३३६, ३३६

खाण्ड-मण्डक २६२

खाण्ड-मण्डिका २६३

खांड-माण्डा (खांड-रोटी) २६२

खाद्य (खाजा) २६३, ३११

गुड २१२, २३२, २५६, २५६,

२६१, ३६६

गोमांस २६४

घृत/घी २२१, २३२, २३५,

३१६, ३३१, ३३३, ३३६,

३३६, ३८७

तक्र २३१

तीमन (कढ़ी) २६३, ३११

तेल २३६, ३२७, ३८७

दधि/दही २२१, २३१, २३५,

३१६, ३८७, ३३३, ३३६,

३३६

दाधिक (मिष्टान्न) २६४

दही से बनी मिठाइयाँ

२६४

दुग्ध/दूध २३१, ३१६, ३६८,

३८७, ३३३, ३३६, ३३६

पपंट (पापड़) २६३, ३११

चाबलों/मट्टरों से बने पापड़

२६३

पशुओं का मांस २६४

- पुरोडास (यज्ञ रोटी) २६४
मन्त्रन २३६
मण्डक (रोटी/चपाती) २६२, ३११
मदिरा/मद्य ४६, ५३, ८१, १६२, २१६, २३६, २६५, २६६, ३११, ३८०
इसके विभिन्न प्रकार—
शरिष्ट, कादम्बरी, मरेय, सुरा, २१६, २६५, मदिरा-निर्माण की विधियाँ २१६, वृक्ष-वनस्पतियों का एक मुख्य-उत्पादन २१६
मन्डे (पंजाबी रोटी) २६२
मण्डकी (छोटी रोटी) २६३
मधु/मह्व २१६, २३६, २६५, ३३६, ३३६
मर्मराल (गुजराती पापड़) २६३ ३११
मांस २२९, २६४, २६५, ३११, ३३०, ३८०
मासीवन (मांस मिश्रित भोजन) २६२, २६४
मान्डा (हरियाणवी रोटी) २६२
मान्डे (गुजराती रोटी) २६२
मिष्टान्न (मिठाइयाँ) २३४, २६४
मोठे पकवान २६२-२६४, द्रष्टव्य 'खाण्डमाण्डा', 'प्रपूषिका' (मालपूष्पा), 'यवागु' विशिष्ट मिठाइयाँ २६४-द्रष्टव्य 'प्रोदक्षितक', 'कीलाट' 'क्षरेय', 'दाधिक', 'वटकिनी', 'मोदक', 'षण्कुलि' मरेय (मदिरा) २१६, २६५
मोदक (लड्डू) २६४, ३११
यवागु (चावल की लिचड़ी) २६४
वटक (बड़ा) २६३, ३११
वटकिनी (मिष्टान्न) २६४
शक्कर २१२
शर्बत २१६
षण्कुलि (जलेबी) २६४
सक्तु/सत्तु (जौ चूर्ण) २६२, ३११
सक्तु धान (जुने चावल) २६४
सुरा (मदिरा) २१६, २६५
खार्बटिक २७२, २८०
दोसी घासों का समूह २८०
खान ६७, २२४, २५७, २६१
सर्नि चांदी की २५७, रत्नों की २६१
खिलजी नीति १८८
खेट १६६, २४२, २४३, २५८, २६०, २८०, २८१, २८४, ३११:-
नदी पर्वत से आवेष्टित नगर २५८, नदी के तीरस्थ ग्राम २५८, अध्विकसित ग्राम २५६, जंगल मध्य स्थिति २५८, पुर का प्राचा भाग २६८, मांस-जीवियों का निवास स्थान २५८, वृक्षों का निवास स्थान २५८
खेटक १८०

- खेड़ २४२, २५६, २८०
खेड़ा २५६, ३६६
खेत (कृषि क्षेत्र) १६७, २११, २१३, २१५, २२१, २४४, ३२६, ३२७, ३३१
इनमें लहलहाती फसल २१०, फसल की कटाई, जुताई, रूपाई २१०, फसल की रक्षा २१०, इसकी सिंचाई २११, खेतों में अहीर बालिकाएं २१०, खेतों से खलिहानों में अनाज का स्थानान्तरण २१०
गज (रत्न) १६४
गजयुद्ध १६४
गजविद्या ६४
गजविभाग १५४
गजशाला २५२
गजसेना ७२, १५४, १५६, १८६
गणक (ज्योतिषी) ७२, १८५, २३६
गणराज्य ५१२, ५१३
आभीर गणराज्य, ५१३ मालव
गणराज्य ५१३, यौधेय गण-
राज्य ५१३
गणिका ४८२
गन्ध ३८७, ३८८
गन्धर्व सेनक (विद्याकोश) ४२४
गन्ना पिराना (व्यवसाय) २३७
गर्भनाश ४८१
गर्भवती स्त्री ४८०, ४८१
गर्भवेदम २४८
गर्भशाला (मन्दिर) ३४१
गर्भस्थ शिशु ४८१
गर्भाधान १३, ३६३
गवर्नर १११
गह्वरपति १२८
गाड़ी जोतना (व्यवसाय) २३८
गायक/वागीश १२३, २३५
गाथानाराशंसी ३७
गान्धर्व विवाह ४६३
गाम २४२, २८०
गायक ३४१
गायन २१, १६१, १६२
गायों का सम्मान २५३, २५६, २८६
गार्ग्य (गोत्र) ३१७
गिल्ड २२६, २७२
गुजराती भाषा १४१, २६२
गुणर्वचित्र्य ४०१
गुणस्थान (चीवह) ३६२
गुप्तकाल ८४, ८६, ११८, १२५, १२६, १४०, २७६, २७७, २६०, २६६, ३१४, ३१८
गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था २४०
गुप्तकालीन नारी ४६५
गुप्तकालीन शासनव्यवस्था १०६, २७६, २७७, ५१३
गुप्तचर ७७, ८६, १०४, १२१, १२२, २२५
गुप्त साम्राज्य ६६, १४८, १८६, ५१२, ५१३
गुप्तिर्या ३२८
मनोगुप्ति ३२८, वचन गुप्ति ३२८, काय गुप्ति ३२८, चारित्र्य गुप्ति ३६०

गुरिल्ला युद्ध १६६, १६७	गोपवधू (ग्वालिन) २५५, २६४
गुरु ६६, ४१२	गोपाल (ग्वाले) २३५
गुरुकुल ४१४, ४६४	गोपालप्रभु १३०
गुरुदक्षिणा ४१३	गोपुर २४६, २४६, २५०
गुरुशिष्य सम्बन्ध ४१२-४१६	गोपुर द्वार २५०
गुरुश्रद्धा ८८	गोपूजा ३१६
गुर्जरधराबीश्वर ८५	गोमय-व्यवसाय २३७
गुप्ति ३६३, ३६०	गोमूत्रिका ५६
गुल्म १६४	गोम्मट स्वामी ५४
गृह (संस्था) १३६	गोष्ठमहत्तर १३०, १६६, २२१
गृह/गेह २४८, ३३१	गौड़ १३३
गृहदान १६२, १६३, ३४८	गौतम (गोत्र) ३१७
गृहनिर्माता २३२ पा०	गौण्ड १२७, १३३
गृहपति १३६	ग्रह-नक्षत्र ११३, ११४ १८५, ३६४, ३६६, ४५०-४५२
गृहलक्ष्मी का पद ४६५	ग्रह-नक्षत्रों पर अविश्वास ४५२, ४५३
गृहस्थ/आवक १३, १४, १३५, २६२, ३१८, ३२१, ३२४- ३२७, ३३०, ३३१, ३६०- ३६२, ४०४, ४७०	ग्राम ४, ७, ६७, ६६, ११६, १२०, १२४-१२८, १३८, १४२, १६१, १६२, १६५-१६८, २०१, २१०, २१२, २४०- २४५, २५३-२६२, २७०, २७८, २८०, २८१, २८५-२८६, २८१, ३११, ३१३, ३४१, ३६६
गोकुल योषित (ग्वालिन) २१३	ग्राम का लक्षण २४४, निरुवित २४४, सीमा २३४, छोटा ग्राम २४४, बड़ा ग्राम २४४, ग्रामीण जनजीवन २४५, २५४, ३५६, यातायात के साधन २५५, इनका उपभोग वैशिष्ट्य २४५, सम्पत्ति के रूप में २४५, आर्थिक उत्पादन के केन्द्र २४४, २४५,
गोचर २७१	
गोत्र १२५, १४२	
गोत्र (बन्ध) ३६०	
गोत्र प्रवर्तक १३४, १३५	
गोष विभाजन ३१७	
ग्राङ्गिरस ३१७, ग्रात्रेय ३१७,	
काश्यप ३१७, कौण्डिन्य ३१७,	
कौत्स ३१७, कौशिक ३१७,	
गार्ग्य ३१७, गौतम ३१७	
माण्डव्य ३१७, वासिष्ठ ३१७,	
गोत्र विभाजन का अनौचित्य ३१७	
गोप/गोपालक २५५, २५६, २६४,	

- आत्मनिर्भरता एवं स्वायत्तता १२४, २०६, इनकी अर्थव्यवस्था १२५-१२७, १४१, १६७-२०१, प्रशासनिक अधिकारी १२०, १२४-१४१, इनका सामन्तवादी ढाँचा १२४-१४१, १६७, १६६, २४०, ३५३-३५४, मध्यवर्ती लोग—महत्तर, महत्तम तथा कुटुम्बी १२४-१४१, जाति के नाम पर ग्राम २७८, ग्रामसम्प्रदाय के वाचक शब्द २७१, कृषक-ग्राम २५२, खालों के ग्राम १३०, १६८, २५२, शिल्पीग्राम २४४ बाणग्राम २८६, ब्राह्मणों के ग्राम २४४, अग्रहार ग्राम १३८, १६७, २०१, २४४, २८८, २८६, भक्त ग्राम २४५, २४६, २५५, २५६, ३११ दिल्ली के समीपवर्ती ग्राम २५६, इनका नगरोन्मुखी विकास २५५
- ग्राम की संगठित सभा २७६
 ग्रामकूट १२७
 ग्राम-जमींदार १६७
 ग्रामदान १२६, १४१, १४२, १६७, २०१, २४८, २७३, २८८
 ग्राम निर्माण १६८-२५२
 ग्राम-प्रधान १६७, २७५
 ग्राम प्रभु १२६
 ग्राम प्रवर १२७
 ग्राम प्रशासन १०८, १२०, १२४, १२५, १३३, १३८, १४१, १४२, १४६, २७५
- ग्राम भोक्ता १३८, १४०, १६८
 ग्राम महत्तर १२६, १२७, १२६,
 ग्राम-मुखिया १२६, १२७, १२८, १३२, २४०
 ग्राम सङ्गठन १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२६, १३१, १३२, १३३, १३७, १३८, १३६, १४१, १४२, १६१
 ग्राम स्वामी १२४
 ग्रामाधिकारी १३६, २७१
 ग्रामाधीश १३६, १६७, १६६
 ग्रामिक २७१
 ग्रामेयक १३८
 ग्रामेश १२०
 ग्रामोत्पादन १२५
 ग्रामोन्मुखी (अर्थव्यवस्था) १२५, १२७, १४१
 ग्रामों का विकेन्द्रीकरण १६७
 ग्रामों का शासकत्व १६८
 ग्रामों का स्वामित्व १६२, १६७
 ग्रामों में मुर्गापालन २२२
 ग्रामों में रक्षक १६१
 ग्रीष्म ऋतु तप ३६५
 घोणा जनजाति ६०, २४०
 घोष (ग्राम) १३०, २२१, २४२, २४३, २६४, २७०, २८०, २८१,
 अहीरों की बस्ती २६४
 घोष वृद्ध १३०
 घोस २४२, २८०
 चक्र निर्माण (व्यवसाय) २३२ पा०
 चक्रवर्ती ८३, ८४
 चक्रवर्ती सम्राट् १२४

चक्षुःश्राव्य (पदार्थ) ३८८

चण्डीमारी देवी का मन्दिर ३६६

चतुर्दश रत्न १६४, २००

अचेतन रत्न तथा चेतन रत्न
६४, अश्व रत्न, असिरत्न,
काकिणीरत्न, गजरत्न, चर्म-
रत्न, चूणामणिरत्न, छत्ररत्न,
दण्डरत्न, पुरोहितरत्न, शिल्पी-
रत्न, सेनापतिरत्न, स्त्रीरत्न
१६४

चतुर्दशियां ३२८

चतुरङ्गिणी सेना ४६०

चतुर्विंशतिस्तव ३६३

चतुर्विध उपाय ७५, ७७, ७८, ८२,
१५०

चतुर्विध धर्म ३२४

चतुर्विध बल ७१

मौल, वैश्र, मुख्य, घाटविक ७१

चतुर्विधातोयचतुरता ४४१

चतुर्वेदः ४२६

चतुष्क (चौराहा) २५१

चत्वर (चौपाल) २४८ पा०

चन्द्रवंशी राजा १४४, २८७

चमूप (पद) ११६, ११७

चमूपति (पद) ११०, ११२, ११७

चरवाहे २३३ पा०

चरित पुराण ४५

चर्मकार २३२ पा०

चल-प्रचल पदार्थ ३६७

चल-यंत्र घ्रायुष १६८, १७७

चाट १३८

चाणूरमल ३७२

चान्द्रमास ३५६

चापाचार्य ४२७

चार प्रकार की सभाएं २७६

चारित्र ३६१

चारित्र गुप्ति ३६०

चार्वाक अनुयायी ३६६, ४०२

चार्वाक दर्शन ३६६, ४०२, ४०६

चालुक्य वंश ५७, ६६, ८४, ८७,

१४३-१४७, १५३, २२७,

३२२, ३२३, ३६८, ३७१,

५३४

वंशोत्पत्ति १४४, वंशक्रम १४४-

१४५, पश्चिमी चालुक्य वंश

३३२, कल्याणि के चालुक्य

३२२

चालुक्य शासनव्यवस्था १०६,

१२०, १४५, ३७२, ३७३,

चाहुमान (चौहान) वंश ६४, १४९-

१४४, १४७, १५४, २०६,

५२६

चाहुमान शासनव्यवस्था १०६, ११८

चित्तसन्तानज्ञानधारा ३६८

चित्रकर्म (व्यवसाय) २३६, ३२७

चित्रकला-वास्तुशास्त्रीय ४४३, ४४४

चित्रकला मन्दिरों की ४४३, ४४४

चित्रकला-श्रृङ्गारिक ४४४, ४४५

चित्रकार १२३, २००, २०४, २३३

पा० २३६

चुलुक (पीर) १४४

चूड़ाकरण संस्कार ४०६

चेटिका १२४, १५६

चेतनालक्षण ३८४

चैतन्य का प्रभाव ३८६

चैत्रमास ३४६

चैम्बर ऑफ कॉमर्स २६४, २६५,
२७५

चोर/डाकू/दस्ती/तस्कर १०३, १०४,
१६१, २२५, २२६, २३३

चोरी करना (व्यवसाय) १०३,
२३८

चोरी की वस्तुएं १०४

चोरों का आतंक १०४

चोरों पर नियन्त्रण १०५

चोदह नदियां ५११

चोदह पूर्वों की विद्याएं ४२४

चोदह विद्याएं (वैदिक) २०६,
४०७-४०८, ४२५, ४२७

चौसठ कलाएं ४२३, ४२४

छेकिल (सम्प्रदाय) ३७२

जंगम जीव ३६२

जगत् ३६३, ३६४, ४०१

जगत् की उत्पत्ति ३६७

जड़-चेतन ३६३

जड़ पदार्थ, ३६६

जनपद ७०, १६६, २६६, २७०,
२७४, २७५, २७७, २७८, २७९

५१२, ५१३

जनपद निवास २६६

जनपदीय आषा १२७

जमींदार १३६, १४२, १६५,
१६६

जमींदार कृषक १६६

जमींदार सम्मन्त १३५

जमींदारी प्रथा १६०, २३६, ३२७

जम्बू द्वीप ५१०, ५११

इसकी जैन भूगोलीय स्थिति
५१०, इसके भन्तर्गत सात क्षेत्र,
छह कुलाचल, चोदह नदियां
५११

जरासंध २५१

जल (तत्त्व) ३६६, ४००

जलगृह २५२, ३४५

जल परिष्ठा २४६

जलयात्रा ३४६

जलशाला का शुवाक्ष निर्माण ३४५

जलाशय/सरोवर १६२, २२१, २२३,
२४४, २४६, २५१, ३३३,
३३४

जातक की जन्मकुण्डली ४५१,
४५२

जातक-ग्रन्थ १२, २६, ३४, २६६,
२७२, २६०

जाति/जातिव्यवस्था १३३, १३४,
१४२, २०१, २०४, २४६,
३१०, ३१५-३१७, ३२१,
३७६

का विरोध ३१७, ३७६, मनुष्य
जाति का एकत्व ३१६, ३१९,
निम्न वर्ण की जातियां १३३,
२६४, ३३०

जाति प्रमुख १२५

जाति विद्या ४२३

जाति स्मरण ३५७

जानपद २६६, २६७, २७०, २७६,
२६०, राज्य की संवैधानिक
समिति २७०

जनपद-निवासी २७०,
 जनपद-शासक २७०,
 इस नाम की मुद्रा (सील),
 २७६
 जानपद मुद्रा २७६
 जिनेन्द्र पूजा महोत्सव ३३७
 जिनेन्द्र प्रतिमा ३३२-३३४
 जीर्ण सूर्य १०५
 जीव (तत्त्व) ३६३, ३८२-३६२,
 ३६५, ३६६, ४००, ४०२
 सामान्य लक्षण ३८४, दो प्रकार
 की उपयोगमयता ३८४, इसकी
 बहुविध प्रवृत्तियाँ ३८४, इसके
 भेद तथा उपभेद ३८५ द्रष्टव्य
 'ग्रन्थ', 'मव्य' तथा 'मुक्त'
 जीव
 जीव की उत्पत्ति ४००
 जीव की सत्ता ४०३
 जीव के घर्म ४०२
 जीव-शरीर-परिमाणवाद ३७६
 जीवाजीव तत्त्व ४०२
 जीवाजीवादि छह पदार्थ (मीमांसा)
 ३६६
 जीविकोपार्जन (आजीविका) २०३,
 २३३, २३७, २३८
 कुलागत आजीविका २०३
 कुलेतर-आजीविका २०३
 जीवों की चौदह श्रेणियाँ ३६२
 जुआरी २३, १०७
 जेठ मास ३६५
 जैन द्रष्टव्य पूजा ३३२
 जैन द्रष्टविधपूजन ३३६

जैन आगमों में नारी ४६२, ४६३
 स्मृतिकालीन आचारसंहिता से
 प्रभावित ४६२,
 स्त्री को सम्पत्ति मानने की
 अवधारणा ४६२, स्त्रीविषयक
 हेय मान्यताएँ ४६२, संघ-
 व्यवस्था में पुरुष से नारी को
 श्रेष्ठता ४६२-४६३, नारी
 प्रशंसा के दृष्टान्त ४६३,
 स्त्रीदासता की परिस्थितियाँ
 ४६३
 जैन आगमग्रन्थ ३५, १३५, १३६,
 २३०, २४२, २४५, २५७,
 २५८, २७६-२८२, २६०, ३७६
 ४२२
 जैन कथासाहित्य ४३
 जैन कल्प ३२६, ३५१, ३५५
 बारह प्रकार के :—सोषर्म्म,
 ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र,
 ब्राह्म, लान्तव, शुक्र, सहस्रार,
 आनन्त, प्राणत, आरण,
 अच्युत ३५१
 जैन कवि ४३-४७, ४०३
 जैन कालविभाजन ३५६, ३५७
 जैन मान्यता ३५६, काल की
 विविध इकाइयाँ ३५६, अव-
 सर्पिणीकाल ३५६, उत्सर्पिणी
 काल ३५७, छह उपकाल ३५६
 जैन कुलकर (कुलधर) ३५७
 जैन कुलकरों की संख्या ३५७,
 ३५८

- जैन कुलाचल (छह) ५११
हिमवान्, महाहिमवान् निषध,
नील, रुक्मी, शिखर ५११
- जैन क्षेत्र (सात) ५११
भरत, हैमवत, हरिरम्यक,
हैरण्यक, हैरण्यवत, विदेह,
ऐरावत ५११
- जैन गृहस्थ/श्रावक धर्म ३१८, ३२१,
३२३, ४७०
दो प्रकार का ३१८, ३२१,
गृहस्थ के निषिद्ध कर्म ३२७,
श्रावकों के चौदह प्रकार ३६१,
श्रावकों के बारह व्रत ३३१
- जैन चक्रवर्ती (बारह) ३४२, ३५८
जैन चतुर्दश स्वप्न ४५४, ४५५
- जैन चामत्कारिक विद्याएं ४२४
- जैन चूर्णी ग्रन्थ २८१, २८२
- जैन ज्योतिष्क देव ३४०, ३५१
- जैन तपश्चर्या ३१४, ३२४, ३३१,
३५२, ३५६, ३६०, ३६३,
३६४, ३६६, ३६७, ४०१
तपों के भेद ३६३, बाह्यतप छह
प्रकार के ३६४, कठोर तप
३६४, अनशन तप ३६४,
अशमोदर्य तप ३६४, अनोदरी
तप ३६४, कायक्लेश तप ३६४,
३६७, ध्यान तप ३६४, पंचाग्नि-
तप ३६५, प्रायश्चित्त तप ३६४
रसपरित्याग तप ३६४, वर्षा
ऋतु तप ३६४, विविक्त शयना-
सन तप ३६४, विषमतप ३६४,
वृत्तिपरिसंख्यान तप ३६४
- वैयावृत्य तप ३६४, व्युत्सर्गतप
३६४, शीत ऋतु तप ३६५,
स्वाध्याय तप ३६४
- जैन तर्कशास्त्र ४०५
जैन तर्कशास्त्री ३८१
- जैन तीर्थस्थान ३१४, ३३३, ३३६,
३४२-३४७, ३६५
- जैन तीर्थंकर ६३, ५७, ३४२, ३५४,
३५७, ३५८, ३८५, ३८६
- जैन तीर्थङ्करों की माताएं ४८१
- जैन त्रिषष्टिशलाकापुरुष ३५८, ३५६
तीर्थङ्कर (चौबीस) ३५८,
चक्रवर्ती (बारह) ३५८,
वासुदेव/नारायण (नौ) ३५७,
३५६, प्रतिनारायण (नौ)
३५८, ३५६, बलभद्र/बलराम
(नौ) ३५८, ३५६, शलाका-
पुरुषों का आविर्भाव, ३५८,
इनके नाम ३५८-३५६
- जैन दर्शन ३६, ५१, ३७५, ३७६,
३७८, ३७६, ३८०, ३८१-
३८२, ४०३, ४०५, ४०६
- जैनदर्शन का विकास ३७५, ३७६
इसके चार युग ३७५
- जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा ४०५
- जैन दर्शन के सात तत्त्व ३८३-३८२
जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध,
संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ३८३,
३८२, पुण्य, पाप सहित नौ
तत्त्व ३८४
- जैन दर्शन में नारी ४७१, ४७२
- जैन दार्शनिक ३२०, ३७६, ३७८,
३८२, ४०२, ४०३, ५०६

जैन दीक्षा ४७२

जैन देव ३५२-३५५

देवत्व का लक्षण ३५५, देवपद की प्राप्ति ३५२, देवगति ३५२, ३५४, देवताओं का जन्म ३५२, देवताओं का शरीर ३५३, देवताओं की आयु ३५४, देवताओं का पराक्रम ३५३, देवताओं की विलास चेष्टाएं ३५५, देवांगनाओं के साथ रमण ३५३, ३५५, देव क्रीडाएं ३५४-३५५, देव-तृप्ति के विविध स्तर ३५५

जैन देव-कोटियाँ :—

अग्नि देव ३५०, अङ्गरक्षकदेव ३५१; अच्युतदेव ३५१; अनिल देव ३५०; असुरदेव ३५०, अहमिन्द्रदेव ३५१, आदित्यदेव ३५१; आनतदेव ३५१, आरण्य देव ३५१, इन्द्रदेव ३४६, इन्द्र समकक्ष देव ३५१, उदधि देव ३५०, ऐशान देव ३५१, किल्बर देव ३४२, ३५०, ३५१, किपुरुष देव ३५०, गन्धर्व देव ३५०, गरुड देव ३५०, ग्रह देव ३५०, चन्द्रमा देव ३५०, तारक देव ३५०; दण्डनायक देव ३५१, दिक् देव ३५०, द्वीप देव ३४०; नक्षत्र देव ३५०; नाग देव ३५०; निम्नवर्गीय देव ३५१, पिशाच देव ३५०, प्रजा समकक्ष देव

३५१; प्रतीन्द्र देव ३४६, प्राणव देव ३५१, ब्राह्मदेव ३५१, माहेन्द्रदेव ३५१, भूतदेव ३४२, ३५०, यक्षदेव ३५१, ३५०, राक्षस देव ३५०, लान्तव देव ३५१, विद्युत देव ३५०, शुक्र देव ३५१, सभासव देव ३५१, सहस्रधार देव ३५१, सानत्कुमार देव ३५१, सामानिक देव ३४६, सारस्वत देव ३५१, सुपर्ण देव ३५०, सूर्य देव ३५०, ३५१, सेवक देव ३५१, सैनिक देव ३५१, सोधर्ष देव ३५१, स्तनित देव ३५१

जैन देवपूजा ३५४

जैन देवलोक ३५१

अष्टौ प्रवेयक ३५१, अहमिन्द्र ३५१, ऊर्ध्व प्रवेयक ३५१, प्रवेयक ३५१, मध्य प्रवेयक ३५१

जैन देववर्ग ३५१, ३५४

दशविध-समभियोत्तम ३५१, अनीक ३५१, आस्मरक्ष ३५१, इन्द्र ३५१, किल्बिषक ३५१, त्रयस्त्रिंश ३५१, परिषत्त्रय ३५१, प्रकीर्णक ३५१, लोकपाल ३५१, सामानिक ३५१

जैन देवशास्त्र ३१४, ३५०-३५६, ४०५

जैन देवों का वर्गीकरण ३५०-३५४, इनका स्वरूप ३५२-

३५४, जैन देवियों ३५४, इनके
तीन वर्ग ३५४, देव देवियों
३५४, देव-देवियों के पारस्परिक
सम्बन्ध ३५५

जैन देवशास्त्रीय मान्यताएं ४७१

जैन देवाङ्गना ३५३, ३५५

इनका देवताओं के साथ विहार
३५३, ३५५; इनकी श्रृङ्गारिक
विलास कीटाएं ३५५

जैन देवियां ३३८, ३५८

अदिति देवी ४२४, अमृता देवी
३३८; अम्बिका देवी ३३८,
३५४, उमा देवी ३३८;
एकलबीरा देवी ३३६-३३९;
ऐन्द्री देवी ३३८, काल
संकषिणी देवी ३३८, काली
देवी ३३८, कीर्ति देवी ३३८;
कोमारी देवी ३३८, गौरी
देवी ३३८, चक्रेश्वरीदेवी
३३८, ३५४, चण्डिका देवी
३३८, ऋण्डीमारी देवी ३६९,
चामुण्डा देवी ३६८, ज्वाला
मालिनी देवी ३३८, ३५४,
तारा देवी ३३८, त्रिपुरा देवी
३३८, दुर्गादेवी ३३८, निम्बुजा
देवी ३३८, पद्मावती देवी
३३८, ३५४, पीठ देवी ३३८,
बलादेवी ३३४, ब्राह्मणी देवी
३३८, भद्रकाली देवी ३३८,
मृकुटी देवी ३३८, महाकाली
देवी ३५४, यक्षिणी देवी ३३८,
३५४, सकमी देवी ३३८, ३५४,

लवणा देवी ३३८, वाराही
देवी ३३८, वैष्णवी देवी ३३८,
शान्ति देवी ३५४, श्री देवी
३३८, ३५४, सरस्वती देवी
३३८, ३५४, सिद्धमाहेश्वरी
देवी ३३८, सिद्धिदायिका देवी
३३८, ३५४, स्रोत देवी ३३८,
ह्री देवी ३३८

जैन देवियों का वर्गीकरण ३३८,
३५४, ४२४

इनके तीन मुख्य वर्ग—कुल
देवियां ३३८, ३५४, प्रासाद
देवियां ३३८, ३५४, विद्या
देवियां ४२४

जैन देवियों का स्वरूप ३३८, ३५३-
३५५

जैन देवी तत्त्व ३५४, इनके
तीन वर्ग ३३८, ३५४, इनका
देवशास्त्रीय चरित्र ३५५, देवी
के अनुसार देवियों की स्थिति
३५४, देव-पत्नियों के रूप में
३५५, इनकी वेशभूषा ३५५,
इनका प्रेमप्रदर्शन ३५५, इनकी
देवताओं के साथ क्रीडा ३५५

जैन देवियों के मन्दिर ३३८, ३६८

जैन देवी पूजा ३३८, ३३९, ३५४,
३६८

देवी पूजा की लोकप्रियता
३३९, इसके ऐतिहासिक अवशेष
३५४, देवियों की मन्दिरों में
स्थापना ३३८, ३६८, तीर्थंकरों
के साथ देवियों की भी पूजा

३५३, इनकी मूर्तियां ३३६,
३५४, इनका स्तुति गान ३३६,
देवी की शक्तियां ३३८, देवी
पूजा महोत्सव ३३६

जैन देवों का वर्गीकरण ३५०-३५२
चार प्रकार के देव—मवन-
वासी देवों का वर्गीकरण ३५०,
व्यन्तरदेव ३५०, ज्योतिष्क देव
३५०, वैमानिक देव ३५१,
विभिन्न प्रकार के देववर्ग ३५१,
३५२

जैन देवों की क्रीडाएं ३५५
जल क्रीडा ३५५, दोला क्रीडा
३५५, वाहन क्रीडा ३५५,
शयन क्रीडा ३५५, स्थल क्रीडा
३५५

जैन द्रव्य पूजा ३३२

जैन द्रव्यव्यवस्था ३८२-३८३, ३८६

जैन द्रव्य के भेद ३८२, ३८३

दो भेद ३८३, तीन भेद ३८३,

छह भेद ३८३, ३८२, ३८३

जैन द्रव्य लक्षण ३८०, ३८२, ३८३

जैन धर्म, २८, ३५, ३६, ४२, ४३,
५१, १०२, १४६, १८६, २०५
२६४, ३१४-३२५, ३३०,
३३८, ३३६, ३५६, ३६०,
४०३-४०५

इसकी नवीन समाजधर्मी
प्रवृत्तियां, ३१४, ३१५, इसकी
वैचारिक पृष्ठभूमि ३१४,
इसका लोकाधार ३१४, ३२०,
३६६, इसका प्रचार-प्रसार ३२३,

राजनैतिक लोकप्रियता ३२२-
३२३, इसके प्रचारक राजवंश
३२२-३२३, इसके प्रमुख केन्द्र
३२२, राजधर्म के रूप में ३७०,
हिन्दू धर्म के साथ समन्वय
मूलक प्रवृत्तियां ३१६-३२४

जैन धर्म के प्रचारक वंश ३२३
पल्लव ३२२, गुज्ज ३२२,
राष्ट्रकूट ३२२, कदम्ब ३२२,
होयसल ३२२, चालुक्य ३२२

जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र ३२२
कांची ३२२, उज्जयिनी ३२२,
मथुरा ३२२, बलभी ३२२,
कर्नाटक ३२२, गुजरात ३२२,
राजस्थान ३२३

जैन नदियां (चोदह) ५११

गंगा, सिन्धु, रोहितास्या, रोहित
नदी, हरिकान्ता, हरित,
सीतोदा, सीता, नरकान्ता,
नारी, रूप्यकूला, सुवर्णकूला,
रक्ता तथा रक्तोदा ५११

जैन नन्दीश्वर पर्व ३४८, ३४६

जैन नय ३१६, ३६३, ३६६, ३६७-
३७८, ३८१, ३८२, ४०३

जैन नय व्यवस्था ३८२

परिभाषा ३८२, भेद तथा
उपभेद ३८२; द्रव्याधिक तथा
पर्यायाधिक नय ३८२, इनके
सात मुख्य भेद ३८२; अनेकान्त-
वाद की अपेक्षा से नय-निरूपण
३७६-३७८

जैन नरक १०१, १०२, ३८५

नरकप्राप्ति के कारण १०१,
१०२, नरक की यातनाएं १०२,
नारकी स्त्रियों द्वारा आलिङ्गन
१०२, सामाजिक अपराधवृत्ति
और नरक १०२, नरक की
सप्तभूमियां ३८५

जैन नारायण (वासुदेव) ३४२,
३५८, ३५९

जैन पर्व-महोत्सव ३३३, ३३७,
३४८-३५०

अष्टाह्निक मह ३४८, ३४९,
इन्द्रध्वज मह ३४८-३४९,
कल्पद्रुम मह ३४८, चतुर्मुख-
पर्व ३४८, ३४९, जिन मह
३४९, जिनेन्द्र पूजा महोत्सव
३३७, तीर्थ यात्रा महोत्सव
३५०, दीपोत्सव ३५०, नन्दीश्वर
पर्व ३४८, ३४९, नित्य मह
३४८, परमपर्व ३४९, मन्दिर
स्थापना महोत्सव ३३७, महामह
पर्व ३४८, ३४९, मानसिक पर्व
३२८, यात्रा-उत्सव ३५०,
सर्वतोभद्र पर्व ३४८, ३४९
सांवत्सरपर्व ३४९

जैन पुराण ३८-४१, ४४, ४०८,
५१०

जैन पूजा २४६, ३३२, ३३७-३३९,
३४८, ३४९, ३५३, ३५४,
३६८ अर्हन्त देव पूजा ३४८,
जिनेन्द्र पूजा ३४८, ३५३,
दिक्पाल पूजा ३४९, देव पूजा

३५४ देवी पूजा ३३८, ३३९,
३५४, ३५९, दैनिक पूजा
३४८, नन्दीश्वर पूजा ३४८,
३४९, प्रतिमा पूजा ३३२,
३३७, ३४८, ३४९, मन्दिर
पूजा २४६

जैन पूजा द्रव्य २१२, ३३२-३३९,
३६८, ३८४, ५४५

अनाज तथा पक्वान्न २१२,
३३६, सुगन्धित पदार्थ ३३२-
३३४, बहुमूल्य वस्तुएं ३३७,
अष्टद्रव्य पूजा सामग्री ३३७,
पूजा द्रव्यों का अनुष्ठानफल
३३६-३३७, जैन तथा हिन्दू
पूजा द्रव्यों में समानता ३३५,
३३६, सिद्धराज द्वारा प्रयुक्त
पूजा द्रव्य ३३६, वस्तुपाल द्वारा
प्रयुक्त पूजा द्रव्य ३३६, पूजा
द्रव्य तालिका :—

अक्षत ३३२, ३३५, ३३६,
३३७, ३४८

अर्घ्य ३३५, ३३६

अर्घ्य पात्र ३३४

आभूषण ३३४

आवर्तक ३३३

इक्षु रस ३३६

उपमानिका (कुम्भ) ३३४,
३३७, ३६८

ओदन ३३४

कपूर ३३२, ३३६, ३३९,
४००

कलश ३३३, ३३४, ३३६,
३३७

कृष्णा गरु ३३६, ३३६

खाण्ड ३३६, ३३६

घण्टा ३३७

घृत ३३३, ३३६, ३३६

चंदन ३३२, ३३६, ३३७,

३३६, ३४८

चंदोवा ३३७

चरु ३३६

चामर ३३२

छत्र ३३२, ३३७

जल ३३६, ३३७, ३४८

जल पात्र ३३३

जौ २१२, ३३६

भारी ३३३, ३३४, ३३७

तण्डुल ३३२, ३३६

तिल (कृष्ण) २१२, ३३६

तीर्थोदक ३३६, ३३७

तुरही ३३७

थाली ३३७

दर्पण ३३७

दही ३३३, ३३६

दाडिम ३३२

दीप ३३२, ३३५, ३३६, ३३७

दूध ३३६

दूध ३३३, ३३६, ३३६

धर्मचक्र ३३७

घुप ३३२, ३३५, ३३६, ३३७,

४००

हवजा ३३७

नाद ३३३, ३३७

नैवेद्य ३३२, ३३४, ३३६, ३३७,

३३६

पत्र ३३६

पात्र ३३३, ३३७

पालिका ३३२, ३३७

पुरोडास ३३६, ३६८

पुष्प ३३२, ३३५, ३३६, ३३७,

३३८, ३३६

पुष्प-माला ३३२, ३३४, ३३६

फल ३३२, ३३४, ३३६, ३३७,

३३८

मधु/शहद ३३६, ३३६

मधुपर्क ३३६

मुकुट ३३७

लाजा ३३६

वस्त्र ३३६, ३३६

शंख ३३३, ३३७

सरसों २१२, ३३६

स्वर्ण कलश ३३७

स्वर्णकुम्भ ३३७, ३४७

स्वर्ण यन्त्र ३३६, ३३७

स्वर्ण शंख ३३३

हल्दी ३३४

हवि/हवन सामग्री ३३४, ३३७,

३६८

जैन पूजा द्रव्यों का अनुष्ठान फल

३३६, ३३७

अक्षत से आरोग्यता तथा धन

सम्पदा ३३६, ३३७,

अर्घ्य से अभीष्ट प्राप्ति ३३७,

गन्ध से सौभाग्य ३३६,

घृत से शरीरपुष्टि ३३६

चन्दन से शरीर सुगन्धि ३३७,

जल से शान्ति तथा पापनाश ३३६, ३३७, जो से शुभ वर्ष ३३६, तण्डुल से दीर्घायु ३३६, तिल से वृद्धि ३३६, दधि से कार्य सिद्धि ३३६, दीप से कान्ति ३३७, दुग्ध से पवित्रता ३३६, घूप से सौभाग्य ३३७, नैवेद्य से लक्ष्मीपतित्व, ३३७, पय से सन्नुष्टि ३३६, पुष्प से मन्दारमाला की प्राप्ति ३३७, फल से मनोरथ प्राप्ति ३३७, लाजा से सोमनस्य ३३७, सरसों से विघ्न नाश ३३६, सुगन्धित पदार्थों से सौभाग्य ३३६

जैन पूजा पद्धति ३३२-३३६, ५०४

पूजा दो प्रकार की—द्रव्य पूजा

एवं भाव पूजा ३३२, ३३३,

अष्टविध पूजन ३३६, हिन्दूपूजा-

पद्धति से समानता ३३५-३३६

जैन पूजा मण्डप ३३४

जैन पूजा विधियाँ ३१५, ३३२-३३५

३६१-३६३

अर्घ्य ३३५, अर्हत्स्तुति ३३०,

अष्ट द्रव्य पूजा ३३२, आह्वान

३३२, ओ३म उच्चारण ३६१,

जयकार ३६१, जल स्नान

३३२, दीप प्रज्वलन ३३२,

द्रव्य समर्पण ३३५, पंचनमस्कार

३२७, पञ्चाङ्गस्पर्श ३६१,

पंचोपचार ३३२, प्रतिमा अभि-

षेक ३३३, प्रतिमा अलंकरण

३३५, मन्त्रजाप ३३४, ४३५,

प्रदक्षिणा ३३५, वन्दना ३६३,

विसर्जन ३३२, शेषिका ३३५,

सन्निधीकरण ३३२, स्तुतिवाचन

३४१, ३६३, स्थापन ३३२,

स्वस्तिवाचन ३३५

जैन प्रतिनारायण (नौ) ३५८, ३५९

जैन प्रतिमा अभिषेक ३३२-३३७,

३४८, ३४९, प्रतिमा स्नान,

३३२, अभिषेकशाला में स्थापन

३३४, सुगन्धित द्रव्यों का लेप,

३३२, ३३४, पुष्पादि समर्पण

३३२, स्वस्तिक निर्माण ३३२,

प्रतिमा अलंकरण ३३४, दीप

प्रज्वलन ३३२, अर्घ्यदान

३३४, आरी से अभिषेक ३३४,

घड़ों से अभिषेक ३३४

जैन प्रमाण व्यवस्था ३८१-३८२,

दार्शनिक पृष्ठभूमि ३७५-३७८;

सामान्य लक्षण ३८१, इसके

भेद तथा उपभेद ३८१-३८२

नयचर्चा ३८२

जैन भाव पूजा ३३२-३३३

जैन भौगोलिक मान्यताएँ ५११, ५१२

जैन मनु ३५७

जैन मनुओं की संख्या ३५७, ३५८

जैन मन्दिर ५१, ५६, ३३६-३४२,

३४४-३५०, ४०४

इनकी लोकप्रियता ३४०, मन्दिर

निर्माण का धार्मिक मनोविज्ञान

- ३३६-३४०, इनकी स्थापत्य कला ३४०-३४१, इनका कलात्मक वैभव ३४१-३४२, कुमारपाल एवं वस्तुपाल द्वारा मन्दिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार ३४४-३४७
- जैन मन्दिर—इन्द्रकूट ३४०
इसका विशाल उद्यान ३४१, इसमें विविध प्रकार की शालाएँ ३४१, इसका विशाल परकोटा ३४१, इसमें भित्ति-चित्रकारी ३४२, इसके स्फटिक मणि-स्तम्भ ३४२, इसके घरातल पर मणि-रत्नों की चित्रकारी ३४२
- जैन मन्दिरों का निर्माण, ३४०-३४७
- जैन महाकाव्य-भेद : ७, ३४, ३५, ३६, ४१-४५, ४८-५०, ५६, ६४
अलंकृत ३०, ३६, ४१, विकसन-शील ३६, संस्कृत अलंकृत ४०-४२, ४५, ६८, ७०, ७३-७६, संस्कृत ऐतिहासिक ४२, ४६, संस्कृत चरित, ४४, संस्कृत चरितेतर ४५, ४६, संस्कृत सन्धान ४६
- जैन मुनि १२१, २१४, २२६, २२८, ३२४, ३४५, ३५६-३६७, ३६६, ३८१
- जैन मुनि आचार ३५६, ३६०, ३६२
जैन मुनि आश्रम (शिक्षा केन्द्र), ४२०
जैन मुनि की वास्तव चिकित्सा ४४८-४४९
- जैन मुनि वर्ग ३१४, ३२५, ३२६, ३५६-३६७, ४०४
भोग से विरक्ति की ओर ३५६, अध्यात्मसाधना का सोपान ३६०, सामाजिक प्रासङ्गिकता ३६०, समाज में आदरपूर्ण स्थान ३६०-३६१, मुनि चर्या, ३६२-३६३, तपश्चर्या ३६३-३६५, मुनि विहार ३६५-३६६
- जैन मुनियों का संघ ३६६
जैन मुनियों को आहार दान ३४८
जैन मुनि वर्ग ५०६
जैन लोक ५११
अघोलोक, मध्य लोक, ऊर्ध्व-लोक ५११
- जैन विद्या परम्परा ४२२-४२५
ऋषभदेव द्वारा विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा ४२२, जैन आगमों की बहतर कलाएँ ३२४, परम्परागत जैन विद्याएँ—जातिविद्या, कुलविद्या, तपविद्या ४२३, विद्याओं के आठ निकाय ४२४, चौदहपूर्वों की विद्याएँ ४२३, जैन महाकाव्यों की सोलह विद्याएँ तथा बहतर कलाएँ ४२४-४२५
- जैन विद्याएं (प्राच्य) ४२३
जैनानुमोदित विद्या का स्वरूप ४२३, जैन विद्याओं का वर्गीकरण ४२३, पितृपक्ष की विद्याएँ ४२३, साधुओं की विद्याएँ ४२३, विद्याधरों की

विद्याएं ४२४, चौदह पूर्वी
विद्याएं, जैन विद्याओं/उप-
विद्याओं/कलाओं की संख्या
४२४-४२५

जैन विद्या देवियां ४२४

जैन विद्याओं के आठ निकाय ४२४

जैन विमान ३५१, ३५३

पाँच प्रकार के—अपराजित ३५१

अजयन्त ३५१, विजय ३५१,

वैजयन्त ३५१, सर्वार्थसिद्धि

३५१, श्रेणीबद्ध विमान ३५१

जैन वृत्ति ग्रन्थ २८१, २८२

जैनव्रत ३१४, ३२१, ३२३, ३२६-

३२८, ३३१-३३३, ३५२,

३६०-३६३, ३६६

अणुव्रत ३२५-३२७, ३२८,

३२९, ३५२, ३६५

अचौर्याणुव्रत ३२६, ३२९, ३३२

प्रतिनिर्जिविभागव्रत ३२६

अनर्थदण्डव्रत ३२६, ३२७,

३२९, ३३१

अस्तेयाणुव्रत ३२६

अहिंसाणुव्रत ३२६, ३३१

गुणव्रत ३२६, ३२७-३२९,

३५२

आन्दायणव्रत ३६५

दिग्व्रत ३२६, ३२७, ३२९,

३५२

वैशव्रत ३२६, ३२९

वैशाखकाशिकव्रत ३२९

वंचाणुव्रत ३२४

वरिष्ठहपरिमाणव्रत ३२६, ३२७,

३३१

परिभोगनिवृत्तिव्रत ३२९

प्रोषधोपवासव्रत ३२६, ३२८,

३२९, ३३२

ब्रह्मचर्याणुव्रत ३२६, ३२७,

३३१, ३५३

भोगविरति व्रत ३२९

भोगोपभोगपरिमाणव्रत ३२६,

३२९, ३३१

महाव्रत ३२८, ३५९, ३६३

वैयावृत्यव्रत ३२९

शिक्षाव्रत ३२६, ३५२

संतोषव्रत ३२७

सत्याणुव्रत ३२६, ३३१

सल्लेखनाव्रत ३२८, ३२९

सामयिकव्रत ३२६-३२८,

३२९-३३१

स्वदारसंतोषव्रत ३२७

जैन व्रताचरण (द्वादश) ३२६-३२८,

३३०-३३३, ३५२, ३५३,

३५९

द्वेताम्बर-दिगम्बर भेद ३२८,

३२९, वर्गीकरण का आधार

३२९-३३०, सामाजिक न्याय

एवं अहिंसा का आप्रह ३२९,

राजा कुमारपाल द्वारा द्वादश

व्रतों का पालन ३३०, ३३२,

गुजरात में राजकीय स्तर पर

लागू ३३०-३३१, चौदह वर्षों

तक 'अमारि' की घोषणा

३३०

जैन शलाकापुरुष ३९, ४०, ३४२,

३५६-३५९

चौदह कुलकर/सोलह मनु ३५७

३५८, त्रिषष्टिशलाकापुरुष	स्वर्ग के इन्द्र ३४८, स्वर्ग में
३५८, ३५९	विहार-क्रीड़ा ३५३, ३५५;
जैन शिक्षणविधि ४०८	आमोद-प्रमोद ३५१, ३५५,
जैन शिक्षा परम्परा ४०८, ४०९,	स्वर्गस्थ देव-देवियों की शृङ्गार-
४२२-४२५	लीलाएं ३५५
जैन शिलालेख १३५	जैन षोडश स्वप्न ४५४, ४५५
जैन संघ व्यवस्था ३२६, ३३३, ४६२	जैनाचार्य ४०३-४०५
४६३	ज्वलनशील आयुध १८२
जैन संस्कृति १२, १४, २६, २७,	ज्ञानलक्षण ४००
२८, ३५, ३६, ४०, ४६, ६४,	ज्ञान-विज्ञान ४०७
६६, ३१५, ३२१	ज्ञानशून्य (जीव) ३६७
जैन समाज ३३८, ३४०, ३४८,	ज्ञानार्जन का ढोंग ४१६
३५०, ३६९	ज्ञानावरण ३६०
जैन साध्वियों की तपश्चर्या ३६६-	ज्ञानावरणी कर्म ३८६
३६७	ज्ञानोपयोग ३८४, ३८६
जैन साध्वियों की शिक्षा ४२०	भुग्गी-भोपड़ियां २४७
जैन साध्वी ३६७, ३६७	भूटे मापतोल २३१
इनकी संघव्यवस्था, ३६६,	टाउन २६४
इनकी शिक्षा-दीक्षा ३६६	टाउन काउंसिल २७३, २७४
इनके व्रत-उपवास ३६७, इनकी	टाउन कॉरपोरेशन २७४
तपश्चर्या ३७६	टाउन हॉल २७४
राजपरिवार की रानियों द्वारा	ट्रेड रूट २८७, २९१
दीक्षा ३६७	ट्रेडर्स कॉरपोरेशन २६४
जैन साध्वी वर्ग ४६३	ट्रेडर्स बॉडी २६४
जैन साहित्य २६६	टोल (चुंगी), २९१
जैन स्वर्ग (देवलोक) ३२५, ३४८,	ठाकुर १३४
३५१-३५३	डलिया बनाना (व्यवसाय) २३३पा०
स्वर्ग/देवलोक की प्राप्ति ३२५,	डाका डालना (व्यवसाय) १०३,
३५२, स्वर्ग दश प्रकार के	१०४, २३८
३५१, स्वर्ग सुख ३५३, ३५५,	डिटैरेंट थियरी १०१
स्वर्गस्थ देव ३५३, ३५५,	डिवाइन थियरी १०१
स्वर्गस्थ देवांगनाएं ३५३, ३५५,	णगर २८०

गणित २७६, २८०-२८२

गणित २५५

तकनीकी व्यवसाय २३३, २३८

तक्षक (बहई) २००, २३२ पा०
२३५

तक्षशिला विश्वविद्यालय ४१४, ४२१

तडाग-निर्माण ३४६

तत्त्वमीमांसा ४००, ४०५, ४०६

तत्त्व-श्रद्धान ३८६

तत्त्वोपप्लवधाद (लोकायतिक) ४०२-
४०३, ४०६, चार्वाकवाद से भी
अधिक प्रगतिशील ४०२, इसके
द्वारा तत्त्वमात्र का अपलाप
४०२, जीव तथा उसके पाप-
पुण्य, बन्ध-मोक्ष आदि का
सर्वथा खण्डन ४०२, जैन
दार्शनिकों द्वारा इस पर आक्षेप
४०२, ४०३, तत्त्ववादियों की
प्रमाणव्यवस्था का मण्डन
४०३

तत्त्वोपप्लवधादी ४०२

तपविद्या ४२३

तपोवन (शिलाकेन्द्र) ४१३, ४१६

तमः प्रभा (भूमि) ३८५

तर्कप्रधान शिक्षा ४२२

तर्कशास्त्र ३२०

तार्किक प्रणाली ३७६-३७८

तालाबों का जीर्णोद्धार ३४४, ३४४

तिर्यञ्च (जीव) ३८५

तिर्यञ्च गति १०१

तिलपिषक (हिली) २३२ पा०

तीर्थङ्कर ५१, ५६-५८

तीर्थ यात्रा ३५०, ४०४

तीर्थयात्रा-महोत्सव ३५०

तीर्थस्थान (जैन तथा हिन्दू) ३४४-
३४७, ३७३-३७५, ४०४

तीर्थस्थानों का जीर्णोद्धार ३४४-
३४७, ४०४

तीर्थस्थानों का दर्शन ३४२-३४३,
३६५

तुरायण ३६८

तुर्क ६६

तुलनात्मक ज्ञान-विज्ञान ४२२

तेरह द्वीप ५११

तेल निकालना (व्यवसाय) २३६

तेरण (पताका युक्त) २५१

त्रिक (तिराहा) २५१

त्रिपिटक ग्रन्थ ४०८

त्रिपुरादि असुर ३७१

त्रिविधशक्ति ७३, १५०, ४३४

प्रभुशक्ति, मन्त्र शक्ति, उत्साह

शक्ति ७३, ४३४

त्रिषष्टिशलाका पुरुष ३६, ४०, ४५

दक्षिण भारत के निगम २७०

दक्षिणायन ३५६

दण्ड १३, २१, १००, १०१, १०३,
१०५, १०८, ११६, १४६,
१५०, १५१, १५२, १५३,
१७३, १७४, १६४

दण्डधर (पद) ११७, १२१

दण्डनाथ (पद) ११३, ११७

दण्डनायक (पद) १०६, ११०, ११६

११७, ११८, १५३, १५४

दण्डनीति ६७, ६८, ७५, ७६, ८२,
१५०, १८५

दण्डनेत्र (पद) ११७
 दण्डप्रधान (राजनीति) ६८
 दण्डभेद (गुणस्थान) ३६३
 दण्डव्यवस्था १००-१०३
 दण्डाधिकारी (पद) ११६
 दण्डाधिनाथ (पद) ११६
 दण्डाधिप (पद) ११६
 दण्डाधिपति (पद) ७२, ११६
 दण्डेश (पद) ११६
 दण्डेश्वर (पद) ११६
 दन्तकार २३२ पा०
 दन्तयुक्त आयुष १७६
 दन्तवाणिज्य (व्यवसाय) २३६
 दर्शन ४, ८, ११, १६, १८, ३६१
 दर्शनावरणा ३६०
 दर्शनोपयोग ३८४
 दक्षप्रद (व्यवसाय) २३६
 दक्षलक्षणधर्म ३६०
 दहेज/दहेज प्रथा ६६, १६६, १६८,
 २००, ५०४-५०६, ५०८, ५०९
 दहेज प्रथा का विरोध ५०६, ५०९
 अस्त्रशस्त्र तथा सम्पत्ति दुःखों
 का कारण ५०६; गाय-बैल
 आदि पशु रागद्वेष का कारण
 ५०६, कन्यादान/भूमिदान
 अप्रणयकारी ५०६
 दहेज में देय वस्तुओं से मोहनीय
 कर्मों की वृद्धि ५०६
 दहेज वस्तुएं ४७३, ५०४, ५०५
 आषा राज्य ५०४, हाथी (एक
 हजार) ५०४, ५०५ घोड़े (बारह
 हजार) ५०४, ५०५, २४ ५०५

ग्राम (एक लाख) ५०४
 स्वर्णमुद्रा (चौदह कोटि इमाला
 ५०४, ५०५, नाटककार
 (बत्तीस) ५०४, अन्तःपुर के
 वृद्ध सेवक ५०४, दास-दासियां
 ४७३, ५०४; राज्य कर्मचारी
 ५०४, वरलम्बिकाएं (सी)
 ३०५; पात्र/वस्त्र आदि ५०५
 दान २४६, ३२४, ३२५, ३४६,
 ३५०, ३५३, ३६८
 दान (चुंगी) २६१
 दान नीति ७५, ७६, ७७, ७८,
 ७९, ८०, ८२, १५०, १५१,
 १५२, १८५, १६२
 दान-प्रशंसा ५०६
 भूमि की ५०६, गृह की ५०६,
 स्वर्ण की ५०६, पशुओं की
 ५०६
 दानस्तुति ३१, ३७
 दाम्पत्य जीवन १६१, ४७६, ४७७-
 ४७८, ४८०
 दायभाग १३
 दार्शनिक मान्यता ३१४, ३६०,
 ३६३, ३८१, ४०५, ४०६
 दार्शनिकवाद (जैनेतर) ३७६, ३६२-
 ३६३-४०३
 सृष्टि विषयक प्राचीनवाद
 ३६२-३६५, सांख्याभिमत
 सत्कार्यवाद ३६५-३६६,
 मीमांसाभिमत सर्वज्ञवाद ३६६-
 ३६७, बौद्धाभिमत विविधवाद
 ३६७-३६८, पौराणिक देववाद

३६८, चार्वाकाभिमतवाद ३६६,
 लोकायतिकवाद ४०१-४०३
 वार्षानिक सम्प्रदाय ३८०, ३८१,
 ४०५, ४०६
 दास/दासी १५६, २३६
 दासप्रथा १२७
 दासों को किराए पर देना (व्यवसाय)
 २३६
 दिगम्बर सम्प्रदाय ३६, ४०, ४८
 दिग्विजय ६६, ७६, १२०, १४८
 दिन (काल खण्ड) ३८६
 दिव्यध्वनि ३८५
 दिव्यारुण १८०, १८३, १८४
 दीक्षागृह ३६२
 दीपोत्सव ३५०
 दीधिका २५१
 दुर्मांजिले/सात-मांजिले भकान २४६
 दुर्ग ७०, ७३, ६७, ११६, १५६,
 १६२, १६५, १७८, १८०,
 १८८, २६३
 दुर्ग भारुमण १८६
 दुर्ग निवेश १३५
 दुर्गपाल (पद) १२०
 दुर्गभेदक आयुष १०४
 दुर्गयुद्ध १६४, १६५, १८०
 दुर्ग-रणधम्मभौर १५६, १६४
 दुर्गधिकारी (पद) ७२
 दुर्गान्तवासी १३५
 दुःषमा (काल) ३५६, ३५७
 दुःषमा-दुःषमा (काल) ३५६, ३५७
 दुःषमा-शुषमा (काल) ३५६-३५८-
 दूत ६१, ८१, ६५, ११५, १२२,
 १५१, १५२, १५६, १८७

दूत सम्प्रेषण ३३, १४६
 दृष्ट प्रयोजन (काव्य) १६
 दृष्टि युद्ध १६३
 देव (जीव) ३८५
 देवकन्या १०६
 देव कन्याओं के साथ रमण ४७१
 देवता १६०, ३६६
 देवोपासना का विरोध ३१८, ३१६
 देश ३३, ११६, ३४१, ५१३
 देशविरत ३६२
 देशी भाषा ४३०, ४३१
 देशी भाषाओं में शिक्षा ४३१
 देहनिर्माणात्मिका शक्ति ३६६
 देव (वाद) ३८०
 देवश (पद) ७२, ११०, ११४,
 ४५१
 देवी अधिकारवाद ६७
 देवी सिद्धान्त ६६, ६८, १०१
 दोणमुह ३४२, २८०
 दोलागृह (झींडा गृह) २५२
 दूत (जुभा) १०७, १३६
 द्रव्याधिक नय ३७६, ३८२
 इसमें नैगम, संग्रह तथा व्यवहार
 नयों का अन्तर्भाव ३८२
 द्रोणक (नगर) २८५
 द्रोणमुख २४२, २४३, २६०, २७२,
 २८०, २८४, ३११
 नदी के तटवर्ती नगर २६०,
 बन्दरगाह २६०, व्यापारिक
 केन्द्र २६०, चार सौ ग्रामों का
 समूह २८०, २८४, व्यापारी वर्ग
 का प्राधान्य रूप से निवास
 स्थान २६०

दारपाल/वेत्रिन् १२१, २०५

द्विमातृका ४१०

द्वीप ३३, ३५४, ५१०, ५११

सात द्वीप ५१०, नौ द्वीप ५११

द्विधीभाव ७५, १५०

धर्मिक (धार्मिक विक्रेता) २३३ पा०

धन/सम्पत्ति ६८, १८६, १६३, ३३१

की व्यक्तिगतभावना १६०, की लालसा १६१, का उपभोग १६०-१६२, की सीमा का निर्धारण ३३१

धनिक वर्ग २१३, २१४, २४०, ३१३, ४०७

धर्म ५, ८, ११-१६, १८, १९, २६, ३२, ३४, ६५, ६६, ७८, ६३, १००, १८६, ३१३-३८१, ३८३, ३८६, ३८८, ३८९, ४०२

धर्म का समाजशास्त्रीय स्वरूप ११-१२, ३३३, धर्मशास्त्र और आधुनिक समाज शास्त्र १३-१४, धर्म की परिभाषा ३१३, इसका सामाजिक नियंत्रण ३१३, जागतिक धारण शक्ति के रूप में ३१३, धर्म तथा रिलिजन ३१३-३१४, इसकी सामाजिक प्रासङ्गिकता ३१३, ३१४, ३२०, इसकी सामाजिक विसंगतियाँ ३१३-३१४, निवृत्ति प्रधानधर्म ३५६, ३६० इसके शाश्वत और परिवर्तनशील मूल्य ३१४, इसकी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति ३१४

धर्मकथा ४४, ४५, ५०, ५१

धर्मनिरपेक्ष शिक्षा मूल्य ४२१

धर्म-प्रगति ४०४

धर्मप्रभावना ३१४, ३६०, ४०३

धर्म प्रासङ्गिकता ३१३, ३१४, ३२०

धर्ममूलक राजचेतना ६८, ३६१

धर्मशाला-जीर्णोद्धार ३४४, ३४५

धर्मशास्त्र ५, १२, १३, १४, ३४, ६५, ६६, ६८, ६९, ७४

धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता ४०४

धर्म-संस्कृति संरक्षण ४२२

धर्मसूत्र १२, १३, २६, ४११

धर्मसूत्रों में नारी ४५६-४६०

स्त्री को पराश्रित मानना ४५६, बहुपत्नीकता का समर्थन ४६०, एक पत्नीव्रत की प्रशंसा ४६०, निर्दोष पत्नी का त्याग—एक भयङ्कर अपराध ४६०

धातु/रत्न/खनिज आदि :—

अवलगुज १८२

ककैतन २२८

कांस्य ३३३

कूम्भी १८३

कोयला १८३, २३६, ३१६

गंधक १८३

गारुडमणि २२८

चन्द्रकान्तमणि २२८, २४८

चांदी १६३, २२४, २२६,

२२८, २३१, ३३३, ३३७

चांदी से चित्रकारी ३४२

जस्ता १८३

टङ्कण (टाखन-खार) २३६
 तीबा २२८, ३३३, ३४२
 ताम्बे से चित्रकारी ३४२
 नील (नीलम) २२८
 नीलमणि ३४२
 पद्मरागमणि २२८, ३७७
 पद्मप्रभ (सफेद मणि) ३४२
 पुष्कराग मणि ३४२
 प्रधाल २२८, २३२
 मणि २२६, २३२, ३७७
 मन्सिल २३६
 मरकत मणि ३४२
 महेन्द्रनीलमणि २२८
 इस मणि से निर्मित कमल
 ३४२
 माणिक्य २२४, ३४३
 मुक्ता २१८, २३२
 मूंगा २२६, २३२, ३४२
 मोती २२४, २२६, २२८,
 २३२, ३४२
 मोम १८३
 भवसार १८३
 रत्न ६७, ६८, १६२, १६३,
 १२६-२२६, ३७७
 मोह/लोहा १७४, १७६, १७८,
 १६३, २२८, २३४, २५७
 वैदूर्यमणि २२८
 इससे निर्मित कमलनाल
 ३४२
 शंख २२८
 श्रीवत्समणि ३०७
 सीसा १८३, १६३

सूक्ति २२८
 सोना (स्वर्ण) १६३, २२४,
 २२६, २२८, २३२, २५७,
 ३२७, ३३१, ३३३, ३६३,
 ३८६, ३६४
 सोने से चित्रकारी ३४२,
 स्वर्णमुद्रा १६६, २२६-२३१,
 ३३१, स्वर्णकलश ३४२,
 स्वर्ण कमल २४८
 स्फटिक मणि ३४२, ३४२
 हीरा २२८
 धातुकार २३२ पा०
 धात्री १२४
 धान्यगृह २५२
 धार्मिक अन्धविश्वास ३१४, ३१६,
 ३६६
 धार्मिक कर्मकाण्ड ३२२-३३६,
 ३२५, ३६०
 धार्मिक चेतना २५, २६, २७, २६,
 ३५, १८६, ४०७
 धार्मिक महोत्सव ४३८, ४४२, ४८३
 धार्मिक सम्प्रदाय २८, ३६०, ३७१,
 ३७२, ३६८
 धार्मिक सहिष्णुता ३१८, ३४३,
 ४०३, ४०४
 धार्मिक सम्मेलन के केन्द्र ४०८
 धार्मिक स्थानों में जन-सुविधाएं ३४४
 ३४७
 उपाश्रय निर्माण ३४५-३४६,
 औषधालय निर्माण ३४५, कूआ
 खुदवाना ३४४-३४५, तडाम्

निर्माण ३४४-३४६, वापी
निर्माण ३४५ धर्मशाला निर्माण
३४४, ३४५, प्रपा (प्याउ)
निर्माण ३४५, ३४७, राजमार्ग
निर्माण ३४७, सरोवर निर्माण
३४६
विवेकार नीति १०२, १०३
वीरोदात्तनायक ५६, ६२
धूमप्रभा (भूमि) ३८५
ध्यान चतुर्विध ३३३
नकर २४६
नगर ४, ७, ३२, ३३, ५५-५८,
६२, ६४, ६५, ११६, १२०,
१६२, १६७, १६८, २०१,
२१२, २१३, २२७, २४२-
२६५, २६६, २७०, २७२-
२७८, २८०-२८१, २८४,
२८५, २६१, ३११, ३४१,
३५०, ३६६
नगर का अर्थ और परिभाषा
२४६, वास्तुशास्त्रीय चिह्न
२४६-२५१, आदर्श नगर का
वास्तुशिल्प २५१-२५२ इनका
आर्थिक वैभव २४६, २४७,
इनकी कर से मुक्ति २४६,
इनमें क्रय-विक्रय २४७, इनके
बाजार २२४-२२८, इनमें
भवन विन्यास २४८, इनमें
भुग्गी-भोगिणियों का अभाव
२४७, इनमें वेद्यालय २४७
इनमें बौद्धिक एवं सांस्कृतिक
गतिविधियां २४६, २४७,

राजधानी के रूप में २५७,
नगरों के छह भेद २८५, दस
भेद २८३
नगर (शिक्षा केन्द्र) ४२०
नगर की पुनर्स्थापना २५१
नगर के बाजार २२४, २२७, २२८,
२८५
नगरचिह्न २५१
नगर जीवन २४६, २४७
नगर द्वार २४६; २४६
नगर निर्माण (व्यवसाय) २३८
नगर परिसर २४६
नगर प्रधान २७५
नगर भवन २७४
नगरवाणिज्यसंघपरिषद् २७४
नगर वर्णन ५५, ५६, ५७, ५८,
६२, ६४
नगर वेद्या २४७
नगर व्यापारी २७४
नगर शासक २६७
नगर शासन २७५
नगरश्रेष्ठी २७६
नगर सभा २७३, २७४
नगर सेठ २२५, २२६, २६०
नगराध्यक्ष (पद) ११६
नगरों का दान २७३
नगरों का स्वामित्व १६२
नगरों के भेद २८५

छह प्रकार के—निगम-नगर,
द्रोणक-नगर, कुब्ज-नगर
पट्टण-नगर, शिविर-नगर

२८५, नगर के दस भेद २८४,
 द्रष्टव्य—मूल-नगर, शाखा-
 नगर, नृपभोग्य-नगर, राज-
 धात्री-नगर, महानगर
 नग्न साधु १५८
 नट (अभिनेता) २२६, २३५
 नदी २११, २१४, २२३, २४२,
 २४४, २५१, ३३३
 नन्दिवर्चन (उत्सव गृह) २५२
 नन्दीश्वर द्वीप ३४८
 नरपति ८४
 नरेश्वर ८४
 नर्तक २२६
 नर्तकियों का राजनैतिक प्रयोग ४८३
 नर्तकियों के श्रृङ्गारिक भाव ४७२,
 ४८३
 नर्तकी १६२, २३६, ४४२, ४७३,
 ४८३
 नवग्रह ४५४
 नवजात शिशु ४००
 नव दीक्षित मुनि ३६२
 नव द्वीप सिद्धान्त ५१०, ५११
 नवनिधि १६२-१६४
 काल निधि १६४, नैसर्गनिधि
 १६२, पद्मनिधि १६३,
 पद्मकुनिधि १६३, पिङ्गल-
 निधि १६३, महातालनिधि
 १६३, माणवनिधि १६४,
 शंखनिधि १६३, सर्वरत्ननिधि
 १६४, इनसे सम्बद्ध सम्पत्ति की
 व्यवधारणा १६२
 नाटक १३४

नागर २८२
 नागरक २७१
 नाटक २२, २३, २७, २३५
 नाट्यशास्त्र १६, २१, २२
 नाडी (काल खण्ड) ३५६, ३८६
 नापित (नाई) २००, २०८, २३३पा०,
 २३४
 नाम (बन्ध) ३६०
 नायक २२, २३, ४३, ५६, ६०,
 ६२, ६३, ६४, १३४
 नारकी (जीव) १०२, ३८५
 नारी शक्ति का देवत्व ४५८
 नालन्दा विश्वविद्यालय २७६, ४२१
 नासदीय सूक्त ४५६
 नास्तिक दर्शन ३७६
 नास्तिकाग्रमाश्रित ४०२
 निकाय २६, ३४
 निगम २१०, २१२, २२२, २४२-
 २४४, २५३-२५६, २६४-२६१,
 ३११
 निगम-एक पुनर्विवेचन २६४-२६१,
 आधुनिक विद्वानों के मत २६४-
 २६६, इसकी समीक्षा रामायण
 में २६६-२७१, २६०, अष्टा-
 ध्यायी में २७१-२७२, २६०,
 अभिलेखों/मुद्राभिलेखों/सिक्कों
 में २७२-२७६, २६०, बौद्ध
 साहित्य में २७७-२७९, २६०,
 जैन साहित्य में २५३-२५६,
 २५६-२८२, २८६, २६०, कोष
 ग्रन्थों में २८२-२६५, वास्तुशास्त्र

के ग्रन्थों में २८५-२८६, स्मृति/
निबन्ध ग्रन्थों में २८७, २८८,
२८९, दक्षिण भारत में २८८-
२९०, निष्कर्ष २९०-२९१

निगम का दान २७३

निगम का प्रधान २६७

निगम का मुखिया २६७

निगम का सेठ २७६

निगम के विविध अर्थ—

व्यापारिक समिति २६४, २६५
२६६, २७७, व्यापारियों का
सामूहिक संगठन २६४, २६८,
२७२, २७३, २७५, कॉरपो-
रेशन २६५, चैम्बर ऑफ कॉमर्स
३६५, नगर २६४, २६५,
२७२-२७४, नृपभोग्य-नगर
२७६, २८०, नगरभेदकसंस्थिति
२६६, २७२, २८२, ग्राम २४४
२४५, २४३, २४५, २७१-
२७४, कृषि ग्राम २५६, भक्त
ग्राम २४४, २४५, २४५,
व्यापारिक ग्राम २४३, २५६,
२८१-२८४, २८५, २८९,
व्यापार मार्ग २७१, २८४,
वेदविद्या २७१, २८०, छन्द
२७१

निगम ग्राम २१२, २२२, २५४,
२५५, २७८, ३११

निगम चेतना २४३, २५३, २५५

निगम—दक्षिण भारत के २८८

निगम नगर २८५, २८७ पा०

निगम बस्तियां

कारीगरों की २८६, शिल्पियों
की २८६, नैगमों की २८२,
वणिकों की २७६, २८२,
व्यापारियों की २८२, २८६,
कृषकों की २४४, २४५, २५५,
२५६, अहीर आदि जातियों की
२४३, २५५, २७८, कुक्ष-शाक्य
आदि जातियों की २७८, इनमें
चारों वर्णों का निवास २८६,
२८७ पा०

निगम मुख्य २६७

निगमवृद्ध २६७

निगमस २७४

निगमसभा २७२, २७४, २८०

इसमें पञ्जीकरण २७४

निगमस्य २७४

निगमागम २८१

निगमागमदान २८१

निगमाः २४५, २७१, २८०

निगमे २७१

निगमों का वास्तुशिल्प

पञ्चीस ग्रामों का समूह २८४,
पत्तन का आधा भाग २८४,
ग्राम तुल्य २४५, २५३-२५६,
२८६, २८९, नृपभोग्य-नगर
तुल्य २८५, वन-पर्वतादि से
रक्षित २८५, इनके शिल्पिहान
२१०, २५६, इनमें अनाज
भण्डार २८६, २८९, इनमें
बाजार, न्यायालय, ऊँचे महल
आदि की सुविधाएं २८५,

आवागमन सुविधा २७८, २७९
 २९०, २९१, अर्द्धविकसित
 दशा २७९, २८०
 निगमों के उच्चाधिकारी २७५
 उनकी मुहर २७५
 नित्य-अनित्य ३८३, ३८८
 निधि १९२, १९३, १९४
 निबन्ध ग्रन्थ २६६, २८७, २८८
 निम्नवर्ग १३३, १३५, २०१
 नियत कार्य-कारणभाव ३९४
 नियतिवाद ३७६, ३८०, ३९३,
 ३९५
 नियति से पदार्थों की उत्पत्ति
 ३९३
 नियुद्ध १६८
 निरपेक्ष भाव ३७७
 निरोद्धात्मक सिद्धान्त १०१,
 निरोध ३९०
 निग्रन्थ ४६२ ४६३
 निग्रन्थ शिक्षक ४१३
 निर्जरा (तत्त्व) ३६३, ३८४, ३९१,
 परिभाषा, ३९१, इसके दो भेद
 ३९१, सविपाक-निर्जरा ३९१
 अविपाक-निर्जरा ३९१
 निर्लाञ्छन (व्यवसाय) २९९
 निवृत्तिप्रधान धर्म ३५९, ३६०
 निवेशन २७४
 निगम का आधा भाग २८४
 निशुब्ध राक्षस ३७१
 निःशुल्क चिकित्सा ४५०
 निश्चिन्तात्मक बुद्धि ३७८
 निषिद्ध जैन विद्याएं ४२४

निषिद्ध जैन व्यवसाय २३८-२३९
 पन्द्रह प्रकार के—
 १. अग्नि जीविका, २. अनो-
 जीविका, ३. असतीपोष, ४.
 केशवाणिज्य, ५. दन्तवाणिज्य,
 ६. द्रवप्रद, ७. निर्लाञ्छन, ८.
 भाटक जीविका, ९. यन्त्रपीडन
 १०. रसवाणिज्य, ११. लाक्षा
 वाणिज्य, १२. वनजीविका,
 १३. विषवाणिज्य, १४. सरः
 शोष, १५. स्फोटजीविका
 २३८-२३९
 नील (लेख्या) ३६३
 नृत्य १८, २१, ३१, १६१, १६२,
 १८५
 नृत्य के प्रकार ४४२, ४४३
 अधरनृत्य छह प्रकार का ४४२,
 ४४३, उदरनृत्य तीन प्रकार
 का ४४२, कटिनृत्य पांच प्रकार
 का ४४२, कपोलनृत्य छह
 प्रकार का ४४२, कराभिनय
 पूर्णनृत्य बीस प्रकार का ४४२,
 ग्रीवानृत्य नौ प्रकार का ४४२,
 ताण्डवनृत्य ४४३, नासिका
 नृत्य छह प्रकार का ४४२, नेत्र-
 पक्षनृत्य छब्बीस प्रकार का
 ४४२, पादनृत्य छह प्रकार का
 ४४२, पादाभिनयनृत्य बत्तीस
 प्रकार का ४४२, पाश्वरनृत्य
 तीन प्रकार का ४४२, बाहुनृत्य
 दश प्रकार का ४४२, भ्रूभङ्ग-
 नृत्य सात प्रकार का ४४२,

मण्डलनृत्य ४४३, मयूरासन
बन्धनृत्य ४४३, लास्यनृत्य
४४२, ४४३, शिरनृत्य तेरह
प्रकार का ४४२, हत्तीसकनृत्य
४४३, हस्तनृत्य चौसठ प्रकार
का ४४२

नृत्य व्यवसाय ४८३

नृपति ८३, ६४

नृपभोग्य नगर २७६, २८५, २८६

नैगमा २७३

नेपाल देश के रत्न कम्बल २६७

नेमिनाथ (तीर्थङ्कर) ४७, ५१,
३३६, ३७५

नेमिनाथ की पूजा ३३६

नैगम २६४-२७०, २७२, २७६,
२८२, २८५-२८९

निगम का निवासी २६६, २७०

वणिक्/व्यापारी २८५-२८६

निगमशासक २६६, २७०

नगरशासक २६७, इसकी मुद्रा

(सील) २७६, नगर सेठ २६०,

साथवाहादि का समूह २८८,

इनका संगठन २८८, एक साथ

व्यापार करने वाले नाना जाति

के लोग २८७, बहुमूल्य रत्नों

आदि के व्यापारी २८७, पाशु-

पत आदि सम्प्रदाय २७८, वेद

को प्रमाण मानने वाले २८८,

राज्य की संवैधानिक समिति

२७०

नैगम धर्म २८७

नैगम नय ३६३, ३७७, ३८२

नैगम वर्ग २६९

नैगमा: २७२, २७६

नागरिकों की सङ्गठित समिति

२७२, नगर से सम्बन्धित २७३,

नगर सभा के रूप में २७३

नैमित्तिक (पद) ११४

नैयायिक ३७६, ३८१

नैरात्म्यवाद ३६८

आत्मा के अस्तित्व का निषेध

३६८, बुद्ध की 'कहणा' पर

सन्देह ३६८

न्यायदर्शन ३७६, ४०५, ४३३

न्यायव्यवस्था २१, १००, १०१,

११६

न्यायशाला २८५

न्यायाधीश (पद) ११६, ११७

न्यायालयीय प्रक्रिया १०८

पक्ष-विपक्ष ७६, १०८

पक्षी १०२, १०४, २२३-२२४

प्रशिक्षित पक्षी १०४, पक्षियों से

मनोरंजन २२२, पालतू पक्षी

२२३, पक्षियों से दुर्व्यवहार,

आखेटकों द्वारा इनका वध

२२३-२२४ (द्रष्टव्य पशु/पक्षी)

पक्कू परिसरा २४६

पंकप्रभा (भूमि) ३८५

पंचनमस्कार मन्त्र ३२७

पञ्चपरमेष्ठी ३६०

पञ्चविध शरीर ३८८

पञ्चसन्धि ५८

पञ्चाङ्ग विधि ४१६

पञ्चास्तिकाय ३८३

पंचेन्द्रिय प्रत्यक्ष ३६६

चक्षु-इन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, रस-
नेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, तथा स्पर्श-
न्द्रिय ३६६

पटेल १३३

पट्टकिल १३३

पट्ट गृह (मंदिर) ३४१

पट्टण २४२, २८०, २८५

पट्टण (नगर) २८५

पत्तन २४२, २४३, २५२, २६१,

२६२, २८०-२८२, २८४ :—

रत्नों की खान २६१, इसके दो
भेद २६२, समुद्रतट पर
प्रवर्तित २६२, नौका द्वारा
गम्य २६२, वाहनों द्वारा गम्य
२६२, जलवर्ती पत्तन २६२,
स्थलवर्ती पत्तन २६२, कार्बट
का आधा भाग २८४, खेट का
आधा भाग २८४

पत्थर का काम करने वाले २३२पा०

पत्नी की त्याग ४६०

पत्नी पक्ष का अवमूल्यन ४६२

पत्नियाँ—दशविध ४६१, ४६२

पदाति युद्ध १६३

पदार्थ ज्ञान ३८१

पद्म (क्षिप्वा) ३६३

परतीर्थ ३७८

परम भट्टारक ८४

परमाणु ३८७, ३८८

परमार राजा ५२३

परमार्हत ८५

परमेश्वर ८४

परराष्ट्र नीति ७५, ७८, ११५,
१४६, १५०, ४८६, ४८८,
५०८, ५०९

परराष्ट्र मन्त्री १५३

परराष्ट्र विभाग १५४

परलोक १३, ३६६

परांगना (वेष्टा) ४८१

परिखा (खाई) १६५, १८८, २४६,

२४६, २५०, २५१

इनके तीन भेद, जल परिखा

पक्कू परिखा, शुष्क परिखा

२४६, इनमें स्त्रियों का स्नान

२४६, इनके तटों पर दूध

२५६, इनमें हंस २४६, द्रष्टव्य

प्राकार परिखा, २५०, नगर

परिखा २५०

परिग्रह ३२८, ३६३

बाह्य परिग्रह दस प्रकार के

३२८, आन्तरिक परिग्रह चौदह

प्रकार के ३२८

परिणामन ३८६

परिचारक (कुबड़े) १२२

परिचारिका (कुबड़ी) १२३, १२४

परिवार ४, १२, १६, २०, ६६,

१२५ १३४, १३५, १४२

परिवारों के मुखिया १३३

परिहार (कर) १४२

परीषद् जय ३६०

परोक्ष प्रमाण ३८१, ३८२

पर्यायाधिक नय ३७६, ३८२

इसमें ऋजुसूत्र, शब्द, समभि-
रुद्ध तथा एवम्भूत नयों का
सन्तर्भाव ३८२

पर्वत २४२, २४४, २५१, ३८७

पर्वतीय प्रदेशों के वस्त्र २६७

पर्वतीय प्रान्त २८७, ३७१

पल्ल (जन) ५३०

पल्ली २४२

पशु ६, १५, १०२, १०७, १०८,

१५६, १६२, १६३, १८६,

१८६, २०३, २०७-२०६, २२१-

२२४, २३६, ३१७, ३२७,

३६८

समाजशास्त्रीय 'पशु व्यवहार'

६, १५, पशुपालन व्यवसाय २०३,

२०७-२०६, २२१, २२२,

पालतू पशु २२१, वन्य पशु

२२२, युद्धोपयोगी पशु २२१-

२२२, पशुओं के साथ दुर्व्यवहार

२२३, ३२७, पशुदण्डविधान

१०७, पशुपालक ग्राम १६८

सेना में पशु निवास १६२, पशु-

बलि ३१७, ३६८, पशुहिंसा

का विरोध ३१७, ३६८-३६६

पशु/पक्षी/जलचर/स्थलचर जीव :

अश्व/घोड़े ३३, १६०, १६२,

१६३, १८५, १६६, २२१-

३२३, २३६, २६२, ३२७,

३३१, ३४२, ४४१, ४५४,

५०४-५०६

इनकी जातियाँ—'काम्बोज'

'पारसीक', 'वनायुज', 'वाह्लीक'

२२२, कुमारपाल के घोड़ों की

ग्यारह लाख संख्या ३३१, दान-

दहेज में बारह हजार घोड़े

५०४, घोड़ों के भित्ति चित्र

३४२

ऊँट १५६, १६०, १६३, १८२,

१८३, २२१-२२३, ३३१

कपिजल २२३

कवुतर २२३

कुत्ता ३७०

कोकिल ४४१

कौआ १५७, १५८, ४५३

क्रौञ्च ४४१

खच्चर १५६, १६०, २२२,

२२३

खंजरीट (भारद्वाज पक्षी) १५७

४५३

गज/हाथी/हस्ति ३, ६८, ६६,

१६०, १६२-१६४, १८०,

१६६, २२१-२२३, २३४,

३३१, ३४२, ३६१, ३६२,

३६४, ४४१, ४५४, ५०४,

५०५

इनकी जातियाँ—'मद्र',

'मन्द्र', 'मृग' २२२, कुमारपाल

के हाथियों की ग्यारह सौ संख्या

३३१, दहेज में एक हजार हाथी

३३१, ५०४; हाथियों के भित्ति

चित्र ३४२

गधा १५७, १८२, २२१, २२३

४५३

गाय २२१, २२३, २३१, २५४

२५६, २८६, ३१६, ३२७,

५०६

- पालतू पशु २२१, इसके
साथ दुर्व्यवहार २२३, ३१६
धार्मिक प्रतीक के रूप में
३१६, गोपूजा तथा गोदान
३१६, इसके देवत्व की
आलोचना ३१६
- गिद्ध ४०१
- घड़ियाल २४६
- चूहे ३२७
- जलमुर्गी २२४
- जोंक (जलूक) ४१६
- टिट्ठिभ २२३
- तीतर २३१
- दुर्ग (भक्षी) ४५४
- न्यह्वीलक २२२
- बकरा (भज) ३६८, ४१६
- बकरी १८२, ४४१
- बगुला २२४, ४१६
- बाघ २२२, ३४२
- बिल्ली ३२७, ४१६
- भैंस २२१, ३२७, ५०६
- भैंसा (महिष) ३०८, ४१६
- मलिक (मक्खी) १६६
- मत्स्य (मछली) ४०१, ४५५
- मधुमक्खी २१६
- मयूर (मोर) २२३, २२६,
२३४ २५६, २८६
- इनकी छवि २५४, २५६,
२६६, ४४०
- मशक (मच्छर) ४१६
- मुर्गे (मुक्कुट) २२२, २५४,
२५६, २७६, ३३०, ३६८,
३६९
- इनकी उल्लेख २२२,
२५४, २५६, २७६, इनकी
लड़ाई २२२, ३३०, मुर्गा-
पालन २२२
- रीछ ३६४
- रुख २२२
- लवक २२३
- वराह (सूअर) २२२, २६४,
३६८
- इनकी दौड़ ३३०
- वर्तक २२३
- वृक २२२
- वृष/बैल १५६, १६३, २१०,
२२१, २२२, २३६, २५६,
३२७, ३६२, ४४१, ४५५
- शशा २६४
- शुक (तोता) ४१६
- शृगाल (सियार) २२२, ४०१
- शृगाली १४८, १५७, ४५३
- सर्प ३६४, ४१६, ४५४
- सारस २२४
- सिंह २२२, ३४२, ३६४,
४५५
- हंस ३४२, ४१६
- हरिण (मृग) १५८, २२२,
२२३, २६४, ३६८
- पशुदण्ड विमान १०७, १०८
- पशुनिवास (सैन्य) १६२
- पशुपालक ग्राम १६८, २४५
- पशुपालन (व्यवसाय) ३०, ३१,
६७, १६०, १६१, २०३, २०७
२०६, २२१, २२२, २४०,
२४४

पशु व्यवहार ६, १५
 पशु हिसा ३१७, ३६८-३७०
 पश्चिमी क्षत्रप ५२८
 पहेलियां झुझना ५०१-५०२
 पाटिल १३३
 पाठविधि ४१६, ४१७, ४१९
 पाणिनि-व्याकरण ४३०
 पाणिमुक्त आयुष १६८, १६९
 पाण्डव ३७४
 पाण्डवकथा ३९, ४२, ४७, ५२
 पाण्डु जाति ५३५
 पातिव्रत्य धर्म ४६४
 पात्र (पूजा द्रव्य) ३३७, चान्दी के
 ३३७, कांसे के ३३७, ताम्बे के
 ३३७
 पाप (तत्त्व) ३८४, ४००, ४०१
 पाप-पुण्य ३७९, ३९५, ३९८, ४०१
 पापाश्रय ३८९
 पारलौकिक धर्म ३१८, ३२१, ३२४,
 ३२५
 पारलौकिक सुख ४००-४०२
 पारशवगण ५३२
 पारिलव आख्यान ३१
 पालियामेन्ट २६९
 पार्वती की तपश्चर्या ३६४, ३६५
 पार्वनाथ (तीर्थङ्कर) २५, ४७,
 ५६
 पालवंशीय शासनव्यवस्था १३२,
 १३३
 पाशुपतादि सम्प्रदाय २८८
 पाषण्डि २८८ पा०
 पाषण्डि धर्म २८७

पितृपक्ष की विद्याएं ४२३
 पितृसत्तात्मक कुलतन्त्र ४५८, ४५९
 पीत (लेइया) ३६३
 पुटभेदन २४२, २८०, २८२, २८४
 कार्वट का आधा भाग २८४
 पुङ्गवेयण २८०
 पुण्य (तत्त्व) ३८४, ४००, ४०१
 पुण्याश्रय ३८९
 पुद्गल ३८३, ३८६, ३८९
 इसका लक्षण ३८७, 'अजीव'
 तत्त्व का एक भेद ३८७, 'अणु'
 अपर संज्ञा ३८७, इसके छह
 भेद—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-
 सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म तथा
 सूक्ष्म-सूक्ष्म ३८७, ३८८
 पुनरावृत्ति विधि ४१७
 पुर ३३, ९८, ११९, १९५, १९६,
 १९८, २४५, २७०, २७५,
 २७७, २७८, २८१, २८२,
 २८४, २९०
 पुरनिवासी २६९
 पुरशासक २७०
 पुराण १२, २६, ३४, ३९, ४०,
 ४२, ४३, ४५, ४८, ५०, ६८,
 ८४, ५१०
 पुरातत्त्वीय स्रोत २७२, ४५८
 पुरुष (तत्त्व) ३९८
 पुरुष का वर्चस्व ५०९
 'पुरुष' की उदासीनता ४५८
 'पुरुष' तत्त्व की प्रधानता ४५९
 पुरुष तीर्थङ्कर ४६३
 पुरुषवाद ३८०

- पुरुषसूक्त ४५६
 पुरुषायत्त आचारसंहिता ४६४,
 ५०८
 पुरुषायत्त समाजव्यवस्था ४५६,
 ४६४, ५०६
 पुरुषार्थ २२, ८८, ३६४, ४०२
 पुरोहित/पुरोधस् ६०, ७२, ८८,
 ९१, ९५, १०६, ११०, ११३,
 ११४, ११८, १५३, १५४,
 १६४, २०४, २३५, ३३४,
 ४२७
 पुरोहित (रत्न) १६४
 पुरोहित वर्ग १५८, ३६८
 पुरोहितवाद ५१, ३१५, ३१६,
 ३१८
 इसका विरोध ३१८
 पुलिन्द (भील) १६५, १६६, १७६,
 २०६, २२५, २३६, २३६
 पुलिन्द (जाति) १०४, १६५, १६६,
 २२५, २५८
 पुलिन्दपति १४६
 पुलिन्द युद्ध १६५
 पुलिस कमिश्नर ११६
 पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट ११६
 पूजा-पद्धतियाँ ३१४, ३१५, ३२०
 द्रष्टव्य जैन पूजा विधियाँ
 पूर्वजन्म ३३३, ४००, ४०१
 पूर्वजन्म के कर्म ४०१, पाप
 ३३३, संस्कार ४००
 पूर्व नियोजित विवाह ४७५
 पूर्व साहित्य (जैन) ३५
 पूर्वाग्रहपूर्ण स्वयंवर विवाह ४६०,
 ४६१
 पृथ्वी १११, १६६, ३३०, ३८७,
 ३६६, ४००
 सप्तद्वीपा १११
 पृथ्वीपाल १५२, १५३
 पेटिका निर्माण (व्यवसाय) २३२ पा०
 पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी ४५६
 पौर २६६, २६७, २६६, २७०,
 पुर का निवासी २७०, पुर का
 शासक २७०, राज्य की
 संवैधानिक समिति २७०
 पौरजानपद २६६, २६७, २६८,
 २६६
 नगर प्रतिनिधियों की संगठित
 समिति २६८, संवैधानिक निर्णय
 कर्त्री-समिति २६६
 पौरजानपदजन २६६
 पौरजानपद सिद्धान्त २६५, २६८,
 २७०
 पौरसभा २६६
 पौराणिक ४२७
 पौराणिक देवशास्त्र ३७०, ३७१,
 ३८६, ३६८, ३६६
 पौरोहित्य व्यवसाय २०२, २०४,
 २०५ २४१
 प्रकृतिबन्ध के आठ भेद ३६०
 ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेद-
 नीय, मोहनीय, आयु, नाम,
 गोत्र तथा अन्तराय ३६०
 प्रकृति-सृष्टि की प्रधान कारण ४५८

प्रतिक्रमण ३६३	प्रमाणमीमांसा ३७६
प्रतिज्ञाविवाह ४८६, ४९३	प्रमाणविज्ञान ३७७
प्रतिद्वन्द्वी धर्म ४०४	प्रमाणव्यवस्थायुग ३७७
प्रतिभाशाली छात्र ४१४, ४१५	प्रवज्या ३६३
प्रतिमा ३३२-३३५, ३४५-३४७	प्रशासनिक पदाधिकारी १०८-१२१, १२३, १३६, १५३, १६०, ३६२
प्रादिनाथ की ३४६, नेमिनाथ की ३४६, सरस्वती देवी की ३४५, सूर्यदेव की ३४७	प्रश्नोत्तरविधि ४१७, ४१९
प्रतिमा का पृष्ठपट्ट ३४६	प्रश्नेष्टी २३३
प्रतिलोम विवाह ४८५	प्राकार (परकोटा) २४६, २५०, २५१, ३६२
प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त १०१	प्राकार परिखा २५०
प्रतिहार शासनव्यवस्था ८४, १०६	प्राकृत (भाषा) २३, २५, ५७, १२७, १३४, १३७, १३८, १४१, ३२०, ४०४, ४०५, ४३०
प्रतोली (गोपुर) २४६	प्राकृत कथा साहित्य ४३
प्रत्यक्ष प्रमाण ३६३, ३८१, ३६६, ३६६, ४०२	प्राच्य विद्या १, ३
इसके तीन भेद—अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, केवल ज्ञान ३८१	प्राणिहिंसा का प्रतिषेध ३३१
प्रत्यभिज्ञा (भाव) ३६८	प्राथमिक चिकित्सा पद्धतियाँ ४४६
प्रत्याख्यान ३६३	प्रान्तीय शासनव्यवस्था १११, ११६, १४७
प्रदेशबन्ध ३६०	प्रासाद २४८, २५२, २८६
प्रधान (पद) १५४, १६६, २३३	प्रेक्षागृह ३४१
प्रधान (प्रकृति) ३६५	प्रेमक्रीडाएं ४७७
प्रधान मंत्री (पद) ८६, ११०	प्रेमविवाह ४७५, ४६१, ४६२, ५०६
प्रधान सेनापति १५३	प्रोषध ३३२
प्रपा का निर्माण ३४५, ३४७	फल-पुष्प-तोय ३१५
प्रभुत्ववाद १४६	फाल्गुन मास ३४८, ३४९
प्रभुशक्ति ७३, ७४, १५०	फूस का काम करने वाले २३२ पा०
प्रभत्तसंयत ३६२	फोक एपिक ३७
प्रमाण ३१६, ३६३, ३७७, ३७६, ३८१ ३६६	फ्यूडल सिस्टम ६६
प्रमाण लक्षण ३८१, पांच प्रमाण ३६६	

वन्दरगाह २६०

बन्दिजन/चारण १२२, १५७

बन्ध (तत्त्व) ३८४, ३९०, ३९१,

३९५, ३९६, परिभाषा ३९०,

शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध

३८४, ३९०, कर्मबन्ध के कारण

३९०, इसके चार भेद ३९०,

इसमें पाप तथा पुण्य का

अन्तर्भाव ३८४

बन्ध के चार प्रकार-३९०

प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनु-

भावबन्ध, प्रदेशबन्ध ३९०

बन्ध-मोक्ष ४०२

बमसदृश आयुष १८३

बर्तन १९३, २३४

बल ७०-७३, १५०, १५६

षड्विध ७०, ७१, ७२, २०६,

चतुर्विध ७१, चतुरङ्ग बल

११३, श्रेणी बल ७२, सामन्त

बल ७२

बल छह प्रकार के १५०

शारीरिकबल, आत्मिकबल,

सैन्य बल, अस्त्रबल, बुद्धिबल,

आयुबल १५०

बल/शक्तियाँ तीन प्रकार की ७३

विक्रमबल (उत्साहशक्ति) ७३

कोशबल (प्रभुशक्ति) ७३

ज्ञानबल (मन्त्रशक्ति) ७३

बलभद्र/बलराम ३९, ५९

बलिप्रथा ३१६, ३६८-३७०, ४०५

यज्ञावसर पर पशु बलि ३७०,

चण्डीबारी देवी के मन्दिर में

बलि ३६९, जैन मुनियों द्वारा

पशुहिंसा का विरोध ३६९-

३७०

बलि प्रथा के साथ समझौता ४०५

बलिप्रिय राजा ३७०

बसकर (बांस कर्मी) २३२ पा०

बहूतर कलाएँ ४२२-४२५

बहुपत्नीकता ४६०

बहुविवाह-श्रीर. राजनीति ५०७

बहुविवाह प्रथा ४८८, ५०६, ५०८,

५०९

बाग-बगीचे २१२, २१३, २१५

बागबानी २१३

बाजार २२४, २२७, २२८, २५२,

२८२, २८५

बाणसदृश आयुष १६८, १७०, १७२

बादामी के चालुक्य ३३९

बारूद (अग्निचूर्ण) १८२, १८३,

१८४

बारूद निर्माणविधि १८८-१८३

बाल रोग ४४५

बाहुयुद्ध १६८

बीजभोजी १३९

बेगार १९५, १९८

बोझा डोना (व्यवसाय) २२१,

२३७

बौद्ध आगम ४६०

बौद्धकालीन नारी ४६२-४६२

धार्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष की

समानता ४६०, नारी को

सांसारिक राग-वृत्ति का मूल

कारण मानना ४६०, संघ-

- व्यवस्था में नारी से पुरुष की श्रेष्ठता ४६०, संन्यासीकरण का नारी की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर प्रभाव ४६१, नारी को सार्वजनिक उपभोग की वस्तु मानना ४६१, पत्नी के रूप में नारी का शोषणपरक रूप ४६१, ४६२
- बौद्ध जातक ग्रन्थ २३२, ४२१
- बौद्ध दर्शन ३७६, ३७६, ३६२, ३६७, ३६८, ४०८
- पूर्वपक्ष के रूप में ३६७, ३६८, इसके सिद्धान्त—शून्यवाद, क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद ३६७-३६८, इन पर जैन दार्शनिकों के आक्षेप ३६७, ३६८
- बौद्ध दार्शनिक ३७५, ३७६, ३६७ इनके द्वारा तर्कप्रधान प्रणाली का प्रवर्तन, ३७५-३७६, वैदिक एवं जैन दार्शनिकों को चुनौती ३७६
- बौद्ध धर्म संस्कृति १२, २६, २७, ३०, ३४, ३०, ३१४, ३७२, ३७५, ३७६, ४६८, ४६०
- बौद्ध निकाय ग्रन्थ २७७, २६०
- बौद्ध भिक्षु ४६०
- बौद्ध भिक्षुणियां ४६०
- बौद्ध भौगोलिक मान्यताएं ५१०
- बौद्ध विद्या परम्परा ४२१, ४२२
- वैदिक विद्याओं की शिक्षा ४२१, विज्ञान तथा टेक्नीलॉजी विषयक अष्टादश शिल्पों की शिक्षा ४२१, तर्क प्रधान एवं तुलनात्मक ज्ञान-विज्ञान पर बल ४२२, बौद्ध विश्वविद्यालयीय शिक्षा ४२१, ४२२
- बौद्ध विश्वविद्यालय ४२१-४२२
- बौद्ध शिक्षण विधि ४०८
- बौद्ध शिक्षा केन्द्र ४०६
- बौद्ध शिक्षा पद्धति ४०८, ४०६, ४२१-४३२
- बौद्ध शिक्षाशास्त्री ४२१
- बौद्ध संघ में नारी ४६०
- बौद्ध संघ व्यवस्था ४६०, ४६२
- बौद्ध समाज व्यवस्था ४६०
- बौद्ध साहित्य २६, ३४, २६६, २७७, २७८, २६०
- ब्रह्मा २६, ६१, १४३, १४४, ३१६, ३७०, ३७१, ३८०, ३६८
- ब्राह्मण ७२, १२७, १३४, १४२, १६७, २०२, २०४-२०६, २४१, ३१६, ३१८, ३१६, ३६८, ३७०
- एक प्रतिष्ठित वर्ग के रूप में स्थान २०४, अध्ययन-अध्यापन एवं स्वाध्याय २०४-२०२, इनके व्यवसाय २०४-२०५, इनके पौरोहित्य कर्म ३१८, ३१६, ३२१, ब्राह्मणवाद की आलोचना ३१६-३१६
- ब्राह्मण (ग्रन्थ) २५
- ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष २५
- ब्राह्मण जाति के ग्राम २४४

ब्राह्मण धर्म/संस्कृति १२, २५-२६,
३०, ३४, ३६, ३६-४४, ५१,

३१५-३२२, ३४३, ३६७-
३७३, ३६८, ४०३, ४०४

युगीन प्रवृत्तियाँ ३६७, यज्ञा-
नुष्ठान ३६७-३६८, देवोपासना
३६८-३७२, विभिन्न सम्प्रदाय
३७१-३७३, प्रसिद्ध तीर्थ स्थान
३७३-३७५, जटासिंह नन्दि
द्वारा इसकी आलोचना ३१५-
३१६, इसका जैन धर्म पर
प्रभाव ३१६-३२१

ब्राह्मण वर्ग २५, २६, २४१, २८६,
३१८, ३२१, ४०७, ४०८

ब्राह्मण वर्ग की शिक्षा ४०७

चौदह प्रकार की विद्याओं का
अध्ययन ४०७

ब्राह्मणवाद ३०, ३१५

ब्राह्मण शिक्षणविधि ४०८

ब्राह्मण शिक्षा द्वारा ४०७, ४०८

ब्राह्मण संस्कृति का विरोध २५-२६,
३१५-३१६

बौद्धों तथा जैनों द्वारा २५, २६,

ब्राह्मण-अत्रिय संघर्ष का समाज-
शास्त्र २५, जटासिंह नन्दि द्वारा
आलोचना ३१५, वर्णव्यवस्था
का विरोध ३१६, पुरोहितवाद
का विरोध ३१८, देवोपासना
का विरोध ३१६, वेदप्रामाण्य
का विरोध ३१६ वैदिक कर्म-
काण्डों का विरोध ३१६

ब्राह्मणों की शिक्षा ४२५-४२७

ब्राह्मणों के व्यवसाय २०४-२०६,
२४१, ४२६

ब्राह्मणों को ग्रामदान ४०६

ब्राह्मणों को दान २०१

ब्राह्मी लिपि २७३

भक्त ग्राम २४४, २४५, २५५,
२५६, ३११

निगम ग्राम के रूप में २४४

अनाज वितरण केन्द्र के रूप में
२४५, २५५, २५६, ३११

सैनिक/(योद्धा) भट २२६, २३६

भवन (महल) १६२, २४६, २४८,
२५२, २५४, ३००, ३२७, ३८७
शयनागार, अग्न्यागार, गर्भ-
वेश्म आदि से युक्त भवन
२४८

भवनवासी देव ३५०, ३५५

इनकी देवियाँ ३५५, देवियों के
साथ उनकी क्रीड़ा ३५५

भवनवास्तु २४८

भवभूति के नारी मूल्य ४६६

भव्य जीव ३४८, ३४९, ३८५,
३६१

भागवत धर्म ३१५, ३१६

भाग्यवाद ३७६

भाटक जीविका (व्यवसाय) २३६

भाण्ड (स्वांग करने वाले) २२६,
२३५

भाण्डागारिक (पद) ११६, १५४

भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय ३७६

तर्क प्रधान वादों-प्रतिवादों की
ओर उन्मुख ३७६, खण्डन-

- मण्डन प्रधान दार्शनिक वाता-
वरण का उदय ३७६, विरोधी
दर्शनों पर आक्रमण ३७६,
३६३-४०३
- भाव ३६३, ३६०
- भाषा/बोलियाँ—
कर्नाटक/कन्नड़ १०५, २५५,
३२२, ४३१
गुजराती १४१, २६२
गोपाल भुर्जरी ४३१
तेलगू ४३१
पंजाबी २६२
पाली ४३०
प्राकृत ३२०, ४०४, ४०५,
४३०, ४३१
मराठी १४१, ४३१
शाबरी ४३१
शौरसेनी ४३१
संस्कृत २३०, २६८, २६३,
३२०, ३६३, ४०५, ४३०-
४३२
सिन्धी १४१
हरियाणवी २६२
हिन्दी १४१, ३०७
- भाषा समिति ३६३
- भिक्षा व्यवसाय २३७
- भित्ति (प्रासादों की) २४८
- भित्ती चित्र ४४३, ४४४
- भित्तस्वामीमहाद्वादशकमण्डल १०६
पा०
- भुक्ति ५१२
- भुज युद्ध १६३
- भूगोलशास्त्र ५१०-५१३
- भूत चतुष्टय ३६६, ४००
पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु ३६६,
इनके संयोग से देह-निर्माणिका
शक्ति की उत्पत्ति ३६६, इसका
अमरचन्द्र सूरि द्वारा खण्डन ४००
- भूतवाद (लोकायतिक) ३६६-४०१,
४०६
इसकी तत्त्वमीमांसा ३६६,
४००, भूतवादियों द्वारा पाप-
पुण्य, पारलौकिक सत्ता, आत्मा
आदि का खण्डन ३६६, ४००,
सांसारिक भोगविलासों में
आस्था ४००, इसकी अमर-
चन्द्र सूरि द्वारा अलोचना
४००, ४०१
- भूतवादी ३६६, ४००
- भूप/भूपति ८३, ८४, ६४
- भूपाल/भूमुज ८३, ८४
- भूमि ६८, १२५, १३१, १८६,
१६०, १६५, १६७
- भूमिदान १२७, १२६, १३२, १८६,
१४२, १६५-१६७, २०१,
२३६, २४१, ३२२, ३४८
- जैनाचार्यों को ३२२, गृहवान
१६२, १६३, ३४८, ग्रामदान
२४८, ५०४, भूमिदान की
प्रशंसा १६५, १६७, भूमि-
दान की निम्दा ५०६, भूमिदान
प्रथा १६५
- भूतम्पत्ति १२५, १३१, १८६, १६०
१६६-१६८, २४०, ५०८
का अविग्रहण १३१, का

- उपभोग २४०, का विकेन्द्री-
करण १६७, १६८, ५०८, का
वितरण २४०, का हस्तान्तरण
१६७, १६८, २४०, ५०८,
राजाओं के भूमिवाचक विशेषण
१६६
- मृत्युवर्ग ३१६
- भेष (नीति) ७५, ७६, ७७, ७८,
८०, ८१, ८२, १५०, १५१,
१५२, १५३
- भोक्ता ३६५
- भोग भूमि ३५७, ३५८, ५११
- भोजक १२३ २३४
- भोजनालय १६१
- भौगोलिक विभाजन ५१०-५१४
- पौराणिक मूगोल ५१०-५११,
बौद्धयुगीन सोलह महाजनपद
५१२, मौर्य युगीन पंचचक्र ५१२,
गुप्तयुगीन छह प्रशासकीय
इकाइयां ५१३, मध्यकालीन
देश-विभाजन ५१३-५१४
- भौतिक दर्शन ४०६
- भौतिक वादियों के स्त्री-विचार
४७१
- भौतिकवादी ४७१
- भौतिक संस्कृति १०
- भ्रष्ट विकेता २३१
- भ्रान्त ज्ञान ३८५
- महहर १२७, १२८
- मछुए २३३ पा०
- मठ (शिक्षा केन्द्र) ४०६
- महम्ब १६६, २४२, २४३, २५२,
२६१, २८०, ३११
- परिभाषा २६१, पांच सौ ग्रामों
के उपजीव्य २६१, व्यापार के
केन्द्र २६१, जिले के केन्द्र स्थान
२६१
- मण्डन गृह (सज्जा गृह) २५२
- मणिकार २०४
- मण्डलपति (पद) ११६
- मण्डलेश (पद) ११६, १२०
- मण्डलेश्वर (पद) ८६, ८३, ११६
- मतिज्ञान ३८२
- इसके अनन्त भेद ३६२
- मदिरापान ३२, ३३, ४६, ५३, ८१
१६२, २६५, २६६, ३११,
३८०, ४७८-४८०
- मदिरा पान का सामान्य प्रचलन
२६५, स्त्रियों द्वारा मदिरापान
२६५, सैनिकों द्वारा मदिरा
सेवन २६६, इसकी निन्दा,
२६६, इसके सेवन से कामुकता
में वृद्धि २६५, ४७-४८०,
मधुशाला गोष्ठियों में इसका
विशेष आयोजन ४६, ५३, ५७,
मदिरापान के लक्षण ४७६-
४८०
- मद्य निर्माण (व्यवसाय) २३६
- मधुपान गोष्ठी ३३, ५५, ५७, ५८,
१२६
- मध्यकालीन अर्थव्यवस्था १६४, १६५
१६८
- मध्यकालीन नारी ४६७-४७३
- स्मृति कालीन आचार संहिता
से संक्रमण ४६७, सामन्तवादी

युग मूल्यों का प्रभाव ४६७,
४६८, स्त्री-सौन्दर्य/भोगविलास
के मूल्यों की प्रधानता ४६७,
४६८, युद्ध चेतना तथा नारी
चेतना का मन्योन्याश्रित प्रभाव
४६८, राजनैतिक परिस्थितियों
का प्रभाव ४६९, समाज की
सर्वव्यापक शक्ति के रूप में
४६९-४७३

मनःपर्ययज्ञान ३८१

मन्त्रविद् (श्रोभा) २३६

मन्त्रणा ५८, ६०, ६२, ६४, ८०,
८८, ९१, ९५, ९६, ९७, ११८,
२६६

मन्त्रणापूर्वक विवाह ४८६-४८९

मन्त्र शक्ति ७३, ७४, १५०

मन्त्रिपुत्र (पद) १२०

मन्त्रिमण्डल ७७, ७८, ८०, ९१,
९४, ९५, ९६, ९८, ११०,
११८, ११९, १५०, १५१,
१५३, ३८१, ४९३

मन्त्री (पद) १०९, ११०, १११,
११२, ११८, ११९

मन्त्रीश्वर (पद) ११२

मन्दिर १३, २४६, २५१, २५२,
३१४, ३२५, ३२७, ३३९-
३४७, ३६४, ३६६

मन्दिर (जैन तथा हिन्दू) ३३९,
३४५-३४७, ३६९, ५१६, ५३२
५३३

आदिनाथ मन्दिर ३४५, ३४६,

इन्द्रमण्डप मन्दिर ३४५,

एकलवीरा देवी का मन्दिर
३३९, कुमारविहार मन्दिर
३४७, गिरनार मन्दिर ३४३,
चण्डीमारी देवी का मन्दिर
३६९, जगन्नाथ मन्दिर ५१६,
जिनपति मन्दिर ३४६, जिन
स्तम्भन मन्दिर ३४५, भोलिका
विहार मन्दिर ३४७, ताम्रेश्वरी
देवी का मन्दिर ५३३, बक्षिण
विहार मन्दिर ३४७, नेमिनाथ
मन्दिर ३४५, पञ्चाक्षर शार्ङ्ग-
नाथ मन्दिर ३४४, पार्वतीनाथ
मन्दिर ३४५-३४७, भीमेश का
मन्दिर ३४४, भट्टार्क का
राणाक मन्दिर ३४५-३४७,
भीमेश का मन्दिर ३४५, भट्टा-
दित्य का मन्दिर ३४४, मरुदेव
का मन्दिर ३४७, विष्णु मन्दिर
३७२, वीर का मन्दिर ३४६,
वैद्यनाथ मन्दिर ३४५, ३४७,
५३१, शिव मन्दिर ३७१, सुवत
का मन्दिर ३४६, सूर्य मन्दिर
३४५, सोमनाथ मन्दिर ३४३

मन्दिर कपाट ३४२

इनमें सोने-चाँदी-ताँबेके आकार-
चित्रों का अङ्कन ३४२, घोड़े,
हाथी, सिंह, व्याघ्र, रथारोही,
हंस आदि के चित्र ३४२

मन्दिर का उत्तानपट्ट ३४४

मन्दिर का तोरण ३४६

मन्दिर का मण्डप ३४५

मन्दिर का स्वर्णद्वार ३४६

मन्दिर की भित्तियां ३४२

मन्दिर के मणिस्तम्भ ३४२-३४३

मन्दिर के स्वर्ण शिखर ३४४

मन्दिर द्वार ३४२

इसमें कमलवासिनी लक्ष्मी का चित्र ३४२

मन्दिर-बरातल (फर्श) ३४२

इनमें मूंगे, मोती, मरकत मणि, पद्मप्रभ मणि से सजावट, इनमें मणि-रत्नों से अङ्कित, कमल, कमलनाल, भ्रमर आदि की चित्रकारी ३४२

मन्दिर निर्माण २५१, ३२५, ३३६-३४७, ३६६

इसका धार्मिक मनोविज्ञान ३३६, ३४०

नगर वास्तु के अन्तर्गत २५१, २५२

गावों में मन्दिर ३४०

इन्द्रकूट जैन मन्दिर के निर्माण का वास्तुशिल्प ३३६-३४२, वस्तुपाल एवं कुमारपाल द्वारा मन्दिरों का निर्माण/जीर्णोद्धार ३४४-३४७

मन्दिर प्रतिमा ३४२

इनके स्फटिक-मणि निर्मित स्तम्भ ३४२

मन्दिर प्रवेशद्वार ३४१

मन्दिर भित्ति ३४२

इसमें तीर्थङ्कर, नारायण, चक्रवर्ती, यक्ष, किन्नर, भूत आदि के चित्र ३४२, इनमें

स्वर्ण, मणि आदि धातुओं से

अङ्कित चित्रकारी ३४२

मन्दिर में गजमूर्तियां ३४५

मन्दिर में जिन प्रतिमा ३३२-३३४, ३४५-३४७

मन्दिर में ध्वजस्थापन ३४४

मन्दिरशिखर ३४१

मन्दिर स्तम्भ ३४२

स्फटिक मणि से निर्मित ३४२,

इनमें स्त्री-पुरुषों के युगल चित्र ३४२, इनमें स्वर्णनिर्मित कलशों का विन्यास ३४२

मन्दिरों का स्थापत्य ३४१, ३४२, ३४४-३४७

मन्दिरों की चित्रकला ४४३, ४४४

मन्दिरों की देवदासियां ४८३

मन्दिरों के उद्यान ३४१

इनमें विविध प्रकार के वृक्ष ३४१, छायादार वृक्ष, फल-फूलों के वृक्ष, मसाले-मेवे एवं सुगन्धित द्रव्यों के वृक्ष ३४१

मन्दिरों में शाला विन्यास ३४१

प्रेक्षागृह, अभिषेकशाला, स्वाध्यायशाला, सभागृह, सङ्गीतशाला, सङ्गीतशाला, पट्टगृह, गर्भशाला ३४१

मल्ल युद्ध १६३

मल्होत्रा/मेहरोत्रा १२७

महतो १२७, १३३

महत् (नगर भेद) २८१

महत्तम १२०, १२५, १२६, १२८, १२९, १३२, १३३, १४७, २४०

महत्तर ७२, १२०, १२५, १२६,
१२७, १२८, १२९, १३०,
१३१, १३२, १३८, १४१,
१४६, २४०

महत्तरक/महत्तरिका १३१

महत्तरों का सङ्गठन १२६

मह्यर/मह्यरो १२८

महाकाव्य २३, २७, २९-६४

महाकाव्य लक्षण ३२, ३३,
४१, ४३, ४६-५१, ६१, महा-
काव्य विकास ३७, ४०, ४१,
६४, इनकी दो धाराएं, ३७-
३९, जैन महाकाव्यों का स्वरूप
३९-४३, जैन महाकाव्यों का
वर्गीकरण ४३-४८, आलोच्य
महाकाव्य ५०-६४, महाकाव्य
और सामाजिक चेतना २९-
३५

महाकाव्य-भेद :—

अर्द्ध ऐतिहासिक ५८, अलंकृत
२९, ३०, ३१, ३६-३८, ४०,
आनन्द नामान्त ४४-४७,
ऐतिहासिक ४४, ५०, ५८, ६०
६१, चरित नामान्त २८,
४०, ४१, ४४, ४५, चरितेतर
४०, ४१, ४४-४६, जैन
अलंकृत ३०, ३६, ४१, ४३,
४४, ४५, ४९, जैन विकसन-
शील ३६, जैन संस्कृत अलंकृत
महाकाव्य ४०-४५, ६८, ७०,
७३-७६, जैन संस्कृत ऐति-

हासिक महाकाव्य ४२, ४६,
जैन संस्कृत चरित महाकाव्य
४४, जैन संस्कृत चरितेतर ४५,
४६, जैन संस्कृत महाकाव्य
२७, ३४, ३५, ३९, ४१-४४,
४७-५०, ५६, ६४, जैन संस्कृत
सन्धान महाकाव्य ४६, पञ्च-
महाकाव्य ४०, ४४, पाण्ड्यास्य
महाकाव्य ३६, ३८, पौराणिक
महाकाव्य ५९, १५४, बृहन्नयो
महाकाव्य ४०, भारतीय महा-
काव्य ३०, ३६, ३७, ३८,
रीतिबद्ध महाकाव्य ४१, रीति
मुक्त महाकाव्य ४०, विकसन
शील महाकाव्य २९, ३०, ३१,
३६-३८, ४०, ४१, सन्धान
नामान्त महाकाव्य ४४, ४६,
५२

महाकाव्य युग का जैन दर्शन ३७५-
४०३

अनेकान्त व्यवस्था युग से
सम्बन्ध ३७५, पूर्ववर्ती धार्मिक
प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित ३७६,
जटासिंह नन्दि का योगदान
३७६-३७७, अनेकान्तवाद की
तर्क प्रणाली ३७७-३७८,
धार्मिक और नास्तिक दर्शनों
का नवीन प्रवृत्तिकरण ३७९-
३८१, विविध दार्शनिक धारों
की आलोचना ३८२-४०३

महाजनपद २७७, ५१२, ५१३, ५२४
महातमः प्रभा (भूमि) ३८५

महादण्डनायक (पद) ११६
 महानगर २७१ पा०
 महानस (पाकालय) २५२
 महापीर २७१ पा०
 महामण्डलेश्वर (पद) ८६, ८७, १५४
 महामहत्तर १२६
 महामण्डलिक (पद) ८३
 महामात्य (पद) ७२, ११०, ११२,
 १५३, १५४, १५८
 महायान शाखा ४२१
 महाराजाधिराज ८४, ६४
 महाराजाधिराजपरमेश्वर ८४, ६४
 महासान्निविग्रहिक ११५
 महासामन्त (पद) ७८, ८६, १११
 महिलाओं की साक्षरता ४०७
 मांस भक्षण २६४, २६५, ३११,
 ३३०, ३८०
 मांस निर्मित भोज्य पदार्थ २६२,
 २६४, द्रष्टव्य 'मांसीदन'
 विविध पशुओं का मांस भक्षण
 २६४, जैन धर्म में निषिद्ध
 २६३, ३३१, कुमारपाल द्वारा
 मांस विक्रय पर प्रतिबन्ध २६५,
 ३३०, निम्न जाति के लोगों
 द्वारा गोमांस भक्षण २६४
 माकार नीति १०२, १०३
 मागणि २५५
 माडम्बिक/माडम्बिय १३६
 माण्डलिक (पद) ८३, ८४, ८५,
 ८६, ८७, १११, ११६, १५६
 माण्डव्य (गोत्र) ३१७
 मातृपक्ष की विद्याएं ४२३

मातृ देवियां ४५८
 मातृसत्तात्मक परिवार ४५८
 मात्स्यन्याय ६८, ६९, १००, १४६
 माप-तोल २२८, २३१, २३२
 मायावाद (लोकायतिक) ४००,
 ४०१, ४०६
 शङ्कराचार्य के मायावाद से
 भिन्न ४०१, सम्पूर्ण जगत् का
 माया से आच्छादन ४०१, पार-
 लौकिक मूल्यों पर अनास्था
 ४०१, इहलौकिक सुख भोगों
 में धृष्टा ४०१, अमरचन्द्र सूरि
 द्वारा मायावादियों का तार्किक
 खण्डन ४०१-४०२
 मायावाद (शंकराचार्य) ४०१
 मालव (गण) ५३४
 मालाकार २३३ पा०, २३४
 मीमांसक ३७६, ३६६
 मीमांसादर्शन ३६६, ३६७, ४०५
 इसके जीवाजीव आदि छह
 पदार्थों का निरूपण ३६६
 मोक्ष को पदार्थ नहीं मानना
 ३६७, सर्वज्ञवाद का तार्किक
 खण्डन ३६६-३६७
 मुक्त जीव ३६०, ३८५, ३८६
 मुक्त वर्ग के आयुष १६८, १६९,
 १७४
 मुखिया १२६-१२८, १३०, १३२,
 १३६, १६६
 किसानों के १६६, कुटुम्बों के
 १३६, कुलों के १३३, ग्रामों के

- १२६-१२८, १३२, घोष ग्रामों
 के १३०, परिवारों के १३३
 मुद्रा/मुहर/सिकके २२६-२३१, २७५,
 २७६
 कर्पद २३१
 कर्ष २३१
 काकणी/काकिणी २३०, २३१
 कार्षापण २३०, २३१
 केवडिक २२६
 डिनेरियस २३०
 दीनार २१५, २२६, २२८,
 २२९, ३३१
 निष्क २३०, २३१
 नेलक २३०
 पण २३०
 पल २३१
 मयूरांक २२६
 राजमुद्रा २७६
 रूपक/रूप्य २३०
 विशासिक २३०
 शूर्प २३०
 साभरक २३०
 सुवर्ण/स्वर्णमुद्रा १६६, २२६-
 २३१
 स्टैण्डर्ड मुद्रा २३१
 मुद्रा संचय २४०
 मुद्रिता सभा २७६
 मुनि धर्म १४, ३१४, ३२५, ३२६,
 ३५६-३६७, ४०४
 मुनि विहार ३५३, ३५४, ३६५-
 ३६६
 मुर्गापालन (व्यवसाय) २२२
 मुर्गों की उछल कूद २२२, २५४,
 २५६, २७६
 मुर्गों की लड़ाई २२२, २३०
 मूर्तिक द्रव्य ३८६
 मूलनगर २८२
 मुषिक (जन) ५२८
 मुस्लिम शासन व्यवस्था १०६
 मेवलुम्प (जाति) २७७, २७८
 मेहतर १२७
 मेहता १२७
 मेहरा/मेहरू १३३
 मेहर/मेहरो/महर १२७
 मेहेर १३३
 मोक्ष (तत्त्व) १६, ३२, ८८, १८७,
 ३८४, ३६१, ३६२, ३६५,
 ३६६
 परिभाषा ३६१, भव्य जीव
 का मोक्ष ३६१, इसके उपाय—
 ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य ३६१,
 सम्यग्ज्ञान ३६२, सम्यग्दर्शन
 ३६२, सम्यक्चारित्र्य, ३६२,
 कर्मों का क्षय-मोक्ष ३६२, मोक्ष
 की अवस्था ३६२
 मोक्षप्राप्ति ३२५, ३६०, ३७७,
 ३६२
 मोनिटोरियल सिस्टम ४१४
 मोहनीय कर्म ३८६, ३९०
 मौखिक गाथा ३७, ३९
 मौर्य साम्राज्य ५१२, ५२८
 मौहूर्तिक २०४, ४२७
 म्युनिस्पल शासन २६६

यज्ञ/यज्ञामुष्ठान १३, १५, ३०, ५१,
१४३, १४४, २०५, ३१५,
३१७, ३६७-३७०, ३६६

यज्ञों की लोकप्रियता ३६७,
विविध प्रकार के यज्ञ एवं
विविधियाँ ३६८, अग्निष्टोम निवारण
तथा अभीष्ट प्राप्ति के उपाय
३६८, यज्ञावसर पर पशुहिंसा
की आलोचना ३६६, द्रष्टव्य
'कोटि महायज्ञ,' 'अग्निष्टोम
यज्ञ,'

यज्ञवेदी (हवन कृण्ड) १४४, ३६८
यज्ञोपवीत संस्कार ४०६, ४१०

यदच्छावाद ३६४

यदच्छा से पदार्थोत्पत्ति ३६४,
महामारत में इसकी 'अहेतु-
वादी' संज्ञा ३६४

यन्त्र (आयुध) १७०, १७४, १७८,
१७९, १८८

यन्त्रपीडन (व्यवसाय) २३६

यन्त्रमुक्त आयुध १६८, १६९,
१७३

यवन १६२, १८४

यातायात/परिवहन १५८, १५९,
२१०, २१२, २२१, २२४,
२३५, २३७, २३९, २४५,
२५६, २६२, २७६, ३२३

पशुओं द्वारा परिवहन कार्य
१५८, १५९, २१०, २११,
२४५, परिवहनोपयोगी पशु—

हाथी, घोड़ा, गधा, खच्चर,
बैल, ऊँट (द्रष्टव्य पशु-तालिका)

सैन्य परिवहन १५८, १५९,
कृषि-परिवहन २१०, ग्रामीण
परिवहन २४५, २७६, परिवहन
व्यवसाय के रूप में २३८,
बोझा ढोने के साधन १५८,
१५९, २२१, २३९, २४५

यातायात/परिवहन के साधन—

काँवर १५९, २३५, कुली १५९,
गन्त्री (बैल गाड़ी) १५९,
२१०, २१२, २३७-२३९, २४५,
२५६, २६२, नौका २२४,
२३४, २६२, ३२३, पालकी
१५८, २५९, रथ १६४, २३८,
२७६, ३३१, वाहन/यान ३३,
१५८, २०६, शकट २३७

यान (राज नैतिक गुण) ७५

युद्ध ११, २८, ३२, ३६, ७५, ७८,
७९, ८३, ९६, ९८, ११३,
११४, ११७, १४८-१६८,
१८२-२०३, २०६, १८८,
२२२, २२५, ३१४

इनकी राजनैतिक पृष्ठभूमि
१४८, युद्धों के कारण १४९,
दण्डनीति और युद्ध १५०-१५३,
युद्ध नीति पर मन्त्रिमण्डल
द्वारा विचार १५०-१५३, युद्ध
सम्बन्धी दूतप्रेषण १४९, युद्ध
धर्म १५६, युद्धप्रयाण १५७-
१६३, युद्धों के भेद १६३-१६७
युद्धभूमि १६७

युद्ध कला ५३, ६४, १६३-१६७,
१८७, १८८, २०३, २०६

युद्ध धर्म १५६, १८६, १८७	रट्ठसङ्घ १२६
युद्धनीति १५०, १५२, १८६, १८८	रणक १३४
युद्ध प्रयाण ३२, ५८, ७५, ८८, ११३, १३८, १३९, १५७, १६०	रणसंशोधन १६७
युद्ध भूमि ११३, १५६, १६१, १६७, १८१	रतिक्रीडा २९, ३३, ५२, ५६, ६४ १०२, १३८, २६५, २६६ ४७६
युद्धादिकर्म (व्यवसाय) २०२, २०६	रत्नकार २३२ पा०
युद्धों के भेद १६३-१६७	रत्नत्रय ३६३, ३८५, ३८२
अश्वयुद्ध १६४, गजयुद्ध १६४, मुरिल्लायुद्ध १६३, कुम्भयुद्ध, १६४, हण्टि युद्ध १६३, पदाति युद्ध १६३, पुलिन्द मल्लयुद्ध १६२, युद्ध, १६५, भुजयुद्ध १६३, रथ युद्ध १६४, वाग्युद्ध १६३	रत्नोत्पत्ति स्थान ६७
युद्धोपयोगी उपकरण १५८	रथ युद्ध १६४
युद्धोपयोगी विद्याएं ४३६	रस (काव्य) १६, २३, २७, २८, ५८
युद्धोपयोगी पशु १५६, १६२, १६३ २२१, २२२	रस (तत्त्व) ३८७, ३८८
युवराज (पद) १०६, ११८, १५८	रस वाणिज्य (व्यवसाय) २३६
योग ३६३, ३६५, ३६६, ३८६, ३९०	रहोगृह २५२
जीव की शक्ति ३८६, योग के तीन प्रकार ३६३	राजकर्मचारी ८८, १०५, १०८, १२१-१२३
योद्धाओं का दाह-संस्कार १६७	वनपाल १२१, द्वारपाल १२१,
योद्धाओं की चिकित्सा १६७	कंचुकी १२१, विदूषक १२१,
रङ्गरेज २३३ पा०, २३४	गुप्तचर १२१, भङ्गरक्षक १२२, सूत १२२, कुञ्ज १२२,
रङ्गोपजीवी (नाटककार) २३५	सूपकार १२३, भोजक १२३,
रजक (घोड़ी) १२३, २०७, २३४	भट १२३, रजक १२३,
रट्ठ २५५, २७७, २८१	चित्रकार १२३, नट १२३, घात्री १२४, चेटिका १२४
	राजकीय पत्रों का मुद्रण २७६
	राजकुमारों की शिक्षा ४०७, ४१०- ४१२, ४१६, ४२३, ४३५, ४३६
	राजकुलों के विवाह सम्बन्ध ४८६
	राजस्वरकार २८५, ३२५, ८०, ८६, १०५, १०८, २३१, २०५

राजधानी २४२, २४३, २५६, २५७,
२८०, २८२

राजधानी नगर २४६

राजनैतिशास्त्र ५, ६६, ६७, ७४,
७५, ६६, १२२

राजनैतिक अराजकता ६६, १६४

राजनैतिक षड्यंत्र १०५, ४४६,
४७०

राजनैतिक सङ्गठन ६६, ६७,
१८७

राजन्य वर्ग २४८

राजपुत्र (पद) ११०, १२०

राजपुरोहित ६०

राजपूत जाति २०६

राजप्रासाद (राजमहल) २५२, ४०७
४१६

इसका वास्तुशास्त्रीय विन्यास
२५२, इसमें विविध प्रकार के
गृहों का विन्यास, २५२, इसमें
कोशगृह, धान्यगृह, वस्त्रशाला,
श्रीषधालय, आयुधागार, गज-
शाला आदि का निर्माण २५२,
इसमें दुर्भोजिले से लेकर नी
मंजिले भवनों की स्थिति २५२

राजमार्ग २५२, २५५, २८६,
३४७

राजवंश ५०, १२४, १४७, १४८,
१५३

अलूपीय १०६, आन्ध्रसात-
वाहन २६१, इक्ष्वाकु ३३०,
कदम्ब ३२३, खिलजी १६४,
गंग ६६, ३२३, गुप्त १४१,

गुर्जर-प्रतिहार ६६, ५१३,
चन्द्रवंश १४४, २८७, चालुक्य
१४३-१४५, १४६, ३२२,
३२३, चाहमान ६४, १४२-
१४४, १४७, १५४, २०६,
५३६, चोल ६६, पल्लव ६६,
१४२, ३२३, ५१३, पाल ६६,
१४१, प्रतिहार १५४, भोजवंश
३३०, मौर्य १४८, १८६, राष्ट्र-
कूट ६६, १३१, १५३, ३२२,
३२३, ५१३, वाकाटक ५१३,
सोलङ्की ५६, १४४, हरिवंश
३३०, होयसल वंश ३२३

राजा का स्वामित्व १६६

राजाधिराजपरमेश्वर ८४

राज (संस्था) ४, ८, २०, २१, ३०,
६५-७१, ६४, १००, १४६,
१४८, १६०, १६४, २००,
२०६, २७०

राज्य कुर १५१, २०५

राज्याभिषेक ६१, ६२, २००,
२३३

राठीड़ १२६, १३४

राणा १३४

रामकथा ३६, ४२, ४७, ५२, ५३

रायहाणि २४२, २८०

रावत/रौत १३४

राष्ट्र ४, ७, १६, २०, ७०, ६७,
१२४, १२८, १६१, १६४,
१६६, १६८, २७०, २७७,
२८१, ५१३

राष्ट्रकूट शासनव्यवस्था १३१

राष्ट्रग्राममहत्तर १२८, १२९

राष्ट्रमहत्तर १२६, १२९, १३४

राष्ट्रीय भावना २९, ६९, १४८,
१८७

रिफॉरमेटिव थियरी १०१, १०३

रीतिकालीन साहित्य ३५

रूपक के दश भेद २२, २३

नाटक में मनोवृत्तियों का
प्रदर्शन २२, स्थायी भावों का
मनोवैज्ञानिक औचित्य २२,
नाटक के विविध प्रकार एवं
वर्ग चेतना २२, २३, नाटक की
समाज धर्मी प्रवृत्तियाँ २२,
२३

रेट्रिव्यूटिव थियरी १०१

रेडियो धर्मिता १८३

रोगोपचार ४४६-४५०

मूर्च्छा ४४६, ज्वर ४४६, ४५०,
गर्भपात एवं निरोध ४४७, विष-
परिहार ४४७, अजीर्ण ४४७,
४५०, पित्त ४४७, ४५०, वात
४४७, कफ ४४७, दिलघम ४४७
सन्निपात ४४७, जलोदर ४४७,
४४९, विपाण्डु ४४७, गंडलेखा
४४७, कुष्ठ रोग ४४७-४४९,
दुर्मात्मक (अर्श) ४५०

लकड़ी काटना (व्यवसाय) २३८

लगान १३६, १९०, १९५

ललित कला १९३, ४२२, ४२६,
४२७

ललितासनिक (पद) १२६

लाक्षा वाणिज्य (व्यवसाय) २३९

लिटरेरी एपिक ३७

लिपियाँ ४३१

ग्रन्थारह प्रकार की ४३१, चौसठ
प्रकार की ४३१, तैंतीस प्रकार
की ४३१

लेखन (व्यवसाय) २३८

लेख्या (छह) ३६३

लोकगीत १७, ३३९, ३५०, ३५२

लोकधर्मी साहित्य २३

लोकनृत्य १७

लोकायतिक दर्शन ३७९, ३८०,
३९२

इनकी सामाजिक लोकप्रियता

३७९, इनकी तार्किक युक्ति-

संगतता ३७९, लोकायतिक

साधु ३७९, इनकी तत्त्वमीमांसा

३८०, ३९९-४०२, सामन्तवादी

भोग विलास की प्रतिक्रिया

३८०, आध्यात्मिक दर्शनों द्वारा

इनका खण्डन ३८०, ३९९-

४०२

लोकायतिक वाद ३९९-४०३, ४०६

लोकायतिक साधु ३७९

लोहकार (लुहार) २३४

लौकिक धर्म ३१८, ३२१, ३२४,
३२५

लोह निर्मित आयुध २३७

वणिक् १३६, २२४-२२६, २२८;
२३६, २६०, २८२, २८४,
२८५

वणिक्पति २२६

वणिक्पथ ९७, २२४, २२७, २८२,
२८५

वणिक-वर्ग २०३, २२७
 वणिक् श्रेणिनाथ २२६
 वणिग्राम २८६
 वधू का चयन ४८६, ४८६, ४६०,
 ४६१, ४६२, ४६५, ४६६
 वन २१४, २१५, २३६, २३८,
 २४२, २४४, २५२, २५६,
 ३८७
 वन ग्राम १३८
 वन जीविका (व्यवसाय) २३८
 वनपाल १२१
 वन्य पशु २२२
 वप्र (अन्तर्वेदी) २४६, २५०
 वप्रमिति २५०
 वर का चयन ४८६, ४८६, ४६०,
 ४६१, ४६२, ४६५, ४६६,
 ५०३, ५०४
 वररुचि के वार्तिक ४३०
 वर्ग चेतना २६, २७, ६४, २०५,
 २४१
 वर्गणा ३८७, ३८८
 वर्ग संघर्ष ३, २४, ३६, ३१८
 वर्णमाला ज्ञान ४०६, ४१०
 वर्ण विभाजन २०२, २०३, २०६,
 ३१६
 वर्ण विभाजन की अतर्कसङ्गतता
 ३१६, इससे भूत्यवर्ग की
 संघटना ३१६, रंग-भेद की
 अपेक्षा से वर्णभेद का अनौचित्य
 ३१६ इससे मानव जाति के
 एकत्वं पर आघात ३१६, वर्ण-
 विभाजन द्वारा आर्थिक ढाँचे

का निर्माण २०४-२०६, वर्ण-
 विभाजन की तीन मध्यकालीन
 श्रेणियाँ—शास्त्रजीवी ब्राह्मण,
 शास्त्रजीवी क्षत्रिय, कलाकौशल
 जीवी वैश्य-शूद्र २०२, २०३,
 २०६
 वर्ण विषमता १८५, ३१६
 वर्णव्यवस्था १२, १३, २५, ३०,
 ६६, २०२-२०४, २०७, २०६,
 २४१, २४७, ३१०, ३१५,
 ३१६, ३२०, ३२१, ४०४,
 ४०७, ४०८
 वर्ण व्यवस्था की सामाजिक
 लोकप्रियता ३२०, वैदिक
 परम्परा की मान्यता ३२१,
 जनानुमोदित वर्ण व्यवस्था
 ३२०, ३२१, वर्ण व्यवस्था का
 जैनीकरण ३२०, वर्णव्यवस्था
 का जैनीकरण ३२०, वर्ण-
 व्यवस्था का विरोध ३१६, वर्ण
 व्यवस्था के अनुसार व्यवसाय
 विभाजन २०२-२०८, वर्ण
 व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा ४०७,
 ४०८, द्रष्टव्य-ब्राह्मण, क्षत्रिय,
 वैश्य, शूद्र
 वर्णव्यवस्थानुसारी पाठ्यक्रम ४२५-
 ४२७
 वर्णव्यवस्थानुसारी व्यवसाय ४२६
 वर्ण संकीर्णता २०३
 वसुधा उपभोग १६६, २४०
 वसुधेश्वर ८४

वस्तुओं में मिलावट २३१, २३२
 वस्तुपाल की तीर्थयात्राएं ३४२,
 ३४३, ३४४-३४७
 वस्त्र १०२, १६३, २२६, २३४,
 २६६-३००, ३११, विविध
 प्रकार के २६६-२६६,
 सामान्य वस्त्र २६८, परिधान
 वस्त्र २६८-३००, श्लोभाग के
 वस्त्र २६८-१६६, ३११, ऊपरी
 भाग के वस्त्र २६८-२६६,
 ३११, स्तनावरण वस्त्र २६६,
 विवाह वस्त्र ३००, स्त्रियों के
 वस्त्र २६७-३००, ३१२, पुरुषों
 के वस्त्र २६७-२६८, सौराष्ट्र
 के वस्त्र २६७, सुधन देश के
 वस्त्र २६७, पर्वतीय प्रदेशों के
 वस्त्र २६७, चीनी वस्त्र २२६,
 ३२६, २६७, नेपाल देश के
 रत्न कम्बल २६७, सिले हुए
 वस्त्र २६७, ३११, ऊनी वस्त्र
 २६६, कपास के वस्त्र, २६६,
 सूक्ष्म वस्त्र २६७, चमड़े के
 वस्त्र २६७

वस्त्रसंज्ञा :—

अंशुक (साड़ी) २२६, २६६,
 ३११, ३१२
 अन्तरीय २६८, २६६, ३११
 आंचल २६८
 उत्तरीय (चादर) २८६, २६६
 धौमक (लीनन) २६७
 धौर्णकाम्बर (ऊनी वस्त्र) २६६,
 २६७

कंचुक (चोली) २६६, ३००,
 ३१२
 कटिवेष्टन (कमरबन्द) २६८
 कमरबन्द २२६, २६८
 कम्बल २२६, २३०, २६८
 कार्पासवाससः (कपास के
 वस्त्र) २६६
 कूर्पासक (कंचुक) २६६
 कीशेय (रेशमी वस्त्र) २६६
 चित्रनेत्रपट (बारीक वस्त्र)
 २६७
 चीनांशुक (चीनी शिल्क) २२६
 २२६, २६७
 चोल (चोली) ३००
 छत्र ११७
 तक्रिया १६२, २२६
 तसर (टसर) २६७
 त्वक् (पर्वतीय वस्त्र) २६७
 त्वक्पट (चमड़े के वस्त्र)
 २६७
 दुक्कल (दुशाला) २२६, २६८,
 ३००
 द्विपट्टिका (दुपट्टा) २६८
 पट (सामान्य वस्त्र) २६८
 पट क्षीम २२६
 पट्टिका (कमरबन्द) २६८
 पटी (दुपट्टा) २२६, २६८
 पट्टा ८५
 पट्टयः (दो सिले हुए वस्त्र)
 २६७
 पारिणेत्रवसन (विवाहवस्त्र)
 ३००

- मणिकम्बल २२६, २६७, ३००,
४४८
रजाई १६२
रत्नकम्बल १६३, २२६, २२७,
२२६, २६७, २६८
रल्लीक (कम्बल) २६८
लोहित कम्बल २६८
शय्या १६२, २२६, ३५२
सूक्ष्मवस्त्र (बारीक वस्त्र)
२६७
वस्त्रशाला २५२
वाचनाचार्य ४१२
वाटक/वाटिका २१२, २६४, २४४
वाणिज्य व्यवसाय १३६, १६१,
२०२-२०४, २०७, २०६,
२२४, २३८, ३२१
वैश्य वर्ग का कुलक्रमान्त
व्यवसाय २०३, २०४, इसका
कलाकौशल में अन्तर्भाव ३०४,
जैन धर्म में पन्द्रह प्रकार के
निषिद्ध वाणिज्य व्यवसाय २३८
२३६ द्रष्टव्य-‘व्यापार’
वाद ३८१, ३६२-४०३
वाद्य यंत्र १५६, १६२, १८४, १८५,
१६३, २२३, ३३६, ४६८-
४४१
कसाल ४३६, काहल १८४,
४३६, घण्टा ४४०, घण्टिका
भल्लर ४३६, भर्भर ४३६,
भल्लरी ४४०, डमरूक ४३६,
१५६, डक्का १८४, ४३६,
तन्त्री ४३६, ताल ४४०, ४४१
तूर्य (तुरही) ३३६, ४३८,
४३६, दुन्दुभी १८४, ४३६,
पटह (नगाडा) १५६, १८४,
४३८, ४२६, पणव ४३६,
४४०, मेरी १५७, १८४,
४३८, ४३०, मर्दल ४४०,
माड्डुक ४३६, मुरज ५६,
४४०, ४४१, मृदङ्ग १८४,
२४६, ४३८, ४३६, यक्का
२८४, ४२६, वंश ४४६, ४४१
वल्लकी ४३८, ४३६, विक्किणि
४३६, बीणा २४६, ४३८-
४५१ (द्रष्टव्य बीणाभेद) वेणु
१७०, ४३६, शंख १८४, ३३६
भृङ्ग ४३६, हल ४४०
वापी २५१, ३५५
वारांगना ४८३
वार्ता ६८, १६१
वास्तुशास्त्र-ग्रन्थ २४६, २६६, २७६
२८५, २८६
वास्तुशास्त्र सम्बन्धी विद्याएं ४२६,
४२७
वास्तुशास्त्रीय चित्रकला ४४३,
४५४
वास्तुशास्त्रीय व्यवसाय २३८
वाहन निर्माण (व्यवसाय) २३७
वाहन निर्माता, (अनोजीवी) २३२
पा० २३८
विकासवाद ६७
विकेन्द्रीकरण (भू सम्पत्ति) १६७,
१६८
भूस्वामित्व का १६७, १६८,

दहेजदान के सन्दर्भ में, १६६,
सामन्ती चरित्र के रूप में
१६६

विग्रह ७४, ७५, १५०

विचारात्मक संस्कृति ८, ९

विजिगीषु राजा ७३, ७६, ८०

विहम्बक (हास्य कलाकार) २३५

विदग्ध गोष्ठी ५०१

विदूषक १२१, २३५

विद्या ६४, १०३, २३६, २३८
४२०-४४५

विद्याएं:—

अङ्कगणित/गणित २३८, ४०६
४११, ४२०-४२२, ४२४,
४२५

अध्यात्मविद्या ४०८, ४२०

अनुशासनी (वेदाङ्ग) विद्या
४२०

अपराविद्या ४२०

अर्थशास्त्र ४२१, ४२२, ४३३,
४३४

अवस्वपनिका विद्या १०३

अद्वयशास्त्र/अश्वविद्या ६४, २०६,
२२२, ४२२, ४२६, ४३३,
४४५

अष्टादशशिल्प विद्याएं ४२१,
४२२

असि विद्या ४२६

आकृतिशास्त्र ४२४

आन्वीक्षिकी विद्या ४२१, ४२४
४३४

आयुधलक्षणशास्त्र/आयुध विज्ञान
१६६, ४२६

आयुर्वेद ४२०-४२२, ४२४,
४२७, ४२८, ४४५-४५०

अष्टाङ्ग आयुर्वेद ४४५,

रस, वीर्य, विपाकज्ञान

सहित आयुर्वेद शिक्षा ४४५,

चिकित्सा एवं प्राथमिक

उपचार ४४६, ४४७, कुष्ठ-

रोग की शल्य चिकित्सा

४४७-४४८, रोगोपचार

४४९-४५०, औषध विज्ञान

४४५, ४४७

इतिहासविद्या ४२०, ४२१

इन्द्रजालविद्या ४२१, ४२६,
४२७

उत्पात ज्ञान ४२०

उपनिषद्विद्या २५, ४२१

कल्प (वेदाङ्ग) ४२६

कर्मकाण्डविद्या ४२५, ४२६

कानून ४२१

कामशास्त्र ४२२

काव्य-गायन-कला ४२७

काव्यरचना २३६, ४१६

काव्यशास्त्र ४१६, ४२८

कुहुकप्रयोगविद्या ४२७

कृपाणविद्या ४२६

कृषि ४२२

क्षत्रविद्या ४२०, ४३३

क्षुरिविद्या ४३६, ४३७

खगोलशास्त्र ४२४

खड्गविद्या ६४, ४३६, ४३७

गजशास्त्र/विद्या ४२२, ४२२,

४२६, ४३६, ४४५

गजाद्वपरिचालन ४२१
 गदाविद्या ४२६
 गन्धयुक्तिविद्या (इत्रविद्या)
 ४२५
 गायानाराशंसी विद्या ४२०
 गायनकला २३५, ४२१, ४२७
 गुप्तनिधि-अन्वेषण ४२२
 चक्रविद्या ४२६
 चर्मविद्या ४२६
 चापविद्या ५३ ४२६, ४३६
 चारणकला ४२७
 चिकित्सा २३५, ४०८
 चित्रकला २३६, ३४२, ४२१,
 ४२२, ४२५, ४२७, ४४३-
 ४४५
 छन्दविद्या/छन्दकला ४२५, ४२७,
 ४२८, ४२९
 ज्योतिषविद्या २३६, ३९९,
 ४२२, ४२४, ४२५, ४२८,
 ४२९, ४५०-४५२
 शुभलग्न ४५१, मित्रदृष्टि
 ४५१, ग्रहों का बलाबल
 ४५१, ग्रहों का स्वामित्व
 ४५१, षड्वर्ग शुद्धि ४५१,
 अशुभग्रह ज्ञान ४५१, शुभ-
 ग्रह ज्ञान ४५१, लग्न, तिथि
 मुहूर्तविचार ४५२
 तक्षणाकर्म (बढ़ई गीरी) ४२१
 तन्त्रमन्त्रसिद्धि ४२२
 तर्कशास्त्र ४०८, ४२०
 तालोद्घाटिनी विद्या १०३
 तुरगलक्षणशास्त्र ४२६

त्रयी/त्रिविद्या ६८, ४२४, ४२७,
 ४३४
 दण्डविद्या ४२६
 दण्डनीति विद्या ४२१, ४२४,
 ४३३, ४३४
 दर्शन शास्त्र ४२१, ४२२,
 ४२४, ४३२, ४३३
 लोकप्रिय दर्शन, बौद्ध दर्शन,
 जैन दर्शन, सांख्य दर्शन
 भीमांसा दर्शन, चार्वाक
 दर्शन ४३२, न्याय दर्शन का
 एक स्वतन्त्र विद्या के रूप
 में विकास ४३३
 दुर्गनिर्माण विद्या ४२६
 देवजन विद्या ४२०
 देवशास्त्र ४२०
 देवालयनिर्माण विद्या ४२६
 धनुर्विद्या (धनुर्वेद) ९४, १६८,
 ४१८, ४२०, ४२२, ४३६,
 ४३७
 विविध प्रकार के बाणों को
 चलाने का प्रशिक्षण ४३६,
 धनुर्विद्या की अभ्यास
 विधियाँ—चरणविन्यास,
 ज्या-स्फालन, लक्ष्य-सन्धान,
 बाण-विसर्जन ४३६, बाण-
 भेदन, राधावेधन शब्दभेदन,
 जलनिहित लक्ष्य भेदन,
 चक्रवेधन, मृत्तिकापिण्ड
 भेदन ४३६
 धर्मशास्त्र ४२०, ४२१, ४२५
 धर्म शिक्षा ४२१

नक्षत्रविद्या/नक्षत्रविज्ञान ४२०, ४२१, ४२८, ४५०-४५२	प्रासाद (निर्माण) विद्या ४२६
नदीसंस्तरणकला ४२७	वाहुयुद्धविद्या ४२६
नागवशीकरण ४२२	ब्रह्मविद्या २५, ३१८, ४२०
नाट्यकला १६, ४२५, ४२७, ४२८	भविष्य कथन ४२२
निधिशास्त्र ४२०	भाषाशास्त्र/भाषाज्ञान १३४, ४३०-४३२
निरुक्त (वेदाङ्ग) ४२६	भूतविद्या ४२०
नीतिशास्त्र ६४, ४२०	मणिरागाकरज्ञान ४२१
निमित्तशास्त्र/निमित्त विद्या ४२४, ४२७	मर्दलवादनकला ४२७
निरुक्तविद्या ४२५	मीमांसा विद्या ४२१, ४२५
नृत्यकला/नृत्यशास्त्र २३६, ३५३, ४२१, ४२२, ४४१- ४४३	मुनीमी ४२२
न्यायदर्शन (विद्या) ४१३, ४२०, ४२१, ४२५, ४३२, ४३३	मुसलविद्या ४२६
न्याय दर्शन का स्वतंत्र विद्या के रूप में विकास, ४३३, न्याय के सोलह तत्त्व ४३३, न्याय के सात पदार्थ ४३३	मूर्तिकला २००, ४२७
पटहवादनकला ४२७	मोक्षणी विद्या १०३
पराविद्या ४२०	युद्धविद्या/युद्धकला २०२, ४०८, ४११, ४१८, ४२०-४२३, ४३५-४३७
पशुपालनविद्या ४२१	राजकुमारों के लिए अनिवार्य शिक्षा ४३५, ४३६,
पाककला ४२६	सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षण ४३६, युद्ध विद्या के ग्रन्थ—घनुविद्या ४३६, लङ्गविद्या ४३७, शस्त्रविद्या ४३७, बाह्यविद्या ४३६, विविध प्रकार के प्राशुर्धों को चलाने का प्रशिक्षण ४३७
पुराणविद्या २०६, २०७, ४२०, ४२१, ४२५, ४२७	योगविद्या ४२०, ४२५
पुरुषलक्षणशास्त्र ४२७	रङ्गमञ्चकला ४२७
पीरोहित्यकला ४२७	रत्नपरीक्षा ४२२
प्रासविद्या ४२६	रथसंचालनविद्या ४२२, ४२६
	राजनीतिशास्त्र (राजविद्या) ४३३, ४३४

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता
तथा दण्डनीति का अध्ययन
४३४, अर्थशास्त्र के रूप में
बाह्यगुण्य, त्रिविध शक्ति,
का अध्ययन ४३४, उशनस्
नीति शास्त्र की शिक्षा
४३४, राजनीति शास्त्र के
उपदेष्टा ४३४
लक्षणशास्त्र ४२२
लाङ्गलविद्या ४२६
लिपिशास्त्र/लिपिकला ४०८
४२२, ४२४, ४२७
चौसठ प्रकार की लिपियां
४३१, तैंतीस प्रकार की
लिपियां ४३१, अठारह
प्रकार की लिपियां ४३१,
लिपिविज्ञान एक स्वतन्त्र
विद्या के रूप में ४३१
लेखनकला ४२७
वाकोबाक्यम् (वादविवाद)
विद्या ४२०
वार्त्ता (विद्या) ४२१, ४२४,
४३४
वार्षगुण ४२५
वास्तुशास्त्र/वास्तुकला २८४,
३११, ४२१, ४२२,
वाहनविद्या ४३६
विज्ञान-टैक्नॉलॉजी ४२१, ४२२
विज्ञानविद्या ४२०
वीणावादन कला ४२७
वेणुवादनकला ४२७
वेदविद्या २०४, २०६, २७१,
४१३, ४२०, ४२१, ४२२,
४२५, ४२८, ४२९

वैदिक पाठ एवं शाखाओं
का अध्ययन ४२९, ऋग्वेदीय
'शाकल' पाठ, यजुर्वेदीय
'कठ' पाठ, अन्य शाखाएं
४२९
वेदाङ्ग/षडङ्ग २०४, ४१३,
४२०, ४२१, ४२५, ४२९
कल्प, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त
व्याकरण, शिक्षा ४२९,
वेदाङ्ग शिक्षा का स्वरूप
४२९, वेदाङ्गों द्वारा वेदों
का अध्ययन ४२९
वेदान्त विद्या ४२०
व्याकरण २७०, ४०८, ४२०-
४२२, ४२८, ४३० शिक्षण
विधियां ४३०, नाम
आख्यात, उपसर्ग तथा
निपात के रूप में व्याकरण
शास्त्र का विभाजन ४३०,
पाणिनि व्याकरण तथा
वररुचि के वार्त्तिकों का
अध्ययन ४४०, आदिपुराण
में व्याकरण शिक्षा ४३०
व्यापार विद्या ४२१, ४२२
व्यायाम विद्या ४२७
व्यूहभेदनविद्या ४२६
व्यूहचरनाविद्या ४२६
शकुनशास्त्र ४२५, ४२६, ४५३,
४५४
शकुन ४५३, अपशकुन ४५३,
४५४
शक्तिविद्या ४२६

शास्त्र चिकित्सा २२६, २३५

शास्त्रविद्या १५६, २०२, ४३६,
४३७

आक्रमणात्मक एवं
सुरक्षात्मक आयुषों को
चलाने की शिक्षा ४३७,
विविध प्रकार के अस्त्र-
शास्त्रों में विशिष्टता
४३७

शिल्पविद्या ४०८, ४२१,
४२७

शिक्षा (वेदाङ्ग) ४२१

श्राद्धकल्प ४२०

श्रुतिविद्या ४२७

संग्रामकला ४२३

सङ्गीतकला/गान्धर्वविद्या २३५,
३३२, ३५३, ४२१, ४२२,
४२५, ४३७-४४१

सङ्गीत की लोकप्रियता

४३७, ४३८, सङ्गीत संबंधी

विशेष उत्सव, ४३८, राजकीय

जन जीवन में सङ्गीत ४३८,

आर्थिक उत्सवों पर सङ्गीत

४३८, सङ्गीत गोष्ठियाँ

४३८, सङ्गीत के सप्त स्वर

४४०, चतुर्विध ध्वनि ४४१,

वाद्ययंत्र ४३८-४४०

समुद्रसंस्तरण कला ४२७

सर्प क्रीड़ा ४२१

सर्प विद्या ४२०

सांख्य विद्या ४२०, ४२५

सांग्रामिक विद्याएं ४२३

साहित्यविद्या (साहित्यशास्त्र)

४२२, ४३५

शास्त्रीय एवं सृजनात्मक

शिक्षण ४३५, काव्यलेखन

का अभ्यास ४३५, प्रसिद्ध

कवियों तथा काव्य रचनाओं

का अध्ययन ४३५, शब्द-

क्रीड़ा एवं वाग्विलास में

विशिष्टता ४३५

स्तम्भनी विद्या १०३

स्त्रीलक्षणशास्त्र ४२७

स्मार्तविद्या ४२७

स्वप्नशास्त्र (निमित्तशास्त्र)

४२५, ४५४, ४५५

स्वस्तिवाचनकला ४२७

हर्म्य (निर्माण) विद्या ४२६

हस्तिलक्षणशास्त्र ४२६

हेतुशास्त्र ४२५

होराशास्त्र ४२५

विद्याघर ४२३, ५१७

विद्याभृत्य २३६

विद्यामठ (शिक्षा केन्द्र) ४१६

विद्यारम्भ की आयु ४०६, ४१०

विद्यार्थियों की चौदह श्रेणियाँ ४१५-

४१६

विराट् (पद) १११

विवाह—आठ प्रकार के ४८५

आर्ष विवाह ४८५, आसुर

विवाह ४८५, गान्धर्व विवाह

४८५, देव विवाह ४८५,

प्राजापत्य विवाह ४८५, ब्राह्म-

विवाह ४८५, राक्षस विवाह

४८५

विवाह—धार्मिक अनुबन्ध ४८५
 विवाह—सामाजिक सम्बन्ध ४८५
 विवाह तथा परराष्ट्रनीति ४८६-४८८
 विवाह—वर्णव्यवस्थानुसारी ४८५
 ब्राह्मणों के लिए—ब्राह्म-
 प्राजापत्य, आषं, दैव ४८५,
 क्षत्रियों के लिए—राक्षस, गान्धर्व
 ४८५, वैश्यों के लिए—आसुर
 ४८५, शूद्रों के लिए—पैशाच ४८५
 विवाह-विधियां ४६४, ४६६-
 ५०१ वराहचरित में ४६६
 ४६७, पद्मानन्द में ४६७-
 ४६९, सनत्कुमारचक्रिचरित में
 ४६९, प्रद्युम्नचरित में ४६९-
 ५००, द्रयाश्रय में ५००, शान्ति-
 नाथ चरित में ५००-५०१,
 कर्माटक की ४६७, गुजरात की
 ४६७-५००, राजस्थान की
 ४६९-५०१
 विवाह संस्था ४८५-५०७, ५०९
 इसका समाजशास्त्रीय स्वरूप
 ४८५, प्राचीन भारतीय विवाह
 भेद ४८५, ४८६, जैन महा-
 काव्यों में विवाहभेद ४८७-
 ४९५, मंत्रणापूर्वक विवाह
 ४८६, स्वयंवर विवाह ४८६,
 ५०२, ५०३, पूर्वाग्रह पूर्ण
 स्वयंवर विवाह ४९०, प्रेम
 विवाह ४९१-४९२, अनुबन्ध-
 नात्मक प्रेम विवाह ४९२,
 ४९३, प्रतिज्ञाविवाह ४९३,

अपहरण विवाह ४९३-४९५,
 विवाह चयन ४९५ ५०३,
 विवाह विधियां ४९६-५०३,
 विवाह सम्बन्धी रीतिरिवाज
 ५०१, दहेजप्रथा ५०४-५०६
 बहुविवाहप्रथा ५०६, ५०७
 विवाह सम्बन्ध—राजनैतिक ४६९
 विवाह सम्बन्धी हास-परिहास ५०१-
 ५०२
 विश्वासघाती (विधि) १८२, १८३
 विषय ११९, ३५९, ३७०, ५१२
 विषयपति (पद) ११९
 विषवाणिज्य (व्यवसाय) २३९
 विष्णु २६, ६१, ३१९, ३७०-३७२,
 ३७२, ३८०, ३९८
 विष्णु की आराधना ३७२
 विष्णु के दशावतार ३७२
 विष्णु-प्रतिमाएं ३७२
 विष्णु मन्दिर ३७२
 विस्फोटक पदार्थ २३९
 विहार, (शिक्षा केन्द्र) ४०९
 वीणा—चौदह प्रकार की ४४०
 वीतराग ३६०, ३८५
 वीथिमहत्तर १२९
 वीथी २३
 वृक्ष/वनस्पति १५६, १५८, १९४,
 २१३-२२१, २३८, २४०,
 ३०१, ३९३
 छायादार वृक्ष २१८-२२१,
 पुष्प वृक्ष २१८-२२१, फलों-
 मेवों के वृक्ष २१७-२१८,
 मसालों-सुगन्धित द्रव्यों के वृक्ष

२१७, २१८, जैन मन्दिरों के उद्यानों में वृक्षारोपण ३४२	कुरवक (लाल कटसरैया) २१८
वृक्ष/वनस्पति :—	कृष्माण्डो २२०
अञ्जन २२०	केतकी २२०
अतिमुक्तक २१६, ३४१	कमुक (दाआ) २१७, ३४१
अभया (हरीतकी) २१७, ३४१	खजूर (खजूर) ११७, ३४१
अशन (पीला शाल) २२०, ३४१	खदिर (खैर) २१६
अशोक २१८, ३४१, ३६३	चन्दन १७४, २१८
अश्वत्थ २१६	चम्पक २१६, ३४१
आकन्द २१६	चम्पा २१५ २१८, ३६३
आम्र (आम) २१७, ३४१, ३६३	जप २२०
आमलकी (आमला) २१७	जम्बीर (निबू) २१७
उत्पल २१८	जम्बू (जामुन) २१७
उदुम्बर २२०	जाति (चमेली) २१५, २१८, २१६, ३४१
एरण्ड ३६२	तमाल २२०, ३४१
एला (इलायची) २१७, २१८	ताम्बूल (पान) २१८, ३४१
कङ्काल (गुग्गुलु) १८२, २१५, २१६, २१७, २३६, ३४१	ताल २२०, ३४१
कंचनार २२०	तालीद्रुम ३४१
कदम्ब २१८	तिलक (वृक्ष) २१६
कदली (केला) २१७, ३४१	तुरुष्क (लोवान) २१८
कन्द २१७	वाडिम (अनार) २१७, ३४१
कन्दर्पवीर २१७	देवदास २१८
कमलकन्द ३६४	धव २२०
कर्णिकार (कनेर) २१८, ३४१	घाय (घातकी) २३६
कर्पूर (कपूर) २१८	नवमल्लिका २१६
किणुक २१६, ३१६	नारङ्ग (सन्तरा) २१७
कुङ्कुम (केसर) २१८	नारिकेल (नारियल) २१७, ३४१
कुटज (कौरैया) २१८	निचुल २२०
कुन्द २१८	निम्ब (नीम) २२१
कुञ्जक (सेवती) २१६, ३४१	नीप २२०
	पलाश १८३, २२०

परिमद्र १८३, २१६
 पिपली २२०
 प्रियङ्गु ३४१
 प्रियाल १८२, १८३, २१६
 प्रियाल चूर्ण १८२
 पुन्नाग (नागकेसर) २१५, २१७
 ३४१
 पूम (सुपारी) २१८
 पूरी तुण १८२
 प्लक्ष २२०
 बकुल २१६
 बन्धूक (मध्याह्न पुष्प) २१६,
 ३४१
 बाण २२०
 बांस १७०, १७४
 बिल्व (बेल) २१७, ३४१
 मधूक २२०
 मरीचि (गोल मिर्च) २१८
 मल्लिका २१६, ३४१
 मातुलिग (चिकोतरा) २१७,
 मालती २१५, २१६, ३४१
 मौलसिरी २१७
 रक्तकन्द (केशर) ३०१
 लङ्गली २२०
 लवङ्ग (लौन) २१७, ३४१
 लवली २१६, २२०
 वासन्तिक (वासन्ती) २१६,
 ३४१
 शामी २२०
 शिरीष २१६
 शिञ्जि २२१
 श्रीवेष्टक १८२
 सप्तपर्ण २२०

सरल (देवदारु) १८२, २१८,
 २२८
 सल्लकी (सलई) २१६
 सुवर्ण (हरिचन्दन) २१८,
 ३४१
 सेफाली २२०
 हरिताल ३१६
 हित्ताल २२०
 वृक्ष उद्योग २१३-२२१, २४०,
 ३०१, ५०८
 इसका आर्थिक महत्त्व २१४-
 २१५, ३०१, इनसे भोग विलास
 की सामग्रियों का उत्पादन
 २१५, २१६, लकड़ी उद्योग
 २१५, सुगन्धित द्रव्य २१६,
 २१७, ३००, सौन्दर्य प्रसाधन
 की सामग्री, २१४, २१५,
 ३००, ३०१, मेवे-मसालों का
 उत्पादन २१६, मदिरा उत्पादन
 २१६, फल-फूलों का रस २१६,
 वृक्षारोपण के विविध प्रकार
 २१४-२२१, जैन धर्म में वृक्षों-
 वनस्पतियों को बेचना निषिद्ध
 २३८
 वृक्षारोपण २१४, २१५
 वेद १२, ३४, १३४, १६०, २८२,
 २८४, २८५, ३१४, ३१७,
 ३१८, ३२१, ३६८
 वेदनीय ३६०
 वेदप्रामाण्य ३१५, ३२०, ३२१,
 ४०४
 वेद प्रामाण्य का विरोध ३१७-
 ३१८

- वेदान्त दर्शन ३८०
 वेशभूषा/वस्त्राभूषण २४२, २४६,
 २६६-३१२, ३२७, ३५५,
 ३६२
 वेशम (दुमंजिले मकान) २४८
 वेश्या/गणिका २२, १२२, १६०,
 १६२, २२६, २३६, २४७,
 ४७३, ४८१-४८३
 वेश्याओं की जीविका ४८२
 वेश्यालय १८८, २४७, ४८२
 वेश्यावृत्ति २३६, ४८१-४८२, ५०६
 इसका सार्वजनिक रूप से
 प्रचलन ४८१-४८२, सैनिक
 छावनियों में वेश्याओं के शिविर
 ४८२, नगरों में वेश्यालय ४८२,
 वेश्यालयों में सज्जीत गायन
 तथा कामोत्तेजक चित्रांकन
 ४८२
 वेश्यावृत्ति-कुल परम्परागत ५०६
 वैक्रियक (शरीर) ३८८
 वैदिक कर्मकाण्ड २५, २०५, ३१५,
 ३६७, ३६८
 वैदिक कालीन नारी ४५८-४६०
 धर्म तथा शिक्षा के क्षेत्र में
 समानाधिकार ४५८, पतृक
 सम्पत्ति के अधिकार से वंचना
 ४५६, नारी को पुरुषायत्त
 मानने की प्रवृत्तियों का उदय
 ४५६, दार्शनिक क्षेत्र में नारी
 से पुरुष को ऊंचा स्थान ४५६
 वैदिक युगीन शिक्षा ४२५
 वैदिक विद्या परम्परा ४०६, ४२०-
 ४२१, ४२४ ४२८-४३७
 दो मुख्य विभाजन, पराविद्या
 तथा अपराविद्या ४२०, उप-
 निषद् कालीन विद्याएं ४२०,
 ब्राह्मण कालीन विद्याएं ४२०,
 पुराणयुगीन विद्याएं ४२०,
 ४२१, मध्यकालीन विद्याएं
 ४२१, उच्चस्तरीय अध्यय-
 विषय ४२८-४३७
 वैदिक संस्कृति २५, २७, ३६,
 ३१४, ३१५, ३२१, ४११
 वैदिक समाज व्यवस्था ४५८
 वैदिक साहित्य २५, ४२१
 वंद्य (भिषज्) १६७, १६८, २३५,
 ४४६, ४४६, ४५०
 वैमानिक देव ३५०, ३५१
 वैयाकरण ४३०
 वैवक्षिक/कावक्षिक (कुली) २३५
 वैवाहिक सम्बन्ध ४८६-४८८
 वैशेषिक दर्शन २५
 वैश्य २२, ७३, १२७, १४०, २०२-
 २०४, २०७-२०६, २४१, ३१६,
 ३२१
 इनके व्यवसाय २०७-२०६,
 कलाकौशलजीवी के रूप में
 संघटना २०६, मुख्य व्यवसाय:
 वाणिज्य व्यापार २२४-२३२
 वैश्य वर्ग २०७, २०६, २२४, २४१
 ४०७, ४०८
 वैश्यों की शिक्षा ४२५

वैश्यों के व्यवसाय २०७, २०६,
२४१

वैष्णव धर्म/सम्प्रदाय २६, ३२२,
३७२

व्यन्तर देव ३५०, ३५१

व्यवसाय १३, १८६, १६०, २०२-
२१४, २२१-२२३, २३२,
२३३, २३७-२४०, २४१,
२४४

वर्गव्यवस्थानुसारी विभाजन
२०२, २०६, २४१, ५४३,
— ब्राह्मणों के व्यवसाय २०४,
२०६, २४१, ५४३, क्षत्रियों के
व्यवसाय २०६-२०७, २४१,
५४३, वैश्यों के व्यवसाय २०७-
२०६, २४१, शूद्रों के व्यवसाय
२०७-२०६, २४१, ५४३, तीन
आर्थिक वर्ग—ब्राह्मणसंघटन,
क्षत्रिय संघटन, वैश्य-शूद्र-संघटन
२०६-२०७, २४१, शास्त्रजीवी
व्यवसाय २०२, ५४३, शास्त्र-
जीवी व्यवसाय २०२, ५४३,
कलाकौशलजीवी व्यवसाय
२०३, २०६, २४१, ५४३,
द्रष्टव्य—उद्द्यान व्यवसाय, पशु-
पालन व्यवसाय, वाणिज्य
व्यवसाय, शिल्प व्यवसाय,
तकनीकी व्यवसाय, जैन धर्म
में व्यवसाय विभाजन २३८,
पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यव-
साय २३८, २३६, द्रष्टव्य-
'सावद्य कर्म' एवं 'निषिद्ध
व्यवसाय'

व्यवसाय चयन २०४, २४१

कुल परम्परागत २०४, २४१,

कुलेतर २०३, २४१

व्यवसाय विभाजन २०२, २०६

व्यवसायात्मक बुद्धि ३७८

व्यवहार नय ३८२

व्याकरण ५३, ५७, १३४, ४११

व्यापार २०३, २०७, २२४-२२६,

२३८-२४०, २८५

व्यापार का स्वरूप २२४, वैश्य

वर्ग का जन्म सिद्ध अधिकार

२२४, खान, सेतु, वणिक्पथ,

व्यापारिक केन्द्र २२४, व्यापार

मार्ग-स्थल तथा समुद्र २२४,

घातुरत्नों का व्यापार २२४,

हाथीदांत का व्यापार २२३,

विष का व्यापार २३६, लाख

का व्यापार २३६, क्रूरप्रकृति

के व्यापार २३६, व्यापारिक

काफिले २२५, विदेशों से

व्यापारिक सम्बन्ध २२६,

नगरों के बाजार २२७-२२८,

विक्रेय वस्तुएं २२८, मुद्रा-

विनिमय २२६, व्यापारिक

अष्टाचार २३१-२३२

व्यापार विनिमय २२६, २४७,

२५१

व्यापार सम्बन्धी शिक्षा ४०८

व्यापारिक ग्राम २४३, २८२

व्यापारिक शुल्क १६२

व्यापारिक संगठन २५३, २६४,

९७०, २७३, २७५

व्यापारिक समिति २६४, २६६,
 २७७, ३११
 व्यापारियों का संघटित स्वरूप
 २२६, २३२
 व्यापारी ६७, १३४, १६१, १६२,
 २०४, २२४-२२८, २३१,
 २३३ पा०, २३६
 व्यापारी वर्ग २२७, २६०, २८८-
 २९०
 इनका संघटित स्वरूप, २२६,
 २३२, २५३, २६४, २७०,
 २७३, २७५, इनकी समिति
 २६४, २६६, २७७, ३११,
 इनकी सेना ७०, ७१, ७२
 व्यापारी सेना ७०, ७१, ७२
 व्यावसायिक प्रशिक्षण ४२२, ४२३,
 ४२६
 वज्र/गोकुल ६७, १३१, २३१
 २७१
 शक (जन) ५२६
 शकुन ११४, १५७, १५८, ४५३
 शक्ति (राजनैतिक) ७३, ७४
 शबर २५८
 शब्द नय ३८२
 शयनागार २४८
 शर्तपूर्ण विवाह ४६०, ४६२, ४६३
 शल्य चिकित्सा ४४८, ४४९
 शस्त्र १५४, १५७, १५८, १६३,
 १६४, १६६, १७६, १७७,
 १७८, १७९, १८८, १६४,
 २०६, ३२७
 शस्त्रजीवी (क्षत्रिय) २०२, ५४३
 शस्त्रजीवी व्यवसाय २०२

साकवाटक २१२, २१३
 शाकत (सम्प्रदाय) २६
 शाक्य (जाति) २७७, २७८,
 २९०
 शाक्य जाति का निगम २७८
 शास्त्रा नगर २५२, २८२
 शान्ति वाचन ३७३
 शारीरिक यातना १०३
 शासन संश्र ६५, ७३, ७४, ११५,
 १४६
 शासनव्यवस्था/राज्य व्यवस्था २१,
 ७२, ८३-१४२, १४६, १४७,
 १५०, १६६, २६५, २८१
 केन्द्रीय १०८-१२४, प्रामोण
 १२५-१४२, प्रान्तीय १११,
 ११६, १४७, कदम्ब शासन
 व्यवस्था १०६, काकतीय शासन
 व्यवस्था १०६, गुप्तकालीन
 शासन व्यवस्था १०६, बालुक्य
 शासन व्यवस्था १०६, १२०,
 १४५, १५४ पालवंशीय शासन-
 व्यवस्था १३२, १३३, प्रतिहार
 शासन व्यवस्था ८४, १०६
 शासनव्यवस्था विभिन्न कालों में :—
 आन्ध्र सातवाहन युगीन २८६,
 गुप्त साम्राज्य ६६, १४८,
 १८६, २७७, मौर्य साम्राज्य
 १४८, १८६, मुस्लिम शासन
 १०६, राष्ट्रकूट शासन १३१,
 हर्षकालीन १३८
 शास्त्रजीवी (ब्राह्मण) २०२, ५४३
 शास्त्रजीवी (व्यवसाय) २०२, ५४३

शास्त्रार्थ विधि ४१६

साहजिति की निगमसभा २७२

साहजितिये निगमश २७२

शिकारी अर्थव्यवस्था १८६

शिकारी जाति १८६

शिक्षक ४१२, ४१३

इसका स्वरूप ४१२, शिक्षकों के भेद ४१२, ४१३, शिक्षक की योग्यताएं, ४१२, ४१३ शिक्षकों के दो प्रकार :—(१) सग्रन्थ शिक्षक ४१३, (२) निग्रन्थ शिक्षक ४१३, शिक्षक प्रशिक्षण ४१३

शिक्षक प्रशिक्षण ४१३, ४१४

शिक्षकों की जीविका ४१३

शिक्षण मनोविज्ञान :—

अनुभव ४१७, अपोह ४१६, ४१७, अभ्यास ४१८, अवधारणा ४१७, ऊह ४१६, ४१७, चिन्तन ४०८, ४१६, तर्कणा ४१६, तथ्य स्थापना ४०८, धारणा ४१६, ४१७, ४१६, पाठ ४१७, पुनरावृत्ति ४१६, मनन ४०८, ४१६, वाचना ४१६, श्रवण ४१६-४१८, संशय निवारण ४१७, ४१६, संग्रहण ४१६, ४१७,

शिक्षण विधियाँ ४०८, ४१६-४१६

पाठविधि ४१६, ४१७, पुनरावृत्ति विधि ४१७, प्रश्नोत्तर विधि ४१७, कण्ठस्थ विधि विधि ४१८, व्यावहारिक विधि

४१८, सैद्धान्तिक विधि ४१६,

आदिपुराणोक्त छह विधियाँ ४१६

शिक्षा १२, ६६, ८८, २४७, ४०७

शिक्षा का माध्यम—संस्कृत ४३१, ४३२

शिक्षा का व्यवसायीकरण ४२६

शिक्षा की तीन धाराएं ४०८, ४०६

ब्राह्मण संस्कृति की धारा

४०८, ४०६ जैन धारा ४०८,

४०६, बौद्ध धारा ४०८, ४०६

शिक्षा के केन्द्र २८६, ४०८, ४१६-४२०

आश्रम ४१६, ४२०, तपोवन

४१६, विद्यामठ ४१६, राज-

प्रासाद ४१६, नगर ४१६, अग्र-

हार ग्राम ४२०

शिक्षा पाठ्यक्रम ४२०-४३७

वैदिक शिक्षा पाठ्यक्रम ४२०-

४२१, बौद्ध शिक्षा पाठ्यक्रम

४२१, ४२२, जैन शिक्षा पाठ्य

क्रम ४२२-४२३, वर्णव्यवस्थानु-

सारी पाठ्यक्रम ४२५, शिक्षा

का व्यवसायीकरण ४२६,

स्वतंत्र शाखा के रूप में

विद्याओं का विकास ४२६,

४२८, उच्चस्तरीय विषयों का

पाठ्यक्रम ४२८-४३६

शिल्प (व्यवसाय) . २००, २०१,

२०३, २०४, २०६, २३२,

२३३, २३८, २४०, २६१

शिल्पि ग्राम २४४

शिल्पियों का संघटन २३२

शिल्पि प्रमुख १२५

शिल्पि वर्ग २४०

शिल्पी १३४, १६६, २०१, २०४,
२०८, २३३, २४०, २४६

शिल्पी (रत्न) १६४, २०१

शिल्पी दहेज में २००

शिव २६, ६१, ६४, ३१६, ३७०,
३७१, ३८०, ३६८

शिव के मन्दिर ३७१

शिवाराधना ३७२

शिविर (नगर) २८५

शिष्यों के स्तर ४१५-४१६

शीत दायक मकान २४८

शुक्ल लेख्या ३६३

शुभकर्म ३६५, ३६७

शुभाशुभ कर्म ३६०, ४००, ४०१

शुल्क ६७, २६१

शुष्क गोमय होम ३६८

शुष्क परिखा २४६

शूद्र ७२, १२७, १३३, १४०, १४२,
२०२, २०४, २०७, २०८,
२४१, ३२१

दो प्रकार के—कारु शूद्र २०७,
२०८, अकारु शूद्र २०७, स्पृश्य
शूद्र २०८, अस्पृश्य शूद्र २०८,
शूद्रों के व्यवसाय २०७-२०६,
शूद्र अन्नदा के रूप में २०८

शूद्रकर्षक १३६

शूद्र कुन्बी १४२

शूद्र कुमि १४२

शूद्र जाति १४०, २६०

शूद्र वर्ण १२७

शूद्र वर्ग २०७, २०६, २४१, ३१६

शूद्रों की शिक्षा ४२५

शूद्रों की साक्षरता ४०७

शूद्रों के व्यवसाय २०७-२०६, २४१

शून्यवाद ३७६, ३६७

शून्य से जगत् की उत्पत्ति
३६७, जटासिंह नन्दि द्वारा

शून्यवाद का खण्डन ३६७

शैव धर्म/सम्प्रदाय २६, २७, ३२२,
शैविक/श्वपच (कसाई) ३३३ पा०
२३५, ३३०

शौर्यपूर्ण गाथा ३१, ३६, ३७, ३६,
६३, ६४

श्रमणी ४६३

श्रमिक वर्ग २४०

श्राद्धकर्म २०५

श्रावकाचार ३२५

श्राविका ३२६

श्रुतज्ञान ३८२

इसके दो भेद ३८२

श्रुति ३२१

शृङ्गारगोष्ठी १६२, ४८३

शृङ्गार रस ३३, ४५, ४६

श्रेणि २०६, २३२, २३३ पा०
२४६, २७२, २७३, २७५,
२८७

अठारह प्रकार की २३२,
सताइस प्रकार की २३२,
२३३ पा०, इसका सदस्य २७२,
इसका संघटित स्वरूप २३३

श्रेणि गण १६६, २००
 श्रेणिगण-प्रधान १६६, २३३
 श्रेणिधर्म २८७
 श्रेणि प्रधान १६६, २३३
 श्रेणि बल ७२
 श्रेणि व्यवसाय २३२
 श्रेष्ठि-कुलिक-निगम २७५
 श्रेष्ठिनिगमस्य २७६
 श्रेष्ठि-सार्धवाह-कुलिक-निगम २५३
 २७५
 श्रेष्ठी (पद) १२०, २७५, २७६
 श्रोत्रिय १३८, ४२७
 श्वेताम्बर सम्प्रदाय ४०, ४८
 षट्त्रिंशदायुध १६६
 षड्दर्शन ३७६
 षड्द्रव्य विभाजन ३८३
 षड्विध बल ७०, ७१, ७२, २०६
 द्रष्टव्य, सेना छह प्रकार की,
 इसकी व्याख्या शासन तन्त्र की
 दृष्टि से ७१, ७२
 षाड्गुण्य ७३, ७४, ७५, ६७, १५०,
 ४३४
 सन्धि, ७५, ४३४, विग्रह ७५,
 ४३४, यान ७५, ४३४, आसन
 ७५, ४३४, द्वैधीभाव ७५,
 ४३७, संश्रय ७५, ४३४, पर-
 राष्ट्रनीति के नियामक तत्त्व
 ७५, चतुर्विध उपायों का इसमें
 अन्तर्भाव ४५
 संगठित सभा/समिति २७४, २६०
 संग्रह नय ३७६, ३८२
 संगीत १५, १६१, १६२, १८४,
 १८५, १६३, ४३८, ४४२

संगीत की चतुर्विध ध्वनियां ४१
 संगीत के सप्त स्वर ४४०, ४४१
 संगीत शाला (मन्दिर) ३४१
 संग्रहण २७२, २८०
 दस ग्रामों का समूह २८०
 संघ-चतुर्विध ३२६, ३३३
 संघाधिपति (उपाधि) ३४३
 संघर (मार्ग) २७१
 संघि ७४, ७५, ७८, ८०, ८३, १५०
 संयोग केवली ३६२
 संवर (तत्त्व) ३८४, ३६०, ३६१
 परिभाषा ३६०, इसके कारण
 ३६०, यह मोक्ष का मूल कारण
 ३६१
 संवैधानिक समिति २६६, २७०
 संश्रय ७५, १५०
 संस्कार ३२१, ४०८, ४१०, ४११
 संस्कृत भाषा १६, २३, ३५, ३६,
 ३६, ४६, ५७, १३४, १४१,
 २३०, २६८, २६३, ३२०,
 ३६३, ४०५, ४३०
 वैचारिक आदान प्रदान की
 भाषा ४०५, राष्ट्रिय स्तर की
 सम्पर्क भाषा ३२०, ४०५
 जैन/बौद्ध लेखकों द्वारा प्रोत्साहन
 ४०५, ४३०, शिक्षा की माध्यम
 भाषा के रूप में ४३१-४३२,
 संस्कृत भाषा में लेखन ४३०
 संस्कृति ८, ६, ३६, ६६
 संस्था ४, ६, ८, ११, १२, २१, ६५,
 ६६, २६८, २६६
 सकषाय जीव ३८६, ३६०
 सकाम निर्जरा ३६१

- सकयानं निगमो २७८
सग्रन्थ शिक्षक ४१३
सचिव (पद) १०६, ११०, ११२
सती प्रथा का विरोध ४८३-४८४, ५०६
सत्कार्यवाद ३६५
सन्धान काव्य ४६, ४७
द्विसन्धान ४६, ४७, त्रिसन्धान ४६, चतुस्सन्धान ४६, पंचसन्धान, ४६, सप्त सन्धान ४६, चतुर्विंशति सन्धान ४६
सन्निवेश २४२, २८०
सप्तद्वीप सिद्धान्त ५१०
सप्तभंग ३७८
सप्ताङ्ग राज्य ७०
शासनतन्त्र के सात अङ्ग—
स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र ७०
सभामूह (मन्दिर) ३४१
सभाभवन २५२
समभिरूढ नय ३८२
समाज १-१७, २१-२४, २८-३१, ३४, ६५-६७, १००-१०२, १०५, १०६, १८६, २०३-२०५, २४१, ३२६, ३३०, ३६०, ३६८
समाजधर्मी साहित्य ३
समाजशास्त्र ३, ४, ५, ६, ७, ६, ११, १३, १५, १६, २०, २३, २४, २६, ३०, ३४, ६४, ६५, ६६, २४१
समावर्तन संस्कार ४१०
समिति (समाजशास्त्रीय) ४, ६, ७, ६५, ६६
समिति (दार्शनिक) ३६३, ३६०
समिति (वैदिक कालीन) २६८
समुदाय ६, ७, ३४, ६५, ६६
सम्पत्ति का उपभोग ४७३
सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण ४७३
सम्पत्ति का हस्तान्तरण ४७३
सम्पत्ति की अवधारणा ४७३
सम्बाध २४३, २६३
पर्वत के शिखरस्थ निवास स्थान २६३, यात्रा के लिये धाये हुये लोगों का आवास २६३, इसमें चारों वहाँ के लोगों का निवास २६३
सम्भोग कला ४८०
सम्यक्चारित्र ३६२
सम्यक्त्व ३७७
सम्यग्ज्ञान ३६२
सम्यग्दर्शन ३६२
सम्राट् (पद) १११
सम्बाह २४२, २६३, २८०
अनाज रखने के भण्डार २६३
सरः शोष (श्ववसाय) २३६
सरस्वती (देवी) ५८, ६१, ६२, ३३८, ३५४
सरावमालिका १०५
सरोवर निर्माण ३४६
सर्पबाण सदृश श्रायुष १८१
सर्वज्ञवाद (मीमांसा) ३६६-३६७
इसका जैन तार्किकों द्वारा खण्डन ३६६, पांच प्रमाणों से इसकी अघाह्यता ३६६

सर्वज्ञ सिद्धि ३६६, ३६७
 सलिल क्रीड़ा २६, ३२, ३३, ५५,
 ५७, ५६, १६२, १८८
 सविपाक निर्जरा २६३, ३६१
 सांख्य-तत्त्वव्यवस्था ३६६
 सांख्य दर्शन २५, ३७६, ३८०,
 ३६५, ३६६, ४०५, ४५८
 इसका सत्कार्यवाद ३६५,
 जटासिंह का आक्षेप ३६५, इसके
 अकर्ता जीव पर वीरनन्दि का
 आक्षेप ३६५, बन्धाभाव के
 कारण मोक्षप्राप्ति असंभव
 ३६५, प्रकृति के अचेतनत्व पर
 आक्षेप ३६६
 सांख्यसंस्कृत (पद) ११४
 सागार धर्म १४, ३२४-३२६, ३५६,
 ३६०
 साधु-पद ३६०
 साधुओं की विद्याएं ४२३
 सान्धिविग्रहिक (पद) १०६, ११०,
 ११४, ११५, १५३, १५४
 सापेक्ष (भाव) ३७७
 साम (नीति) ७५, ७६, ७७, ७८,
 ७९, ८२, ८५, १५०, १५१,
 १५२, १५३, १८५
 सामन्त ७३, ७८, ८४, ८५, ८७,
 ११०, १११, ११६, १२४,
 २२५, १३१, १३६, १४१,
 १५६, १६१, १६०, १६५,
 १६६, १६८, २०६, २३६-
 २४१, २५३, २५५
 सामन्त (पद) ११०, १११, ११६
 सामन्तपद्धति ६६, ८५-८७, ८४,
 १२४, १२६, १४८, ४८६, ५१२

'सामन्त' का राजनैतिक अर्थ
 ८५, इसका शोषणपरक रूप
 माण्डलिक तथा सामन्त राजाओं
 का ऐक्य, सामन्त प्रान्तीय
 प्रशासक के रूप में ८७, निर्बल
 प्रशासन में सामन्तों के स्वतन्त्र
 राज्य ८७, सामन्त राजाओं
 द्वारा अनुग्रह प्रदर्शन ८५-८६,
 सामन्तों द्वारा सैनिक सहायता
 ८६, सामन्तों के संघ ८७

सामन्त पुत्र (पद) १३०

सामन्तबल ७१, ७२

सामन्त युग ३०, ३१, ६८

सामन्त राजा ७७, ८५, ८८, ८९,
 ११०, १११, १२५, १३६,
 १४६, १४८, १५१, १८७,
 १६५, १६६, १६७, १६८,
 २०६, २४०, ४०७, ४८७, ५०७

सामन्तवाद २८, ३३, ७७, १२४-
 १४३, १६४-२०१, २०६,
 २३६-२४१, २५३, २५५, ५०७,
 ५०८

सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था
 १६४-२०१, ५०८, इसका
 आर्थिक ढाँचा १३२, १६६-
 २०१, ग्राम प्रशासन के सन्दर्भ
 में महत्तर/महत्तम तथा कुटुंबी
 १२४-१४३, सामन्ती चरित्र
 १२७, १३७, १४६, सामन्ती
 अलंकरण १२६, १३४, सामन्ती
 प्रवृत्ति ५३, ६६, १८५, १६०,
 ५०८

सामन्तवादी अर्थव्यवस्था १२५,
१३१, १३६, १४१, १६०,
१६६, २०६, २३६-२४१, २५३,
२५५, ४७२, ४७३, ५०८

सामन्त-संघ ८७

सामन्त-सेना ७१

सामयिक ३६३

सामाजिक अपराध १००, १०१

सामाजिक गतिविज्ञान ४

सामाजिक चेतना ११, २४, २७,
२६, ३२, ३४

सामाजिक परिवर्तन ३, ८, ६, १०,
२४, ३२, १४०

सामाजिक स्थिति विज्ञान ४

सामुदायिक स्वामित्व १८६

सामूहिक अर्थव्यवस्था १६०

सार्धनाथ २२४, २२६

सार्धनायक २२६

सार्धपति २२५, २२६

सार्धवाह १०४, १२०, १४६, १६६,
२२४, २२५, २३६, २४०,
२४१, २७५, २७६

सार्धवाहाधिपति २२५, २२६

सार्धवाहों के काफिले २२५, २४१

सार्धवाहों के गुप्तचर २२५

सार्वजनिक शिक्षा ४०७

सार्वभौम (पद) १११

साव्यक्तकर्म (व्यवसाय) २३८

षड्विध १. अग्नि (सैन्य व्यव-
साय), ३. भस्ति (लेखन व्यव-
साय), कृषि, ४. विद्या सम्बन्धी
व्यवसाय) ५. शिल्प (तकनीकी
व्यवसाय), ६. वाणिज्य
(व्यापार), २३८

साव्यक्तवाद ६७, ६८

सासादन ३६२

साहित्य/काव्य १, २, ३, ८, ११,
१२, १५-१८, २०, २३, २४-
३४, ५७, ६४

काव्य लक्षण २१, २३, २४,

काव्य/साहित्य चेतना २८, २६,

३४, ३५, काव्य भेद २७, काव्य

प्रयोजन २, १६, २०, साहित्य-

समाज में प्रवृत्ति साम्य १५-१७

साहित्य एवं समझ—उद्भव

विकास १७-१८, साहित्य शास्त्र

की समाज धर्मी मान्यताएं १६-

२४, साहित्यनिर्माण एवं सामा-

जिक वर्ग चेतना २४-३५

साहित्यशास्त्र ३, १६-२१, २३,
२४, २७

सिचाई २११, २३६

सिचाई के साधन : वर्षा एवं

नहर २११, राज्य की ओर से

सिचाई व्यवस्था २११, रहट

द्वारा सिचाई २११, ऊँची भूमि

पर सिचाई व्यवस्था २११

सिचाई के साधन २११, २३६

सिद्ध (पद) ३६०

सिद्ध जीव ३८५, ३८६

सिन्धी भाषा १४१

सिन्धु सभ्यता ४५८

सुधन देश के वस्त्र २६७

सुधारात्मक सिद्धान्त १०१, १०३

सुरक्षात्मक आयुध १६६, १८०

सुरङ्ग १६५

सुषमा (काल) ३५६, ३५७

सुषमा-सुषमा (काल) ३५६, ३५७
 सुषमों की दौड़ ३३०
 सूक्ष्म ३८८
 सूक्ष्म-सूक्ष्म ३८८
 प्रकीर्ण परमाणु ३८८
 सूक्ष्म-स्थूल ३८८
 अचक्षुषास्तु पदार्थ ३८८
 सूत १२२, १२३
 सूत्रकार (जौहरी) २०४, २३२ पा०
 सूत्रकार (रसोद्ध्या) १२३, २३४
 सूर्य १४३, १५८, ३१६, ३५३,
 ३६५, ३७०-३७३
 सूर्य पूजा ३७२, ३७३
 सृष्टि का प्रधान कारण ३७६
 सृष्टि विषयकवाद ३८०, ३८३-
 ४०३, ४५६
 सेतु ६७, २२४, २४४
 सेना ३३, ७१, ७२, ८५, ११३,
 १४८, १५३-१५५, १६१-१६६,
 १८४-१८७, २०६, २०७, २११,
 २२२, २२५, २२७, २३६,
 २४६, ३६२
 सेना की परिभाषा व स्वरूप
 १५४-१५५, सेना के प्रकार
 १५५, १५६, द्विविध सेना १५४,
 चतुर्विध सेना ७१, चतुरङ्गिणी
 सेना ७१, ७२, १५४, १५५,
 १५८, १५६, २२१, षड्विध
 सेना ७०-७३, १५०, १५६,
 २०६, सप्तविध सेना १५४
 सेनाएं बहुविध :—
 अङ्गदेशीय सेना १५६

अरब देशीय सेना १८६
 अरब सेना ७२, १६४, १५६,
 १६२
 आटविक सेना ७१, ७२, ७३
 आरण्य सेना ७१, ७२, १५६,
 २०६
 ऊंट सेना १५६
 कलिङ्ग देशीय सेना १५६
 क्षत्रिय सेना ७०, ७१, ७२,
 १५६, २०६
 गज/हस्ति सेना ७२, १५४,
 १५६, १६४, १८६
 गन्धर्व सेना १५४
 चाहमान सेना १६२, १६४,
 १६५, १६७, २६६
 जङ्गली जातियों की सेना ७१,
 ७२, १५६, २०६
 डाहल देशीय सेना १५६
 तिलङ्ग देशीय सेना १५६, १५६
 तुर्क देशीय सेना १८६
 दुर्ग सेना ७१, ७३, १५६, २०६
 देव सेना १५५
 द्विषद्/अमित्र सेना ७१
 नर्तकी सेना १५४
 नेपाल देशीय सेना १५६
 नी सेना १५५
 पदाति सेना ७२, १५४, १५६,
 १५६
 पाञ्चाल देशीय सेना १५६
 पार्वतीय सेना ७३
 पुलिन्द सेना ७३, १६६, २०६,
 २२५
 भिल/भील सेना ७२, १४६,
 १५६, २०६

बज्ज देशीय सेना १५६	योगी सेना १५६, मित्र राजाओं की सेना १५६
भूत सेना ७१	सेना चतुरङ्गिणी ७१, ७२, ११३, १५४, १५५, १५८, १५९, २२२
भूत/भूतक/भूत्य सेना ७०-७२,	पदाति सेना १५४, १५६, १५९
मगध देशीय सेना १५६	अश्व सेना ७२, १५४, १५९, १६२
महत्तर सेना १५५	गज सेना ७२, १५४, १५९, १६४, १८६
मित्र सेना ७१, ७३, १५६, २०७	रथ सेना ७२, १५४, १५५
मुगलकालीन सेना १८४	सेना/बल चतुर्विध ७१
मौल (सेना) ७०, ७१, ७२, १५६, २०६	सेना छह प्रकार की/षड्विध बल ७०, ७१-७३, १५०, १५६, २०६, २०७
यवन सेना १६४, १६५	मौल (वंशानुगत क्षत्रिय सेना) ७०, ७१, ७२, १५६, २०६
रथ सेना ७२, १५४, १५५	भूत्य भूत/भूतक (वेतन भोगी सेना) ७०, ७१, १५६, २०६
राजपुताना सेना १६४, १६५, १६७, १८८	श्रेणी (शस्त्रविद्या में पारङ्गत युद्ध व्यवसायियों की सेना) ७०, ७१, ७२, १५६, २०६
बणिक् सेना २०६	अरण्य (भील आदि जंगली जातियों की सेना) ७१, ७२, १५६, २०६
विद्याधर सेना १५५	दुर्ग (दुर्ग में लड़ने वाली सेना) ७१, ७३, १५६, २०७
वृष सेना १५४	मित्र/सुहृद् (मित्र राज्यों की सेना) ७१, ७३, १५६, २०७
वेतन भोगी सेना ७०, ७१, १५६, २०६	सेना द्विविध १५४
वैत्र सेना ७१	स्वगमा सेना १५४, अन्त्यगमा सेना १५४
व्यापारी सेना ६०-७२, २०६	सेनानायक ११६
शबर सेना ७२	
श्रेणी सेना ७०-७२, १५६, २०६	
सामन्त सेना ७१	
सार्थवाह सेना १६६, २२५	
हम्मीरकालीन सेना १८४	
हर्षकालीन सेना १८४	
सेना का पृष्ठभाग १८६	
सेना की भरती २५६	
वंशानुगत सेना १५६, वेतन भोगी सेना १५६, व्यवसाय वृत्ति वाली सेना १५६, जंगली जातियों की सेना १५६, दुर्गोप-	

सेनानी (पद) ११७

सेनापति, ७२, १०६, ११०, ११२,
११३, ११६, ११७, ११८,
१५३, १५४, १५८

सेनापति (रत्न) १६४

सेना प्रयाण ५६, ५७, १५४,
१५७-१६३, २२२, २२७, २४६
प्रयाण के अवसर पर शकुन-
अपशकुन विचार १५७, १५८,
सेना संचालन का क्रम १५८,
१५९, सेना के साथ जाने वाली
स्त्रियां तथा अन्य लोग १५९,
१६०, सेना प्रयाण सम्बन्धी
अनुशासन हीनता १६०

सेना सञ्चालन ६४, १५७-१६०

सेना सात प्रकार की १५४

हस्ति सेना, अश्व सेना, रथ
सेना, पदाति सेना १५४, वृष
सेना, गन्धर्व सेना तथा नर्तकी
सेना १५४

सैद्धान्तिक शिक्षा विधि ४१८, ४१९

सैनिक एकता का अभाव १८५

सैनिक भोग विलास १६१-१६२

सैनिक बाध यंत्र १८४, १८५

सैनिक शिविर १६०-१६२, १६५,
१८८, २२७

सैनिक शिविरों में वेश्यावृत्ति ४८२

सैन्य पशु १५९, १६०, १६२, १६३
२२१, २२२

सैन्य व्यवसाय २०२, २०३, २०५-
२०७, २३८, २४१

सैन्य व्यवस्था २१, ११७, १४८,
१२४-१५४, १६५, १८५, २५७

सेना के विभाग व प्रशासकीय
अधिकारी १५३, १५४, राष्ट्र-
कूट सैन्य व्यवस्था १५४,
चालुक्य व्यवस्था १५४, चाह-
मान व्यवस्था १५४, १६५,
प्रतिहार व्यवस्था १५४, हर्ष-
कालीन व्यवस्था १५५, भरत
चक्रवर्ती की सैन्य व्यवस्था
१५५

सैन्य शक्ति की दुर्बलता १८५-१८८

सोमनाथ (शिव) ३३६, ३४३, ४०४

सोमनाथ का शिव मन्दिर ३७२

सोमनाथ की पूजा ३३६, ४७४

सोलह विद्याएं ४२४

सौध (चूने के मकान) २४८

सामन्तों के २४८, श्रेष्ठियों के
२४८

सौन्दर्य प्रसाधन १०२, १६२, १६५,

११५, ३००-३०१, ३११, ४४५
४७३, ५०८

पिगल निधि के अन्तर्गत समा-

विष्ट, १६३, स्त्रियों द्वारा

अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सजाने की

प्रवृत्ति, ३०१, वृक्षों के उत्पादन

से प्राप्त प्रसाधन सामग्री ३०१,

सुगन्धित द्रव्यों के लेप, रस,

पुष्प-पल्लव ३००-३०१, अङ्गों

पर चित्रकारी की प्रवृत्ति ३०१

कज्जल १८२, ३०१

कपूर लेप ३०१

कस्तूरी रस चिह्न ३०१

कस्तूरी लेप ३०१

- कुङ्कुम लेप ३०१, (हथेली पर)
 केश सज्जा ३००
 चन्दन तिलक (मस्तक पर) ३०१
 चन्दन लेप (शरीर पर) ३००
 चित्रकारी (कपोलों पर) ३००
 पत्रावली ३००
 पुष्पमाला २१५, ३००
 मकरी का चिह्न ३०१
 यावक/लाक्षारस (लेप) १०५,
 १८२, ३०१
 रक्त कन्दकेशर (लेप) ३०१
 सौराष्ट्र के वस्त्र २६७
 स्कन्धावार (नगर) ३३, २८५
 स्त्रियां-उच्चवर्ग की ३१२, ४७३
 स्त्रियां-निम्न वर्ग की ४६१, ४६३,
 ४७३
 स्त्रियां-राजकुल की १५८
 स्त्रियों का राजनैतिक प्रयोग ४६६,
 ४७०
 स्त्रियों के वस्त्र २६७-३००, ३१२
 स्त्रियों को वरचयन का अधिकार
 ४७५
 स्त्रियों द्वारा दीक्षा ४६०, ४७२
 स्त्री १२, ३३, ३५, १०८, २४०,
 ४५८-५०६
 स्त्री (रत्न) १६४
 स्त्री-आर्थिक क्षेत्र में ४७२-४७३
 स्त्री उत्पीड़न ४६४, ४६५
 स्त्री कर्मचारी १२४
 स्त्री का परिवार में स्थान ४७३-
 ४७८
 स्त्री का राजनैतिक प्रयोग ५०८
 स्त्री-कुटुम्ब की मुखिया ४५८
 स्त्री तथा अर्थचेतना ४७२, ४८३
 स्त्री तथा परराष्ट्रनीति ४६६, ४७०
 स्त्री तथा मदिरापान ४७८-४८०
 स्त्री तीर्थङ्कर ४६३
 स्त्री-दार्शनिक क्षेत्र में ४७१-४७२
 स्त्री दासता ४५६-४६७
 स्त्री दोहव ४८१
 स्त्री-धार्मिक क्षेत्र में ४७०-४७१
 स्त्री-पुरुषायत ४५६
 स्त्री भोग विलास ५३, १०६, ४६८-
 ४६६, ४७२
 स्त्री मुक्ति का निषेध ४६३
 स्त्री-मोहनीय कर्मों का कारण ५०६
 स्त्री-राजनैतिक क्षेत्र में ४६६-४७०
 स्त्री व्यभिचार १०५, ३८०, ४६४
 स्त्री समर्थक विचारक ४६५-४६७
 कालिदास ४६४, ४६५, भव-
 भूति ४६६, ४६७, वराह-
 मिहिर ४६६, ४६७
 स्त्री-सार्वजनिक उपभोग वस्तु ४६१
 स्त्री सेविका ४७३
 स्त्री सौन्दर्य १६१, ३६६, ४६७,
 ४६८
 स्थानीय २७२, २८०, २८२
 स्थावर जीव ३६२
 स्थितिबन्ध ३६०
 स्थिर यंत्र आयुष १६८
 स्थूल (पदार्थ) ३८७
 स्थूल-स्थूल ३८७
 स्थूल-सूक्ष्म ३८८
 चक्षुर्ग्राह्य पदार्थ ३८८
 स्तपनाचार्य ३३४
 स्पर्शेन्द्रिय ३८८

स्पृश्य सूत्र २०८
स्फटिक-स्तम्भ ३४२
स्फोटजीविका २३६
स्फोटवाद ४७२
स्मातिक २०४, ४२७ (व्यवसायी)
स्मृतिकालीन नारी मूल्य ४६४-४६५
४६७

स्मृति कालीन शिक्षा ४२५
स्मृति-प्रामाण्य ३२१
स्यादवाद ३७८, ३७९, ३८३, ४०३
स्वजाति विवाह ४८५
स्वदारसंतोष व्रत १०६, ४७१
स्वपरविधायी (शक्ति) ७४
स्व-पर-व्यवसायिज्ञान ३८१
स्वप्नदण्ट वस्तु ४०१
स्वभाववाद ३८०, ३९४, ३९५
वस्तुओं के स्वतः परिणामन से
सृष्टि ३९४

स्वभावलिङ्ग ३९६
स्वयंवर विवाह ११८, १४९, १८७,
४८६, ४८९-४९१, ५०२-५०४

स्वराट् (पद) १११

स्वर्ग १०६, १८६, १८७

स्वर्ग का अस्तित्व ३९६

स्वर्णकार (सुनार) २०४

स्वसंवेदी (ज्ञान) ४०३

स्वाध्यायशाला (मन्दिर) ३४१

स्वामी/स्वामित्व ७०, १२४, १२५,
१३०, १८९, १९०, १९२,
१९५, १९७, १९८

अहीरो के १३०, ग्रामों के
१२४, १९२, १९७, १९८,
नगरों का १९२, भूमि के १२५,
१८९, १९०, १९५, सामुदायिक
१८९

स्वायत्त ग्रामप्रशासन १२४, २०९,
२४०

हत्या १०५

हम्मौरकालीन सेना १८४

हरियाणवी भाषा २९२

हर्म्य २४८,

हर्षकालीन सेना १५५, १८४

हल्लीसक नृत्य ५०१

हस्तान्तरण (भूसम्पत्ति) १९७-२००

हाकार नीति १०२, १०३

हाथी दांत २३९

हिंसा ३१४, ३१५, ३२६

हिन्दी ३५, १४१, ३०७

पूर्वी हिन्दी १४१, पश्चिमी

हिन्दी १४१, हिन्दी साहित्य ३५

हिन्दू देवोपासना ३१५, ३१६,
३१८, ३१९, ३७०, ३७१

हिन्दू धर्म ६४, ३१४-३१८, ३९८

हिन्दू पूजा पद्धति ३३५, ३३६, ४०४

इसका जैन पूजा पद्धति पर

प्रभाव ३३६

हिन्दू मन्दिर ४०४

हिरण्यगर्भ सूक्त ४५

हीरोइक एपिक ३७

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१	१७	इत	इन
४२	२६	प्रवधियां	प्रविधियां
६०; ६१	१५	ढोल्का	घोल्का
८१	१२	स्वयम्बर	स्वयंवर
१०१	१०	जन	जैन
१०३	६	घो	घोर
१०५	१६	राजकुमारियां	राजकुमारियों
१११	७	राजाओं	राजाओं
११२	१	वैसे	वैसे
१२७	८	मेहरोत्र	मेहरोत्रा
१३०	१७	भुगतान	भुगतान
१३८	१	कुडुच्चिग्रम्	कुडुच्चिग्रम्
१४४	१६	सोलंकी	सोलंकी
१६१	१०	वन पंक्तियों	राजा वन पंक्तियों
१७१	२	वत्सदत्त	वत्सदन्त
१७५	६	तामों	तामों
१७६	२	धूमन	धूमन
१७६	३	कही गई हैं ।	कही गई हैं ।
१७६	२	कण्य	कण्य
१७६	११	आग्नियास्त्र	आग्नेयास्त्र
१८४	५	सेनाओं	सेनाओं
१६२	१६	नैसर्ग विधि	नैसर्ग निधि
१६४	६	फल-फल	फल-फूल
१६६	१६	करते थे ।	करते थे ।
२११	६	इसी	इसी
२१२	६, १३	ईक्षुयन्त्र	ईक्षुयन्त्र
२१३	११	योषिता	योषित्
२१६	३	कस्तूरी आदि	आदि

२१८	६	एलात	एला
२२०	५	नीप°	नीप ^{१०}
२३६	२	वैश्या	वैश्या
२५३	६	जयसवाल	जायसवाल
२५३	१५	तथ्यविरुद्ध	तथ्यविरुद्ध
२५५	६	सामन्तवादी	सामन्तवादी
२६१	१२	पत्तन	पत्तन
२७५	६	भार. डी. भण्डारकर	डी. भार. भण्डारकर
२८१	६	चतुर्थ	चतुर्थ
२८५	२	ग्राम के व्यापारियों	व्यापारियों के ग्राम
२८७	२	अतन्तदेव	अनन्तदेव
२६४	४, ६, ८	मिष्टान	मिष्टान्न
३०६	८	भा	भी
३२१	१	धी	धे
३२७	२०	बधिया	बधिया
३३१	१६	ग्यारह हजार	ग्यारह लाख
३३१, ३३२	पाद. १	कुमारपालप्रतिबोध	कुमारपालप्रबन्ध
३३६	१४	ईक्षुरस	इक्षुरस
३४०	पाद. १	परिव्ययेन	परिव्ययेन
३४२	१२	वैदुर्य	वैदुर्य
३४२	पाद. ७	३२.६४	२२.६५
३४६	६	पदलिप्तपुर	पादलिप्तपुर
३४८	१७	अष्टाह्निक	अष्टाह्निक
३५१	११	पराजित	अपराजित
३५५	१४	देवशास्त्रीन	देवशास्त्रीय
३५८	१२	नी वासुदेव/नी नारायण	नी वासुदेव (नी नारायण)
३५८	२३	बारह	बारह
३६०	६	संन्यासी	संन्यासी
३६०	१५	धर्मप्रभावता	धर्मप्रभावना
३६१	१३	शिष्टार	शिष्टाचार
३६६	२३	आयिकाओं की	आयिकाओं को आचार,
			सूत्राङ्ग, नय आदि विषयों
			का अध्ययन
३६८	१२	ईक्षुरस	इक्षुरस
३६८	१६	यशानुष्ठान	यशानुष्ठान

३७४	१०	भागीरथ	भगीरथ
३७७	१	नयीं	नयीं
३८६	८	जीव	जीव
३८६	१०	अजीव	अजीव
४०२	पाद. २	नास्तिकागममाश्रितः	नास्तिकागममाश्रिताः
४०२	७	तत्त्वोपल्लवसिंह	तत्त्वोपल्लवसिंह
४०६	१६	पार्श्वनाथचरित	पार्श्वनाथचरित
४१३	५	निर्ग्रन्थ	निर्ग्रन्थ
४१४	१७	अत्यावश्यक	अत्यावश्यक
४२१	१०	वदिक	वैदिक
४३७	६	मूसल	मुसल
४३८	१६	निम्नलिखित	निम्नलिखित
४४१	६	चतुर्विधातोद्यचतुरता	चतुर्विधातोद्यचतुरता
४६१	५	संन्यासीकरण	संन्यासीकरण
५११	२१	द्रविड़ कुर्म	कुर्म
५३६	२५	शौर्यपुरी	शौर्यपुरा
५४१	२६	याधार	आधार
५५२	२७	ध्वन्यालोक	ध्वन्यालोक

लेखक परिचय

डॉ० मोहन चन्द

१९४८ में ग्राम जोरू (गुरईग्वेल), अल्मोड़ा उत्तर प्रदेश में जन्म। सम्पूर्ण शिक्षा दिल्ली में। दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी से बी. ए. आनर्स संस्कृत (१९६८) तथा एम. ए. संस्कृत (१९७०)। १९७१ से रामजस कालेज, दिल्ली विश्व० में संस्कृत प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य का प्रारम्भ। १९७२ में यू. जी. सी. द्वारा पी-एच. डी. शोधकार्य हेतु फेलोशिप। १९७७ में पी-एच. डी. उपाधि। पिछले पन्द्रह वर्षों से रामजस कालेज, संस्कृत विभाग में अध्यापन तथा सम्प्रति १९८४ से वरिष्ठ प्राध्यापक। दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्कृत स्नातकोत्तर कक्षाओं को पुरालिपिशास्त्र एवं जैन साहित्य के इतिहास का अध्यापन। जैन विद्याओं से सम्बद्ध अनेक एम. फिल. एवं पी-एच. डी. के शोध कार्यों का निर्देशन।

सामाजिक संस्था 'बाल सहयोग' के माध्यम से पिछड़े वर्ग के क्षेत्रों में पांच वर्ष तक बाल विकास सम्बन्धी समाजकार्यों का संयोजन तथा १९७१ से उक्त संस्था की प्रबन्ध समिति का सदस्य। 'दिल्ली संस्कृत अकादमी' का सदस्य। 'इन्डियन नेशनल साइंस एकेडमी' द्वारा प्रकाशित मध्यकालीन भारतीय विज्ञानों की संस्कृत अनुक्रमणिका के सम्पादन से सम्बद्ध। 'संस्कृत शोध परिषद्', दिल्ली द्वारा उत्कृष्ट शोध निबन्ध लेखन हेतु दो बार पुरस्कृत। 'भारतीय साथी संगठन' द्वारा १९८६ में 'विद्यारत्न' सम्मान से अलंकृत। 'आस्था और चिन्तन' के सम्पादन हेतु १९८७ में भारत के राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जैलसिंह द्वारा सम्मानित। प्राच्य विद्याओं तथा जैन विद्याओं से सम्बद्ध लगभग ५० शोध लेखों का विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। प्रकाशित रचनाएं :—

१. एंशियेन्ट इन्डियन कल्वर एण्ड लिटरेचर (प० गंगाराम स्मृति ग्रन्थ)। सम्पा०, १९८०
२. अटॉम ऑफ़ हन्टिंग इन एंशियेन्ट इन्डिया, सम्पा०, १९८२
३. योगसूत्र विद मणिप्रभा, सम्पा०, १९८७
४. आस्था और चिन्तन (आचार्यरत्न श्री देश-भूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ), सामूहिक रूप से सम्पा०, १९८७
५. जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज, १९८८

NEW RELEASES FROM E. B. L.

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक—डा० किरण टण्डन (१९८७)	120.00
जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज—डा० मोहनचन्द (१९८८)	280.00
कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक का स्मृतिपाद —डा० विनीत निगम (१९८८)	150.00
मध्य हिमालय की महिलाओं का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन —कृष्णा भट्ट (१९८८)	60 00
श्रीहनुमद्भूतम् (सन्देशकाव्यम्)—डा० हरिनारायण दीक्षित (१९८७)	60.00
गोपालबन्धुः (कथाकाव्यम्)—डा० हरिनारायण दीक्षित (१९८८)	50 00
शोषलेखावली—डा० हरिनारायण दीक्षित (१९८८)	100.00
आशाधरभट्ट (संस्कृत साहित्य शास्त्र में)—डा० जगदीश प्रसाद मिश्र (१९८७)	150.00
कालिदास-साहित्य एवं सङ्गीत-कला—डा० सुषमा कुलश्रेष्ठ (१९८८)	280.00
शोका जनजाति : एक अध्ययन—डा० गिरधर सिंह नेगी (१९८८)	100.00
Sāṃkhyasāra (Vijñānabhikṣu) (Text with Eng. Translation)—Dr. Shiv Kumar (1988)	55.00
Ātmatattavaviveka (Text with Eng. Trans.) Vol. I. —Dr. Shiv Kumar (1987)	150.00
Palaeography of Malayalam Script—S.J. Mangalam (1987)	150.00
Yoga-Sūtra with Maniprabha (Text with Eng. Trans. of Commentary)—J.H. Woods Ed. by Dr. Mohan Chand (1987)	100.00
The Early Chālukya of Vātāpi (Lirea A.D. 500-757) —Birendra Kumar Singh (1988)	100.00
Institutionalization of Forest Politics : A Study of Kumaun Region—Dr. Suprabha, V. Sahai (1988)	80.00
Concept of Riti and Guna in Sanskrit Poetics —P.C. Lahiri (1987)	100.00
The Dharma Śāstra or The Hindu Law Codes (<i>Texts with English an Introduction by Prof. R. C. Pandaya [Yājñavalkya, Hārīta, Uśanās, Aṅgīras, Yama, Atri, Sāmvarīa, Katyāyana, Bṛhaspati, Dakṣa, Śātātapa, Likhīta, Śaṃkha, Gautama, Āpastamba, Vasiṣṭha, Vyāsa, Parāśara, Viṣṇu and Manu Samhitā]</i>) —Manmatha Nath Dutt (Two Vols. Set)	550.00

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar, DELHI-110007

Ph. 2520287